स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान-सम्पादक : सुरेन्द्र सिंह नेगी

समीक्षित अद्वैत विमर्श

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

पुरोवाक् : श्रीप्रकाश दुबे

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - २

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान-सम्पादक : सुरेन्द्र सिंह नेगी

समेकित अद्वैत विमर्श

***

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

पुरोवाक् : श्रीप्रकाश दुबे

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्य प्रदेश

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित अद्वैत विमर्श

✵ ✵ ✵ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिये प्रकाशित

© प्रकाशक

ISBN 81-88289-08-6

प्रथम संस्करण 2005

मूल्य - 700/-

प्रकाशक -
विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
गौर काम्पलेक्स, परकोटा रोड,
सागर - 470002 (म.प्र.)
✆ 07582-243598

लेजर कम्पोजिंग-
एक्टिव कम्प्यूटर्स
सागर (म. प्र.)
✆ 503225

पुरोवाक्

'वेदान्त' शब्द अपने आप में एक विश्व को समेटे हुए है। यह विश्व 'भारत-भारती' की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विश्व दृष्टि है। वेद का अर्थ ज्ञान और वेदान्त का अर्थ 'ज्ञान का सीमान्त-अपरोक्षानुभूति'। मनुष्य की यही नियति है - आपके ज्ञान का अनुभव में अवसान और उसका आनन्द। परम-पुरुषार्थ भी तो यही है और इसी में मानवता का सम्पूर्ण 'लोकमंगल' सन्निहित है।

'वेद' शब्द के रूढ़ अर्थ में वे 'वाग्विग्रह' आते हैं जिनमें ज्ञान का, विशेष रूप से अलौकिक ज्ञान का, भण्डार है। वेद-चतुष्टय सनातन ज्ञान को, जिसे ऋषियों ने साक्षात् ग्रहण किया था, गुरु-शिष्य परम्परा से तथा कालान्तर में वाग्विग्रह रूपेण ग्रन्थ-बद्ध रूप में, सदियों से संजाये हैं। इस वाङ्मय के अन्तिम भाग, जिन्हें हम प्राय: उपनिषद् कहते हैं, को भी वेदान्त कहा जाता है। यद्यपि अनेक उपनिषद् विभिन्न वेदों के पूर्ववर्ती भागों के भी अंश हैं। इस दृष्टि से भी यहाँ ज्ञान का सीमांकन होता है, अर्थात्-वेदान्त : *यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।*

इस अपरोक्षानुभूति की गंगा भारत में अनादि काल से आज तक अविरल गति से प्रवाहित हो रही है। इसमें आज यहीं के नहीं, विश्व के असंख्य सुधी-जन अवगाहन कर रहे हैं। इस पयस्विनी को सामान्य-जन तक लाने का भगीरथ-प्रयास तो आचार्य शंकर ने ही किया था, परन्तु नवदीप होते सागर तक पहुँचा कर कोटि-कोटि लोगों का, जिनमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई- सभी हैं, उद्धार कराने का श्रेय शाहजादा द्वारा शिकोह (1615-59), एन्क्वेटिल डुपेरॉन तथा आर्थर शापेनहावर (1788-1860) को भी जाता है। यदि दारा शिकोह ने काशी के पण्डितों की सहायता से 52 उपनिषदों का फारसी में अनुवाद न कराया होता, और फ्रांसीसी यात्री डुपरॉन ने 1812 में फारसी पाण्डुलिपि से लैटिन में रूपान्तर न किया होता, जिसे पढ़कर शापेनहावर भाव-विह्वल होकर यह न कहता कि उपनिषद् हमारे जीवन तथा मृत्यु-दोनों के संबल हैं, तो यूरोप में ये लोकप्रिय न हुए होते और आधुनिक युग का विश्व शायद वेदान्त से इतना परिचित न हुआ होता। स्वामी विवेकानन्द ने तो विश्व के समक्ष इसे इस प्रकार से प्रस्तुत किया कि आज अधिकांश वेदान्त को ही भारत का यदि एकमात्र नहीं तो प्रतिनिधि दर्शन अवश्य मानते हैं। चाहे अमेरिका हो या रूस, विवेकानन्द का नव्य-वेदान्त सर्वत्र लोकप्रिय है।

बीसवीं शताब्दी में डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन, प्रभुपाद तथा स्वामी चिन्मयानन्द जैसी विभूतियों ने वेदान्त का पश्चिम की शब्दावली में प्रचार-प्रसार किया है। अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् के विदेश-विभाग के प्रभारी (वर्तमान में मियामी विश्वविद्यालय, ओहायो, संयुक्त राज्य अमेरिका में पदस्थ) प्रोफेसर रामाराव पप्पू का नाम भी इस माला के अधुनातन कड़ी के रूप में लेना आवश्यक है जिन्होंने विभिन्न स्थानों पर अंतर्राष्ट्रीय वेदान्त सम्मेलनों का आयोजन किया है, तथा जिसका पद्रहवां अधिवेशन आगामी जनवरी में विशाखापतनम् में होने जा रहा है।

वेदान्त के विश्व-व्यापी होने का एक प्रमुख कारण यह है कि यह केवल सिद्धान्त नहीं हा, वरन् एक बौद्धिक, अनुभूत्यात्मक तथा रागात्मक संस्था है। जड़-चेतन की समग्रता, जिसे ऋषियों ने अपरोक्षानुभूति के माध्यम से स्वीकार किया था, अब वैज्ञानिक अनुसंधान की सुदृढ़ भूमि पर इसका 'स्वीकरण' हो रहा है। मानव-मानव की एकता का यह अद्वैती सिद्धांत समस्त मानवीय व्यापारों के अनुशासन में अपने को नियोजित करता है। तभी तो अद्वैत की भाव-धारा 'निज-बोध' के रूप में सर्वत्र प्रवाहित होती है।

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् की स्वर्ण-जयंती के अवसर पर स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित अद्वैत विमर्श शीर्षक से प्रकाशित इस ग्रन्थ में विद्वानों के लगभग १७ विद्वानों के लगभग ५० से अधिक आलेख सम्मिलित हैं। इनमें से अधिकांश लेख अद्वैतचिन्तन से सीधे जुड़े हुए हैं और कुछ तिरछे जो अद्वैत दृष्टि के सम्प्लव को रेखांकित करते हैं। परन्तु ये सभी वेदान्त वाक्य कुसुम-ग्रथन ही हैं। वस्तुत: जिसे हम द्वैत कहते हैं वह भी अद्वैत के धरातल पर ही अवस्थित है। अत: अद्वैत-विमर्श ही व्यवहार एवं परमार्थ -दोनों में - उभयनिष्ठ है। पिछले पचास वर्षों में भारत के कुछ विद्वानों द्वारा हिन्दी माध्यम से जो अद्वैत विमर्श हुआ है, प्रस्तुत संकलन अपने ढ़ंग से उसका सम्यक् परिचायक है। पश्चिम की दार्शनिक दृष्टि से अंतरायित न होना इस सम्पादित विमर्श की विशिष्टता है।

इस संग्रह के संपादन में डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने विवेक तथा परिश्रम का सुन्दर युग्म प्रस्तुत किया है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों को करने में समर्थ हुई है। परिषद् के अनकानेक सहयोगियों की ओर से तथा स्वयं अपनी ओर से इन्हें साधुवाद देता हूँ। आगे भी डॉ. शर्मा ऐसे ही महत्त्वपूर्ण कार्यों एवं दायित्वों को गति प्रदान करने में समर्थ हो सकेंगे, ऐसी शुभकामना है।

जबलपुर
१४ अक्टूबर २००४

श्रीप्रकाश दुबे
अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अध्ययन के प्रति विदेशी विद्वानों की अभिरुचि का आरम्भ उन्नीसवीं शती के अंत और बीसवीं शती के प्रारंभिक मिलन बिन्दुओं को आत्मसात करता है। उस कालावधि का विभाजन 'स्वातंत्र्य पूर्व' 'स्वातंत्र्य पश्चात्' इन दो वर्गों में हो सकता है। स्वातन्त्र्य पूर्व का इतिहास सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए संघर्षरत लोगों का गुलामी से मुक्ति की लालसा का इतिहास है। क्योंकि उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों, सामन्तवादी अवशेषों, प्रतिक्रियावादी शक्तियों तथा विदेशी व्यापार कम्पनियों ने देश के अर्थतंत्र को, कुटीर उद्योगों को, उत्पादन के संसाधनों और जन-जीवन शैली की स्वाभाविक चारुता को तहस-नहस कर दिया था। पीढ़ियों के संस्कार व संयुक्त परिवार मंदी के दौर, बाढ़, सूखा, अकाल, भुखमरी, बीमारी, शोषण और दमन की भेंट चढ़ गये थे। उपनिवेशवादी शक्तियाँ मानती हैं कि यदि किसी देश की संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करना है तो सबसे पहले उसके दर्शन को खत्म कर डालो। अपनी आध्यात्मिक विरासत के पुरातन वैभव को संभाले भारतीय दर्शन चिरकाल से अपना एक पृथक् आभालोक निर्मित करता हुआ मनुष्य होने की सार्थकता और उसके सार समूहों पर भी मनुष्य का ध्यान केन्द्रित करता रहा है।

स्वातन्त्र्य पूर्व भारत में तीन प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं : पहली अतीतोन्मुखी पुनरुत्थानवादी विचारधारा, दूसरी स्वदेशी सौष्ठव सम्पन्न विचारधारा और तीसरी औपनिवेशिक प्रवृत्तिमूलक विचारधारा। यहाँ संक्षेपत: तीनों विचारधाराओं पर कुछ विचार अपेक्षित है।

अतीतोन्मुखी पुनरुत्थानवादी विचारधारा महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा प्रणीत आर्य समाज के माध्यम से फलीभूत हुई। उस समय देश के विभिन्न भू-भागों में प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसायटी सदृश विचारधाराएँ अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार हेतु सन्नद्ध थीं लेकिन वैदिक दर्शन से प्रेरणा व प्रकाश ग्रहण करने वाले आर्य समाज ने समाज सुधार के अनेक क्रान्तिकारी कार्यक्रम चलाये। बाल विवाह का निषेध, विधवा विवाह को सामाजिक स्वीकृति, नारी शिक्षा, पर्दाप्रथा का अंत, अछूतोद्धार उनमें प्रमुख थे पर अन्यान्य धर्मावलम्बियों के लिए आर्य समाज के द्वार खोलकर महर्षि दयानंद ने जिस आधुनिक भारत की नींव रखी वह भविष्य के प्रति मानवीय आस्था की पक्षधरता ही थी। हालांकि उनके पूर्व राजा राममोहन राय ने बंगाल के नवजागरण में विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया था। सती प्रथा का उन्मूलन और धार्मिक बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए उन्होंने वेदांत के प्रसार में योग दिया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस जो महर्षि दयानंद के समकालीन थे, सर्वधर्मसमभाव

का आदर्श जन समुदाय के सामने रखा। उनके शिष्य विवेकानंद ने वेदांत के सार्वभौम स्वरूप को संसार के सामने स्पष्ट कर रामकृष्ण मिशन की आधारशिला रखी। यह कथन अत्युक्ति न होगा कि हिन्दुओं के सामाजिक एवं धार्मिक पुनरुत्थानवादी नेताओं के सद्प्रयत्नों से भारत में राष्ट्रवादी चेतना का जन्म हुआ और पराधीनता के प्रति लोगों में असंतोष और आक्रोश का भाव जागृत हुआ।

स्वदेशी सौष्ठव सम्पन्न विचारधारा का उदय महात्मा गाँधी के राजनीतिक चिंतन से हुआ। 'स्वतंत्रता जन्मसिद्ध अधिकार' का प्रत्यय तिलक की देन था पर वह गोखले से गांधी दर्शन में पूर्णता को प्राप्त हुआ हिन्द स्वराज्य के रूप में। अपने एक आलेख में डॉ. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने इसे दार्शनिक प्रतिष्ठा का जामा पहनाया है। इस विचारधारा के प्रतिनिधि चिन्तकों ने अंग्रेजी को तो नहीं छोड़ा किंतु उनके सामासिक प्रयास के कारण देशज, भाषिक और बौद्धिक चेतना की एकरूपता को आधुनिक भाव बोध की भूमि मिल गई। शिक्षा, रहन-सहन और जीवन के प्राय: सभी स्तरों पर स्वदेशीकरण ने अपनी छाप छोड़ी। महर्षि दयानंद संस्कृत और हिन्दी के प्रति निष्ठावान थे। उनके अनुयायियों ने अंग्रेजी शिक्षा परम्परा से असंतुष्ट होकर देश के अनेक प्रसिद्ध स्थलों पर अपने शिक्षण संस्थान खोले। आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानंद ने हरिद्वार में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की नींव डाली। असंतोष का दायरा बढ़ता ही जा रहा था। महामना मदनमोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को स्थापित किया। गुरुदेव ने शान्ति निकेतन की प्रतिस्थापना की। हिन्दू ही नहीं मुस्लिम मतावलम्बी भी शिक्षा के प्रति अपने सामाजि दायित्वों से बेखबर कैसे रह सकते थे ? सर सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा की।

इस कालावधि में होने वाले विराट सामाजिक व सांस्कृतिक उन्नयन के बीच युगचेता मनीषियों ने मानवीय परानुभूति और आस्था के परिप्रेक्ष्य में उन अन्त:सूत्रों को खोजने की चेष्टा की जो अधुनातन सभ्यता और तज्जनित मूल्यों व सामाजिक सरोकारों से सम्बद्ध थे। उन्होंने अपने जीवनानुभवों से समृद्ध युगबोध से लोगों को जोड़ने का अनुशासन पैदा किया। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. राममनोहर लोहिया डॉ. सम्पूर्णानंद सरीखे राजनीतिज्ञों ने हिन्दी के प्रति आजीवन अनुष्ठानिक अनुपालन की एक परिवेशीय मानसिकता का अन्तरंग उद्घाटन किया।

औपनिवेशिक प्रवृत्तिमूलक विचारधारा शासक (स्वामी) के प्रति शासित (दास) के आदर्श से अभिप्रेरित थी। ज्ञान का अजस्र स्रोत अंग्रेजी से उद्गमित होकर अंग्रेजी के महासागर में मिल जाता है। आदिकाल से भारत बहुरंगी सांस्कृतिक विचारणा और बहुभाषी लोगों का देश रहा है। इस कारण भाषाएँ तो अंग्रेजी के महासागर में समा नहीं सकी किंतु अंग्रेजी ने भारतीय प्रशासन तंत्र में अपनी जड़ें जमा लिया। यह विचारधारा मूलत: अंग्रेजी दाँ नवधनाद्य वर्गीय चेतना से अपनी बौद्धिक ऊर्जा ग्रहण करती रही। किसी भी किस्म का सुधार या क्रान्ति स्वर वर्गीय चेतना के विकास में बाधक है। गहरे बुनियादी अर्थ में उपभोक्तावादी सभ्यता का वह सामाजिक विमर्श है जिसमें विभाजित व्यक्तित्व की एक जीवन शैली विकसित कर ली गई है। कोई आश्चर्य नहीं कि आधुनिक भारत में विभाजित व्यक्तित्व की यह जीवन शैली

अपनी निजता में दोहरे मानदण्ड के साथ आज भी विद्यमान है। बात स्पष्ट है अंगेजी राज्य में सूरज नहीं डूबता।

अब यहाँ दूसरे वर्ग स्वातंत्र्योत्तर पश्चात् पर भी चर्चा कर लेना उपर्युक्त ही होगा। स्वतंत्र भारत के संविधान को धर्म निरपेक्ष स्वीकार किया गया। हरेक को शिक्षा स्वास्थ्य और रोजगार सुविधाओं का आश्वासन मिला। एक सांस्कृतिक एकात्मकता वाले बहुधर्मी देश में पश्चिम की तर्ज पर धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त देश-विभाजन की त्रासदी से उपजा वह धर्म तंत्र है जिसके चलते हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने गांधी के सर्वधर्म समभाव की अवधारणा को एक प्रकार से नकार दिया। धर्म का मर्म गूढ़ से रूढ़ होकर मूढ़ तक पहुँचता है, वह निरपेक्ष नहीं होता। राजनैतिक दुरभिसन्धियों के कारण गाँधी-दर्शन मात्र एक ऐतिहासिक परिघटना है जिसका उद्धार भौतिक, आर्थिक क्रियान्वयनों के अनुक्रम पर निर्भर है। पुराकथाओं और लोक मानस में रचा बसा जीवन कहीं पीछे, छूटता जा रहा है। परम्परा को आधुनिकता के कुतर्कों का सामना करना पड़ रहा है। जबकि आधुनिकता सदैव विवादों से ग्रस्त रही है। जैसा कि हैरोल्ड रोजेनबर्ग लिखते हैं : "आधुनिकता वर्तमान की अधिवक्ता है जबकि उत्तर आधुनिकता में वर्तमान अतीत में पैठ जाता है।"

स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक दो दशक अर्द्धविकसित भारतीय मानस की चरम दुविधा का समय रहा है। आधुनिकता बतलाती है कि बाजार और टैक्नोलाजी किस प्रकार आम आदमी की नियति, उसके चरित्र और अन्तर्मन को संशय के दायरे में ले जाकर उसे लाचार बना रहे हैं। मनुष्य केवल अपने आक्रोश और संघर्ष से ही संचालित नहीं होता वह श्रम और सौंदर्य का उपासक भी है। नवीन वस्तुओं के प्रति उत्सुकता, समय के साथ संवाद बनाये रखने की जिजीविषा, वस्तुगत मूल्यों को वास्तविक अर्थों में पकड़ने की अकुलाहट उसे लयात्मक और संवेदनात्मक सामयिकता से जोड़ रही है।

स्वातंत्र्य पश्चात्, दूसरा प्रमुख तत्त्व है शिक्षा का व्यापक विस्तार। इसके कारण देशज भाषाओं ने न केवल अपना निश्चित रूपाकार पाया बल्कि उनमें विश्वजनीन साहित्य भी रचा गया। गीताञ्जलि बंगला से ही अंग्रेजी में अनुदित हुई थी। हिन्दी जो संस्कृत के भाषिक संस्कार से उपजी थी अपने शब्द-वैभव और लालित्यपूर्ण भाव बोध के कारण अनेक अवरोधों के बावजूद विश्वस्तरीय भाषा बन गई है। विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा भाग हिन्दी बोलता, जानता और समझता है। हालांकि स्पेनिश, पोर्चगीज, इटेलियन, फ्रैंच आदि भाषाएँ बोलने वाले संख्या में कम हैं फिर भी इन भाषाओं को संयुक्त राष्ट्र द्वारा समादृत किया गया है। स्पष्ट है हमारे राष्ट्रीय कर्णधारों की अदूरदर्शिता के कारण हिन्दी का न केवल अतीत और वर्तमान बल्कि भविष्य भी छला गया है। स्वतंत्रता के छठे दशक में प्रवेश के पश्चात् भी हम कोई भाषागत नीति बनाने में अक्षम ही सिद्ध हुए हैं। जर्मनी, फ्रांस, इटली जैसे छोटे छोटे योरोपीय देश और जापान, ताइवान, सिंगापुर जैसे छोटे-छोटे एशियायी राष्ट्रों ने अपनी, भाषायी अस्मिता के कारण वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी और औद्योगिक साम्राज्य स्थापित करने में सक्षम रहे हैं।

इतिहास में इस बात के सबल अन्त: साक्ष्य हैं कि वे ही तत्त्व इतिहास के अंग बनते हैं

जो अनवरत संघर्षों के बीच अपने गन्तव्य की स्वयं खोज करते हैं। निश्चित ही हिन्दी में एक ऐसा भारतीयत्व है जो वैश्विक संवेदन से निबद्ध है। देश की प्रचुर बौद्धिक सम्पदा और गहरे सामाजिक-आशय स्पष्ट करने का माद्दा उसमें है। अपने आदिकाल से वर्तमान तक हिन्दी ने अनेक आरोह और अवरोह देखे हैं। दासता भी झेली है और स्वतंत्रता का आस्वादन भी किया है। उसके भाषागत सौष्ठव और शिल्पगत सौंदर्य ने उसकी यश:-काया को चिर यौवन प्रदान किया है। संघर्षमयता और व्याप्ति में यथार्थ से सीधे साक्षात्कार करते हुए उसने अपने औदात्य को आलोकित किया है।

स्वतंत्रता पश्चात् का तीसरा प्रमुख घटक है भारतीय अस्मिता की पहचान। पिछले पैंतीस- चालीस वर्षों में हमने पाश्चात्य आधुनिकता की सीमाओं को पहचाना है और आधुनिक भारतीयता की ओर उन्मुख हुए हैं। इतिहास संस्कृति धर्म, दर्शन और सामाजिक परम्पराओं के प्रति हमारी सजगता में बढ़ोतरी हुई है प्रकृति और पर्यावरण के प्रति भी हम सचेष्ट हुए हैं। यह सुखद है कि हमने भारतीयता और समाज व्यवस्था के फलितार्थों पर गहराई से सोचना शुरू कर दिया है।

अपने इतिहास, निजंधरी गाथाओं, लोक व्यापिनी जीवन धाराओं में समाये हुए महाख्यानों और महान दर्शन प्रणालियों से विमुख कोई भी समाज अपने अभिसृजन के लिए अपने अतीत पर निर्भर होता है। अतीत को काट दिया जाए तो सृजन के सन्दर्भ और आप्त प्रमाण का क्या होगा ? यह प्रश्न प्रत्येक काल से उत्तर की माँग करेगा। पौराणिक वृत्त और आगम, जातीय अन्तश्चेतना में इस प्रकार घुल मिल जाते हैं कि जब वैचारिक स्तर पर इनको मिटाने का यत्न किया जाता है तो सांस्कृतिक स्तर पर इनकी रक्षा की प्रक्रिया सक्रिय हो जाती है। इतिहास का सत्य दार्शनिक निष्पत्तियों से अपना विस्तार पाता है तथा वर्तमान को चिरंतन अर्थवत्ता प्रदान करता है।

स्वतंत्रता के छठे दशक में पहुँचकर बीते इतिहास पर चर्चा करते हैं तो पाते हैं कि बीसवीं शती अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए ही प्रशंसनीय रही है। परंतु यह उन सहज प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास है जिनका उदय उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में हुआ था। इक्कीसवीं शती तीव्र बौद्धिक प्रशिक्षण की मांग करती है वह भी भारत जैसे देश में जिसके विषय में पाश्चात्यविदों की राय है कि भारतीयों का रोजमर्रा का जीवन मंथरगति से चलता है और स्वभाव से ही भारतीय परिवर्तन के प्रति गंभीर नहीं हैं।

इक्कीसवीं शती को हमें चुनौती के रूप में लेना होगा। हमें यह देखना होगा कि वे कौन से बाध्य और आभ्यंतर दबाव समूह हैं जो हमारे सैद्धान्तिक आधारों को एवं बौद्धिक बुनियादों को अति आघात पहुँचा रहे हैं ? ऐसे जटिल समय में दर्शन का और स्वयं दर्शनशास्त्रियों का दायित्व और भी बढ़ जाता है। शिकागो विश्वधर्म सम्मेलन में विवेकानंद ने अद्वैत वेदान्त के विश्वदर्शन में परिणित होने का स्वप्न देखा था। प्रकारान्तर से इतिहासकार आर्नल्ड टायनवी ने इसे बौद्धमत के बाद भारत का प्रतिनिधि दर्शन कहा। राधाकृष्णन, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, जड़ाव लाल मेहता, पी.टी. राजू से लेकर अद्वैत वेदांत की यह परम्परा टी.एम.पी. महादेवन, रमाकान्त त्रिपाठी और संगमलाल पांडेय तक अबाधित है।

वस्तुत: वेदांत भारत-भारती का सनातन स्वर है, समष्टिगत विस्तार की सम्भावनाओं का मुक्त द्वार भी है। वैयक्तिक मन के अनुत्तरित प्रश्न के उत्तर की इसमें गहरी अनुगूंज है। ब्रह्माण्ड के साथ मानव इयत्ता के शाश्वत् अनुबंध का लेखा-जोखा है। आत्मा के ऐश्वर्य की मर्यादित तरलता से की गई अभिव्यंजना है। सत के रूप में चित् के आनंद की निर्विकार उपासना है। ज्ञान ही नि:श्रेयस का सनातन मार्ग है। माया की शक्तियाँ भी सांसारिक प्रपंचों के बीच निष्कामतापूर्वक पुरुषार्थ साधन करते हुए 'एकमेवाद्धितीय' से एकाकार होने का सारांश है। अनुभूतिमयता सघन वैचारिक द्वंदात्मकता के नवोन्मेष और चिरविमर्श के कालजयी सौंदर्य पर मुग्ध सम्राट नरेश, प्रशासक, सन्यासी, भक्तकवि, चिंतक, राजनीतिज्ञ, सामाजिक कार्यकर्ता, साहित्यकार और इतिहासज्ञ अद्यावधि एवं अद्यतन इससे प्रेरणा लेते रहे हैं। अपने विकास की देन में तथा अपने आपको युगानुरूप ढालने की अनवरत क्षमता ने अनेक प्रतिक्राम्य शक्तियों का सामना किया, शताब्दियों के अविरल प्रवाह में रहकर भी उसने अपना आकर्षण नहीं खोया है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में दर्शन पर हिन्दी में इतिहास लेखन का कार्य इससे पूर्व भी हुआ है और आगे भी होगा। इसी क्रम में यह विरासत और उपलब्धियों पर पुन: दृष्टिपात करने का तथा उन्हें परखने का एक अवसर है। इस संकलन में वेदांत की गहन दार्शनिक मान्यताओं और उनसे सम्बन्धित मतवादों पर गहराई से विचार हुआ है। वेदांत से संबंधित उन मूल प्रश्नों को उठाया गया है जो शतियों पुराने हैं पर अपने सशक्त यथार्थवादी आसंगों के कारण वर्तमान में भी प्रासंगिक हैं। जिस कौशल और दार्शनिक निष्ठा से विद्वान लेखकों ने परम्परा, प्रयोग और प्रत्यभिज्ञा या को मनोयोगपूर्वक अपनी शैली में उतारा है, उसमें तेजस्विता है, प्रवाह और प्रखरता भी। भाषिक विलक्षणता में अनूठा सौंदर्य मूलक विन्यास भी है। "देसिल बयना सब जग मिट्ठा" - अपनी भाषा और अपनी दृष्टि के 'समानी भाव' से ही वस्तुत: वैचारिक स्वराज के चरितार्थन का भाषीय राजपथ प्रशस्त होता है।

सागर

६-१०-२००४,

सुरेन्द्र सिंह नेगी

आमुख

वेदान्त : भारत का दार्शनिक धर्म

भारतीय परम्परा में दार्शनिक चिन्तन का निकायबद्ध बहुध्रुवीय विकास जितनी दिशाओं में हुआ है, उन सभी को श्रुति, स्मृति और पुराणों में मूलित बताया जा सकता है। वैसी दार्शनिक परम्परायें जो अपने को उपर्युक्त आर्ष स्रोतों में मूलित नहीं मानती हैं, उनमें भी स्वतंत्र आगमों का विकास कालान्तर में हुआ ही है। इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय दर्शनों की ऐसी मूलानुबद्ध प्रतिबद्धता के बावजूद भी यहाँ परस्पर विरोधी विचारों का पल्लवन निर्बाध गति से होता रहा और उन्हें उचित सम्मान तथा प्रश्रय भी मिला है। वास्तव में यदि देखा जाय तो 'पूर्वपक्ष' के प्रति स्वस्थ सहिष्णुता को ही भारतीय दार्शनिक परम्परा की अनुपम विशेषता कही जा सकती है। इसका एक अन्तर्निहित कारण भारतीय दर्शनों के मौलिक स्रोतों का न्यूनाधिक रूप से निर्वैयक्तिक प्रकृति का होना है। निर्वैयक्तिक मूल से हमारा तात्पर्य केवल अपौरुषेय मूल से नहीं बल्कि पौरुषेय मूल से भी है। ज्ञान के पौरुषेय स्रोतों के प्रति भी निर्वैयक्तिक अभिनिवेश भारतीय दृष्टि की एक अन्य विशिष्टता है जो सामी परम्परा के धर्मों एवं तदनुषंगी दर्शनों में दृष्टिगत नहीं होती। इसी के चलते भारतीय दर्शनों की सम्प्रदाय केन्द्रित सुदीर्घ विकास यात्रा में गतिरोध कभी दार्शनिक कारणों से उत्पन्न नहीं हुआ जबकि दार्शनिक दृष्टियाँ यहाँ लम्बे समय तक वाचिक परम्परा में नैष्ठिक रूप धारण कर जीवन पाती रहीं हैं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में हम जिस तथ्य की ओर संकेत करना चाहते हैं वह यह कि भारतीय मूल के अधिकांश दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ 'भारतीय' विशेषण का क्या अर्थ है, और वैसे सभी सम्प्रदाय किस अर्थ में 'भारतीयता' का प्रतिनिधित्व करते हैं ? यहाँ संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदाय भारतीयता का प्रतिनिधित्व उसके भौगोलिक परिधि में होने के अर्थ में ही करते हैं। इसका अपवाद केवल वेदान्त की विचार और भाव धारा प्रतीत होती है जिसने इस सीमा को पार कर भारतीयता को तदात्म प्रतिनिधित्व प्रदान किया है। दार्शनिक दृष्टि से वस्तुत: भारतीयता का विशेषण वेदान्त नहीं है बल्कि वेदान्त का विशेषण ही भारतीयता बनती है। यही कारण है कि "संसारासारत्व कथन कुशला:" से अभिहित होने के बावजूद भी भारत के सांस्कृतिक जीवन

और दार्शनिक मानस में वेदान्त की प्रतिष्ठा एक 'दार्शनिक धर्म' के रूप में हुई है। इस विचारधारा की मूलभूत मान्यताओं में मानवीय अनुभव और अतिक्राम्यता के लिए अपेक्षाकृत व्यापकतर अवकाश है। मनुष्य की गरिमा और उसके गन्तव्य की जिज्ञासा तथा लोकमंगल के लिए मूलगामी सैद्धान्तिक अभिनिवेश और अद्भुत लचीलापन है। इसमें चेतना की ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक तीनों ही अभिवृत्तियों को परमत्व प्राप्त होता है। ऐसी क्षमता और लाधव यदि भारतीय मूल के किसी अन्य दर्शन में थी तो वह महायान बौद्ध दर्शन में लेकिन अद्वैत वेदान्त द्वारा दार्शनिक सात्मीकरण, सांस्कृतिक विरोध, लोक जीवन से समंजस पुरुषार्थमीमांसीय दृष्टि का अभाव और कुछ ऐतिहासिक विपदाओं के कारण बौद्ध दर्शन उतना प्रतिष्ठित नहीं हो सका, जितना कि 'स्वीकरण' अद्वैत वेदान्त को मिला। वाचिक भावधारा के रूप में वेदान्त की प्राचीनता से इन्कार नहीं किया जा सकता लेकिन लिखित विचारधारा के रूप में इसके इतिहास के आरम्भिक सूत्र समंजस रूप में प्राप्त नहीं होते हैं। परन्तु शंकर पूर्व और शंकर पश्चात् इसका जैसा भी इतिहास उपलब्ध है, उसके आधार पर वेदान्त को भारतीय परम्परा का सर्वाधिक गतिशील दर्शन और उसी अनुपात में सांस्कृतिक परिव्याप्ति रखनेवाला जीवन-दर्शन कहा जा सकता है। वैसे तो भारतीय परम्परा में अद्वय और अद्वैतवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों का प्राधान्य शुरू से ही रहा है लेकिन वेदान्त की परम्परा में उपनिषद् काल से लेकर आधुनिक युग तक उसके जितने दार्शनिक संस्करणों की पुनर्रचना हुई है वह अपने आप में अतुलनीय है। वेदान्त के ऐसे अनेकविध संस्करणों एवं पुनारचनाओं के आपसी विवाद और मतभेद भी कम नहीं हैं, यहाँ तक की अद्वैत के प्रकारों में उसके परिनिष्ठित चूडान्त स्वरूप को लेकर बलाबल का प्रदर्शन आज तक रुका नहीं है, फिर भी सबकी आत्मा एक है। वेदान्त की आत्मा है - "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" और इसी के साथ उसके सभी सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी दृष्टि से श्रुतियों का योगायोग दिखाकर अपने-अपने प्रस्थानों को विकसित किया है। यद्यपि शांकर एवं शांकरोत्तर वेदान्त के पाँच प्रस्थान बहुत प्रसिद्ध हैं लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रस्थान-विन्यास की संख्या को द्वादश प्रारूपों तक विस्तृत की जा सकता है। वस्तुत: सर्व समावेशी वैचारिकता की इसी भाव भूमि पर वेदान्त भारत का 'राष्ट्रीय धर्म' है एवं विश्वजनीन मानवीय सांस्कृतिक प्रेरणा का अक्षय स्त्रोत है। यही भारत का आध्यात्मिक, वैचारिक विरासत है जो आज भी भारतीयों की जीवन-प्रतिमा में सर्वाधिक अभिव्यक्ति पाता है।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना (१९५४) वैचारिक स्वराज के भाषीय राजपथ पर चलते हुए स्वातंत्र्योत्तर भारत में दार्शनिक उत्कर्ष की पुनर्प्रतिष्ठा के उद्देश्य को लेकर हुई थी। आज उसके 'स्वर्ण जयन्ती वर्ष' में **"स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित अद्वैत विमर्श"** नामक इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रकाशन कर मुझे अतीव संतोष हो रहा है। मुख्य रूप से यह संकलन ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक समस्याओं के समेकित

विमर्श पर केन्द्रित है। इसके अधिकांश निबन्ध स्वातंत्र्योत्तर युग के श्रेष्ठ अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा अवधारणात्मक पवित्रता एवं शास्त्रीय परिपक्वता के साथ लिखे गये हैं। इनकी मौलिकता चाहे जिस स्तर की हो लेकिन पश्चिमी दार्शनिक चेतना के अन्तराय से मुक्त होना इनकी अत्युच्च विशेषता है। सम्पादकीय चयनधर्मिता और उपलब्ध सामग्री के बीच ताल-मेल बनाते हुए इस संकलन को जिस आधारिक संरचना में निबद्ध करने का प्रयास किया गया है वह पूरे तौर से उद्भूत और व्यक्त रूप ग्रहण नहीं कर सका है। अतएव व्यक्ति केन्द्रित सम्पादन योजना को तोड़कर कोई प्रबुद्ध पाठक अपनी दृष्टि से इस संकलन में वैचारिक एकसूत्रता देखने के लिए स्वतंत्र है। इसके बावजूद भी इस संकलन के प्रत्येक निबन्ध अद्वैत वेदान्त की एक-एक दार्शनिक समस्याओं का सुचिन्तित विवेचन करते हैं और इस प्रकार का विवेचन अद्वैत वेदान्त पर आमतौर से लिखे गये ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है। कुल मिलाकर इसे अद्वैत विमर्श का 'आवक्ष वाग्विग्रह' कहा जा सकता है।

इस ग्रन्थ में पूज्यपाद आचार्य प्रवर श्याममनोहर गोस्वामी जी द्वारा लिखित और श्रद्धेय दयाकृष्ण जी द्वारा निर्मित दो अलग-अलग परिशिष्ट लगाये गये हैं जो वास्तव में हमारे समक्ष भारतीय दर्शन की सैद्धान्तिक-आधारिक पुनर्गठन एवं ऐतिहासिक पुनारचना के लिए एक व्यापक भावी कार्ययोजना प्रस्तुत करते हैं। इतिहास भेदी इन दो दृष्टियों को उद्घाटित करने के लिए हम पारम्परिकता और आधुनिकता के ललामभूत आचार्यद्वय के प्रति उत्तरापेक्षी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

यद्यपि सम्पादन कार्य का मुझे कोई पूर्व अनुभव नहीं रहा है तथापि इस कार्य को करने का गुरुत्तर दायित्व मुझे सौंपा गया, इसके लिए हम परिषद् के अध्यक्ष प्रो. श्री प्रकाशदुबे एवं अपने प्रधान-सम्पादक प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी तथा परिषद् के अन्य पदाधिकारियों - यथा प्रो. जटाशंकर, डॉ. सजीवन प्रसाद, डॉ. महेश सिंह, डॉ. डी.आर. भण्डारी, डॉ. विभा मुकेश, डॉ. दीना नाथ शुक्ल, डॉ. अविनाश कुमार, डॉ. आर.के. सिंह, डॉ. नितीश दुबे, डॉ. कालीचरण पाण्डेय, डॉ. ज्योति स्वरूप दुबे, डॉ. गायत्री शर्मा तथा प्रो. रामाराव पप्पू (संयोजक : विदेश प्रभाग) के प्रति समवेत रूप से आभार व्यक्त करता हूँ। इस कार्य की यथायोग्य और यथासम्भव पूर्णाहुति पर अपने कुछ वरिष्ठ सहधर्मियों एवं सहचर मित्रों - प्रो. राजीव रंजन सिन्हा (पटना), प्रो. एस.आर. व्यास (उदयपुर), प्रो. एस. विजयकुमार (वाराणसी), प्रो. राकेश मिश्र (जम्मू), प्रो. हरिशंकर उपाध्याय (इलाहाबाद), प्रो. यू.एस. विष्ट (हरिद्वार), डॉ. काशीनाथ न्योपाने (काठमाण्डु), डॉ. अच्युतानन्द दास (सागर), डॉ. मुरलीमनोहर पाठक (उज्जैन), डॉ. अशोक पाण्डेय (इलाहाबाद), डॉ. रमाकान्त पाण्डेय (जयपुर), डॉ. प्रदीप खरे (भोपाल), डॉ. ऋषिकान्त पाण्डेय (इलाहाबाद), डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय (वाराणसी), डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र (वाराणसी), डॉ. प्रियव्रत शुक्ल (जबलपुर), डॉ. राकेश चन्द्रा (लखनऊ), डॉ. चन्द्रशेखर (जोधपुर), डॉ. नागेन्द्र तिवारी (सुल्तानगंज),

डॉ. राजेश्वर सिंह (मुजफ्फरपुर), डॉ. दीनानाथ सिंह (मेरठ) एवं डॉ. सुरेश पाण्डेय (वाराणसी) का शुभ स्मरण एवं शुभानुध्यान करता हूँ क्योंकि इसका समवाय - साकल्य ही मुझे ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होने का दुस्साहस प्रदान करता है।

इस ग्रन्थ के सुन्दर प्रकाशन एवं उत्कृष्ट अक्षर संयोजन के लिए प्रिय राजेश केशरवानी, प्रो. विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर और प्रिय अजय जैन, प्रो. एक्टिव कम्प्यूटर्स, सागर के प्रति साधुवाद प्रकट करते हुए दोनों की व्यावसायिक प्रतिष्ठा के लिए मंगलकामना करता हूँ। अपनी समस्त ज्ञात-अज्ञात भूलों के लिए एक बार पुन: सबसे समवेत "क्षमा-याचना" करते हुए इस ग्रन्थ को उन सभी को सौंपता हूँ जिनके हाँथों से पुनर्विस्तारित होने के लिए यह विगत पचास वर्षों से शनै:-शनै: अपने को रच रहा था।

सागर

विजयादशमी, २३-१०-२००४ — अम्बिकादत्त शर्मा



अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सहयोगी संस्थापक

प्रो. संगमलाल पाण्डेय

जन्म : 15 दिसम्बर 1928, ब्रह्मलीन : 30 जून 2002

परम्परा प्राप्त अद्वैत वेदान्त के लोकोत्तर-विमर्श से सम्बन्धित 'प्री शंकर अद्वैत फिलॉसफी'-'मूल शांकर वेदान्त'-'ज्ञान, मूल्य और सत्'-'अद्वैतिक व्यू ऑफ गॉड' इत्यादि ग्रन्थों के रचयिता। लोकायन-विमर्श से सम्बन्धित 'वेदान्तिक सोसल फिलासफी'-'डायनामिक्स ऑफ इण्डियन सोसायटी'-'शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन'-'रामायण विद्या'-'समाज, धर्म एवं राजनीति' इत्यादि ग्रन्थों के प्रणेता। अद्वैतदृष्टि-सम्प्लव-विमर्श से सम्बन्धित 'पैरेनियल्स ऑफ कॉम्परेटिव फिलॉसफी'-'व्हीदर इण्डियन फिलॉसफी'-'काण्ट का दर्शन'-'गाँधी का दर्शन'-'संत रैदास का दर्शन' इत्यादि ग्रन्थों के पुरस्कर्त्ता। गहनज्ञानमीमांसा-विमर्श से सम्बन्धित 'डेप्थ एपिस्टेमोलॉजी'-'ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न'-'नव्य प्रयाग दर्शनम्' इत्यादि प्रकरण ग्रन्थों के परिष्कर्त्ता। अध्यापकोचित लेखकीय दायित्व का निर्वहन करते हुए 'भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण'-'आधुनिक दर्शन की भूमिका'-'समाज दर्शन'-'नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण'-'भारतीय तर्कशास्त्र' इत्यादि ग्रन्थों के प्रणयनकर्त्ता। उत्तर भारत दर्शन परिषद् के संस्थापक तथा 'रिव्यू ऑफ दर्शन' एवं 'संदर्शन' नामक पत्रिकाओं के सम्पादनकर्त्ता। स्वातंत्र्योत्तर युग के भारतीय दर्शनशास्त्रियों में अत्यन्त समादृत एवं प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार के प्राप्तकर्त्ता। ऐसे शास्त्रमूर्ति प्रो. संगमलाल पाण्डेय को यह ग्रन्थ सादर समर्पित है।

※

अनुक्रम

परिच्छेद : एक

संगमलाल पाण्डेय

संगमलाल पाण्डेय

प्रो. संगमलाल पाण्डेय का जन्म (१९२८) ग्राम सम्हई, तहसील सोरांव, जिला इलाहाबाद में हुआ था। इनका सारस्वत् संस्कार अपने नाना के संस्कृत पाठशाला में हुआ और विधिवत प्रारम्भिक शिक्षा फतेहपुर में हुई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इन्होंने स्नातक (१९५१), स्नातकोत्तर (१९५३) एवं डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त किया। इनके अध्यापकीय जीवन की शुरूआत दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में लेक्चरर (१९५३) पद पर पदस्थापना के साथ हुई और वहीं क्रमश: रीडर, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद पर आसीन होकर सेवानिवृत्त हुए। १९९० में इन्हें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 'प्रोफेसर एमिरिटस' की पदवी भी प्रदान की गई थी। प्रो. पाण्डेय अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सहयोगी संस्थापक एवं परिषद् के ऋषिकेश अधिवेशन (१९७९) के अध्यक्ष भी रहे। लोहिया जी के प्रभाव में आकर इन्होंने कुछ दिनों तक सक्रिय राजनीति में भी भाग लिया और दो बार एम.एल.ए. तथा एक बार एम.पी. का चुनाव भी लड़े। बाद के दिनों में सक्रिय राजनीति से उपरति को प्राप्त होकर उन्होंने दर्शनशास्त्र की संस्थागत सेवा को उचित समझा और उत्तर भारत दर्शन परिषद् की स्थापना की तथा उसके माध्यम से 'रिव्यू ऑफ दर्शन' एवं 'संदर्शन' नामक दो पत्रिकाओं का आरम्भ करके लम्बे समय तक सम्पादक के रूप में उनका संचालन करते रहे। प्रो. पाण्डेय की प्रमुख कृतियाँ - प्री शांकर अद्वैत फिलॉसफी, वेदान्तिक सोसल फिलॉसफी, पैरेनियल्स ऑफ काम्परेटिव फिलॉसफी, व्हीदर इण्डियन फिलॉसफी, डेप्थ एपिस्टेमोलॉजी, अद्वैतिक व्यू ऑफ गॉड, डायनामिक्स ऑफ इण्डियन सोसाइटी, ज्ञान, मूल्य और सत्, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, मूल शांकर वेदान्त, शंकराचार्य के दर्शन का उज्जीवन, समाज दर्शन, समाज, धर्म और राजनीति, रामायण विद्या, रामनाम, गाँधी का दर्शन, संत रैदास, कांट का दर्शन, आधुनिक दर्शन की भूमिका, शांतानाम रहस्यम्, नव्यप्रयाग दर्शनम्, देशभक्ति चतुष्टय आदि हैं। अद्वैतवेदान्त की लोकोत्तर से लोकायन तक की सारस्वत्-साधना का आजीवन ज्ञान-दीप जलाते हुये वैचारिक स्वराज के राजपथ के प्रबल हिमायती प्रो. पाण्डेय २००२ में ब्रह्मलीन हुए। इनके दार्शनिक योगदानों पर केन्द्रित, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के तत्त्वाधान में हुई, राष्ट्रीय संगोष्ठी का ग्रन्थ-सम्पादन डॉ. अशोक पाण्डेय (पी.सी.एस.) कर रहे हैं।

*

अद्वैत दर्शन की प्रणाली

दर्शन-प्रणाली का धर्म-प्रणाली से भेद

अद्वैत दर्शन की प्रणाली का सामान्य नाम राजयोग, सर्वकर्मसन्यासयोग अथवा ज्ञानमार्ग है। भारतीय मनीषी इन प्रणाली को धर्म-निरपेक्ष समझते हैं। वे ज्ञानमार्ग को कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग से श्रेयस्कर समझते हैं। यही नहीं, वे ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग में परस्पर विरोध भी दिखलाते हैं। जिस प्रकार ज्ञानकाण्ड या ब्रह्मजिज्ञासा कर्मकाण्ड या धर्मजिज्ञासा से भिन्न है उसी प्रकार उसकी प्रणाली भी धर्म की प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। धर्म की प्रणाली श्रुतियों का विधि-निषेध आदि द्वारा अर्थ करना है। दर्शन की प्रणाली श्रुतियों का वस्तुपरकअर्थ करना है न कि क्रियापरक और फिर युक्ति तथा अनुभूति के बल पर उसका स्वतन्त्र निरूपण करना है। युक्ति तथा अनुभूति श्रुतियों की अनुगामिनीमात्र नहीं है। वे श्रुति-स्वतन्त्र प्रमाण हैं। उन्हीं के बल पर तत्त्व निरूपण-करना चाहिए। श्रुति तो केवल उस विषय के लिए प्रमाण है जिसका अवबोध युक्ति तथा अनुभूति नहीं करा सकती। इसीलिए शंकर का कहना है कि धर्म जिज्ञासा की भाँति ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुति-स्मृति ही प्रमाण नहीं हैं वरन् श्रुति स्मृति और युक्ति तथा अनुभूति भी यथासंभव प्रमाण हैं- न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एवं प्रमाणं ब्रह्म जिज्ञासायाम्। किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा संभवमिह प्रमाणम्[1]। अद्वैत दर्शन में श्रुति प्रमाण मान्य होने के कारण बहुत से लोग इसकी प्रणाली को भी धार्मिक उपासनापरक प्रणाली समझते हैं। इन लोगों के महत् अज्ञान पर आश्चर्य होता है। धर्म श्रुति का जो अर्थ करता है वह अद्वैत दर्शन में मान्य नहीं है। जैमिनी धर्मसूत्र के अनुसार जो श्रुतियाँ क्रियापरक हैं वे ही सार्थक हैं; शेष निरर्थक हैं – आम्नायस्य क्रियार्थत्वादनार्थक्यमतदर्थानाम्[2]। श्रुतियों का अर्थ है वेदोक्त कर्म और ब्रह्म की उपासना करना। प्रभाकर तो वेदों में वस्तुवादी वाक्य तक का प्रत्याख्यान करते हैं। प्रवृत्ति, निवृत्ति, विधि और इनके अंग के अतिरिक्त वस्तुवादी (Ontological) वेदभाग नहीं है – प्रवृत्ति-निवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभावो नास्ति[3]। पर अद्वैत के आचार्यों ने धर्म-मीमांसा कृत श्रुत्यर्थ का प्रत्याख्यान किया। उनके अनुसार श्रुतियों का तात्पर्य परमार्थ वस्तु ब्रह्म में है। उसकी उपासना अनावश्यक है। उसको प्रसन्न रखने के लिए किए गए कर्म की आवश्यकता नहीं है। वह परमार्थ सत् आत्मा ही है। अत: आत्म-ज्ञान से ही ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है। ज्ञान और कर्म में आमूलचूल अन्तर है। कर्म पुरुष तन्त्र है, ज्ञान वस्तु तन्त्र ; यही कारण है कि ज्ञान कर्म की भाँति करने, न करने और अन्यथा करने के लिए नहीं है। कर्म का विषय भव्य और अनित्य है ; ज्ञान का भूत तथा नित्य। कर्म का फल अधर्म का परिहार, धर्म का ग्रहण और स्वर्गादि की प्राप्ति है; ज्ञान का फल स्वर्ग प्राप्ति नहीं है, वह स्वयं अपना फल है। उसकी प्राप्ति से आनन्द मिलता, शोक दूर होता है, भय भाग जाता है। यदि कोई शंका करे कि ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया है तो शंकर का कहना है दोनों में इतना अन्तर होते हुए यह संभव नहीं है। आत्म-बोध या वस्तु-ज्ञान में क्रिया का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है - ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते[4]। यद्यपि अद्वैत में इस स्थिति को मोक्ष कहा जाता है, तो भी मोक्ष का यहाँ वह अर्थ नहीं है जो

धर्मशास्त्र में है। मोक्ष तो यहाँ अक्षरश: स्वस्थ, स्वतन्त्र और स्वज्ञ होना है। वस्तुत: सभी मुक्त हैं। मोक्ष कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है। वह सदा प्राप्त है। इसका सम्बन्ध सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति से लेशमात्र भी नहीं है। इस अवस्था के लिए कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। इसमें आप भिन्न किसी अन्य वस्तु का ज्ञान भी नहीं होता। इसप्रकार के मोक्ष और धर्म की मुक्ति में उतना ही सम्बन्ध है जितना शिवा पार्वती और शिवा जम्बुक में। पार्वती और गीदड़ दोनों को शिवा कहा जाता है। इसी प्रकार अद्वैत की स्वातन्त्र्य - अवस्था और ईश्वर-सान्निध्य दोनों को मोक्ष कहा जाता है। पर दोनों में कितना साम्य है ? इसका निर्णय सुधिजन अब स्वयं कर सकते हैं।

अस्तु जो लोग अद्वैत की प्रणाली को धार्मिक तथा रहस्यवादी साधनात्मक बताते हैं वे अद्वैत के मोक्ष-सिद्धान्त और श्रुति-प्रमाण को नहीं समझते हैं। श्रुति प्रमाण का अभिप्राय धार्मिक रहस्यवादी प्रणाली नहीं है और न मोक्ष का ही सम्बन्ध किसी धर्म-साधना से है। अद्वैत के आचार्यों ने अपनी प्रणाली को धर्म की प्रणाली से पृथक् रखने के लिए ही धर्मानुकूल श्रुत्यर्थ और मोक्ष का खण्डन किया। इतने पर भी जो अद्वैत के ज्ञानमार्ग में धर्म की गंध सूंघते हैं उन्हें दिवान्ध कहा जाए तो अनुचित नहीं है।

एक बात और है। लोग कह सकते हैं कि यद्यपि अद्वैत दर्शन के मोक्ष तथा धर्म की मुक्ति में अन्तर है तथापि अद्वैत मोक्षशास्त्र है। धर्म का अर्थ यहाँ केवल पूर्वमीमांसा ही नहीं प्रत्युत न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध-जैन, शैव-वैष्णव तथा अद्वैत-भिन्न वेदान्त दर्शन है। अद्वैत वेदान्त में जो अर्थ मोक्ष का है वह किसी भी अन्य भारतीय दर्शन में नहीं है। अद्वैत में मोक्ष, ब्रह्म और आत्मा एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। जो मोक्ष है वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही ज्ञान है। यदि लोग कम से कम मोक्ष-ब्रह्म-आत्मा इस अभेद- वाक्य को ध्यान में रखें तो वे कदापि नहीं कह सकते कि अद्वैत दर्शन उस अर्थ में मोक्ष शास्त्र है जिस अर्थ में न्याय-योग आदि हैं। अद्वैत मोक्ष शास्त्र अध्यात्म-विद्या, ब्रह्म विद्या, ज्ञान-विज्ञान या तत्त्व विज्ञान है। कुछ लोगों को ब्रह्म शब्द से भ्रम होता है कि अद्वैत धर्म शास्त्र है। पर ब्रह्म का अर्थ यहाँ ईश्वर नहीं है। ब्रह्म का शाब्दिक और दार्शनिक अर्थ अनन्तता (Infinity) है। जो सदा वृहत्तर है वही ब्रह्म है। यह निरपेक्ष सत् या वस्तु की ही इतर संज्ञा है। अत: ब्रह्मविद्या वस्तुत: पाश्चात्य मेटाफिजिक्स (Metaphysics) या ऑन्टोलोजी (Ontology) है। यदि कोई ब्रह्म, मोक्ष तथा आत्मा आदि शब्दों के कारण अद्वैत को धर्मशास्त्र बतलावे तो उन्हें केवल यह बतलाना है कि वे इन शब्दों के अर्थ और वस्तु पर विचार करें और देखें कि अद्वैत और धर्म में उनके क्या अर्थ हैं। दर्शन में अर्थ और वस्तु की प्रधानता होती है। उसकी भाषा युग के अनुसार बदलती है यद्यपि उसके सिद्धान्त नित्य नूतन रहते हैं। अस्तु यदि आज अद्वैत की भाषा धर्म की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है तो उसे बदलने की आवश्यकता है। विशुद्ध ज्ञान मार्ग में ब्रह्म की हम चरम सत्ता, मोक्ष को पूर्ण स्वातन्त्र्य या स्वास्थ्य और आत्मा को ज्ञान कहेंगे।

सच तो यह है कि अद्वैत विषयक सभी भ्रान्तियों का मूल कारण ज्ञान मार्ग (gialectic) को न समझना है। ऊपर के विवेचन से इतना स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग में क्रिया या कर्म का कुछ भी अवकाश नहीं है। हम अद्वैत दर्शन को धार्मिक तथा रहस्यवादी बतलाने वालों से पूछना चाहते हैं कि क्या धर्म बिना क्रिया या कर्म के संभव है ? क्या उपासना के बिना धर्म जी सकता है ? क्या ईश्वर के बिना धर्म टिक सकता है ? जहाँ तक हम जानते हैं, उपासना कर्म तथा ईश्वर धर्म के अपरिहार्य और अनिवार्य उपकरण हैं। पर अद्वैत के ज्ञानमार्ग में इनका अवकाश नहीं है। कर्मकाण्ड, उपासना और ईश्वर को माया, मिथ्या और अनित्य बतलाने पर भी शंकर प्रभृति अद्वैत के आचार्यों को जो धर्मनिष्ठ दार्शनिक कहें उन्हें दर्शन का साहसी अनाधिकारी नहीं तो और क्या कहा जाए ? फिर दर्शन में युक्ति तथा अनुभूति के

आधार पर तत्त्व निरूपण नहीं तो और क्या कहा जाए ? ज्ञान के स्वरूप, प्रामाण्य और सीमा पर विचार के अतिरिक्त और क्या ज्ञान-विज्ञान ? किसी भी अनुभव या वाक्य के युक्तियुक्त विश्लेषण के अतिरिक्त दर्शन आज और क्या करता है ! यदि दर्शन का यही स्वरूप है तो अद्वैत आज भी विश्व दर्शन का मुकुट है।

अनुभव का विश्लेषण

किसी भी दर्शन के लिए सब से बड़ा प्रमाण अनुभव या अनुभूति है। अनुभूति का अर्थ यहाँ प्रातिभ ज्ञान नहीं है। अनुभव या अनुभूति का अर्थ अंग्रेजी में एक्सपीरियन्स (Experience) है। इस अर्थ में अनुभव काफी व्यापक शब्द है। इसके अन्दर प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि और अर्थापत्ति सभी प्रमाण आ जाते हैं। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अनुभव के अन्दर प्रत्यक्ष, संवेदन, भ्रम, प्रतिभास, प्रातिभ, स्मृति, चिन्तन, कल्पना, स्वप्न, दिवा-स्वप्न इत्यादि सभी यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान-प्रकार सम्मिलित हैं। किसी भी दार्शनिक प्रणाली को सभी प्रकार के अनुभवों का विश्लेषण तथा व्याख्यान करके उन्हें एक सूत्र में पिरोना पड़ता है। इसके लिए अनुभवों की पारस्परिक तुलना, समता तथा विषमता, अनिवार्य है। अद्वैत दर्शन जॉन लॉक की इस उक्ति का पूर्ण समर्थन करता है कि अनुभव ही सब वस्तुओं का ज्ञान देता है। अनुभव से परे कोई भी वस्तु नहीं है। औरों का अनुभव दार्शनिक के लिए उतना उपादेय नहीं है जितना कि उसका स्वयं का अनुभव। औरों का अनुभव उसके लिए शब्द-मात्र है। उसे अपने अनुभव के बल पर तत्त्व और ज्ञान का निरूपण करना चाहिए। केवल वेदान्त का विज्ञान ही स्वानुभूति पर प्रतिष्ठित है। अन्य शास्त्रीय पाखण्डी और ज्ञान-शत्रु हैं, क्योंकि वे दूसरों के अनुभवों पर टिके हैं :-

अन्ये पाषण्डिन: सर्वे ज्ञानवार्तासुदुर्लभा: ।
एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते ॥[५]

जो लोग स्वयं अपने अनुभव पर विचार करने के बजाय ज्ञान के लिए तीर्थ, गुफा, शास्त्र, परलोक और कर्मकाण्ड की शरण ढूंढते हैं वे उस गड़ेरिये की तरह मूर्ख हैं जो घर की कोठरी में छिपी हुई बकरी को कुएँ में ढूंढता है॥

लोकान्तरे वा गुहान्तरे वा तीर्थान्तरे कर्मपरम्परान्तरे ।
शास्त्रान्तरे नास्त्यनुपश्यतामिह स्वयं परं ब्रह्म विचार्यमाणे ॥
तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढ: शास्त्रेषु पश्यति ।
गोप: कक्षगतं छागं यथा कूपेषु दुर्मति: ॥[६]

अत: जिज्ञासु के लिए श्रुतियाँ उतनी उपादेय नहीं हैं जितनी उसकी अनुभूति। श्रुतियों को रट लेने से अनुभव नहीं होता है। ब्रह्म विषयक बात-चीत और चर्चा करने से ज्ञान नहीं मिलता है। जिज्ञासु को अपने अनुभव से देखना चाहिए कि ब्रह्म है या नहीं ? और है तो क्या है ? जो लोग ऐसा नहीं करते वे महान अज्ञानी हैं और सदा जरा-मरण जैसे घोर दु:ख से आक्रान्त रहते हैं।

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीन: सुरागिण: ।
ते ह्यज्ञानितमा नूनं पुन्नरायान्ति यान्ति च ॥[७]

अस्तु अनुभव ही जिज्ञासु का एकमात्र सहायक है। श्रुति रट कर वह केवल शब्दवादी हो सकता है। पर यह घोर अज्ञान है कि बिना समझे-बूझे, बिना अनुभव किए हुए, श्रुतियों को जिह्वा पर लादे रहे, दूसरों के ज्ञान को ढोता रहे। अपने अनुभव और अपनी युक्ति के बल पर ही श्रुतियों या दूसरों के अनुभवों का परिहार या परिग्रहण करना चाहिए। शुकपक्षी और बालक भी यदि युक्तियुक्त वचन कहें तो वह ग्राह्य है। वृद्ध विद्वान् और शुकदेव ऋषि भी यदि युक्तिहीन वचन कहते हैं तो वह सर्वथा त्याज्य हैं।

युक्तियुक्तं वचो ग्राह्य बालादपि शुकादपि ।
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि ॥[८]

यह है अनुभव का महत्त्व और स्वरूप। अनुभव की कोई सीमा नहीं है। जो जितना ज्ञानी है उसका उतना ही विशाल अनुभव है। कोई ऐसा विषय नहीं है जो अनुभव से बाहर हो। न्यूटन जिस वस्तु को नहीं जान सकता उसे आइन्स्टाइन जान सकता है। जो देवदत्त के अनुभव में नहीं है वह यज्ञदत्त के अनुभव में आ सकती है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि अनुभव पुरुषाधीन है। अनुभव सदा वस्तु का होता है। अत: वह विषयगत अर्थात् वस्तु के आधीन होता है। इसप्रकार अनुभव ही दर्शन का अथ और इति है। अनुभव से ही उसका आरम्भ और पर्यवसान होता है।

अनुभव मन, बुद्धि, हृदय, अहंकार, चक्षु, कर्ण आदि सभी आन्तरिक और बाह्य इन्द्रियों द्वारा होता है। कुछ लोग इन्हें शक्तियाँ (Faculties) कहते हैं। हम चाहे इन्हें शक्तियाँ कहें या न कहें पर सभी को इनके द्वारा प्रदत्त अनुभव मान्य हैं। अनुभवों की संख्या अमित है उनका प्रकार-भेद भी अगम्य है। तो भी अद्वैत उन्हें सामान्यत: चार कोटियों में बाँटता है। (१) जाग्रत अनुभव (२) स्वाप्न-अनुभव (३) सुषुप्ति-अनुभव और (४) तुरीय अनुभव। हम पहले तुरीय अनुभव को छोड़ देते हैं। यह अनुभव सबको नहीं होता है। पर आद्य तीन अनुभव सभी को होते है। अनुभवों का यह विभाजन जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं के आधार पर है। सभी मनुष्य इन तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं। जाग्रत में वे कुछ अनुभव करते हैं और स्वप्न में कुछ और ही। सुषुप्ति में सभी प्रगाढ़ निद्रा में डूबे रहते हैं। उस समय आनन्द या आराम के अतिरिक्त और किसी चीज की सुध-बुध नहीं रहती है। केवल जाग्रत और स्वप्न में नाना वस्तुओं का ज्ञान होता है। अद्वैत दर्शन की प्रणाली का श्रीगणेश इन्हीं तीन प्रकार के अनुभवों के युक्तियुक्त विश्लेषण से होता है।

लॉक यद्यपि अनुभव को सर्वेसर्वा मानता है तो भी वह स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव को उतना महत्त्व नहीं देता जितना कि जाग्रत अनुभव को। वस्तुत: स्वप्न पर वह यौक्तिक विचार भी नहीं करता है। आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान ने स्वप्न और तत्-सदृश अन्य अवस्थाओं पर पर्याप्त विचार किया। इसके अनुसार जाग्रत अनुभवों से कहीं विशाल क्षेत्र अजाग्रत अनुभवों का है। यह अद्वैत दर्शन की अद्वितीय विशेषता है कि वह अपनी प्रणाली में सभी प्रकार के अनुभवों का यथावकाश उपयोग करता है। विश्व में किसी भी दर्शन ने आज तक इन तीनों अनुभवों का इतना सुन्दर उपयोग नहीं किया जितना कि अद्वैत ने। अनेक दर्शन सम्प्रदायों ने तो स्वप्न और सुषुप्ति पर विचार तक नहीं किया। वे केवल जाग्रत अनुभवों को ही लेकर उड़ पड़े और स्वप्न को मिथ्या तथा सुषुप्ति को अज्ञानमात्र कह कर संतोष की सांस ली। फलत: वे एकांगी और अपूर्ण रह गए। अद्वैत ने इतना शीघ्र निर्णय इन अनुभवों पर नहीं दिया। वह भी स्वप्न को मिथ्या तथा सुषुप्ति को अज्ञान कहता है। पर उसने इन पर गूढ़ मनन किया, जाग्रत अनुभव से स्वप्न के अनुभव की तुलना की और दोनों में पर्याप्त साम्य पाया। अद्वैत के प्रथम महान आचार्य गौडपाद का कहना है -

अन्त:स्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।
यथा तव तथा स्वप्ने संवृतत्त्वं न भिद्यते ॥
स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिण: ।
भेदानां समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥
आदावन्तौ च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथै: सदृशा: सन्तोऽवितथा इव लक्षिता: ॥
सप्रयोजनता तेषां स्वप्नेऽपि प्रतिपद्यते ।

तस्मादाद्यन्तवत्तेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता: ॥
अपूर्वं स्थानि धर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षित: ॥
स्वप्न वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतो गृहतिं सद् दृष्टं वैतथ्यमेतयो: ॥
जाग्रद्वृत्तावपि त्यन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतो गृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयो:।
उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
क: एतान् बुद्धयते भेदान्त को येतेषां विकल्पक: ॥[६]

अर्थात् – जैसे स्वप्न के विषय आभ्यन्तर हैं वैसे जाग्रत के भी। दोनों में संवृतत्त्व या बन्द होने की दशा अभिन्न है। अत: दोनों अवस्थाओं के विषयों में अभेद होने के कारण मनीषियों ने दोनों को एक कहा है। जो आदि और अन्त में नहीं है वह मध्य में भी नहीं है। जो केवल मध्य में है उसकी केवल प्रतीयमान सत्ता है। वह परमार्थत: असत् है। स्वप्न तथा जाग्रत के विषय आदि और अन्त में नहीं रहते। स्वप्नपूर्व और स्वप्न पश्चात् स्वाप्नविषयों का अत्यन्त अभाव है। इसी प्रकार जाग्रतपूर्व और जाग्रत-पश्चात् जागत के विषय अननुभूत होने के कारण असत् ही हैं। जैसे जाग्रत विषयों का कुछ प्रयोजन होता है वैसे स्वाप्न का भी। अत: आदि और अन्त में सदृश होने के कारण दोनों असत् हैं। स्वाप्न विषय अपूर्व है। जैसे कोई शिक्षित पुरुष, उदाहरण के लिए डाक्टर, अपनी शिक्षा के विषय डाक्टरी को ही जाग्रत अवस्था में देखता है, वैसे स्वप्न-द्रष्टा भी अपने अनुकूल मनोनीत विषयों का अनुभव करता है। स्वप्न में मन कुछ वस्तुओं को अपने से बाहर स्थित देखता है और कुछ को अपने अन्दर ही। वह अन्दर अनुभूत वस्तुओं को असत् तथा बाह्य अनुभूत वस्तुओं को सत् समझता है। पर जगने पर उसे दोनों का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। इस कारण दोनों असत् हैं। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में मन कुछ वस्तुओं को अपने अन्तर स्थित पाता है और कुछ को बाहर। जो बाहर स्थित लगती हैं उन्हें वह सत् जानता है जैसे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तुएँ। पर जो अभ्यन्तर स्थित वस्तुएँ हैं उन्हें वह असत् समझता है जैसे कल्पना और प्रतिभास के विषय। पर जाग्रत अवस्था के निराकरण होने पर दोनों की असत्ता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार यदि इन दोनों अवस्थाओं के अनुभूत वस्तुएँ असत् हैं तो वह कौन वस्तु है जो इनकी कल्पना करता है और इनको जानता है ?

सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अनुभव परस्पर स्वतन्त्र हैं। इन तीन अवस्थाओं में प्रत्येक पुरुष का तीन व्यक्तित्व रहता है। वह इनमें भिन्न-भिन्न अनुभव करता है। अद्वैत इन तीनों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकालता है कि जाग्रत अवस्था का जीव विश्व है, स्वप्न का तैजस और सुषुप्ति का प्राज्ञ। इन तीन प्रकार के जीवों के तीन कार्य भी हैं। विश्व स्थूल वस्तुओं का उपभोग करता है, तैजस सूक्ष्म का और प्राज्ञ आनन्दमात्र का। इनके तीन पृथक् शरीर भी हैं। विश्व का शरीर स्थूल देह है। तैजस का सूक्ष्म लिङ्ग शरीर है जिसे हम मनोवैज्ञानिक काया कह सकते हैं। प्राज्ञ का शरीर अविद्या या अज्ञान स्वरूप है क्योंकि सुषुप्ति में अज्ञानमात्र छाया रहता है। विश्व को जो वस्तुएँ गोचर होती हैं उनके समुदाय को वैश्वानर या विराट् कहते हैं। आधुनिक भाषा में इसे संसार या ब्रह्माण्ड (Universe) कहा जाता है। तैजस जिन वस्तुओं को जानता है उनके समुदाय को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। हम इसे आधुनिक भाषा में उपचेतन संसार (Universe of the unconcious) कह सकते हैं। इसी प्रकार प्राज्ञ को जिस वस्तु की प्रतीति होती है उसे ईश्वर कहा जाता है। आधुनिक भाषा में हम इसे सुषुप्तिकालीन आनन्द कह सकते हैं।

अद्वैत के इस विश्लेषण की पुष्टि आज का मनोविज्ञान भी कर रहा है। मनुष्य का व्यक्तित्व एक न होकर अनेक है। वह अपनी चेतनावस्था अर्थात् जागृति में कुछ है और अचेतनावस्था अर्थात् स्वप्न में कुछ और सुषुप्ति में तो उसकी सब अवस्थाओं से भिन्न ही अवस्था रहती है। इस कारण हमारा व्यक्तित्व मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से एक नहीं है। कम से कम हम तीन मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्वों के संघात हैं। हमारे व्यक्तित्व के विश्व, तैसज और प्राज्ञ तीन परस्पर स्वतन्त्र और स्पष्ट पहलू हैं। यदि इन अवस्थाओं पर और सूक्ष्म विचार किया जाय तो इनकी संख्या बढ़ सकती है और तदनुकूल हमारा व्यक्तित्व अनेकधा बढ़ता जायगा। अद्वैत के परवर्ती आचार्यों ने जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त के अतिरिक्त इन तीनों के नाना प्रकार के मिश्रण से अन्य कई अवस्थाओं की अवतारणा की है जिनमें से बहुत वर्तमान मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की गवेषणाओं से मिलती जुलती हैं। पर इन अवस्थाओं का सविस्तर वर्णन करना यहाँ अपेक्षित नहीं है।

अद्वैत ने अनुभव-विश्लेषण से केवल मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के विविध प्रकारों की ही छानबीन नहीं की वरन् उसने यह भी खोजा कि मनोवैज्ञानिक व्यक्तियों का मूल कोई आध्यात्मिक तत्त्व है। चूँकि हम विभिन्न अवस्था की परस्पर तुलना कर सकते हैं और करते हैं, इस कारण स्पष्ट है कि हम प्राज्ञ, तैजस और विश्व के अतिरिक्त भी कुछ और हैं। तुलना करने वाले को उन सभी अनुभवों का साक्षी होना पड़ता हैं जिनकी वह परस्पर तुलना करते हैं तो यह सिद्ध है कि हम क और ख को पृथक्-पृथक् भली-भाँति जानते हैं। अत: यदि प्राज्ञ, तैजस और विश्व के अनुभवों की पारस्परिक तुलना संभव है तो यह भी सिद्ध है कि हम क और ख को पृथक्-पृथक् भली-भाँति जानते हैं। अत: यदि प्राज्ञ तैजस और विश्व के अनुभवों की पारस्परिक तुलना सम्भव है तो यह भी सिद्ध है कि कोई व्यक्तित्व भी इनके मूल में है जो इनका सहगामी और साक्षी है। इसी व्यक्तित्व को अद्वैत आत्मा के नाम से पुकारता है। इसको आचार्यों ने तुरीय कहा है। यह चौथा व्यक्तित्व है यदि हम विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ को क्रमश: पहला, दूसरा और तीसरा व्यक्तित्व मान लें तो। पर यह न समझना चाहिए कि तुरीय व्यक्तित्व उपर्युक्त तीन व्यक्तियों का पार्श्ववर्ती हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ की एकत्र सहस्थिति अशक्य है। पर इन में से प्रत्येक का तुरीय के साथ सहभाव होता है। तुरीय का सम्पर्क तीनों से है। हम तुरीय को आधार और इन तीनों को उस पर स्थित परस्पर-भिन्न आधेय कह सकते हैं। जो लोग तुरीय को रहस्यवादी सिद्धान्त बतलाते हैं उन्हें अद्वैत बताता है कि तुरीय प्रत्येक पुरुष का सार्वक्षणिक अनुभव है। इसका ज्ञान विश्व, तैजस और प्राज्ञ के ज्ञान के साथ ही साथ होता रहता है। इस कारण इसे प्रतिबोध विदित और सकल भावों तथा पदार्थों की ग्राहिका (Presuppostion) कहा जाता है। जब तुरीय का ही वास्तविक रूप से ज्ञान किया जाता है तो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ मिथ्या ज्ञात होते हैं। यह अनुभव अद्वैत की अनुभूति के नाम से पुकारा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या केवल तुरीय का अनुभव साधारण मनुष्य के लिए संभव है ? अद्वैत का कहना है कि अपने अनुभव को अपनी युक्ति तथा दूसरों के अनुभव के विचार से बढ़ाना चाहिए। यदि युक्ति से सदा विचार किया जाय तो अद्वैतानुभूति हो सकती है।

युक्ति का विश्लेषण

अनुभव का युक्ति युक्त विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि वास्तविक प्रमाण वह है जिसका दूसरे प्रमाण से बाध न हो। जो वस्तुएँ एक प्रमाण से सिद्ध और दूसरे से असिद्ध हैं वे यथार्थ नहीं है। न हि प्रमाणान्तरबाधितस्य याथार्थ्यमङ्गीक्रियते महद्भि:[10]। विश्व के अनुभव का बाध तैजस और प्राज्ञ के अनुभव से होता है। इसी प्रकार तैजस के अनुभव का बाध भी विश्व तथा तैजस के अनुभव में होता है। अत: परस्पर बाधित होने के कारण विश्व तैजस और प्राज्ञ के अनुभव प्रमाण नहीं हैं। आत्मा या तुरीय

का अनुभव अबाधित है क्योंकि वह विश्व तैजस तथा प्राज्ञ का सारभूत सहवर्ती और सदा विद्यमान साक्षी है। इस कारण केवल तुरीय का अनुभव प्रमाण है। यह प्रमाण युक्तियुक्त है। अब देखना है कि युक्ति का तर्क किस अर्थ में प्रमाण या अप्रमाण है।

अद्वैत साहित्य में तर्क अथवा युक्ति को यदा-कदा अप्रतिष्ठित और व्यर्थ बताया जाता है।[११] इस पर आलोचकों का कहना है कि अद्वैत की प्रणाली युक्तिहीन और रहस्यवादी है। पर इन आलोचकों ने अद्वैत का केवल ऊपरी बाह्य ज्ञान प्राप्त किया है। शङ्कर का कहना है कि तर्क अप्रतिष्ठित है, इस वाक्य में तर्क के विशेष अर्थ की ही अव्यवस्था है। सब तर्कों की अप्रतिष्ठा से तो लोक व्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा- सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेद प्रसंग:। फिर एक तर्क का निराकरण दूसरे तर्क से ही हो सकता है। इस कारण दूसरा तर्क पहले निराकृत तर्क की अपेक्षा मान्य रहेगा। भूत तथा वर्तमान के अनुभव के आधार पर लोग भविष्य के विषय में भी तर्कना करते हैं। यह तर्कना यदि निश्चित नहीं तो संभाव्य अवश्य है। यदि कोई कहे कि अद्वैत तर्क से श्रुति को अधिक महत्त्व देता है तो फिर शंकर का कहना है कि तर्क श्रुति का भी ज्ञापक होने के कारण बलवत्तर है। जब श्रुतियों का संघर्ष होता है तो उसका निराकरण तर्क ही करता है। पुनश्च श्रुत्यर्थ का निरूपण भी तर्क द्वारा ही होता है। अत: यद्यपि तर्क श्रुति का अनुगृहीत है तो भी वह श्रुति से बलवान स्वतंत्र प्रमाण है। किसी किसी विषय में तो तर्क मात्र ही प्रमाण होता है। श्रुति, प्रत्यक्ष आदि का वहाँ अवकाश भी नहीं रहता। क्वचिद् विषये तर्कस्य प्रतिष्ठित्वम् उपलक्ष्यते। अत: जो तर्क को अव्यवस्थित तथा अप्रतिष्ठित कहते हैं वे वस्तुत: तर्क को स्वालोचक (Self-critical) बनाते हैं। यदि तर्क अप्रतिष्ठित है तो यह उसका अलंकार है।[१२] काण्ट ने द्वन्द्वों (Antinomies) के उद्घाटन से भली भाँति सिद्ध किया है कि कुछ विषयों में हम तर्कत: क और-क दोनों वाक्य सिद्ध कर सकते हैं। हम सिद्ध कर सकते हैं कि ईश्वर है और ईश्वर नहीं है। दोनों तर्क तुल्यबल होते हैं। एक दूसरे का खण्डन और मण्डन नहीं कर सकता है। इस कारण तर्क का यह स्वभाव है कि उसकी स्वत: किसी चरम सिद्धान्त में परिणति नहीं होती। उसका कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता, बस यही तर्क की सीमा है। हम तर्क द्वारा निश्चय पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। आरम्भ और मध्य में यह हमें कुछ निश्चय देता भी है। पर अन्ततोगत्वा जब हम केवल तर्क का ही सहारा लेते हैं तो यह हमें घोर द्वन्द्व में छोड़ देता है। हीगेल ने द्वन्द्वों के समन्वय के सिद्धान्त की कल्पना की। पर एक द्वन्द्व के दो विरुद्ध भावों का समन्वय उपस्थित होता है जिसके साथ तीसरे भाव का पुन: द्वन्द्व होने लगता है। इस प्रकार उसके दर्शन में भी द्वन्द्व सनातन है। समन्वय केवल अभास मात्र और क्षणिक है।

पर यदि द्वन्द्व सनातन है और तर्क से इसका समाधान नहीं हो सकता तो फिर हम क्या करें? ऐसी स्थिति में दार्शनिक की परख होती है। बहुतेरे चारों ओर अन्धकार देखकर सामान्य लोकबुद्धि (common sense) की शरण लेते हैं। कुछ लोग विज्ञान और कुछ धर्म का पक्ष ग्रहण करते हैं। पर ये सभी संकट काल में दर्शन-शत्रु हैं न कि दर्शन-मित्र। सच्चा दार्शनिक वह है जो इस घोर संशय के समय संशयारूढ़ बना रहे। यदि पैर आगे न बढ़ सकें तो संग्राम-भूमि में पीछे हटने के बजाय वहीं खड़ा रह कर लड़ते रहना सैनिक के लिए श्रेयस्कर है। यही हाल संशय ग्रस्त दार्शनिक का भी है। वह कायर है जो पीछे हटकर लोकव्यवहार, धर्म या विज्ञान की शरण ले। उसे यदि आगे का मार्ग नहीं मिलता तो युक्तित: वह संशयारूढ ही रहता है। संशयात्मा विनश्यति, संशय करनेवाला नष्ट हो जाता है, यह दर्शन-द्रोहियों का सिद्धान्त है। अत: दार्शनिक संशयवाद युक्ति का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। नागसेन और नागार्जुन की, पिरो और ह्यूम की, इसीलिए सदा श्रेष्ठ दार्शनिकों में गणना होगी। यदि केवल तर्क या युक्ति ही प्रमाण है तो फिर दार्शनिक संशयवाद ही दर्शन की पराकाष्टा है। पर युक्ति के अतिरिक्त भी अनुभव होता है। जो अनुभव युक्ति से ऊर्ध्व तथा युक्तियुक्त हो वह संशयवाद से हमें आगे बढ़ा सकता है। तर्क की सीमा के अन्दर

केवल वे वस्तुएँ हैं जिनका इन्द्रिय से ज्ञान होता है। प्रकृति से परे जो अनुभव है उसे अचिंत्य कहा जाता है। तर्क से उसकी योजना संभव नहीं है। दूसरों का अनुभव श्रुति बनकर यहाँ हमारी सहायता करता है। अत: श्रुति केवल अतीन्द्रिय वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति में ही प्रमाण है-श्रुतिश्च न: प्रमाणम् अतीन्द्रियार्थ विज्ञानोप्तत्तौ [१४]। जब युक्ति दो तुल्यबल ज्ञानमार्गों के चतुष्पथ पर हमें लाकर खड़ाकर देती है तो उस समय हमें थोड़ा रुककर मनन करना चाहिए। पहले युक्ति का आलोचन करना चाहिए। फिर अनुभव की परीक्षा करनी चाहिए क्योंकि वह युक्ति से विशाल है और हमें कुछ मार्ग दिखला सकता है। यदि अपने अनुभव में कुछ प्रगतिसूचक संकेत न मिले तो दूसरों के अनुभव की समीक्षा करनी चाहिए। यदि यहाँ युक्तिसम्मत कोई मार्ग मिल जाय तो उस पर चलना चाहिए। यही मनन की विधि है। युक्ति जब द्वैविध्य में डाले तो उसके मूल को पकड़ना और समझना चाहिए। यही युक्ति के आलोचन का अर्थ है।

अब देखना है कि युक्ति का मूल क्या है ? युक्ति का मूल स्वत: युक्ति नहीं हो सकती। कारण, वह स्वयं अप्रतिष्ठित है। यद्यपि कुछ विषयों में उसकी प्रतिष्ठा सर्व प्रमाण सिद्ध है तो भी उन विषयों पर उसकी दो समान रायें होती हैं और इस कारण युक्ति का मूल दो भिन्न-भिन्न भाव होना चाहिए। यदि एक ही भाव युक्ति का मूल होता तो युक्ति एक विषय पर दो समान निर्णय न देती। यदि स्वयं अपना मूल होती तो वह अपना खण्डन न करती। यदि खण्डन ही उसका स्वभाव होता तो वह मण्डन कभी न करती और करती भी तो वहाँ वह अप्रमाण होती। अस्तु खण्डन या अभाव युक्ति का मूल नहीं हो सकता। युक्ति का मूल कोई भाव ही होना चाहिए। अनुभव चूँकि ज्ञान का आदि और अन्त दोनों है इस कारण वह युक्ति का मूल और फल दोनों है। अनुभव से ही युक्ति उगती है और अनुभव को ही पुन: वह जन्म देता है, पर अनुभव बहुत बड़ा अर्थ देनेवाला पद है। इसके अन्दर यथार्थ तथा अयथार्थ सभी प्रकार के ज्ञान आते हैं। यदि कार्य या फल यथार्थ है तो कारण या बीज भी यथार्थ होना चाहिए। युक्ति यदि सत्य-स्वरूप है तो उसकी प्रतिष्ठा (ground) अयथार्थ अनुभव नहीं हो सकता है। इस कारण युक्ति का मूल भ्रम, प्रतिभास, स्वप्न आदि नहीं है। केवल इन्हीं अयथार्थ अनुभवों पर आधारित युक्ति वस्तुत: युक्ति नहीं है, वह युक्ति का आभास है। फिर क्या प्रयत्क्ष युक्ति का मूल हो सकता है ? हमने अन्यत्र प्रत्यक्ष का विवेचन करके निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्यक्ष स्वत: अप्रमाण है और यह स्पष्ट है कि जो स्वत: अप्रमाण है वह युक्ति का मूल नहीं हो सकता है क्योंकि युक्ति स्वत: प्रमाण है।[१५] काण्ट ने प्रत्यक्षवाद और युक्तिवाद दोनों का खण्डन किया। प्रत्यक्षवाद के अभाव में युक्तिवाद खोखला है और युक्तिवाद के अभाव में प्रत्यक्षवाद अन्धा। इस प्रकार उसने ह्यूम के शुद्ध प्रत्यक्षवाद और लाइबनीज के शुद्ध युक्तिवाद को व्यर्थ बतलाते हुए सिद्ध किया कि ज्ञान में दोनों का युगपत् सहभाव होता है। आदिम अनुभव न तो प्रत्यक्ष है और न युक्ति। दोनों की सह-स्थिति में उत्पन्न वह एक अनोखा ही अनुभव है। यदि हम काण्ट के विश्लेषण को ही मानें तो यह नहीं कह सकते कि प्रत्यक्ष युक्ति का मूल स्रोत है। जिन दो वस्तुओं का युगपत् सहभाव होता है वे एक दूसरे का मूल नहीं हो सकतीं। फिर प्रत्यक्ष के बिना युक्ति मूक नहीं है। गणित की वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता तो भी युक्ति द्वारा उनका विवेचन संभव है। प्रत्यक्ष का निरूपण युक्ति ही करती है। युक्ति के अभाव में प्रत्यक्ष असंभव है। अत: प्रत्यक्ष स्वयं युक्तिमूलक है। वह युक्ति का मूल कैसे हो सकता है ?

डेकार्ट और स्पीनोजा ने सिद्ध किया है कि युक्ति का मूल प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ किसी भी वस्तु का साक्षात्कार है। यह स्वत: सिद्ध ज्ञान है।[१६] इसका युक्ति से खण्डन नहीं हो सकता। हाँ, युक्ति इसका मण्डन अवश्य कर सकती और करती है। तो क्या प्रातिभ ज्ञान ही युक्ति का मूल स्रोत है ? अद्वैत दर्शन स्पीनोजा और डेकार्ट के उक्त सिद्धान्त को कुछ हद तक मानता है। दूसरों के प्रातिभों की ही राशि का नाम भारत में श्रुति या उपनिषद् के नाम से विख्यात है। अद्वैत इन प्रातिभों के उस तात्पर्य को मानता है

जिसमें इन सबका युक्तियुक्त समन्वय होता है। इसका वर्णन अभी किया जायेगा। पर जब तक हमें आत्म-निश्चय न हो, जब तक हमें स्वयं प्रातिभ ज्ञान न हो, तब तक हम प्रातिभ ज्ञान को युक्ति का मूल नहीं मान सकते। तब तक हमारा संशयवाद ही सर्वश्रेष्ठ दर्शन सिद्धान्त है। किसी वस्तु के मूल समझने में जितनी कठिनाई होती है उतनी उस वस्तु को जानने में नहीं होती। गणित के प्रश्नों को हल करने में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी कि गणित के आधारभूत सिद्धान्तों के समझने में। यही हाल युक्ति तथा युक्ति के आधार के भी विषय में है। युक्ति का आधार उतनी सरलता से नहीं समझा जा सकता जितनी युक्ति। आधार समझने में आधेय की उतनी उपयोगिता नहीं है जितनी कि आधेय समझने में आधार की है। यही कारण है कि युक्ति का मूल जानना निरन्तर मनन पर निर्भर है। जो जितना ही निरन्तर मनन करेगा, जो जितना ही अधिक युक्ति के सहारे संशयारूढ़ बना रहेगा, वह उतना ही अधिक युक्ति के आधार प्रातिभ ज्ञान को समझेगा।

यदि हम द्वन्द्वों पर अब विचार करें तो उनके उद्‌भव का कारण जान सकते हैं। काण्ट ने केवल द्वन्द्वों का उद्‌घाटन किया। उसने उनके उद्‌भव पर प्रकाश नहीं डाला। कारण, वह स्वयं प्रातिभ ज्ञान का अनुभव न कर सका। सच तो यह है कि युक्ति का मूल वस्तुतः प्रातिभ है और आपाततः प्रत्यक्ष। हम कभी कभी सारे अनुभवों का मूल स्रोत प्रत्यक्ष या इन्द्रिय गोचर ज्ञान मान बैठते हैं। प्रत्यक्षदत्त तथ्यों के आधार पर फिर किसी भी सिद्धान्त के लिए युक्ति देते हैं। हमारी युक्ति ऊपर से प्रत्यक्ष से निकली प्रतीत होती है पर जब हम प्रत्यक्ष के स्वरूप पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रत्यक्ष का आधार स्वयं युक्ति है। प्रत्यक्ष का प्राण व्याख्यान (Interpretation) है न कि संवित् (sensation)। फिर संवित् सदा व्याख्याता के मन या बुद्धि में ही घटित होती है। अतः युक्ति का मूल प्रत्यक्ष न होकर स्वयं युक्ति ही प्रत्यक्ष का मूल है। द्वन्द्वों का कारण यह है कि उसमें एक भाव की सिद्धि प्रत्यक्षमूलक युक्ति से होती है और दूसरे की प्रातिभ मूलक युक्ति से। चूँकि हम प्रत्यक्ष को प्रमाण मान बैठते हैं अतः हमें दोनों तर्क तुल्य बल प्रतीत होते हैं। पर जो प्रातिभ नहीं जानते या जो प्रत्यक्ष को असंगत जानते हैं उनके लिए युक्ति के मूल का उद्‌भव असंभव है। द्वन्द्वों का उद्‌भव केवल उस बुद्धि में होता है जो दो नावों पर पैर रखती है, जो प्रातिभ तथा प्रत्यक्ष पर स्थित है। आश्चर्य होता है कि काण्ट द्वन्द्वों की अवतारणा करने पर भी द्वन्दों के इस कारण को न जान सका। उसकी भूल का मूल कारण प्रातिभ को प्रत्यक्ष से अभिन्न समझना है। यदि उसने प्रातिभ पर विचार किया होता तो फिर द्वन्द्वों की अवतारणा गलत सिद्ध हो जाती। कारण, द्वन्द्व के जिस भाव की सिद्धि प्रत्यक्ष मूलक युक्ति द्वारा होती है वह तर्काभास है, वह सच्चा तर्क नहीं है। द्वन्द्व का केवल वहीभाव सत्य है जिसकी सिद्धि प्रातिभ मूलक युक्ति से होती है। पर जब तक निरन्तर मनन से युक्ति द्वारा प्रत्यक्ष और उस पर आधारित भाव-प्रपञ्च का खण्डन न हो जाय तब तक संशय का उच्छेद नहीं हो सकता। यही कारण है कि अद्वैत दर्शन प्रत्यक्ष की कटु आलोचना करके इसे अप्रमाण सिद्ध करता है।[१७]

युक्ति अनुभव और अपने उत्थापित ज्ञान के आधार पर तत्त्व चिंतन करती है। खण्डन और मण्डन-प्रतिषेध तथा विधायक-इसके दो पहलू हैं। हम पहले प्रतिषेधक तर्क को लेते हैं। अद्वैत प्रणाली में तीन विभिन्न युक्तियों या न्यायों का प्रयोग होता है, (१) चतुष्कोटिक न्याय (२) द्विकोटिक न्याय और (३) एककोटिक न्याय। इन तीनों न्यायों द्वारा प्रधानतः पर मत का खण्डन किया जाता है और गौणतः स्वमत का मण्डन भी अपेक्षित रहता है। चतुष्कोटिक न्याय प्रणाली का पूर्ण विकास सबसे पहले नागार्जुन के दर्शन में हुआ। इस कारण कुछ लोग इसको बौद्ध प्रणाली समझते हैं पर माण्डूक्योपनिषद् में भी इस प्रणाली का प्रयोग है। नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्[१८]। आत्मा न आभ्यान्तर ज्ञान है, न बाह्य, न दोनों और न ज्ञान विशेष का पुंज। वह न ज्ञान है न अज्ञान। इस प्रकार

अभ्यन्तर, बहिः, उभय तथा अनुभय - ये कोटियाँ उपनिषद् में प्राप्त हैं। कुछ लोग माण्डूक्योनिषद् को गौडपादकृत माण्डूक्य कारिका से अर्वाचीन मानते हैं और कहते हैं कि चतुष्कोटिक न्याय पद्धति बौद्ध दर्शन से अद्वैत दर्शन में ग्रहण की गई। यहाँ इस ऐतिहासिक प्रश्न पर विचार करने का अवकाश नहीं है। हाँ, इतना याद है कि चाहे चतुष्कोटिक न्याय अद्वैत से बौद्ध दर्शन में गया हो या बौद्ध दर्शन से अद्वैत में आया हो, पर वह अद्वैत की प्रणाली का मुख्य अंग है। गौडपाद ने स्पष्ट व्याख्यान किया -

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सहावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥

अर्थात् – अस्तिवाद, नास्तिवाद, अस्ति-नास्ति-उभयवाद और नास्ति-नास्तिवाद अर्थात् अत्यन्त शून्यवाद ये चारों मत आत्मा के विषय में प्रचलित हैं। अस्ति, नास्ति, उभय और नोभय ये ही चार कोटियाँ (Categories) हैं। अस्तिभाव का आशय है कि आत्मा चल है। नास्तिभाव का कि आत्मा स्थिर है। उभयवाद का तात्पर्य है कि आत्मा चल और स्थिर, सत् और असत् दोनों है। आत्मा का अत्यन्त अभाव है - यह चतुर्थवाद है। इन चारों मतों के मानने वाले मूर्ख हैं। आत्मा इन चारों कोटियों से अस्पृष्ट है। जो इस तथ्य को जानता है उसी को सत्य का ज्ञान है।

किसी भी पदार्थ या भाव को लेकर चार प्रकार की कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए किसी भाव या पदार्थ को लीजिए। क स्वयं एक कोटि है। दूसरी कोटि क का विरोधी भाव अ क है। तीसरी कोटि क और अ क दोनों की सहस्थिति है। चौथी कोटि उक्त तीनों कोटियों का अभाव है अर्थात् न क और न अ क। इस प्रकार क, अ क, क और अ क, न क और न अ क ये चार कोटियाँ हैं। अद्वैत सिद्ध करता है कि सम्यक् विचार करने से इन कोटियों में से प्रत्येक स्वतः असंगत सिद्ध होती हैं। इस कारण सचमुच ये चारों सत्य नहीं हैं। वस्तुतः इन चारों से भिन्न एक अन्य ही कोटि है, वह स्वतन्त्र कोटि है। अन्य कोटि में उसका अनुवाद नहीं हो सकता। दूसरों के मत को काटने के लिए भी चतुष्कोटिक न्याय प्रणाली का बहुधा उपयोग किया जाता है। दूसरों के किसी भी सिद्धान्त को हम चार विकल्पों में पहले रखते हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध सिद्धान्त के क्षणभंगुरवाद को लीजिए। यह या तो सत्य है या असत्य या दोनों नहीं। यदि हम इसे समझने का प्रयास करते हैं तो यह चारों विकल्पों में से एक भी विकल्प नहीं सिद्ध होता। अतः क्षणभंगुरवाद असंगत है। इस प्रकार शांकरोत्तर अद्वैत के आचार्यों ने, विशेषतः श्री हर्ष ने इस प्रणाली द्वारा सभी प्रकार के पदार्थों, गुणों, क्रियाओं और वादों का खण्डन किया है।

द्विकोटिक न्याय चतुष्कोटिक न्याय का ही सूक्ष्म संस्करण है। इसमें प्रायः किसी पदार्थ के सत् और असत् इन्हीं दोनों पहलुओं पर या किन्हीं दो परस्पर विरोधी भावों पर विचार किया जाता है। जैसे माया न सत् है न असत्, न तत्त्व है न अतत्त्व, न ज्ञान है न अज्ञान, न भाव है न अभाव। वह इन दोनों से परे अनिर्वचनीयता की कोटि है। शंकराचार्य ने दूसरों के मत को काटने के लिए इस प्रणाली का बहुत प्रयोग किया है। वे प्रायः उभयतोपाश (Dilemma) में दूसरों के मत को व्यक्त करते हैं। फिर उभयतोपाश की दोनों कोटियों को काटते हैं। कभी-कभी एक उभयतोपाश के अन्दर दूसरा और दूसरे के अन्दर तीसरा उभयतोपाश व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए किसी वस्तु ल को लीजिए। ल या तो ठीक क हो सकता है या ख। वह क नहीं हो सकता। फिर यदि वह ख है तो वह या तो च-रूप हो सकता है या छ-रूप। वह च या च-रूप नहीं हो सकता है। अतः वह छ है। फिर यदि वह छ है तो विचार करने पर पुनः वह या तो प हो सकता है या फ। वह प नहीं है। अन्ततः वह फ भी नहीं हो सकता। यहाँ सर्वत्र न होने

के कारण असंगति है। हम इस उदाहरण में उभयतोपाश के अन्दर उभयतोपाश की संख्या को तब तक बढ़ा सकते हैं जब तक हमको विकल्प मिलते जायेंगे। अस्तु कभी-कभी पाँच-पाँच और छ:-छ: उभयतोपाश एक बड़े उभयतोपाश के अन्दर शामिल रहते हैं। यहीं अद्वैत दार्शनिकों के बुद्धि-कौशल का परिचय मिलता है। यह द्विकोटिक न्याय खण्डनात्मक और मण्डनात्मक दोनों है। अपने मत का पोषण भी इसके द्वारा किया जाता है। आधुनिक दर्शन में ब्रैडले ने इस प्रणाली का खूब उपयोग किया। उसने उभयतोपाशों के बल पर ही अपनी सत्ता तथा आभास (Appearance and Reality) नामक पुस्तक में तत्त्व निरूपण किया है। आभास का भाग तो उभयतोपाश पर ही अधिक अवलम्बित है। अद्वैत दार्शनिकों की भाँति वह भी किसी पदार्थ या भाव की आभासता द्विकोटिक न्याय प्रणाली द्वारा सिद्ध करता है।

अब रहा एककोटिक न्याय। इसको प्राय: नेति की प्रणाली कहा जाता है। इसी को अध्यारोप तथा अपवाद की पद्धति भी कहा जाता है। अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते [२०] - अध्यारोप तथा अपवाद द्वारा ही निष्प्रञ्च वस्तु का निरूपण किया जाता है। इस विधि में हम पहले किसी वस्तु को सत् मान लेते हैं और बाद में युक्ति द्वारा इसको असत् सिद्ध कर किसी दूसरी वस्तु को सत् मानते हैं। इसी प्रकार सारी वस्तुएँ जिन्हें क्रमश: सत् मानते रहते हैं असत् सिद्ध की जाती हैं। आत्मा का निरूपण प्राय: इसी रीति से किया जाता है। [२१] पहले शरीर को ही आत्मा माना जाता है। पर जब हम सूक्ष्म विचार करते हैं तो ज्ञान होता है कि परिवर्तनशील और नश्वर शरीर आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा परमार्थ सत् होने के कारण सदा विद्यमान और एक रूप है। इसी प्रकार हम क्रमश: इन्द्रिय, मन, अन्त:करण, बुद्धि, विज्ञान, आनन्द आदि को आत्मा मानकर खण्डन करते हैं कि आत्मा इनमें से कोई भी सम्भव नहीं हो सकता है। आखिर में हम नेति-नेति इस विधि को ही आत्मा सिद्ध करते हैं। यहाँ साध्य और साधन की, विधेय और विधि की, सिद्धान्त तथा प्रणाली की एकरूपता ज्ञात होती है। वस्तुत: जो तर्क या उपाय सब का खण्डन करता है वह स्वयं परमार्थ सत् और उपेय है।

एककोटिक न्याय का विधायक पहलू भी अद्वैत प्रणाली से प्रयुक्त होता है। अनुभव के आधार पर बिना किसी युक्ति द्वारा पुष्टि के कोई भी वाक्य अद्वैत दार्शनिक को मान्य नहीं हैं। अस्तु यत्र-तत्र अद्वैत साहित्य में ऐसे बहुत से तर्क भरे पड़े हैं जिनसे अनुभव की तीव्रता और सूक्ष्मता आंकी जाती है। ऐसे तर्कों के उदाहरणस्वरूप हम यहाँ दो अत्यन्त प्रसिद्ध तर्कों का उल्लेख करना चाहते हैं। शंकर का कहना है कि आत्मा ही सब कुछ है। कारण, आत्मा के बिना किसी भी वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता। यह बहुत बड़ा तर्क है जो आत्मा मात्र की परमार्थ सत्ता घोषित करता है। दूसरा प्रसिद्ध तर्क- स्वात्मनि क्रियाविरोधात् है। किसी वस्तु में स्वत: अलंकृत क्रिया नहीं हो सकती। नट अपने ऊपर नहीं नाच सकता। पदार्थ अपने को ही नहीं जान सकता। आँख स्वयं नहीं देख सकती। इन सब को जानने के लिए इन सबसे भिन्न आत्मा की आवश्यकता है। भौतिकवाद को काटने के लिए यह युक्ति पर्याप्त है। भूत द्रव्य स्वयं अपने को जान नहीं सकता। इसका ज्ञान उससे उत्पन्न नहीं होता है। अत: ज्ञान भूत द्रव्यों से भिन्न उनसे पूर्व सत् है।

श्रुति का विश्लेषण और समन्वय

श्रुति प्रमाण पर बहुत से लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। पर वस्तुत: वे श्रुति का अर्थ नहीं जानते। हमारे ज्ञान या अनुभव का तीन चौथाई से भी अधिक भाग श्रुति या शब्द प्रमाण पर है। प्रतीति तीन प्रकार की होती है गुरु से, शास्त्र और अपने से। अपने से होनेवाली प्रतीति अनुभव है। गुरु और शास्त्र से जो ज्ञान होता है उसे ही श्रुति कहा जाता है। गुरु शब्द का अर्थ यहाँ परिवार के व्यक्ति, समाज के व्यक्ति तथा अध्यापक जन हैं। मानवता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सबसे पहला और बड़ा साधन

यही शब्द प्रमाण है। शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष, युक्ति और प्रातिभ सभी ज्ञानों का ज्ञापक है। पर इसे अपने अनुभव में अनूदित करना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति किस सोते हुए मनुष्य को शब्द से जगाता है वैसे शब्द-प्रमाण भी संशयग्रस्त दार्शनिक की आँख खोलता है। अद्वैत साहित्य में गान्धारदेशीय पुरुष की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। किसी गान्धार नगर के रहनेवाले मनुष्य की आँखों पर पट्टी बाँधकर किसी सज्जन ने उसे जाकर एक घोर निर्जन वन में छोड़ दिया और तब उसकी पट्टियों को खोल दिया। बेचारा गान्धार-नागरिक कुछ देर तक घबराता रहा। बाद में विदेश में अपने को पाकर स्वदेश जाने की इच्छा उसने की। इधर-उधर घूमकर मार्ग ढूंढ़ने लगा। पर उसको कोई भी मार्ग उस वन में न मिला। भाग्य से किसी बनेचर से उसकी भेंट हुई। और तब उसके द्वारा उसे गान्धार का मार्ग मालूम हुआ। फिर क्या था ? वह औरों से पूछते-पाछते और अपनी बुद्धि से सोचते-समझते आखिर में अपने नगर पहुँच गया। इसी प्रकार दार्शनिक भी श्रुति से ज्ञान लेकर अपनी बुद्धि से तर्कना करते-करते अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। बस यही श्रुति की उपयोगिता है।

लोगों को यह न समझना चाहिए कि श्रुति तर्क-शत्रु होती है। शास्त्रीय वचन वस्तुओं के स्वरूप को बदल नहीं सकते हैं। वे केवल उन पर प्रकाश डालते हैं। श्रुति लोक अनुभव के विरुद्ध बात नहीं करती। और यदि यह कहीं करती है तो वहाँ वह अमान्य है। कोई भी श्रुति यह नहीं कह सकती कि अग्नि शीतल होती है और सूर्य तपता नहीं है।[13] परस्पर विरुद्ध बातों का भी वर्णन श्रुति के मान का नहीं है। यदि मूढ़ व्यक्ति असंगत बातें नहीं करता तो श्रुतियाँ कैसे कर सकती हैं क्योंकि वे मेधावी पुरुषों की रचनाएँ हैं ? अत: श्रुति तर्क-शत्रु न होकर तर्क-मित्र है। वह लौकिक दृष्टान्तों से उस ज्ञान को बतलाती है जो केवल तर्क से संभव नहीं। वस्तुत: श्रुति महान दार्शनिकों के यौक्तिक और प्रातिभ ज्ञानों का वाङ्मय में सुरक्षित पुंज है। युक्ति की भाँति श्रुति या प्रातिभ की भी सीमा है। वह तर्क विरुद्ध बात नहीं कह सकती। लोक-विरुद्ध वस्तु का निरूपण भी उसके बूते का नहीं है। वस्तुओं के स्वभाव का बदलना भी उसकी शक्ति से बाहर है। अत: श्रुति केवल तर्कोर्ध्व तथा तर्क-सम्मत वस्तु का ही ज्ञान है।

अब प्रश्न उठता है कि श्रुतियों का तात्पर्य कैसे जाना जाय ? कभी कभी वे दो ऐसी बातें कहती हैं जिनमें परस्पर विरोध होता है। उदाहरण के लिए अद्वैतवाद को लीजिए। कुछ श्रुतियों का कहना है कि परमार्थ सत् आत्मा या ब्रह्म है। इसके विपरीत कुछ का कहना है कि परमार्थ सत् नाना है। ऐसे प्रसंग में किस श्रुति की बात मानी जाय ?

अद्वैत के आचार्यों का कहना है कि सभी श्रुति-वाक्यों का पहले विश्लेषण करना चाहिए। देखना चाहिए कि उनका अर्थ अभिधेय है या लाक्षणिक। अभिधा और लक्षणा ये दो शब्द-शक्तियाँ हैं। इनसे पहले किसी के भी कथित वाक्य का प्रधान या गौण अर्थ जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। फिर सभी अर्थों पर मनन द्वारा उनके साम्य तथा वैषम्य पर विचार करके तत्पश्चात् गौण और प्रधान अर्थों का सामञ्जस्य बैठाना चाहिए। वाक्य के अर्थ का विश्लेषण अद्वैत ठीक उसी प्रकार से करता है जिस प्रकार आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवादी करते हैं। सभी श्रुति-वाक्यों का विश्लेषण अद्वैत ने किया है। उदाहरण के लिए मैं सुखपूर्वक सोया, सुखमहमस्वाप्सम्, इस वाक्य को लीजिए। कितने दार्शनिक मानते हैं कि सुषुप्ति में आत्मा का अभाव रहता है। पर अद्वैत उक्त वाक्य के विश्लेषणों से सिद्ध करता है कि सुषुप्ति में भी आत्मा का भाव अनिवार्य और अपेक्षित हैं। अन्यथा उक्त वाक्य अनुपपन्न हो जायगा। जो सुख मिलता है उसका अनुभवकर्ता अवश्य होना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जागने पर ही उक्त वाक्यगत अनुभव होता है। जागने पर तो केवल स्मरण होता है कि

जागरणपूर्व सुप्ति अवस्था में सुख मिल रहा था। फिर यदि सुप्ति में आत्मा नहीं है तो सुप्तिपूर्वक अनुभव का सुप्ति-पश्चात् अनुभव के साथ सामञ्जस्य और अनुस्मरण असंभव हो जाता है।

इसी प्रकार तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म इत्यादि महावाक्यों का भी अद्वैत सुन्दर विश्लेषण करता है। हम यहाँ केवल तत्त्वमसि, वह तू है, इस महावाक्य को लेते है। यहाँ तीन पद हैं तू, वह और है। 'तू' का सामान्य अभिधेय दोनों का अभेद होना है। पर ऐसा अभिधेय अर्थ करना विप्रतिसिद्ध है क्योंकि मन-शरीर-धारी जीव सकल संसार का एक शुद्ध नश्वर कण है और विषयगत सत्ता बहुत बड़ी अनश्वर वस्तु है। दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अतएव यहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है। अभिधा से तात्पर्य अनुपपन्न होता है। फिर लक्षणा का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि जहाँ अभिधा परस्पर विप्रतिषिद्ध या असंगत अर्थ दे और जहाँ कोई प्रयोजन या रूढ़ि हो वहाँ लक्षणा का कार्य-क्षेत्र है। 'तू' का क्या अर्थ है ? 'तू' का अर्थ है आत्मा, न कि आनन्द, विज्ञान, बुद्धि, मन, प्राण, शरीर आदि। आत्मा बोध स्वरूप है। 'वह' का क्या अर्थ है ? 'वह' स्थूल नहीं है। जैसे 'तू' आभ्यन्तर वस्तु ही नहीं है वैसे 'वह' भी बाह्य वस्तु ही नहीं है। 'वह' का ग्रहण बिना 'तू' के असंभव है। अत: 'वह-तू' का नित्य संबन्ध है। दोनों समानाधिकरण हैं। दोनों एक हैं। 'तू' का वह अर्थ अप्रासङ्गिक है जो किसी नश्वर और क्षणिक वस्तु जैसे शरीर आदि का बोधक है। उसका वह अर्थ यहाँ अपेक्षित है जो सदा विद्यमान बोधस्वरूप साक्षी वस्तु है। इसी प्रकार 'वह' का भी नश्वरतापरक अर्थ अप्रासंगिक है। उसका वह अर्थ यहाँ ग्राह्य है जो सकल प्रपञ्च के सारभूत तत्त्व को बतलाया है। इस प्रकार जहत्-अजहत् लक्षणा द्वारा तत्त्वमसि का अर्थ निकलता है कि प्रत्येक आत्मा और परोक्ष सत् (ब्रह्म) दोनों में अभेद है। आत्मा ही सत् है और सत् ही आत्मा है। उपनिषद् वाक्यों में से अधिकांश इसी अभेद तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। पर बहुत-से ऐसे वाक्य भी हैं जो भेद और वैपुल्य की चर्चा करते हैं। ऐसी स्थिति में किन वाक्यों को प्रधान और किन्हें गौण माना जाय ? प्रमाण तो दोनों हैं।

अद्वैत ने वैपुल्यवाद का अपने सिद्धान्त से सामञ्जस्य करने के लिए नए ढंग और वाद की अवतारणा की है। इस ढंग का नाम हम आलङ्कारिक शैली कह सकते हैं। इस सिद्धान्त को 'इववाद' के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा या परमार्थ सत् अद्वितीय तत्त्व है। वह कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा कुछ नहीं है। पर ऐसा लगता है कि वह कर्ता, भोक्ता आदि है। जैसे संसार में लोग देवदत्त को स्त्रीमय कहते हैं तो उनका अभिप्राय यह होता है कि देवदत्त में स्त्री-प्रेम की प्रधानता है, न कि यह कि देवदत्त स्त्री से बना और भरा-पूरा है। इसी प्रकार जब आत्मा को अन्नमय, विज्ञानमय आदि कहा जाता है तो आत्मा के ही किसी उपलक्षण का वर्णन होता है। फिर अन्नादि आत्मा के स्वरूप या लक्षण नहीं हैं। वे आत्मा के केवल उपलक्षण है। इससे वस्तुत: अद्वैत होते हुए भी आत्मा द्वैत प्रतीत होती है। उपाधियों के कारण तत्त्व एक होते हुए भी अनेक प्रतीत होता है। अत: उपाधियों में गृहीत तत्त्व पारमार्थिक नहीं है। उसमें केवल तत्त्व की स्थिति मान ली जाती है। आत्मा कुछ न करते हुए भी कुछ करती हुई सी ज्ञात होती है। वह ध्यान न करती हुई भी ध्यान करती हुई सी ज्ञात होती है। इस प्रकार ध्यायतीव लेलायतीव (वृ. ४।३।७) आदि वाक्यों में याज्ञवल्क्य ने इववाद या आलङ्कारिक शैली और सिद्धान्त का ही वर्णन किया है। आगे चलकर शंकर ने इन वाक्यों के विश्लेषण से ही वैपुल्यवाद को आभास सिद्ध करते हुए अद्वैतवाद की स्थापना की है। इसप्रकार का दर्शन आधुनिक युग में वैहिंगर द्वारा जर्मनी में खोजा गया है। इसे 'मानों कि का दर्शन' (Philosophy of as if) कहते हैं। इस दर्शन के अनुसार किसी वस्तु के दो स्वरूप होते हैं। (१) लक्षण और (२) उपलक्षण। लक्षण उसका सदा विद्यमान स्वरूप होता है। उपलक्षण उसका आकस्मिक और उपाधिगत रूप होता है। यदि किसी भवन पर कौओं की मण्डली बैठी है तो हम अपने मित्र से कहते हैं कि यह भवन कौओं का बैठका है। पर यह सदा विद्यमान स्वरूप नहीं

है। यह उपलक्षण हैं न कि लक्षण। यह परिभाषा नहीं है। यह केवल आकस्मिक गुण (accidental property) है। इस प्रकार कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्मा के लक्षण न होकर उपलक्षण हैं। उपलक्षण की स्थिति वास्तविक नहीं है। वह आलङ्कारिक वर्णनमात्र है। यही इववाद है।

अब हम देखते हैं कि अद्वैत श्रुति-वाक्यों का भली भाँति विश्लेषण करता है। विश्लेषण के बाद वह इन सब का समन्वय भी करता है। तत्तु समन्वयात् (ब्रह्मसूत्र १।१।४) सूत्र में इस समन्वय को आचार्य वादरायण ने स्पष्ट किया है। सभी श्रुति-वाक्यों का अलग-अलग विश्लेषण करके श्रुतियों के तात्पर्य को जानने के लिए किसी सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है। विश्लेषण तात्पर्य नहीं देता। कुछ ऐसे कारण या हेतु होने चाहिए जिनके आधार पर हम सभी श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य जान सकें। अद्वैत श्रुति-तात्पर्य जानने के लिए छः हेतु देता है। १. उपक्रम और उपसंहार २. अभ्यास या पुनरुक्ति ३. अपूर्वता ४. फल ५. अर्थवाद और छठ्ठा प्रपाठक लीजिए। इस प्रपाठक का क्या तात्पर्य है ? पहले हम देखते हैं कि इसके आरम्भ और अन्त के वाक्य का क्या अर्थ है। यदि दोनों जगह एक ही बात है तो संभवतः वही इस अध्याय का सार है। हम जानते हैं कि उक्त अध्याय के आदि और अन्त में दोनों जगह अद्वितीय सत् का उपाख्यान है। इतना जान लेने पर हम फिर देखते हैं कि सम्पूर्ण प्रपाठक में बार-बार किस सिद्धान्त की पुनरुक्ति हुई है ? अद्वैत सत् का ही बार-बार प्रपाटक भर में वर्णन मिलता है। इस प्रकार अभ्यास द्वारा भी ज्ञात होता है कि अद्वैतवाद श्रुतिसार है। अपूर्वता प्रकरण में प्रतिपाद्य अद्वैत वस्तु का दूसरे प्रमाणों द्वारा न ज्ञात होना है। अद्वैत श्रुति भिन्न अन्य प्रमाणों से अवगत नहीं हो सकता है। हाँ, श्रुति का सहारा लेकर युक्ति और अनुभूति उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त कर सकती है। श्रुति की यह अपूर्वता उसका सार है। फल से भी सार जाना जाता है। उसी प्रकरण में मिलता है कि अद्वैत सत् के ज्ञान का फल स्वराज्य, स्वास्थ्य या स्वातन्त्र्य है। यह फल भी अद्वैत सिद्धान्त का बोधक है क्योंकि जब तक द्वैत-ज्ञान रहता है तब तक भय बना रहता है और भय के रहते अभय नहीं हो सकता जो स्वास्थ्य, स्वातन्त्र्य का सारभूत अंग है। अर्थवाद का अर्थ प्रासंगिक है, अर्थ भी प्रशंसा और अप्रासंगिक की निन्दा है। उक्त प्रकरण में अद्वैत सत् की प्रशंसा और नानात्व की निन्दा की गई है। इससे स्पष्ट है कि श्रुति का तात्पर्य अद्वैत है। फिर अद्वैत सत् की सिद्धि के लिए मृत्तिका आदि दृष्टान्तों द्वारा उक्त प्रकरण में उपपत्तियाँ भी प्रचुर दी गई हैं। इस कारण भी श्रुति का तात्पर्य प्रस्तुत प्रकरण में अद्वैतवाद है। इस प्रकार इन छः हेतुओं से उपनिषद् के अध्यायों का तात्पर्य जानने के बाद फिर इन्हीं हेतुओं द्वारा उपनिषदों का व्यस्त और समस्त रूप से तात्पर्य जाना जाता है। किसी भी अनुच्छेद, अध्याय या ग्रन्थ का सार और तात्पर्य जानने के लिए ये छ हेतु पर्याप्त हैं। अद्वैत दर्शन वेदान्त-वाक्यों के तात्पर्य के लिए उन वाक्यों के विश्लेषण तथा समन्वय करना, इस दर्शन की विशिष्ट प्रणाली है। अन्यत्र भारतीय तथा अभारतीय दर्शन में ऐसी प्रणाली का दर्शन दुर्लभ है।

समीक्षात्मक निष्कर्ष

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली में अनुभव यौक्तिक है और युक्ति आनुभविक। यहाँ तक काण्टकृत अनुभव और युक्ति का समन्वय अद्वैत दर्शन को मान्य है। पर अद्वैत इनके अतिरिक्त प्रातिभ ज्ञान को भी मानता है। काण्ट में इसका अभाव है। इसी को अद्वैत श्रुति कहता है, यदि वह केवल पठित या श्रुत है, और जब वह अनुभूत हो जाती है तो फिर उसे वह अपरोक्षानुभूति कहता है। अनुभव और युक्ति को श्रुतिसम्मत होना चाहिए और श्रुति को आनुभविक तथा यौक्तिक। यदि अनुभव और युक्ति श्रुतिसम्मत नहीं है तो कोई विशेष क्षति नहीं हैं पर श्रुति को अवश्य अनुभव तथा युक्ति के अनुकूल होना चाहिए, अन्यथा अनर्थ की आशंका होती है। अद्वैत प्रणाली का मेरुदण्ड युक्ति तथा अनुभव है। अनुभवहीन युक्ति सावद्य है और युक्तिहीन अनुभव अन्धविश्वास। इन्हीं दोनों की

निरवद्यता पर अद्वैत की मनन विधि आधारित है। श्रवण मनन और निदिध्यासन अद्वैत प्रणाली के तीन क्रमिक सोपान कहे जाते हैं। श्रुति का उक्त विश्लेषण और समन्वय श्रवण है। अनुभव का विश्लेषण और युक्ति का विग्रह मनन है। निदिध्यासन कोई साधनात्मक क्रिया नहीं है। वह निरन्तर मनन का ही दूसरा नाम है। या यों कहिए कि वह परिपक्व मनन है। यही कारण है कि शंकराचार्य मनन तथा निदिध्यासन को श्रवण की भाँति अवगति प्रधान मानते हैं - मनन निदिध्यासनयोरपि श्रवणवद् अवगत्यर्थत्वात्।[२३] यही ज्ञानमार्ग है। कुछ वेदान्ती ज्ञान और कर्म के समुच्चय को मानते हैं और कुछ दोनों में परस्पर विरोध देखते हैं। समुच्चयवादियों में भी कुछ लोग ज्ञान तथा कर्म का सहसमुच्चय मानते हैं। उनके अनुसार कर्म और ज्ञान का एक साथ प्रयोग और व्यवहार हो सकता है। कुछ लोग ज्ञान और कर्म के सहसमुच्चय के विरोधी होते हुए भी दोनों के क्रम समुच्चय में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि कर्म से अन्त:करण शुद्ध होता है और अन्त:करण शुद्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। सत्त्व शुद्धि के बिना ज्ञान दुर्लभ है। इस प्रकार वे ग्रीक दर्शन के आचार्य सुकरात और अफलातून की भाँति नीति को दर्शन का अंगभूत अनिवार्य साधन समझते हैं। कहना नहीं होगा कि अद्वैत के अधिकांश आचार्य कर्म और ज्ञान के क्रम समुच्चय को मानते हैं। कर्म की स्थिति में ज्ञान नहीं होता। और ज्ञान की स्थिति में कर्म असम्भव है। इस प्रकार यद्यपि वे भी विशुद्ध कर्म ज्ञानमार्ग को मानते हैं पर तो भी उनका ज्ञानमार्ग विशुद्ध कर्ममार्ग का फल है। पर कुछ अद्वैत वेदान्ती ज्ञान और कर्म के क्रमसमुच्चय के भी पक्ष में नहीं है, सहसमुच्चय की बात तो दूर है। उनका कहना है कि बिना सत्त्व-शुद्धि के भी ज्ञानमार्ग सुलभ है। विनाऽपि सत्त्वशुद्धं ज्ञानेनैव मोक्ष: सिद्धत्येव सत्यम्।[२४] मोक्ष का यहाँ अभिप्राय अक्षरश: स्वास्थ्य ही लेना चाहिए। कर्म से जीव बन्धन में पड़ता है, विद्या से ही वह बन्धन मुक्त-होता है। अत: पारदर्शी यति कर्म नहीं करते हैं।

कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतय: पारदर्शिन:॥

इस सिद्धान्त को हम शुद्ध ज्ञानमार्ग कह सकते हैं। अद्वैत भिन्न वेदान्तियों ने ज्ञान तथा कर्म के सह-समुच्चय का समर्थन किया है पर अद्वैत ने सदा कर्म को ज्ञानमार्ग में व्यर्थ बतलाया है। दूसरे शब्दों में नीतिशास्त्र को ज्ञानमीमांसा और अध्यात्मशास्त्र के लिए अनुपयुक्त बतलाया है। इसके विपरीत अधिकांश आचार्यों ने नीतिशास्त्र को ज्ञानमार्ग का आवश्यक अंग माना है। जैसे युक्ति ज्ञानमार्ग का मेरुदण्ड है वैसे उनके मत से नीति भी ज्ञानमार्ग का मेरूदण्ड है। वे युक्ति को नैतिक और नीति को यौक्तिक मानते हैं। पर इस विषय पर हम विशेष विचार यहाँ नहीं करना चाहते। यहाँ हमारा लक्ष्य ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन है। इसमें नीति की उपयोगिता और अनुपयोगिता दोनों मान्य हैं। अच्छा हो यदि हम ज्ञानमार्ग को समझने के लिए नीति को दूर रखें। नीति और ज्ञान का प्रश्न एक दूसरी ही जटिल समस्या है। उसका विवेचन इस समय विज्ञ पाठकों पर छोड़कर हमें यहाँ शुद्ध ज्ञानमार्ग वाली अद्वैत की प्रणाली का प्रतिपादन अभीष्ट है।

***

संदर्भ सूची

१. शारीरक भाष्य १ / १ / २
२. जैमिनी सूत्र १ / २ / १
३. शारीरक भाष्य १ / १ / ४ में उद्धृत।
४. शारीरक भाष्य १ / १ /४
५. सदाचारानुसन्धानम् २९।
६. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह २९० और २९१।

७. अपरोक्षानुभूति ११३ ।
८. यह वेदान्त का अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक हैं। वेदान्त रहस्यवाद को बतलाने वालों को इस पर विचार करना चाहिए।
९. माडूक्यकारिका २-४-११ ।
१०. सर्व वेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह ५८०।
११. तर्काप्रतिष्ठानात् - ब्रह्मसूत्र २।१।११।
१२. द्रष्टव्य शारीरक भाष्य २।१।११
१३. भगवद्गीता ४।४०
१४. शारीरक भाष्य २।३।१
१६. प्रातिभ ज्ञान के स्वरूप के लिए देखिए मेरा लेख "प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप" दार्शनिक अक्तूबर १९५४।
१७. द्रष्टव्य सर्व वेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह २८५-२२८।
१८. माण्डूक्योपनिषद् ७।
१९. माण्डूक्यकारिका ४।८३-८४।
२०. सर्व वेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह २९५।
२१. द्रष्टव्य मेरा लेख आत्मा का स्वभाव, दार्शनिक अप्रैल १९५५।
२२. द्रष्टव्य शंकरकृत बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य २।१।२० और प्रश्नोपनिषद्भाष्य ६।२
२३. शारीरक भाष्य १।१।४
२४. शंकरकृत सवस्तु जातीय भाष्य २।६ और गीता भाष्य २।१० तस्माद गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुम् शक्य: ।

काश्मीर शैवमत की परीक्षा

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का द्विविध मूल्याँकन

आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व माना जाता था कि काश्मीर शैवमत अद्वैत वेदान्त से अवर है। किन्तु अब यह प्रवाद दिनानुदिन प्रचलित होता जा रहा है कि काश्मीर शैवमत अद्वैत वेदान्त से उच्चतर है। इसे त्रिक दर्शन, स्पन्द-दर्शन, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, ईश्वराद्वयवाद, स्वातन्त्र्याद्वैतवाद, शिवाद्वैतवाद आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। ये नामकरण इस दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों का उद्घाटन करते हैं जिनको लेकर कहा जाता है कि इनके परिप्रेक्ष्य में काश्मीर शैवमत अद्वैतवेदान्त से उत्कृष्टतर है। यहाँ हम अपने विवेचन के लिए काश्मीर शैवमत को स्वतन्त्राद्वैत और अद्वैतवेदान्त को अद्वैतवाद के नामों से सम्बोधित करेंगे और उन बिन्दुओं का पर्यवेक्षण करेंगे जिनमें स्वतन्त्राद्वैत को अद्वैतवाद से श्रेष्ठतर माना जा रहा है।

जिन दार्शनिकों ने अद्वैतवाद को स्वतन्त्राद्वैत से श्रेष्ठतर प्रतिपादित किया है उनमें सर्वदर्शन संग्रह के लेखक माधवाचार्य (१२०० ई.) और महिम्नस्तोत्र के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई.) अग्रगण्य है। इन दोनों दार्शनिकों ने भारत के सभी दर्शनों का समन्वय एक तार्किक क्रम में किया था जिसमें प्रमुख दृष्टि समन्वयवाद के अतिरिक्त आत्मवाद और कार्य-कारणवाद की है। माधवाचार्य ने चार्वाक-दर्शन से लेकर अद्वैतवाद तक १६ दर्शनों की एक आनुपूर्वी आत्मा की स्थूलता-सूक्ष्मता तथा कार्यकारणवाद के आधार बनाई थी जिसमें प्रत्यभिज्ञा-दर्शन को उन्होंने वैष्णव दर्शनों के अनन्तर और न्याय-वैशेषिक दर्शन के पूर्व रखा था। उनका तात्पर्य था कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का दार्शनिक स्तर अधिक से अधिक न्याय-वैशषिक दर्शन का स्तर है क्योंकि इन दोनों में आत्मा को स्वभावत: ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्ता माना जाता है, इससे उच्चतर स्तर का दर्शन सांख्य-योग है। जो आत्मा को ज्ञाता तथा भोक्ता तो मानता है किन्तु कर्त्ता नहीं मानता। फिर उससे भी उच्चतर अद्वैतवाद है जो आत्मा को केवल ज्ञाता मानता है, कर्त्ता और भोक्ता नहीं। फिर अन्त में अद्वैतवाद ज्ञाता को भी ज्ञान से अभिन्न करता है और इस कारणा वहाँ आत्मा परमार्थत: ज्ञाता भी न होकर केवल ज्ञान है। अद्वैतवाद के दृष्टिकोण से कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व विकल्प या विषय हैं जिनको ज्ञान से अभिन्न नहीं किया जा सकता। वे ज्ञान या चित्त में भासित होते हैं और उसके लक्षण न होकर केवल उपलक्षण हैं। इस प्रकार जो दर्शन निर्विकल्प चित्त को परमतत्त्व मानता है वही परमार्थ दर्शन है और अन्य दर्शन उस तक पहुँचने के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सोपान हैं। चूँकि स्वतन्त्राद्वैत आत्मा को स्वभावत: कर्त्ता एवं ज्ञाता मानता है अत: माधवाचार्य ने उसका जो मूल्याँकन किया है वह आपातत: सत्य प्रतीत होता है। किन्तु इस विषय में स्वतन्त्राद्वैत की विवेचना हम अभी और आगे करेंगे, अभी हम मधुसूदन सरस्वती के मूल्याँकन को भी इस प्रसंग में प्रस्तुत करना चाहते हैं। उन्होंने स्वतन्त्राद्वैत का जो मूल्याँकन किया है वह न्याय-वैशेषिक-स्तर से उच्चतर है और सांख्य-योग के स्तर पर है। उनके मत से स्वतन्त्राद्वैत सांख्य दर्शन की भाँति परिणामवाद को मानता है तथा आरम्भवाद और विवर्तवाद का खण्डन करता है। इस कारण

स्वतन्त्राद्वैत आरम्भवाद और विवर्तवाद के मध्य में है। मधुसूदन सरस्वती के दृष्टिकोण में परिणामवाद की पराकाष्ठा विवर्तवाद में होती है जो परिणामवाद की परवर्ती भूमिका है। परिणामवाद कार्य और कारण के बीच अव्यक्त-व्यक्त का सम्बन्ध मानता है और विवर्तवाद उसके स्थान पर अनन्यता को मानता है। इस प्रकार कार्य कारण का संस्थान मात्र है। इस दृष्टि से नि:सन्देह अद्वैतवाद उन सभी दर्शनों से अधिक गहरा है जो कार्य और कारण के बीच अनन्यता के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध मानते हैं। कारण का संप्रत्यय जितना अद्वैतवाद के विवर्तवाद में परिष्कृत हुआ है उतना आरम्भवाद तथा परिणामवाद में नहीं, क्योंकि विवर्तवादी आधुनिक विज्ञान-दर्शन की भाँति मानता है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध फलनात्मक (फंक्शनल) मात्र है, अर्थात् वह द्रव्यात्मक न होकर मात्र गुणात्मक है। स्वतन्त्राद्वैत मयूराण्डरस-न्याय के आधार पर समस्त सृष्टि को शिव में अव्यक्त रूप से विद्यमान मानता है और सृष्टि को शिव की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिपादित करता है। इस दृष्टि से यद्यपि उसका सिद्धान्त सांख्य के प्रकृति-परिणामवाद से कुछ भिन्न है तथापि वह वैष्णवों के ब्रह्म-परिणामवाद से मिलता-जुलता शिव-परिणामवाद ही है। इसलिए यदि मधुसूदन सरस्वती ने कार्य-कारणवाद के आधार पर काश्मीर शैवमत और वैष्णव मत को समकक्ष माना और दोनों को ब्रह्म-विवर्तवाद से अवर समझा[१] तो उनकी समझ में आपातत: कोई त्रुटि नहीं दिखलाई देती है। अन्त में समन्वय की दृष्टि से अद्वैतवेदान्त आगमिक-नैगमिक, आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों को जिस प्रकार एक सूत्र, क्रम या सोपान-पद्धति में रखता है उस तरह स्वतन्त्राद्वैत नहीं करता है क्योंकि वह वेदों से अधिक आगमों का तथा बौद्ध जैन दर्शनों का या श्रमण-परम्परा के दर्शनों का तिरस्कार करता है। अत: समन्वय की दृष्टि से भी स्वतन्त्राद्वैत का महत्त्व अद्वैतवाद से कम है।[३] वह समस्त भारतीय दर्शनों का समन्वय नहीं कर सका है, न ही कर सकता है। जिस प्रकार अद्वैतवाद के नेतृत्व में सभी दर्शनों का विकास हुआ है उस प्रकार स्वतन्त्राद्वैतवाद के नेतृत्व में नहीं।

परन्तु इतना होते हुए भी आधुनिक मनीषी पं. गोपीनाथ कविराज ने यह चण्डमारुत प्रवाहित किया है कि स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद से भी अधिक कट्टर अद्वैत दर्शन है और उसकी तुलना में अद्वैत वेदान्त अवर है।[४] उनकी मान्यता है कि अद्वैतवाद का अद्वैत् असत्-कल्प है, प्रच्छन्न रूप से वह द्वैत है और काश्मीर शैवमत की अपेक्षा दुर्बल है। इसी प्रकार डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डे मानते हैं कि स्वतन्त्राद्वैत महाद्वैत है।[५] अर्थात् वह शांकर अद्वैतवाद से भी महान है और शंकर का ब्रह्म स्वतन्त्राद्वैतवाद का सदाशिव तत्त्व है जिसके परे जाकर परमार्थ या शिव शक्ति का सामरस्य है।[६] उनका तात्पर्य है कि यद्यपि अद्वैतवाद ने ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द किया तथापि उसका ब्रह्म केवल शुद्ध सत् है। सत् से ऊपर चित् है जिसे शिव कहा जाता है और शिव से ऊपर शक्ति है जिसे आनन्द कहा जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्राद्वैत सत्, चित्त और आनन्द में क्रमश: उत्तरोत्तर उच्चता का सम्बन्ध मानता है जबकि अद्वैतवाद सत्, चित् और आनन्द को केवल एकार्थक मानता है। फिर इन्हीं लोगों के स्वर से अपना स्वर मिलाते हुए शिवजीवन भट्टाचार्य शंकर के आत्मवाद में कुछ कठिनाईयाँ दिखाते हैं जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन में नहीं है।[७] उनका तात्पर्य है कि आत्मा को प्रकाश-विमर्शमय मानने के कारण प्रत्यभिज्ञा-दर्शन अद्वैतवाद से अधिक निरापद है और अद्वैतवाद आत्मा को केवल प्रकाश या स्वप्रकाश मानने के कारण विषय-वैचित्र्य की व्याख्या नहीं कर सकता। इन सभी विद्वानों ने वास्तव में सोमानन्द (८५० ई.), उत्पल (९०० ई.), अभिनवगुप्त (९६० ई.), क्षेमराज (१०५० ई.), जयरथ (११८० ई.), महेश्वरानन्द (१४०० ई.), भास्कर कण्ठ (१७८०) आदि शैवाचार्यों की युक्तियों को पुनरुज्जीवित किया है और स्वतन्त्राद्वैतवाद को अद्वैतवाद से अधिक श्रेष्ठ दिखलाया है उन्हीं का पिष्टपेषण या परिष्कार आधुनिक

मनीषीगण कर रहे हैं। उनके प्रतिपादन में कोई नया चिन्तन नहीं है वरन् एक प्राचीन परम्परा का जीर्णोद्धार है।

परन्तु स्वतन्त्राद्वैत को अद्वैतवाद के ऊपर प्रतिष्ठित करने का उनका प्रयास अविचारित रमणीयता है, क्योंकि जिन युक्तियों के आधार पर ऐसा किया जा रहा है वे क्षोद क्षम नहीं है। उनके खण्डन की दिशा का पूर्ण निर्देश माधवाचार्य और मधुसूदन सरस्वती ने कर दिया है जिसकी उपेक्षा करके स्वतन्त्राद्वैतवाद का समर्थन आधुनिक युग में करना अविचारित तथा भग्नमूर्ति की पूजा है। पुनश्च, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद-अद्वैतवाद और न्यायदर्शन-अद्वैतदर्शन के मध्य जो खण्डन-मण्डन का विपुल साहित्य उपलब्ध है उसमें उन सभी युक्तियों का खण्डन है जिसके आधार पर आज यह बवंडर उठाया जा रहा है कि स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद से अधिक युक्तियुक्त है। किन्तु हम यहाँ इस समस्त खण्डन-साहित्य का विवेचन नहीं करेंगे और अपने को केवल उन प्रमुख युक्तियों तक सीमित रखेंगे जो शैवाचार्यों ने दी हैं और जिनके अनुदानों का अनुकरण आधुनिक मनीषीगण कर रहे हैं।

अद्वैतवाद की प्रच्छन्न स्वीकृति

काश्मीर शैवाचार्यों के ग्रन्थों का अनुशीलन करने से पता चलता है कि यद्यपि उन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन करने में भगीरथ प्रयत्न किया तथापि कुटीप्रभात न्याय से अन्ततोगत्वा वे अद्वैतवाद की ही शरण में पहुँच गये। निर्विकल्पक चित्, मायावाद, अविद्या, उपाधि आदि अद्वैत वेदान्ती सिद्धान्तों को माने बिना वे अपने स्वतन्त्राद्वैत का निर्वाह नहीं कर सके। अत: उनका शैवमत अद्वैतवाद का ही एक विशेष और शायद महत्त्वपूर्ण प्रस्थान मात्र रह गया।

उपर्युक्त दृष्टिकोण की सच्चाई का पता लगाने के लिए अब हम प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तत्त्ववाद का विवेचन करेंगे। यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक कुल ३६ तत्त्व माने गये हैं तथापि ये सभी तत्त्व-पदार्थ प्रमेय या सामान्य कहे गये हैं।[८] इसका तात्पर्य है कि ये ३६ तत्त्व वर्ग-रूप हैं और इनसे परे परमशिव है जो तत्त्वातीत या वर्गातीत हैं। यह परमशिव अनुत्तर, अनाश्रित तथा अविकल्प है। प्रत्यभिज्ञा के बल से वह अपने सामान्य स्वभावगत भेदों को प्राप्त करता है जिन्हें ३६ तत्त्व की संज्ञा दी गई है।[९] शिव से लेकर पृथ्वी तक यही परमशिव स्त्यानता के तारतम्य में विद्यमान है। स्त्यानता का तात्पर्य वेदक-वेद्य भाव या ज्ञातृज्ञेय भाव की स्थूलता है। प्रत्येक तत्त्व यथार्थत: वेदक और वेद्य दोनों है। शिव में प्रमातृत्त्व की न्यूनतम मात्रा तथा वेद्यता की सर्वाधिक न्यूनमात्रा है और पृथ्वी में प्रमातृत्व की सर्वाधिक मात्रा तथा वेद्यता की सर्वाधिक मात्रा है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन यथार्थता का तारतम्य मानता है, जैसे हेगल तथा ब्रैडले के दर्शनों में है। सभी तत्त्वों में उनके तारतम्य में एक ही परमशिव है जो मूलत: तत्त्वातीत है। वह पदार्थ नहीं किन्तु पदार्थात्मा है। उसमें वेद्यता का पूर्ण अभाव और प्रमातृत्व का पूर्ण भाव है। यही परमशिव अद्वैतवाद का ब्रह्म है। शैव आचार्यों ने ब्रह्म की तुलना इस परमशिव से न करके सदाशिव से की है जो शिव तथा शक्ति के सामरस्य से आविर्भूत तत्त्व है। किन्तु यह उनकी अर्थान्तर कल्पना है। वास्तव में जिसको वे परमशिव कहते हैं वह उनके ३६ तत्त्वों से परे है। उसे मात्र विमर्श-स्पन्द या स्फूर्ति रूप से मानते हैं। इसलिए वे उसको ३७ वाँ तत्त्व भी कहते हैं। किन्तु विमर्श, स्पन्द या स्फूर्ति भी अविकल्प है। इसलिए कुछ आगमों में उसे ३८ वाँ तत्त्व भी कहा गया है।[१०] कुछ भी हो, ३६ तत्त्वों के अतिरिक्त ३७ वें तत्त्व और उससे भी आगे जाकर ३८ वाँ तत्त्व की खोज बताती है कि वास्तव में काश्मीर शैव मत के आचार्यगण उसी परमतत्त्व की खोज कर रहे हैं जिसे अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है। विश्वमय होते हुए भी वह स्वभावत: विश्वोत्तीर्ण है और उसकी खोज जिस प्रकार की जाती है उसमें विश्वोत्तीर्णता का पर्याप्त उपयोग है जो मूलत: अद्वैतवाद की 'नेति नेति पद्धति' है। इसी आधार पर हम उसे परात्पर कहते हैं। यदि इस परात्परता का सम्यक् बोध शैव आचार्यों

को होता तो वे अद्वैतवाद के खण्डन में रस न लेते। वस्तुत: वे अपने तत्त्व-ग्राम से हट करके अद्वैत विद्या मन्दिर में प्रवेश कर रहे हैं।

पुनश्च, जब वे स्पन्द या स्वतन्त्रता को परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं तो वे परातत्परता के अपने ही तर्क से हट जाते हैं और जो स्पन्द या स्वतन्त्रता एक वर्ग या पदार्थ है उसे वे पदार्थात्म समझ बैठते हैं। वे विकल्प को अविकल्प मान लेते हैं। महेश्वरानन्द कहते हैं - वेदिता-वेद्य, शक्तिमान-शक्ति, पति-पाश, भवन-भाव, दृग-दृश्य, पुरुष-प्रकृति, आत्मा-शरीर, अन्त:-बहि, प्रत्यक्-पराक्, सत्य-असत्य इत्यादि विकल्प-व्याकोप हैं जो प्रौढ़ पुरुषों की कल्पना में आरूढ़ रहते हैं। परमतत्त्व अविकल्प है और इस समस्त अर्थमण्डल को देखता है।[११] इस तर्क-पद्धति का निर्वाह यदि महेश्वरानन्द करते तो उन्हें सामरस्य-दृष्टि को छोड़ना पड़ता और अद्वैतवेदान्त को स्वीकार करना पड़ता। आश्चर्य है कि इतना मानते हुए भी वे कहते हैं कि अद्वैतवाद द्वैतवाद में बदल जाता है क्योंकि वह सत्य-असत्य की व्यवस्था और हेयोपादेय-कल्पना को मानता है।[१२] उनके मत से अद्वैतवाद में ब्रह्म सत् और उपादेय है तथा माया असत् तथा हेय। अत: वे अपने ईश्वराद्वयवाद को अद्वैतवाद से अधिक श्रेष्ठ बतलाते हैं। परन्तु क्या उनकी आलोचना ठीक है ? क्योंकि जब ब्रह्म-ज्ञान होता है तो माया-ज्ञान नहीं रहता और जब माया-ज्ञान रहता है तब ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता है। अत: कहाँ द्वैतवाद है ? पुनश्च, माया न तो सत् है और न असत्, न दोनों। वह अभाव भी नहीं है, भाव भी नहीं है, दोनों भी नहीं है। अत: ब्रह्म के समकक्ष माया को एक पदार्थ मानना महेश्वरानन्द की निजी कपोलकल्पना है। इस कल्पना से उनका मानसिक सन्तुलन इतना भंग हो जाता है कि वे शांकर वेदान्त को द्वैतवेदान्त ही नहीं अपितु पाशव वेदान्त तथा माया-वेदान्त तक कह डालते हैं, जिसे उनका अनर्गल प्रलाप ही कहा जायगा। यदि वे अपने उस तर्क को ध्यान में रखते जिसके अनुसार परम तत्त्व शक्तिमान-शक्ति के विकल्प-व्याकोप से परे है तो वे ऐसी भूलें न करते। किन्तु और अधिक आश्चर्य तब होता है जब पं. गोपीनाथ कविराज महेश्वरानन्द के चण्डमारुत के चक्कर में पड़कर कहते हैं कि "ब्रह्म सत् तथा माया मिथ्या है, ऐसा कहने पर प्रकारान्तर से द्वैतभाव आ ही जाता है। जिस अवस्था में माया मिथ्या है उस अवस्था में ब्रह्म भी मिथ्या है क्योंकि माया को मिथ्या अनुभव करते ही माया की सत्ता को स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है और माया को स्वीकार करने से ही उस अवस्था में जो बोध होता है वह माया-कल्पित वस्तु है।"[१४] यह है कविराज जी की स्वयं की वाचाटदुर्विद्या जिसका आरोप वे शांकर अद्वैतवाद पर करते हैं। तनिक ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब हमें रस्सी का ज्ञान हो जाता है तब सर्प का ज्ञान शेष नहीं रहता है। तब हमें यह बोध होता है कि जो सर्प हमने भ्रम-अवस्था में देखा था वह वास्तव में त्रिकाल-असत् है। हम कैसे कह सकते हैं कि सर्प के मिथ्यात्व को स्वीकार करते ही हमें सर्प की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है या जिस अवस्था में सर्प मिथ्या है उसी अवस्था में रस्सी भी मिथ्या है ?

परन्तु जिस मायावाद के खण्डन में शैवाचार्य लगे हैं क्या वे उससे दूर जा सके हैं ? यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाय तो निश्चित रूप से कहना होगा कि जिस शक्ति को शैवाचार्य स्वातन्त्र्य, स्पन्द या विमर्श नाम देते हैं वह शब्दत: तथा अर्थत: वही है जो अद्वैतवाद की माया है। वह दुर्घटकारिणी, भेद-प्रभेद-वैचित्र्य के उत्पादन में प्रवीण शिव की आवरण-शक्ति तथा माया कही गयी है।

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी माया शक्ति: स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्।[१५]

इस पर यदि सन्देह हो कि यह माया अद्वैत की माया से भिन्न है क्योंकि अद्वैत की माया अविद्या तथा औपाधिक है और शैवों की माया वास्तविक तथा स्वाभाविक है तो जरा निम्न विचारों की बानगी लीजिए जिनमें शैवाचार्य स्वयं शक्ति को अविद्या तथा उपाधि से अनिवार्यत: जोड़ते हैं -

(क) अभिनव गुप्त कहते हैं कि सृष्टि का हेतु अज्ञान है तथा मोक्ष का कारण ज्ञान है -

अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ।[16]

इसी प्रकार उनके अनुसार शक्ति प्रमाता शिव द्वारा कल्पित है[17] और फल-भेद के अनुसार आरोपित है तथा नाना शक्तियों का भेद पारमार्थिक नहीं है ।[18] उनका फलनात्मक शक्तिवाद अद्वैतवाद के विवर्तवाद के निकट है ।

(ख) जयरथ कहते हैं कि स्वातन्त्र्य शक्ति ही विशेष एषणीय (वांछनीय) उपाधियों के कारण नाना रूप धारण करती है ।[19] वे पुन: कहते हैं कि जो भाव्यमान है वह कल्पित है और इस प्रकार शिव के द्वारा होने वाली जो आद्य वेद्यता या प्रमेयता है वह सिद्ध वस्तु की तरह अवभासित होती है - भाव्यमानत्वादिना कल्पितेन भेदेन सृष्ट: प्रमेयता मापादित इव अवभासते ।[20] स्पष्ट है कि इस प्रकार जो आद्यवेद्यता है वह वास्तविक नहीं है । पुनश्च, वे कहते हैं कि यह नानात्व औपचारिक है । इसे फल-भेद भी नहीं कहना चाहिए और यदि फल-भेद भी कहा जाय तो फिर इसे अयथायथ मानना चाहिए -

सर्वमेतत्प्रवृत्यर्थे श्रोतृणां तु विभेदत: ।
अर्थभेदात्तु भेदोऽयमुपचारात्प्रकल्यते ॥
फलभेदो न कल्प्योऽत्र कल्प्यश्चेदयथायथम् ।[21]

फिर शक्ति और शक्तिमान का सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में धर्म-धर्मिभाव नहीं है अपितु द्वार-द्वारिभाव तथा उपाय-उपेयभाव है । मूलत: यह सम्बन्ध औपाधिक है, इसकी स्वीकृति जयरथ ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की है । "नैवमिह शक्तिततप्तोर्धर्म-धर्मिभाव: कश्चिद् अभिधीयते । पर एव हि स्वतन्त्रोबोधस्तत्तदुपाधिवशात् तत्तच्छक्तिरूपतया व्यपदिश्यते इति न वस्तुत: कश्चित् शक्तितद्वतोर्भेद: ।"[22] वास्तव में अद्वैतवाद की तरह प्रत्यभिज्ञा दर्शन संवित् को निरवयव एवं अखण्ड प्रकाशरूप मानता है ।[23] अत: यदि शिव निरवयव है तो वह अवश्य ही स्वगत-भेद से रहित है । इसलिए उसके अन्दर जो अनन्त शक्तियों की कल्पना की जाती है और जिसके मूल को सरंभ या स्वातन्त्र्य का नाम दिया जाता है उसका लक्षण वस्तुत: अतिदुर्घटकारी है । वह अनाख्या है, एक तथा अनेक, क्रम तथा अक्रम और स्व तथा पर आदि को जन्म देने वाली होने के कारण इन कोटियों से परे है । वह कोई पदार्थान्तर नहीं है वरन् शिव का स्वयं स्वरूप है जो फल-भेद के कारण आरोपित है - यतो भावस्य यस्य कस्यचन सत: पदार्थस्य स्वमेव रूपम् फलभेदात् भेदारोपेण शक्ति: इति प्रमातृभि: परिकल्पते न त्वसौ वस्तुन: पदार्थान्तरं किंचित् ।[24]

इस प्रकार भेद आरोपित, औपाधिक या अविद्यामय है[25] और अनिवार्यत: शिव का स्वरूप नहीं है । इससे स्पष्ट है कि स्वतन्त्राद्वैत जिसे शक्ति कहता है वह अद्वैतवाद की माया ही है । परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि काश्मीर शैव मत में यह माया शिव का लक्षण है और अद्वैतवाद में वह शिव का उपलक्षण है । यह आपत्ति अपनी जगह पर ठीक प्रतीत होती है । किन्तु इस दृष्टि से विचार करने पर अद्वैतवाद स्वतन्त्राद्वैत से अधिक सुसंगत सिद्ध होता है क्योंकि स्वतन्त्राद्वैत माया को शिव का स्वाभाविक लक्षण मानते हुए भी अज्ञान तथा उपाधि के संप्रत्ययों के बिना शिव और शक्ति के सम्बन्ध की सुसंगत व्याख्या नहीं कर सकता है । अद्वैतवाद ऐसी सुसंगत व्याख्या केवल इस मान्यता के बल पर कर देता है कि माया शिव का लक्षण नहीं अपितु उपलक्षण है, या पारिभाषित शब्दावली में कहें तो शिव का शक्तिमान रूप में होना शिव का तटस्थ लक्षण है और शिव का अपने स्वरूप में अवस्थित होना उनका स्वरूप लक्षण है । यदि शिव की स्वरूप-स्थिति को उसका स्वरूप-प्रथम माना जाय, जैसा कि स्वतन्त्राद्वैत मानता है तो शिव और शक्ति का संयोग नित्य हो जायगा और तब सृष्टि-प्रक्रिया नित्य हो जायगी । ऐसी स्थिति में स्वतन्त्राद्वैतवाद में दो दोष उपस्थित हो जाते हैं - (१) अनिर्मोक्ष प्रसंग और

(२) शक्ति का उपेय हो जाना। यह उल्लेखनीय है कि इन्हीं दो दोषों के कारण शाक्त मत काश्मीर शैव मत का तिरस्कार करता है और शक्ति को उपेय मानते हुए भी सृष्टि-प्रक्रिया की नित्यता को अस्वीकार करता है। कुछ भी हो, प्रस्तुत प्रसंग में स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद की सहायता के बिना अपने को सुसंगत तथा न्यायसंगत नहीं कह सकता ; अत: अद्वैतवाद स्वतन्त्राद्वैतवाद का उपजीव्य है। इस प्रसंग में ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि काश्मीर में शैवमत का जो पुनरुत्थान हुआ वह शंकराचार्य के बाद हुआ और उनके अद्वैतवाद के आलोक में हुआ। अभिनव गुप्त स्वयं कहते हैं कि यदि वेदान्ती माया को ब्रह्म की शक्ति मान लें तो अद्वैतवाद उनके दर्शन से अभिन्न हो जायगा।[२६] वस्तुत: अद्वैतवादियों ने माया को ब्रह्म या शिव की शक्ति माना है। फिर अभिनव गुप्त ऐसी शर्त क्यों रखते हैं ? इसलिए कि अद्वैतवाद में माया ब्रह्म की शक्ति होते हुए भी अविद्या है और अभिनवगुप्त उसे अविद्या मानने को तैयार नहीं हैं यद्यपि वे उसे काल्पनिक, औपाधिक, आरोपित तथा अज्ञान मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में अभिनवगुप्त की समझ को क्या कहा जाय ? वे उन सभी कार्यों को मानने को तैयार हैं जो अविद्या करती है, फिर भी उन्हें अविद्या शब्द से चिढ़ है। 'फलेन परिचीयते', फल से वस्तु का परिचय होता है, इस न्याय के बल पर कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त केवल शब्द-प्रयोग पर विवाद करते हैं और अर्थ-ग्रहण में वे पूर्णत: अद्वैतवेदान्त के साथ चल रहे हैं। यदि उनके अनुयायी जयरथ ठीक मानते हैं कि कारणों का कार्यवान होना आवश्यक नहीं है[२७] तो फिर उन्हें मानना पड़ेगा कि शिव का शक्तिमान होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि शक्ति को शिव रूप मानने पर भी उसे शिव का कार्य या व्यापार ही मानना पड़ता है। इस प्रकार शक्ति शिव का कार्य है, किन्तु वह उसका आवश्यक कार्य नहीं है। यही अद्वैतवाद की दृष्टि है। महेश्वरानन्द इसको जानते हुए नहीं मानते हैं। वे कहते हैं -

सर्वो ममायं विभव: स्ववैश्वात्म्यानुमानसन्धानसन्धुक्षितैश्वर्याणां प्रमातृणां स्वभाव एव न त्वाहार्य: कश्चिदतिशय: ।[२८]

परन्तु वे यह नहीं सिद्ध कर सके कि शक्ति को शिव का आहार्य या औपाधिक गुण क्यों न माना जाय ? वस्तुत: शक्ति, जो दृष्टि-सृष्टि रूपा है, शिव की ही शक्ति है, परन्तु आहार्य है, स्वाभाविक नहीं, क्योंकि यह सुषुप्ति की अवस्था में नहीं रहती है।

परन्तु यहाँ स्वतन्त्राद्वैतवादी कहेगा कि शक्ति के बिना शिव जड़ है। इस जाड्यापत्ति का आरोप वह अद्वैतवाद के ब्रह्म या शिव पर करता है। यही अद्वैतवाद के विरोध में उसकी मुख्य आपत्ति है। अत: इसका विवेचन हम विशेष रूप से करना चाहेंगे।

जाड्यापत्ति का निराकरण

जाड्यापत्ति की पृष्ठभूमि में स्वतन्त्राद्वैतवादी दो दोष करते हैं, एक वे अद्वैतवाद का विरूपकरण करते हैं और दूसरे, आत्मा की गलत अवधारणा करते हैं। वे कहते हैं कि अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म सन्मात्र है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है। फिर यदि सत्, चित् तथा आनन्द में कोई एक ब्रह्म का स्वरूप है तो वह चित् है, उसी का नाम आत्मा है। इसीलिए ब्रह्मवाद को आत्माद्वैतवाद भी कहा जाता है। 'अयम् आत्मा ब्रह्म' यह उपनिषद्-वाक्य अद्वैतवाद का मुख्य प्रतिपाद्य है। सत्तैव बोधो बोध एव सत्ता, नानयो: परस्पर व्यावृत्तिरस्ति,[२९] यह शंकराचार्य का सिद्धान्त है। वे कहते हैं कि बोध और सत्ता को एक-दूसरे से व्यावृत्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु स्वतन्त्राद्वैतवादी ऐसी व्यावृत्ति करते हैं, अत: वे अद्वैतवाद को यथावत प्रस्तुत न करके उसे गलत ढंग से व्याख्यायित करते हैं और तब उस पर आरोप या दोष लगाते हैं। पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैतवादी पहले चित् को सत् से पृथक् करके कल्पित करते हैं और फिर उसे ज्ञातृत्व से अभिन्न करते हैं। यही नहीं, वे ज्ञातृत्व से भी परे कर्तृत्व तक जाते हैं और ज्ञातृत्व को कर्तृत्व का ही एक रूप मात्र मानते हैं। इस प्रकार वास्तव में वे आत्मा, संवित्,

चिति या चैतन्य को मुख्यत: कर्ता मानते हैं। जहाँ तक वे चित् को ज्ञातृत्व से अभिन्न करते हैं वहाँ तक वे चित् पर नृतत्वारोप का दोष (फैलेसी आव् एन्थ्रापोमारफिज्म) करते हैं। चित् को ज्ञाता अभिन्न करना व्यक्तिनिष्ठ धारणा है। दूसरे शब्दों में, यह इस मान्यता पर निर्भर करता है कि कोई विचार या ज्ञान बिना किसी विचारक या ज्ञाता के नहीं हो सकता। पर यह मान्यता तर्कसम्मत नहीं है। कारण, हम ऐसे विचार या ज्ञान को जानते हैं जिसका कोई विचारक या ज्ञाता सम्प्रति नहीं है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक विचार या सामाजिक चिन्तन प्राचीन वैज्ञानिक विचार या सामाजिक चिन्तन से अधिक सुसंगत और प्रगतिशील है तब हम यह नहीं मानते हैं कि प्राचीन या अर्वाचीन वैज्ञानिक विचार या सामाजिक चिन्तन किसी ज्ञाता के विषय हैं या किसी विचारक के मन में हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल इस बात से है कि वैज्ञानिक विचार या सामाजिक ज्ञान व्यक्ति-निरपेक्ष या ज्ञातानिरपेक्ष है। संभव है उसको पूरी तरह से जाननेवाला कोई व्यक्ति न हो या जितने व्यक्ति उसको जानते हों वे थोड़ा अधिक ही जानते हों और उनमें मतभेद हो। पर फिर भी वैज्ञानिक विचार या सामाजिक ज्ञान का तात्पर्य हम समझते हैं और मानते हैं कि वह विचारकों से निरपेक्ष और स्वयं सत् है। यह ज्ञान अपने उद्भव में भले ही किसी विचारक पर निर्भर रहा हो पर अपने अस्तित्त्व एवं प्रामाण्य में वह उस विचारक से निरपेक्ष है। भले ही वैज्ञानिक विचार में अनेकों वैज्ञानिकों का योगदान हो, किन्तु वैज्ञानिक विचार उन वैज्ञानिकों में से किसी एक या अधिकांश या सभी के मानस के अन्दर रहने वाली वस्तु नहीं है। वह विषयगत और व्यक्ति-निरपेक्ष है। निश्चय ही वह सार्वजनिक ज्ञान है, वह गूंगे के गुड़ खाने का मात्र आस्वादन नहीं है। सह जिज्ञास्य, अनुभवगम्य एवं उपदेश्य तथा व्यपदेश्य है, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन जब ज्ञान को ज्ञाता से अनिवार्यत: जोड़ता है तो वह ज्ञान की इस वस्तुनिष्ठता को समाप्त कर देता है और उसे पूर्णत: व्यक्तिनिष्ठ बना देता है। शंकराचार्य ने इसीलिए कहा है कि ज्ञान वस्तु-तन्त्र है न कि पुरुष-व्यापार-तन्त्र। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन ज्ञान के उद्भव और ज्ञान के प्रामाण्य इन दो समस्याओं को घपला देता है। उद्भव में ज्ञान व्यक्ति-सापेक्ष होते हुए भी प्रामाण्य में वह व्यक्ति निरपेक्ष है। इन दोनों समस्याओं का जितना तर्कसंगत विवेक अद्वैतवाद में है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

फिर जब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन कर्ता तथा ज्ञाता को अनिवार्यत: संयुक्त या नित्य युक्त मानता है तब वह ज्ञान को क्रिया से अभिन्न कर देता है। वह जानना और करना को एकार्थक समझता है। किन्तु क्या जानना और करना एकार्थक हैं? "करने" से हम बाह्य जगत् में कुछ परिवर्तन करते हैं और जानने से हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं लाते हैं। उदाहरण के लिए जब हम अग्नि जलाकर तृण भस्म करते हैं तो फिर तृण नहीं रहता है और उनके स्थान पर राख हो जाती है। किन्तु जब हम तृण को जानते हैं तो इस तथाकथित क्रिया से तृण में कोई परिवर्तन नहीं होता है। वास्तव में इस प्रसंग में शंकराचार्य ने जिस प्रकार ज्ञान को क्रिया से भिन्न किया है वह आज भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अभिन्न ज्ञान-क्रियावाद का खण्डन है। ज्ञान मानसिक होते हुए भी क्रिया (भौतिक या मानसिक) नहीं है क्योंकि ज्ञान का क्रिया से वैलक्षण्य है। ज्ञान ज्ञापक एवं निवर्तक है, वह वस्तु तन्त्र है। उसमें ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद नहीं है। किन्तु क्रिया में यह लक्षण नहीं है। क्रिया में सदैव कर्ता, कर्म तथा प्रक्रिया के भेद रहते हैं, वह पुरुषाधीन है और ज्ञापक तथा निवर्तक न होकर आवरक तथा प्रवर्त्तक है। आश्चर्य है कि वेद्यीकरण को मल या माया मानते हुए भी[३०] शैव आचार्य वेद्यीकरण-रूपी क्रिया का अनिवार्य सम्बन्ध ज्ञान से जोड़ते हैं। अत: उनका अभिन्न-ज्ञान-क्रियावाद पूर्णतया असंगत तथा वदतोव्याघात पर आधारित है। जो संवित् क्रिया से अनिवार्यत: युक्त है वह कथमपि पूर्ण एवं निरपेक्ष नहींहो सकती है। वह विकारी एवं परिणमनशील या वर्धनशील होगी और विकास तथा वर्धन उसकी पूर्णता एवं निरपेक्षता में बाधक है। इसीलिए शंकर कहते हैं कि यदि आत्मा क्रिया से युक्त हो तो वह विकारवान होगी और फलत: वह अनित्य हो जायगी।[३१]

फिर जब शैवाचार्य ज्ञान को क्रिया का स्फुरण विशेष मानते हैं [३१] तब उनकी पोल खुल जाती है। वे ज्ञान या संवित् या चित् को क्रिया पर निर्भर मानते हैं और उनके मत से मूल तत्त्व या परमतत्त्व क्रिया ही है, ज्ञान तो उसका स्फुरण विशेष है। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने ज्ञान की परमार्थता के लिए जो युक्तियाँ दी हैं वे स्वयं कट जाती हैं और ज्ञानरूपी शिखण्डी को आगे करके वे क्रिया रूपी महारथी के बल का प्रदर्शन करना चाहते हैं। ऐसा क्यों ? प्रत्यक्षत: इसका कारण यह है कि वे क्रिया को उस प्रकार परम-तत्त्व या सभी पदार्थों की आत्मा नहीं सिद्ध कर सकते जिस प्रकार वे ज्ञान को वैसा सिद्ध करते हैं और फिर ज्ञान को पारमार्थिक सिद्ध करने पर वे ज्ञान का सम्बन्ध वेद्यता से अनिवार्यत: जोड़ते हुए क्रिया को ज्ञान के अन्दर प्रतिष्ठित कर देते हैं। किन्तु यह सब करना अनेक विसंगतियों को उत्पन्न करता है, जैसे ज्ञान को ; व्यक्तिनिष्ठ मानना, वेद्य से उसको सम्बन्धित मानना और उसे मानसिक क्रिया मानना और साथ ही उसे मन से परे तथा विश्वात्मा मानना और भेद को प्रकल्पित कहना आदि।

वास्तव में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन उस प्रकाश को जड़ मानता है जो विमर्श से युक्त नहीं है। चैतन्य को जड़ से भिन्न करने के लिए वह चैतन्य रूप प्रकाश को विमर्श से युक्त मानता है। किन्तु प्रकाश-विमर्शमय चैतन्य वास्तव में आत्मा का अपने ही व्यवसाय या परामर्श का ज्ञान है। यह एक प्रकार से अनुव्यवसाय है जिसे हम ज्ञान का ज्ञान कह सकते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि 'मैं मेज देख रहा हूँ' तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान है और जब हम कहते हैं कि 'मैं देख रहा हूँ कि मैं मेज देख रहा हूँ' तो वह विमर्श है अर्थात् पूर्व प्रत्यक्ष का परामर्श, आमर्श, विमर्श या अनुव्यवसाय है। इस विमर्श को प्रत्यभिज्ञा दर्शन चैतन्य का स्वभाव मानता है। परन्तु इस मान्यता में अनवस्था दोष उपस्थित है। देखिए, यदि प्रकाश का स्फुट ज्ञान विमर्श में होता है तो फिर विमर्श का ज्ञान कैसे स्फुट होता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें तृतीय विमर्श को मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग उपस्थित होता है जिसके कारण हमें प्रकाश का पूर्ण ज्ञान या विमर्श कभी नहीं हो सकता है। अतएव आत्मा को विमर्श मानना अज्ञेयवाद को स्वीकार करना है।

पुनश्च, विमर्शवाद में स्वयं जाड्यापत्ति उपस्थित होती है क्योंकि वह मानता है कि विमर्श के बिना चैतन्य का स्वप्रकाश नहीं हो सकता और स्वप्रकाश के बिना उसका विमर्श नहीं हो सकता।[३३] स्पष्टत: स्वप्रकाश चैतन्य को विमर्शाश्रित दिखलाकर स्वतन्त्राद्वैत न केवल उनके अनाश्रित स्वरूप को मानकर स्वयं झुठला देता है वरन् स्वप्रकाश चैतन्य को एक विषय या प्रमेय भी बना देता है। परन्तु जो आत्मा प्रमाता है वह अपने को कैसे प्रमेय बना सकती है ? और जब तक वह अपने को प्रमाता-प्रमेय में द्विधा विभक्त नहीं करती तब तक वह अपने विमर्श-व्यापार का संपादन कैसे कर सकती है ? अत: विमर्श करने के लिए उसे अपने को प्रमेय या वेद्य या ज्ञेय बनाना पड़ेगा जो आद्य जड़ता का पर्याय है। यदि उसे हम जड़ न भी मानें तो प्रश्न उठता है कि ज्ञाता अपने को कैसे ज्ञेय बना सकता। विज्ञातारमरे, केन विजानीयात्! विज्ञाता को किस माध्यम से जाना जा सकता है ? यह प्रश्न उपनिषद् के ऋषि याज्ञवल्क्य ने उठाया था। इसका सीधा तात्पर्य है कि चैतन्य को ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। इसी बात को शंकर अपने शब्दों में कहते हैं कि कोई अपने ऊपर क्रिया नहीं कर सकता है-स्वात्मनि क्रिया विरोधात्।[३४] अत: यह कहना कि चैतन्य अपने को प्रभाता और प्रमेय में अभिव्यक्त या प्रकट करता है, तर्कत: ठीक नहीं है। चैतन्य के लिए ऐसा करना स्वभावत: असम्भव है। इसीलिए शंकर मानते हैं कि चैतन्य संवेदन है और वह स्वप्रकाश है और विमर्श उसका स्वाभाविक लक्षण नहीं है। यह विमर्श जिस आत्मा का ज्ञान कराता है वह मायात्मा या मिथ्यात्मा है, पारमार्थिक आत्मा नहीं है, क्योंकि विमर्श विकल्पनात्मक है और आत्मा संवेदन रूप है। संवेदन को दूसरे संवेदन की अपेक्षा नहीं होती है जैसे प्रकाश को दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती है।[३५] किन्तु यह संवेदन जो स्वप्रकाश है, जड़ नहीं है, क्योंकि यह जड़ का

प्रमाता है। जिस प्रत्यक्ष में हम मेज देखते हैं उसी प्रत्यक्ष में मेज देखने के साथ ही साथ हम चैतन्य को भी जानते हैं। मेज को जानना और चैतन्य को जानना ये दो पृथग्भूत व्यापार नहीं हैं और न दोनों में कोई पौर्वापर्य (कालक्रम) या यौगपद्य का सम्बन्ध है। दोनों में केवल तादात्म्य सम्बन्ध है जिसका अर्थ है कि चैतन्य के बिना जड़ का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए चैतन्य वस्तुत: जड़-वस्तु की आत्मा अर्थात् उसके अस्तित्त्व का प्रतिपादक या ज्ञापक तत्त्व है। इस आत्मा को अगर कोई किसी शरीर के अन्दर समझता है अथवा उसको मन या ज्ञाता मानता है तो उसकी समझ को अद्वैतवाद का मत नहीं कहा जा सकता है। मन, शरीर, बाह्य जगत् आदि सभी विषय हैं जो आगन्तुक हैं और चैतन्य उन सबका ज्ञापक होने के कारण उन सब की आत्मा है। इस दृष्टि से अद्वैतवाद का आत्माद्वैत अत्यन्त सुसंगत है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन उससे हटकर चैतन्य के ज्ञान की समस्या को सुलझाने के बजाय बहुत अधिक उलझा देता है।

परन्तु यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि क्या चैतन्य को विषय की अपेक्षा नहीं रहती है ? या क्या अद्वैतवाद में द्वैतवाद छिपा नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर न जानने के कारण ही आधुनिक मनीषियों तथा प्राचीन शैव आचार्यों ने अद्वैतवाद पर द्वैतवाद का आरोप लगाया है। किन्तु जब अद्वैतवाद कहता है कि अनात्मा तु सर्वत्र आत्मपूर्वकम्[३५] अर्थात् अनात्मा सर्वत्र आत्मपूर्वक है तो द्वैतापत्ति की गुंजाइश कहाँ है ? जो भी विषय है वह आत्मपूर्वक है। विषय को आत्मा से भिन्न या पृथक् नहीं दिखाया जा सकता है। भेद वास्तव में नहीं है और जिस रूप में वह प्रतीत होता है वह मात्र कल्पित है। अत: यदि आत्माद्वैत में द्वैतापत्ति है तो इसका तात्पर्य है कि आत्मा के अतिरिक्त किसी पदार्थ या वस्तु को सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु यह तात्पर्य गलत है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त किसी पदार्थ या वस्तु को सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो भी है वह आत्मपूर्वक है, वह आत्मा के लिए और आत्मा में ही है, अत: अद्वैतवाद में द्वैतापत्ति नहीं है। फिर यदि दुर्जनतोष-न्याय से मान भी लिया जाय कि माया नामक एक पदार्थ है और वह आत्मा के अतिरिक्त है तो कहना पड़ेगा कि यह मान्यता गलत है। कारण, माया कोई पदार्थ नहीं और जिस रूप में उसे आत्मा के अतिरिक्त कल्पित किये जाने का प्रयास किया जाता है वह असम्भव है। हम भाषा का जो भी सम्भव अर्थ करते हैं वह सब आत्मपूर्वक ही होता है। आत्मातिरिक्तत्व का विचार ही तर्कत: और अर्थत: असम्भव है। अत: किसी भी सार्थक अर्थ में आत्माद्वैतवाद में द्वैतापत्ति नहीं हो सकती है। पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैत अद्वैतवाद के मायावाद का खण्डन इस गरीयसी मान्यता से करता है कि मानो वह जड़ जगत् की व्याख्या अद्वैतवाद से अधिक युक्तियुक्त ढंग से करता है।

किन्तु क्या यह मान्यता सत्य है ? क्या स्वतन्त्राद्वैत में जड़-तत्त्व की स्वीकृति है ? यदि ध्यान से उनके ग्रन्थों को देखा जाय तो पता चलेगा कि वास्तव में उसमें जड़ तत्त्व की कोई मान्यता ही नहीं है। वह विशुद्ध अजड़वाद है, ठीक वैसे ही जैसे बर्कले (१६८५-१७४२ ई.) का दर्शन है। अत: यदि उसने अद्वैतवाद के मायावाद का तिरस्कार किया तो उसके लिए जगत् की व्याख्या करना और भी कठिन हो गया है। इस कथन का समर्थन करने के लिए अब हम एक दूसरे चण्डमारुत का विचार करेंगे जिसे आजकल प्रत्यभिज्ञा दर्शन या त्रिक दर्शन का वस्तुनिष्ठ प्रत्यवाद (रियलिस्टिक आइडियलिज्म) कहा जा रहा है और जिसका समर्थन शंकर के निरपेक्ष प्रत्ययवाद के विरोध में दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है। मूलत: यह वाद आभासवाद है। अत: अब हम आभासवाद का निराकरण करेंगे।

आभासवाद का निराकरण

जो लोग आभासवाद का अर्थ वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद कर रहे हैं मेरी समझ से उन्हें वस्तुवाद और प्रत्ययवाद दोनों का स्पष्ट-ज्ञान नहीं है। फिर वे वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद के समन्वय के रूप में जिस

वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद को अग्रसर कर रहे हैं वह सम्भव ही नहीं है। कारण, यह सम्भव नहीं है कि एक ही साथ कहें कि ज्ञेय ज्ञानाधीन है और ज्ञान ज्ञेयाधीन है। स्पष्ट है कि वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद में विरोध है और उस विरोध को न तो प्रत्ययवाद से दूर किया जा सकता है और न वस्तुवाद से और न दोनों के सह-समुच्चय या समन्वय से। हाँ, यह हो सकता है कि हम किसी तीसरे वाद के द्वारा इनके विरोध को दूर कर दें। किन्तु क्या आभासवाद यह तीसरा वाद हो सकता है ?

इस दृष्टि से आभासवाद की परीक्षा करने से पता चलता है कि वह तीसरा वाद होने से तो दूर रहा, उल्टे वह स्वयं एक बहुत घटिया किस्म का प्रत्ययवाद है जिसे व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवाद या दृष्टिसृष्टिवाद या एकजीववाद कहा जाता है। वह क्यों एक प्रकार का दृष्टिसृष्टिवाद है इसके लिए निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :-

(१) बिल्कुल बर्कले की ही भाँति स्वतन्त्राद्वैतवादी मानता है कि जड़ता केवल चैत्यमानता है। इसका तात्पर्य है कि वह चैत्यमानता (पर्सिपी-दृश्यता) के अतिरिक्त किसी जड़-वस्तु (एस्से) को स्वीकार नहीं करता है। जयरथ तो यहाँ तक कहते हैं कि जो इस व्यक्तिनिष्ठप्रत्यवाद को, अर्थात् जड़ता का तत्त्व चैत्यमानता ही है (एस्से इज़ पर्सिपी) इस मत को नहीं समझता है वह जड़ से भी अधिक जड़ है, अर्थात् मूर्ख है -

> भावानां हि वस्तुतश्चैतन्यमेव, रूपम्, अचेत्यमानत्वे हि तेषां न
> किञ्चिद्रूपं स्यात्, अतस्तदेवं ये न जानाति ते जडेभ्योऽपि जडा:।[३७]

(२) वास्तव में महेश्वर ही एकमात्र प्रमाता है -

> विश्व: प्रमातृवर्ग: परमार्थत: एक: प्रमाता, स एव च अस्ति।
> .... ततश्च भगवान् सदाशिवो जानाति इत्यत: प्रकृति
> कृमिरपि जानाति - इत्यन्तम् एक एव प्रमाता।[३८]

इस प्रकार शिव से लेकर कृमि पर्यन्त जिन-जिनमें प्रमातृत्व है वह सब एकमात्र महेश्वर का ही प्रमातृत्व है। अन्य सभी तत्त्व या सम्पूर्ण जगत् इसी प्रमाता की सृष्टि है और इसी प्रमाता के अन्दर है। इस प्रकार शिवाद्वैतवाद एक बड़े पैमाने का एक जीववाद तथा दृष्टिसृष्टिवाद है। जैसे छोटे धरातल पर एक मानव समझता है कि सारा जगत् उसके द्वारा दृश्य होने के कारण उसके अन्दर ही है वैसे शिव समझते हैं कि सारा जगत् उनके द्वारा दृश्य होने के कारण उनके अन्दर ही है। मानव को व्यष्टि तथा शिव को महाव्यष्टि कह देने से एकजीववाद तथा दृष्टिसृष्टिवाद दूर नहीं हो जाते हैं वरन् और अच्छे ढंग से उजागर होते हैं। अत: स्वतन्त्राद्वैतवाद का प्रामाण्य-मूल्य वही है जो एकजीववाद और दृष्टिसृष्टिवाद का। दोनों केवल कल्पनावाद हैं। सोमानन्द की शिवदृष्टि वस्तुत: महा दृष्टिसृष्टिवाद को सिद्ध करती है।

(३) पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैतवादी निरुपादान सृष्टि को मानता है। जैसे योगी बिना किसी उपादान के वस्तुओं की सृष्टि करता है वैसे परम शिव भी बिना किसी उपादान के समस्त जगत् की सृष्टि करता है[३९] इसका तात्पर्य है कि जड़-जगत् का उपादान कारण कुछ नहीं है। उसका केवल निमित्त कारण है जिसे प्रयोजन कहा जाता है। जगत् उसका प्रयोज्य है। चित् ही सर्वत्र निर्माता है।[४०] जड में कोई कारण-शक्ति है ही नहीं - जड़स्य कारणत्वानुपपत्तै:[४१]

कार्य पद का अर्थ केवल कर्त्ता के द्वारा निष्पाद्य कार्य है, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवादी वर्कले भी इसी प्रकार केवल कर्तृत्ववाद या निमित्त कारण को ही कारण मानता है और उपादान कारण का प्रत्याख्यान करता है।[४२] अत: स्वतन्त्राद्वैत और उसके दर्शन में पर्याप्त समानता है। योगियों के श्यानता कर्म (मैटीरियलाइजेशन) का क्या रहस्य है ? इसकी व्याख्या करना यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि श्यानता के आधार पर जगत् की व्याख्या करना जगत् को

योग जैसा रहस्यमय बना देना है जो स्पष्टत: कोई प्रशंसनीय दार्शनिक कर्म नहीं है। कुछ भी हो निमित्तैककारणवाद कोई विज्ञान-सम्मत सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि विज्ञान जगत् के मूल्य की रक्षा करने का प्रयास करता है और यह वाद अन्तत: उसको उच्छिन्न कर देता है। अत: स्वतन्त्राद्वैतवादियों का यह कहना कि उनका दर्शन मायावाद की अपेक्षा जगत् के यथार्थ की अधिक सुन्दर व्याख्या करता है केवल मनमोदक खाने के समान है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वे जगत् के मूल तत्त्व का ही अपलाप कर देते हैं और इस प्रकार वस्तुवाद या यथार्थवाद का मूल ही उनके दर्शन में अमान्य है। फिर उसको वस्तुनिष्ठ, वस्तुवादी या यथार्थवादी कहना शब्दों का मात्र अनर्थ करना है। वह किसी भी अर्थ में वस्तुवादी नहीं है। अद्वैतवाद तो जगत् को अनिर्वचनीय कहकर उसके मूल की रक्षा सम्यक् करता है।

(४) दृष्टि-सृष्टिवाद से बचने के लिए स्वतन्त्राद्वैतवादी कहता है कि महेश्वर ज्ञान-शक्ति से विषय को प्रकाशित करता है तथा क्रिया-शक्ति से विषय को सृष्ट करता है और इस प्रकार शक्ति द्वय के भेद से दृष्टि और सृष्टि में भी भेद हो जाता है। महेश्वर की दृष्टि उसकी सृष्टि से इस शक्ति-भेद के कारण भिन्न हो जाती है। परन्तु यह शक्ति भेद पारमार्थिक नहीं है और यदि उसे पारमार्थिक माना भी जाय तो ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति या क्रिया-शक्ति में अविनाभाव या नान्तरीयकता का सम्बन्ध स्वीकृत किया गया है।[४३] इस कारण महेश्वर की दृष्टि वैसे ही स्वत: सृष्टि हो जाती है जैसे उसका प्रकाश या ज्ञान स्वत: विमर्श या इच्छा-शक्ति हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्राद्वैतवाद दृष्टि-सृष्टिवाद के आरोप से बच नहीं सकता है और यदि वह इससे बचता है तो फिर उसे प्लेटो की भाँति दो जगत् मानने पड़ेंगे - एक सृष्ट जगत् और दूसरा दृष्ट जगत्, और दोनों को समानान्तर तथा समान रूप से यथार्थ मानना पड़ेगा। परन्तु इस कल्पना में अनावश्यक गौरव है और लाघव-न्याय से जब एक ही जगत् को यथार्थ मानने से काम चल सकता है तो दो जगत् को मानने की क्या आवश्यकता है ?

(५) यह उल्लेखनीय है कि बर्कले ने दृष्टि-सृष्टिवाद से बचने के लिए ईश्वर को केवल कर्त्ता तथा जीव को द्रष्टा माना था। उसका सिद्धान्त है कि जीव या मनुष्य जिन विषयों को देखता है वे ईश्वर के दृष्ट नहीं हैं वरन् कृत हैं। इस प्रकार बर्कले दृष्टि-सृष्टिवाद से बचने के लिए ईश्वर और जीव में पारमार्थिक भेद करता है। स्वतन्त्राद्वैत इस भेद को नहीं मानता है। परमार्थत: वह जीव और शिव में भेद नहीं करता है। अत: वह दृष्टि-सृष्टिवाद के आरोप से बच नहीं सकता है।

(६) डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डे स्वीकार करते हैं कि शिव और आभासित जगत् में वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध स्वप्न-द्रष्टा और स्वप्न-विषय में है और जैसे स्वप्न-विषय स्वप्न-द्रष्टा के मन में रहते हैं और उनका अस्तित्त्व उसके मन से बाह्य नहीं है वैसे ही आभासित जगत् भी शिव के मन में है और उसके बाहर नहीं है।[४४] यही युक्ति प्रत्येक एकजीववादी या दृष्टि-सृष्टिवादी भी देता है। उसी की तरह स्वतन्त्राद्वैतवादी भी स्वप्न अवस्था के चैतन्य को जाग्रत अवस्था तथा सुषुप्ति अवस्था के चैतन्य से अधिक महत्त्व देता है और मानता है कि चैतन्य में वेद्य-वित्ति-वेदिता का त्रैविध्य प्रत्येक अवस्था में रहता है। इसी के बल पर तुरीय अवस्था में भी चैतन्य का त्रैविध्य मानता है।[४५] परन्तु यह मान्यता अनुभव के विरुद्ध है। जाग्रत की व्याख्या स्वप्न के आधार पर नहीं की जा सकती है क्योंकि वह स्वप्न से अधिक यथार्थ है। स्वप्न कल्पना का लोक है और जाग्रत चिंतन, मनन या तर्कना का लोक है। तर्कना का स्तर कल्पना के स्तर से न केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वरन् प्रमाण मीमांसा की भी दृष्टि से उच्चतर है। फिर वेद्य-वित्ति-वेदिता का त्रैविध्य सुषुप्ति में नहीं रहता है क्योंकि इसका अनुभव वहाँ नहीं होता है। किन्तु यह आरोप तथ्यसंगत नहीं है और सुषुप्ति-तथ्य को मात्र सिद्धान्तानुसारी या अपनी उपज्ञा के अनुसार ढालना है। वस्तुत: जो तथ्य है वह किसी की उपज्ञा के अनुसार नहीं होता है। परन्तु अधिक आश्चर्य तब होता है जब स्वतन्त्राद्वैतवादी इस त्रैविध्य का आरोप तुरीय अवस्था के चैतन्य पर भी करता है। अत:

उसका सिद्धान्त मनोविज्ञान, प्रमाण-मीमांसा तथा योगशास्त्र सभी से कट जाता है क्योंकि ये सभी शास्त्र तर्कना को कल्पना से उच्चतर मानते हैं और तर्कना से भी उच्चतर वेद्य-वित्ति-वेदिता से रहित चैतन्य की स्थिति को मानते हैं। इस दृष्टि से स्वतन्त्राद्वैतवाद निश्चय ही घोर कल्पनावाद है और न केवल यथार्थवाद के विपरीत है अपितु निरपेक्ष प्रत्ययवाद के भी विरुद्ध है। अत: उसको यथार्थवादी प्रत्ययवाद समझना निस्सन्देह दार्शनिक अस्पष्टता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। उसकी अपेक्षा अद्वैतवाद का मायावाद ही अधिक यथार्थ धरातल पर है क्योंकि वह तथ्य को किसी उपज्ञा के अनुसार नहीं ढालता है और उसे अनिर्वचनीय कहता है। उसका अनिर्वचनीयतावाद निश्चय ही प्रत्ययवाद और यथार्थवाद को मिलने वाला सूत्र है। पुनश्च, स्वतन्त्राद्वैतवाद वास्तव में तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा दोनों दृष्टियों से त्रैतवाद है क्योंकि वह शिव, शक्ति और सामरस्य इन तीन तत्त्वों को नित्य मानता है तथा वेद्य, वित्ति और वेदिता के भेदों को पारमार्थिक मानता है। अद्वैतवाद उससे अधिक सूक्ष्म एवं उत्कृष्ट है क्योंकि वह उस तत्त्व को मानता है जो शिव, शक्ति और उनके सामरस्य में अनुस्यूत है और जो वेद्य, वित्ति और वेदिता का भी ज्ञापक है। इस प्रकार स्वतन्त्राद्वैत को अद्वैतवाद से अधिक उत्कृष्ट तथा प्रामाणिक बताना बिना सोचे-समझे शोरगुल मचाना है।

***

टिप्पणियाँ और सन्दर्भ

१. *द्वितीय: पक्ष: सांख्ययोग पाशुपतानां ब्राह्मण: परिणामो जगदिति वैष्णवानामपि। ..... एवं शैवं मन्त्रशास्त्रमपि पाशुपतशास्त्रान्तर्गतमेव द्रष्टव्यम्। महिम्नस्तोत्र, मधुसूदन की टीका सहित, पृ. १६।*

२. *देखिए समकालीन भारतीय दर्शन, सं. लक्ष्मी सक्सेना, लखनऊ १९७४ में मेरा लेख "समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ" पृ. ३-४ तथा मेरी पुस्तक भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, इलाहाबाद, १९७६ पृ. ३४३-३५२।*

३. *महार्थमंजरी, वाराणसी संस्करण, पृ. १७७।*

४. *भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, गोपीनाथ कविराज, पटना, १९६३, पृ. ५।*

५. *भास्करी, भाग २, सं. अय्यर और पाण्डे, लखनऊ १९५०, भूमिका पृ. १५।*

६. *हिस्ट्री ऑफ फिलासफी, ईस्ट एण्ड वेस्ट, सं. राधाकृष्णन, भाग १, लण्डन, १९५२, पृ. ३८४।*

७. *देखिए इंडियन फिलासफी टुडे, सं. नं. कि. देवराज, मैकमिलन, दिल्ली १९७५ में उनका लेख पृ. ७६-७९।*

८. *कतिपयद्रश्यं सर्वजनद्रश्यं च यदाभासरूपं सामान्यं तत् यतो विभवात्मना तन्यते, ततस्तत तत्त्वमुच्यते। ..... तत्त्वानि हि सामान्यभासरूपाणि गुणगुणिभावेन विचित्रेण सामस्त्येन मिलितानि भोक्तृभोग्यद्याधिकरणरूपतया भूतभावभुवनात्मना भान्ति। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भाग २, पृ. १४८-१४९।*

९. *प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरुद्धान् यावत् अंगीकुरुते। भास्करी, भाग २, पृ. ९।*

१०. *सोऽयं स्वस्मात् कृताशेषषट्त्रिंशत्तत्वकलापो महान् परमशिवभट्टारकाह्वय: प्रमाता सप्तत्रिंशत्तया स्वीक्रियते। तस्य ताद्रूपतापि पर्यन्तता विकल्पकक्ष्याम् अनुप्रविशति। अविकल्पात्मना च भाव्यं विश्वोत्तरेण इत्यतोऽत्रापि अबिकल्पवृत्ति: अष्टात्रिंश: कश्चिदागमेषु अंगीक्रियते। महार्थमंजरी, पृ. ६७।*

११. *वही, पृ. १५५।*

१२. *वही, पृ. ७५।*

१३. *अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्। शारीरक भाष्य, शंकराचार्य, निर्णय-सागर संस्करण, १७४८, पृ. १९।*

१४. *भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ. ६।*

१५. *परमार्थ संग्रह १५। महार्थमंजरी, पृ. ४४ तथा तन्त्रालोक (काश्मीर ग्रंथावली) जयरथ की टीका सहित, भाग १ पृ. ७४ में उद्धृत।*

१६. *तन्त्रालोक (काश्मीर ग्रन्थावली) भाग १, श्लोक २२।*

१७. *वही, १/६९-७०।*

१८. *वही, १/७१।*

१९. *वही, १/६८ की टीका।*

२०. वही, १/७३ की टीका।
२१. वही, पृ. ४८ में उद्धृत श्लोक।
२२. वही, पृ. १९४।
२३. वही, पृ. ३०२।
२४. वही, पृ. १०९-११०।
२५. देखिए अभिनवगुप्त, डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डे, चौखम्भा, वाराणसी, १९३५, पृ. २१९।
२६. वही, पृ. २५६ में उद्धृत अभिनव गुप्त की उक्ति ...... ब्रह्मवादे अविद्यां मायाशक्तीकृत्य ...... सिद्धयति एष जन:।
२७. नावश्यं कारणानि कार्यवन्ती भवन्ति-तन्त्रालोक, भाग १ की टीका, पृ. १९६।
२८. महार्थमंजरी, पृ. १३२।
२९. शारीरकभाष्य ३/२/२१ का भाष्य।
३०. वेद्यीकरणमर्थानां मलो मायाख्य उच्यते। प्रत्यभिज्ञा-विवृत्तिविमर्शनी, अभिनवगुप्त (काश्मीर ग्रंथावली) १९४१, पृ. ६० में उद्धृत।
३१. यद्यात्मा क्रियया विक्रियेत, अनित्यत्वमात्मन: प्रसज्येत्। शारीरकभाष्य, शंकराचार्य १/१/४ का भाष्य।
३२. ज्ञातृत्व शक्ति कर्तृत्व शक्ति का एक रूप मात्र है। अभिनवगुप्त, कान्तिचन्द्र पाण्डे, पृ. २२४।
३३. भास्करी, भाग २, सं. कान्तिचन्द्र पाण्डे, भूमिका, पृ. १३।
३४. शारीरकभाष्य, शंकराचार्य, २/२/२८।
३५. संवेदनस्वरूपत्वात् संवेदनान्तरापेक्षा च न संभवति यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवस्तद्वत्। केनोपनिषद्, शांकर भाष्य, २/४ का भाष्य।
३६. नैष्कर्म्यसिद्धि, सुरेश्वराचार्य, ४/३।
३७. तन्त्रालोक की टीका, भाग १, पृ. ३०७।
३८. ईश्वर प्रत्यभिज्ञावमर्शिनी, भाग १, पृ. ४८।
३९. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १/५/७।
४०. चित्तत्वमेव सर्वत्र निर्मातृ। ईश्वर प्रत्यर्भिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भाग २, पृ. १४५।
४१. स्पन्द-निर्णय, क्षेमराज (काश्मीर ग्रंथावली) १९२५, पृ. १०।
४२. देखिए, आधुनिक दर्शन की भूमिका, संगमलाल पाण्डेय, द्वितीय संस्करण, १९७३, पृ. २६८-२६९।
४३. क्रियाया ज्ञानाविनाभावितत्त्वात्-तन्त्रालोक, जयरथ की टीका सहित, भाग १, पृ. १९८।
४४. दे. भास्करी, भाग २, अय्यर और पाण्डे, १९५०, भूमिका पृ. १६।
४५. स च स्वभावो वेद्यं वित्तिवेदितेति स्थूलं सूक्ष्मं परमिति जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त मित्यादिना त्रैविध्येनापि उपपद्यते। महार्थमंजरी, पृ. ६८।

बुद्धिवाद

इस व्याख्यान के माध्यम से मैं आपका ध्यान किसी अन्य विषय की ओर न ले जाकर उस मत की ओर ले जाना चाहता हूँ जिसे मैं अपने दार्शनिक मत के रूप में मानता हूँ और जो मेरे विचार से आपको भी इस रूप में ग्राह्य हो सकता है। इस मत को एक भिन्न अर्थ में बुद्धिवाद की संज्ञा दी जा सकती है।

यह एक सर्वमान्य मत है कि मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है। किन्तु फिर भी बुद्धि के परिप्रेक्ष्य से उसे अपने दर्शन का निर्माण करने को नहीं कहा जाता। कोई कहता है कि मनुष्य को लोकज्ञान, लोकरीति, लोकपरंपरा या लोकव्यवहार के अनुसार अपने दर्शन का निर्माण करना चाहिए। उनके मत से लोकज्ञान ही सर्वाधिक प्रामाणिक दर्शन हैं। दूसरे कहते हैं कि मनुष्य को अपने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के साक्ष्य के अनुसार अपने दर्शन की कल्पना करनी चाहिये। उनके मत से मनुष्य के लिए सबसे प्रामाणिक मत प्रत्यक्षवाद है, जिसे कुछ लोग भूल से अनुभववाद भी कह देते हैं। फिर, अन्य लोग कहते हैं कि मनुष्य को आर्ष ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान के सहारे अपने दर्शन का अनुसन्धान करना चाहिए। उनके मत से सबसे अधिक मानवोचित दर्शन प्रातिभवाद है, जिसे कुछ लोग अनुभववाद भी कहते हैं। लोकज्ञान, प्रत्यक्षवाद तथा प्रातिभवाद के हिमायती बुद्धि के अपने-अपने प्रयोग करते हैं। वे बुद्धि को क्रमशः लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान से उत्पन्न मानते हैं। फिर, वे बुद्धि का मुख्य व्यापार क्रमशः लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान को पुष्ट करना मानते हैं। इस प्रकार उनके मत से पहले बुद्धि एक द्वैतीयक और पराधीन प्रमाण है, न कि प्राथमिक और स्वाधीन प्रमाण: और दूसरे, बुद्धि का क्षेत्र संकुचित और पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। इससे स्पष्ट है कि उनका बुद्धिवाद सच्चा बुद्धिवाद नहीं है। उसमें बुद्धिवाद का मात्र आभास है। यथार्थतः वह या तो लोकज्ञान है, या प्रत्यक्षवाद और या प्रातिभवाद।

यदि मनुष्य बुद्धिमान प्राणी न होता तो उसके लिए लोकज्ञान, प्रत्यक्षवाद या प्रातिभवाद पर्याप्त होते। किन्तु यदि वह बुद्धिमान प्राणी है तो कोई ऐसा वाद उसको मान्य नहीं हो सकता जिसमें बुद्धि की अवहेलना है या बुद्धि का संकोच है, या बुद्धि को पूर्वाग्रहों से ग्रस्त कर दिया गया है। अतः यदि मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल कोई वाद है तो वह बुद्धिवाद है, जिसे स्वयं बुद्धि निष्पक्ष आलोचना से तैयार करती है। हम इस बुद्धिवाद को समझने के लिए, इसे तथाकथित बुद्धिवादों से, या नामधारी बुद्धिवादों से, भिन्न करने के लिए पहले बुद्धि के आवश्यक लक्षणों का परीक्षण करेंगे और तब उनके द्वारा बुद्धिवाद का प्रतिपादन करेंगे।

बुद्धि ज्ञान का मौलिक या प्राथमिक साधन है। वह लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान से उत्पन्न नहीं होती है। वह मानव-चेतना का लक्षण है और इस कारण मानव चेतना से उसका अपरिहार्य सम्बन्ध है। हम कह सकते हैं कि जैसे अग्नि उष्ण है या सूर्य प्रकाशवान है, वैसे मानव-चेतना बुद्धिमान है। बुद्धि के अभाव में मानव-चेतना चेतना नहीं है और इस कारण वह अपना कोई व्यापार नहीं कर सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि बुद्धि प्रायः लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान या प्रातिभज्ञान को ही अपना सहकारी बनाकर कार्य करती है, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान

बिना बुद्धि के घटते हैं। बुद्धि इन सबकी नित्य प्राग्पेक्षा (Presupposition) है। यदि बुद्धि न हो तो लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान कैसे सम्भव होंगे ? बुद्धि उनका ग्रहण तथा अर्थ करती है, अपने ज्ञान-संस्थान में उनका स्थान निर्धारित करती है और उनके सामान्य लक्षणों को पहचान कर उनका उपयोग करती है। लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान से विशेष वस्तुओं के बारे में सूचनाएँ मिलती हैं। इनके फलस्वरूप बुद्धि को अनेक विशेष प्रत्यय प्राप्त होते हैं, इनके प्राप्त करने में भी उसे अपनी वर्गणाओं का प्रयोग करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, प्रत्यक्ष के विषयों को लीजिए। ये प्रत्यय मात्र विशेष रूप से नहीं प्राप्त होते हैं, किन्तु किसी देश, किसी काल और किसी कारण के सम्बन्ध में ही प्राप्त होते हैं। देश, काल और कारणता के सम्बन्ध स्वयं विशेष नहीं हैं क्योंकि वे विशेषों के सम्बन्ध हैं और जिस किसी विशेष में उनका अन्तर्भाव किया जायगा उसके प्रत्यक्ष को उनकी प्रागपेक्षा होगी। अत: ये सामान्य प्रत्यय हैं और बुद्धि में आजानिक (Innate) हैं। इन्हीं के माध्यम से बुद्धि विशेष प्रत्ययों को प्राप्त करती है। क्योंकि वह जिस रूप में इनको रखती है उसी रूप में वह इनको समझ सकती है और अन्यथा कदापि नहीं समझ सकती, इसलिए इन प्रत्ययों के सम्बन्ध को ही वह वस्तुओं का सम्बन्ध समझती है और इससे भिन्न वह वस्तुओं के किसी सम्बन्ध की कल्पना नहीं कर सकती। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष को बुद्धि की प्राग्पेक्षा है। विशुद्ध प्रत्यक्ष या संवेदना, जिसमें बुद्धि का कोई अनुदान नहीं है, अचिंत्य है या बुद्धि से अगोचर है। और जो बुद्धि से अगोचर है उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।

बहुतेरे कहेंगे कि संवेदों, या प्रत्यक्ष किये गये प्रत्ययों, के बार-बार घटने से बुद्धि उत्पन्न होती है। किन्तु जब संवेद स्वयं बिना बुद्धि के घटित नहीं हो सकते, जब एक संवेद दूसरे संवेद से बिना बुद्धि के संयुक्त या संपृक्त नहीं हो सकता, जब संवेदों का साहचर्य, चाहे वह आकस्मिक हो या अनिवार्य, बिना बुद्धि के संभव नहीं हो सकता, जब उत्पत्ति का ज्ञान बिना कार्य-कारण की बौद्धिक वर्गणा के संपन्न नहीं हो सकता, तब कैसे बुद्धि को संवेद से उत्पन्न कहा जा सकता है ? वास्तव में बुद्धि के उत्पत्ति-प्रदर्शन में सिद्ध-साधन दोष है ! हम बुद्धि को जिस वस्तु से उत्पन्न दिखलायेंगे उस वस्तु को स्वयं पहले बुद्धि का कारण नहीं कह सकते हैं। इससे सिद्ध है कि बुद्धि अनुत्पत्तिधर्मा है। फिर, यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि यह उत्पत्तिधर्मा है तो इसकी उत्पत्ति और इसका कारण दोनों इसके लिए अगोचर हैं और फलत: न तो उनका ग्रहण किया जा सकता है और न उनके बारे में कोई प्रकथन किया जा सकता है। जो अचिन्त्य है वह अव्यपदेश्य है। जो बुद्धि को मात्र अतीतदृष्टि (Hind Sight) कहते हैं वे क्या प्रथम दृष्टि, तथा अतीत दृष्टियों के आनन्तर्य को बुद्धि के बिना जान सकते हैं ? स्पष्ट है कि ये सब बुद्धि गोचर है और इस कारण बुद्धि के जनक होने के स्थान पर स्वयं बुद्धिजन्य हैं।

बुद्धि को मौलिक या प्राथमिक प्रमाण मानने का यह तात्पर्य नहीं है कि बुद्धि को प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं। काण्ट ने दर्शनशास्त्र को यह स्थायी देन दी है कि बुद्धि के अभाव में प्रत्यक्ष अन्धा है और प्रत्यक्ष के अभाव में बुद्धि रिक्त है। किन्तु उसने बुद्धि और प्रत्यक्ष की सामान्याश्रित अपेक्षा को एकरूप नहीं कहा है। बुद्धि व्यापक है और प्रत्यक्ष व्याप्य, बुद्धि सामान्यवती है और प्रत्यक्ष विशेषवान ; बुद्धि आधार है और प्रत्यक्ष आधेय। दोनों का सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि एक दूसरे का स्थान ले लें। दोनों का स्थान-परिवर्तन करना, दोनों को एकविध कहना, या दोनों में से किसी एक को अन्य से उत्पन्न कहना, विपर्यास या अभ्यास है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष के अपने स्थान तथा क्षेत्र हैं। किन्तु प्रत्यक्ष को बुद्धि से साधन न मानकर उलटे बुद्धि को ही प्रत्यक्ष का साधन मानना घोर व्यतिक्रम है और बुद्धि से सर्वथा अनुपपन्न है। सत्य यह है कि प्रत्यक्ष बुद्धि का साधन है और प्रत्यक्ष के द्वारा बुद्धि विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है।

किन्तु हमें काण्ट से आगे भी जाना होगा। काण्ट ने यह समझा कि बुद्धि प्रत्यक्ष के बिना साधनहीन है। परन्तु प्रत्यक्ष के अतिरिक्त भी बुद्धि के साधन हैं। उदाहरण के लिए हम लोक-परंपरा को लेते हैं। हमारी बुद्धि लोकपरंपरा से प्राप्त विषयों को प्रत्यक्ष नहीं करती है। उन्हें वह श्रद्धा-विश्वास से जानती है। वह इस श्रद्धा-विश्वास को तर्क से इतना पुष्ट करती है कि वह एक महा संस्थान बन जाता है। इसी प्रकार हम प्रातिभज्ञान का उदाहरण ले सकते हैं। प्रातिभज्ञान के साथ बुद्धि इतना व्यापार करती है कि वह प्रत्यक्ष की बिल्कुल अवहेलना करते हुए सिद्ध करती है कि जगत् मात्र माया या तुच्छ है। वह प्रातिभज्ञान के अनुकूल एक महा संस्थान का निर्माण करती है जिसमें प्रत्यक्ष की कोई उपयोगिता नहीं है। विशुद्ध बौद्धिक व्यापार को भी लें तो रूपात्मक विज्ञानों की रचना में बुद्धि जो कार्य करती है उसमें प्रत्यक्ष का लेशमात्र भी उपयोग नहीं रहता है। इन सब उदाहरणों से सिद्ध है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त भी बुद्धि के साधन हैं। उनमें से किसी एक साधन के साथ बुद्धि का अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार हम मानते हैं कि प्रत्यक्ष बुद्धि का बहुत बड़ा साधन है किन्तु यह अपरिहार्य साधन नहीं है। बुद्धि इसका परिहार कर सकती है। यह परिहार दो प्रकार का हो सकता है। पहला, आरंभ में प्रत्यक्ष का प्रयोग करके बाद में इसका परिहार करना। दूसरा, प्रत्यक्ष का बिल्कुल परिहार करना। दूसरा परिहार संभवत: उन लोगों को आश्चर्यजनक लगे जिन्होंने प्रत्यक्ष को ही सकल ज्ञान की सीमा मान रखा है। किन्तु जिन्होंने दर्शनशास्त्र के इतिहास का अनुशीलन किया होगा अथवा जिन्होंने बुद्धि के सभी संभव साधनों की गवेषणा की होगी, वे जानते होंगे कि ऐसे दर्शन-निकाय भी संभव हैं जो प्रत्यक्ष के साक्ष्य को बिल्कुल अप्रामाणिक मानते हैं।

यहाँ हम यह नहीं कहते कि हमें प्रत्यक्ष को छोड़कर लोकपरंपरा या प्रातिभज्ञान की शरण लेनी चाहिए और इनके अनुकूल तर्कों से इनका समर्थन करना चाहिए। हमारा तात्पर्य केवल यह है कि लोकपरंपरा और प्रातिभज्ञान को भी लेकर बुद्धि वैसे ही अग्रसर हो सकती है जैसे प्रत्यक्ष को लेकर, और एकमात्र प्रत्यक्ष बुद्धि का साधन नहीं है। किन्तु हम यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष को लेकर चलना बुद्धि के लिए अधिक उचित है। क्योंकि, पहले बुद्धि को अपने समस्त साधनों का उपयोग करना चाहिए; और दूसरे, प्रत्यक्ष से उसको जितने विषयों का ज्ञान मिलता है उतने विषयों का अन्य साधनों से नहीं। इसलिए इस अत्यन्त उपयोगी साधन का पर्याप्त उपयोग करना बुद्धि का परम कर्त्तव्य है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष का अपलाप करना बुद्धिहीनता है।

अब, जैसे ज्ञान के साधन में बुद्धि का प्रथम और मौलिक स्थान है वैसे प्रामाणिकता की दृष्टि से भी बुद्धि का प्रथम और मौलिक प्रामाण्य है। बुद्धि का प्रामाण्य स्वत: सिद्ध है। बुद्धि का अपना नियम बाध का नियम है जिसे बुद्धि का एक लक्षण भी कहा जा सकता है। बुद्धि कभी अपने को बाधित नहीं कर सकती। वह कभी बाधपूर्ण विषयों को समझ नहीं सकती। उसके लिए सत्य वह है जो स्वयं बाधित न हो और असत्य वह है जो स्वयं बाधित हो जाय। इस कसौटी पर कसने से बुद्धि की पूर्ण सत्यता सिद्ध होती है। किसी प्रत्यय से बुद्धि का प्रत्याख्यान करना स्वयं बाधित है। कुछ ऐसा नहीं सोचा जा सकता जिसमें बुद्धि का अनस्तित्त्व हो। यदि वह सोचा जाता है, तो बुद्धि व्यापार करती है और उसके माध्यम से अपने अस्तित्त्व को प्रदर्शित करती है। यदि वह नहीं है तो फिर कुछ चिन्तन ही नहीं हो सकता। इस प्रकार कदाचित् बुद्धि का अनिस्तत्त्व सोचना बाध है। सत्य यह है कि बुद्धि का अस्तित्त्व स्वयंप्रकाश और अखंडनीय है। वह अपने को स्वत: सिद्ध करती है और ज्ञान के किसी साधन से उसके अस्तित्त्व का खण्डन नहीं किया जा सकता। जो भी ज्ञानसाधन होगा वह बुद्धि का व्यापार होगा। अत: यह व्याघात होगा कि वह बुद्धि के अनस्तित्त्व का ज्ञापक हो।

जो लक्षण बुद्धि का है वही ज्ञान के अन्य साधनों का नहीं है। ज्ञान के अन्य साधन स्वयंप्रकाश

और अखण्डनीय नहीं है। लोकपरंपरा या लोकव्यापार से जो ज्ञान होता है वह मात्र आस्था पर आधारित है। वह विशुद्ध जनश्रुति या किंवदन्ती है। वह अपना प्रामाण्य नहीं पेश कर सकता। अन्य प्रमाणों से वह सत्यापित होता है। यदि वह बुद्धि के प्रामाण्य से, अर्थात् बाध के नियम से, पुष्ट है तो हम उसे सत्य कहेंगे, और अपुष्ट है तो असत्य। फिर, यदि वह प्रत्यक्ष से सत्यापित है तो हम उसके प्रामाण्य को प्रत्यक्षवत् मानेंगे। अन्ततः यदि वह प्रातिभज्ञान के प्रामाण्य से सत्यापित है तो हम उसे प्रातिभज्ञान की भांति प्रामाणिक मानेंगे। और यदि वह इनमें से किसी से भी सत्यापित नहीं हो सकता, जैसे यह ज्ञान कि अमुक व्यक्ति अमुक व्यक्ति का पिता है, तो हम इस ज्ञान को न तो सत्य कह सकते हैं और न असत्य। किंतु इस कारण वह निरर्थक बकवास नहीं है। यह एक सार्थक ज्ञान है और बुद्धि से चिन्त्य है। इसकी सत्यता को हम व्यावहारिकता या व्यवहार्यता कहेंगे। बुद्धि इस ज्ञान को उपयोग की कसौटी पर कसती है। जो उपयोगी है वह व्यवहार्य है और जो अनुपयोगी है वह अव्यवहार्य।

अब प्रत्यक्ष को लीजिए। प्रत्यक्ष से जो ज्ञान होता है वह स्वयं प्रामाणिक नहीं है। उसको परतः प्रामाण्य की अपेक्षा है। यह प्रामाण्य बुद्धि निश्चित करती है। बुद्धि प्रत्यक्ष के विषयों के प्रामाण्य की कसौटी निर्धारित करती है। कभी-कभी वह अपनी ही कसौटी से, अर्थात् बाध के नियम से, इन विषयों को कसती है। इस पर प्रत्यक्ष के विषय सब असत्य सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक का विरोधी विषय बुद्धि से चिन्त्य है। अतः कुछ बुद्धिवादी लोग प्रत्यक्ष के सभी विषयों को बाधग्रस्त सिद्ध करते हैं और उन्हें मात्र आभास या पहेली मानते हैं। किन्तु दूसरे लोग कहते हैं कि यदि प्रत्यक्ष के विषय बाधग्रस्त होते तो उनका ज्ञान ही असंभव था क्योंकि बाधपूर्ण विषय पूर्णतया अगोचर हैं। उनके ज्ञान से स्पष्ट है कि वे अत्यन्त असत्य या मात्र असत्य नहीं है। अतः उनका कथन है कि बाध का नियम प्रत्यक्ष के विषयों की कसौटी नहीं हो सकता। उनकी कसौटी वह व्यापक नियम है जिसे बुद्धि उनमें देखती है। बुद्धि देखती है कि वे विषय बार-बार घटते हैं। इससे वह उनको प्रायिक मानती है और उनकी प्रामाणिकता को सत्यता से भिन्न प्रायिकता (Probability) का नाम देती है। प्रत्यक्ष के विषयों का जो साहचर्य है यदि उससे उनका उत्पन्न होना सिद्ध है तो हम उनको प्रायिक कहेंगे। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए, कल प्रातः सूर्य पूर्व में निकलेगा। यह वाक्य न तो सत्य है और न असत्य। यह मात्र प्रायिक है। हम अपने अतीत अनुभव के आधार पर कहते हैं कि कल पूर्व में सूर्योदय होगा। अतीत में हमने सदा पूर्व में प्रातः सूर्योदय देखा है। इससे हमारी बुद्धि में प्रातः, पूर्व और सूर्योदय में एक संबंध स्थापित हो गया है। इस ज्ञान के आधार पर ही हम प्रतिदिन प्रातः पूर्व में सूर्योदय देखने की प्रत्याशा करते हैं। यह भी संभावना है, यद्यपि अप्रायिक है, कि कल प्रातः पूर्व में सूर्योदय न हो। एक दूसरे उदाहरण से प्रत्यक्ष के विषयों की प्रायिकता और स्पष्ट हो सकती है। मान लीजिए, मैंने बहुत दिनों से अपने कमरे में एक मेज देखी है, या प्रयाग में गंगा के किनारे एक पीपल का पेड़ देखा है। हम इन दृश्य विषयों को सत्य नहीं कह सकते क्योंकि यह संभव है कि हम उनके स्थान पर कोई अन्य विषय देखें। किन्तु इससे वे असत्य नहीं हो जाते। वे प्रायिक हैं और इस कारण हम उनको सदा उनके स्थान पर देखने को तैयार रहते हैं। प्रायिकता को हम व्यवहार में सत्य कह देते हैं, किन्तु वास्तव में वह सत्य नहीं अपितु सत्यप्राय है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के विषयों का प्रमाण सत्यता-असत्यता के आधार पर न होकर प्रायिकता-अप्रायिकता के आधार पर है। जो प्रत्यक्ष-विषय बार-बार घटते हैं वे प्रायिक हैं और जो एक बार या कभी-कभी घटते हैं वे अप्रायिक हैं। अप्रायिक विषयों को हम सामान्यतः असत्य कहते हैं किन्तु अप्रायिकता का आधार असत्यता के आधार से भिन्नविध है। इस कारण जो अप्रायिक है वह असत्य नहीं है।

किन्तु प्रायिकता-अप्रायिकता की कोटि प्रत्यक्ष के विषयों के प्रामाण्य में पर्याप्त नहीं है। इस कोटि के अतिरिक्त भी बुद्धि उनको यथार्थ ओर अयथार्थ की कोटि में रखती है। जो विषय अपने अर्थ के

अनुकूल होते हैं उन्हें यथार्थ और जो प्रतिकूल होते हैं उन्हें अयथार्थ कहा जाता है। किन्तु उनका क्या अर्थ है जिसके अनुकूल या प्रतिकूल होने से उनका मूल्याँकन किया जाता है ? उस अर्थ को कोई उन विषयों की व्यवहार्यता, कोई उनकी सुसंगति, तो कोई उनका और उनके मूल्यों का संवाद कहता है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यवहार्यता, सुसंगति और संवाद बुद्धिगोचर हैं और वे स्वयं प्रत्यक्ष के विषय नहीं है। पुनश्च, व्यवहार्यता और सुसंगति तो स्पष्ट ही बुद्धि के अपने प्रतिमान है; प्रथम उसके लिए उपयोगिता है और द्वितीय उसके बाध के नियम का पालन है। अब रही संवाद की बात। प्रत्यक्षवादी प्रत्यक्ष के विषयों का संवाद उनके मूल विषयों से करते हैं। उन दोनों में वे कुछ अन्तर करते हैं। मूल विषयों के ज्ञान में वे बुद्धि का कुछ अनुदान नहीं मानते और प्रत्यक्ष-विषयों के ज्ञान में वे बुद्धि के अनुदान को स्वीकार करते हैं। जो विषय बुद्धि से अगोचर हैं उनके बारे में न तो हमें कुछ ज्ञान हो सकता है और न हम उनके बारे में कुछ कह सकते हैं। अत: प्रत्यक्षवादियों की यह मान्यता कि कुछ ज्ञान-विषय हैं जो बुद्धि से अगोचर हैं, पूर्णतया असंगत है। और इससे संवाद के सिद्धान्त की भी असंगति स्पष्ट हो जाती है। फलत: प्रत्यक्ष के विषयों की यथार्थता या अयथार्थता का प्रतिमान उनकी व्यवहार्यता या सुसंगति है।

अब क्योंकि प्रत्यक्ष के विषयों का प्रमाण स्वयं प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसलिए प्रत्यक्ष की प्रामाणिता सरासर बुद्धि पर निर्भर है। बुद्धि ही प्रत्यक्ष के विषयों का प्रमाणीकरण करती है। किन्तु प्रत्यक्षवादी प्राय: चिल्लाते हैं कि प्रत्यक्ष अपना प्रमाण स्वयं पेश करता है और प्रत्यक्ष के विषयों के प्रामाण्य की कसौटी प्रत्यक्षसिद्ध है। जब उनसे पूछा जाता है कि क्या यह कसौटी वैसे ही प्रत्यक्ष की जाती है जैसे कोई प्रत्यक्ष-विषय, तो वे निरुत्तर हो जाते हैं, और या वे जो उत्तर देते हैं-वे बुद्धि की समझ के बाहर हैं। इतने पर भी यदि वे चिल्लाते हैं तो उनके कोलाहल को बकवास न कहा जाय तो क्या कहा जाय ?

अब हम आर्षज्ञान या प्रातिभज्ञान के प्रामाण्य को लेते हैं। जो लोग कहते हैं कि यह ज्ञान बुद्धि से अगोचर है और बौद्धिकज्ञान का विरोधी है, उनकी बात असंभव है। फिर जो असंभव है वह बकवास है। किन्तु जो लोग कहते हैं कि यह ज्ञान बुद्धिसम्मत और इसमें बौद्धिकज्ञान का पूर्ण परिपाक होता है, उनकी बात संभव है। यद्यपि यह बुद्धिसम्मत प्रातिभज्ञान प्रायिक नहीं है तथापि यह असंभावना नहीं है। जो लोग कुछ प्रत्यक्षवादियों की भांति प्रायिकता को ही संभावना और अप्रायिकता को असंभावना मान बैठे हैं उनके अनुसार प्रातिभज्ञान का विषय अप्रायिक होने के कारण असंभव है। किन्तु यदि अप्रायिकता और असंभावना में कुछ भेद बुद्धिगोचर है तो प्रातिभज्ञान का विषय अप्रायिक होने के कारण असंभव नहीं है। यदि प्रश्न किया जाय कि चन्द्रलोक में मनुष्य हैं कि नहीं, तो हम अपने समग्र अनुभव से कहेंगे कि चन्द्र के वातावरण का जो निरीक्षण किया गया है उससे सिद्ध होता है कि चन्द्र के वातावरण और पृथ्वी के वातावरण में प्रायिक साम्य नहीं है। और इस कारण चन्द्रलोक में मनुष्यों का होना अप्रायिक है। किन्तु यह अप्रायिकता असंभावना नहीं है। संभव है कि चन्द्रलोक में मनुष्य या मनुष्य जैसे प्राणियों का निवास हो। इस प्रकार बुद्धि अप्रायिकता और असंभावना में भेद करती है। इस भेद के फलस्वरूप यह प्रातिभज्ञान और उसके विषय को संभव मानती है। प्रातिभज्ञान को ऐक्य-ज्ञान तथा उसके विषय को परमेश्वर या परमार्थ कहा जाता है। परमार्थ प्रातिभज्ञान के लिए यथार्थ है किन्तु बुद्धि के लिए मात्र संभव।

बुद्धि के व्यापार को प्राय: तर्क कहा जाता है। यदि तर्क का अर्थ व्यवहित ज्ञान है तो सचमुच यह बौद्धिक ज्ञान का पर्याय है। किन्तु यदि तर्क का तात्पर्य पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से है तो यह एक उत्कृष्ट बौद्धिक ज्ञान है। यद्यपि इस रूप में तर्क बुद्धि में सदा निहित रहता है तथापि इसका विकास कुछ निमित्त पाकर होता है। जब यह विकसित हो जाता है तब यह बुद्धि का लक्षण बन जाता

है और बुद्धि इसका परिहार करने में असमर्थ हो जाती है। तर्क का परिहार बुद्धि का सत्यानाश होगा। अत: बुद्धि के इस लक्षण से ही सिद्ध है कि वह तर्कसंगत हो। यही कारण है कि हम तर्क से दूषित या असंगत कथनों को अबौद्धिक अपलाप या बकवास कहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या तर्क से बुद्धि का प्रामाण्य निश्चित होता है ? आपातत: यह प्रश्न व्यर्थ प्रतीत होता है क्योंकि जो तर्क स्वयं बुद्धि का व्यापार है वह कैसे बुद्धि को अनिश्चित तथा अप्रामाणिक ठहरा सकता है ? किन्तु इस प्रश्न को बहुतों ने उठाया है। उन्होंने तर्क दिये हैं कि तर्क से बुद्धि संशय करती है और इस कारण वह किसी निश्चित ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकती है। उनका दावा है कि तर्कात्मक ज्ञान कभी स्वत: प्रामाणिक नहीं हो सकता क्योंकि एक तर्क का दूसरे तर्क से, दूसरे तर्क का तीसरे तर्क से, और इसी परंपरा से समस्त तर्कों का परस्पर खण्डन हो जाता है। किन्तु तनिक भी विचार करने से ज्ञात होता है कि आत्म खण्डन की यह प्रवृत्ति तर्क का दूषण न होकर भूषण है। इससे तर्कात्मक ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य असिद्ध नहीं हो जाता। उल्टे, वह रक्तबीज की भांति और प्रकट होता है। यह सिद्ध करता है कि तर्कात्मक ज्ञान अपना कटु आलोचक है। वह अपनी पूर्ण आलोचना करता है। जितनी संभव कोटियाँ हो सकती हैं उन सब के परिप्रेक्ष्य से वह ऊहापोह करता है। किन्तु इन सब तर्कों के अन्तरात्म में बुद्धि निहित है। ये सब बुद्धि की किरणें हैं जिनके प्रकाश में वह अपने विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। यदि इन किरणों से विषयों के पृथक् अस्तित्त्व का खण्डन हो जाता है तो उससे बुद्धि की असत्ता या बौद्धिक ज्ञान की असमर्थता नहीं सिद्ध होती। उससे केवल यह सिद्ध होता है कि बुद्धि का ही एकमात्र अस्तित्व है और उसके प्रकाश में सभी विषय अन्तर्धान हो जाते है।

दर्शनशास्त्र के इतिहास में तर्को की पारस्परिक खण्डन-प्रवृत्ति के दो विशुद्ध उदाहरण हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। पहला उदाहरण है अद्वैत वेदान्त का जिसने अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली से ऐसे तर्कों को श्रृंखलाबद्ध किया है। प्रत्येक अध्यारोपात्मक तर्क अपवादात्मक तर्क से खण्डित हो जाता है। किन्तु अपने खण्डन के अनन्तर ही वह एक दूसरे अध्यारोपात्मक तर्क को उत्पन्न कर देता है। यह दूसरा अध्यारोपात्मक तर्क भी पुन: किसी अन्य अपवादात्मक तर्क से खण्डित हो जाता है। और खण्डन की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक अध्यारोप और अपवाद की कोटि से तर्क अपने को उन्मुक्त करके मात्र बुद्धि की स्वयंप्रकाशता नहीं हो जाता। इस प्रकार समग्र खण्डन से खण्डनकर्त्ता के अस्तित्त्व का अतिशय बोध होता है। दूसरा उदाहरण हेगलवाद का है जिसने वाद, प्रतिवाद तथा अविवाद की प्रक्रिया से तर्कों का संगुम्फन किया है। प्रतिवाद (Antitheses) वाद (Thesis) का खण्डन करता है और अविवाद (Synthesis) प्रतिवाद का। इस प्रकार वाद-प्रतिवाद-अविवाद के एक त्रिक में पूर्व-पूर्व को उत्तरोत्तर खण्डित करता है और अन्तिम, अर्थात् अविवाद, सिद्ध होता है। अविवाद से वाद और प्रतिवाद बहिष्कृत नहीं होते प्रत्युत समन्वित होते हैं। वाद और प्रतिवाद का खण्डन इसलिए होता है कि वे एकांगी हैं और एक दूसरे के व्यवच्छेदक हैं। अविवाद दोनों का संग्राहक है। इस कारण एक ओर जहाँ वह दोनों का खण्डन करता है वहाँ दूसरी ओर वह दोनों का समन्वय करता है। किन्तु एक ही त्रिक से तर्क के इस खण्डन-समन्वय का अन्त नहीं हो जाता। एक त्रिक से दूसरा त्रिक उद्भूत होता है और दूसरे त्रिक से तीसरा त्रिक और एवमादि। इन अनेक त्रिकों में पूर्वपूर्व त्रिक का अविवाद उत्तरोत्तर त्रिक का वाद हो जाता है। यह वाद अपना प्रतिवाद उत्पन्न करता है और प्रतिवाद अपना अविवाद। इस प्रकार सभी त्रिक एक-दूसरे से संबंधित हैं। त्रिकों की यह श्रृंखला आत्यन्तिक तर्कणा पर आधारित है जो अन्तत: उस त्रिक में शान्त होती है। जिसका अविवाद स्वयं बुद्धि है। इस प्रकार तर्कों की खण्डनात्मक प्रवृत्ति अन्तत: बुद्धि के प्रामाण्य और प्राथमिकता को सत्यापित करती है।

अद्वैत वेदान्त और हेगलवाद के उदाहरणों से यहाँ यह तात्पर्य न लगाना चाहिए कि बुद्धिवाद के मात्र ये ही दो प्रकार हैं। इसका तात्पर्य केवल यह दिखाना है कि संशय और खण्डन बुद्धि के प्राथमिक प्रामाण्य को असिद्ध नहीं करते प्रत्युत उसको भूरिशः सत्यापित करते हैं।

अभी तक के विवेचन से हमने सिद्ध किया है कि बुद्धि मौलिक और प्राथमिक ज्ञान-साधन है और इसका प्रामाण्य भी प्राथमिक तथा अखण्डनीय है। बुद्धि के अतिरिक्त जनश्रुति, प्रत्यक्ष तथा प्रातिभज्ञान ज्ञान-साधन हैं, किन्तु ये स्वतंत्र साधन न होकर बुद्धि के सहकारी साधन हैं। प्रामाण्य की दृष्टि से बुद्धि का प्रामाण्य सत्य है, जनश्रुति का प्रामाण्य व्यावहारिक है। प्रत्यक्ष का प्रामाण्य यथार्थ, व्यावहारिक और प्रायिक है तथा प्रातिभज्ञान का प्रामाण्य संभव है। इससे बुद्धि के साक्षात् विषय सत्य या असत्य हैं। जनश्रुति के साक्षात् विषय व्यावहारिक या अव्यावहारिक हैं। प्रत्यक्ष के साक्षात् विषय यथार्थ या अयथार्थ, व्यावहारिक या अव्यावहारिक और प्रायिक या अप्रायिक हैं। और, प्रातिभज्ञान के साक्षात् विषय संभव या असंभव हैं। इनमें से असंभावना को छोड़कर प्रत्येक के बारे में कुछ प्रकथन किया जा सकता है, जो निरर्थक नहीं होगा। किन्तु प्रत्येक का सत्यापन और व्याख्यान मात्र बुद्धि के व्यापार से होता है।

सत्यता-असत्यता, प्रायिकता-अप्रायिकता, व्यवहार्यता-अव्यवहार्यता, यथार्थता-अयथार्थता और संभावना-असंभावना को हम प्रामाण्य-अप्रामाण्य की कोटियाँ कह सकते हैं। प्रायः प्रामाण्य की दो ही कोटियाँ, अर्थात् मात्र सत्यता और असत्यता, मानी जाती हैं। किन्तु इन दोनों कोटियों के अतिरिक्त भी उपर्युक्त कोटियाँ हैं और ये दो कोटियाँ हैं और ये दो कोटियाँ सर्वसंग्राहक नहीं है। यद्यपि उपर्युक्त कोटियों के पाँचों युग्मों में भिन्न-भिन्न प्रतिमान हैं, जिन्हें हम प्रामाण्य के विविध आयाम कह सकते हैं, तथापि उनको हम प्रामाण्य-अप्रामाण्य के एक तारतम्य में रख सकते हैं। इस तारतम्य को जानने के लिए अप्रामाण्य से चलना सरल है।

स्पष्ट है कि सबसे बड़ा अप्रामाण्य असंभावना का है, क्योंकि यह बुद्धि से अगोचर है और इस कारण इसकी न तो कल्पना की जा सकती है और न इसके बारे में कुछ कहा जा सकता है। यह विशुद्ध बकवास है। इसके अनन्तर हम अव्यवहार्यता को ले सकते हैं। जिस विषय का प्रामाण्य मात्र व्यवहार्यता पर निर्भर है उसकी अव्यवहार्यता असंभावना के समीपतर है फिर बुद्धि जिस विषय का कुछ भी व्यवहार नहीं करती उसका होना और न होना दोनों बराबर हैं। वह यदि अर्थ शून्य नहीं तो अर्थ शून्यवत् अवश्य है। इस कारण अव्यवहार्यता असंभावना के सन्निकट है। किन्तु यह उससे अधिक प्रामाणिक है क्योंकि यह अचिंत्य नहीं है।

अव्यवहार्यता के पश्चात् हम असत्य को ले सकते हैं। असत्य वह है जो स्वयं बाधित हो जाता है। वह अप्रमाण है। किन्तु उसका अप्रामाण्य अचिन्त्य नहीं है। वह चिन्त्य है। जो विषय असत्यापित होता है उसका ग्रहण होता है, परीक्षण होता है और असत्यापन के पूर्व कुछ उपयोग भी होता है। इस प्रकार वह बिल्कुल अप्रामाणिक नहीं है। वह असंभावना और अव्यवहार्यता से उच्चतर है। पुनश्च, असत्यता से भी उच्चतर अयथार्थता है, क्योंकि जहाँ असत्यता बाध है वहाँ अयथार्थता मात्र प्रतिकूलता है। जो विषय अपने प्रमाणीकरण के प्रतिकूल रहता है वह अयथार्थ कहा जाता है और जो उससे बिल्कुल नष्टप्राय हो जाता है वह असत्य कहा जाता है। इस प्रकार अयथार्थता असत्यता से अधिक प्रामाणिक है।

अयथार्थ के पश्चात् हम संभावना को ले सकते हैं। संभावना अप्रामाण्य और प्रामाण्य दोनों हो सकती है। किन्तु वह दोनों से भिन्न है। वह दोनों के मध्य में है। संभावना से लेकर असंभावना तक पाँच अप्रामाण्य के स्तर हैं। और संभावना से ही वास्तव में प्रामाण्य का स्तर आरंभ होता है।

संभावना से अधिक प्रामाणिक अप्रायिकता है। जो वस्तु एक बार भी घटती है वह अप्रायिक

है। किन्तु संभावना तो वह है जो यद्यपि एक बार भी नहीं घटती है तथापि जिसकी घटना का कोई अवरोधक नहीं है। अत: स्पष्ट है कि अप्रायिकता संभावना से अधिक प्रामाणिक है।

फिर जो व्यवहार्य है वह अप्रायिक से अधिक प्रामाणिक है क्योंकि वह जितना उपयोगी है उतना अप्रायिक विषय नहीं। और, व्यवहार्य विषय से भी अधिक प्रामाणिक वे विषय हैं जो यथार्थ हैं क्योंकि यथार्थ विषयों का जितना स्पष्ट और सुसंगत ज्ञान होता है उतना मात्र व्यवहार्य विषयों का नहीं। किन्तु यथार्थ विषय उतने प्रामाणिक नहीं हैं जितने प्रायिक विषय, क्योंकि यदि प्रायिक विषय सत्यप्राय हैं, अर्थात् सत्य के समीपतर हैं, तो यथार्थ विषय केवल सत्य के अनुकूल हैं। इस प्रकार प्रायिकता यथार्थता से अधिक प्रामाणिक है। अन्तत: सत्य का प्रामाण्य है जो सबसे बड़ा प्रामाण्य है और जिसका लक्षण कभी बाधित न होना है।

हम प्रामाण्य को ऊपर और अप्रामाण्य को नीचे रखकर सत्यता से लेकर असंभावना तक की कोटियों को एक तारतम्य में रख सकते हैं जो इस प्रकार का होगा -

प्रामाण्य :- १. सत्यता २. प्रायिकता ३. यथार्थता ४. व्यवहार्यता ५. अप्रायिकता ६. संभावना ७. अयथार्थता ८. असत्यता ९. असंभावना १०. अप्रामाण्य।

अब यह जानना आवश्यक है कि प्रामाण्य का तारतम्य बुद्धि का आवश्यक व्यापार है। बुद्धि के पास जितने प्रत्यय हैं यदि वह उन सब को एक ही कसौटी पर कसने लगें तो अनेक प्रत्ययों का सत्यानाश हो जाय। जो लोग प्रामाण्य के तारतम्य का परीक्षण करते है उनका सिद्धान्त नितांत वितथ है। प्रत्ययों के विभिन्न स्रोत या साधन, जिनसे वे प्राप्त होते हैं और उनके विभिन्न व्यापार तथा उपयोग इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि उनके प्रामाण्य के विविध आयाम हैं।

अन्त में हम बुद्धि के एक और लक्षण पर विचार करें। यह लक्षण है प्रयोजन। बुद्धि नित्य प्रयोजनवती है। वह कभी निष्प्रयोजना व्यापार नहीं करती। ज्ञान के विषयों को प्राप्त करने में उसका प्रयोजन है उनका अर्थ करना, उनको एकीकृत करना और यथाशक्ति उनको व्यवहार्य बनाना। एकीकरण के ही परिप्रेक्ष्य से वह किसी दार्शनिक संस्थान की उद्‌भावना करती है। किन्तु इस उद्‌भावना से उसके व्यापार की इतिश्री नहीं हो जाती। वह अनिवार्यत: कर्मोन्मुख है इसीलिए बुद्धि को कर्मानुसारिणी (बुद्धि: कर्मानुसारिणी), अर्थात् कर्म का अनुसरण करने वाली, कहा गया है। यहाँ कर्म का अर्थ प्रारम्भ कर्म नहीं किन्तु वह प्रयत्न-व्यापार है जो बौद्धिक प्रयोजन के फलस्वरूप प्रादुर्भूत होता है। इससे प्रकट है कि बुद्धि मात्र ज्ञाता नहीं अपितु कर्त्ता भी है।

प्राय: प्रयत्न को इच्छा का व्यापार कहा जाता है और बुद्धि तथा इच्छा में केवल भेद ही नहीं प्रत्युत पार्थक्य भी किया जाता है। इसके कारण बुद्धि को मात्र ज्ञाता माना जाता है। किन्तु इतने पर भी कहा जाता है कि बुद्धि अपने सामने एक प्रयोजन रखती है। अब प्रश्न है कि यदि बुद्धि प्रयोजन रख सकती है तो क्या वह कर्त्ता नहीं है ? जो लोग कहते हैं कि बुद्धि प्रयोजनवती होते हुए भी कर्त्ता नहीं है उनके मत से बुद्धि अपने प्रयोजन को कार्यान्वित नहीं कर सकती। फिर उनके मत से इच्छा ज्ञानस्वरूपिणी नहीं है और इसलिए उसके सामने बुद्धि का प्रयोजन उपस्थित नहीं हो सकता। फलत: बुद्धि का प्रयोजन कार्यान्वयन से नित्य वंचित रहता है। यह है कोरा बुद्धिवाद और कोरा इच्छावाद का विभेद जो प्रथम को पंगु या निष्क्रिय बना देता है और द्वितीय को अन्ध या अज्ञ।

क्या प्रयोजन की उद्‌भावना यह सिद्ध नहीं करती कि बुद्धि मात्र ज्ञाता न होकर कर्त्ता भी है ? यदि बुद्धि प्रयोजन कर सकती है तो यह कहना कि वह अपने प्रयोजन के कार्यान्वयन में अग्रसर नहीं हो सकती, हास्यास्पद है। प्रयोजन में ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति का सम्मेलन होता है। इस कारण प्रयोजन की उद्‌भावना ही उसके कार्यान्वयन की संभावना है। इस संभावना को चाहे इच्छा कार्यान्वित

करें या चाहे बुद्धि, किन्तु मूलत: दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इच्छा-बुद्धि या बुद्धि-इच्छा का मौलिक व्यापार अपने समक्ष एक प्रयोजन प्रस्तुत करना है। जब प्रयोजन के कार्यान्वयन में व्यापार आरम्भ होता है तो हम इस व्यापार करने वाली शक्ति को इच्छा कह देते हैं। किन्तु प्रयत्न करने वाली शक्ति की मूल प्रेरणा या प्रवर्त्तना वह बुद्धि है जो प्रयोजन प्रस्तुत करती है।

बुद्धि को कर्मानुसारिणी या कर्मपथगामिनी मानने से कोरा बुद्धिवाद दूर हो जाता है और यथार्थ बुद्धिवाद स्पष्ट हो जाता है।

अब प्रयोजन के दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि समस्त ज्ञेय विषयों की प्रागपेक्षा मात्र सामान्यवती बुद्धि या कोरी बुद्धि नहीं प्रत्युत कर्मानुसारिणी बुद्धि या प्रयोजनवती बुद्धि है। विषयों के ज्ञान का आधार जैसे ज्ञानस्वरूपिणी सामान्यवती बुद्धि की विधा है। सत्यत: सप्रयोजनता बुद्धि का वैसा ही अनिवार्य लक्षण है जैसा ज्ञान। इस कारण ज्ञान-विधा प्रयोजन-विधा है। अत: बुद्धि के विषय मात्र ज्ञान-विषय नहीं अपितु प्रयोजन के भी विषय हैं। इस दृष्टि से उनको मात्र विषय या ज्ञेय न कहकर मूल्याँकित विषय या मूल्य (Value) कहा जाता है। कोई ऐसा विषय नहीं जो मूल्याँकित न हो। प्रत्येक विषय का कुछ प्रयोजन या अर्थ (Value) रहता है। इसी कारण से उसको 'अर्थ' कहा जाता है। उनमें से जिसका प्रयोजन निरपेक्ष रहता है उसे परमार्थ कहा जाता है। साधारण अर्थ से लेकर परमार्थ तक अर्थों की एक पद्धति है, एक सोपान है। प्रत्येक विषय इस पद्धति के किसी अर्थ का स्थान या अधिष्ठान या निमित्त है। इसी कारण हम उसको वस्तु कहते हैं। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वस्तु-पद मूलत: उपपद था और कथावस्तु, व्रणवस्तु, कपिलवस्तु, वादवस्तु, धर्मवस्तु, आदि समस्त पदों में व्यवहृत होता था। इन प्रयोगों में वह अधिष्ठान या आश्रय का वाचक था। उदाहरण के लिए कपिल के अधिष्ठान को कपिलवस्तु, व्रण के अधिष्ठान को व्रणवस्तु और कथा के अधिष्ठान को कथावस्तु कहा जाता था। इस प्रयोग के अनुसार ही प्रत्येक विषय को अर्थवस्तु या अर्थ अर्थात् मूल्य का अधिष्ठान कहा जाने लगा। परन्तु क्योंकि सभी विषय किसी-न-किसी अर्थ के अधिष्ठान हैं इस कारण इन विषयों को मात्र वस्तु पद से संकेत किया गया और जिन अर्थों के ये अधिष्ठान थे उनका प्रत्याहार कर दिया गया। इस प्रकार वस्तु शब्द उपपद से पद बना और मात्र अधिष्ठान के वाचक से अधिष्ठाता का वाचक हो गया। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि यह शब्द मूलत: और यथार्थत: वास-स्थान का वाचक है और प्रत्येक विषय को वस्तु इसलिए कहा जाता है कि वह किसी-न-किसी अर्थ या प्रयोजन का वासस्थान है।

वस्तुवाचक पदों में यथार्थ और तथ्य का भी उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। यथार्थ का भी तात्पर्य वह विषय है जो अर्थ के अनुकूल अर्थात् अर्थ-जैसा या यथा-अर्थ हो। प्रत्येक विषय यदि किसी अर्थ के अनुकूल है तो नि:सन्देह वह यथार्थ है। फिर, उसी को तथ्य इसलिए कहा जाता है कि वह याथातथ्य है अर्थात् तथता के अनुकूल है। तथता परमार्थ या परम मूल्य का वाचक है क्योंकि वह जैसा है-वैसा ही है। वह अद्वितीय है। तथता का तात्पर्य अर्थों के उस सोपान से भी हो सकता है जिसमें सभी अर्थ स्थाने या यथास्थान हैं। इस प्रकाश शेष विषयों के लिए हमारी भाषा में जितने पद हैं वे सब इस बात के प्रमाण हैं कि वे मात्र कोरे ज्ञान के विषय नहीं है अपितु प्रयोजनवान ज्ञान या सार्थक ज्ञान के विषय हैं। दूसरे शब्दों में वे मूल्याँकित वस्तुएँ हैं या अर्थ हैं। अत: ज्ञान मात्र विषयाकारक नहीं है। वह अर्थ ग्रहण है।

किन्तु इस समय कुछ लोग वस्तु, तथ्य, यथार्थ और अर्थ को ही नहीं प्रत्युत परमार्थ को भी मात्र विषय के रूप में प्रयोग करते हैं। वस्तु-पद मात्र अधिष्ठान का वाचक होने से इस रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। किन्तु कैसे तथ्य, यथार्थ, अर्थ और परमार्थ पद मात्र विषय के वाचक हो सकते हैं, यह बुद्धि के ग्रहण से परे है। ये पद किसी मूल्यांकन या मानांकन व्यापार के कर्म हैं। जो अर्थकर है वह अर्थ है; जो

तथता के योग्य या अनुरूप है वह तथ्य है, जो अर्थ के अनुकूल है वह यथार्थ है, और जो अर्थ के परम अनुकूल है वह परमार्थ है। इस प्रकार प्रत्येक पद अपने मानांकन का संकेत करता है। इतने पर भी जो लोग इन पदों का प्रयोग मात्र विषयाकारक रूप में करते हैं उन्हें भाषा का अनर्थ करने वाला न समझा जाय तो और क्या समझा जाय ?

प्रत्येक वस्तु के अर्थ को जानना वास्तव में उस अर्थ या प्रयोजन को जानना है जिसका वह अधिष्ठान है। स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु का यह अर्थ बुद्धि ही बतला सकती है और प्रत्यक्ष इसकी सूचना कदापि नहीं दे सकता। कारण, उस अर्थ को जानने में सामान्य और प्रयोजन का ज्ञान निहित है और यह ज्ञान बुद्धि की वह उपज्ञा है जो प्रत्यक्ष की सीमा के परे है।

यह कहना कि प्रत्यक्ष के विषय मात्र संवेद्य गुणों के संघात हैं और वे अर्थ या प्रयोजन के वास-स्थान नहीं है, समस्त बौद्धिक ज्ञान के विरुद्ध है। यदि हम उनको संवेद्य गुणों का संघात भी मानें तो हमें मानना पड़ेगा कि इस संघात का सूत्र वह प्रयोजन है जो उनके अर्थ को निर्धारित करता है। बिना इस प्रयोजन-सूत्र के उनका विश्लेषण करना वास्तव में मन के लड्डू खाना है।

अब हम इस चर्चा को और आगे न बढ़ाकर यहीं समाप्त करना चाहते हैं। बुद्धिवाद के मूलभूत सिद्धान्तों का हमने विवेचन कर लिया है। उपसंहार में यह कहना अनावश्यक न होगा कि बुद्धिवाद का मुख्य लक्ष्य ज्ञान विषयों को स्पष्ट करना, उनका सत्यापन करना तथा उनके प्रयोजन या अर्थ को दिखलाकर हमें सच्ची देशना और प्रवर्तना या कर्म करने की प्रेरणा देना है। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि ज्ञान, प्रयत्न तथा कथन के प्रमाणीकरण का एक मात्र आधार बुद्धि गोचरता है। इस सिद्धान्त के विरोध में जो अन्य सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं बुद्धिवाद उनकी आलोचना करता है और इससे लाभ उठाकर अपने को और दृढ़ करता है।

***

परिच्छेद : दो

रमाकान्त त्रिपाठी

रमाकान्त त्रिपाठी

प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी का जन्म (१९१८) पूर्वांचल उत्तरप्रदेश में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रामीण परिवेश में हुई, लेकिन ये किस विद्या संस्थान के स्नातक थे, यह मुझे पता नहीं है। इन्होंने दर्शन में स्नातकोत्तर उपाधि (१९४३) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त किया था। तदुपरान्त इन्हें सीनियर रिसर्च फैलो के रूप में एक वर्ष (१९४३-४४) के लिए अमलनेर आमंत्रित किया गया। उन दिनों इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलासफी, अमलनेर मानो एक दर्शन का सिद्धपीठ माना जाता था। पुन: प्रो. त्रिपाठी ने सियाजीराव गायकवाड़ फैलो (१९४४-४६) के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आकर प्रो. राधाकृष्णन के निर्देशन में स्पीनोजा एवं अद्वैतवेदान्त के तुलनात्मक अध्ययन पर अपना महत्त्वपूर्ण शोध कार्य किया जिस पर उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की डी.लिट्. की उपाधि प्रदान की गई। प्रो. त्रिपाठी ने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत के.आर. कॉलेज, मथुरा से किया जहाँ इन्होंने दो वर्ष (१९४६-४९) तक अध्यापन कार्य किया। पुन: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए जहाँ १९४९ से १९६१ तक लेक्चरर एवं १९६१ से १९७२ तक इन्होंने रीडर के रूप में कार्य किया। इसी दौरान वे लम्बे समय तक ब्रॉक यूनिवर्सिटी, कनाडा में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। प्रो. त्रिपाठी १९७२-७३ में काशी विद्यापीठ, वाराणसी में प्रोफेसर एवं संकायाध्यक्ष भी रहे और पुन: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर (१९७३) नियुक्त होकर १९७५ तक दर्शन विभाग के अध्यक्ष एवं सेन्टर ऑफ एडवांस्ड स्टडीज इन फिलासफी के निदेशक का दायित्व संभाला। इनकी सेवानिवृत्ति १९७८ में हुई। प्रो. त्रिपाठी भारतीय दार्शनिक महासभा के अध्यक्ष (१९७८) एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद के अध्यक्ष (१९७६) भी मनोनीत हुए थे। हिन्दी, अंग्रेजी में इनके अनेकों उच्चस्तरीय आलेख एवं विशिष्ट व्याख्यान राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ - स्पीनोजा इन दि लाइट ऑफ अद्वैत वेदान्त, स्टडीज इन फिलॉसफी एण्ड रेलिजन एवं चतु:सूत्री (हिन्दी व्याख्या) इत्यादि हैं। प्रो. त्रिपाठी की अद्वैतवादी दार्शनिक दृष्टि जितनी मूलगामी थी उतना ही प्राञ्जल उनका प्रतिपादन हुआ करता था। उनके स्वायत्त अद्वैतबोध में शास्त्र अपने दुरुक्त एवं अनुक्त आयामों को सहज ही प्रकट कर देते थे। इनका निधन १९८१ में हुआ। भारत में दर्शन से जुड़े वर्तमान पीढ़ी को ऐसे 'पारस दार्शनिक' के पुनरागमन की आशा करनी चाहिए।

*

दार्शनिक विधि

दार्शनिक जगत् में आजकल जितनी आत्मचेतना पाई जा रही है वैसी पहले कभी न थी। आज का दार्शनिक जगत् और आत्मा के विषय में, या सत्यासत्य के विषय में, उतना विचार नहीं कर रहा है जितना अपने विषय में या दर्शन के विषय में। कभी अपनी भाषा के विषय में तो कभी अपने उद्देश्य के विषय में और कभी अपनी विधि के विषय में विचार करना भी दर्शन ही है। फिर भी इस विचार का स्तर दूसरा है, यह दर्शन का आत्म-परीक्षण है और आज का युग वास्तव में दर्शन के आत्म-परीक्षण का युग है। इसे हम एक तरफ तो दर्शन के अन्तर्गत किसी भयावह स्थिति का द्योतक समझ सकते हैं और दूसरी ओर इसे एक शुभ लक्षण भी कह सकते हैं, क्योंकि समय-समय पर आत्म-परीक्षण करना हितकर ही होता है। दर्शन के इतिहास में इस प्रकार का आत्म-परीक्षण पहले भी कई बार हो चुका है और परिणाम अच्छा ही रहा है। उदाहरणार्थ कांट का दर्शन एक प्रकार के आत्म-परीक्षण का ही परिणाम है। इस निबन्ध में मैं दर्शन के उद्देश्य अथवा भाषा की समस्या के विषय में कुछ न कह कर केवल दर्शन की विधि के विषय में अपना विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

दार्शनिक क्षेत्र में आज विधि की दृष्टि से एक प्रकार की अराजकता फैली हुई है। कोई भी ऐसी निश्चित विधि नहीं है जिसे अपनाना प्रत्येक दार्शनिक के लिए अनिवार्य हो। इस क्षेत्र के खिलाड़ियों के लिए न तो कोई नियम है और न कोई अनुशासन। इस खेल को भाषा-विश्लेषक एक प्रकार से खेलता है तो अस्तित्त्ववादी दूसरी तरह से। एक समय था जब दर्शन भी गणित और विज्ञान के समान सर्वमान्य होने की आकांक्षा रखता था और गणितज्ञ और वैज्ञानिक भी दर्शन के प्रति श्रद्धा रखते थे, परन्तु आज के दार्शनिकों का खिलवाड़ देखकर वैज्ञानिकों के मन में संदेह होता है कि दर्शन वास्तव में ज्ञान की दृष्टि से आदर का पात्र है कि नहीं ? दर्शन के क्षेत्र में व्यक्तिगत रुचिवाद चल पड़ा और व्यक्तिगत रुचि ने सत्य का स्थान ग्रहण कर लिया है। दर्शन का न तो कोई निश्चित उद्देश्य जान पड़ता है न कोई निश्चित विधि। जैसे साहित्य और कला के क्षेत्र में नवीनता के प्रति आकर्षण होता है वैसे ही दर्शन के क्षेत्र में सत्य की अपेक्षा नवीनता अधिक आकर्षक हो गई है।

हमारा यह कहना नहीं है कि प्रत्येक दर्शन एक ही विधि को अपनाये, क्योंकि यह सत्य है कि दर्शन-विशेष और उसकी विधि का घनिष्ट सम्बन्ध है। हम जिस प्रकार का दर्शन चाहेंगे उसी के अनुरूप विधि अपनायेंगे। दार्शनिक दृष्टिकोण पहले आता है और तत्सम्बन्धी विधि पीछे, या यों भी कह सकते हैं कि विधि-विशेष एक दार्शनिक दृष्टिकोण का अंग है। इसी से विभिन्न दार्शनिकों के विचार विधि या प्रमाण आदि के विषय में विभिन्न मत होते हैं। यदि कोई इन्द्रिय-जन्य अनुभव को ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानता है तो उसकी विधि एक होगी और दूसरा कोई यदि बुद्धि को ज्ञान का साधन मानता है तो उसकी विधि दूसरी होगी। यदि किसी के लिये दर्शन केवल भाषा का विश्लेषण है तो उसकी विधि वर्णनात्मक विश्लेषण वाले दार्शनिक की विधि से अवश्य ही भिन्न होगी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जैसा दर्शन वैसी उसकी विधि। दर्शन और दार्शनिक विधि की इस व्यक्तिगत विभिन्नता के बीच

भी हमकों कुछ ऐसी बातें दिखाई पड़ती हैं जिनको हम सर्वमान्य कह सकते हैं। अत: हम विभिन्न दार्शनिक विधियों के फेर में न पड़ कर केवल उन नियमों या सिद्धान्तों की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे जो हमको सर्वमान्य जान पड़ते हैं।

हमारी दृष्टि में, प्रत्येक दार्शनिक दो काम अवश्य करता है, चाहे वह उसे व्यक्त रूप से करे चाहे अव्यक्त रूप से। एक को कहते हैं खंडन और दूसरे को कहते हैं मंडन। हमारी दार्शनिक मान्यतायें चाहे जो भी हों और उनको हम चाहे जैसे भी प्रस्तुत करते हों, खंडन और मंडन ये दोनों हमारे दार्शनिक विचारों में सर्वदा निहित रहते हैं। ये दोनों क्रियायें परस्पर संबद्ध हैं। यद्यपि कभी-कभी ऐसा दिखाई पड़ता है कि कोई दार्शनिक केवल खंडन में ही रत रहता और दूसरा खंडन की ओर कम ध्यान देकर मंडन पर विशेष ध्यान देता है। वास्तव में खंडन तो मंडन के उद्देश्य से किया जाता है और किसी विचार का मंडन करते समय कुछ अन्य विचारों का खंडन करना ही पड़ता है। ऐसा कोई दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है जिसमें खंडन और मंडन दोनों न हों। चाहे वर्णनात्मक विश्लेषण हो, चाहे भाषा - विश्लेषण हो, उनमें परोक्ष या अपरोक्ष रूप से खंडन और मंडन दोनों वर्तमान रहते हैं। कुछ लोग माध्यमिक को केवल वितण्डावादी कहते हैं। परन्तु वे यह नहीं समझते कि माध्यमिक यदि केवल वितण्डावादी होता तो वह परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य में भेद कैसे करता ? सभी दृष्टिकोण या विचार मात्र माध्यमिक के लिए असत्य है, क्योंकि सभी आत्म-विरोधी हैं। इससे माध्यमिक यह सिद्ध करना चाहता है कि तत्त्व विचार के परे है। अत: यह कहना यथार्थ जान पड़ता है कि प्रत्येक दर्शन में खंडन और मंडन दोनों होते हैं। पहले हम खंडन पर विचार करेंगे और फिर मंडन पर।

किसी भी दार्शनिक विचार की दो सबसे बड़ी आवश्यकतायें हैं : एक तो यह कि वह विचार तर्कसंगत हो और दूसरे यह कि वह सत्य या प्रामाणिक हो। तर्कसंगत होने का अर्थ यह है कि वह विचार आत्म-विरोध से मुक्त हो। कभी-कभी तर्कसंगतता को ही यथार्थता का लक्षण समझ लिया जाता है, परंतु वास्तव में दोनों में भेद है। तर्कसंगतता केवल रूप-विषयक लक्षण है, और यद्यपि सत्य के लिये तर्कसंगतता या अविरोध अनिवार्य है किंतु यह पर्याप्त नहीं है। अत: यह यह कहा जा सकता है कि यदि कोई विचार असंगत है तो वह असत्य है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि जो संगत है वह सत्य भी है, क्योंकि संगतता तो कल्पना और गल्प के क्षेत्र में भी पाई जा सकती है परंतु उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। किसी भी दर्शन या विचार को केवल तर्कसंगतता के आधार पर सत्य नहीं कहा जा सकता है परंतु उसे असत्य करार देने के लिये असंगत सिद्ध कर देना पर्याप्त है। अत: किसी विचार के खंडन के लिये असंगतता - प्रदर्शन को हम एक सफल विधि कह सकते हैं। दर्शन के क्षेत्र में आत्म-विरोध के अतिरिक्त अन्य दोष भी, जैसे चक्रक, अनवस्था, आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय आदि माने गये हैं, परंतु मेरी दृष्टि में उन सबमें प्रधान आत्म-विरोध ही है।

जब हम यह कहते हैं कि आत्मविरोध-प्रदर्शन ही खंडन की एकमात्र सफल विधि है तो हमारा तात्पर्य यह है कि दर्शन के क्षेत्र में खंडन की कुछ अन्य प्रचलित विधियाँ वास्तव में सफल नहीं कही जा सकती हैं। जैसे किसी नये या अपवादात्मक तथ्य की खोज में किसी दर्शन का खंडन नहीं किया जा सकता है। वस्तुवाद (रीयलिज्म) और प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) का खंडन किसी तथ्य के आधार पर नहीं किया जा सकता। प्रत्येक दर्शन में इस बात की क्षमता होती है कि वह अपवादों की व्याख्या अपने अनुकूल कर ले और उन्हें अपने भीतर समाविष्ट करने का रास्ता निकाल ले। दर्शनों का खंडन बाहर से नहीं उनके भीतर से आत्मविरोध दिखाकर ही किया जा सकता है। विज्ञान में नये तथ्यों की खोज का जो महत्त्व है दर्शन में उनका वह महत्त्व नहीं है। विज्ञान में तथ्यों के आधार पर ही किसी कल्पना की सफलता या असफलता निर्भर करती है। परंतु दर्शन के सिद्धान्त तथ्य पर अवलंबित आगमन वाक्य नहीं

हैं। दर्शन की तुलना विज्ञान से करना भयंकर भूल है। दर्शन तो एक दृष्टि है जिसके माध्यम से हम प्रत्येक तथ्य को देखते हैं, दृष्टि का प्रभाव तथ्य पर पड़ता है न कि तथ्य का दृष्टि पर। कोई भी वैज्ञानिक दार्शनिक वाक्यों को वैज्ञानिक वाक्य नहीं समझता, भले ही कुछ दार्शनिक इस प्रकार की भूल करते हों। जो लोग यह मांग पेश करते हैं कि प्राचीन दर्शनों को आधुनिक विज्ञान की खोज के आधार पर सुधारना चाहिए वे वास्तव में दर्शन का अर्थ नहीं समझते।

खंडन का एक दूसरा तरीका भी, जो काफी प्रचलित है, हमें ठीक नहीं जँचता। कुछ लोग एक परिभाषा या मापदंड मान लेते हैं और जो विचार उस मापदंड के अनुरूप नहीं होता उसे अयथार्थ करार देते हैं। जैसे, सत् अर्थक्रियाकारी है, इस मापदंड के अनुसार अन्य परिभाषाओं को असंतोषजनक बताना। इस विधि में सबसे बड़ा दोष यह है कि स्वीकृत मापदंड या परिभाषा मनमानी जान पड़ती है। किसी एक मापदंड को अन्य मापदंडों से श्रेष्ठतर क्यों समझा जाय, अथवा उसको स्वीकार करना अनिवार्य कैसे ? एक मापदंड के स्वीकार कर लेने मात्र से दूसरे मापदंड अप्रामाणिक नहीं हो जाते। आधुनिक युग में पॉजिटिविज्म ने खंडन की जो विधि अपनाई है वह इसी प्रकार की मालूम पड़ती है। वाक्यार्थ के विषय में उनकी एक मनमानी कल्पना है और उसके आधार पर वे तत्त्वज्ञान संबंधी सारे वाक्यों को निरर्थक करार देते हैं। उनके अनुसार वाक्यार्थ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इंद्रिय-अनुभवगम्य होना चाहिए, किन्तु दार्शनिक वाक्यों के अर्थ अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं होते, अत: वे वाक्य निरर्थक हैं। दार्शनिक वाक्य वैज्ञानिक वाक्यों से भिन्न हैं अत: वे निरर्थक हैं, ऐसा कहना अर्थ का अनर्थ करना है। पॉजिटिविस्ट का यह तरीका आत्मघाती है, क्योंकि वाक्यार्थ की दूसरी परिभाषा देकर कोई यह भी कह सकता है कि पॉजिटिविज्म स्वयं निरर्थक है। दर्शन के क्षेत्र में स्वेच्छावादिता खतरनाक होती है। जब तक किसी सिद्धांत की यथार्थता या अनिवार्यता निश्चित रूप से सिद्ध न हो जाय तब तक उस आधार पर अन्य सिद्धांतों का खंडन स्वेच्छाचारिता है, जो स्वयं उसी प्रकार की स्वेच्छाचारिता का शिकार हो सकती है।

भारतीय दर्शन में खंडन का एक तीसरा तरीका भी अपनाया गया है और वह तरीका है एक प्रमाण के आधार पर दूसरे प्रमाण का खंडन। प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान का और अनुमान के आधार पर प्रत्यक्ष का भी खंडन किया जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर श्रुति का भी तिरस्कार किया जाता है। प्रमाणों की दार्शनिक उपादेयता का प्रश्न हम आगे चलकर उठायेंगे। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन या मंडन होता है न कि खंडन। जब खंडन एक प्रमाण को दूसरे से प्रबलतर मानकर किया जाता है तो कई प्रश्न उठते हैं। सर्वप्रथम किसी स्थिति विशेष में किस प्रमाण को श्रेष्ठतर समझा जाय और किसको नहीं। यह प्रश्न तो युक्ति द्वारा ही अलग किया जा सकता है। एक दूसरी कठिनाई भी है। प्रमाण-विप्लववादी बौद्ध यह कह सकता है कि एक प्रमाण का विषय दूसरे प्रमाण के विषय से सर्वथा भिन्न है। अत: एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण द्वारा न तो खंडन ही किया जा सकता है और न मंडन। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रमाण-विशेष को मानता ही न हो तो उस प्रमाण को खंडन का आधार कैसे बनाया जा सकता है ? यदि मीमांसक श्रुति के आधार पर बौद्धों की आलोचना करें और योगानुभव के आधार पर बौद्ध मीमांसक का खंडन करें तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जैसे बौद्ध श्रुति नहीं मानता वैसे ही मीमांसक यौगिक प्रत्यक्ष नहीं स्वीकार करता है। इसी से प्रमाणों में प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ भले ही कहा जाय सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। इसीलिये अंततोगत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खंडन के उपरोक्त तरीके संतोषप्रद नहीं हैं क्योंकि उन सब में कुछ न कुछ सत्य मानकर चलना पड़ता है। खंडन की वही विधि सर्वथा उपयुक्त और सफल मानी जा सकती है जिसमें पहले से कोई ऐसी स्वीकृति या मान्यता न हो जिसे विपक्षी अस्वीकार कर दे। अर्थात् खंडन ऐसे आधार पर

अवलम्बित होना चाहिए जिसे विपक्षी भी अस्वीकार न कर सकें। वह आधार है विरोध या असंगतता का नियम। इसी नियम के आधार पर हम किसी विचार की संगतता सिद्ध करते हैं। इस नियम को अस्वीकार करना आत्म-विरोध स्वीकार करना है। जीवन के क्षेत्र में जिस प्रकार आत्महत्या जैसी मूर्खता नहीं है उसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में आत्म-विरोध के समान कोई दोष नहीं है। इसी से प्रत्येक दार्शनिक अपने विचारों को आत्मसंगत बनाना अनिवार्य समझता है। आत्मसंगतता ही दर्शन के क्षेत्र में अनुशासन का आधार है। आत्मसंगतता की अवहेलना पागलपन का लक्षण है। यदि कोई व्यक्ति आत्म-विरोधी बातें करता है तो या तो हम उसे पागल समझते हैं या यह कल्पना करते हैं कि उसकी आत्म-विरोधी बातों का कोई गहरा अर्थ है। जैसे उपनिषद् जब यह कहते हैं कि आत्मा अणु से भी छोटा और महान से भी महान है तो हम इस विरोधाभास के ऊपर उठकर ब्रह्म के स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं। कुछ दार्शनिकों ने खुले आम दो परस्पर विरोधी वाक्यों को सत्य माना है, फिर भी आत्म-विरोध से बचने के लिये उन्होंने कुछ उपाय ढूंढ़ लिया है। हेगेल ने कहा है कि अस्ति-वाक्य और नास्ति-वाक्य दोनों सत्य हैं, क्योंकि एक उच्चस्तर पर दोनों का समन्वय हो जाता है। जैनों ने अस्ति और नास्ति के सहार्पण को अवक्तव्य कहकर आत्म-विरोध से छुटकारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। कोई भी व्यक्ति, विशेषकर दार्शनिक, आत्म-विरोध के लिए अवकाश नहीं दे सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसे अपने विरोधी विचार के खंडन करने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता है। आत्म-विरोध को अवकाश देने से विचार-जगत् में अराजकता फैल जायेगी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को जो वह चाहेगा कहने की छूट हो जायगी और उसे चुप कराने का कोई उपाय ही न रहेगा। आत्म-विरोध या असंगतता दिखाने के अतिरिक्त चुप कराने का दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

ऐसा कोई विचार नहीं हो सकता जिसका कोई विरोधी विचार न हो। प्रत्येक विचार का एक विरोधी विचार होता है। इसी से प्रत्येक दार्शनिक को खंडन करने की आवश्यकता होती है। जैन लोग भी, जो सभी दृष्टिकोणों को स्वीकार करना चाहते हैं, ऐसे विचारों का खंडन करते हैं जो उनके समन्वयात्मक दृष्टिकोण को उचित और संभव नहीं मानते। परन्तु यह खंडन स्वेच्छा-स्वीकृत मापदंड के आधार पर नहीं हो सकता बल्कि सर्वस्वीकृत अनिवार्य नियम के ही आधार पर हो सकता है। वह नियम केवल आत्म-विरोध का ही नियम है, क्योंकि इसे विपक्षी को भी मानना पड़ता है। भले ही जिसे हम आत्म-विरोधी समझते हैं उसे विपक्षी आत्म-विरोधी न समझे, परंतु ऐसा नहीं हो सकता कि वह जान-बूझकर आत्म-विरोध को आश्रय दे। इस खंडन-विधि की विशेषता यह है कि इसमें जो नियम विपक्षी भी स्वीकार करता है उसके अतिरिक्त तथ्य विषयक किसी प्रकार की मान्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो लोग यह कहते हैं कि माध्यमिक स्वयं जब कोई सत्य या प्रमाण नहीं मानता तो किस आधार पर दूसरों का खंडन करता है, वे यह नहीं समझते कि खंडन किसी प्रमाण या सत्य को स्वीकार करके नहीं किया जा सकता, क्योंकि हो सकता है कि वह प्रमाण या सत्य विपक्षी न मानता हो। खंडन तो केवल आत्म-विरोध के नियम के आधार पर हो सकता है। क्योंकि इस नियम को तो विपक्षी भी अस्वीकार नहीं कर सकता। अत: खंडन का जो तरीका माध्यमिक ने अपनाया है वास्तव में वही खंडन का यथार्थ और सफल तरीका है।

दर्शन में खंडन की अपेक्षा मंडन या स्थापना का प्रश्न अधिक कठिन है। किस उपाय से दर्शन के आधारभूत सिद्धांतों की खोज की जाय और उनको सिद्ध किया जाय ? यह प्रश्न देखने में तो उचित ही जान पड़ता है, परन्तु वास्तव में इनके पीछे दर्शन की एक कल्पना छिपी हुई है। दर्शन किस प्रकार का ज्ञान है ? क्या दर्शन किसी नये ज्ञान की खोज है ? जो लोग ऐसा सोचते हैं वे दर्शन को भी विज्ञान के समान ज्ञानवर्धक समझते हैं। परंतु विचार करने से जान पड़ेगा कि दर्शन ज्ञान-भंडार को नहीं बढ़ाता,

कम से कम उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में विज्ञान बढ़ाता है। दार्शनिक के पास ज्ञान का कोई ऐसा साधन या स्रोत नहीं है जो सबके पास न हो। अत: यह समझना भूल है कि दर्शन विज्ञान द्वारा प्रदत्त ज्ञान में कुछ और जोड़ देता है। दर्शन के पास कोई ऐसा असाधारण साधन नहीं रहता। विज्ञान ही विज्ञान की सीमा बढ़ा सकता है दर्शन नहीं। दर्शन तो, जो ज्ञान अथवा अनुभव हमको प्राप्त है उसका विश्लेषण भर कर सकता है। यह विश्लेषण इसलिये आवश्यक होता है कि हमारे विश्वास-जगत् में ज्ञान के अतिरिक्त और भी तरह-तरह की वृत्तियाँ पाई जाती हैं ; जैसे कल्पना, भ्रम, इच्छा आदि। यदि हमारा सम्पूर्ण अनुभव शुद्ध ज्ञान होता तो हमको भ्रम का दृष्टांत न मिलता और किसी भी अनुभव के भ्रामक होने की शंका तक नहीं होती। भ्रम के अनुभव तथा उसके विश्लेषण से हमको यह जानकारी होती है कि हमारे जीवन में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य विश्वास या वृत्तियाँ भी काम करती हैं। अत: दर्शन की समस्या यह नहीं है कि कोई नया ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय और उसको सिद्ध कैसे किया जाय, बल्कि वास्तव में समस्या यह है कि कैसे ज्ञान को ज्ञान-भिन्न वृत्तियों से पृथक् किया जाय। ज्ञान तो पहले से प्राप्त है, उसे प्राप्त नहीं करना है। यदि ज्ञान पहले से प्राप्त न हो तो उसे प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। सभी दर्शन केवल अज्ञान की निवृत्ति करते हैं न कि नये ज्ञान की उपलब्धि। ज्ञान को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसी से कोई भी दार्शनिक अपने आधारभूत सिद्धान्त को सिद्ध करने में सफल नहीं हो पाता। या तो यह कहा जाता है कि वे सिद्धांत स्वत: सिद्ध हैं या कहा जाता है कि वे अन्तर्बोध से प्राप्त हैं, या कहा जाता है कि उनका मानना अनिवार्य है, अर्थात् बिना उनके माने ज्ञान व्यस्थित हो ही नहीं सकता। प्रत्येक दर्शन में एक ऐसा स्थल आता है जहाँ यह कहना पड़ता कि इसे बिना किसी प्रमाण के मानना पड़ेगा। इस स्वीकृति का, कि कोई ऐसा तत्त्व या सिद्धांत है जिसे बिना किसी प्रमाण के मानना आवश्यक है, दो अर्थ है। एक तो यह कि सत्य पहले से ही हमारे जीवन या अनुभव में अंतर्भूत है, पहले से उसमें छिपा है, उसे बाहर लाने की आवश्यकता नहीं है। दूसरा तात्पर्य यह है कि सत्य, या सत्य का ज्ञान, स्वत:प्रमाणित है। यदि ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य न माना जाय तो किसी भी प्रकार उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी से, ज्ञान क्या है ? यह मालूम हो जाने के बाद उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ज्ञान अनिवार्यत: स्वावलंबी है, स्वत: प्रमाणित और स्वत: प्रकाशित या स्वयंप्रकाश है। यह ध्यान में न रखने के कारण ही हम पूछते हैं कि दार्शनिक ज्ञान की प्रामाणिकता क्या है ? यदि वह ज्ञान है तो उसकी प्रामाणिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: किसी नये ज्ञान की प्राप्ति नहीं करनी है, बल्कि क्या ज्ञान है और क्या नहीं ? इस पर विचार करना है। दर्शन विज्ञान नहीं है।

अस्तु, दार्शनिक सत्य की खोज के लिये न तो कोई पृथक् साधन चाहिए और न सत्य के ज्ञान को सिद्ध करने के लिये प्रमाण। केवल असत्य के निराकरण से सत्य अपने आप चमक उठता है। यहाँ कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि क्या सत्य की खोज के लिए विभिन्न प्रमाण आवश्यक और अनिवार्य नहीं हैं ? सिद्धांतत: दर्शन प्रमाणों पर निर्भर नहीं करता बल्कि प्रमाण दर्शन पर निर्भर करते हैं, क्योंकि प्रमाणों को स्वीकार करने और उनका प्रयोग करने के पहले अनेक प्रश्न उठते हैं जो स्वयं दार्शनिक हैं। सर्वप्रथम तो प्रमाण की परिभाषा को ही लीजिए। प्रमाण वह है जिससे सत्य का ज्ञान हो और सत्य वह है जो प्रमाण द्वारा जाना जाय। इस प्रकार के दोष से छुट्टी कैसे मिलेगी ? फिर प्रमाणों की संख्या तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न है। इन प्रश्नों का उत्तर दार्शनिक दृष्टि से ही दिया जा सकता है। किसी प्रमाण के आधार पर इनका उत्तर नहीं दिया जा सकता।

यदि प्रमाणों को स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी समस्या हल नहीं होती, क्योंकि प्रमाणों की भी एक सीमा है। प्रत्यक्ष की सीमा सर्वविदित है। अनुमान में व्याप्ति विषयक कठिनाई असाध्य जान पड़ती है। यदि व्याप्ति प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है तो हम अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष के आगे नहीं जा सकते।

यदि नहीं, तो व्याप्ति कैसे हो ? उपमान भी प्रत्यक्षावलंबी है। और अनुपलब्धि से केवल अभाव का ज्ञान होता है। शब्द-प्रमाण विवादास्पद है। उसकी मान्यता या तो अनुमान पर अवलम्बित है या श्रद्धा पर। इस तरह हम देखते हैं कि प्रमाणों के आधार पर कोई दार्शनिक सिद्धांत स्थापित नहीं किया जा सकता। प्रमाण दृष्टि नहीं देते बल्कि एक दृष्टि या दर्शन के माध्यम से उनका प्रयोग होता है। प्रमाण अन्तिम सत्य नहीं हैं। उनकी उपादेयता हमारी दार्शनिक दृष्टि पर निर्भर करती है।

यह कहा जा सकता है कि सब प्रमाणों के परे बुद्धि है जो युक्ति द्वारा इन प्रमाणों पर विचार करती है। अत: क्यों न हम युक्ति को ही दर्शन का अंतिम साधन मान लें ? पाश्चात्य दर्शन में इसी कारण से बुद्धिवाद बहुत प्रचलित है। इसके कई रूप हैं। डेकार्ट के अनुसार, बुद्धि में सब प्रकार के ज्ञान पहले से ही संचित हैं ; परन्तु इस मान्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। प्लेटो ने कहा कि सभी ज्ञान एक प्रकार की स्मृति है, परन्तु स्वयं इस सिद्धांत का ज्ञान स्मृति नहीं कहा जा सकता। हेगेल ने बुद्धि और तत्त्व का तादात्म्य स्थापित किया, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जाय तो तत्त्व का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। परन्तु यदि हेगेल से पूछा जाय कि बुद्धि और तत्त्व एक हैं, यह ज्ञान कैसे मिला, तो उचित उत्तर नहीं मिलता। बुद्धिवाद के विरूद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यह केवल प्रत्ययों के आधार पर तत्त्व की प्राप्ति करना चाहता है क्योंकि बुद्धि का विषय केवल प्रत्यय है। तत्त्व तो अनुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, केवल प्रत्यय द्वारा नहीं। इसी से भारतीय दर्शन में युक्ति के साथ-साथ अनुभव का रहना आवश्यक कहा गया है। बुद्धिवाद के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि बुद्धि के विषय में जो हमारी कल्पना है वह स्वयं एक दर्शन का परिणाम है। बुद्धि का स्वरूप क्या है, यह दर्शन द्वारा निश्चित होता है।

बुद्धिवाद के खंडन से हमारा तात्पर्य बौद्धिक प्रक्रिया के खंडन से नहीं है। हमारा कहना केवल यही है कि बुद्धि को ज्ञान का स्रोत भण्डार नहीं कहा जा सकता। बौद्धिक प्रक्रिया बुद्धिदत्त ज्ञान नहीं है, वह तो प्रक्रिया मात्र है। यदि हम बौद्धिक प्रक्रिया को भी न मानेंगे तब तो हम किसी विचार का खंडन भी नहीं कर सकते। बुद्धिवाद के खंडन के लिये भी बौद्धिक प्रक्रिया की आवश्यकता है। अत: बुद्धिवाद और प्रक्रिया में भेद है। चाहे हम जिस किसी निष्कर्ष पर पहुँचे, वह बौद्धिक प्रक्रिया पर ही अवलम्बित होगी। अत: बौद्धिक प्रक्रिया तो माननी पड़ेगी। प्रश्न इतना है कि इस बौद्धिक प्रक्रिया से केवल खंडन मात्र ही हो सकता है या कोई भावात्मक ज्ञान भी। मेरे विचार में दो बौद्धिक प्रक्रियायें ऐसी हैं जो भावात्मक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो सकती हैं और जिनका प्रयोग परोक्ष या अपरोक्ष रूप से प्राय: सभी दार्शनिक करते हैं। इन प्रक्रियाओं की भी सीमायें हैं, फिर भी वे उपयोगी हैं। अत: उनके विषय में विचार करना आवश्यक है।

एक प्रक्रिया को हम निराकरण विधि या अवशेष विधि कह सकते हैं और दूसरी है अर्थापत्ति। अवशेष विधि का स्वरूप यह है कि यदि किसी स्थिति विशेष में सीमित विकल्प हों और वे हमें ज्ञात हों तो क्रमश: निराकरण के उपरांत जो अवशेष रहे अथवा जिसका निराकरण न किया जा सके वह विकल्प मान्य होता है। इस विधि की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न विकल्पों की संख्या सीमित हो, सभी विकल्प ज्ञात हों और निराकरण की प्रक्रिया सफल हो। यदि विकल्पों की संख्या सीमित नहीं है, अथवा यदि सभी विकल्प ज्ञात नहीं हैं तो निराकरण अधूरा रह जायगा। और अवशिष्ट विकल्प को मानना अनिवार्य न होगा। अन्य विकल्पों की संभावना मात्र से अवशेष विधि से प्राप्त निष्कर्ष दुर्बल हो जाता है। वैसे ही यदि निराकरण संदिग्ध और असफल हो तब भी अवशिष्ट विकल्प का कोई मूल्य न होगा। विभिन्न दार्शनिकों ने इस विधि का उपयोग किया है किन्तु वे सफल उसी हद तक हुए हैं जिस हद तक विकल्प नि:शेष रूप से ज्ञात रहे हैं और उनके निराकरण असंदिग्ध। प्लेटो ने डाइलेक्टिक को विकल्पों के निराकरण की विधि कहा है। शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि आत्मा को मानना अनिवार्य है

क्योंकि उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है। न्याय दर्शन इसी पद्धति से असीम विभाजन का निराकरण करके सीमित विभाजन के आधार पर अणु की स्थापना करता है।

अवशेष विधि यद्यपि प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दर्शनों में पर्याप्त रूप से प्रचलित है फिर भी इसे हम सर्वथा निर्दोष नहीं कह सकते। इसका एक प्रधान दोष यह है कि अवशिष्ट विकल्प ही एकमात्र सत्य है, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्शन में विकल्पों का नि:शेष रूप से ज्ञात होना सम्भव नहीं है, और यदि हो भी तो अवशिष्ट विकल्प सर्वथा दोषमुक्त है, यह निश्चय नहीं हो सकता। माध्यमिक दार्शनिक सभी विकल्पों को दोषपूर्ण सिद्ध करके तत्त्व को विचारमात्र से परे सिद्ध करते हैं, अर्थात् अवशेष विधि यदि सफल भी हो तब भी इस मान्यता पर अवलम्बित है कि तत्त्व बुद्धि-गम्य है। परन्तु इस मान्यता के लिए हमारे पास क्या प्रमाण है ? यदि हम अवशिष्ट विकल्प को स्वीकार भी करें तो भी वह एक सम्भावना मात्र के रूप में ही हो सकता है। केवल बौद्धिक प्रक्रिया के आधार पर सम्भावना से आगे हम नहीं जा सकते। सम्भावना के आगे जाने के लिए अनुभव की आवश्यकता होती है। अनुभव के आधार पर ही वास्तविकता का ज्ञान हो सकता है।

अवशेष विधि की तरह अर्थापत्ति का भी प्रयोग ज्ञात या अज्ञात रूप से दर्शन में बहुत पाया जाता है। कभी-कभी तो इसे अनुमान कहने की भूल भी की जाती है। उदाहरणार्थ, कहा जाता है कि सौत्रांतिक दर्शन में बाह्यार्थ की सिद्धि आनुमानिक है। परन्तु वास्तव में वहाँ अर्थापत्ति का प्रयोग जान पड़ता है। वहाँ किसी व्याप्ति का प्रयोग नहीं है। अनुमान बिना व्याप्ति के भी होता है जैसे क, ख से बड़ा है और ख, ग से बड़ा है अत: क, ग से बड़ा है ; परन्तु अर्थापत्ति में दो वाक्यों के आधार पर निष्कर्ष नहीं निकाला जाता है बल्कि दो वाक्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक तीसरे वाक्य की कल्पना की जाती है। जिस कल्पना के स्वीकार किये बिना दो तथ्यों का बेमेलपन दूर न किया जा सके उस कल्पना को सत्य मानना आवश्यक है। जब हमारे सामने दो ऐसे तथ्य प्रस्तुत होते हैं जिन दोनों को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि एक तीसरे तथ्य को भी न स्वीकार कर लिया जाय तो उस प्रक्रिया को अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे रज्जू-सर्प सत् नहीं हो सकता क्योंकि बाधित होता है, और असत् भी नहीं हो सकता क्योंकि दिखाई पड़ता है, अत: अर्थापत्ति की जाती है कि वह अवश्य ही सद्-असद् विलक्षण है। इस प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए चार बातों की आवश्यकता है। प्रथम, हमको दो असंदिग्ध तथ्य मालूम होने चाहिए। द्वितीय, उन दोनों तथ्यों को बेमेल होना चाहिए। तृतीय, उस तीसरे तथ्य का ज्ञान, जो उन दोनों का सामंजस्य स्थापित करता है, हमको अन्य किसी साधन से प्राप्त नहीं होना चाहिए। चतुर्थ, इस तीसरे तथ्य का कोई विकल्प नहीं होना चाहिए। अन्य विकल्पों की संभावना मात्र से अर्थापत्ति दूषित हो जायगी। इन चारों आवश्यकताओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विधि का प्रयोग कितना कठिन और सीमित है। अवशेष विधि की तरह अर्थापत्ति भी हमारे बौद्धिक प्रत्ययों या विकल्पों तक ही सीमित रहती है।

खंडन और मंडन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दर्शन की विधि की समस्या स्वयं एक दार्शनिक समस्या है और यह समस्या किसी ऐसे दृष्टिकोण से हल नहीं की जा सकती जो स्वयं किसी दर्शन विशेष का अंग न हो। संभवत: खंडन के लिए किसी दार्शनिक दृष्टि की आवश्यकता नहीं है। विरोध का नियम सब को मानना अनिवार्य है। दर्शन में विरोध का ही नियम मान्यता-निरपेक्ष नहीं हो सकता। अत: मंडन की कोई सार्वभौम सफल विधि नहीं दिखाई पड़ती है।

हमारी यह धारणा है कि कोई भी मंडनात्मक दर्शन अपनी आधारशिला को अपने दर्शन के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकता। प्रत्येक दर्शन का अंतिम आधार उस दर्शन के बाहर रहता है। जिस

आधार पर कोई दर्शन अवलम्बित है वह स्वयं उस दर्शन पर अवलम्बित नहीं हो सकता। अत: हमारे सामने दो विकल्प है : या तो हम दर्शन को केवल खंडनात्मक मानें या, यदि दर्शन को मंडनात्मक मानना है तो, हमको यह निश्चय करना होगा कि हमारा अंतिम आधार कहाँ से प्राप्त हो। यह अंतिम आधार न तो इंद्रियजन्य अनुभव से प्राप्त हो सकता है और न केवल बौद्धिक प्रत्ययों से। इसी से भारतीय दर्शन में किसी न किसी रूप में श्रुति को स्थान दिया गया है। श्रुति का नाम लेने पर आज के विचारक प्राय: नाक सिकोड़ते हुए पाये जाते हैं। परन्तु विचार करने पर जान पड़ेगा कि श्रुति के बाहर जाना असंभव है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी परम्परा में पलता है, उस परम्परा की भाषा तथा उसके विचार से वह सर्वथा पृथक् नहीं हो सकता, वास्तव में बिना किसी परम्परा के दार्शनिक प्रश्न उठ ही नहीं सकता। परम्परा-निरपेक्ष शून्य में कोई भी विचार सम्भव नहीं है। अत: प्रश्न यह नहीं है कि हम परम्परा या श्रुति को स्वीकार करें या न करें, क्योंकि इसमें हमको स्वतन्त्रता नहीं है; हम पहले से ही, जन्म से ही, किसी न किसी परम्परा में हैं। उस परम्परा का तिरस्कार हम कर सकते हैं परन्तु उसे स्वेच्छा से स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसे हम प्राप्त शरीर का त्याग कर सकते हैं परंतु स्वेच्छा से शरीर प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अत: हम चाहें या न चाहें परम्परा तो हमारे रग-रग में पहले से वर्तमान है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि परम्परा को स्वीकार कर लेने मात्र से विचार के लिए अवकाश नहीं रहता या दर्शन की आवश्यकता नहीं रह जाती। परम्परा से दर्शन नहीं मिलता है बल्कि दार्शनिक विचार के लिए सामग्री मात्र मिलती है। दर्शन परम्परा विशेष को समझने का प्रयास है। विभिन्न बौद्धिक क्रियाओं द्वारा हम उन धारणाओं को हृदयंगमित करने की चेष्टा करते हैं जो हमें परम्परा से प्राप्त हैं। दर्शन परम्परा-दत्त विश्वासों का विश्लेषण करता है और उनको तर्कसंगत बनाता है। दर्शन कोई नया ज्ञान या विश्वास नहीं उत्पन्न करता बल्कि यह दिखाता है कि दिए हुए विश्वासों में कौन से विश्वास वास्तव में ज्ञान के आधार पर हैं और कौन से केवल कल्पना के आधार पर हैं। दर्शन का कार्य केवल विवेक, पृथक्करण या विश्लेषण है और इसकी सफलता की अंतिम कसौटी अनुभव है। कोई भी दर्शन जब तक किसी अनुभव द्वारा प्रमाणित न किया जाय तब तक कोरी कल्पना मात्र ही है। इस प्रकार दर्शन का स्थान प्रचलित विश्वास और अनुभव के बीच का है। प्रचलित विश्वास उसका प्रस्थान है तो अनुभव उसका पर्यवसान है। विवेकी पुरुष न तो अपरीक्षित विश्वास से संतुष्ट होता है और न अननुभूत दार्शनिक सिद्धांत से। जनसाधारण का कार्य पूर्वदत्त विश्वासों से चल जाता है परन्तु विचारवान व्यक्ति को कठिनाई मालूम होती है और इसी से दर्शन की उत्पत्ति होती है। अत: संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दर्शन आत्म-विरोध के नियम के आधार पर प्रदत्त विश्वासों की समीक्षा करके निश्चित विश्वासों के अनुसार अनुभव की ओर अग्रसर करता है।

***

ज्ञान की सीमायें

ज्ञान की सीमाओं के प्रश्न पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। मात्रात्मक दृष्टि से, प्रकारात्मक दृष्टि से तथा मूल्यात्मक दृष्टि से। मात्रात्मक दृष्टि में ज्ञान को एक राशि मानकर उसके परिमाण द्वारा उसकी सीमा तय होती है, वैसे ही जैसे सुखवाद के अनुसार सुख (pleasure) को एक राशि मानकर उसकी मात्रा या परिमाण पर विचार किया जाता है। प्रकारात्मक दृष्टि के अनुसार ज्ञान के मौलिक प्रकार माने जाते हैं, अर्थात् मात्रात्मक दृष्टि का निषेध किया जाता है, क्योंकि जब तक ज्ञान अथवा सुख को केवल एक ही प्रकार का नहीं माना जाता तब तक उनकी मात्रा निश्चित नहीं की जा सकती। मूल्यात्मक दृष्टि ज्ञान के मौलिक प्रकारों को स्वीकार करने के उपरान्त उनके महत्त्व या मूल्य का प्रश्न उठाती है। प्रकार स्वीकार करने के बाद उनका मूल्यात्मक सम्बन्ध निश्चित करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि ज्ञान का महत्त्व न तो उसकी मात्रा में है और न उसके विभिन्नत्व में, बल्कि उसके सत्यत्व में है। अत: मूल्यात्मक दृष्टि से ज्ञान की सीमा का अर्थ यह है, कि कहाँ तक ज्ञान असत्य का निवारण कर सत्य की प्राप्ति कराता है। दर्शन सत्य की खोज है अत: दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान की सीमा का अर्थ ज्ञान की मात्रा अथवा ज्ञान का विभिन्नत्व नहीं है बल्कि सत्य की प्राप्ति की संभावना पर विचार करना है।

१. मात्रात्मक दृष्टिकोण

हमारी ज्ञानवर्धन की प्रवृत्ति उतनी ही स्वाभाविक है जितनी सुखवर्धन की, क्योंकि ज्ञान सुख का साधन हुआ करता है। ज्ञान सर्व व्यवहार का हेतु है। सांसारिक जीवन में ज्ञान का महत्त्व उसकी उपयोगिता में है। यहाँ तक कि उपयोगिता को ही हम सत्यासत्य के निर्णय का आधार तक बना देते हैं। स्वप्न जगत् के ज्ञान को असत्य कहने का दूसरा क्या कारण है ? आज विज्ञान को प्रोत्साहन देने की जो व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है वह उसकी उपयोगिता के ही कारण है। ज्ञान की मात्रा बढ़ाने की प्रवृत्ति ज्ञान की पिपासा शांत करने के लिये नहीं बल्कि भोग की बुभुक्षा शांत करने के लिये है। जब तक भोग की वृत्ति प्रबल रहती है तब तक ज्ञान का संग्रह किया जाता है, न कि सत्यासत्य की खोज। इस प्रकार मात्रात्मक दृष्टिकोण का संबंध सुखवाद से स्पष्ट है।

मात्रात्मक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टिकोण में इन्द्रियजन्य ज्ञान ही सभी ज्ञानों का मापदंड या मौलिक आधार है। अनुमान आदि अन्य ज्ञान के प्रमाणों को उसी हद तक स्वीकार किया जाता है जहाँ तक वे अनुभव से पुष्ट होते हैं। अर्थात् यह दृष्टिकोण अनुभववादी होता है और श्रुति तथा योगज ज्ञान को स्वीकार नहीं कर सकता। इसी से यह दृष्टिकोण भौतिकवादी भी हुआ करता है। ज्ञान के प्रति मात्रात्मक दृष्टिकोण का परिणाम यह भी देखने में आता है कि मनुष्य और जगत् के महत्त्व के विषय में भी मात्रात्मक दृष्टि हो जाती है। आजकल के कुछ विचारक यह कहते हुए पाये जाते हैं कि इस जगत् में, जिसके विस्तार की कल्पना प्रकाश-वर्षों (light years) के द्वारा की जाती

है, मनुष्य का क्या स्थान हो सकता है ? अर्थात् मनुष्य इस विशाल जगत् में एक तुच्छ प्राणी है। सुखवाद की तरह यहाँ भी मात्रा के आधार पर मूल्य का निर्णय किया जाता है।

मात्रात्मक दृष्टिकोण अनुभववादी होता है, अर्थात् अन्य सभी प्रमाणों को प्रत्यक्षावलंबी मानता है। परंतु अनुभववाद का निर्वाह करना कठिन होता है। लॉक ने आत्मनिषेध के बावजूद भी अंतर्बोध (Intuition) की प्रामाणिकता को स्वीकार किया। अन्तर्बोध को अस्वीकार करके ह्यूम सन्देहवाद में जा गिरा। कांट ने अनुभववाद की जो आलोचना की वह अब भी अकाट्य है। रसेल ने ठीक ही कहा है, "शुद्ध अनुभववाद में कोई विश्वास नहीं करता। यदि हमें उन मान्यताओं को सुरक्षित रखना है जिन्हें हम सर्वसत्य समझते हैं तो हमें ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करना ही पड़ेगा जो न तो अनुमान सिद्ध हैं और न अनुभव प्रदत्त।"[1] परन्तु यदि ज्ञान का प्रत्यक्षेतर प्रकार माना जाता है तो मात्रात्मक दृष्टिकोण को छोड़ देना होगा। इसी से मात्रात्मक दृष्टिकोण में प्रकार भेद का त्यागना आवश्यक होता है और ज्ञान के प्रकार भेद के त्याग का अन्तिम परिणाम यह होता है कि सत्य और असत्य का मौलिक भेद मिट जाता है, जिस प्रकार सुखों के प्रकार भेद को अस्वीकार करने से सुखवाद (Hedonism) में नैतिक-अनैतिक का मौलिक भेद मिट जाता है।

कुछ दार्शनिकों ने सत्य और असत्य में केवल मात्रात्मक भेद मानकर ज्ञान को सर्वदा सत्य कहा है। उनके अनुसार ज्ञान स्वरूपत: सत्य है। जिसे हम असत्य ज्ञान कहते हैं वह वास्तव में अपूर्ण ज्ञान है। रामानुज का सिद्धान्त इसी प्रकार का है। इसमें कठिनाई यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि सभी ज्ञान स्वरूपत: सत्य हैं तब भी इस प्रश्न का निर्णय कैसे होगा कि कौन सा अनुभव ज्ञान और कौन सा नहीं। यदि सभी अनुभवों को ज्ञान मान लिया जाय तो हमारी अन्य मान्यताओं को धक्का लगता है। कल्पना और भ्रांति के लिये स्थान नहीं रह जाता है। हेगेल के दर्शन में भी यही स्थिति है। यदि यह मान भी लिया जाय कि तथाकथित भ्रांति अपूर्ण ज्ञानमात्र है तो भी कल्पना या स्वप्न को असत्य कहना एक प्रकार की भ्रांति हुई, जिसका निराकरण करना आवश्यक है। कोई भी दर्शन ऐसा नहीं है जो किसी न किसी प्रकार की भ्रांति (असत्य विश्वास) का निराकरण न करता हो। भ्रांति को न मानने का अर्थ है किसी प्रतिवाद को न मानना, अर्थात् यदि कोई दार्शनिक हमारा विरोध करते हैं उनको भी प्रामाणिक मानना। सत्यासत्य का मौलिक भेद न मानने से कोई निषेध संभव नहीं, अत: कोई दर्शन संभव नहीं।

हेगेल के दर्शन में मात्रात्मक और मूल्यात्मक दृष्टिकोणों का द्वन्द दिखाई पड़ता है क्योंकि उनकी डाइलेक्टिक (Dialectic) के दो पहलू हैं, विस्तार और परिवर्तन। जब हम नीचे से ऊपर की ओर समन्वय (Synthesis) की ओर बढ़ते हैं तो एक ओर तो ज्ञान का विस्तार होता है जिसमें अस्ति पक्ष और नास्ति पक्ष दोनों स्थान पाते हैं और दूसरी ओर दोनों में परिवर्तन भी होता है जिससे दोनों का विरोध जाता रहता है। हेगेल का कहना है कि निम्नस्तर पर ही, जहाँ हमारा ज्ञान संकुचित रहता है, विरोध होता है, उच्चतर स्तर पर नहीं, जहाँ ज्ञान विस्तृत हो जाता है। परन्तु ज्ञान का विस्तार बढ़ा देने मात्र से ज्ञान का स्वरूप (विरोध) कैसे बदल जायगा, यह समझ में नहीं आता। यदि समन्वय के स्तर पर दो विरोधी पक्ष ज्यों के त्यों बने रहते हैं तो समन्वय नहीं हो सकता है और यदि समन्वय रहता है तो यह दोनों पक्षों से कुछ हटाके संभव है, अर्थात् कुछ अंश को अस्वीकार करके, असत्य कहकर। हेगेल में भी आत्यंतिक (Absolute) निषेध मानना पड़ेगा-सत्य और असत्य का भेद अथवा सीमित और असीमित का भेद केवल मात्रात्मक ही नहीं है। सीमित ज्ञान का संग्रह मात्र अनन्त ज्ञान नहीं हो सकता। इन सब शंकाओं के कारण यह कहना कठिन हो जाता है कि हेगेल की डाइलेक्टिक के किस पक्ष पर अधिक बल दिया जाय, विस्तार (मात्रा) पर अथवा परिवर्तन (मूल्य) पर। उनकी सर्वसंग्रह की प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वे निषेध को आत्यंतिक नहीं मान सकते। विस्तार प्रकार का विकल्प या स्थानापन्न नहीं हो

सकता। जैसे जल की प्राप्ति एक विस्तृत भूमि-क्षेत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती है बल्कि एक छोटे से क्षेत्र को गहरा खोदने से होती है, वैसे ही सत्य की प्राप्ति ज्ञान के विस्तार मात्र से नहीं हो सकती है बल्कि मूल्यात्मक विश्लेषण से होती है। मूल्य के कारण मात्रा का महत्त्व है, मात्रा के कारण मूल्य का नहीं।

उपलब्ध ज्ञान के प्रति असंतोष हमको दो कारणों से हो सकता है। एक प्रकार का असंतोष तो वह है जिसमें प्राप्त ज्ञान अपने व्यावहारिक जीवन के लिए अपर्याप्त मालूम पड़ता है। यही हमारा वैज्ञानिक या व्यावहारिक दृष्टिकोण है ; इसमें ज्ञान की मात्रा, उसकी उपयोगिता को बढ़ाना हमारा लक्ष्य होता है। इस क्षेत्र में भी सत्यासत्य की कसौटी का प्रयोग किया जाता है, परन्तु वह कसौटी भी व्यावहारिक ही होती हैं। प्राप्त ज्ञान से दूसरे प्रकार का असंतोष वह है जिसमें अपर्याप्तता का प्रश्न नहीं बल्कि असत्यता का प्रश्न प्रधान है। यहाँ सुख या उपयोगिता की पिपासा नहीं बल्कि सत्य की पिपासा काम करती है। स्पष्ट है कि जब तक भोग पिपासा प्रबल रहती है तब तक सत्य की पिपासा जाग्रत नहीं हो सकती। इसी से सत्यान्वेषी का विरक्त होना आवश्यक है। वैराग्य एक प्रकार के मूल्यों का निषेध है परन्तु उन मूल्यों का सम्बन्ध एक प्रकार की सत्ता (जगत्) से है, अत: वैराग्य एक प्रकार की सत्ता (असत्य) का निषेध है। सत्य का अन्वेषण असत्य के निषेध के बिना नहीं हो सकता। इसी से दर्शन और विज्ञान में भेद ही नहीं विरोध भी है। विज्ञान भोग के लिये है जबकि दार्शनिक दृष्टि का प्रादुर्भाव वैराग्य से है। यदि दार्शनिक वैज्ञानिक की तरह ज्ञान की मात्रा बढ़ाने के फेर में भी पड़ता है तो केवल इसी आशा या भ्रम से कि शायद उसे सत्य की प्राप्ति हो जाय। दर्शन की दृष्टि आदि से ही मूल्यात्मक होती है।

छांदोग्य उपनिषद् (सप्तम् अध्याय) में एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग आया है। नारद सनत्कुमार से कहते हैं "मैं ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, गणित....... आदि सब जानता हूँ। परन्तु मैं केवल मंत्रवेत्ता हूँ, आत्मवेत्ता नहीं।" तात्पर्य यह है कि ज्ञान के विस्तार से ज्ञान का प्रकार नहीं बदल जाता और न उसका महत्त्व बदल जाता है। तत्त्वज्ञान तो एक दूसरी दिशा की वस्तु है। मुण्डक उपनिषद् में शौनक ने एक प्रश्न किया है, जिससे जान पड़ता है मानो उनका दृष्टिकोण मात्रात्मक है। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"। वे सर्व का ज्ञान चाहते हैं, परन्तु मात्रा की दृष्टि से नहीं। प्रश्न के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वे उस वस्तु (तत्त्व) का ज्ञान चाहते हैं जिसके ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है। तत्त्व जान लेने पर प्रत्येक वस्तु को अलग-अलग जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उत्तर से भी इसी बात की पुष्टि होती है। उत्तर में यह नहीं कहा गया है कि सर्व का ज्ञान संभव नहीं, और न ही ज्ञान विस्तार के लिये कहा गया है। सर्व का अर्थ सर्वस्व तत्त्व या सर्वगत तत्त्व है। इसी से कहा गया है कि विद्यायें दो प्रकार की हैं। परा और अपरा। परा से अक्षर या तत्त्व का ज्ञान होता है और अपरा के अन्तर्गत अन्य विज्ञान आते हैं। परा का स्वरूप दृष्टांत द्वारा व्यक्त किया गया है। जिस प्रकार मृत्तिकापिण्ड का ज्ञान होने से समग्र मृन्मय पदार्थों का भान हो जाता है वैसे ही तत्त्व का ज्ञान होने से सर्ववस्तु का ज्ञान हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से जहाँ सर्वज्ञान की बात कही गयी है वहाँ मात्रा की दृष्टि से नहीं मूल्य (तत्त्व) की दृष्टि से कही गयी है। सर्वज्ञान का अर्थ है तत्त्वज्ञान, और तत्त्व-ज्ञान तत्त्व के आवरण के निराकरण से हो सकता है। वास्तव में तत्त्व विषयक प्रश्न ही आवरण का निराकरण है, और निराकरण का अर्थ है मूल्यात्मक दृष्टिकोण।

२ - प्रकारात्मक दृष्टिकोण

प्रत्यक्षवादी चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिक ज्ञान के प्रकारात्मक भेद को मानते हैं। एक दृष्टि से चार्वाक के लिये भी प्रकारात्मक भेद मानना आवश्यक है क्योंकि भिन्न-भिन्न इंन्द्रियों का प्रत्यक्ष प्रकारत: भिन्न है। अत: सभी ने चार्वाकों का खंडन किया है, किन्तु ज्ञान के प्रकारात्मक भेद को स्वीकार करने के महत्त्व को सभी ने समान रूप से नहीं समझा है। प्रमाण-विप्लववादी बौद्धों, प्लेटो,

कांट तथा मीमांसकों ने विशेष रूप से इस रहस्य को समझा है। एक से अधिक प्रमाण मानने की सार्थकता इसी बात में है कि प्रत्यक्षेतर प्रमाण किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान दें जो अन्य किसी प्रमाण द्वारा न प्राप्त हो सके, अन्यथा दूसरे प्रमाण व्यर्थ या अनावश्यक सिद्ध होंगे। यही प्रमाण-विप्लववाद की विशेष सूझ है। प्रत्यक्ष से केवल स्वलक्षण का ज्ञान होता है तो अनुमान से केवल जाति या सामान्य का। प्रत्यक्ष और अनुमान एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते। जो दार्शनिक प्रमाणसंप्लववादी हैं उनको भी किसी अंश में विप्लववाद मानना पड़ेगा नहीं तो प्रत्यक्षेतर प्रमाण की निरर्थकता सिद्ध होगी। अनुमान आदि के कम से कम कुछ विषय ऐसे होने चाहिए जो प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हो। इसी से कहा है: स्वविषये शूराणि प्रमाणानि। इसी आधार पर प्रमाणों का भिन्नत्व सिद्ध हो सकता है और प्रमाणों का यह प्रकारात्मक भेद ही उनकी सीमा निश्चित करता है। विषय की भिन्नता दिखा कर मीमांसक तथा वेदांती अन्य प्रमाणों की, विशेष कर श्रुति की, तथा प्लेटो और कांट बौद्धिक ज्ञान की, परिपुष्टि करते हैं। प्रत्यक्ष अन्य प्रमाणों का उपकारी हो सकता है परन्तु स्थानापन्न नहीं हो सकता।

प्लेटो तथा बौद्ध दोनों प्रमाण विप्लववादी हैं परन्तु उनके सिद्धान्तों पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि दार्शनिक विचार केवल ज्ञान के प्रकारात्मक भेद स्वीकार कर लेने तक ही समाप्त नहीं हो जाता है। प्लेटो ने बुद्धिजन्य ज्ञान को सत्य तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान को असत्य कहा है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है तथापि उसमें सापेक्षता, क्षणिकता आदि कई दोष हैं। इसके ठीक विपरीत बौद्ध लोग प्रत्यक्ष को प्रामाणिक तथा बुद्धिजन्य ज्ञान को काल्पनिक मानते हैं। प्लेटो के लिये क्षणिक असत्य है, बौद्धों के लिए सत्य, यह भेद क्यों ? स्पष्ट है कि यह भेद उनके मूल्यात्मक दृष्टिकोण में भेद के कारण है, अर्थात् प्रकारात्मक भेद मान लेने मात्र से मूल्य संबंधी प्रश्न हल नहीं हो जाता है। और जब तक वह प्रश्न हल नहीं होता दर्शन को चैन कहाँ ?

यूनानी युग में विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान का विवाद वैसे ही रहा है जैसे बौद्धों में, और जिस प्रकार ईसाई दार्शनिक एक तीसरे प्रमाण (श्रुति) को खड़ा करते हैं वैसे ही वेदान्ती एक तीसरे प्रमाण को आवश्यक बताते हैं। वेदांती और ईसाई दोनों ही प्रत्यक्ष और बौद्धिक ज्ञान की सीमा निश्चित करते हैं, अर्थात् एक ऐसे विषय की ओर दृष्टि आकृष्ट करते हैं जो दोनों की सीमा के बाहर है। श्रुति की प्रामाणिकता विषय-वैचित्र्य के आधार पर सिद्ध की जाती है। प्लेटो और अरस्तू को केवल बुद्धि द्वारा ईश्वर का ज्ञान था, अत: ईसाई दार्शनिक यह तो न कह सके कि केवल बुद्धि द्वारा ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु उन्होंने यह अवश्य कहा कि बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान अपूर्ण रहता है, क्योंकि केवल बुद्धि के द्वारा कृपा तत्त्व अथवा ईश्वर के व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए श्रुति की आवश्यकता होती है। बुद्धि द्वारा अधिक से अधिक एक सर्वज्ञ सत्ता की ओर संकेत भर हो सकता है। इसी प्रकार वेदान्त भी यही कहता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका ज्ञान श्रुति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता।

डेकार्ट के बाद आधुनिक युग में श्रुति को दार्शनिक विचार के प्रसंग से बाहर रखा जाने लगा और युग की भांति पुन: प्रत्यक्षवाद का संघर्ष एक दूसरे रूप में उठ खड़ा हुआ। इस युग में प्रश्न दोनों में किसी एक की प्रामाणिकता का न था बल्कि उनकी प्राथमिकता का या ज्ञान की उत्पत्ति का था। लॉक और बर्कले के दर्शन में अनुभववाद लड़खड़ाता रहा परन्तु जब ह्यूम ने इसे पूर्णरूप से खड़ा करने की कोशिश की तो ज्ञान की सारी मान्यतायें ही उखड़ गईं। यह स्पष्ट हो गया कि अनुभववाद का निर्वाह नहीं किया जा सकता। इसी तरह लाइबनिज़ के दर्शन से स्पष्ट हो गया कि ज्ञान को केवल बुद्धिजन्य मानने से कूपमंडूकता आ जायगी। जो भी हो, अनुभववाद और बुद्धिवाद के झगड़े ने यह निश्चित कर दिया कि ज्ञान के प्रकारात्मक भेद को मिटाया नहीं जा सकता। कांट ने ज्ञान के इस प्रकारात्मक भेद को स्वीकार कर सारे विवाद को एक नया मोड़ दे दिया जिसका पर्यवसान मूल्यात्मक दृष्टि की दिशा में हुआ।

कांट के अनुसार ज्ञान बुद्धि और अनुभव दोनों के योग से होता है। अनुभव सामग्री देता है बुद्धि रूप प्रदान करती है। अनुभव के बिना ज्ञान खोखला तथा बुद्धि के बिना अस्पष्ट और असंबद्ध होगा। निरपेक्ष रूप से न तो अनुभवमात्र द्वारा और न बुद्धिमात्र द्वारा ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार जो महत्त्व का निष्कर्ष निकला वह यह रहा कि हम अव्यवहार्य वस्तु को, जो अनुभव तथा बुद्धि के परे है, नहीं जान सकते। हमारा ज्ञान केवल व्यावहारिक वस्तु (Phenomena) का है, अव्यवहार्य सत्ता (Noumena) का नहीं। परन्तु कठिनाई यह खड़ी होती है कि यदि हम अव्यवहार्य वस्तु (Thing-in-itself).......... को जानते ही नहीं तो उसे स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? यही कांट के दर्शन की पहेली है। यदि अव्यवहार्य वस्तु अज्ञात है तो हम यह भी नहीं कह सकते कि वह है और यदि वह ज्ञात है तो वह व्यवहार्य होनी चाहिये। कांट ने कहा कि वह ज्ञात नहीं बल्कि ज्ञान की सीमा है और ज्ञान न होने पर भी उसका मानना अनिवार्य है। यहीं से मूल्यात्मक दृष्टिकोण का प्रारम्भ है, यहीं पर एक अन्य प्रकार के ज्ञान की मांग का अनुभव होता है। वस्तुवादी (Realist) तथा विज्ञानवादी (Idealist) दोनों ही इस रहस्य को न समझ कर कांट की आलोचना करते हैं, दोनों ही प्रकारात्मक भेद का निषेध करने वाले हैं।

वस्तुवादी लोगों का कहना है कि वस्तु अज्ञात हो सकती है परन्तु अव्यवहार्य नहीं, क्योंकि ज्ञान वस्तुतंत्र है न कि बुद्धिसापेक्ष। अत: हमें वस्तु जैसी है वैसे ही उसका ज्ञान होता है, ज्ञान में कल्पना आदि का मिश्रण नहीं होता, ज्ञात स्वरूप के परे वस्तु का अन्य कोई स्वरूप नहीं है। अत: वस्तुवादी के लिये सभी ज्ञात एक स्तर या प्रकार के हैं। विज्ञानवादियों का यह कहना है कि अज्ञात वस्तु की सत्ता किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं की जा सकती। ज्ञात और अज्ञात का भेद ज्ञान या विचार के भीतर ही है। विचार की सीमा निर्धारित करते ही हम उसका अतिक्रमण कर जाते हैं। अज्ञात वस्तु को स्वीकार करने से अज्ञाततावाद (Agnosticism) को प्रश्रय मिलेगा। इस प्रकार अव्यवहार्य वस्तु का निषेध करने पर हेगेल के दर्शन में भी एक ही प्रकार का ज्ञान रह जाता है। वस्तुवादी और विज्ञानवादी दोनों ही वस्तु का कोई ऐसा स्वरूप नहीं मानना चाहते जो ज्ञान के परे हो, दोनों में ज्ञान के प्रकारात्मक भेद का निषेध है। अत: दोनों में मूल्यात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। दोनों के लिए भ्रम नाम की कोई चीज नहीं है, सत्य और असत्य में केवल मात्रा का भेद है प्रकार का नहीं। हेगेल ने स्तर की चर्चा अवश्य की है परन्तु उनके यहाँ स्तर केवल मूल्य की दृष्टि से ही नहीं बल्कि मात्रा की दृष्टि से निश्चित होता है, उच्चतर में निम्नतर बना रहता है। जब तक मूल्यात्मक निबन्ध का दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता तब तक वास्तविक स्तर-भेद की कल्पना उठती नहीं। अव्यवहार्य वस्तु की कल्पना का औचित्य ज्ञान के स्तर-भेद की दृष्टि से ही देखा जा सकता है।

कांट की यही विशेषता है कि उन्होंने ज्ञान में स्तर-भेद की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, प्रकार भेद से स्तर-भेद की ओर मार्ग प्रदर्शित किया। कांट में ज्ञान के स्तर मिलते हैं - अपर (Empirical), परा पर[3] (A priori) तथा पर (Transcendent) .... आलोचक इन स्तरों का महत्व नहीं समझते। प्रत्यक्ष अनुभव या अपर के न मानने से वस्तुज्ञान नहीं हो सकता। परापर को न मानने से ज्ञान में नियमबद्धता नहीं आ सकती। परा बुद्धि न मानने से अव्यवहार्य वस्तु की कल्पना नहीं बनती। अव्यवहार्य वस्तु मानने से प्रत्यक्ष और कल्पना का भेद नहीं बनेगा, अर्थात् सत्यासत्य का भेद नहीं रह जायगा। अव्यवहार्य वस्तु का मानना आवश्यक है परन्तु इस अर्थ में नहीं कि हम उसे जानते हैं। उसे ज्ञान की सीमा कहने का अर्थ भौतिक या मात्रात्मक सीमा नहीं है बल्कि प्रकारात्मक या स्तरात्मक सीमा है। जिस प्रकार का ज्ञान हमें जगत् का है उस प्रकार का ज्ञान अव्यवहार्य वस्तु का नहीं हो सकता। अर्थात् कांट ने एक नये प्रकार के ज्ञान की मांग की है। यह मांग कैसे पूरी होगी यह कांट ने नहीं बताया। उन्होंने परापर बुद्धि द्वारा प्रदत्त नियमों को भ्रम (Transcendental illusion) तो कहा परन्तु उस भ्रम से

मुक्ति का रास्ता नहीं दिखाया। कांट की महानता इसी में है कि ज्ञान का स्तरात्मक विश्लेषण कर उन्होंने अव्यवहार्य वस्तु की अनिवार्यता को प्रदर्शित किया और हमें मूल्यात्मक दृष्टिकोण की ओर अग्रसर किया।

३ - मूल्यात्मक दृष्टिकोण

अब तक के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान के प्रकारात्मक भेद का सर्वथा निबन्ध नहीं है। कम से कम अनुभव और विचार के प्रकारात्मक भेद को तो मानना ही पड़ेगा। परन्तु केवल प्रकारात्मक भेद स्वीकार करना पर्याप्त नहीं है। प्रकारात्मक भेद स्वीकार करने पर स्तर या मूल्य का प्रश्न उठाना आवश्यक हो जाता है। ज्ञान का मूल्य निश्चितता, व्यापकता आदि अनेक दृष्टियों से आंका जा सकता है, परन्तु दर्शन में सबसे अधिक महत्व का मूल्य है सत्य। अत: मूल्यात्मक प्रश्न का अर्थ है सत्य की दृष्टि से मूल्यांकन। ज्ञान के प्रकारात्मक भेद की स्वीकृति और समीक्षा का उपयोग यही है कि हम मूल्यात्मक भेद की ओर अग्रसर हों। Aesthetic और Analytic के बाद यदि कांट Dialectic की ओर न बढ़े होते तो दर्शन की दृष्टि से उनका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता। वर्गणाएँ Categories अव्यवहार्य वस्तु तक नहीं पहुँच सकती। इसके लिए स्तर द्वय का विश्लेषण आवश्यक था। स्तर द्वय के ज्ञान से व्यावहारिक ज्ञान की सापेक्षता सिद्ध होती है। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यावहारिक वर्गणाओं की सापेक्षता दिखाने का एकमात्र उपाय यही है। ब्रैडले और नागार्जुन ने यह सापेक्षता दूसरी तरह से दिखाई है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही प्रकार या स्तर का ज्ञान मानने वाले व्यक्ति के लिये मूल्यात्मक दृष्टिकोण अपनाना संभव नहीं है। जैसे केवल सुख-दु:ख के स्तर पर रहने वाला पशु नैतिक नहीं हो सकता, जैसे केवल भौतिक कार्य-करण मानने वाला व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञान का एक ही स्तर मानने वाला व्यक्ति वास्तव में दार्शनिक नहीं हो सकता है। नैतिक वृत्ति के लिये, धार्मिक भावना के लिये, तथा दार्शनिक दृष्टिकोण के लिये स्तर द्वय का होना आवश्यक है। अनुभव और विचार के स्तर-द्वैत के कारण ही कांट की दृष्टि अव्यवहार्य वस्तु की ओर गई।

अव्यवहार्य वस्तु का मानना अनिवार्य हो सकता है, परन्तु प्रश्न यह है कि उसे मानने का आधार क्या है ? स्पष्ट है कि उसका अनिवार्य होना ही उसको मानने का आधार है। भारतीय दर्शन के शब्दों में कहा जा सकता है कि उसकी मान्यता का आधार अर्थापत्ति है। यद्यपि अर्थापत्ति का महत्त्व स्पष्ट रूप से पाश्चात्य दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है फिर भी वहाँ के दर्शन में भी इसका बड़ा महत्त्व है। अधिकांश दार्शनिकों ने जाने या अनजाने में इसका प्रयोग किया है क्योंकि वास्तव में अर्थापत्ति निराकरण के आधार पर कल्पना करने की एक विधि है। दो सत्यों का समन्वय करने के लिये तीसरे की कल्पना करना अर्थापत्ति है। परन्तु यह संभव तभी है जब तीसरे के लिये अन्य विकल्पों की संभावना न हो। देवदत्त हृष्टपुष्ट है और दिन में भोजन नहीं करता। इन दोनों सत्यों का समन्वय तभी हो सकता है जब हम यह मानें कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। कांट का तर्क भी इसी तरह का है। ज्ञान वस्तुतन्त्र है और साथ ही बुद्धिसापेक्ष भी है, अत: बुद्धि निरपेक्ष या अव्यवहार्य वस्तु को मानना आवश्यक है। इस विकल्प का खण्डन तभी हो सकता है जब हम या तो ज्ञान को विज्ञानवादी की तरह वस्तुतन्त्र न मानें या वस्तुवादी की तरह उसे बुद्धि सापेक्ष न मानें। परन्तु कांट के अनुसार ये दोनों विकल्प संभव नहीं हैं। हेगेल ने ज्ञान को वस्तुतन्त्र न मानकर के ही अव्यवहार्य सत्ता का निषेध किया। हेगल के लिये विचार ही ज्ञान है, विचार ही ज्ञेय है। विचार से भिन्न कोई ज्ञान नहीं और विचार से परे कोई सत्ता नहीं। विचार अज्ञात सत्ता स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार हेगेल ने विचार को सर्वज्ञ घोषित किया। उन्होंने यह नहीं देखा कि अज्ञात वस्तु न मानने से ज्ञान का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। ज्ञान का स्वरूप है अज्ञात वस्तु विषयक अज्ञान का नाश करना। विज्ञानवादी हेगेल में ज्ञान का यह रूप नहीं दिखाई पड़ता। इसके

अतिरिक्त ज्ञान-निरपेक्ष वस्तु न मानने से भ्रम की संभावना भी मिट जाती है। हेगेल के विरुद्ध वस्तुवादी लोग ज्ञान को केवल वस्तुतन्त्र मानते हैं, बुद्धि सापेक्ष नहीं। परिणामत: वे भ्रांति की व्यख्या नहीं कर सकते और कल्पना, स्वप्न, भ्रम आदि सभी अनुभवों में वस्तु की सत्ता सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार अव्यवहार्य सत्ता के निषेध से विज्ञानवादी और वस्तुवादी दोनों ही सत्यासत्य के भेद को अस्वीकार करने को विवश हो जाते हैं। दोनों ही के लिये ज्ञान सदा सत्य है, एक प्रकार का है। दर्शन के लिये सत्यासत्य का भेद आवश्यक है, इसी से कांट ने अव्यवहार्य वस्तु विषयक अर्थापत्ति की। वस्तुवादी और विज्ञानवादी आलोचक यह नहीं समझते कि किस अर्थ में अव्यवहार्य वस्तु ज्ञात और अज्ञात दोनों है, क्योंकि वे अर्थापत्ति का स्वरूप नहीं समझते। अर्थापत्ति द्वारा ब्रह्म का संकेत भर होता है, उसके स्वरूप का ज्ञान तो स्वरूप लक्षण द्वारा ही होता है।

वेदान्त में अर्थापत्ति का महत्त्व बहुत है। कुछ लोगों का यह कहना है कि जन्माद्यस्य यत: सूत्र में ब्रह्म का अस्तित्त्व कार्यकारण सिद्धान्त पर अवलम्बित है। परन्तु वास्तव में वहाँ अर्थापत्ति का प्रयोग है। वेदान्ती इस बात के लिए परेशान नहीं रहता कि वह यह सिद्ध करे कि जगत् की सृष्टि हुई है। उसे तो अभीष्ट यह है कि यदि जगत् की सृष्टि है तो उसका एक मात्र कारण ब्रह्म ही हो सकता है। इसी से सृष्टि विषयक अन्य विकल्पों का खंडन किया जाता है। यदि जगत् की सृष्टि नहीं मानते हैं तो जगत् को ही ब्रह्म मानना पड़ेगा, जो श्रुति और तर्क दोनों के विरुद्ध है। अत: यहाँ पर अर्थापत्ति का ही प्रयोग है। साक्षी के अस्तित्त्व को सिद्ध करने के लिए भी अर्थापत्ति का ही प्रयोग किया जाता है। सुषुप्ति में रहने वाले अज्ञान का ज्ञान हमें किसी प्रमा वृत्ति से नहीं हो सकता। अत: अन्त:करण भिन्न कोई चेतना मानना आवश्यक है। इसी तरह किसी वस्तु के ज्ञान के पूर्व उसका अज्ञान रहता है, और हम कहते हैं 'यह वस्तु अज्ञात थी'। अर्थात् यह वस्तु थी, परन्तु अज्ञात थी, और यदि नहीं थी तो उसके अज्ञान का प्रश्न ही नहीं है। अर्थात् वस्तु मेरे ज्ञान से उत्पन्न नहीं है बल्कि ज्ञान निरपेक्ष है। इस प्रकार वस्तु की ज्ञात अज्ञातता माननी पड़ेगी, परन्तु यह अज्ञातता प्रमावृत्ति या अन्त:करण को ज्ञात नहीं हो सकती। अत: अन्त:करण भिन्न साक्षी माना गया है। इस प्रकार वेदान्त में कई स्थलों पर अर्थापत्ति के द्वारा ही विकल्प करके ज्ञान के क्षेत्र में समन्वय स्थापित किया गया।

अर्थापत्ति का महत्त्व दर्शन के लिए बहुत है। इसके द्वारा यद्यपि अगोचर वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता तथापि उसकी सत्ता की ओर संकेत अवश्य हो जाता है। इसकी विशेषता यह है कि इसके उपयोग के लिये व्याप्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसी से अगोचर की ओर ले जाने में यह अनुमान से अधिक सफल है। अर्थापत्ति की दुर्बलता यह है कि इसके द्वारा वस्तु का संकेत भर होता है उसका ज्ञान नहीं। संकेत और ज्ञान में भेद यह है कि संकेत में वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, उसकी संभावना मात्र का ज्ञान होता है। स्वरूप के ज्ञान के लिए अन्य साधन होता है। अर्थापत्ति की सफलता में कठिनाई दो कारणों से होती है। प्रथम, जहाँ एक से अधिक विकल्पों की संभावना रहती है वहाँ किसी एक विषय में अर्थापत्ति नहीं हो सकती। यदि देवदत्त के हृष्टपुष्ट होने की संभावना किसी अन्य कारण से होती है तो उसके रात्रि में भोजन करने का विकल्प मान्य न होता, इसी से अन्य संभाव्य विकल्पों का खण्डन किया जाता है। दूसरी परिस्थिति, जिसमें अर्थापत्ति असफल होती है, तब आती है जब जिन दो प्रमाणों का समन्वय इसमें करना होता है उनमें से किसी एक या दोनों के प्रति सन्देह होता है। अर्थात् अर्थापत्ति एक प्रकार का सापेक्ष वाक्य है। यदि देवदत्त का हृष्टपुष्ट होना और उसका दिन में न खाना दोनों सत्य हैं और यदि भोजन के अतिरिक्त हृष्टपुष्ट होने का अन्य कोई कारण संभव नहीं है तो यह निश्चित है कि वह रात्रि में भोजन करता है। इस प्रकार अर्थापत्ति के द्वारा यद्यपि अव्यवहार्य वस्तु की ओर संकेत हो सकता है तथापि उसके द्वारा न तो अव्यवहार्य वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है और

न केवल अर्थापत्ति द्वारा विकल्प जन्य शंकाओं का पूर्णतया समाधान ही होता है। इसी से कांट ने न तो अव्यवहार्य वस्तु के स्वरूप के विषय में कुछ कहा और न उसकी प्राप्ति के विषय में। इस प्रकार की जिज्ञासा किसी अन्य प्रमाण या साधन से ही शांत हो सकती है। परन्तु वह प्रमाण कांट को प्राप्त नहीं था, शंकर को प्राप्त था। यदि अर्थापत्ति से आगे बढ़ना है तो श्रुति को मानना आवश्यक है।

श्रुति की मान्यता को भी हम अर्थापत्ति के आधार पर प्रदर्शित कर सकते हैं। यदि बुद्धि या लौकिक प्रमाणों द्वारा अव्यवहार्य वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते और यदि अव्यवहार्य वस्तु को अप्राप्य नहीं मानते तो कोई ऐसा प्रमाण या साधन स्वीकार करना पड़ेगा जिससे उसकी प्राप्ति होती है। अर्थात् श्रुति की व्यर्थता या अनावश्यकता तीन परिस्थितियों में होगी। या तो हम अव्यवहार्य वस्तु को अप्राप्य मानें। यह विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि सारे जगत् में इस बात की परम्परा तथा मान्यता है कि अव्यवहार्य वस्तु को लोगों ने प्राप्त किया है। सत्यान्वेषी इस तरह का आग्रह नहीं कर सकता, अन्यथा सत्य का अन्वेषण ही नहीं हो सकता है। इस आग्रह का अर्थ तो यह होगा कि व्यावहारिक सत्य को ही सत्य मान बैठा जाय। दूसरा विकल्प, कि केवल बुद्धि द्वारा अव्यवहार्य वस्तु की प्राप्ति हो सकती है, यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि जैसा कि कांट ने कहा बुद्धि तो सामग्री सापेक्ष है। स्वतन्त्र रूप से तो बुद्धि, अव्यवहार्य का तो क्या कहना व्यावहारिक वस्तु का ज्ञान भी नहीं करा सकती। एक तीसरा विकल्प भी संभव है। कहा जा सकता है कि अव्यवहार्य वस्तु की प्राप्ति योग से हो सकती है, श्रुति की कोई आवश्यकता नहीं है। जैन और बौद्ध धर्मों में यही दृष्टिकोण अपनाकर वेद का तिरस्कार किया गया। अत: श्रुति की अनिवार्यता स्वीकार करने के पहले योग की सामर्थ्य पर विचार करना आवश्यक है।

योग के विषय में भारतीय दर्शन में दो मत मिलते हैं। जैन और बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता यह है कि केवल योग से परमतत्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं, श्रुति की आवश्यकता नहीं है। मीमांसक इस मान्यता की आलोचना करते हैं। उनका यह कहना है कि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनका ज्ञान योग द्वारा हो ही नहीं सकता। मीमांसक कहते हैं कि योग से बहुत होगा तो हमारी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़ जायगी, जैसे सूक्ष्मदर्शी तथा दूरदर्शी यंत्रों से। परन्तु यह नहीं हो सकता कि नई ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न हो जाय। अर्थात् योग के द्वारा ज्ञान का प्रकार या स्तर नहीं बदल सकता। जैन और बौद्ध योग के द्वारा निर्वाण आदि की और न्याय योग के द्वारा ईश्वर का ज्ञान संभव मानता है। मीमांसक इसी से योग का खंडन करते हैं। जैनों तथा बौद्धों के सिद्धान्त से वेद अनावश्यक हो जाते हैं और न्याय के दृष्टिकोण से सापेक्ष या पौरुषेय। मीमांसक को यह सह्य नहीं है। मीमांसकों के तर्क में बल जान पड़ता है। धर्म या विधि का ज्ञान श्रुति से ही हो सकता है, योग से नहीं। यदि योगज ज्ञान की संभावना मान भी ली जाये तो उससे किसी सिद्ध वस्तु का ही ज्ञान हो सकता है विधि का नहीं, क्योंकि विधि वस्तु नहीं केवल नियम मात्र है। योग ही नहीं किसी भी अन्य प्रमाण से विधि का ज्ञान नहीं हो सकता है। उनसे तो केवल अस्तित्त्व का ज्ञान होता है। विधि सत्ता नहीं है। जिन और बुद्ध को भी धर्म का ज्ञान श्रुति निरपेक्ष योग से नहीं हुआ, योग की सफलता श्रुति या परंपरा पर ही अवलम्बित है। श्रुति या परंपरा के बिना योग को न तो कोई दिशा मिल सकती है और न उसमें श्रद्धा ही हो सकती है। योग को दिशा विशेष में ले जाने के लिए तथा अभ्यास में तत्पर होने के लिए श्रुति या परम्परा में श्रद्धा होना आवश्यक है। जैन और बौद्ध भले ही वेद को न मानें फिर भी उनकी सफलता एक जीवित परम्परा के कारण ही मिली, परंपरा शून्य वातावरण में जैन और बौद्ध धर्म असंभव थे। अत: योग से अधिक महत्त्व श्रुति या परम्परा का है। योग की सामर्थ्य या सफलता श्रुति निरपेक्ष नहीं है। इस तरह तीनों विकल्पों का निराकरण करके श्रुति की मान्यता के विषय में अर्थापत्ति की जा सकती है।

४ - श्रुति और दर्शन

केवल बौद्धिक प्रक्रिया से अथवा केवल योग से परम तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है, इसी से श्रुति की शरण में जाना आवश्यक होता है। परन्तु श्रुति को दर्शन का आधार मानना कुछ लोगों को असंगत और अनुचित मालूम पड़ता है। ऐसी आपत्ति दो प्रकार के लोगों की है। एक तो वे लोग हैं जो श्रुति नाम की कोई चीज मानना ही नहीं चाहते। दूसरे लोग वे हैं जो श्रुति को स्वीकार करते हुए भी उसे दर्शन का आधार नहीं बनाना चाहते, क्योंकि वे श्रद्धा और दर्शन को पृथक्-पृथक् रखना चाहते हैं।

भौतिकवादी लोग, जो बौद्धिक ज्ञान को ही सब कुछ समझते हैं, श्रुति नामक ज्ञान के साधन को अनावश्यक और असंभव दोनों ही समझते हैं। अनावश्यक इसलिये कि जो ज्ञान श्रुति से हो सकता है वह बिना श्रुति के अन्य साधनों से भी हो सकता है। श्रुति तो ज्ञान के विकास में निकृष्टतम स्तर पर काम करती है और वह भी तभी तक जब तक विज्ञान का विकास नहीं होता। स्पष्ट है कि ऐसा कहने वाले लोग श्रुति का अर्थ ही नहीं समझते। क्योंकि श्रुति को तो स्वीकार ही इसलिये किया जाता है कि अन्य साधन असफल हो जाते हैं। स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य आदि का ज्ञान अन्य किसी साधन से नहीं हो सकता। विधि-निषेध और अगोचर वस्तु का ज्ञान प्राकृतिक साधनों से नहीं हो सकता। अत: ज्ञान के अन्य साधन श्रुति को अनावश्यक नहीं बना सकते।

श्रुति वास्तव में असंभव और अप्रामाणिक है क्योंकि ईश्वर आदि सूक्ष्म तत्त्व यदि सत्य हैं तो सब को क्यों नहीं प्रकट होते ? जिस वस्तु का ज्ञान कुछ लोगों को होता है उसका ज्ञान अन्य लोगों को क्यों नहीं होता ? जो लोग अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति की डींग मारते हैं वे वास्तव में विक्षिप्त मन के व्यक्ति हैं। जो सत्य है वह सबको समान रूप से प्रकट होना चाहिये। श्रुति-ज्ञान अप्रामाणिक इसीलिये है कि अन्य प्रकार के ज्ञानों से उनका मेल नहीं बैठता। श्रुति से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। श्रुति तो केवल श्रद्धा का विषय है।

इन आपत्तियों का उत्तर देने के लिये श्रुति के स्वरूप के विषय में विचार करना आवश्यक है। श्रुति के दो रूप मिलते हैं - एक तो ऐतिहासिक और दूसरा सनातन। पाश्चात्य धर्मों यहूदी, ईसाई, इस्लाम में श्रुति एक देश-काल में एक व्यक्ति के द्वारा प्रकट ज्ञान को कहते हैं। भारत वर्ष में जैन और बौद्ध धर्म भी उसी प्रकार के हैं। परन्तु मीमांसक और किसी अर्थ में वेदान्ती भी श्रुति को सनातन या नित्य मानते हैं - श्रुति देश-काल और व्यक्ति सापेक्ष नहीं है। अत: ऊपर की जो आपत्तियां हैं वे वेदों के प्रति जो देश-काल-व्यक्ति सापेक्ष नहीं हैं, लागू नहीं होती। मीमांसकों का यह कथन कि श्रुति को देश-काल-व्यक्ति सापेक्ष मानने से श्रुति की अनिवार्यता नहीं सिद्ध हो सकती है, ठीक है। इसी से महायानी बौद्ध बुद्ध को एक व्यक्ति विशेष न मानकर तत्त्व के रूप में लेते हैं और अनंत बुद्धों की कल्पना करते हैं- इस प्रकार महायान धर्म ऐतिहासिक न होकर सनातन धर्म हो जाता है। इस अर्थ में बुद्ध धर्म को भी श्रुति-प्रामाण्य कह सकते हैं। अत: श्रुति को देश-काल-व्यक्ति-निरपेक्ष मानना ही उचित है। श्रुति अनादि और अपौरुषेय है। पौरुषेय श्रुतियां किसी न किसी रूप में अपौरुषेय श्रुतियों पर अवलम्बित हैं।

श्रुतियों का अन्य प्रकार के प्रमाणों से विरोध है, यह आपत्ति भी ठीक नहीं। यदि हम श्रुति का स्वरूप ठीक से समझें तो दूसरी श्रुतियों और दूसरे प्रकार के प्रमाणों से विरोध का प्रश्न न उठेगा। भारतीय दर्शन में श्रुति के जो लक्षण दिये गये हैं वे विचारणीय हैं। प्रथम-अर्थे अनुपलब्धे:। अर्थात् श्रुति से अनुपलब्ध या अलौकिक वस्तु का ज्ञान होता है। ऐसा न हो तो श्रुति अनावश्यक होगी। दूसरा लक्षण यह है कि श्रुति किसी अन्य ज्ञान से बाधित नहीं होनी चाहिये। यदि श्रुति कहे कि अग्नि शीतल है तो इसे श्रुति नहीं माना जा सकता। तृतीय लक्षण यह है कि श्रुति तर्कसम्मत होती है। अर्थात् तर्क या युक्ति द्वारा कम से कम उस सत्य की संभावना का ज्ञान या संकेत होना चाहिए जिसका ज्ञान हमें श्रुति से होता है। इस प्रकार श्रुति का अन्य प्रमाणों से विरोध नहीं हो सकता।

परन्तु केवल इतना कहने से कि श्रुति का अन्य प्रमाणों से विरोध नहीं होता और श्रुति की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। अत: प्रश्न है कि श्रुति की प्रामाणिकता का क्या आधार है। लौकिक श्रुति की प्रामाणिकता वक्ता की प्रामाणिकता पर अवलम्बित मानी जाती है परन्तु आध्यात्मिक श्रुति को अपौरुषेय कहा गया है, अत: उसकी प्रामाणिकता व्यक्ति निरपेक्ष है। श्रुति की आवश्यकता वहाँ है जहाँ अन्य प्रमाणों की गति नहीं है, अत: श्रुति की प्रामाणिकता अन्य किसी प्रमाण पर अवलम्बित नहीं हो सकती। श्रुति को अन्य किसी प्रमाण से प्रमाणित करने की मांग करना श्रुति के स्वरूप को भूल जाना है। अन्य प्रमाण यदि समर्थ ही होता तो श्रुति की आवश्यकता ही क्या पड़ती ? इसी से वेदान्त में श्रुति को स्वत:प्रामाण्य माना गया है। अप्रामाण्य मानने का अर्थ यह है कि जब तक वह किसी प्रमाण से बाधित न हो जाय तब तक वह प्रामाणिक है। यदि श्रुति से भी हमको ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती तब भी श्रुति की अप्रामाणिकता नहीं सिद्ध होती है। श्रुति प्राप्त होने पर भी ब्रह्मज्ञान नहीं होता तो इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान का कोई अवरोधक वर्तमान है, जैसे प्रकाश में भी यदि हमें वस्तु दिखाई नहीं पड़ती तो इसका अर्थ है कि आँख पर परदा है या आँख में रोशनी नहीं है, न कि आँख के लिये प्रकाश आवश्यक नहीं है या प्रकाश है ही नहीं। अत: श्रुति की प्रामाणिकता को स्वतन्त्र मानना होगा।

श्रुति प्रमाण्य को मान लेने पर तीन प्रश्न उठते हैं। प्रथम, श्रुति के द्वारा हमें किस वस्तु का ज्ञान होता है, इस विषय में दो मत हैं। मीमांसक कहते हैं कि श्रुति से केवल विधिज्ञान होता है तथा यह ज्ञान केवल श्रुति से होता है। वेदांती यह तो स्वीकार करता है कि विधिज्ञान केवल श्रुति से ही हो सकता है परन्तु यह नहीं स्वीकार करता है कि श्रुति से केवल विधिज्ञान ही होता है। इसी से मीमांसक आत्मानं विद्धि अथवा आत्मा अरे वा द्रष्टव्य: श्रोतव्य: इत्यादि वाक्यों को विधि के अर्थ में लेता है। वेदान्ती कहता है कि श्रुति से विधिज्ञान और वस्तुज्ञान दोनों होता है। यदि श्रुति से केवल विधिज्ञान ही होता है तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्य:' विधि नहीं है, इसको श्रुति में स्थान कैसे मिला ? दूसरे, 'आत्मानं विद्धि' विधि नहीं है क्योंकि ज्ञान क्रिया नहीं है। ज्ञान और क्रिया में मौलिक भेद है - ज्ञान वस्तु तंत्र है और क्रिया इच्छा तंत्र है – अर्थात् क्रिया में कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं आदि विकल्प संभव हैं – ज्ञान के विषय में नहीं। यदि मीमांसक कहे कि आत्मा का ज्ञान तो हम सबको है उसके लिए श्रुति की क्या आवशयकता, तो वेदान्ती उत्तर देता है कि हमको आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं है क्योंकि यदि आत्मा के स्वरूप को हम जानते तो हम कैसे कहते कि हम स्थूल हैं अथवा हम सोये थे ? आत्मा स्थूल नहीं होता और न सोता है। किसी के मरने पर हम दु:ख नहीं करते यदि जानते कि आत्मा अमर है, अत: आत्मा का अज्ञान असंदिग्ध है। श्रुति का प्रयोजन उस आत्मा के स्वरूप को बताने में है। एक बात और विचारणीय यह है कि विधि तो सापेक्ष कर्त्तव्यादर्श तक सीमित है। यदि स्वर्ग पाना चाहते हो तो यज्ञ करो। यदि हमें स्वर्ग की इच्छा नहीं है तो यज्ञ करना अनिवार्य नहीं है। यह बात आत्मज्ञान के विषय में नहीं कही जा सकती क्योंकि आत्मज्ञान तो Categorical Imperative अथवा निरपेक्ष आदर्श है क्योंकि उससे दु:ख निवृत्ति होती है, और कोई यह नहीं कह सकता कि वह दु:ख-निवृत्ति नहीं चाहता अथवा दु:ख से मुक्ति की इच्छा सापेक्ष है। अत: श्रुति से वस्तु ज्ञान भी मानना आवश्यक है।

दूसरा प्रश्न यह है कि श्रुति को दर्शन में स्थान क्यों दिया जाय ? पाश्चात्य दार्शनिक दर्शन को विचार की प्रक्रिया या क्षेत्र मानते हैं। उसमें विचारेतर कोई वस्तु लाने से दर्शन दर्शन नहीं रह जाता, बल्कि धर्म (Religion-theology) हो जाता है। दर्शन तो विचार मात्र द्वारा सत्य की प्राप्ति का प्रयास है। यदि दर्शन का यही रूप हम स्वीकार करते हैं तब तो दर्शन में श्रुति को स्थान नहीं मिलना चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि हमारा आग्रह सत्य की प्राप्ति पर है अथवा दर्शन के विचारमात्र पर अवलम्बित रहने पर। यदि हमारा आग्रह है कि दर्शन को केवल विचार मात्र पर आधारित रहना चाहिये, चाहे सत्य

की प्राप्ति हो चाहे नहीं तब तो यह दुराग्रह मात्र है। परन्तु यदि दर्शन का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति है और यदि विचारमात्र से सत्य की प्राप्ति नहीं होती तो श्रुति को स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है ? यदि श्रुति द्वारा सत्य की प्राप्ति की थोड़ी सी आशा हो तो सत्यान्वेषी के लिये श्रुति को स्वीकार करना अपेक्षित है। श्रुति प्रमाण को स्वीकार करना अंधविश्वास नहीं है क्योंकि अंधविश्वास तो वहाँ होता है जहाँ स्वानुभूति द्वारा सत्य के ज्ञान की प्राप्ति की संभावना न हो। श्रुति के द्वारा तो अपरोक्षानुभूति भी संभव है, ऐसा हम आगे कहेंगे। श्रुति को स्वीकार करने से बुद्धि की निरर्थकता भी नहीं सिद्ध होती है क्योंकि श्रुति प्रमाण द्वारा प्राप्त शंकाओं से मुक्त करने के लिए बौद्धिक प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। श्रुतियों में आपसी विरोधाभास को दूर करने के लिए भी बौद्धिक प्रक्रिया की आवश्यकता है। श्रुति और बुद्धि का क्षेत्र अलग-अलग होने से उनमें न तो विरोध ही संभव है और न तो किसी का अनावश्यक होना ही।

श्रुति के सम्बन्ध में एक तीसरा प्रश्न जो उठता है वह यह है कि श्रुति द्वारा परोक्ष ज्ञानमात्र होता है अथवा अपरोक्ष ज्ञान भी होता है ? यदि केवल परोक्ष ज्ञान मात्र होता है तब तो श्रुति केवल श्रद्धा का विषय मात्र है। संभवत: यह बात अन्य प्रकार की श्रुतियों के विषय में सत्य हो परन्तु जहाँ तक उपनिषदों का प्रश्न है वेदान्त की यह मान्यता है कि श्रुति से अपरोक्ष ज्ञान भी होता है (शब्दापरोक्षवाद)। लोक में भी शब्द से अपरोक्ष ज्ञान के उदाहरण दशमस्त्त्वमसि इत्यादि दिये जाते हैं। अत: श्रुति केवल श्रद्धा का विषय नहीं है उसके द्वारा अपरोक्ष ज्ञान भी हो सकता है। वेदान्ती का तो दावा यह है कि वह किसी ऐसे सत्य की बात नहीं करता जिसका ज्ञान केवल परोक्ष ही हो अथवा मरणोत्तर ही हो सके। यदि उत्तम अधिकारी हो तो ब्रह्म ज्ञान यहीं और इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है। यही वेदान्त की विशेषता है।

ज्ञान के विषय में मात्रात्मक, प्रकारात्मक तथा मूल्यात्मक तीन दृष्टियों से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दर्शन में केवल मात्रात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता। मात्रात्मक दृष्टिकोण अन्ततोगत्वा प्रकारात्मक दृष्टिकोण का विरोध करता है परन्तु प्रकारात्मक भेद का निषेध करना असंभव है। प्रकारात्मक भेद स्वीकार करने पर मूल्यात्मक दृष्टिकोण अपनाना अनिवार्य हो जाता है और वही सच्चा दार्शनिक दृष्टिकोण है। उसी दृष्टिकोण से ज्ञान की सीमा निश्चित होनी चाहिए।

ज्ञान के विभिन्न साधन या प्रमाणों द्वारा हमको व्यावहारिक ज्ञान ही प्राप्त होता है परन्तु इस कारण अव्यवहार्य वस्तु का निषेध नहीं किया जा सकता। उसको स्वीकार करना आवश्यक है। परन्तु अव्यवहार्य वस्तु का ज्ञान न तो श्रुति निरपेक्ष योग द्वारा हो सकता है और न किसी बौद्धिक प्रक्रिया (अनुमान आदि) द्वारा हो सकता है। एक ही बौद्धिक प्रक्रिया ऐसी है जिसके द्वारा अव्यवहार्य वस्तु की ओर संकेत भर हो सकता है (उसका ज्ञान या उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता), और वह है अर्थापत्ति। अर्थापत्ति के बाद भी एक प्रमाण, जिसके द्वारा अव्यवहार्य वस्तु के स्वरूप का ज्ञान हो तथा उसकी उपलब्धि हो, मानना आवश्यक है। वह प्रमाण है, श्रुति। श्रुति प्रमाण आवश्यक और आपत्तिहीन दोनों है। आवश्यक इसलिए है कि श्रुति का अन्य किसी प्रमाण से विरोध हो ही नहीं सकता। श्रुति की प्रामाणिकता अथवा उसका बाध अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। मूल्यात्मक अर्थ में ही उपर्युक्त विधि से सर्वज्ञता संभव है। अन्य दृष्टियों से हमारा ज्ञान बराबर सीमित ही रहेगा।

***

संदर्भ सूची

१ *An Enquiry into Meaning and Truth (1947) P. 305 तथा 165.*

२ *A priori को परापर इसलिये कहा गया है कि अनुभूत निरपेक्ष होते हुए भी उसकी सार्थकता अनुभव के भीतर ही है।*

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर के विषय में प्राय: दो मुख्य प्रश्न उठते हैं – एक तो सत्ता विषयक और दूसरा स्वरूप विषयक। मैं सत्ता संबंधी प्रश्नों को यहाँ नहीं उठाना चाहता, क्योंकि मेरी धारणा है कि ईश्वर की सत्ता कोरे बौद्धिक तर्कों से नहीं सिद्ध की जा सकती। बौद्धिक तर्क इन्द्रियजन्य अनुभव की सीमा के भीतर ही सफल होते हैं। अनुभव के बाहर उपयोग होने के लिये उनको श्रुति का सहारा लेना पड़ता है। किसी भी अनुभवातीत तत्त्व का ज्ञान हमको श्रुति से ही हो सकता है। इस दृष्टि से आजकल के प्रत्यक्षवादी लोगों को तत्त्वज्ञान की आलोचना सही जान पड़ती है। तर्क से अधिक से अधिक इन्द्रियातीत तत्त्व की संभावना मात्र दिग्दर्शित हो सकती है, उसका निश्चयात्मक अस्तित्त्व तो श्रुति से ही जाना जा सकता है। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाले दार्शनिकों में भी उसके स्वरूप के विषय में मतभेद है, अत: मैं ईश्वर के स्वरूप के विषय में ही कुछ विचार प्रस्तुत करूँगा।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में दो नितांत विरोधी विचार दिखाई पड़ते हैं। एक विचारधारा के अनुसार ईश्वर केवल आदि गुरु मात्र है, सृष्टा नहीं है। दूसरी विचारधारा के अनुसार ईश्वर प्रधानतया जगत् का स्रष्टा है। यदि कहा जाय कि ईश्वर वह है जिसे गुरु की आवश्यकता नहीं होती, जो नित्य मुक्त है और जो परम ज्ञान का आदि स्रोत है, तो ईश्वर का अस्तित्त्व योग दर्शन में ही नहीं वरन् सांख्य, जैन और बौद्ध दर्शनों में भी मानना पड़ेगा। योग में जो स्थान ईश्वर का है वही स्थान सांख्य में कपिल का, जैन दर्शन में आदि तीर्थंकर का तथा बौद्ध दर्शन में आदि बुद्ध का है। ये सभी दर्शन स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व का उपदेशक कोई न कोई ऐसा होना चाहिए जिसे स्वयं उपदेष्टा की आवश्यकता न पड़ी हो, नहीं तो अनवस्था हो जायगी। हम उसी आदि उपदेष्टा को ईश्वर कहते हैं। यदि यह पूछा जाय कि वह ईश्वर जो सर्वथा पूर्ण और मुक्त है वह जगत् को परमतत्त्व का उपदेश क्यों करता है, तो सभी में यही उत्तर मिलता है कि ईश्वर बद्ध जीवों पर करुणा करके उनके उद्धार के लिये परमतत्त्व का उपदेश करता है। परन्तु यदि यह पूछा जाय कि यह सृष्टि होती ही क्यों है, तो इन दर्शनों में कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। सांख्य-योग में सारी सृष्टि प्रकृति द्वारा होती है, केवल पुरुष के सान्निध्य मात्र की आवश्यकता होती है। परन्तु यह तो सृष्टि विषयक "कैसे" का उत्तर हुआ। "क्यों" के विषय में तो वे लोग यही कह सकते हैं कि सृष्टि पुरुष के भोग के लिये होती है। परन्तु जड़ प्रकृति इस प्रकार की तात्पर्यवती सृष्टि किस प्रकार कर सकती है, यह समझना मुश्किल है। जैन तथा बौद्ध दर्शनों में भी सृष्टि को मनुष्य के कर्मों के कारण ही कहा गया है (कर्मजं लोक वैचित्र्यं) परन्तु यहाँ भी वही कठिनाई है-किस प्रकार हमारे भूतकाल के भूत कर्म प्रयोजनवती सृष्टि करने में सफल होते हैं, यह समझना कठिन है। ये चारों दर्शन सृष्टिविषयक "क्यों" का उत्तर देने में उतने ही असफल होते हैं जितना भौतिकवादी दर्शन। भौतिकवादी भी "कैसे" का उत्तर तो कुछ देने का प्रयत्न करते हैं किन्तु "क्यों" के विषय में कुछ नहीं कह पाते। एक दूसरी कठिनाई, जो ऊपर के चार दर्शनों में होती है, वह यह है कि परम कारुणिक ईश्वर, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, वह बद्ध जीवों पर दया तो करता है परन्तु सृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं रखता। यह कैसे

हो सकता है ? यदि सृष्टि प्रयोजन है और यदि ईश्वर कारुणिक ही नहीं बल्कि शक्तिवान भी है, तो अवश्य ही यह मानना पड़ेगा ईश्वर केवल आदि उपदेष्टा मात्र नहीं है बल्कि सृष्टि में भी हाथ बटानेवाला है। यदि हम उसे स्रष्टा नहीं मानते तो उसकी करुणा में संदेह होने लग जायगा। ईश्वर का मंगल रूप केवल उपदेष्टा होने तक सीमित नहीं रखा जा सकता है, उसका मंगलरूप पूर्णतया तभी व्यक्त होगा जब हम उसे स्रष्टा भी मानें, और तभी सृष्टि विषयक 'क्यों' का उत्तर भी मिलेगा।

दूसरे प्रकार के दर्शन, जो ईश्वर को प्रधानतया स्रष्टा ही मानते हैं वे हैं पाश्चात्य दर्शन जो यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम धर्मों के प्रतिपादक हैं। मैंने कहा है कि इन दर्शनों में ईश्वर प्रधानतया स्रष्टा है, क्योंकि इनमें सृष्टि निरपेक्ष मानी गयी है। इनकी विशेषता यह है कि ये सृष्टि किसी जड़ तत्त्व से अथवा कर्मों के कारण नहीं मानते। ईश्वर को सृष्टि के लिये किसी तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। वह अपनी अनंत शक्ति से नितांत शून्य से सृष्टि करता है। ईश्वर की इच्छामात्र ही सृष्टि के लिये पर्याप्त है। यदि यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर को किसी उपादान कारण की आवश्यकता नहीं है तो भी प्रश्न उठता है कि परम पूर्ण ईश्वर सृष्टि की इच्छा क्यों करता है ? वे लोग अधिक से अधिक यही कहते हैं कि यह उसकी मौज है। स्पष्ट है कि ईश्वर की मौज को सृष्टि विषयक "क्यों" का संतोषजनक उत्तर नहीं कहा जा सकता। "क्यों" का उत्तर तो कोई प्रयोजन बताने से ही होगा। इन धर्मों में सृष्टि नितांत शून्य से होती है, अत: यह भी नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर पापी या बद्ध जीवों के उद्धार के हेतु सृष्टि करता है क्योंकि सृष्टि के पहले कोई जीव ही नहीं रहता। अत: ईश्वर के सामने कोई प्रयोजन ही नहीं रहता।

सृष्टि विषयक ऊपर के निरपेक्षवाद में एक दूसरी बड़ी गंभीर कठिनाई उत्पन्न होती है जो कम से कम कर्मवादी दर्शनों में नहीं होती है। जगत् में पाप, दु:ख और अमंगल कहाँ से और क्यों आते हैं ? ईश्वर का ज्ञान, उसकी शक्ति तथा उसकी शुभेच्छा अनंत हैं और वह नितांत शून्य से सृजन प्रारंभ करता है। ऐसी स्थिति में अशुभ तथा दु:ख का प्रवेश कैसे होता है ? इन दर्शनों में कई तरह के उत्तर मिलते हैं किंतु कोई भी संतोषजनक नहीं मालूम पड़ता। प्राय: यह कहा जाता है कि पाप और दु:ख मनुष्य की स्वेच्छा के परिणाम हैं। यह भी एक प्रकार का कर्मवाद है परंतु इसमें सृष्टि के पहले न तो कोई जीव माना जाता है और न उसका कोई कर्म। अत: प्रश्न यह है कि प्रारंभ में सृष्टि में दु:ख आदि का प्रवेश कैसे हुआ। इतना ही नहीं, जिन जीवों में स्वतंत्र इच्छा नहीं है, 'जैसे पशु आदि में' उनको दु:खादि क्यों होते हैं ? कभी कभी यह भी कहा जाता है कि किसी को भी स्वतंत्र इच्छा शक्ति नहीं है। तब तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है। यदाकदा यह कहा जाता है कि सृष्टि में दु:खादि केवल देखने को हैं वास्तव में नहीं, परंतु इस सत्य जगत् में दु:खादि असत्य तत्त्वों का प्रवेश कैसे हुआ ? जगत् को सत्य मानने वाला दु:खादि को असत्य कैसे मान सकता है ? दु:खादि को किसी अन्य कारण से मानना द्वैत का प्रसंग उपस्थित करेगा। अत: या तो दु:खादि का कोई कारण नहीं है, अथवा इनका कारण भी ईश्वर ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दर्शनों में न तो "क्यों" का उत्तर मिलता है और न दु:खादि विषयक शंका का समाधान हो पाता है।

यह जान पड़ता है कि ईश्वर को स्रष्टा न मानने वाले तथा ईश्वर को निरपेक्ष स्रष्टा मानने वाले ये दोनों ही प्रकार के दर्शन एकपक्षीय हैं और इनमें से कोई भी सृष्टि विषयक "क्यों" का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता। योगादि दर्शनों से हमें यह कहना है कि ईश्वर के परम कारुणिक होने का यह तकाजा है कि वह सृष्टि के प्रति उदासीन न हो बल्कि उसका रचयिता भी हो, तभी पूर्ण रूप से जगत् का मंगल विधान हो सकता है। पाश्चात्य दर्शनों से हमें यह कहना है कि सृष्टि को सप्रयोजन बताना आवश्यक है नहीं तो उनका भौतिकवाद से बहुत भेद न रह जायगा क्योंकि सप्रयोजनता के लिये ईश्वर के सामने कोई समस्या रखना आवश्यक है, केवल उसकी मौज सृष्टि को सप्रयोजन नहीं बना सकती।

भारतीय दर्शनों में वेदांत ने ऊपर की कठिनाइयों को हल करने का प्रयत्न किया है। अनादिकाल से अपने कर्मों द्वारा बद्ध जीवों का अस्तित्त्व ईश्वर की करुणा को जागृत करके सृष्टि के लिये प्रेरित करता है। यदि बद्ध जीव न होते तो ईश्वर न तो आदि गुरु होता और न स्रष्टा। ईश्वर बद्ध जीवों के उद्धार के लिये ही सृष्टि करता है - यही सृष्टि की सप्रयोजनता है। सृष्टि न तो ईश्वर की मौज है और न केवल प्रकृति या कर्मों का खेल। सृष्टि कर्मफल देते हुए हमारे परम मंगल का विधान करने का एक उपाय है। यह उपाय अनंत शक्तिवान् तथा सर्व करुणामय ईश्वर द्वारा ही संभव है। ईश्वर को स्रष्टा न मानने से, अथवा ईश्वर को निरपेक्ष स्रष्टा मानने से, जगत् उतना ही निष्प्रयोजन जान पड़ता है जितना ईश्वर का अस्तित्त्व मानने से मालूम पड़ता है।

उपरोक्त विचार के प्रति एक शंका यह हो सकती है कि जो ईश्वर अनंत शक्तिवाला है वह बद्ध जीवों को सीधे ही बिना कर्म-फल-भोग के क्यों नहीं मुक्त कर देता है ? सृष्टि करने की उसे क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न तो वैसा ही है जैसे कोई कहे कि ईश्वर सर्व शक्तिमान् है तो वह अवतार क्यों लेता है - क्यों नहीं बिना अवतार के ही रावण को मार देता है ? बात यह है कि सृष्टि विधानात्मक है, इसमें एक व्यवस्था है। कोई ईश्वरवादी व्यवस्थाहीन जगत् नहीं मान सकता। प्रत्येक जीव की पीठ पर पूर्व जन्मों में किये हुए कर्मों का बोझ है, और व्यवस्था तथा न्याय की यह मांग है कि कर्मों के कर्त्ता को उसका फल अवश्य मिले। ईश्वर यदि इस कर्मफल विधान की उपेक्षा करके बद्ध जीवों को सीधे मुक्ति दे दे तो कोई व्यवस्था ही न रह जाय और ईश्वर उच्छृंखल हो जाय। ईश्वर करुणामय अवश्य है परंतु मनमानी करने वाला नहीं है। वह नैतिक व्यवस्था का नियंता और स्थापक है। उसमें दया तथा न्याय का समन्वय है। उसका न्याय यह है कि वह प्रत्येक जीव को उसका कर्मफल देता है और उसकी दया यह है कि यह कर्मफल इस प्रकार दिया जाता है कि क्रमश: जीव प्रवृत्ति से हटकर निवृत्ति की ओर अग्रसर हो और प्रकाश प्राप्त करे। भारतीय परम्परा में ईश्वर मुक्ति देता नहीं है बल्कि उसे प्राप्त करने के लिये प्रत्येक जीव को उसके कर्मानुसार सुविधा प्रदान करता है। मुक्ति देने की बात तो पाश्चात्य धर्मों में कही गई है और उसी तरह की विचारधारा का विरोध करने के लिये ही जैन तथा बौद्ध दर्शनों में ईश्वर को स्रष्टा नहीं कहा गया है। ईश्वर, अधिक से अधिक, उपदेश कर देता है। वेदांत के अनुसार, ईश्वर मुक्तिदाता तो नहीं है लेकिन उपदेश देने के अतिरिक्त वह जीवन की निवृत्तिमुखी व्यवस्था भी करता है, अत: वह स्रष्टा भी है।

एक दूसरी शंका यह हो सकती है कि कर्मों का अशेष रूप से भोग हो जाने पर तो जीव स्वत: मुक्त हो जा सकता है, फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता है ? पहले तो मुक्ति के लिये कर्मक्षय के अतिरिक्त ज्ञान की भी आवश्यकता है और वह ज्ञान ईश्वर से ही मिल सकता है। परन्तु दूसरी बात यह है कि हमारा पूर्वजन्म के कर्मों का भाण्डा कितना बड़ा है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। साथ ही मनुष्ययोनि ऐसी है कि इसमें जीव केवल कर्म-फल-भोग मात्र ही नहीं करता बल्कि नये-नये कर्म भी करता जाता है और इस प्रकार जहाँ एक तरफ कर्मभण्डार घटता है तो दूसरी तरफ से वह बढ़ता भी रहता है। ऐसी स्थिति में कर्मों के नितांत क्षय की क्या आशा की जा सकती है ? जब तक ईश्वर हमारी मुक्ति की व्यवस्था न करे तब तक भवजाल से निकलना असंभव है। एक समय ऐसा भी आता है जब हमारे अवशिष्ट कर्मों को भस्म करना पड़ता है - क्षीयन्ते चास्य कर्माणि। जब जीव परिपक्व हो जाता है तो ईश्वर करुणा करके उसके अवशिष्ट कर्मों को भस्म कर देता है। जीव परिपक्व तब होता है जब हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है और कर्मों का फल भोगते-भोगते उसे यह तथ्य समझ में आ जाता है कि ''न कर्मणा वर्धते नो कनीयान'' अर्थात् स्थायी और अनंत सुख कर्मों या बाह्य पदार्थों से नहीं बल्कि अपने स्वरूप को समझने से ही मिल सकता है। इसी स्थिति को अंतर्मुखी स्थिति कहते हैं और इसे प्राप्त होने पर ही

भगवान शंकर का त्रिशूल तीनों प्रकार के कर्मों का नाश करता है। इस प्रकार सृष्टि ईश्वर की दया और न्याय का समन्वय है।

सृष्टि में जहाँ तक दु:खादि का प्रश्न है वह सब हमारे कर्मों का परिणाम है। परम कारुणिक मंगलमय ईश्वर दण्ड नहीं देता है, फल देता है और वे फल कर्मानुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। परन्तु उन सब को ईश्वर इस प्रकार निर्धारित करता है कि जीव शीघ्र से शीघ्र आत्मोन्मुखी या अंतर्मुखी हो। जगत् सत्य है तो इसमें पाया जाने वाला दु:खादि भी सत्य हैं, परंतु दु:खादि बुरे नहीं हैं क्योंकि उनके द्वारा ईश्वर हमारे मंगल का विधान करता है। यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर को इस सृष्टि में इन अवांछित तत्त्वों को नहीं रहने देना चाहिये, क्योंकि तब तो यह कहना होगा कि ईश्वर को कर्मफल विधान ही नहीं करना चाहिये। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर दयालु है तो कर्मफल देने में कठोरता क्यों दिखाता है ? रियायत क्यों नहीं करता ? ईश्वर की दया का माप उसकी रियायत से नहीं करना चाहिये। रियायत चाहना और करना दोनों ही कमजोरी के लक्षण है। कुछ लोग रियायत को कृपा समझते हैं। ऐसी कृपा तो केवल सांसारिक दृष्टि वाले चाहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि वाला व्यक्ति रियायत नहीं कृपा चाहता है और कृपा का अर्थ है प्रकाश-प्राप्ति। इसी से ईश्वर के सच्चे भक्त कहते हैं कि मैं चाहे जिस योनि में जन्म लूं और जो भी दु:ख भोगूं, हे ईश्वर आपकी याद बनी रहे। रियायत करने से अव्यवस्था होती है, क्योंकि एक व्यक्ति के कर्मफल में रियायत करने से उससे सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति तथा उनसे सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों के प्रति भी नियम ढीला करना पड़ेगा क्योंकि इस संसार में अणु-अणु तथा प्रत्येक जीव एक दूसरे से संबंधित हैं। ईश्वर की दया यही है कि वह हमारे कर्मफलों की व्यवस्था ऐसी करता है जिससे हमारा आध्यात्मिक विकास सरल और शीघ्र हो। उसकी दूसरी दया यह है कि समय आने पर उपदेशक की व्यवस्था करता है तथा आवश्यक होने पर अवशिष्ट कर्मों को भस्म कर देता है।

अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईश्वर का सच्चा स्वरूप उसका मंगल रूप है। यह सत्य है कि परम मंगलमय ईश्वर बद्ध जीवों पर करुणार्द्र होकर आदि गुरु के रूप में उस परमतत्त्व का उपदेश करता है जिसका ज्ञान जीव को अन्यथा नहीं हो सकता। परन्तु यह अर्द्ध सत्य है क्योंकि इससे ईश्वर की करुणा पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होती। उसकी पूर्ण करुणा तो तब प्रकट होती है जब वह स्रष्टा के रूप में बद्ध जीवों के आध्यात्मिक विकास की योजना कार्यान्वित करता है। ईश्वर की करुणा इसके आगे भी जाती है। ईश्वर स्वयं समय-समय पर अवतरित हो कर जीव को प्रकाश की ओर अग्रसर करता है। जो लोग अवतारवाद को स्वीकार नहीं करते वे ईश्वर की अनंत करुणा की झलक नहीं पाते। परन्तु अवतारवाद का संबंध मायावाद से है क्योंकि ईश्वर का मायावी अवतार ही स्वीकार किया जा सकता है। यदि ईश्वर वास्तव में मनुष्य का रूप धारण करे तो वह मनुष्य की भांति अपूर्ण और दु:खी हो जायेगा और जगत् को प्रकाश देने का कार्य न कर सकेगा। अत: ईश्वर मायावी रूप में ही अवतार ले सकता है। इसीसे मैंने कहा कि ईश्वर का वास्तविक रूप वेदांत में ही स्पष्ट हुआ है।

***

अद्वैतवेदान्त में ईश्वर एवं भक्ति

लाहिड़ी महाशय, जो काशी के एक सिद्ध महापुरुष थे, कई प्रकार के साधकों को दीक्षा दिया करते थे। उन सब के बारे में समाज को बहुत ज्ञान नहीं है परन्तु उनके दो शिष्यों के विषय में हम सबको विशेष जानकारी है। एक तो सान्याल महाशय जो गृहस्थ थे। इनके भी कई आश्रम है, परन्तु केन्द्र भागलपुर का आश्रम है। इनकी विशेषता यह रही है कि ये गृहस्थों को साधना बताते थे और उनको दीक्षा भी देते थे। इस परम्परा में अब भी अनेक गृहस्थ दीक्षित हो रहे हैं और साधना कर रहे हैं। लाहिड़ी महाशय के दूसरे शिष्य युक्तेश्वर महाराज थे जिनके शिष्य परमहंस योगानन्द थे। युक्तेश्वर महाराज की विशेषता यह थी कि उन्होंने सन्यास-मार्ग का अवलम्बन किया और उनके शिष्य भी सन्यासी ही हुए। उनमें से प्रमुख परमहंस योगानन्द थे। इन्होंने अपने गुरु के उपदेश का तथा भारतीय संस्कृति का देश-विदेश में प्रचार किया। आज भी जब वे नहीं हैं, विभिन्न केन्द्रों पर कार्य चल रहा है।

परमहंस योगानन्द की पत्रिका का नाम आत्म साक्षात्कार तथा उनके आश्रमों का नाम आत्म साक्षात्कार केन्द्र है। इससे तथा उनके लेखों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उनका आदर्श अद्वैतवादी सिद्धांत का आत्म साक्षात्कार था। परन्तु साथ ही हम यह भी पाते हैं कि परमहंस योगानन्द के व्याख्यानों में भक्ति पर विशेष बल दिया गया है। वे क्राइस्ट, कृष्ण आदि का नाम एक साथ लेते थे और जीवन में हार्दिक प्रार्थना का महत्त्व समझाते थे। ज्ञानमार्गीय अद्वैत वेदान्त के साथ भक्ति का यह समन्वय कुछ लोगों को अटपटा प्रतीत होता है। अद्वैतवादी होकर भी उन्होंने भक्ति पर इतना बल कैसे दिया ? भला अद्वैतवाद में ईश्वर या भक्ति का क्या महत्त्व हो सकता है ? वहाँ तो ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ माया है, मिथ्या है – ईश्वर और उसकी भक्ति सब कुछ। यह कठिनाई आज भी बहुत से लोग प्रस्तुत करते हैं। अत: मैंने अद्वैतवेदान्त में ईश्वर एवं भक्ति विषय पर अपने विचार आपके सामने रखना पसन्द किया है।

सर्वप्रथम हम अद्वैत वेदान्त में ईश्वर के महत्त्व का प्रश्न लेते हैं। आजकल के व्याख्याकार अद्वैतवेदान्त में ईश्वर के महत्त्व पर बल कम देते हैं या सम्भवत: उसे अनावश्यक भी समझते हैं। परन्तु हमारी दृष्टि से अद्वैतवेदान्त में कई कारणों से ईश्वर का विशेष महत्त्व है। उन कारणों को बताने से पहले हम यह कहना चाहते हैं कि अद्वैतवेदान्त में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है - एक सिद्ध की भाषा और दूसरी साधक की भाषा। ब्रह्म सत्य है, जीव और ब्रह्म एक हैं तथा जगत् मिथ्या है यह सिद्ध की भाषा है जिसने यह अनुभव कर लिया है उसके लिए दर्शन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो साधक है और जो उपरोक्त अनुभव करना चाहता है किन्तु जिसको जीव और जगत् सत्य प्रतीत होते हैं उसके लिये अद्वैतवेदान्त में अनिवार्यत: भेद-दृष्टि की भाषा या व्यवहारिक दृष्टि की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। अत: जो लोग झट से यह कह देते हैं कि जब सब कुछ मिथ्या है तो ईश्वर और भक्ति का क्या महत्त्व हो सकता है, वे यह भूल जाते हैं कि बिना सिद्ध हुए वे सिद्ध की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। उनकी यह बात सही है कि सिद्ध के लिये ईश्वर की भक्ति की कोई अनिवार्यता नहीं है, परन्तु जो सिद्ध नहीं है

उसे यह कहने का अधिकार नहीं है कि जीव, जगत् और ईश्वर सब मिथ्या हैं। उनका अधिकार साधक की भाषा का ही प्रयोग करना है। ईश्वर तथा भक्ति के विषय में विचार करते हुए हमको यह ध्यान रखना होगा कि हम साधक की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, न कि सिद्ध की भाषा का। इस बात को भूल जाने पर तरह-तरह की कठिनाइयाँ मालूम होंगी।

जिज्ञासु को ब्रह्म के विषय में सर्वप्रथम संकेत जगत् के कारण रूप में मिलता है। क्योंकि जिज्ञासु साधक जगत् को तथा कार्य-कारण के सिद्धान्त को सत्य मानता है। परन्तु साथ ही यह भी बताया जाता है कि ब्रह्म अविकारी है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जब यह शंका होती है कि ऐसा अविकारी ब्रह्म इस नानात्मक जगत् का कारण कैसे हो सकता है तब कहा जाता है कि यह सृष्टि ब्रह्म का परिणाम या विकार नहीं है बल्कि उसका विवर्त है या सृष्टि मायाविक है। अर्थात् अज्ञान या माया के कारण ही इस नानात्मक जगत् की प्रतीति होती है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है अत: यह प्रतीति एक भ्रांति या अविद्याजन्य ही हो सकती है। इस प्रकार मायोपहित ब्रह्म या ईश्वर हमको जगत् के कारण के रूप में मानना पड़ता है। ब्रह्म और ईश्वर दो तत्त्व नहीं हैं। ब्रह्म ही जगत् के कारण के रूप में या मायोपहित (ईश्वर) रूप में स्वीकार किया जाता है। इसलिए ब्रह्म और ईश्वर में ऊँच-नीच का भेद करना गलत है। मायोपहित होकर ब्रह्म अपने को ब्रह्म के रूप में जानता है। उसे ही हम ईश्वर कहते हैं। मायोपहित हुए बिना ब्रह्म स्वयं को ब्रह्म के रूप में नहीं जान सकता। माया द्वारा उत्पन्न उपकरणों के साधन से ही ब्रह्म जगत् की सृष्टि करता है और अपने को जानता है। किन्तु माया को जगत् का कारण न कहकर ब्रह्म को इस जगत् का कारण कहा जाता है। क्योंकि माया स्वतन्त्र नहीं है, परतन्त्र है, ब्रह्माश्रिता है। ब्रह्म पर आश्रित होकर ही माया सक्रिय हो सकती है। स्वतन्त्र रूप से न उसमें शक्ति है और न ही सत्ता। अत: ब्रह्म ही प्रधान कारण है। लेकिन वह ब्रह्म है सोपाधिक या मायायुक्त ब्रह्म। स्वरूपत: ब्रह्म कारण नहीं है। बद्धजीव की दृष्टि से ब्रह्म तक पहुँचने के लिए सोपान के रूप में सोपाधिक ब्रह्म को जगत् का कारण कहना पड़ता है। माया भी स्वरूपत: कारण नहीं हो सकती है क्योंकि वह पराश्रिता है। स्वरूपत: कुछ नहीं है। स्वरूपत: न ब्रह्म कारण है और नहीं स्वतन्त्र रूप से माया। सोपाधिक ब्रह्म या ईश्वर ही सृष्टा है।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर मनमाने ढंग से सृष्टि नहीं करता है जैसा कि पाश्चात्य धर्मों में कहा जाता है। ईश्वर की सृष्टि एक प्रयोजन को दृष्टि में रखकर तथा एक नियम के अनुसार होनी है। वह प्रयोजन है जीवों का कल्याण या उद्धार और नियम है कर्मफल का नियम। ईश्वर इस प्रकार सृष्टि करता है कि उसमें केवल हमारे कर्मफल की व्यवस्था ही नहीं रहती है। बल्कि उसके द्वारा सभी जीवों का क्रमश: आध्यात्मिक विकास होता है तथा सभी जीवों को अन्ततोगत्वा मुक्ति नामक लक्ष्य प्राप्त होता है। पूर्ण विश्व की इसप्रकार की योजना कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली और पूर्ण मंगलमय तत्त्व ही कर सकता है। वही तत्त्व ईश्वर है। बौद्ध, जैन, मीमांसक आदि कुछ दार्शनिक कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को तो मानते हैं परन्तु कर्मफल का कोई नियामक नहीं मानते। उनको इस प्रकार का उत्तर देने में कठिनाई होती है कि विभिन्न जन्मों के कर्मों का फल किसी क्रम विशेष से मिलता है या आकस्मिक रूप से। यदि कर्मफल मनमाने या आकस्मिक रूप से मिलते हैं तब तो सारी सृष्टि दिशाहीन होगी और उसमें कोई व्यवस्था नहीं होगी। यदि कर्मफल किसी क्रम या नियम से मिलते हैं तो वह क्रम या नियम स्वयमेव नहीं बन सकता। उसका एक नियामक होना चाहिये और वह है ईश्वर। ईश्वर ही कर्मफल का क्रम निश्चित करता है तथा एक जीव के कर्मफल का समन्वय दूसरे जीवों के कर्मफल के साथ करता है। सभी वेदान्त सम्प्रदायों में इस बात पर बल दिया गया है लेकिन लोग इस पर ध्यान नहीं देते। कम से कम कर्मवादियों के लिये ईश्वर सिद्धि के लिये यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है।

तीसरी बात, वे दर्शन जो मुक्ति की संभावना मानते हैं परन्तु ईश्वर को नहीं मानते, वह यह है कि यदि सभी जीव सदा से समान रूप से बद्ध या अज्ञानी हैं तो उनको इस बात का ज्ञान कैसे होगा कि वे बन्धन में हैं, बन्धन अज्ञान के कारण है और उस अज्ञान का निवारक कोई ज्ञान है। वह ज्ञान किस प्रकार का है और उसकी प्राप्ति के लिये किस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए, इत्यादि बातों का ज्ञान बद्ध जीव को कदापि नहीं हो सकता है। बन्धन है, बन्धन का कारण है, बन्धन के कारण को दूर किया जा सकता है, यह सब हमको प्रत्यक्ष या तर्क से नहीं मालूम हो सकता है। इसका ज्ञान तो हमको श्रुति या परम्परा से ही हो सकता है। यह कहना कि योगी को इस सब का ज्ञान हो सकता है जैसे महावीर और गौतम को हुआ था, ठीक नहीं है क्योंकि योगी बनना अथवा योगाभ्यास करना तभी सम्भव है जब उपरोक्त बातों का ज्ञान हो। महावीर और गौतम यद्यपि वेद को नहीं मानते थे फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि वे आर्य परम्परा और परिवार में पैदा हुए थे और पले थे। अत: उनको बन्धन और मोक्ष का ज्ञान था। उनका प्रयास या योगाभ्यास एक परम्परा के परिपेक्ष्य में ही हुआ था न कि शून्य में। उनकी विशेषता यही थी कि परम्परा से प्राप्त साधनों में कुछ सुधार करके उन्होंने एक नये मार्ग को प्रशस्त किया। मार्ग के विषय में भी अनेक बातें उन्हें परम्परा से ही ज्ञात थी। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुति या परम्परा से सर्वथा अछूते रहकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से कोई मार्ग निकाला। श्रुति की परम्परा या शिक्षा उस समय के सामाजिक वातावरण में वर्तमान थी। श्रुति के बिना उपरोक्त अतीन्द्रिय बातों का ज्ञान मानव को हो ही नहीं सकता। इसी से श्रुति को मानवकृत न कहकर ईश्वरकृत कहा गया है। ईश्वर नित्यमुक्त है। वह अनादिकाल से आध्यात्मिक सत्यों और सिद्धान्तों को जानता है। उसे गुरु या श्रुति की आवश्यकता नहीं है। गुरु परम्परा में अनवस्था दोष न हो, इसलिये ईश्वर को आदि गुरु के रूप में मानना आवश्यक है। ऐसा आदिगुरु ही श्रुति का जनक हो सकता है। वही जीवों के मंगलार्थ आध्यात्मिक रहस्यों को श्रुति के रूप में प्रकट करता है। बिना ईश्वर-कृपा के मनुष्य बन्धन, मोक्ष आदि के विषय में सदैव सर्वथा अन्धकार में रहता। प्रत्यक्ष प्रमाण आदि से इन विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि ये इन्द्रियातीत विषय हैं और ऐसे विषयों के सम्बन्ध में श्रुति या ईश्वर ही हमें ज्ञान दे सकता है। इस प्रकार जगतोद्धारक आदिगुरु के रूप में या श्रुतिदाता के रूप में अमानव पुरुष ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है।

चौथी बात यह है कि मनुष्य का स्वभाव है कि वह जिसे सामर्थ्यवान और कृपालु समझता है उसके प्रति आकृष्ट होता है, उसे प्रसन्न करना चाहता है और उसकी भक्ति करता है। सामर्थ्यवान और कृपालु दोनों ही होना आवश्यक है। दरिद्र किसी अन्य की क्या सहायता करेगा और कृपण धनवान होकर भी कुछ नहीं कर सकता। जब मानव को यह ज्ञान होता कि ईश्वर अनन्त शक्ति वाला है और निरन्तर उसकी मंगलकामना करता है तो स्वभावत: वह उसकी ओर झुकता है। इसीसे जैन और बौद्ध भी महावीर और बुद्ध की ओर झुके और झुकते हैं तथा ईश्वर की तरह उनकी भक्ति करते हैं। महावीर और बुद्ध भले ही ईश्वर को न माने परन्तु साधक तो उनकी पूजा ईश्वर के ही समान करते हैं और पूजा ही नहीं बल्कि मूर्ति पूजा भी करते हैं। मनुष्य की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर अद्वैतवेदान्त में स्पष्ट रूप से सगुण ब्रह्म और उसके अवतारों की मान्यता है। मनुष्य का हार्दिक सम्बन्ध सगुण ब्रह्म से ही हो सकता है, निर्गुण से नहीं। अनन्त शक्तिशाली परममंगलमय ईश्वर से हार्दिक सम्बन्ध स्थापित करना एक उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

इस प्रकार ईश्वर तत्त्व की स्वीकृति और भक्ति की प्रवृत्ति जो जैन तथा बौद्ध धर्मों में परोक्ष रूप से आती है उसे अद्वैतवेदान्त में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। यह कहा गया है कि भक्ति-भावना निर्गुण-निराकार के प्रति नहीं हो सकती है। उसके लिए सगुण साकार ब्रह्म की आवश्यकता है। भक्त का भावुक हृदय जब अपने को ईश्वर के सामने खोलता है तो उसे आशा होती है कि उसका पूज्य भी उसकी

ओर दृष्टिपात करे और अपने कृपा कटाक्ष से उसके हृदय को शान्ति और आनन्द से भर दे। इसप्रकार भक्ति का प्रारम्भ द्वैत के आधार पर होता है और भक्त तथा भगवान में आदान-प्रदान होता है। जब भक्त स्वयं को पूर्णरूप से समर्पित कर देता है तो भगवान भी अपने को समर्पित कर देता है। भक्त अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं समझता, अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रखता; वह अपनी सत्ता और इच्छा को ईश्वर में विलीन कर देता है। वह भगवान का हो जाता है और भगवान उसका हो जाता है। इस प्रकार भक्त और भगवान एक हो जाते हैं। इसे हम भक्ति का अद्वैत कह सकते हैं। अत: यद्यपि भक्ति का प्रारम्भ द्वैत से है तथापि उसका पर्यवसान अद्वैत या ऐक्य में ही है। अद्वैतवाद का कहना केवल इतना ही है कि पूर्ण ऐक्य सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य या सारूप्य से नहीं हो सकता। पूर्ण ऐक्य तो तादात्म्य ही है, और वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है। ज्ञान से ही भक्त यह अनुभव करने लगता है कि वह भगवान जिसे वह अपने से दूर और भिन्न समझता था वह वास्तव में उसकी परम आत्मा ही है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त ईश्वर की सार्थकता दिखाते हुए भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में मानता है।

जहाँ ईश्वर नहीं माना गया है वहाँ भी भक्ति भावना उदित होती है जैसे जैन तथा बौद्ध धर्मों में। इसके पीछे क्या रहस्य है ? बात यह है कि भक्ति भावना मानव हृदय की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह अपने को किसी न किसी के प्रति प्रकट करती है। चाहे वह ईश्वर हो या कोई देवी देवता हो या कोई मनुष्य विशेष हो। यह भावना विशेषकर भीषण संकट के समय और कृतज्ञता के अवसर पर उदित होती है। जिससे उपकार की आशा होती है अथवा जिससे हम उपकृत होते हैं उसके प्रति भक्ति भावना स्वभावत: होती है। इसी से भक्तों की श्रेणी में आर्त और अर्थार्थी भक्त प्रथम आते हैं। आर्त भक्त वे हैं जो सब प्रकार का प्रयत्न करने के उपरान्त अपने संकट को दूर करने में स्वयं को सर्वथा असमर्थ पाते हैं। कुछ समय के लिए उनका कर्तृत्वाभिमान नष्ट हो जाता है जैसे द्रौपदी और गज का हुआ था। ऐसे समय में भक्त के दोनों हाथ अपने आप परमपिता की पुकार में ऊपर उठ जाते हैं। ऐसे भक्तों को अभिमान शून्य पाकर और उनको प्रोत्साहित करने के लिये भगवान उनकी प्रार्थना सुनता है, उनको कर्म फल के भरोसे नहीं छोड़ देता, विशेष कृपा करके कर्म फल नियम को भी थोड़ी देर के लिए स्थगित करके ईश्वर उनकी सहायता करता है। इन दोनों प्रकार के भक्तों की विशेषता यह है कि इनमें कर्तृत्वाभिमान तो नहीं रहता परन्तु भोग की इच्छा रहती है। इसलिये वे सांसारिक लाभ की ही कामना करते हैं। परन्तु इसे वे न तो अपने भरोसे प्राप्त करते हैं और न ही किसी अन्य के भरोसे। केवल ईश्वर ही उनका सहारा होता है। ये भक्त यद्यपि सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये ईश्वर की शरण में जाते हैं फिर भी वे भक्त हैं। क्योंकि वे निरभिमान होते हैं और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी का भरोसा नहीं करते। ये भक्त जब यह समझने लग जाते हैं कि सांसारिक भोग क्षणिक होते हैं, सदा दुखमिश्रित होते हैं और सांसारिक बन्धन को दृढ़ करते हैं तब उनके निर्मल मन में यह जिज्ञासा होती है कि क्या सांसारिकता से मुक्ति नहीं हो सकती ? क्या शुद्ध, स्थायी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती ? ऐसे भक्त जिज्ञासु कहलाते हैं। ये ईश्वर से मुक्ति की कामना करते हैं और उस स्थिति की प्राप्ति चाहते हैं जो कभी क्षीण न हो और जिससे कभी पतन न हो। वे यह पूर्णरूप से समझ जाते हैं कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईश्वर के अतिरिक्त कोई और उनका सहायक नहीं हो सकता। अत: वे पूर्णरूप से ईश्वर की शरण जाते हैं। प्रवृत्ति से विमुख होकर अब वे निवृत्ति की ओर मुड़ते हैं। उनकी इस भावना से और अधिक प्रसन्न होकर ईश्वर उनकी यथेष्ट सहायता करता है। क्योंकि ईश्वर यही तो चाहता है कि जीव संसार से विमुख होकर ईश्वरोन्मुख होवे और आत्म-साक्षात्कार की ओर बढ़े। आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु अपने को सर्वथा असमर्थ पाकर ईश्वरोन्मुख होते हैं और ईश्वर-भक्ति करते हैं। यह तो ठीक है परन्तु ज्ञानी को भक्त क्यों कहा जाता है ? ज्ञानी तो अकाम होता है, आप्तकाम होता है, मुक्त होता है - उसे ईश्वर भक्ति की क्या आवश्यकता

होती है। इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह है कि ज्ञानी की भक्ति कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में होती है। जिस कृपालु ईश्वर ने कृपा करके गुरु रूप में आकर ज्ञानी को ज्ञान दिया उसके प्रति कृतज्ञ होना या भावुक होना स्वाभाविक है। जब हम सांसारिक समस्याओं के हल करने वाले के प्रति इतना कृतज्ञ हो सकते हैं कि उसे जीवन भी समर्पित करने के लिये तैयार हो जाते हैं तो जीवन की सबसे कठिन और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या को हल करने वाले ईश्वर के प्रति कितनी भी कृतज्ञता प्रकट की जाय थोड़ी ही है। यहाँ यह ध्यान रहे कि यह कृतज्ञता समाधि की स्थिति या अभेदानुभव की स्थिति में नहीं प्रकट की जाती, बल्कि भेद के स्तर पर उतरने पर की जाती है। ज्ञानी भेद के स्तर पर उतरने पर भक्त हो जाता है।

ज्ञानियों की भक्ति भावना का एक कारण और भी है। ज्ञानी का मन सांसारिकता से इतना विरक्त रहता है कि समाधि की अवस्था से नीचे उतरने पर उसे किसी सांसारिक विषय पर कुछ कहना या सुनना सहन नहीं होता। अत: जागृतावस्था में उसे ईश्वर का चिन्तन, स्मरण, जप आदि छोड़कर और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। उसे ईश्वर लीला स्मरण और श्रवण तथा नाम संकीर्तन अच्छा लगता है। इसी से ज्ञानी के जीवन में भी भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति भावना सबके हृदय में होती है - चाहे वह बद्ध हो, चाहे साधक हो, चाहे सिद्ध हो। भेद इस बात में होता है कि भक्ति की दिशा और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। सांसारिक जीव अपनी कामनाओं के पूर्ति के लिये सामर्थ्यवान मनुष्यों की भक्ति करता है। आर्त और अर्थार्थी उन कामनाओं की सिद्धि के लिए ईश्वर को पुकारते हैं। उसी प्रकार जिज्ञासु साधक सिद्धि प्राप्ति के लिए भगवान से प्रार्थना करता है और सिद्ध पुरुष ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

यही नहीं कि भक्ति भावना सब में होती है बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि भक्ति-भावना सभी प्रकार के साधकों के लिये अनिवार्य भी है। बात यह है कि सभी साधनाओं में तथा सभी प्रकार की विद्याओं को सीखने के लिये गुरु की परम आवश्यकता है - विशेषकर आध्यात्मिक साधन के लिए। जिसमें गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं, गुरु के प्रति भक्ति नहीं, वह किसी भी प्रकार की सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। हमारी श्रद्धाभक्ति से यही नहीं होता कि गुरु प्रसन्न होकर शिष्य के हृदय खोल देता है बल्कि श्रद्धाभक्ति से शिष्य का हृदय भी खुल जाता है और उसमें ग्रहणशक्ति बढ़ जाती है। ग्रहणशक्ति बढ़ाने के लिये श्रद्धाभक्ति परम आवश्यक है। कम से कम गुरु के प्रति भक्ति तो होनी चाहिए। गुरु के प्रति जो भक्ति है वह ईश्वर भक्ति ही है। क्योंकि ईश्वर आदि गुरु है। तभी तो गुरु और गोविन्द को एक कहा गया है। गुरु की महिमा अपार है। मात्र उपदेश ही नहीं देता बल्कि शिष्य के लिये एक जीवित उदाहरण प्रस्तुत करता है जिससे शिष्य को प्रोत्साहन मिलता है और विश्वास होता है कि उसे भी सिद्धि मिल सकती है। अवश्य ही शिष्य के लिए गुरु ईश्वर ही है।

भक्ति के विषय में कुछ और भी विशेष बातें हैं। एक तो यह कि ज्ञान के लिये प्रारंभ से ही उत्कट वैराग्य की आवश्यकता होती है। भक्ति के लिए यह अपेक्षा नहीं है। भक्त अपनी सांसारिक प्रवृत्तियों को साथ लेकर ईश्वरोन्मुख हो सकता है। इसी से ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को और विशेष कर कलियुग में अधिक सरल और सुलभ कहा गया है। दूसरी बात यह है कि भक्ति में कर्मसन्यास की आवश्यकता नहीं है। कर्मों को ही भक्ति का माध्यम बनाया जा सकता है। तीसरी बात यह है कि भक्ति में मानव हृदय के रागात्मक पक्ष का भी पोषण होता है। इसी से भक्ति का विशेष महत्त्व हैं।

लोगों को यह कहते हुए पाया जाता है कि अद्वैत वेदान्त में भला भक्ति को क्या स्थान मिल सकता है ? कहा जाता है कि ईश्वर और भक्त अथवा गुरु और शिष्य एक ही हैं तो कौन किसकी भक्ति करे और क्यों ? यह बड़ी ही थोथी किस्म की आलोचना है, क्योंकि इसमें दृष्टिकोणों का घपला है। ईश्वर-जीव अथवा गुरु-शिष्य परिमार्थिक दृष्टि से या सिद्ध की दृष्टि से भले ही एक हों परन्तु साधक की दृष्टि

से एक नहीं हैं। जब तक हमारे मन में भेद दृष्टि है तब तक अभेद दृष्टि की बात करना ओछापन है, ढोंग है और जब तक भेद दृष्टि है, गुरु या ईश्वर की भक्ति करने में असंगति क्या है ? अत: अद्वैत वेदान्त में साधक को भक्ति द्वारा हृदय को निर्मल बनाना और उसकी ग्रहण शक्ति बढ़ाने की बात जोर से कही गयी है। कम से कम गुरु-भक्ति तो होनी चाहिये। व्यवहारिक स्तर पर ज्ञानी के लिये भी गुरु, गुरु ही रहता है। गुरु की कृपा को ज्ञानी कैसे भूल सकता है ? सच पूछिये तो साधक को निर्गुण ब्रह्म से क्या लेना-देना है। उसके उद्देश्य की पूर्ति तो गुरु और ईश्वर की कृपा से ही हो सकती है। ब्रह्म ज्ञान जब होगा तब होगा। तब तक गुरु ईश्वर की शरण ही हमारे लिये सब कुछ है। यहाँ पर एक बात की चर्चा करना आवश्यक है। कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर मायोपहित होने के कारण सीमित होता है - यह कहना भी बिल्कुल नासमझी है क्योंकि माया कोई स्वतन्त्र या सत्य तत्त्व नहीं है। अत: उससे ब्रह्म कैसे सीमित हो सकता है। मायोपहित होने पर भी ब्रह्म पूर्णरूप से ब्रह्म ही रहता है। बल्कि उसकी विशेषता होती है कि वह अपने को ब्रह्म रूप में जानता भी है।

उपसंहार करने के पहले भक्ति के विषय में एक और बात कह देना आवश्यक जान पड़ता है। भक्ति का एक सामाजिक पहलू भी है। क्योंकि भक्ति व्यवहारिक स्तर से ही उठती है। भक्त हृदय कोमल होता है, निरभिमान होता है। इसीलिये भक्त ही सच्चा समाज सेवक हो सकता है। भक्त ईश्वर के सम्बन्ध में सबको अपना समझता है, सबको आदर देता है, सबके कष्ट को समझता है और उससे द्रवित होता है। भक्त ही सच्ची सेवा कर सकता है क्योंकि उसे हानि-लाभ, आदर-अनादर, जय-पराजय अथवा सुख-दुख की परवाह नहीं होती है। वह तो जो कुछ करता है उसे ईश्वरार्पण कर देता है। उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। स्वार्थी मनुष्य सच्ची सेवा नहीं कर सकता। उसे कम से कम आदर और ख्याति मिलनी चाहिये। यह न मिलने पर उसे दुख होता है और वह निरुत्साहित हो जाता है। परन्तु भक्त पर इन भावनाओं का प्रभाव नहीं होता हैं। भक्त काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर कुछ नहीं करता है। वह तो अपने प्रयासों से ईश्वर को प्रसन्नमात्र करना चाहता है। वह तो उपकृतों के प्रति स्वयं अपने को उपकृत मानता है। वह उपकृत्यों से कृतज्ञता की अपेक्षा कैसे करेगा ? संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त में उन भावनाओं का अभाव होता हैं जिनसे समाज में ईर्ष्या, द्वेष और कलह उत्पन्न होते हैं। समाज में अशान्ति के मूल में यही भावनाएँ हैं। अत: जो कोई भी इन भावनाओं को कम करने या उखाड़ने में समाज की सहायता करे, समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करे, वह समाज का सबसे बड़ा हितैषी है, सबसे बड़ा उपकारी है। अत: समाज में भक्त का बहुत बड़ा स्थान है।

अद्वैतवेदान्त यदि यह कहता है कि हमको सभी जीवों को ब्रह्म समझकर उनकी सेवा करनी चाहिये तो कुछ लोगों को इसमें विरोधाभास जान पड़ता है। जब सभी जीव ब्रह्म हैं तो उनकी सेवा क्या करनी है ? परन्तु वास्तव में सेवा का अर्थ यह है कि हम सब जीवों के प्रति समान दृष्टि रखें और अपने पराये का भेद न रखें। अन्यथा सेवा स्वार्थमय हो जायगी, दूषित हो जायगी। दूसरी बात यह है कि समदृष्टि कई प्रकार से लाई जाती है। एक समदृष्टि तो तब होती है जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है। सेवा के माध्यम से ममत्व-दृष्टि के स्थान पर समत्व-दृष्टि लाना भी एक महान साधना है जो बहुत कठिन है परन्तु ईश्वर भक्ति का भाव मन में रहने से सरल हो जाती है। सबकी सेवा के भीतर ईश्वर सेवा की भावना रखने से भक्त को बल मिलता है। संकट में उसकी रक्षा होती है वह अभिमान और लोभ से बचता है। इसीलिये रामकृष्ण परमहंस, चैतन्य महाप्रभु आदि महात्माओं ने जीव सेवा द्वारा ईश्वर का उपेदश दिया है। इससे सेवक और सेवित दोनों का उपकार होता है। सेवा पाकर जब सेवित व्यक्ति भक्त की ओर आकृष्ट हो जाता है और उसका अनुसरण करने लग जाता है तब उसका और भी अधिक मंगल होने लग जाता है। अत: सेवा धर्म की महिमा असीम है।

आजकल जो जनसेवी समाज में घूमते फिरते दिखाई देते हैं क्या उनके मन में सच्ची समाज सेवा की भावना है ? कदापि नहीं। उनमें किसी को वोट चाहिये, किसी को आदर चाहिये, किसी को इनकम टैक्स से बचाव चाहिये। उनमें किसी में भी सच्ची सेवा वृत्ति नहीं है क्योंकि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं है, वे स्वार्थपूर्ण है। सेवा का पुरस्कार न पाने पर वे क्रुद्ध होते हैं, निराश होते हैं और कभी-कभी तो वे समाज विरुद्ध हो जाते हैं। ऐसे सेवकों से भगवान हमारी रक्षा करे। सच्चा सेवक होने के लिए आवश्यक है कि हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो, हम ईश्वर भक्त हों। स्वामी विवेकानंद और परमहंस योगानन्द ने जो सेवा और प्रेम का उपदेश किया है उसको हमें ठीक से समझना होगा और उसे आचरण में लाना होगा। ईसामसीह और मुहम्मद साहब ने भी इसी दृष्टि से हमारे सामने सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया। सच्ची सेवा वही है जो भक्ति-भाव से समन्वित हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत की साधना में भक्ति और सेवा का न केवल उच्च स्थान है अपितु उनकी परम आवश्यकता भी है। भक्ति ही हमें अनासक्त बना सकती है, भक्ति हमें सच्चा सेवक बना सकती है। अत: भक्ति की आलोचना और अनादर न करके हमें भक्ति-भाव के महत्त्व को अच्छी तरह समझना चाहिये और उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिये। भक्ति गुरु या ईश्वर की होनी चाहिये न कि साधारण मनुष्यों की। मानव स्तर पर पुत्र के लिए माता-पिता, स्त्री के लिये पति तथा शिष्य के लिए गुरु की भक्ति ईश्वर भक्ति के समान है पर अन्य किसी व्यक्ति की भक्ति सांसारिकता है। यही भारतीय संस्कृति का आदेश है।

***

अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद

बौद्ध दर्शन एवं उपनिषद् दर्शन के सम्बन्ध में कई प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। एक मत यह है कि बौद्ध दर्शन या तो उपनिषद् दर्शन के समान है या उसी परम्परा पर आश्रित है। दूसरा मत यह है कि बौद्ध दर्शन एक नितांत भिन्न परम्परा है। कुछ लोगों का कहना है कि बौद्धों के शून्यवाद ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद को प्रभावित किया है। कुछ अन्य लोगों का मत है कि शंकर का अद्वैतवाद बौद्धों के विज्ञानवाद के समीप है। इसके साथ ही यह भी एक तथ्य है कि शंकर ने शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों का खंडन किया है। विज्ञानवाद के खंडन को लेकर श्चरबात्स्की ने तो शंकर पर यह आरोप लगाया है कि विज्ञानवाद के विरुद्ध शंकर ने जिन तर्कों का प्रयोग किया है उनको वे स्वयं नहीं मानते और वे इस बात को छिपाते हैं कि विज्ञानवाद और अद्वैतवेदांत में बहुत कम भेद है।[१] ऐसी स्थिति में अद्वैतवेदांत और विज्ञानवाद के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

यह सत्य है कि अद्वैतवाद की तरह शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों निरपेक्ष तत्त्ववादी दर्शन हैं। दोनों में परमार्थ सत्य और संवृत्ति सत्य का भेद किया गया है और दोनों यह स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व भाषा और विचार के परे है तथा अनुभवगम्य है। परन्तु विज्ञानवादी शून्यवाद का खंडन करता है और कहता है कि यद्यपि बाह्यार्थ का निषेध किया जा सकता है किन्तु चैतन्य या विज्ञान का निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सर्वशून्यता के सिद्धान्त में कोई निषेधक नहीं रह जाता है। यहाँ पर विज्ञानवाद अद्वैत वेदांत के बहुत समीप आता हुआ सा जान पड़ता है - दोनों चैतन्य को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं और बाह्य जगत् को मिथ्या मानते हैं। फिर भी शंकराचार्य विज्ञानवाद का खंडन करते हैं। अत: यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि शंकराचार्य द्वारा विज्ञानवाद का खंडन कहाँ तक यथार्थ है और कहाँ तक दोनों दर्शनों में भेद किया जा सकता है ?

संक्षेप में, शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का खंडन इस प्रकार किया है[२] :

(१) बाह्यार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि वह प्रत्येक ज्ञान में उपलब्ध है।

(२) विज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय दोनों मानना ठीक नहीं है।

(३) यह कहना कि विज्ञान ही बहिर्वत् आभासित होता है, सिद्ध करता है कि बाह्य वस्तु भी है, नहीं तो 'बहिर्वत्' का कोई अर्थ ही नहीं होगा।

(४) विज्ञान की उत्पत्ति बिना बाह्यार्थ के नहीं हो सकती है।

(५) स्वप्न और जाग्रत अवस्था का भेद बाह्यार्थ को स्वीकार करने से ही हो सकता है।

इन सब तर्कों का सार यह है कि बिना बाह्यार्थ के ज्ञान नहीं हो सकता है और स्वसंवेदन का सिद्धान्त गलत है।

विज्ञानवादी व्यवहारत: बाह्यार्थ मानते हैं परन्तु परमार्थत: केवल विज्ञान की सत्ता मानते हैं। उनका कहना है कि बिना बाह्यार्थ के भी विज्ञान और बाह्यार्थाभास हो सकता है, जैसे स्वप्न में होता है। यहाँ पर विज्ञानवादी भूल जाते हैं कि स्वप्न में बाह्यार्थाभास के लिए जाग्रत के बाह्यार्थ अनुभव की

आवश्यकता होती है। जिसे कभी बाह्यार्थ का अनुभव न हो उसे स्वप्न में भी बाह्यार्थ का अनुभव नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि स्वप्न के मिथ्यात्व का ज्ञान जाग्रत के बाह्यार्थ के अनुभव से होता। इसका अर्थ यह हुआ कि जागृतावस्था, जिसमें बाह्यार्थ का अनुभव होता है, स्वप्न से अधिक प्रामाणिक है, नहीं तो स्वप्न का जाग्रत से बाध नहीं होता। इसी से स्वप्न के आधार पर जागृतावस्था के बाह्यार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता। जागृत कालिक रज्जु-सर्प भ्रम में सर्प को वेदांती और विज्ञानवादी दोनों काल्पनिक या मानसिक मानते हैं परन्तु उसका बाध बाह्यार्थ रज्जु को मानने से ही हो सकता है। रज्जु को भी विज्ञान मात्र मानने से सर्प का बाध नहीं हो सकता है। व्यवहार-दशा में हमको जो ज्ञान का स्वरूप प्राप्त होता है उसी आधार पर हमको परमार्थ समझना होगा। व्यवहार में बाह्यार्थ है और ज्ञान तज्जन्य है। इसमें हम मात्र इतना ही अर्थ निकालना चाहते हैं कि ज्ञान वस्तु-तन्त्र है, ज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक है, यह नहीं कि बाह्य वस्तु अनावश्यक है। यदि हम ज्ञान के इस व्यावहारिक रूप को लेकर न चलेंगे तो फिर हमको ज्ञान का स्वरूप कहाँ से प्राप्त होगा ? व्यवहार से यह कभी सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक नहीं है, फिर विज्ञानवादी कहाँ से यह सिद्धान्त निकालता है कि ज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक नहीं है ?

ज्ञान के लिए वस्तु की आवश्यकता है, इस पक्ष में कुछ अन्य तर्क भी दिये जा सकते हैं। यदि विज्ञान के लिए वस्तु आवश्यक नहीं है तो क्यों नहीं मन में आने वाले सभी विज्ञानों (उदाहरणार्थ कल्पना आदि) को भी ज्ञान माना जाता है ? अर्थात् ज्ञान-रूप विज्ञान में और कल्पना-रूप विज्ञान में भेद कैसे किया जायगा ? विज्ञान तो दोनों हैं। बर्कले ने संवेदन और कल्पना में केवल स्पष्टता के आधार पर भेद किया है, परन्तु यह भेद केवल मात्रा का है, इससे प्रकार का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसी से कांट ने ज्ञान (अनुभव) और विचार (विज्ञान) में भेद किया। अनुभव बिना वस्तु के नहीं हो सकता है। हेगेल ने जब विचार और वस्तु के एक होने का ऐलान किया तो वह भी कांट के तर्क को भूल गया। विज्ञानवाद तो कम से कम व्यवहार और परमार्थ का भेद करता है परन्तु पाश्चात्य दार्शनिक तो यह भी नहीं करते जिससे उनकी बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। यह आपत्ति कि शंकराचार्य भी जब स्वयं जगत् को मिथ्या मानते हैं तो फिर विज्ञानवादी से यह आग्रह क्यों करते हैं कि बाह्यार्थ है ही, ठीक नहीं है। व्यावहारिक जगत् में जो ज्ञान हमको उपलब्ध है उसी के आधार पर हम ज्ञान और ज्ञानाभास का भेद कर सकते हैं। यदि हम व्यवहार में प्राप्त अनुभव को लेकर नहीं चलते तो हमको ज्ञान और भ्रम का उदाहरण ही नहीं मिलेगा और तब हम ज्ञान और भ्रम के विषय में जो कुछ कहेंगे वह सर्वथा काल्पनिक होगा। पाश्चात्य दार्शनिकों का ही नहीं बल्कि विज्ञानवाद और शून्यवाद का भी यह बहुत बड़ा दोष है कि वे व्यावहारिक ज्ञान और ज्ञानाभास का विश्लेषण करके ज्ञान और ज्ञानाभास के स्वरूप को निश्चित नहीं करते। शंकराचार्य की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे साधारण अनुभव का विश्लेषण करके ज्ञान और भ्रम के स्वरूप का निरूपण करते हैं और व्यवहार और परमार्थ में संगति दिखाते हैं। ज्ञान जैसे व्यवहार में वस्तुतन्त्र है वैसे ही परमार्थ में भी है। विज्ञानवाद और शून्यवाद में यह संगति नहीं मिलती है। व्यवहार में जो बाधित है वह मिथ्या है, वैसे ही परमार्थ में भी जो बाधित है वह मिथ्या है और जो अबाधित है वह सत्य है। पाश्चात्य दार्शनिक, विशेष कर बुद्धिवादी लोग, अनुभव के आधार पर न चलकर केवल बौद्धिक विकल्पों के आधार पर दार्शनिक महल खड़ा करते हैं। तथाकथित अनुभववादी इस काल्पनिक सिद्धान्त को लेकर चलते हैं कि बिना अनुभव के बुद्धि कोरी पटिया है। इस सिद्धान्त के लिए वे अनुभव का आधार देने की चिन्ता नहीं करते। दर्शन में हमको साधारण अनुभव को लेकर ऊपर उठना है क्योंकि वहीं सत्यासत्य का दृष्टान्त हमको मिलता है। शंकराचार्य जगत् को मिथ्या कहते हैं परन्तु ऐसा कहते समय ये ज्ञान की वस्तुतन्त्रता को नहीं छोड़ते। वे यह दिखाते हैं कि भ्रम के लिए

अधिष्ठान की आवश्यकता होती है, परमार्थत: अधिष्ठान के ज्ञान के आधार पर ही जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। विज्ञानवादी और शून्यवादी ऐसा नहीं करते।

केवल यही नहीं कि दर्शन को आनुभविक आधार प्राप्त होना चाहिए बल्कि यह भी आवश्यक है कि दर्शन ज्ञानात्मक अनुभव का विश्लेषण करे न कि किसी भी अनुभव का। इसी कारण दर्शन में भ्रम का विश्लेषण करना आवश्यक होता है क्योंकि भ्रम एक ज्ञानात्मक अनुभव है और उसके विश्लेषण से सत्य और असत्य दोनों के स्वरूप का पता चलता है। जो बाधित है वह मिथ्या और अबाधित है वह सत्य। दर्शन सत्य की खोज होने के कारण ज्ञानात्मक अनुभव का ही विश्लेषण करता है। सत्य ज्ञान से ही मिलता है, इच्छा, कल्पना, वेदना आदि के अनुभव से नहीं।

ऊपर यह दिखाया गया है कि बिना वस्तु को स्वीकार किये ज्ञान और ज्ञानेतर मानसिक क्रिया का भेद नहीं किया जा सकता। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि विज्ञान वस्तु से उत्पन्न होता है या दूसरे विज्ञान से। विज्ञानवादी का कहना है कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से उत्पन्न होता है और यह क्रिया क्षण-क्षण चलती रहती है। विज्ञान के अन्तिम कारण को आलय विज्ञान कहा गया है, जो स्वयं भी एक विज्ञान ही है कोई विज्ञानेतर तत्त्व नहीं। आलय विज्ञान के अविद्या-ग्रसित होने के कारण उससे उत्पन्न विज्ञान विज्ञान-रूप में आभासित नहीं होकर बाह्यार्थ के रूप में अभासित होता है। परिनिष्पन्नावस्था में जब अविद्या का नाश हो जाता है तब केवल शुद्ध विज्ञान रह जाता है। यही परम तत्त्व है। इसमें द्वैत नहीं रहता।

विज्ञानवाद के इस सिद्धान्त में कई कठिनाइयाँ जान पड़ती है। एक तो यह कि हमको कोई अनुभव ऐसा नहीं है जिसमें विज्ञान ही विज्ञान को उत्पन्न करता हो। कल्पना और स्वप्न बिना बाह्यार्थ के उत्पन्न जान पड़ते हैं परन्तु विचार करके देखा जाय तो जान पड़ेगा कि कल्पना और स्वप्न में पाये जाने वाले सभी विज्ञान जाग्रत अवस्था के बाह्यार्थ से उत्पन्न विज्ञान होते हैं। विज्ञान की उत्पत्ति के विषय में एक दूसरा प्रश्न भी विचारणीय है। विज्ञान में दो अंश होते हैं - आकार और चैतन्य। प्रश्न उठता है कि दोनों उत्पन्न होते हैं या एक ही। विज्ञानवादी पूरे विज्ञान, अर्थात् चैतन्य और आकार दोनों की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु क्या चैतन्य को एक उत्पन्न वस्तु माना जा सकता है ? यदि ऐसा है तब तो परिनिष्पन्न को भी क्षणिक और अनित्य मानना पड़ेगा, उत्पत्तिशील होने से। क्षणिकवादी बौद्ध को ऐसा मानना चाहिए, परन्तु परमतत्त्व को अनित्य मानने पर प्रश्न होगा कि परिनिष्पन्न विज्ञान का आकार क्या होता है ? वह विज्ञान किस प्रकार के विज्ञान को उत्पन्न करता है ? प्रत्येक विज्ञान में आकार होता है और वह अर्थ क्रियाकारी होता है। यदि परिनिष्पन्न में आकार नहीं है और वह अर्थ क्रियाकारी नहीं है तो वह विज्ञान नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर बौद्ध घपले में पड़ जाते हैं और मौन की शरण लेते हैं। परन्तु कुछ विद्वान झट से परिनिष्पन्न या शुद्ध चैतन्य की तुलना वेदांत के शुद्ध चैतन्य से करने लग जाते हैं। यह एक भारी भूल जान पड़ती है। अद्वैतवेदांत भी सभी प्रकार की सृष्टि या रचना का आधार चैतन्य को मानता है परन्तु स्वयं चैतन्य को उत्पन्न या विकारवान् नहीं मानता। चैतन्य कूटस्थ है और सृष्टि केवल विवर्त मात्र है। चैतन्य परिवर्तन-शून्य है, चैतन्याश्रित अविद्या सृष्टि करती है और केवल जड़ तत्त्व की सृष्टि करती है। परन्तु विज्ञान चैतन्येतर होने से क्या जड़ तत्त्व नहीं हो जाता ? यह कठिनाई विज्ञानवाद में नहीं है क्योंकि विज्ञानवाद में विज्ञान और चैतन्य एक ही हैं। विज्ञान आकारवान् चैतन्य है।

बौद्ध विज्ञानवादी ही नहीं अपितु पाश्चात्य विज्ञानवादी भी सहोपलम्भ नियम को चट्टान के समान दृढ़ समझते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान-निरपेक्ष वस्तु की प्राप्ति किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती है। वास्तव में यह सिद्ध करना कठिन जान पड़ता है कि वस्तु ज्ञान-निरपेक्ष है। वस्तु सदा ज्ञान के साथ ही प्राप्त होती है। विज्ञान वस्तु-निपरेक्ष हो सकता है परन्तु वस्तु विज्ञान-निरपेक्ष कैसे होगी ?

यदि यह सत्य है तो ज्ञान को वस्तुतन्त्र कहना अर्थहीन हो जायगा। वेदांती यद्यपि व्यावहारिक जगत् को मिथ्या कहता है फिर भी व्यावहारिक अवस्था में भी ज्ञान को वस्तु-तंत्र कहता है अथवा वस्तु को ज्ञान-निरपेक्ष मानता है। अत: प्रश्न है कि क्या वेदांत वस्तु को ज्ञान-निरपेक्ष सिद्ध कर सकता है ? यह सत्य है कि हम सीधे ही यह नहीं सकते कि अमुक वस्तु अमुक ज्ञान से स्वतन्त्र है, क्योंकि यदि ज्ञान ही नहीं है तो हम 'अमुक वस्तु' कैसे कहेंगे ? फिर भी वेदांत में वस्तु की अज्ञातावस्था या ज्ञान-निरपेक्षता सिद्ध करने का एक उपाय है।

वेदांती का यह कहना है कि प्रत्येक वस्तु उसका ज्ञान होने के पहले अज्ञात रहती है क्योंकि ज्ञान वस्तु-विषयक अज्ञान का निवारण करता है। ज्ञान के पहले वस्तु अज्ञान से आच्छादित रहती है, अज्ञान को हटाकर ज्ञान उसको प्रकाशित करता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु ज्ञान-निरपेक्ष है। यदि ज्ञान के पहले कोई वस्तु है ही नहीं तो किस वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होगा ? ज्ञात होने के पहले वस्तु अवश्य ही अज्ञात रूप से रहनी चाहिए। यह बात रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है। जब हम सर्प देखते हैं तो रज्जु अज्ञात रहती है और जब भ्रम का बोध होता है तब हम यही कहते हैं कि रज्जु वहाँ थी परन्तु उसका ज्ञान न होकर मुझे सर्प दिखाई पड़ा। अर्थात् रज्जु सर्पवत् दिखाई पड़ा। जो वस्तु सर्पवत् दिखाई पड़ी थी वह वास्तव में रज्जु थी। इसका अर्थ यह हुआ कि जब हमको रज्जु का ज्ञान नहीं रहता है तब भी रज्जु वहाँ रहती है, अर्थात् रज्जु ज्ञान-निरपेक्ष है। यदि ऐसा न होता तो हम यह कैसे कह सकते थे कि हमको रज्जु का अज्ञान रहा और वही सर्पवत् दिखाई पड़ी ? यदि यह कहें कि ज्ञान के ही समय रज्जु की उत्पत्ति होती है तो हम यह कैसे कह सकेंगे कि रज्जु ही सर्पवत् दिखाई पड़ी ? यदि अधिष्ठानरूप रज्जु का अस्तित्त्व अज्ञातरूप में नहीं स्वीकार किया जायगा तो किसके ज्ञान से सर्प का ज्ञान बाधित होगा ? प्रो. मूर्ति ने भ्रम सम्बन्धी विज्ञानवादी दृष्टिकोण को इस प्रकार से रखा है[3]: उनका कहना है कि भ्रम और उसके बाध को विज्ञानवादी दूसरे प्रकार से समझाता है। विज्ञानवादी के अनुसार बाध का स्वरूप यह नहीं है कि यह सर्प नहीं है रज्जु है, बल्कि यह है कि सर्प बाह्यार्थ नहीं है, अर्थात् सर्प की इदंता या बाह्यार्थता मिथ्या है न कि सर्प-विज्ञान। विज्ञानरूप में सर्प सत्य है, बाह्यार्थ में मिथ्या। यदि विज्ञानवादी भ्रम के बाध की यही व्याख्या करता है तो हम पूछेंगे कि बाध के समय क्या हम कह सकते हैं कि यह सर्प नहीं है या यह कहते हैं कि सर्प यह नहीं है ? स्पष्ट है कि हम यह कभी नहीं कहते हैं कि सर्प वह नहीं है, सदा हम यही कहते हैं कि यह सर्प नहीं है। अर्थात् हम सर्प के मिथ्यात्व का अनुभव करते हैं न कि यह के मिथ्यात्व का। इस प्रकार विज्ञानवादी का भ्रम-विश्लेषण सर्वथा कृत्रिम मालूम पड़ता है, साधारण अनुभव से सर्वथा भिन्न और दूर।

विज्ञानवाद के एक दूसरे सिद्धान्त को लेकर भ्रम उत्पन्न होता है, वह है स्वसंवेदन का सिद्धान्त। स्वसंवेदन को बहुत से लोग वेदांत का स्वप्रकाश समझते हैं। विज्ञानवादी का यह कहना है कि विज्ञान साकार होता है, अत: प्रत्येक विज्ञान स्वयं अपने को जानता है किसी बाह्य वस्तु को नहीं। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों एक ही में रहते हैं। विज्ञान केवल आकार नहीं है, वह चैतन्याकार है, अत: उसमें स्वसंवेदनता है। विज्ञान यदि निराकार चैतन्य होता तब उसमें स्वसंवेदनता नहीं होती। अत: स्वसंवेदनता के लिए विज्ञान में आकार और चैतन्य दोनों होना आवश्यक है। विज्ञानवादी का स्वसंवेदन का सिद्धांत अद्वैत सिद्धान्त से ही नहीं बल्कि मीमांसा के सिद्धांत से भी भिन्न है। भाट्ट मीमांसा में अहं प्रत्यय प्रत्येक ज्ञान के साथ लगा रहता है। आत्मा विषय और विषयी दोनों है या जड़–बोधात्मक है। ज्ञान का स्वरूप है 'मैं घट को जानता हूँ'। ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, उसका ज्ञान वस्तु की प्रकटता के आधार पर अवलम्बित एक अनुमान है। आत्मा और वस्तु दोनों स्वतन्त्र हैं। प्रभाकर का मत भिन्न है। उसका कहना है कि ज्ञान के उत्पन्न होने पर आत्मा और विषय दोनों का ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान का रूप है

त्रिपुटी ज्ञान। ये आत्मा को जड़ मानते हैं परन्तु ज्ञान को स्वप्रकाश। कुमारिल के समान वे भी ज्ञान को बाह्यार्थजन्य मानते हैं। इस प्रकार अहं प्रत्यय के ज्ञान का सहचर होते हुए भी कुमारिल का सिद्धान्त और ज्ञान के स्वप्रकाश होते हुए भी प्रभाकर का सिद्धान्त स्वसंवेदन सिद्धांत से भिन्न हैं।

स्वसंवेदन का सिद्धान्त अद्वैत के स्वप्रकाश के सिद्धांत से भिन्न है। सर्वप्रथम हमको यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेदांत में स्वप्रकाश और ज्ञान में भेद किया जाता है। शुद्ध चैतन्य प्रकाशस्वरूप है ज्ञानस्वरूप नहीं क्योंकि ज्ञान अंत:करण की एक वृत्ति है जो आती-जाती रहती है। शुद्ध चैतन्य सर्वदा समान रूप से प्रकाश है। अंत:करण शुद्ध चैतन्य आत्मा पर अध्यस्त है। इसलिए चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर अंत:करण वृत्ति भी, जो जड़ है, प्रकाशित होकर वस्तु को प्रकाशित करती है। केवल चैतन्य ही स्वप्रकाश है परन्तु अध्यस्त होने के कारण अंत:करण वृत्ति भी चैतन्य के समान स्वप्रकाश मालूम पड़ती है। इसी से स्वप्रकाश की परिभाषा देते हुए कहा गया है - अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्। चैतन्य कभी भी विषय के समान जाना नहीं जा सकता है, इसी से उपनिषद् में कहा है - विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्। अर्थात् चैतन्य, जो साक्षात् अपरोक्ष हैं, उसे वस्तु के समान नहीं जाना जा सकता, नहीं तो चैतन्य भी दृश्य या जड़ हो जायगा। इसी से उसे अवेद्य कहा गया है, किन्तु अवेद्य होते हुए भी वह साक्षात् अपरोक्ष है। वस्तु की अपरोक्षता सोपाधिक है, साक्षात् नहीं। स्वप्रकाश चैतन्य में विषयत्व का कोई अंश नहीं है। शुद्ध चैतन्य न विषय हो सकता है न विषयी। विषयी तो अंत:करण होता है और वह भी इसलिए कि वह चैतन्य पर अध्यस्त है। इन बातों को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि स्वसंवेदन का सिद्धांत स्वप्रकाश के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। स्वसंवेदन सिद्धान्त की यह मान्यता कि ज्ञान को परप्रकाश की आवश्यकता नहीं है, ठीक है क्योंकि यदि ज्ञान परत: प्रकाशित है तो वह ज्ञान न होकर विषय हो जायगा और वस्तु को प्रकाशित न कर सकेगा। इस प्रकार अनवस्था प्रसंग उपस्थित हो जायगा। स्वसंवेदन के सिद्धान्त में विज्ञान आकारवान् है अत: उसे शुद्ध चैतन्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुद्ध चैतन्य निराकार होता है। इस प्रसंग में बौद्धों के लिए एक कठिन प्रश्न यह उठता है कि स्वसंवेदनता क्या परिकल्पित और परतन्त्र विज्ञान में ही पायी जाती है या परिनिष्पन्न में भी ? यदि परिनिष्पन्न विज्ञान भी विज्ञान है तो उसमें स्वसंवेदनता होनी चाहिए और यदि उसमें स्वसंवेदनता है तो अवश्य ही वह शुद्ध चैतन्य नहीं है। यदि परिनिष्पन्न में स्वसंवेदनता नहीं है तो वह विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

यहाँ पर एक और प्रश्न पर विचार करके लेख का उपसंहार किया जायगा। अंग्रेजी का शब्द आइडियलिज्म एक भ्रामक शब्द है। योगाचार एक प्रत्ययवादी या विज्ञानवादी दर्शन है अत: उसे आइडियलिज्म कहा जाता है परन्तु साथ ही वेदांत को भी आइडियलिज्म कहा जाता है। इससे भ्रम उत्पन्न होता है। अद्वैत वेदांत इस अर्थ में आइडियलिज्म है कि उसके अनुसार अन्तिम तत्त्व चैतन्य है और जो कुछ जड़ है (केवल बाह्यार्थ ही नहीं बल्कि अंत:करणवृत्ति और प्रत्यय भी) मिथ्या है। विचित्र बात यह है कि पाश्चात्य आइडियलिज्म में प्रत्ययों को जड़ या मिथ्या नहीं कहा जाता। परन्तु प्रत्यय यदि दृश्य हैं तो क्यों न उनको भी जड़ कहा जाय ? दूसरी बात यह है कि अद्वैत वेदांत आइडियलिज्म के इस सिद्धान्त को कदापि नहीं मानता कि वस्तु ज्ञानतन्त्र है। उसके अनुसार व्यवहारत: और परमार्थत: दोनों दृष्टियों से ज्ञान वस्तुतन्त्र है, वस्तु चाहे जगत् की वस्तु हो या सबका अधिष्ठान ब्रह्म। इस दृष्टि से वेदांत वस्तुवादी ठहरता है। ज्ञान वस्तुतन्त्र है यद्यपि जिसे हम ज्ञान मानते हैं वह शुद्ध रूप से ज्ञान नहीं है क्योंकि वह निरुपाधिक नहीं होता। उसमें नाम-रूप, या कांट के शब्दों में देश-काल और बुद्धि- व्यापार, मिश्रित रहता है। शुद्ध ज्ञान तो केवल ब्रह्मज्ञान है क्योंकि वह निरुपाधिक होता है। आत्मा या ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है। उस ज्ञान पर आवरण है और उस आवरण को हटाना मात्र हमारा ध्येय होता है।

दर्शन यदि सत्य की खोज है तो उसे निरन्तर ज्ञान के स्वरूप को ध्यान में रखकर चलना होगा। ज्ञान वस्तुतन्त्र है। अद्वैतवेदांत की यह विशेषता है कि वह ज्ञान के इस स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी चैतन्येतर या जड़ तत्त्व का निषेध करने में सफल होता है। ज्ञान को वस्तुतन्त्र स्वीकार कर लेने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि जो साधारण ज्ञान है उसे शुद्ध ज्ञान मान लिया जाय। साधारण ज्ञान से प्राप्त ज्ञान के स्वरूप को हम ग्रहण करते हैं न कि उसकी यथार्थता को। दूसरी बात यह है कि ज्ञान को वस्तुतन्त्र बनाने के लिए यह जरूरी नहीं है कि हम बाह्यार्थ को ही स्वीकार करें। वस्तु आत्मा भी हो सकती है यद्यपि वह विषय नहीं है, वह अविषय रूप से अपरोक्ष है। विज्ञानवाद ज्ञान के उपर्युक्त स्वरूप को मानकर नहीं चलता। इसलिए उसके द्वारा दी गई भ्रम की व्याख्या और परमतत्त्व के स्वरूप को हम सन्तोषजनक नहीं पाते। परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए केवल बाह्यार्थ का निषेध ही पर्याप्त नहीं है विज्ञान या वृत्तियों का निषेध भी जरूरी है। बल्कि यह भी देखना आवश्यक है कि वह निषेध ज्ञान के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया जाता है कि नहीं और जिस वृत्ति या विज्ञान से उसका निषेध होता है उसका भी निषेध होता है कि नहीं। माध्यमिक भी जगत् को मिथ्या कहता है और सभी दृष्टियों का निषेध करता है परन्तु ज्ञान के स्वरूप को ध्यान में न रखने के कारण वह सर्वं शून्यम् के निष्कर्ष पर पहुँचता है। अद्वैत वेदांत में इस बात पर बल दिया गया है कि ज्ञानात्मक निषेध के लिए अधिष्ठान की अनिवार्यता होती है। परन्तु इस अनिवार्यता को न विज्ञानवाद स्वीकार करता है और न शून्यवाद। इसी से यद्यपि ये दर्शन अद्वैतवाद के समीप पहुँचते जाते हैं फिर भी वे पूर्णरूप से या समुचित रूप से अद्वैतवादी नहीं हो पाते।

ऊपर बताये हुए अद्वैत वेदांत के ज्ञानात्मक दृष्टिकोण को दृष्टि में रखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि शंकराचार्य द्वारा दी गई विज्ञानवाद की आलोचना उचित है और अद्वैत वेदांत और विज्ञानवाद में समानता होते हुए भी पर्याप्त भेद है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ज्ञान को वस्तुतन्त्र मानना आवश्यक है क्योंकि ऐसा न करने से न तो ज्ञान का स्वरूप समझ में आ सकता है, न अज्ञान का।

***

संदर्भ सूची

१. *द्रष्टव्य बुद्धिस्ट कंसेप्शन ऑफ निर्वाण, श्चरबात्स्की, भारतीय विद्या प्रकाशन पृ. ६३, पाद टिप्पणी।*

२. *ब्र.सू. शांकर भाष्य - II, ii, २८...*

३. *द सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म, टी.आर.वी. मूर्ति, पृ. ६१३।*

परिच्छेद : तीन

श्रीराम माधव चिंगले

श्रीराम माधव चिंगले

आचार्य यशदेव शल्य एवं प्रो. एस.पी. दुबे द्वारा लिखित अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के संक्षिप्त इतिहास से यह विदित होता है कि १९५४ ई. में परिषद् की प्रथम सदस्यता राशि सौ रुपये श्रीराम माधव चिंगले के द्वारा बड़े मौके से प्राप्त हुई थी। परिषद् के 'प्रथम आजीवन सदस्य' श्रीराम माधव चिंगले कौन और क्या थे, इसका पता शल्य जी को भी नहीं है। उन्हें केवल इतना याद है कि वह राशि तत्त्वज्ञान मन्दिर, अमलनेर से भेजी गई थी। आज 'तत्त्वज्ञान मन्दिर' प्रताप सेन्टर ऑफ फिलॉसफी के नाम से जाना जाता है। इस समय कार्यरत वहाँ के लोगों को भी श्रीराम माधव चिंगले के विषय में जानकारी नहीं के बराबर है। डॉ. अर्चना डेगोनकर द्वारा प्राप्त आधी-अधूरी सूचना के आधार पर कहा जा सकता है कि वे इलाहाबाद के निवासी थे और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से ही एम.ए. तक की शिक्षा प्राप्त किये हुए थे। उनके बड़े भाई का नाम श्री विनायक माधव चिंगले था। दोनों भाईयों की संस्कारभूत गहरी अभिरूचि दर्शनशास्त्र में थी परन्तु दोनों की शिक्षा-दीक्षा दर्शनशास्त्र में हुई थी या नहीं, यह ज्ञात नहीं है। १९३६-३८ ई. में कभी रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे के माध्यम से दोनों बन्धुओं की भेंट श्रीमन्त प्रताप सेठ जी से हुई और वे उनसे प्रभावित होकर दोनों को अपने साथ तत्त्वज्ञान मन्दिर, अमलनेर लेते चले आये। अवधेय है कि वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसन्धान के लिए 'तत्त्वज्ञान मन्दिर' की स्थापना श्रीमन्त सेठ जी ने ही की थी। बीसवीं शताब्दी में भारतीय दर्शन और विशेष रूप से अद्वैतवेदान्त के अकादमिक विकास के प्रति इस दर्शन-पीठ का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। इसी पीठ से कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की परम्परा पूरे देश में फैली है। श्रीराम माधव चिंगले आजीवन श्रीमन्त सेठ जी के साथ तत्त्वज्ञान मन्दिर के अंगभूत बने रहे और 'रिसर्च फैलो' के रूप में अध्ययन, अध्यापन एवं लेखन के द्वारा दर्शनशास्त्र की यथासम्भव सेवा करते रहे। १९५० के दशक में लिखे गये उनके आलेखों (जिनका यहाँ सम्पादन किया गया है) को देखकर सहज ही उनकी विद्वता और शास्त्र-परायणता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। १९५५-५६ के दार्शनिक त्रैमासिक में उनका एक लघु-प्रबन्ध "तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद का अध्यात्मशास्त्र के प्रति विद्रोह" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। तत्त्वमीमांसा के यूरोपीय निराकरण के प्रति हिन्दी में यह पहला और किसी भारतीय विद्वान के द्वारा लिखा गया दूसरा प्रत्युत्तर (प्रयत्न) है। पहला प्रयत्न प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति के द्वारा १९४२ में अमलनेर से ही लिखा गया था। श्रीराम माधव चिंगले ने दर्शनशास्त्र की किसी विधा पर सम्भवत: कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा है। उनके द्वारा लिखी गई कुछ समीक्षायें तत्त्वज्ञान मन्दिर, त्रैमासिक में प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीमन्त सेठ जी द्वारा मराठी में लिखित ग्रन्थ "खासजी टिप्पणियाँ" यानी "कुछ तात्त्विक प्रमेय" का हिन्दी अनुवाद किया था जो अमलनेर से ही प्रकाशित हुआ है। अन्य कोई विशेष जानकारी श्रीराम माधव चिंगले के विषय में मुझे उपलब्ध नहीं हो सकी है।

*

दर्शन या जीवन-दर्शन

मनुष्य जिज्ञासु एवं चिंतनशील प्राणी है। साथ ही उसमें एक ऐसी दुर्दम्य वृत्ति है जिसके कारण वह किसी भी तरह की मर्यादाओं या बंधनों (फिर वे चाहे आंतरिक हों या बाह्य) में अधिक काल तक नहीं रह सकता; वह उनसे छुटकारा पाने के लिये छटपटाता है। मानव की इसी स्वभावभूत प्रवृत्ति में ही ज्ञान, विज्ञान, राजकीय स्वातंत्र्य, मोक्षशास्त्र अर्थात् दर्शनशास्त्र या तत्त्वज्ञान इत्यादि का उद्‌गम है। यह प्रवृत्ति किसी स्थल विशेष या काल विशेष में सीमित न होकर मानवमात्र में पाई जाती है; आदिमानव में इसका आविष्करण अपने स्थूलतम एवं संकुचित रूप में मिलता हैं, सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव में यह प्रवृत्ति अधिक प्रगल्भ तथा व्यापक रूप में दीख पड़ती है। यदि ऐसा है तो जिस तरह विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय विज्ञान या आंग्ल विज्ञान, पौर्वात्य या पाश्चात्य विज्ञान इस प्रकार के कृत्रिम भेद नहीं किये जा सकते वैसे ही दर्शनशास्त्र में भी इस प्रकार के भेद समर्थनीय नहीं कहे जा सकते, तथापि इतना तो निर्विवाद एवं सर्वमान्य होगा कि इस मूलभूत प्रवृत्ति की एकता के साथ ही हरेक देश की प्रकृति अनेक कारणों से (यथा भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थिति, इतिहास, परंपरा इ.) अपनी एक ऐसी विशेषता रखती है जो अन्यत्र उसी रूप में नहीं पाई जाती है। इस तरह जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी किसी अंश में नानात्व एवं वैधर्म्य तथा किसी अंश में एकत्व एवं साधर्म्य अपरिहार्य हो जाते हैं। इसी प्रकृति विशेष के कारण ही भारतीय दर्शन अपनी विशेषता रखता है।

भारतीय दर्शन की इसी विशेषता को लेकर इस क्षेत्र के आधुनिक विद्वानों में तीव्र मतभेद हैं। इनमें से कोई कहते हैं कि भारतीय दर्शन 'दर्शन' संज्ञा का ही पात्र नहीं। यह तो केवल 'धर्म' एवं काव्य (यथा उपनिषद्) ही कहा जा सकता है। श्रुति या शब्द प्रमाण का आधार लेकर चलने के कारण दार्शनिक दृष्टि से इसका मूल्य नगण्य-सा ही है। स्वतंत्र विचार का आश्रय लेने के कारण एवं ठोस वैज्ञानिक दृष्टि पर अधिष्ठित होने के कारण पाश्चात्य दर्शन ही सच्चे अर्थ से 'दर्शन' संज्ञा का पात्र है। अतएव दर्शन के क्षेत्र में यही हमारा आदर्श होना चाहिये। इसके ठीक विरुद्ध मतानुसार, यदि कहीं सच्चे अर्थ में दर्शन है तो वह भारत में ही है। प्राचीन काल से भारत दर्शन एवं अध्यात्मविद्या की क्रीड़ाभूमि रही है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'-अध्यात्म विद्या ही सच्ची विद्या है। इसका अपर पर्याय ब्रह्मविद्या है। परतत्त्व ही इसका एकमात्र विषय है और हो सकता है। भारतीय दर्शन मोक्षशास्त्र है। वह केवल बौद्धिक कसरत नहीं। मोक्ष ही इसका परम प्रयोजन है और होना चाहिये। भौतिक विज्ञान पर अधिष्ठित दर्शन भौतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण न कर सकने के कारण दार्शनिक दृष्टि से विशेष मूल्य नहीं रखते। दर्शन का सहकारी विज्ञान न होकर धर्म ही हो सकता है, कारण दोनों का लक्ष्य एक ही परतत्त्व की प्राप्ति है।

आज भारतवर्ष स्वतंत्र हो चुका है। साथ ही भौतिक विज्ञान ने यातायात के सहज साधन उपलब्ध करके दुनियाँ की देशगत दूरी को दूर कर दिया है। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत अत्यन्त प्राचीन एवं सजीव होने के नाते सारे विश्व का ध्यान हमारी ओर है। विशेषत: धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में सबको

हम से महान आशाएँ हैं। इस दृष्टि से भारत देश केवल एशिया की ही महान् शक्ति नहीं, विश्व की दीपस्तम्भ भी है। इसी पुण्यभूमि ने अनेक महर्षियों, अध्यात्मज्ञान संपन्न मनीषियों एवं श्रेष्ठ तत्त्ववेत्ताओं को जन्म दिया है और यह उज्जवल परंपरा आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। अतएव हमें स्वतंत्र भारत में दर्शनशास्त्र का स्वरूप, दार्शनिक अध्ययन एवं साधना का स्वरूप क्या होना चाहिए- इन सब बातों की स्पष्ट कल्पना का होना अत्यावश्यक जान पड़ता है। इस विषय में हमें योजनाबद्ध कदम उठाना होगा। पंचवार्षिक योजना का क्षेत्र भौतिक बातों तक ही सीमित रखकर काम नहीं चलेगा। राष्ट्रीय एवं वैयक्तिक जीवन के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में श्रेष्ठ विचारों के द्वारा हेतु पुरस्सरता एवं योजना-बद्धता का अवलंब किए बिना विशेषरूप से कोई दृष्टफल पल्ले नहीं पड़ेगा। विचार ही आचार का मूल है। इस दृष्टि से दर्शन मानवी जीवन का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। अतएव यह आवश्यक है कि इस अत्यन्त विवादास्पद विषय में यथार्थ निर्णय लेकर इस दिशा में प्रगति करने की दृष्टि से कोई ठोस सक्रिय कदम उठाया जाय। इसी दृष्टि से हम भारत की अध्यात्मप्रेमी एवं दर्शनप्रेमी जनता के सम्मुख इस विषय में अपने नम्र विचार उपस्थित करते हैं।

इस विषय में प्रारंभ में ही एक अविचारमूलक अपसिद्धान्त का निराकरण करना आवश्यक जान पड़ता है। वह यह कि यदि कोई निरर्थक एवं निरुपयोगी विषय है तो वह है दर्शनशास्त्र। इस मतानुसार वह कुछ अकर्मण्य एवं निष्क्रिय लोगों के मन बहलाव का साधन है। प्रत्यक्ष मानव-जीवन के किसी भी अंग में उसका उपयोग नहीं। दर्शनशास्त्र के पीछे लगने के कारण ही हम वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से पिछड़ गए हैं; यह मानो हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक रोग लगा है और इससे जितनी जल्दी छुटकारा मिल सके उतना ही अच्छा। इसके स्थान पर हमें वैज्ञानिक एवं राष्ट्रहित की दृष्टि से उपयोगी बातों का अवलंब करना चाहिये।

उपर्युक्त मत अविचारमूलक एवं आपातरमणीय है, इस बात में विचारकों में विवाद न होगा। दर्शनशास्त्र के समर्थक यह कदापि नहीं कहते कि दार्शनिक विचार के हेतु जीवन के अन्य अंगों की उपेक्षा की जाय। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शनशास्त्र का स्थान जीवन में किसी भी प्रकार कम महत्त्व का है। दर्शनशास्त्र सार्वभौम महत्त्व रखता है, वह सार्वदेशिक एवं सार्वकालीन है। दार्शनिक विचार के लिए कोई भी स्थल या काल अयोग्य नहीं, क्योंकि वह बाह्यसाधन निरपेक्ष है। उसके लिए पूर्ण निवृत्तिमय जीवन या गिरिकंदरा या निर्जन अरण्य में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यहाँ की अध्यात्मगीता महाभारत के रणक्षेत्र में कही गई थी। सॉक्रेटीज सरीखा श्रेष्ठ दार्शनिक युद्धक्षेत्र में भी अपनी अनोखी स्थितप्रज्ञता का परिचय दे सकता है।

जब यह कहा जाता है कि दर्शनशास्त्र निरुपयोगी है तब स्पष्ट ही आक्षेपकों के मन में कुछ अधिक महत्त्व की या अधिक मूल्य रखने वाली बातें होती हैं। इन्हीं मूल्यों को दृष्टि में रखते हुए ये उपर्युक्त निर्णय पर साक्षात् या परंपरया, जानकर या अनजाने पहुँचते हैं। अब प्रश्न यह है कि वे उच्चतर मूल्य क्या हैं, जिनको कसौटी के रूप में सामने रखकर उपर्युक्त निर्णय पर पहुँचा जाता है, क्योंकि बिना मूल्यों के या मूल्यमीमांसा के एक वस्तु को उपयोगी और दूसरी को निरुपयोगी कहना संभव ही नहीं। लेकिन सुविचारपूर्ण मूल्यमीमांसा तो दर्शनशास्त्र का एक प्रधान अंग होने के नाते यह एक तरह से दर्शनशास्त्र ही है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के तिरस्कार में ही उसका अनजाने स्वीकार किया जाता है, यह बात प्राय: दर्शनशास्त्र के विरोधियों के ध्यान में नहीं आती। यह हुई एक बात। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्व की बात यह है कि जीवन में कुछ बातें या आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनका तात्कालिक महत्त्व अधिक होता है और जिनकी उपेक्षा हम अपने स्वयं को संकट में डाले बिना नहीं कर सकते। तथापि ये बातें हरेक दृष्टि से या हर समय निरपेक्ष महत्त्व या मूल्य (एब्सोल्यूट वैल्यू) रखती हों, या आवश्यक नहीं। इसके

विरुद्ध कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी उनकी उपेक्षा की जा सकती है। उदाहरणार्थ, हमारे भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ अनुपेक्षणीय हैं। इनकी एक निश्चित मर्यादा के बाहर उपेक्षा करने से हमारा जीवन ही न रहेगा। लेकिन सद्गुण या सदाचार संपन्न जीवन की या दार्शनिक चिंतन की कुछ काल तक उपेक्षा की जा सकती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि भौतिक आवश्यकताएँ सद्गुण, शील, सदाचार या दार्शनिक चिंता से अधिक महत्त्व या मूल्य रखती हों। शरीर-रक्षा के लिये ये बातें आवश्यक ही हैं। तथापि यदि हम इन्हीं बातों के लिए जीवन देने लग जायें, रात-दिन इन्हीं बातों के पीछे पड़े रहें तो हमारा जीवन पशु-तुल्य ही होगा। ये सब बातें साधनरूप से अपना समुचित महत्त्व रखती हैं।* अतएव इनको एक निश्चित सीमा से बाहर बढ़ावा देना साध्य-साधन का विपर्यास ही होगा जो प्राय: जीवन के हर क्षेत्र में हर समय देखने में आता है : साधन ही साध्य की जगह ले बैठते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि दर्शनशास्त्र को हम किसी भी हालत में छोड़ नहीं सकते। इस प्रकार का प्रयत्न ही हास्यास्पद है, कारण, इसको छोड़ने के प्रयास में ही, हमारे अनजाने, दर्शन अपना अस्तित्त्व प्रकट करता है। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के मूल में एक सैद्धान्तिक पक्ष अवश्य रहता है फिर वह परंपरागत मूल्यमीमांसा के रूप में हो, चाहे वह अविचारित सिद्ध हो या पूर्ण सोच-समझकर निर्धारित किया गया हो। यह दार्शनिक सैद्धान्तिक पक्ष जितना आत्मजागृतिपूर्ण होगा उतना ही अधिक वह फलदायक होगा, इसी दृष्टि से यूनानी तत्त्ववेत्ता सॉक्रेटीज ने कहा है कि ज्ञान ही सदगुण है (नॉलेज इज वर्च्यू)। दुर्गुण अज्ञान में ही पनपते हैं। सद्गुण एवं सच्चे ज्ञान का समीकरण व्यापक भाव ही है। ज्ञान के अनंतर भी संभव है कि दुर्बल इच्छाशक्ति या वासनाओं की आधीनता सद्गुणों के आविर्भाव में विघ्न उपस्थित कर सके। फिर भी सच्ची लगन हो तो यह केवल समय का ही प्रश्न रह जाता है। लेकिन जीवन में हम अज्ञान की जितनी कीमत चुकाते हैं उतनी अन्य किसी बात की नहीं। हमारे लौकिक जीवन में ही हम इस बात का निरंतर अनुभव करते रहते हैं। अतएव आध्यात्मिक जीवन में भी इस न्याय का अतिदेश करना अयोग्य न होगा। इसी दृष्टि से भारतीय दार्शनिक आत्मस्वरूप-विषयक अज्ञान की रक्षा करने वाले को 'आत्महा', आत्मघाती कहते नहीं हिचकिचाते।

जीवन के हर क्षेत्र में ज्ञान अनोखा महत्त्व रखता है। जैसा जिसका ज्ञान, वैसा उसका व्यवहार; तथा ज्ञान में परिवर्तन होते ही व्यवाहार भी आमूलाग्र बदल जाता है - ये दोनों अबाधित समीकरण हैं जिनका अनुभव हम नित्यप्रति अपने दैनंदिन जीवन में करते रहते हैं या कर सकते हैं। दर्शनशास्त्र या तत्त्वज्ञान का महत्त्व इसीलिये है कि वह सम्पूर्ण अज्ञान को हटा कर परमोच्च मूल्यों की प्राप्ति करा देता है। ऐसी स्थिति में परमार्थ तत्त्व विषयक ज्ञान या अज्ञान के माने क्या होते हैं, यह कहना अनावश्यक है। आज के हमारे विचार कभी न कभी आचार का रूप धारण किये बिना न रहेंगे, इनके अच्छे या बुरे परिणाम स्वयं हम पर तथा भावी पीढ़ियों पर भी अवश्य होंगे। अतएव यह वैचारिक झरना अपने उद्गम स्थान में ही निर्दोष या निर्मल हो इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा। विशेषत: समाज के विचारकों पर, समाज धुरीणों पर इसका पूरा दायित्व है। इस दृष्टि से सारी समाज-रचना या इस रचना में परिवर्तन आध्यात्मिक स्वरूप के चिरंतन सत्यों एवं शाश्वत मूल्यों के आधार पर ही करने होंगे, अन्यथा सब तरह के अनिष्ट प्रसंग अनिवार्य हो जाएँगे।

यदि दर्शनशास्त्र का समुचित महत्त्व हम समझ लेते हैं तो यह देखते देर न लगेगी कि दर्शनशास्त्र

* निम्न श्लोक में साध्य-साधन का स्वरूप सुन्दर रीति से बतलाया गया है -
अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिघं कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम्।
प्राणा: संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं तत्त्व जिज्ञास्यं येन भूयो न दु:खम्॥

ही हमारे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का आधार है। नीति की तरह धर्म भी दर्शन पर अधिष्ठित है। दर्शनों की विभिन्नता के साथ ही उनके अनुगामी नीतिशास्त्र एवं धर्म भी विभिन्न हो जाते हैं। 'देह ही आत्मा है', यह चार्वाक-दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त ही उदाहरणार्थ लीजिये, इस सिद्धान्त का आधार लेने वाला नीतिशास्त्र या धर्म किस प्रकार का हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। यह बात सूर्य-प्रकाश जितनी स्पष्ट है। इसके विरुद्ध 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'एकं सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति' के श्रेष्ठ एवं व्यापकतम औपनिषद् दर्शन पर अधिष्ठित धर्म तथा नीतिशास्त्र कैसे होते हैं, यह भी किसी से छिपा नहीं है।

आज के वैज्ञानिक आधिभौतिकवाद की नींव यूरोप में पुनर्जागृति काल में पड़ी। उसी का आधार आज की पाश्चात्य संस्कृति लिए हुए है। हमारे यहाँ भी यह लहर काफी रंग जमा चुकी है। इस विचारधारा के अच्छे पहलू न हों, यह बात नहीं। तथापित इसके कुछ अनिष्ट पहलू भी हैं जिनसे इसके उत्साही समर्थक भी इन्कार नहीं कर सकते। यह वस्तुस्थिति है कि इसी विचारधारा के फलस्वरूप आज हम सर्वसंहार के मुँह तक पहुँच चुके हैं। ये भयंकर परिणाम कैसे वारण किये जायँ, यह प्रश्न आज जगत् के विचारवान व्यक्तियों को हैरान कर रहा है। लेकिन इसका सच्चा उपाय है अध्यात्ममूलक चिरंतन सत्यों एवं शाश्वतमूल्यों का परिपोष करने वाले दर्शन की साधना, उसी का प्रचार-प्रसार और उसी के अनुसार व्यक्ति एवं समाज-जीवन के सब अंगों को ढालना। इस प्रकार का दर्शन हमें मनुष्य के सच्चे सच्चिदानंदस्वरूप की ओर तथा जीवमात्र की मूलभूत एकता की ओर ध्यान दिलाकर मनुष्य की पाशवी वृत्ति को जड़ से उखाड़ फेंकने में सहायक होगा और अन्ततोगत्वा मानव-जीवन को दिव्य जीवन में परिणत करके इसी पृथ्वीतल को स्वर्ग में रूपांतरित कर सकेगा। अन्य सब उपाय तात्कालिक एवं ऊपरी स्वरूप के होंगे। ये रोग की जड़ नहीं काट सकेंगे। लेकिन आज आवश्यकता है रोग को पूरी तरह से निर्मूलन करने की।

तात्पर्य यह है कि दर्शनशास्त्र का मानवी जीवन में सार्वभौम महत्त्व है। जिस प्रकार हम प्राणवायु (Oxygen) के बिना नहीं रह सकते उसी प्रकार हम दर्शनशास्त्र के बिना भी नहीं रह सकते। हमारे व्यावहारिक जीवन का आधार रूप दर्शन या तो श्रेष्ठ होगा या हीन श्रेणी का, सुसंस्कृत होगा या विकृत, विचारयुक्त तथा सुसंबद्ध होगा या अविचारपूर्ण और असंबद्ध; लेकिन दर्शन से किसी भी हालत में छुटकारा नहीं मिल सकता। कारण यह (दर्शन या दार्शनिक प्रवृत्ति) मनुष्य का शेष सजीव सृष्टि से पृथक् करने वाला व्यावर्त्तक धर्म है। इसको यदि अलग कर दें तो पशुसृष्टि में और हममें कोई उल्लेखनीय भेद नहीं रह जाता।

पाश्चात्य देशों में अनेक विचारक दर्शनशास्त्र का महत्त्व तो पूर्णतया स्वीकार करते हैं परंतु उनके अनुसार दर्शनशास्त्र का गठनबंधन किसी न किसी रूप में भौतिक विज्ञान के साथ ही होना चाहिये। इन मतों की ओर भी हम सिंहावलोकन न्याय से देख लें। इनमें से एक मत यह है कि दर्शन का काम विभिन्न विज्ञानों के निष्कृष्ट सिद्धान्तों के अवलोकन एवं प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा प्राप्त सत्यों में समन्वय स्थापित करना है। विज्ञान के विभिन्न अंग अपने मर्यादित क्षेत्र में सीमित होने के कारण स्वयं यह काम नहीं कर सकते। अतएव यह काम दर्शनशास्त्र का है। इस संबंध में दर्शन विषयक दूसरी कल्पना यह है कि दर्शन का काम भौतिक विज्ञान की मूलभूत धारणाओं एवं मान्यताओं, यथा देश, काल, कार्यकारणभाव इ. की तर्कशुद्ध आलोचना करना है। भौतिक विज्ञान इनकी सत्यता गृहीत कर चलता है। वह स्वयं इनकी आलोचना या परीक्षा नहीं करता। इस क्षेत्र के अन्य विद्वानों के अनुसार दर्शनशास्त्र का विषय वही है जो भौतिक विज्ञान का है। लेकिन दोनों की पद्धति (Method) में अन्तर

है। ठीक इसके विरुद्ध मत यह है कि विज्ञान तथा दर्शन की पद्धति में विशेष अन्तर न होकर उनके प्रतिपाद्य विषय में अन्तर है।

इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में एक अद्यतन मत कुछ विचित्र सा है किंतु यह काफी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है। इस मत का नाम है "तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद" (Logical Positivism)। इसके अनुसार वैज्ञानिक सत्यों के आधार पर समन्वयात्मक एवं सुसंबद्ध प्रक्रिया या रचना (System) का करना दर्शनशास्त्र का काम नहीं। दर्शनशास्त्र का काम केवल वैज्ञानिक विधानों का विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण है। अमूर्त एवं क्लिष्ट तथा जटिल विधानों को मूर्त एवं सरल रूप से उपस्थित करना - यही दर्शन का काम है। किसी भी विधान की सत्यता की कसौटी इन्द्रियजन्य अनुभव पर उतरना ही है। अतएव रूढ़ तथा परम्परागत दर्शनशास्त्र में पाये जाने वाले समस्त अतीन्द्रिय विषय निरर्थक हैं। सत्यप्राप्ति भौतिक विज्ञान का काम है। अतएव वैज्ञानिक विधानों का शब्द, अर्थ तथा उनके संबंध इ. का मीमांसा द्वारा स्पष्टीकरण तथा सुबोधीकरण, इतना ही दार्शनिकों का काम होना चाहिए।

इस अंतिम मत की दर्शनशास्त्र को इतनी देन अवश्य है कि वह अनुभवगम्य, सुपरिचित यथार्थ एवं सार्थक शब्दयोजना की ओर ध्यान आकर्षित करता है। तथापि दर्शनशास्त्र का कोई अपना, स्वतन्त्र विषय न हो और केवल वैज्ञानिक विधानों का उक्त स्पष्टीकरण ही दर्शन का एकमात्र काम हो यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकरणीय नहीं हो सकती। वैसे ही यह बात भी सर्वांशेन ग्राह्य नहीं हो सकती कि भौतिक विज्ञान ही एकमात्र सत्यप्राप्ति का साधन है या अनुभव केवल इन्द्रियों की सीमा तक ही मर्यादित है। इस मत के प्रवर्तकों के निष्कर्ष या सिद्धान्त स्वयं इन्द्रियातीत हैं, किसी भी इन्द्रिय से उनकी अनुभूति या प्राप्ति नहीं। फिर भी वे कम से कम उनके लिए भी प्रमाणभूत हैं। यहाँ पर इस मत के बारे में इतनी ही आलोचना पर्याप्त है। विस्तृत विवेचन स्थल-संकोच के कारण नहीं दिया जा सकता।

इसी प्रकार यह भी मान्य करना कठिन है कि दर्शनशास्त्र का काम वैज्ञानिक सत्यों में समन्वय स्थापित करना मात्र है या विज्ञान के मूलभूत गृहीत सिद्धान्तों की परीक्षामात्र है। इस प्रकार के विशिष्ट दर्शन की आवश्यकता हम मान सकते हैं, लेकिन इस प्रकार का दर्शन सच्चे और व्यापक अर्थ से प्रयुक्त दर्शन का एकदेश मात्र होगा। जैसे इतिहास-दर्शन भी एक दर्शन है वह वैसे ही विज्ञान-दर्शन एक प्रकार का दर्शन हो सकता है। लेकिन भौतिक विज्ञान किसी भी रूप में दर्शन का एकमात्र या प्रमुख विषय हो यह बात नहीं मानी जा सकती। यह तो दर्शनशास्त्र का अनावश्यक संकोच है। दर्शन का गठबंधन विज्ञान के साथ करना मानो दर्शन को अपने मुख्य राजसिंहासन से नीचे गिराना है। दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय, पद्धति तथा प्रयोजन विज्ञान के प्रतिपाद्य विषय, पद्धति एवं प्रयोजन से नितांत भिन्न है। विषय की दृष्टि से विज्ञान की सीमा स्वयं वैज्ञानिकों ने ही अपनी सुविधा के लिए निर्धारित कर ली है। वह है बाह्य जगत्, जिसकी अनुभूति हमें अपनी इंद्रियों से होती है। विज्ञान की पद्धति मुख्यत: है- अवलोकन तथा प्रत्यक्ष प्रयोग। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से ये सब बातें अधिक काम ही नहीं।

भौतिक विज्ञान का महत्त्व हम किसी प्रकार कम करना चाहते हों यह बात नहीं। आज हमारे राष्ट्रीय अभ्युदय के हेतु विज्ञान के सब अंगों की अत्यधिक आवश्यकता है। इसलिये इनकी ओर हमें पूरा-पूरा ध्यान देना ही होगा। हमारे कहने का आशय सिर्फ इतना ही है कि विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र पृथक् हैं। अतएव दोनों का गठबंधन आवश्यक एवं अनिष्टकर ही सिद्ध होगा। विज्ञान स्वयं की मर्यादाओं से सदैव मर्यादित रहा है और रहेगा। समस्त वैज्ञानिक सत्य अनिश्चित स्वरूप के हैं। विज्ञान के क्षेत्र में आज का निश्चित सत्य कल कपोलकल्पना सिद्ध हो सकता है। लेकिन दार्शनिक की खोज तो त्रिकालाबाधित सत्य के लिये होती है। दर्शनशास्त्र द्वारा प्राप्तव्य सत्य 'दिक्कालानवच्छिन्न' होता है। सार्वदेशिक एवं सर्वकालीन होता है। दर्शनशास्त्र का सत्य अवाङ्मनसगोचर होता है। विज्ञान

इंद्रियजन्य सीमा में ही काम करता है। यंत्रसामग्री की सहायता से इंद्रियों की शक्ति कई गुना बढ़ सकती है किंतु कोई भी यंत्र परमतत्त्व का ज्ञान न तो अभी तक करा सका है और न आगे भी इस बात की सम्भावना है। दर्शन का उद्देश्य तथा अध्ययन पद्धति दोनों में महदंतर है। अतएव इन दोनों क्षेत्रों को सुविधा की दृष्टि से पृथक् रखना ही ठीक होगा। विज्ञान की प्रगति के साथ ही उसकी मर्यादाएँ भी इतनी बढ़ गई हैं कि कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त वैज्ञानिक भी दार्शनिक बनने का प्रयास करने लगे हैं। लेकिन वे इस प्रयत्न में असफल ही रहे हैं। अपने इस प्रयास के कारण न तो वे दार्शनिकों में ही गिने जा सके हैं और न वैज्ञानिकों ने ही इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है।

दर्शनशास्त्र की भारतीय कल्पना के बारे में कुछ कहने से पहले पाश्चात्य दार्शनिकों की दर्शनविषयक एक दूसरी कल्पना या विचारधारा का दिग्दर्शन कर लेना अप्रासंगिक न होगा। पाश्चात्य देशों में प्रारंभ से ही ऐसे अनेक विचारक रहे हैं जिनकी दर्शन की कल्पना उक्त कल्पना से नितांत भिन्न है। यूनानी दार्शनिक प्लेटों का पाश्चात्य दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे यहाँ जो बात व्यासदेव के बारे में कही जाती है, ''व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'' वही बात पाश्चात्य देशों में प्लेटो के बारे में कही जाती है, ''ऑल-फिलॉसॉफी इज फुट नोट्स टू प्लेटो'' इसलिये प्लेटो की दर्शन-विषयक कल्पना मननीय है। 'फिलॉसॉफी' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार (philoe=love, sophia=wisdom) अर्थ है ज्ञान से प्रेम। परन्तु प्लेटों के अनुसार दार्शनिक वह है जिसका प्रेम उस ज्ञान से हो जिसका विषय पूर्णता है। समूचा ज्ञान ही दार्शनिक का जिज्ञास्य है, अधूरा या एकांगी ज्ञान नहीं। दार्शनिक तो (चरम) सत्य के दर्शन या साक्षात्कार का पिपासु होता है। प्लेटो के अनुसार दार्शनिक त्रिकालदर्शी एवं अस्तित्त्व मात्र का द्रष्टा होता है तथा उसकी लगन त्रिकालबाधित वस्तु से होती है और भी, प्लेटो के अनुसार दर्शन 'सत्तत्व, विशुद्धसत्ता या परमार्थसद्वस्तु का ज्ञान है।' दार्शनिक के ज्ञान का विषय है अपरिवर्तनीय, शाश्वत एवं व्यापकतम वस्तु। दर्शनशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम प्लेटो ने ही प्रतिभास (अपीयरेंस) और परमार्थसत्य (रियालिटी) में अंतर स्पष्ट रूप से प्रस्थापित किया। पाश्चात्य दर्शन को प्लेटो की यह एक महत्त्वपूर्ण देन है। प्लेटो के शिष्य एरिस्टॉटल के अनुसार दर्शन का जिज्ञास्य विषय है शुद्धसत्ता। एरिस्टॉटल ने अध्यात्मशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र में स्पष्टतया अन्तर स्थापित किया। अध्यात्मशास्त्र ही उसके अनुसार मुख्यशास्त्र होने के नाते सच्चे अर्थ से 'दर्शन' संज्ञा का पात्र है (First Philosophy)। भौतिकशास्त्र गौण अर्थ से ही 'दर्शन' कहा जा सकता है (Second Philosophy)। आधुनिक काल में सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगेल के अनुसार दर्शन परमतत्त्व का विज्ञान है (साईंस ऑफ दि एब्सोल्यूट)। आंग्ल दार्शनिक ब्रेडले के अनुसार दर्शन का काम जगत्प्रतिभास के मूल में रहने वाले परतत्त्व का ज्ञान संपादन करना है।

उपर्युक्त मत दर्शन विषयक भारतीय कल्पना से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं तथापि जैसा कि हमने प्रारंभ में ही कहा है, दोनों दर्शनों में प्रकृतित:भेद है। पाश्चात्य दर्शन तार्किक बुद्धि पर प्रारम्भ से ही विशेष जोर देता आया है। भारतीय दर्शन तर्कनिष्ठा का महत्त्व समुचितरीत्या स्वीकार करते हुए भी तत्त्वसाक्षात्कार पर या आध्यात्मिक अनुभूति पर विशेष जोर देता आया है। ज्ञानी के लक्षण 'शाब्दे निष्णात' तथा 'परे निष्णात' ऐसे द्विविध हैं। ये दोनों ही लक्षण तुल्य महत्त्व के हैं। केवल शास्त्र निष्णात पुरुष शास्त्री या पंडित कहा जा सकता है, सच्चे अर्थ से दार्शनिक नहीं। वैसे ही केवल आध्यात्मिक अनुभूति से संपन्न व्यक्ति को हम संत कोटि में गिन सकेंगे, दार्शनिकों में नहीं। बिना 'आन्वीक्षिकी' या शास्त्राध्ययन के आध्यात्मिक अनुभूति की सम्यक् एवं रूपबद्ध अभिव्यक्ति नहीं की जा सकेगी। शिष्यों की बौद्धिक शंकाओं का निराकरण करने के लिए तथा संप्रदाय सिद्धि के लिये शास्त्राध्ययन ही महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य दर्शन में एक तरह से ज्ञान स्वयं ही साध्य तथा साधन भी है ('Knowledge for

the sake of Knowledge') । भारतीय दर्शन में ज्ञान मुख्यत: साधन है । जिसका वह साधन है वह साध्य है परमपुरुषार्थ या मोक्ष - यही मानवीय जीवन का अन्तिम उद्दिष्ट है और होना चाहिये । इसलिये भारतीय दर्शन मोक्षशास्त्र है । भारत के विभिन्न दार्शनिकों में मोक्ष विषयक कल्पना में भले ही मत-भेद हों, स्वयं मोक्ष के बारे में विप्रतिपत्ति नहीं । यहाँ एक भी दर्शन ऐसा नहीं जिसका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति न हो । आध्यात्मिक अनुभूति पर जोर देने के कारण भारतीय दर्शन में शब्द प्रमाण पर भी विशेष जोर दिया गया है । लौकिक प्रमाणों से अगम्य परमतत्त्व की अपरोक्षानुभूति का ही विशद् वर्णन होने के कारण उपनिषद् देश-विदेश में इतने लोकप्रिय हुए हैं । जो दर्शन श्रुति नहीं मानते वे भी अपने संप्रदाय-प्रवर्तक मूलपुरुष के आध्यात्मिक अनुभव को निस्संदिग्धतया प्रमाण मान कर चलते हैं । पाश्चात्य दर्शन स्वतंत्र विचार पर जोर देता है । अतएव वहाँ पर प्रत्येक दार्शनिक अपनी स्वयं की स्वतंत्र दार्शनिक प्रक्रिया उपस्थित करता है । इसलिये अनेक दार्शनिक प्रक्रियाओं का स्वरूप बौद्धिक विलासमात्र होता है । उनका मोक्षप्राप्ति इ. बातों से कोई सम्बन्ध नहीं होता न यह इन प्रक्रियाओं का ध्येय ही होता है । शब्द प्रमाण, आप्तवाक्य, मोक्ष तीन बातें इनके अनुसार धर्म से सम्बन्ध रखती हैं, दर्शन से नहीं । भारतवर्ष में धर्म तथा दर्शन का गठबंधन है । दर्शन ही धर्म का आधार है। 'देह आत्मा नहीं' यह धर्म तथा दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है । दर्शनशास्त्र में इस सिद्धान्त का युक्तियुक्त विवेचन किया जाता है । धर्म दर्शन के सिद्धान्तों का व्यावहारिक एवं सुलभ संस्करण कहा जा सकता है । धर्म दर्शन के उद्दिष्ट तक पहुँचने का साधन है । दर्शन व्यापक है, धर्म व्याप्य है । व्यापक तत्त्व में व्याप्य तत्त्व का समावेश होता है । अतएव हमारे यहाँ धर्म तथा दर्शन के बीच लौह रेखा नहीं है । सकल दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति धर्म तथा दर्शन दोनों का उद्दिष्ट है । धर्म जीवन के भावनात्मक एवं व्यावहारिक पक्ष पर जोर देता है, दर्शन सैद्धान्तिक तथा वैचारिक या तात्त्विक दृष्टिकोण पर ।

भारतीय दर्शन के उक्त स्वरूप के कारण अधिकार तथा अधिकारी का विचार भारतीय दर्शन की एक प्रमुख विशेषता है । प्रत्येक दर्शन में प्रथमत: अनुबंधचतुष्टय (अधिकारी, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध) का विचार किया जाता है । आचार्यशंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रथम सूत्र के प्रथम शब्द 'अथ' का अर्थ किया है 'साधनचतुष्टय सम्पत्ति के अनन्तर', विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क तथा मुमुक्षा ये हैं साधनचतुष्टय, इन साधनों से युक्त पुरुष ही वेदान्तदर्शन का अधिकारी है । इन साधनों के अभ्यास के बिना वेदान्त दर्शन के अध्ययन से समुचित लाभ नहीं उठाया जा सकता । इतना ही नहीं, अनधिकारी के अध्ययन से वेदान्त सिद्धान्त को हानि भी पहुँच सकती है । स्पष्ट ही इस प्रकार के अधिकारी बिरले ही होते हैं ।

भारतीय दर्शन की एक और विशेषता यह है कि वह संपूर्ण जीवन व्यापी है । वह मानव जीवन के अंगविशेष को (यथा तर्कबुद्धि) आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देता, स्व. सर ब्रजेन्द्रनाथ शील इसे भारतीय दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि कहा करते थे (synthetic outlook) । स्वयं तत्त्वसाक्षात्कार में तो मानव-जीवन के सभी अंगों-भावनात्मक, क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक-की मांग पूरी होती है । परमतत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप है । अतएव उसके ज्ञान के अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता । 'नेह् भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यं अवशिष्यते' । सिद्ध या परिनिष्पन्न वस्तु की प्राप्ति के साथ ही समस्त क्रियाओं की परिसमाप्ति होने के कारण तत्त्वेत्ता यह अनुभव करता है कि 'कृतं कृत्यं, प्रापणीयं प्राप्तम्' । परतत्त्व संपूर्ण आनंद की राशि या सागर होने के नाते जीवन का भावनात्मक अंग भी पूरी तरह से तृप्त हो जाता है । तत्त्वसाक्षात्कार के साथ ही सकलदु:ख की आत्यंतिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है ।

भारतीय दर्शन जीवनव्यापी होने के कारण उसका व्याप्य धर्म भी जीवन व्यापी है । समस्तपुरुषार्थों

का आधार धर्म ही है। जीवन का एक भी अंग ऐसा नहीं, फिर वह आर्थिक हो, औद्योगिक हो, युद्ध हो या विषयोपभोग ही क्यों न हो, जो धर्म के नियमों से मर्यादित न हो। प्रत्यक्ष व्यवहार में इन मर्यादाओं का पालन कितने अंश में किया जाता था या किया जाता है यह प्रश्न अलग है। यहाँ तो केवल आदर्श या सिद्धान्त का विवेचन ही विवक्षित है।

इस सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् अब मुख्य प्रश्न यह है कि आज भारत में दर्शन के क्षेत्र में क्या स्थिति है तथा उसकी त्रुटियाँ दूर कर उसे निर्दोष एवं आदर्शरूप प्रदान करने के लिये किया क्या जा सकता है। हम या कोई भी राष्ट्र अपने अतीत वैभव की डींग हाँक कर दुनिया के सामने ऊँचा सिर उठाकर नहीं चल सकता। हमें प्रथम अपने अतीत वैभव को पुन: प्राप्त करके उसे जीवित स्वरूप देकर तदनंतर उसके भी आगे बढ़ने की महत्त्वकाँक्षा रखनी होगी। हमें अपनी खोई हुई मूल की पूंजी पर प्रत्यक्षरूप से अधिकार स्थापित करके उसमें योग देना। इसी दृष्टि से हमें आज विचार करना चाहिये।

इस दृष्टि से आज जब हम आत्मपर्यवेक्षण करते हैं तो हम देखते हैं कि आज भारत में दार्शनिक वातावरण एकदम लुप्त सा ही हो गया है। दर्शनशास्त्र का नाममात्र का अध्ययन होता है, सिर्फ विश्वविद्यालयों में या कुछ कॉलेजों में। कई कॉलेजों में तो दर्शनास्त्र का विभाग ही नहीं होता। इस उपेक्षा का कारण है दर्शन का बाजारू मूल्य का न होना, निस्संदेह यह मूल्यमीमांसा विकृत है, यही कहना पड़ेगा। अस्तु, कॉलेजों में जहाँ दर्शनशास्त्र का अध्ययन होता है, वहाँ एम.ए. के वर्गों में भी भारतीय दर्शन का नाममात्र का अध्ययन होता है, कहीं पर तो यह ऐच्छिक विषय के रूप में ही रखा जाता है, फिर यह अध्ययन उपरि-उपरि या छिछला ही होता है। कारण, अधिकतर अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर ही टूटे-फूटे या सदोष रूप में भारतीय दर्शन की कल्पना प्रोफेसरों के कुछ व्याख्यानों द्वारा दी जाती है। इस अधूरे ज्ञान का अनिष्ट फल यह होता है कि छात्रों को भारतीय दर्शन की विकृत कल्पना ही आ पाती है और इसी के आधार पर वे अपने आपको भारतीय दर्शन के बारे में सर्वज्ञ समझकर उसके विषय में तिरस्कार दिखलाते रहते हैं और पाश्चात्य दर्शन को ही सब कुछ समझ बैठते हैं, इस प्रवृत्ति का उल्लेख हमने इस लेख के प्रारम्भ में ही किया है। भर्तुहरि के शब्दों में वे ज्ञानलवदुर्विदग्ध होते हैं। कहा है न, अल्पविद्यो महागर्वी, इस अनिष्ट प्रवृत्ति को रोकने के लिये हमें सबसे पहले भारतीय दर्शन का मूलग्रन्थों द्वारा विस्तृत, गहरा तथा ठोस अध्ययन करने या कराने की परंपरा को नये सिरे से प्रस्थापित करना होगा।

रहा पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन वह भी मौलिकरूप से होता हो, यह भी बात नहीं। जिस पद्धति से पाश्चात्य देशों में दर्शनशास्त्र की मूलभूत समस्याओं का मौलिक एवं सजीवरूप से चिन्तन किया जाता है उस पद्धति का भी हमारे यहां सर्वथा अभाव ही दीख पड़ता है। यहाँ तो पाश्चात्य दार्शनिकों के ग्रन्थों का नाममात्र का परिचय ही पर्याप्त समझा जाता है। इस अध्ययन का उद्देश्य परीक्षा की दृष्टि तक ही सीमित रहने के कारण दर्शन-शास्त्र के अंतरंग में प्राय: प्रवेश ही नहीं हो पाता।

यदि हम दर्शन के क्षेत्र में कुछ कर दिखाना चाहते हों तो इस सारी परिस्थिति में आमूलाग्र परिवर्तन करना होगा, पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दर्शन में श्रेष्ठ एवं सर्वमान्य ग्रन्थों के निकट अध्ययन द्वारा दर्शनशास्त्र की मूलभूत समस्याओं का मौलिक रूप से स्वयं विचार करने की तथा इस प्रकार के विचार को प्रोत्साहित करने की पद्धति को आत्मसात् करना होगा, तभी हमारे यहाँ दार्शनिक अध्ययन का वर्तमान निर्जीव रूप जाकर उसे सजीव रूप प्राप्त हो सकेगा।

यह तो हुई अध्ययन की बात, लेकिन दर्शनशास्त्र की भारतीय कसौटी के अनुसार जो दर्शन केवल अध्ययन तक ही सीमित रहता है, उसका एक निश्चित मर्यादा के बाहर मूल्य नहीं। विचार का महत्त्व पूर्णतया स्वीकार करते हुए भी हम इस बात को नहीं भूल सकते कि अन्ततोगत्वा विचार आचार के लिए, प्रत्यक्ष आचरण के लिये होता है, जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह दार्शनिक क्षेत्र में भी

विचार के ऊपर उठकर स्वानुभूति का, अत्मप्रतीति का या तत्त्व साक्षात्कार का महत्त्व अत्यधिक है। लेकिन इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त करना कोई खेल नहीं। केवल विचार के साम्राज्य में विचरण करते रहने से यह ध्येय प्राप्त न हो सकेगा। उसके लिये तो संपूर्ण जीवन को ही साधना का स्वरूप देना पड़ेगा, जीवन के समस्त अंगों को नये साँचे में ढालना पड़ेगा, सम्पूर्ण जीवन को त्याग, सदाचार तथा संयम पर अधिष्ठित करके आध्यात्मिक अनुभूति पर केंद्रित करना होगा। केवल बुद्धि की कसरत से काम न चलेगा। बौद्धिक या तार्किक विचार का महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी हम इसे साधन ही समझते हैं। अतएव साध्य-साधन के विपर्यास की भूल से बचना और बचाना चाहते हैं।

इस सम्बन्ध में एक और भ्रांतधारणा की ओर ध्यान आकर्षित करना अप्रासंगिक न होगा। प्राय: यह समझा जाता है कि आध्यात्मिक साधना के लिये या तत्त्वचिंता के लिये वृद्धावस्था ही योग्य समय है। लेकिन यह एक घोर भ्रांति या आत्मवंचना ही है। जिस समय उत्साह शिथिल और इंद्रियों की शक्ति प्रतिहत हो जाती है, सब उच्च आशा आकाँक्षा तथा उमंगें मृतप्राय हो जाती हैं, उस समय कोई भी बात ठीक से नहीं की जा सकती, पूर्ण यौवन ही इसके लिये उपयुक्त काल है। हमारे यहाँ के तथा विदेशों में भी दार्शनिक मनीषियों ने, आचार्यों ने तथा आध्यात्मिक दृष्टि के महापुरूषों ने इसे सम्पूर्ण जीवन की साधना या लक्ष्य बनाया था। समाज के असंख्य अग्रणी पुरुषों ने, सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों ने, समाजधुरीणों ने अपना संपूर्णजीवन इस ध्येय के लिये अर्पण किया था, तभी इस दिशा में कुछ विशेषता हम दिखा सके। यद्यपि आज भी हमारे यहाँ से यह परम्परा पूरी तरह से विच्छिन्न नहीं हुई तथापि समाज-जीवन से आदर्श के रूप में यह बात लुप्त सी हो गई है। बुद्धिमान एवं योग्यता की दृष्टि से प्रथम श्रेणी के लोग अध्यात्म की उपेक्षा कर अन्य क्षेत्रों में ही अपना जीवन लगाते हैं। तत्त्वज्ञान या दर्शन अकर्मण्यता सिखाता है, यह नितांत भ्रांत धारणा भी परिस्थिति के लिये अंशत: कारण है। यह धारणा भ्रांत इसलिए है कि दार्शनिक साधना के लिये साधारण नहीं, असाधारण कर्मण्यता की आवश्यकता है। यह बात इस क्षेत्र में थोड़ा भी अनुभव रखने वाले व्यक्ति भली भांति जानते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इन दार्शनिक साधना का विज्ञान के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध है या नहीं। इस विषय में हमारा नम्र मत यह है कि विज्ञान एक दृष्टिकोण है जो किसी भी क्षेत्र में अपनी अनोखी योगिता रखता है। अनुभवमूलक प्रमाणगम्य सुसंबद्ध विचार ही विज्ञान का मुख्य स्वरूप है, फिर इस विचार का क्षेत्र चाहे कुछ भी क्यों न हो। अतएव हमारे आध्यात्मिक जीवन के बारे में भी वैज्ञानिकदृष्टि अवश्य उपयोगी सिद्ध होगी। इस दृष्टि का अवलंबन करने के कारण आध्यात्मिकता के ऊपर छाये हुए रहस्यमयता के या गूढ़ता के पटल दूर होकर अध्यात्म-विद्या वैज्ञानिक ढंग से बहुजन समाज के सामने आकर अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। जिस प्रकार आरोग्यशास्त्र के नियम हैं, तर्कशास्त्र के नियम हैं, भौतिकशास्त्र के नियम हैं, मनोविज्ञान के नियम हैं वैसे ही अध्यात्म-शास्त्र के भी अपने नियम हैं जो निरन्तर हमारे जीवन में अपना काम करते ही रहते हैं, चाहे हम उनसे अभिज्ञ हों या अनभिज्ञ। यदि हम इन नियमों को समझ-बूझ कर इनके अनुसार आचरण करते हैं तो हमारा जीवन सब तरह से सुखी होता है। यदि अज्ञान के कारण हम इनका उल्लंघन करते हैं तो बाह्य सुख साधनों की विपुलता में भी हम दु:खी रहते हैं। वर्तमान दार्शनिकों का यह भी एक महत्त्व का काम होना चाहिये कि वे उच्चतर अध्यात्म जीवन के इन नियमों को वैज्ञानिक ढंग से जीवन की प्रयोगशाला में देख-परख कर सार्वजनिक हित की दृष्टि से सीधे-सादे रूप में जनता के सामने रखें ताकि आध्यात्मिक विकास का सुलभ सोपान ही मानो सबके हाथ में आ जाय और इस ज्ञान के स्पर्श से हम अपने साधारण जीवन का रूपांतर एक दिव्य जीवन में कर सकें।

ऊपर हमने दर्शन के क्षेत्र में विज्ञान को अनुपयुक्त बताया है वह विज्ञान के संकुचित अर्थ को

लेकर ही बताया है, विज्ञान के सच्चे व्यापक अर्थ की दृष्टि से नहीं-यह बात हमारे बुद्धिमान वाचकों के ध्यान में आते देर न लगेगी। विज्ञान का अर्थ भौतिक विज्ञान ही समझा जाता है और इसी कारण यह मर्यादित होने के नाते अतीन्द्रिय ज्ञान विषयक दर्शन के लिये निरुपयोग सिद्ध होता है। इतना ही हमारा आशय है।

दर्शन-शास्त्र में आज तक प्राय: जगत् का सत्यत्व या मिथ्यात्व तथा तत्सदृश प्रश्नों पर कुछ आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है यह मानना पड़ेगा। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध तीव्र-प्रतिक्रिया हम भगवान बुद्ध के अध्यात्मविषयक प्रश्नों पर मौन के रूप में पाते हैं। इन प्रश्नों की शुष्कचर्चा के स्थान पर भगवान बुद्ध ने प्रत्यक्षत: जीवन के परिवर्तन पर विशेष जोर दिया। जगत् को तात्त्विक या परमार्थ दृष्टि से मिथ्या कहने वालों के मत से भी जगत् का इस प्रकार का मिथ्यात्व उसकी व्यावहारिक सत्यता का विरोधी नहीं है। दर्शनशास्त्र में इन प्रश्नों की चर्चा महत्त्वपूर्ण है। इससे हम सर्वथा मुँह नहीं मोड़ सकते। भगवान बुद्ध का इन प्रश्नों विषयक मौन ही बौद्ध दार्शनिकों के दर्शन विषयक मतभेदों का कारण बना। इससे मनुष्य की दार्शनिक जिज्ञासा की उत्कटता द्योतित होती है। फिर भी केवल इन्हीं प्रश्नों की तार्किक चर्चा में ही सारी शक्ति लगाने से सक्रिय रूप से जीवन में कुछ पल्ले न पड़ेगा, यह भी बात उतनी ही सच है। इसलिये आज के युग में हमें जीवन के किसी भी अंग को उपेक्षा की दृष्टि से न देखते हुए हम अपने सामान्य जीवन को ही प्रत्यक्षरूप से उच्च, उच्चतर तथा उच्चतम कैसे बना सकेंगे इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा। हमें आध्यात्मिक ध्येय प्राप्ति के साधनरूप शरीर तथा जीवन की भौतिक आवश्यकताओं का भी समुचित महत्त्व स्वीकार करना होगा। इन आवश्यकताओं के महत्त्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। लेकिन यहाँ भी साध्य-साधन का भेद दृष्टि के ओझल न होने देना आवश्यक ही है, अन्यथा साधन को ही साध्य समझने का विपर्यास अनजाने ही हो जाता है।

तात्पर्य यह कि आज जिस दर्शन की आवश्यकता है वह केवल जिस अर्थ में दर्शन शब्द रूढ़ हो गया है (अर्थात् निरा बौद्धिक विचार) उसकी न होकर सर्वांगीय जीवन दर्शन की है। जीवन के परमोच्च तत्त्वों का साक्षात्कार ही इस दर्शन का आधार होना चाहिये तथा जीवन के सर्वांगों का विकास ही इसका ध्यये होना चाहिए। हमें आज ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो जीवन के सामान्य मूल्यों को दृष्टि से ओझल न करते हुए भी उन्हें योग्य स्थान देकर अंतिम मूल्यों की प्राप्ति करा देने में सक्षम हो। हमें अभीष्ट दर्शन जीवन-दर्शन है, जीवन के लिये है जो जीवन द्वारा ही उद्भावित एवं प्रतिष्ठित हो सकता है।

यद्यपि शाश्वत सत्य सनातन एवं चिरन्तन है तथापि वह नित्य नूतन भी है। उसकी लौकिक अभिव्यक्ति नित्य रूप में होती हुई हम पाते हैं। इसलिये उसका चिंतन एवं साक्षात्कार किसी भी देश या काल में और जीवन के किसी भी क्षेत्र में, वैसे ही दार्शनिक क्षेत्र में भी नवीन एवं सजीव आविष्करणों को जन्म दिये बिना न रहेगा। इस प्रकार का दर्शन युगानुरूप होने के कारण मानव जीवन की बहुविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम होगा।

इतनी सब बातें ध्यान में रखकर दार्शनिक साधना की जाय तो दर्शन के क्षेत्र में हम अपनी प्राचीन परंपरा को सोज्जवल रूप में पुनरुज्जीवित कर सकेंगे। वैसे फिर ध्येयप्राप्ति की लगन स्वयं ही मार्गदर्शन करने लगती है। अतएव मार्ग की इससे अधिक उधेड़बुन की चिंता अनावश्यक ही प्रतीत होती है।

भारत ने आज तक अनेक महापुरुषों को जन्म दिया है। हम आशा करते हैं कि यह भारत-भूमि जीवन-दर्शन के सर्वांगीण स्वरूप का आविष्करण करने वाले द्रष्टा तथा स्रष्टा को जन्म देगी। इस आशावाद को लेकर हम प्रस्तुत लेख समाप्त करते हैं।

***

मायावाद (विवर्तवाद) तथा लीलावाद

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः ॥

मायावाद अथवा विवर्तवाद वैचारिक स्तर पर अद्वैत-दर्शन का अविभाज्य अंग होने से सुप्रसिद्ध है। लीलावाद अद्वैत दर्शन के लिये कोई नई बात नहीं है। किन्तु अद्वैत दर्शन के आचार्यों ने इसकी मर्यादाएँ जान कर इसकी उपपत्ति विवर्तवाद के अनुसार ही लगाई है, यह विचारणीय है। वैसे लीलावाद भी पर्याप्तरूप से प्राचीन है। किन्तु आधुनिक काल में इसे श्री अरविन्द द्वारा पुरस्कृत होने के कारण विशेष महत्त्व प्राप्त होने लगा है। प्रस्तुत निबन्ध में इन दोनों वादों का विचार विवक्षित है। इस सम्बन्ध में हमारी यह धारणा है कि विवर्तवाद व्यापक सिद्धान्त है, लीलावाद उसका व्याप्य। स्वतन्त्र रूप से लीलवाद अनेक दोषों से ग्रस्त मालूम होता है। किन्तु विवर्तवाद के अन्तर्गत उसे स्वीकार करने से वह इन सब दोषों से मुक्त हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्त हमारी रूढ़ भावनाओं एवं अविचारित सिद्ध विश्वासों के ठीक विपरीत हैं। इनमें से विशेषतः जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त सबसे अधिक विरोधों को जन्म देने वाला है। कारण स्पष्ट है। हमारे दैनंदिन जीवन-संघर्ष में हमें इसकी सत्यता पल-पल में बलवत्तया मालूम पड़ती है। ऐसी स्थिति में अद्वैतवेदान्त के मूलभूत सिद्धान्त-एकमात्र ब्रह्म की ही सत्यता या एकमेवाद्वितीयता, जगत् का मिथ्यात्व और जीव-ब्रह्म की एकता में सिद्धान्त रूप से भी विश्वास रखना कठिन होता है। फिर इस विश्वास के अनुसार प्रत्यक्ष आचरण करना तो दूर की बात रही। अद्वैतदर्शन के आचार्य इन सब कठिनाइयों तथा आपत्तियों से परिचित न हों यह बात नहीं। किन्तु किसी बात की कठिनता या दुर्गमता और बात है, उसकी सत्यता दूसरी बात है। किसी बात का व्यवहार-पक्ष में सुकर होना उसकी सत्यता या समर्थनीयता का द्योतक नहीं हो सकता, भगवद्गीता में इसी आशय से कहा गया है कि हजारों मनुष्यों में एकाध ही परम सत्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। किन्तु इन बिरले प्रयत्न करने वालों में से भी एकाध ही अपने प्रयत्न में सफल होते हैं (भगवद्गीता, अ. ७, श्लोक ३)। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा ने इसी आशय से कहा है कि समस्त लोकोत्तर बातें जितनी कठिन, उतनी ही दुर्लभ होती हैं - "All things excellent are as difficult as they are rare", इसीलिये मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है। दार्शनिक का कार्य लोकमत का समर्थन करना नहीं है किन्तु सत्य की ओर स्वानुभव के आधार पर पथ-प्रदर्शन करना है। इस दृष्टि से विचार करने पर अद्वैत-दर्शन के सिद्धान्त हमारे आदर के विषय हो सकते हैं।[१]

परम सत्य ही हमारी दार्शनिक जिज्ञासा का विषय है या होना चाहिये। अन्य अवान्तर सत्य साधन रूप में महत्त्व रखते हैं, या तात्कालिक साध्यरूप से भी; परमसाध्यरूप से नहीं। एकमात्र परम सत्य ही दार्शनिक जिज्ञासा द्वारा प्राप्तव्य हो सकता है। दर्शनशास्त्र हमारे दैनंदिन, सार्वजनीन सुपरिचित अनुभव की ओर देखने की एक नई दृष्टि प्रदान करता है। सामान्यजन इस दृष्टि से रहित होते हैं, दार्शनिक

इस द्रृष्टि से युक्त-यही दोनों में अन्तर है। किन्तु इस द्रृष्टि या ज्ञान के मिलते ही हमारे सामान्य, सर्वजनसिद्ध अनुभव में निहित अंतर्तम रहस्यों से हम परिचित होने लगते हैं जिनकी साधारणतया हमें कल्पना भी नहीं होती। इस द्रृष्टि या ज्ञान के साथ ही साथ हमारे सारे मूल्य भी बदल जाते हैं जिसके फलस्वरूप वह व्यक्ति ही पूर्णतया बदल जाता है। कुछ इसी आशय को लेकर शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य (१-१-४) में कहते हैं : "नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव:। अपनी-अपनी द्रृष्टि से कवि या कलाकार या वैज्ञानिक भी हमें जीवन के काव्यात्मक या कलात्मक या वैज्ञानिक पक्ष से परिचित कराते हैं। इससे निस्सन्देह हमारा जीवन समृद्ध हो उठता है। किन्तु दार्शनिक की तलाश सबसे गहरी होती है। वह अंतिम या परम सत्य की थाह लिये बिना चैन नहीं ले सकता। अद्वैत दर्शन ने इस विषय में पूरी-पूरी सफलता प्राप्त की है।"

अद्वैत दर्शन श्रुतिमूलक है। इसमें शब्द-प्रमाण को पर्याप्त अवकाश है। तथापि इस दर्शन के सिद्धान्त, युक्ति एवं अनुभव से भी सिद्ध हैं। शास्त्र-प्रतीति के साथ यह दर्शन गुरु-प्रतीति, आत्म-प्रतीति या स्वानुभव को भी महत्त्व देता है : "अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोऽनुभवस्था।"

यदि ब्रह्म की एकमेवाद्वितीयता का, जगन्मिथ्यात्व का या जीवब्रह्मैक्य का इस दर्शन के चिन्तकों को अनुभव न आता तो भला महर्षि याज्ञवल्क्य से लगाकर रमण महर्षि तथा स्वामी शिवानन्द तक ब्रह्मविद्या की एक लम्बी तथा अविच्छिन्न परम्परा किस प्रकार चलती ? वेदान्त दर्शन की अन्य दर्शनों से यह एक विशेषता है कि वह हमें मानव जीवन के परमोच्च मूल्य यहीं, इसी देह में, तत्काल प्राप्त कराने का बड़ा बीड़ा उठाता है : 'ज्ञानसमकालमुक्त: कैवल्यं याति हतशोक:' - यह इस दर्शन की विशेषता है। यह इस ज्ञान का सविस्तर स्वरूप भी बतलाता है तथा इसकी प्राप्ति की प्रक्रिया भी। मूल्यों तथा प्राप्तव्य की द्रृष्टि से अभी तक कोई दर्शन इससे आगे न जा सका है। अधिकांश दर्शनों में जीव परमत्व से न्यून श्रेणी पर ही रहता है। इस दर्शन के अनुसार 'ब्रह्मवेद ब्रह्म एव भवति।' इतना ही नहीं, सांसारिक दशा में भी वह ब्रह्म ही है। किन्तु अज्ञान के कारण अपने वास्तव स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। इस द्रृष्टि से अज्ञान ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। इस दर्शन के अनुसार कांडत्रयात्मक वेद जीव को उसके वस्तुत: नित्य प्राप्त ब्रह्म पद की प्राप्ति कराने में ही चरितार्थ होते हैं : 'सर्वे वेदा यत्पदमामनंति'।

जिस परम सत्य की तलाश दर्शनशास्त्र में होती है उसका अद्वैत वेदान्त के अनुसार क्या लक्षण है, क्या स्वरूप है ? दार्शनिक विचार करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम सब प्रकार के पूर्वग्रहों, आग्रहों तथा पक्षाभिनिवेशों को एक तरफ रख दें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम व्यवहार में रूढ़ शिथिल शब्द प्रयोगों को एक तरफ रख दें। शास्त्रीय विचार हमारे अनुभव को सुसंबद्ध एवं सुसंगत बनाता है और वैचारिक तथा इन विचारों की अभिव्यक्तिगत ढिलाइयों से बचाता है। इसलिए किसी भी दर्शन की प्रक्रिया में इन महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या पाते हैं। अद्वैत दर्शन में परम सत्य की व्याख्या है 'त्रिकालाबाधित्व'। परमार्थ सद्वस्तु वह है जो किसी भी काल में बाधित न हो, वह हर समय एक ही रूप में उपलब्ध होती है : 'एक रूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थ: स परमार्थ:। सत्य आदि, मध्य तथा अंत तीनों काल में रहता है। इसके विपरीत जो आदि तथा अंत में न होकर केवल मध्य में रहता हो वह सत्य नहीं हो सकता। ऐसी वस्तु के साथ प्रयुक्त सत्य शब्द गौण होता है, मुख्यार्थतया प्रयुक्त नहीं। इस सम्बन्ध में योगवासिष्ठ की निम्न पंक्तियाँ देखिये :-

आदावंते च यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत्,
आदावंते च यत्सत्यं वर्तमाने सदैव तत्।
आदावंते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
आदावंते च यन्नास्ति कीदृशी तस्य सत्यता।

ऐसे परम सत्य को अद्वैत दर्शन ब्रह्म या आत्मा कहता है, वैसे तो इनके पर्याय शब्द अनेक हैं। संसार दशा में इसका बाध नहीं। कारण, आत्मा के अर्थात् अपने स्वयं के बारे में न तो किसी को संदेह है, न विपर्यय है और न व्यतिरेक प्रमा ही है। संदेह, विपर्यय, आदि जिसको होते हैं वही तो धर्मी आत्मा है। समस्त प्रमाण-प्रवृत्ति आत्मप्रमापूर्वक है, यह ठीक है कि श्रुति आत्मा का जो स्वरूप बतलाती है उससे अज्ञान दशा में हम अपरिचित से रहते हैं। किन्तु इसी कारण उसका बाध अर्थात् मिथ्यात्व निश्चय है यह नहीं कहा जा सकता। जिसका हमें अनुभव ही नहीं उसके बारे में बाध या अबाध, सत्यत्व या मिथ्यात्व निश्चय का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई ग्रंथादि पढ़ सुनकर उसे बाधित कहने की धृष्टता करे भी तो यह निश्चय भ्रान्त या अज्ञानमूलक कहा जायगा। कारण, यह वस्तुस्थिति के विरुद्ध है। त्रिकालाबाधित वस्तु को बाधित समझना सिवाय भ्रान्ति के और क्या हो सकता है ? स्पष्ट ही इस भ्रम से वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि कोई कहे, मान लिया कि आत्मा वर्तमान काल में है, किन्तु इसमें प्रमाण क्या कि वह भूत तथा भविष्य में भी है ? इसका समाधान यह है कि मान लीजिये आत्मा भूत या भविष्य में नहीं हैं, किन्तु आत्मा के इस अभाव का ग्रहण कौन करेगा, आत्मा या अनात्मा ? अनात्मा इसे समझेगा यह सम्भव नहीं। कारण, वह तो जड़ ही है। आत्मा स्वयं अपना अभाव समझे यह भी सम्भव नहीं क्योंकि आत्मा और उसका अभाव दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? कोई भी बाध निस्साक्षिक सम्भव न होने से किसी भी काल में हम आत्मा के अभाव की कल्पना नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि परम सत्य, आत्मा या ब्रह्म त्रिकालाबाधित है और वही दार्शनिक जिज्ञासा द्वारा प्राप्तव्य है या हो सकता है। सत्य का यही मुख्यार्थ है, व्यवहार में प्रयुक्त सत्य के अन्य सब अर्थ गौण हैं। वैसे तो भ्रमकाल में भ्रमात्मक वस्तु भी पूर्ण सत्य प्रतीत होती है। किन्तु बाध के अनन्तर उसे हम सत्य नहीं कहते। जो प्रतीतिकाल में सत्य हो और बाधोत्तर मिथ्या सिद्ध हो वह सत्य नहीं कहा जा सकता, अन्यथा जगत् में सत्य-मिथ्या का भेद ही विलुप्त हो जायगा।

अब यह विचारणीय है कि उक्त परम सत्य ब्रह्म या आत्मा का स्वरूप क्या है ? यहाँ पर हम ब्रह्म के स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण इस प्रकार के द्विविध लक्षण पाते हैं। दार्शनिक दृष्टि से ये भेद आवश्यक मालूम होते हैं। कारण, जैसा हम पहले कह आए हैं दर्शन द्वारा हमारा प्राप्तव्य है परम सत्य, इस दृष्टि से परम सत्य का मुख्य या वास्तविक स्वरूप ही हमें विवक्षित रहता है, गौण या आगन्तुक या औपाधिक स्वरूप नहीं। व्यवहार में भी हम इस प्रकार का भेद लेकर चलते हैं किन्तु उसके शास्त्रीय स्वरूप की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। कोई मनुष्य यदि काला, गोरा, लम्बा इ. है तो यह उस शरीरधारी मनुष्य का (या अधिक यथार्थता के साथ उसके शरीर का) स्वरूप लक्षण कहा जा सकता है किन्तु उसका तिलक लगाना, टोपी या धोती पहनना इ. तटस्थ लक्षण कहा जायगा, कारण इन बाह्य वेशभूषादि सदृश बातों में वह बदलते हुए फैशन के अनुसार परिवर्तन भी कर सकता है। वह कभी तिलक लगाएगा, कभी नहीं, कभी टोपी पहनेगा, कभी नहीं। फिर परम सत्य के बारे में भला इस प्रकार के भेद का निषेध कैसे किया जा सकता ? तटस्थ लक्षण का अर्थ यह है कि वह लक्ष्य स्वरूप का अविभाज्य अंग नहीं होता। जिसका वह लक्षण है उसके मुख्य स्वरूप से वह बाहर रहता है। तटस्थ लक्षण की व्याख्या है - 'लक्ष्यरूपाद्बहिः स्थित्वम् या' 'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्त्तकत्वम्' कादाचित्कत्व माने कदाचित् वह होता है और किसी काल में नहीं भी होता। इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में किंचित्काल वृत्ति अभाव का प्रतियोगी कहते हैं किन्तु स्वरूप लक्षण की यह बात नहीं। जब तक वह वस्तु है तब तक वह रहता है। उसके निकलने से वस्तु ही नहीं रहती। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब हम 'स्वरूप लक्षण' कहते हैं तब स्वरूप और लक्षण ये दो बातें नहीं होतीं। स्वरूप ही लक्षण होता है। स्वरूप लक्षण की निम्न व्याख्याएँ देखिये : (१) 'स्वरूपमेवलक्षणम्' (२) 'स्वरूपं सद्व्यावर्त्तकम्'। अतएव हम अब

सुगमता से इस बात को समझ सकते हैं कि बिना स्वरूप सिद्धि के या स्वरूप लक्षण के तटस्थ लक्षण का कोई अवकाश नहीं होता। तटस्थ लक्षण स्वरूप लक्षणपूर्वक ही हो सकता है। किन्तु स्वरूप लक्षण तटस्थ लक्षण के बिना भी हो सकता है; और यदि अधिक यथार्थता के साथ कहें तो तटस्थ लक्षण के बिना ही होता है।

अब हम ब्रह्म के स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षणों का क्रम से विचार करें। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है सत्य, ज्ञान और आनन्द, ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। जो सत् है वही चित् है और वही आनन्द भी है। कारण, ब्रह्म अखण्ड एकरस है। वह नित्य, शुद्ध, मुक्त, निरवच्छिन्न चैतन्य, समस्तोपाधिविनिर्मुक्त है। वह एकमेवाद्वितीय है। वह प्रपंचोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत है। वह अज, अनिद्र, अस्वप्न है। वह स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद रहित है। वह देश, काल, वस्तुपरिच्छेद रहित है। वह सकृत् विभात, स्वयंज्योति: स्वरूप है। श्रुति इस ब्रह्म का वर्णन विधिमुख एवं निषेधमुख से करती है। यह ब्रह्म वाच्यार्थ का अविषय होने से लक्षण द्वारा उसकी ओर संकेत किया जाता है। इस प्रकार के ब्रह्म स्वरूप के वर्णन हमें श्रुति-स्मृति में मिलते हैं। यह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है, औपाधिक नहीं। इसी ब्रह्म स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति और वेदान्तदर्शन जगन्मिथ्यात्व और जीव ब्रह्मैक्य के सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं। हमारा तथाकथित सत्य व्यावहारिक जगत् एवं ब्रह्म के साथ अज्ञान दशा में अथवा व्यवहार अवस्था में प्रतीयमान भेद मिथ्या होने चाहिये। बिना इनके मिथ्या हुए ब्रह्म की सत्यता एवं उक्त स्वरूप सम्भव नहीं।

अब प्रश्न यह है कि यदि ब्रह्म का यही स्वरूप या वास्तविक लक्षण है तो उसके तटस्थ लक्षण की आवश्यकता क्या ? इसका समाधान यह है कि यदि कोई उत्तम अधिकारी इस स्वरूप पर स्थित हो जाता है तो उसे तटस्थ लक्षण से कोई प्रयोजन नहीं रहता। तटस्थ लक्षण द्वारा हमें यथार्थ ब्रह्म स्वरूप तक ही पहुँचना है, न कि तटस्थ लक्षण में उलझे रहना। कहते हैं कि विदेह जनक को उत्तम अधिकारी (अर्थात् साधनचतुष्टयसंपन्न) होने से एक 'अद्वैत' शब्द के सुनने मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्म विद्या का रहस्य खुल गया। किंतु साधारण मनुष्य तो इतने उत्तम अधिकारी नहीं होते। उनका जगत् की सत्यता में (और प्राय: एक मात्र जगत् की सत्यता में ही) विश्वास होता है। इनमें से अधिकतम यह भी समझते हैं कि जगत् का कोई कर्त्ता है। इस कर्त्ता से अपने आपको वे अलग भी पाते हैं। इस कोटि के अधिकारियों के लिए वेदान्त दर्शन ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का विवरण करता है। वह जगत् के 'अध्यारोप' एवं 'अपवाद' द्वारा जीव को उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराता है। इसी आशय से भामती के टीकाकार कल्पतरुकार कहते हैं :-

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वरा: ।
ये मदास्तेऽनुकंप्यन्ते सविशेषनिरूपणै: ।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ।

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है 'जगत्-जन्मादिकर्तृत्व'। यदि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं तो ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान मानने में बाधा क्या है ? किन्तु प्रश्न यह है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्दघन परात्परब्रह्म को जगदुत्पत्ति की आवश्यकता क्या है ? इसका उत्तर है, वस्तुत: कुछ नहीं और न पारमार्थिक दृष्टि से जगत् की सत्ता ही है। न ब्रह्म जगत् का कारण है, न जगत् उसका कार्य है। श्रुति कहती है - 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'। श्रुति के इसी आशय को लेकर योगवासिष्ठकार कहते हैं -

अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्मकर्तृ कथंभवेत्॥
अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः ।
स करोति जगदिति ह्यासायैव वचो धियाम् ॥
वस्तुतस्तु जगन्नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥
सिद्धांतोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापन्हव एवहि ।
नाविद्याऽस्तीह नो माया शांतं ब्रह्मेदमक्रमम् ॥

एक ओर ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को दृष्टि में रखकर तथा दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि का अवलंब करके मायोपाधि द्वारा ब्रह्म को जगत्कारण इ. कहा गया है।

'सतोहि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।'
'अजायमानो बहुधा मायजा जायते तु सः।'

इसी आशय का निम्न श्लोक देखिये :-

एकस्यानेकमूर्तित्वं युगपत्परमात्मनः ।
सच्चिदानंदरूपस्य सिद्धेन्मायां ऋते कथम् ॥

श्री विद्यारण्य ने ब्रह्म स्वरूप की दृष्टि से माया को 'तुच्छ' किन्तु व्यवहार दृष्टि से 'अनिर्वचनीया' कहा है।

यहाँ यह न भूलना चाहिये कि माया द्वारा ब्रह्म को जगत्कारण बतलाने में शास्त्रकारों का आशय न तो जगत् को किसी प्रकार की सत्यता प्रदान करने का है, न जीवब्रह्मभेद का समर्थन करना है। उनका एकमात्र आशय लोक सिद्ध जगत्सत्यत्व एवं जीव-ब्रह्म-भेद से अज्ञानी जनों को हटाकर उनके वास्तविक नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-ब्रह्मस्वरूप से परिचित कराना है। यही ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का वास्तविक प्रयोजन है। ऐसी स्थिति में 'जन्माद्यस्ययतः' या 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इ. के आधार पर जगत्यसत्यत्व सिद्ध करना श्रुति के आशय का विपर्यास ही कहा जायेगा। यह ध्यान देने योग्य बात है कि तटस्थलक्षण से युक्त या मायाविशिष्ट ब्रह्म को अपर या सगुण ब्रह्म कहा गया और शुद्ध ब्रह्म को निर्गुण। इसी प्रकार का भेद परा विद्या और अपराविद्या में परब्रह्म और अपरब्रह्म में समझिये। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', इत्यादि श्रुति वचनों का अर्थ इसी माया से युक्त ब्रह्म को लेकर ही करना चाहिये। कारण एकमेवाद्वितीय शुद्ध ब्रह्म स्वरूप के साथ नानात्व से युक्त, परिच्छिन्न, जड़ जगत् का वास्तविक तादात्म्य संभव नहीं। आध्यात्मिक तादात्म्य अवश्य संभव है। शंकर ने इस बात का विचार तदनन्यत्वं आरंभणशब्दादिभ्यः इस ब्रह्मसूत्र २-१-१४ की व्याख्या में बहुत ही उत्तमता के साथ किया है। वहाँ वे इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि नानात्व मिथ्याज्ञान विजृंभित या कल्पित है। जगत्-जन्मादि-कर्तृत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, न कि स्वरूप लक्षण - इसी विधान में वेदान्त दर्शन की जगत्विषयक अनेक उपपत्तियाँ यथा अजातवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, विवर्तवाद या मायावाद, सृष्टिदृष्टिवाद आदि समायी हुई है। मायाशब्द इसी ब्रह्मस्वरूप से बहिर्भूत, जीव के अज्ञान सापेक्ष औपाधिक या आगंतुक स्वरूप का संकेतमात्र है, न कि माया शब्द से कोई सत्य वस्तु ध्वनित होती है।

ब्रह्म के तटस्थ लक्षण के कुछ गर्भितार्थ को भी अब हम देख लें। ब्रह्म जगत् का कारण तो है किन्तु किस प्रकार का कारण ? ब्रह्म जगत् का विवर्त उपादान कारण है न कि परिणामी उपादान। ब्रह्म को विवर्त कारण कहने से ही जगत् की सत्यता निकल जाती है और ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। अद्वैत वेदान्त में द्वैत तथा अद्वैत की इस प्रकार की उत्तम संगति जागतिक दर्शन में अनोखी है। विवर्त का लक्षण है 'उपादान विषमसत्ताकत्वे सत्यन्यथाभावः' या 'पूर्वरूपापरित्यागेनासत्यनाना-

कारप्रतिभास:' । जगत् के रहने या न रहने से ब्रह्म स्वरूप में कोई बाधा नहीं पहुँचती, जैसे रज्जु पर सर्प की प्रतीति से रज्जु में कोई अन्तर नहीं होता । चूँकि ब्रह्म जगत् का विवर्त कारण है इसीलिये यह भी आवश्यक है कि जगत् का कोई परिणामी उपादान कारण भी हो । यह परिणामी उपादान कारण है माया या अविद्या जो द्विविध कार्य करती है । एक ओर वह स्वाश्रय ब्रह्म का ही आवरण करती है वहाँ दूसरी ओर वह नानात्व से युक्त जगत्-रूप विभ्रम को भी जन्म देती है । यह माया की सुप्रसिद्ध आवरण तथा विक्षेप रूप द्विविध शक्तियाँ हैं । अतएव वह अपने उपादान कारण माया के साथ तुल्यसत्तात्मक है । जो माया की सत्ता या स्वरूप है वही जगत् की सत्ता या स्वरूप है। इसीलिये जगत् मायिक एवं मायाकाल तक ही अवस्थित हो सकता है । ब्रह्म ज्ञान से जब जगत् कारण अविद्या या माया की निवृत्ति हो जाती है, तब मायाकार्य जगत् की भी निवृत्ति अनिवार्यतया हो जाती है । अब हम इस बात को भली भांति समझ सकते हैं कि ब्रह्म को वेदान्त दर्शन में निखिल नाम रूपात्मक प्रपंचाकार से परिणमनमान माया का अधिष्ठान क्यों कहा । अध्यस्त के अधिकरण को अधिष्ठान कहते हैं । अधिष्ठान का यह स्वरूप होता है कि वह स्वबुद्धिबाध्य कार्य का आधार होता है । रज्जु-सर्पभ्रम में सर्पभ्रम का अधिष्ठान रज्जु है । रज्जु रूप अधिष्ठान के ज्ञान से सर्पभ्रम की निवृत्ति हो जाती है । यही हाल जगत् रूपी भ्रम और ब्रह्म रूपी अधिष्ठान का समझिये ।

अब हम विवर्तवाद की प्रक्रिया के अनुसार जगत् के स्वरूप का भी विचार कर लें ।

"तस्माद्राम जगन्नासीन्नचास्ति न भविष्यति" - योगवासिष्ठ

जगत् या द्वैतसत्यत्व निश्चय अद्वैतानुभूति में बाधक होने से यह दर्शन द्वैतमिथ्यात्व सिद्धि के लिये प्रथमत: प्रयत्न करता है । दुनिया में जितने भी आग्रह या पूर्वग्रह हैं उनमें सबसे अधिक आग्रह या बद्धमूल पूर्वग्रह है जगत्सत्यत्व के विषय में ।

वसिष्ठ मुनि भगवान् राम से कहते हैं :-

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थिति: ।
सा चिराभ्यासयोगेन बिना न क्षीयते क्वचित् ॥
अभ्यासेन बिना साधो नाभ्युदेत्यात्मभावना ॥

अद्वैत दर्शन इसी मूल आग्रह पर कुठाराघात करता है । अद्वैतानुभूति की पदार्थाभावनी और तुर्यगा संज्ञक ज्ञानभूमिकाओं पर आरूढ़ होने पर ज्ञानी को उस बाह्य जगत् का पता ही नहीं रहता जिसकी सत्यता के लिये दार्शनिकों में इतना कलह हमेशा से चला आ रहा है । अस्तु ।

जगत् के विषय में अद्वैत दर्शन का चरम सिद्धान्त है अजातवाद का । इसके अनुसार जगत् कालत्रय में है ही नहीं । अतएव उसके स्वरूप, कारण, उत्पत्ति आदि बातों का प्रश्न ही नहीं उठता । किन्तु यह श्रौत दृष्टि है । श्री विद्यारण्य ने इसी दृष्टि से माया को 'तुच्छ' कहा है । अजातवाद का विवेचन योगवासिष्ठ तथा श्री गौडपादाचार्य की मांडूक्य कारिका में बहुत ही सुन्दर रूप में मिलता है । ब्रह्मानुभूति की भूमिका पर आरूढ होने पर ही इसके यथार्थ स्वरूप का आकलन हो सकता है । तब तक साधक के लिये यह सिद्धान्त ध्येय रूप से ही उपादेय हो सकता है तथा विपक्षियों के लिये उपहास का विषय किसी भी समय हो सकता है ।

अद्वैत दर्शन का जगत् को लेकर दूसरा प्रसिद्ध वाद है दृष्टिसृष्टिवाद । इसके अनुसार दृष्टि ही सृष्टि है या दृष्टि समकालीन सृष्टि है । यह भी उच्च अधिकारी के लिये है। सामान्य जनों की मर्यादा के बाहर की बात है । सृष्टिदृष्टिवाद सामान्य जनों की सुगमता के साथ ग्राह्य हो सकता है । किंतु एक बात निर्विवाद है । वेदान्त दर्शन की जगत् विषयक किसी भी उपपत्ति के अनुसार जगत् मिथ्या ही है, सत्य नहीं । जगत् मायाकार है, ब्रह्म का विवर्त है । अद्वैत दर्शन ब्रह्मपरिणामवाद को स्वीकार नहीं करता । इसीलिये इस

दर्शन को मायावाद या विवर्तवाद भी कहते है। किंतु यह न भूलना चाहिये कि इस यौक्तिक विचार का तार्किक पर्यवसान भी अजातवाद में ही होता है।

विचार से पूर्व लौकिक स्तर पर जगत् ही एकमात्र सत्य मालूम होता है। किन्तु कोई भी विचारसंपन्न मनुष्य इस भूमिका पर अधिक काल तक नहीं रह सकता। यह भूमिका अधिकतर अविचारग्रस्त होने से इसके निर्णय हमें प्रमाणतया स्वीकृत नहीं हो सकते। जगत् के विषय में हमारा सामान्य अनुभव यह है कि किसी विषय को हम सच इसलिये मानते हैं कि हम उसे देखते हैं। किन्तु अद्वैत दर्शन इसी 'दृश्यत्व' रूप हेतु द्वारा जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि करता है। यदि हम अपने अविचारित सिद्ध आग्रहों को एक तरफ रख दें तो यह ठीक ही मालूम होता है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, दर्शनशास्त्र की तलाश परम सत्य के लिये होती है। इसके लिये दार्शनिक हमारे सामान्य अनुभव का ही विश्लेषण तथा उसकी आलोचना करता है। हमारे सामने परमसत्य की तलाश का प्रश्न ही इसलिये उत्पन्न होता है कि हमारे सामान्य अनुभव प्रथमत: पूर्ण सत्य दिखने पर भी तदनन्तर झूठे सिद्ध होते हैं। सामने पड़ी तो डोरी है किन्तु हम उसे सर्प समझकर भयभीत हो उठते हैं। सामने है तो सीप किन्तु हम उसे चाँदी का टुकड़ा समझकर उठाने के लिये हाथ लपकाते हैं। सूर्य चन्द्रादि आकार में बहुत बड़े होने पर भी दिखते छोटे हैं। सूर्य न तो उदय होता है न अस्त, फिर भी हमारे सारे व्यवहार इसी आधार पर चलते हैं। विज्ञान इसी प्रकार के अनेक भ्रम हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। इस अणु युग में इस विषय के अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं। ऐसी स्थिति में दार्शनिक दृष्टि से सत्य तथा प्रतिभास की समस्या महत्त्वपूर्ण हो उठती है। हम झूठी वस्तु के धोखे से बचकर सत्य वस्तु को ही प्राप्त करना चाहते हैं। वस्तु की सत्यता के आधीन ही उसका मूल्य है। मान लीजिये कोई मनुष्य काँच को ही हीरा समझ बैठा है। जब तक उसकी यह समझ कायम है तब तक वह उसे बड़े यत्न से संभालता है। किन्तु उसकी यह समझ झूठी सिद्ध होते ही उसकी उस वस्तु के विषय में समस्त भावनाएँ एवं मूल्य तत्काल बदल जाते हैं। इसीलिये सत्यासत्य या भ्रम-प्रमा का प्रश्न व्यावहारिक और दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे दार्शनिक सिद्धान्त एवं मान्यताएँ हमारे प्रत्यक्ष जीवन पर परिणाम किए बिना नहीं रह सकती। जगत् को ही सत्य माननेवाले चार्वाक का व्यवहार और जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्त पर आरूढ मनुष्य का व्यवहार एकसा नहीं हो सकता। पाश्चात्य तथा पौर्वात्य दर्शन में भ्रम-प्रमा विचार तुल्य महत्त्व की दार्शनिक समस्या है। भारतीय दर्शन में इस भ्रम का विचार ख्यातिवाद के नाम से तथा प्रामाण्य का विचार प्रमाण्यवाद के अंतर्गत आते हैं। आंग्ल दार्शनिक एफ. एच. ब्रैडले (F. H. Bradley ने 'प्रतिभास तथा सत्य' ('Appearance and Reality') नामक एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है। हमारे इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि भ्रम विषयक यह दैनंदिन जीवन का सार्वजनीन अनुभव जगत् सत्यवादियों को चुनौती-सा है। यदि जगत् जिस रूप में उपलब्ध है उसी रूप में सर्वांश से सत्य होता तो हमें इससे बाहर जाकर परम सत्य की तलाश करने की आवश्यकता ही न रहती। परम सत्य की प्राप्ति के अनंतर होने वाला 'कृत्यं कृत्यं, प्रापणीयं प्राप्तं' का अनुभव हमें इस जगत् की सत्यता को लेकर ही आ जाता। किन्तु अनुभव इसके ठीक विपरीत है। बाह्य जगत् के समस्त पदार्थ अपनी पूर्णता में ही अपने प्रति वैराग्य तथा असमाधान को जन्म देते हैं। सच्चा सुख एवं समाधान आज तक इनमें न तो किसी को मिला है न आगे ही मिलने की संभावना दीख पड़ती है। इस अनुभव से तो जगत् की सत्यता में कोई भी विचारक मनुष्य संदेह-सा करने लगता है।

वेदान्त दर्शन अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में जगत् का मिथ्यात्व घोषित करता है। इस दर्शन की प्रक्रियानुसार जगत् मुख्यत: इसीलिये मिथ्या है कि वह ब्रह्म से भिन्न है। जो ब्रह्म से भिन्न है वह सब

मिथ्या है। ब्रह्म से भिन्न तो शशश्रृंग भी है, तो क्या उसे भी मिथ्या कहेंगे ? इसीलिये जगत् को सद् (ब्रह्म) विलक्षण और असद्विलक्षण कहा जाता है जिससे उस दोष का वारण हो जाता है। असत् की प्रतीति नहीं। असत् की व्याख्या है 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'। सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या पदार्थ की प्रतीति है। यही दोनों में अंतर है। वैसे श्रौत दृष्टि से जगत् भी तुच्छ है, यह हम देख चुके हैं। यहाँ पर यह याद रखना चाहिये कि 'अनिर्वचनीय' शब्द किसी प्रकार की असमर्थता का द्योतक न होकर वस्तुस्थिति का निर्देशक एवं पूर्ण विचार का परिपाक है। अद्वैत वेदान्त के आचार्यों-जितनी बुद्धिमत्ता बहुत ही कम देखने में आती है। 'अनिर्वचनीय' या 'मिथ्या' पदार्थ का स्वरूप है 'जो वस्तु जहाँ नहीं है वहीं उसकी प्रतीति होना'। रस्सी पर भ्रम में प्रतीति होने वाला सर्प कालभय में वस्तुगत्या न होने पर भी प्रतीत होता है। इसलिये रज्जु-सर्प को मिथ्या कहते हैं। वह रज्जुरूपी सत् से विलक्षण है और असत् से भी विलक्षण है। इसलिये सत् या असत् इन दोनों रूपों से उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। यही 'अनिर्वचनीय' का पारिभाषिक अर्थ है। इसकी व्याख्या : "सत्वासत्वाभ्यां विचारासहिष्णत्वे सति सदसत्येन विचारासहिष्णुत्वम्"। अनिर्वचनीय पदार्थ सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, सदसत् दोनों नहीं, कारण तृतीय पक्ष में विरोध है। इस सच्चे अर्थ को ध्यान में न लेकर इस शब्द के अनेक मनगढ़ंत अर्थ लेकर यदि दोष दिये जाँय तो उसमें सच्चे सिद्धान्त की क्या हानि हो सकती है ? क्या यह जगत् भी दृष्टान्तरूप रज्जुसर्प की तरह मिथ्या है ? वेदान्त दर्शन इसका उत्तर अस्ति पक्ष में देता है। जगत् की तुलना इस दर्शन में स्वप्न, गंधर्व नगर इ. के साथ की गई है :-

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणौः ॥
यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति स्वानुभूतापि कुत्रचित् ।
तथेयं दृश्यता नास्ति स्वानुभूताप्यसन्मयी ॥

ज्ञात एवं परिचित अनुभव के आधार पर ही हम अज्ञात एवं अपरिचित बातों का रहस्य समझने का प्रयत्न करते हैं। अतएव अपने परिचित अनुभव के कुछ उदाहरण हम उनके गर्भितार्थ सहित समझ लें। स्वप्न हमारे दैनंदिन अनुभव का विषय है। स्वप्नकाल में स्वप्न जगत् एवं तद्गत समस्त विषय नितान्त सत्य मालूम होते हैं। किन्तु जागृत दशा में वे झूठे सिद्ध होते हैं। इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता। जगत् के विषय में अवश्य विवाद है। वेदान्त के अनुसार जगत् यदि दीर्घ स्वप्न है तो इस जगत् रूपी स्वप्न का बाध्य किस जागृति में होता है ? वेदान्त का उत्तर है ब्रह्म-जागृति में। प्रतिपक्षी इसके विरुद्ध कोई भी समाधान कारक उत्तर या युक्ति नहीं दे सकते जिसके द्वारा जगत् का सत्यत्व सिद्ध हो सके। अल्पकाल स्थायित्व या दीर्घकाल स्थायित्व ये सापेक्षभाव हैं। जरा सी देर के लिये पड़ा हुआ स्वप्न प्रत्येक स्वप्नकाल में युग की तरह मालूम होता है। अनंतकाल तक रहने वाली जागृति देशकालातीत ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान के अनन्तर क्षण से भी कम मालूम हो सकती है। सुसंवादित्व, अर्थक्रियाकारित्वादि रूप सत्य की कसौटियाँ स्वप्न जगत् एवं भ्रम विषयक उदाहरणों में पूर्ण रूपेण लागू होती हैं। स्वप्न जगत् की प्यास स्वप्न जगत् के पानी से शांत हो जाती है। स्वप्न जगत् के पदार्थ पूर्ण सुसंवादी मालूम होते हैं। किंतु जागृति में स्वाप्न सुसंवाद एवं स्वाप्न अर्थक्रियाकारित्व भी बाधित हो जाते हैं। इसलिये ये कसौटियाँ जगत् की सत्यता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। आंग्ल दार्शनिक एफ.एच. ब्रैडले (F. H. Bradley) तथा अनेक पाश्चात्य विचारकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि युक्ति या तर्क के आधार पर हमारे व्यवहार जगत् की सत्यता स्वप्न जगत् की सत्यता से किसी भी प्रकार अधिक सिद्ध करना संभव नहीं। ऐसी कोई भी अकाट्य युक्ति हमारे पास नहीं जिसके आधार पर

हम एक को सत्य कहें और दूसरे को मिथ्या घोषित करें। (देखिये F. H. Bradley's Essays on Truth and Reality; Chapter XVI on My Real World)।

दूसरा उदाहरण हम जाग्रत अवस्था कालीन भ्रम का लें। यदि इसी एक अनुभव का हम यथार्थतया विश्लेषण करके उसके गर्भितार्थ को यथार्थता के साथ समझ लें तो जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त समझते देर न लगेगी। निम्न दृश्य की कल्पना कीजिये। हम सायंकाल के समय मजे से घूमने जा रहे हैं। कुछ कुछ अंधेरा सा हो रहा है। शीतलमन्द सुगंध पवन बह रही है। प्रकृति का दृश्य नितान्त नयन-मनोरम है। प्रकृति नटी मानो सांध्य सुन्दरी के रूप में सजधज कर हमारे सामने आई है। सहसा हम चौंक उठते हैं और सर्प-सर्प कह कर दूर भागते हैं। हमारे मित्र सर्प को मारने के लिये आते हैं और लकड़ी का प्रहार करते ही पाते हैं कि वह टेढ़ा मेढ़ा सर्पाकृति के रूप में पड़ा हुआ रज्जु खंड है। तब एक ही हँसी होती है। किन्तु कुछ काल तक सब के मन पर वह क्षणिक भयावह अनुभव भय, कंपादि के रूप में हावी रहता है। घर जाने पर भी उसी की चर्चा रहती है और आयंदा सब टार्च लिये बिना घूमने न जाने का निश्चय करते हैं। बस बात यहीं समाप्त हो जाती है। यह आपातत: साधारण-सा दीखने वाला अनुभव उसके लिये महान् दार्शनिक समस्याएँ खड़ी करता है और वह उनका हल ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। चौके में भाप तो हम रोज ही देखते हैं किंतु एक वैज्ञानिक के सामने यह वाष्प शक्ति अपने अनन्त कर्तृत्व के रूप में साकार खड़ी हो गई ? वृक्ष पर से फल गिरते हुए तो सभी देखते हैं। किन्तु एक दूसरे वैज्ञानिक के सामने इस साधारण सी घटना द्वारा गुरुत्वाकर्षण का महान सिद्धान्त प्रकाशित हो गया। उसी प्रकार सर्पभ्रम का उक्त उदाहरण कुछ दार्शनिकों के सम्मुख पिंड-ब्रह्मांड की, सत्य-मिथ्या की समस्याओं को उपस्थित करके 'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव' के सिद्धान्तों का रहस्य खोल दे, इसमें आश्चर्य ही क्या। अब उक्त अनुभव के दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को भी हम देख लें।

हम देखते हैं कि भ्रकाल में मिथ्या सर्प भी ठीक वैसे ही मालूम हुआ जैसे कि सत्य सर्प। उस समय उसकी सत्यता में हमें यत्किंचित् भी सन्देह नहीं हुआ। किन्तु रज्जु-ज्ञान के अनन्तर हम उसी पूर्ण सत्य को क्या समझते हैं ? यही कि जिस सर्प से हम इतने भयभीत हुए वह वास्तव में वहाँ (रस्सी में) कालत्रय में नहीं था।[1] जो नहीं था उसी से भय खाने के कारण हम मन में लज्जित से हो उठते हैं। न तो वह सर्प भूतकाल में था, न भविष्य में और न उस वर्तमान काल में ही जिसमें हमने उसे देखने का झूठमूठ ही अनुभव किया। विषय के बाधित होते ही हमारी देखने की क्रिया भी बाधित हो उठती है। कारण, इस देखने की क्रिया का कोई सत्य विषय ही न था। इसीलिये वेदान्त दर्शन में भ्रम विषय को अंत:करणवृत्ति का विषय न कहकर साक्षिभास्य कहते हैं। एक बात और भी है। अधिष्ठान-ज्ञान के अनन्तर मिथ्या सर्प के बारे में हमारे सामने कोई समस्या शेष नहीं रहती। उसे मिथ्या समझना, यही उसके विषय में सब समस्याओं को हल करना है। रज्जु-रूप अधिष्ठान में सर्प कालत्रय में न होकर भी हमें ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह महाभयंकर काला नाग है। तदनुसार ही हमारे सारे व्यवहार हुए फिर भी रज्जु ज्ञान के साथ ही वह महाभयंकर सर्प, तज्जन्य भय और उससे हमारे शरीर में उत्पन्न हुई कँपकपी यह सब बातें एकदम गायब हो जाती हैं। अधिष्ठान-ज्ञान के साथ ही सर्पविषयक हमारे सारे व्यवहार एवं मूल्य भी बदल जाते हैं। उक्त भ्रमानुभूति से हम कुछ निम्न महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं :-

(१) कोई भी भ्रम बिना किसी अधिष्ठान के नहीं होता। भ्रमात्मक वस्तु के लिये कोई अधिष्ठान अवश्य चाहिये। दृष्टान्त में भ्रमात्मक सर्प का अधिष्ठान रज्जु है।

(२) भ्रमकाल में अधिष्ठान-रूप वस्तु का अज्ञान रहता है।

(३) जब तक यह अज्ञान रहता है तभी तक भ्रम रहता है। किंतु अधिष्ठान ज्ञान के साथ ही अज्ञान तथा उसका कार्य भ्रम दोनोंनिवृत्त हो जाते हैं।

(४) यह निवृत्ति अधिष्ठान-स्वरूप ही होती है।

(५) भ्रमात्मक प्रतीति के कारण अधिष्ठानभूत वस्तु के स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। इसी की पारिभाषिक संज्ञा है विवर्त कारण या विवर्त उपादान।

ठीक इसी दृष्टान्त के दार्शनिक निष्कर्ष वेदान्त दर्शन में दार्ष्टान्तिक जगत् रूपी भ्रम पर घटाए जाते हैं। जगत्-भ्रम की प्रतीति अधिष्ठान-ब्रह्म के अज्ञान के कारण है। यह अज्ञान जगत्-भ्रम का परिणामी उपादान है, तथा ब्रह्म विवर्त उपादान। अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से जगत्-भ्रम की निवृत्ति होकर हम त्रिविध दु:खों से मुक्त होकर शांति-सुख का अनुभव प्राप्त करते हैं। इन निष्कर्षों के विरुद्ध विपक्षी एक भी ऐसी निश्चयात्मक युक्ति नहीं दे सकते जिससे इनका वस्तुत: खंडन हो सके। हमारी इन्द्रियानुभूति में सदैव भ्रम की शंका बनी रहती है। इन्द्रियानुभूति के अंतर्गत हम एक भी ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान नहीं दिखला सकते जिसमें संदेह की कोई संभावना न हो और जो पूर्णरूपेण निश्चयात्मक हो। इसलिये हम ऐसे निर्दोष या निस्संदिग्ध ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं जिसमें किसी भी प्रकार के संदेह या करणादि दोषों की यत्किंचित् भी संभावना न हो। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जो समस्त दोषों की सम्भावना से रहित है। अन्य सब ज्ञान दोषग्रस्त हैं। इन सब दोषों में मूल-भूत दोष है 'अविद्या दोष' अर्थात आत्म-स्वरूप का अज्ञान जो अन्य सब दोषों की जड़ है। आत्मज्ञान से अज्ञान निकलने पर तज्जन्य समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये आत्मज्ञान की इतनी महिमा है। उसकी तुलना में अन्य ज्ञान ज्ञानाभास हैं :-

आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधनात्॥

अद्वैत वेदान्त का जगत् के विषय में यह निर्णय है कि यह जगत् मिथ्या है, क्योंकि वह दृश्य है, जड़ है, परिच्छिन्न है, जैसे शुक्तिरूप्य। अद्वैतसिद्धि के प्रथम प्रकरण में ही मधुसूदन सरस्वती ने एक मिथ्यात्वानुमान को सिद्ध करने में ही सारी बुद्धिमत्ता लगाई है।

द्वैततया जगत् की सत्यता भेद की सत्यता के आधीन है। इसलिये अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने भेद का खंडन अनेक स्थलों पर किया है। श्री नृसिंहाश्रम ने तो भेदधिक्कार नामक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा है। यदि भेद मिथ्या सिद्ध हो जाता है तो अद्वैततत्त्व में विश्वास बैठते देर नहीं लगती। भेद मिथ्यात्व का यह अर्थ न समझना चाहिये कि व्यवहार काल में भी भेद नहीं है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं किउनका तात्त्विक प्रामाण्य है या वे त्रिकालाबाधित हैं। एक ब्रह्म प्रमा के अतिरिक्त और किसी की ताकत नहीं कि उनको बाधित कर सके। किन्तु समस्त व्यावहारिक भेद अविचारित सिद्ध हैं। वे विचार की कसौटी पर नहीं उतरते।

जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त विद्वदनुभव एवं सैकड़ों श्रुतिवचनों द्वारा भी प्रमाणित हैं। श्रुति स्पष्ट शब्दों में जगत् की वास्तविकता का निषेध करती है।

(१) 'नेह नानास्ति किंचन्। मृत्यो:स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'। (बृ. उ. ४-१९ ; कठ उ. २-४-११)। अर्थात इस परब्रह्म में किसी भी प्रकार की अनेकता नहीं है। जो उसमें नानात्व देखता है वह एक मृत्यु के बाद दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।

(२) छांदोग्य श्रुति समस्त जागतिक पदार्थों को वाणी से आरम्भ होने वाले नाम मात्र कहती है, उनमें इसके अतिरिक्त सत्यता नहीं। "वाचारंभणं विकारोनामधेयं सत्यम्" (६-१-२-७)।

(३) "नतु तद्द्वितीयामस्ति" ; "द्वितीयद्वैभयंभवति" ; "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" - इत्यादि श्रुतियाँ नानात्व की निंदा करके उसे भय का कारण बतलाती हैं। जो नानात्व देखते हैं वे अविद्या से मोहित हैं। ऐसा समझिये-"अविद्या मोहितात्मान: पुरुषा भिन्न-दर्शिन:" सारा द्वैत

अज्ञान-काल में ही है। ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता : ''ज्ञाने द्वैतं न विद्यते।'' इस प्रकार श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादिग्रंथों में अद्वैत का समर्थन एवं भेद का निषेध करने वाले प्रमाण अनेकानेक हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि मायावाद आप्तवाक्य से समर्थित नहीं है यथार्थ नहीं मालूम होता। औपनिषद् दर्शन के अधिकारी विद्वान श्री रा.द. रानडे ने अपने इसी विषयक ग्रंथ में लिखा है कि उपनिषदों में मायावाद के अनुकूल प्रमाण इतनी प्रचुर मात्रा में हैं कि कोई भी यह कहने की धृष्टता न करे कि शंकर का मायावाद उपनिषदों में नहीं है।[3] प्रस्तुत प्रसंग में जगन्मिथ्यात्व का यह संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त है।

इसी प्रकार ब्रह्म की एकमेवाद्वितीयता से ही जीव का ब्रह्म के साथ वास्तविक अभेद सिद्ध होता है। प्रतीयमान भेद कल्पित एवं मिथ्या है। वस्तुत: वेदान्त में दो ही पदार्थ हैं - ब्रह्म और माया, आत्मा और अनात्मा, दृक् और दृश्य, जड़ और चैतन्य, अहं और अनहं। इनमें से ब्रह्म या आत्मा या दृक् या चैतन्य या अहं ही सत्य है, शेष सब मिथ्या हैं। फिर भी इनके अन्योन्याध्यास के कारण मिथ्या पदार्थ भी सत्यवत् मालूम होते रहते हैं। किन्तु इनकी यह सत्यता स्वयं की न होकर चैतन्य की ही होती है। इसी मिथ्यातादात्म्याध्यास के कारण हम अपने आपको स्थूल, सूक्ष्म शरीरादि अनात्म पदार्थ से अभिन्न समझते रहते हैं। इन सब में अहंकार या अहंभाव नितान्त सूक्ष्म है। इसी के कारण चिदचिद्ग्रन्थि निर्माण होती है। गुरूपदिष्ट महावाक्य बोध से ही इसका नाश संभव है। श्रुति के जीव ब्रह्मैक्य प्रतिपादक तत्त्वमस्यादि महावाक्य सुप्रसिद्ध हैं।

लीलावाद

अद्वैत वेदान्त के आचार्य लीलावाद से अपरिचित हों यह बात नहीं। श्री गौडपादाचार्य ने मांडूक्यकारिका में सृष्टि निर्माण के प्रयोजन को लेकर अनेक पक्ष उद्भावित किये हैं जिनमें 'क्रीड़ार्थमितिचापरे' कहकर लीलावाद का भी विचार किया है। किन्तु अन्य विकल्पों के साथ इसका भी खंडन देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा (१-८) इस सिद्धान्त वाचक पंक्ति द्वारा किया है। इसका अर्थ यह है कि परिपूर्णकाम जो परमात्मा है उसे किसी भी प्रकार की इच्छा हो फिर चाहे वह क्रीड़ा की या लीला की ही क्यों न हो कैसे संभव है ? इसलिये यह पक्ष ठीक नहीं। इस विषय में सिद्धान्त यह है कि यह सृष्टि नैसर्गिक माया द्वारा विनिर्मित है। आचार्य शंकर ने इस कारिका की टीका में विवर्तवाद की प्रक्रियानुसार इसका स्पष्टीकरण किया है। आनन्दगिरि ने भाष्यकार का आशय और भी अधिक स्पष्ट किया है। श्री शंकर के अनुसार एकमात्र एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही है। किन्तु अविद्या के कारण हम उसे सृष्टि-रूप से देखते हैं। किन्तु ये सब आविद्यक एवं अध्यासिक आरोप मात्र हैं। सृष्टि-विषयक अधिकांश पक्ष उसे सत्य मानकर चलते हैं, यही उनकी मूल भूल है।

''नहि रज्ज्वादीनामविद्या स्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम्।''

जिस प्रकार डोरी इ. पर सर्पादि के आभास के लिये अविद्या को छोड़कर और कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता, उसी प्रकार परमात्मतत्त्व पर जगदाभास के लिये भी माया या अविद्या के अतिरिक्त कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता। आनन्दगिरि इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि परमात्मा स्वरूपत: अविक्रिय होने से उसमें किसी भी प्रकार की इच्छा संभव नहीं। माया के बिना उसमें इच्छा की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव यह सृष्टि मायामयी है। आत्म-स्वरूप के अज्ञान काल में ही जगदाभास की प्रतीति संभव है :-

''न च परमानन्दस्वभावस्य परस्य विना मायामिच्छा संगच्छते। नहि तस्य स्वतोऽविक्रियस्येच्छादिभावत्वं युक्तम्। न च मायामन्तरेण भोगक्रीडे तस्योपपद्येते ततो मायामयी भगवत: सृष्टिरित्यर्थ:।''

इससे कुछ ही पहले (का. १-७) भगवान् शंकर सृष्टि-विषयक विकल्पों के बारे में कहते हैं :-

"न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थ:-तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्तायामेवाऽऽदरो मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यत: सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह । ..."

इस अवतरण से स्पष्ट है कि भगवान शंकर जितना परमार्थ चिन्ता को आदर देते हैं उतना सृष्टिचिन्ता को नहीं। सृष्टिचिन्ता साधन है। उसे हम अपने अनुभव में पाते हैं किन्तु उसके द्वारा हमें तद्धिष्ठानभूत परमतत्त्व की प्राप्ति ही अभीष्ट है। अन्यथा साध्यसाधन का विपर्यास हुये बिना न रहेगा।

इसी प्रकार 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' इस व्याससूत्र (२-१-३३) की प्रसंगानुसार यथाश्रुत व्याख्या करके भगवान् शंकर यथार्थता के साथ कहते हैं : -

न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुति: अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात् ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेतयेतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥

भगवान् भाष्यकार उक्त अवतरण में सबसे संबोधन करके कहते हैं कि इसे न भूलिये कि उपनिषदादि में वर्णित सृष्टिप्रक्रिया परमार्थ सद्वस्तुविषयक नहीं हैं। उसका विषय है अविद्या द्वारा कल्पित नाम रूपात्मक व्यावहारिक जगत् जिसका एक मात्र उद्देश्य है जगत् में ब्रह्मात्मभाव का प्रतिपादन, न कि ब्रह्म की जगत्कारणता-प्रस्थापन। श्रीवाचस्पति मिश्र ने भाष्य की उक्त पंक्तियों का मायावाद की दृष्टि से बहुत ही सुंदर विवेचन करते हुए लिखा है कि सृष्टि पारमार्थिकी न होकर आविद्यक होने से उसके प्रयोजन का प्रश्न ही नहीं उठता। अविद्या का यह स्वभाव ही है कि वह बिना प्रयोजन के कार्योन्मुखी होती है। भला रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, गंधर्वनगरादि भ्रम किस प्रयोजन को लेकर हुआ करते हैं? जगत् भ्रम भी आविद्यक होने से उसके भी प्रयोजन का प्रश्न निरर्थक ही है। इसके आविद्यक स्वरूप का सम्यक् परिचय ही इसका समुचित समाधान हैं। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि रज्जुसर्पादि भ्रम के बारे में भ्रमनिवृत्ति के अनंतर किसी भी प्रकार का प्रश्न शेष नहीं रहता, सारे प्रश्न तथा समस्याएँ अविद्या-काल में ही होती हैं। यही न्याय जगत् के विषय में भी लागू होती है :-

"अपिच नेयं पारमार्थिकी सृष्टिर्येनानुयुज्येत प्रयोजनम् अपित्वनाद्यविद्यानिबन्धना। अविद्या च स्वभावत: एव कार्योन्मुखी न प्रयोजनमपेक्षते । नहिद्विचन्द्रालातचक्रगंधर्वनगरादिविभ्रमा: समुदिष्टप्रयोजना भवन्ति । न च तत्कार्या विस्मयभयकंपादय: स्वोत्पत्तौ प्रयोजनमपेक्षन्ते । साच चैतन्यच्छुरिता जगदुत्पातहेतुरिति चेतनो जगद्योनिराख्यायत इत्याह। न चेयं परमार्थविषयेति। अपिच न ब्रह्म जगत्कारणमपि तत्तथा विवक्षन्त्यागमा: अपि तु जगति ब्रह्मात्मभावम्।" भामती (२-१-३३)।

पाल डायसन (Paul Deussen) नामक जर्मन विद्वान ने अपने वेदान्त विषयक अनेक ग्रंथों, प्रबंधों तथा व्याख्यानों में बहुत ही उत्तमता के साथ इस सिद्धान्त का निरूपण किया है कि शंकर ने अपने ग्रंथों में दो प्रकार का निरूपण किया है। एक तो सगुण ब्रह्म या व्यवहार अवस्था या अपरा विद्या का और दूसरा निर्गुण ब्रह्म, या परमार्थ स्थिति का या पराविद्या का। प्रथम दृष्टि का अवलंब करके उनसे उपनिषद् सूत्रादि में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया का निरूपण किया है। किन्तु इस विवेचन में उनका मुख्य तात्पर्य नहीं है। उनका मुख्य तात्पर्य है दूसरे प्रकार के निरूपण में जिसके अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मृगमरीचिका की तरह मायिक है तथा जीव ब्रह्म ही है। यह सिद्धान्त आत्मसात् करना कठिन है इसलिये व्यावहारिक भूमिका पर आरूढ होकर जीव जगत्, ईश्वरादि के भेद मानकर निरूपण किया गया है। वस्तुत: जीवत्व ईश्वरत्व जगत् इ. भेद आत्मस्वरूप के अज्ञान में ही जन्म पाते हैं। अतएव वे कल्पित हैं। कल्पित भेद के कारण अधिष्ठान वस्तु में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता : "आरोपेण वस्तुसत्तानपायात्। 'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषे गुणेन वाणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते' इतिन्यायात्"। वह सब आशय ध्यान में लेकर संक्षेपशारीरककार कहते हैं :-

स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा ।
स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा प्रत्यक्चितिर्विजयते भुवनैकयोनिः ॥

उक्त व्यावहारिक दृष्टि का ही अवलंब करके वेदान्त दर्शन में 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' का निरूपण किया गया है। वस्तुतः उसमें इस दर्शन का तात्पर्य नहीं है।

अब हम विवर्तवाद के बहिर्भूत स्वतंत्रतया उपस्थापित लीलावाद की मर्यादाएँ देख लें। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् ईश्वर का या उसके आनन्दमय स्वरूप का लीलाविष्करण है। स्वरूपगत आनन्द या लीला के अतिरिक्त सृष्टि-रचना का कोई उद्देश्य नहीं। ईश्वर परिपूर्ण एवं आप्तकाम है। वह आनन्दघन है। फिर भी वह अपने आनन्दमय स्वरूप की अनन्त रूपों में अभिव्यक्ति करने के लिये स्वतंत्र है। यह सृष्टि-रचना इसी ईश्वरीय स्वरूप की आनन्दाभिव्यक्ति का परिणाम है। अतएव वह माया या अविद्या का कार्य रज्जुसर्प या मृगमरीचिका की तरह मिथ्या या कल्पित नहीं है। परमेश्वर सत्य है उसके द्वारा निर्मित जगत् भी सत्य है, दिव्य है (divine)। इस मत का सविस्तर निरूपण एवं समर्थन भी अरविंद ने बहुत ही उत्तमता के साथ अपने प्रमुख ग्रंथ दिव्य जीवन (Life Divine) में एवं अन्य ग्रंथों में किया है। वे ही समकालीन दर्शन में इसके सबसे श्रेष्ठ समर्थक एवं उपासक रहे हैं। उनके सहस्रशः साधक शिष्य इसी के उपासक हैं। किन्तु हमारे विनम्र मत से लीलावाद महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं को हल करने के स्थान पर अनेक नई समस्याएँ उपस्थित करता है; तथा ज्यों-ज्यों हम इसका विचार करते हैं त्यों-त्यों हम अधिकाधिक दार्शनिक गुत्थियों में उलझते जाते हैं, उनको सुलझाना तो दूर रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि हम श्री अरविंद तथा उनके अनेक शिष्यों के प्रति आदरभाव नहीं रखते। इनके प्रति हमारा नितांत आदरभाव तथा पूर्ण श्रद्धा है। किन्तु आदर और श्रद्धा दूसरी बात है, दार्शनिक मतैक्य या मतभेद दूसरी बात है। अब हम अपने प्रिय एवं विद्वान वाचकों के विचारार्थ सादर एवं सविनय लीलावाद के विरुद्ध कुछ आक्षेप उपस्थित करते हैं।

(१) इस पक्ष में जो सबसे बड़ा दोष हम पाते हैं वह है ईश्वर पर मानवीय गुणारोपण का (Anthropomorphism)। इस दोष का स्वरूप यह है कि ईश्वर की प्रथम हम एक बहुत बड़े या परिपूर्ण मानव के रूप में कल्पना करते हैं और फिर उसके ऊपर अपने स्वयं के अनुभव के अनुरूप गुणों, इच्छाओं आदि का आरोप करते हैं। यह सब हम जानबूझ कर या हेतुपुरस्सर करते हों यह बात नहीं। अनजाने भी हम यह कर सकते हैं किन्तु इससे इस दोष में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। इस प्रकार की कल्पना धार्मिक या पौराणिक दृष्टि से चाहे समर्थनीय क्यों न हो, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से एवं दार्शनिक धरातल पर इसका समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता। एक प्राचीन दार्शनिक ने इस प्रवृत्ति का उपहास करते हुए कहा है कि यदि मनुष्य बैल की आकृति का होता तो वह ईश्वर की कल्पना भी एक अत्यन्त सुन्दर तथा परिपूर्ण बैल के रूप में करता। यह उपहास आपाततः तो दीखने में अधार्मिक जान पड़ता है किन्तु नितांत उद्बोधक एवं प्रस्तुत प्रसंग में विशेष रूप से उपादेय है। ईश्वर का मानवकल्पित रूप अलग बात है और उसका तात्त्विक स्वरूप अलग बात है। दार्शनिक विचार करते समय हमें तात्त्विक स्वरूप से ही प्रयोजन है। दर्शनशास्त्र में अंध श्रद्धा को कोई स्थान नहीं।

(२) इस पक्ष में और भी दोष देखिये :-

ईश्वर अनाप्तकाम है या आप्तकाम ? यदि अनाप्तकाम है तो वह ईश्वर न रहकर संसारी जीवों की तरह ही एक हो जायगा। यदि आप्तकाम है तो उसे सृष्टिनिर्माण की आवश्यकता ही नहीं। उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। उससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं। ऐसे आनन्दकन्द को सृष्टिरचनासदृश क्षुद्र बातों से भला कौन सा आनन्द मिल सकता है ? यह तो स्वस्थान से प्रच्युति या भ्रष्टता का ही द्योतक हो सकता है। साधारण जीव अपूर्ण होने से बाह्य बातों को आनन्द या मनोविनोद

का साधन बनाते हैं, यह हम समझ सकते हैं। किन्तु ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द में निमग्न आत्मक्रीड आत्मरति योगिराज को मनोरंजन के लिये सिनेमा, नृत्यगान, हास्य या हाकी फुटबाल सदृश अनात्म पदार्थों की आवश्यकता पड़ते हुए आज तक किसी ने नहीं देखा है। जब ईश्वर-प्रसाद प्राप्त जीवों की ही यह स्थिति है तो साक्षात् परिपूर्णानन्द स्वरूप परात्पर परब्रह्म की बात तो दूर रही। इस विषय में वेदान्त दर्शन के एक प्रकांड पंडित की निम्न पंक्तियाँ देखिये :-

किंच विवर्तवादानभ्युपगमे सृष्टयादिकमपि नोपपद्यते । तथाहि-परमेश्वरोऽनाप्तकामो वाऽऽप्तकामो वा आद्येतस्य संसारित्वप्रसंगः, द्वितीये तु कथं प्रपंचोल्लासनप्रवृत्तिः, न च हासितादि। साम्यम् ; तथापि स्वानन्दप्रकटनादेः प्रयोजनस्योत्प्रेक्षणसंभवात्, आनन्दोच्छलत्तादिरूपाणां तेषां बहिर्मुखता विशेषरूपतयेह बहिर्मुखतायां बीजस्य वक्तव्यत्वाच्च, तस्याः स्वाभाविकत्वेऽनिर्मोक्ष प्रसंगात् ; अतएवात्र निमेषादिसाम्यम् देवस्यैष स्वभावोऽयमित्युक्तेरिति न वाच्यम्, स्वाभाविकत्वेऽपि मिथ्यात्वेऽभीष्टसिद्धेरिति मायावादे एवेदं समंजसम्। (खंडनखंडखाद्य भाग २ के प्रारंभ में शारदाख्य टीकाकार श्री शंकर चैतन्य भारतीयति का 'दर्शनसर्वस्वम् अनिर्वचनीयतावादः' शीर्षक लेख ५-४३)।

(३) परमेश्वर का स्वरूप अहेय अनुपादेय है। ऐसी स्थिति में लीला के कारण न तो उसके और स्वरूप में कुछ न्यूनता रहती है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि यह निष्प्रयोजन एवं व्यर्थ प्रयास क्यों ? लीलावादियों को अभिमत ईश्वर फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ (Bergson) की जीवन-शक्ति (Life Force) की तरह नहीं जिसे विकासक्रम में निरन्तर वृद्धि पाने का अवकाश हो; न वह आंग्ल दार्शनिक ह्वाइटहेड (Whitehead) के ईश्वर की तरह ही है जो कालक्रम (Time process) में समृद्धि पाता रहे। इस दृष्टि से यह सारा लीलाकांड निष्फल ही मालूम होता है।

(४) इस पक्ष में एक और बड़ा दोष यह है कि जगत् के समस्त दुःख क्लेशादि का सारा दायित्व साक्षात् नहीं तो परम्परया ईश्वर पर ही आता है। साक्षात् दायित्व चाहे जीवों के कर्मो का हो किंतु स्वयं कर्म ही ईश्वर लीला-पूर्वक होने से ईश्वर ही उनके लिये कारणीभूत है। साक्षात् परिपूर्णानन्दस्वरूप ईश्वर दुःख-क्लेश-प्रचुर सृष्टि केवल अपने मनोरंजन के लिये निर्माण करे, यह बात कुछ विचित्र सी मालूम होती है। ईश्वर उस हृदयहीन रोमन सम्राट नीरो की तरह तो नहीं है जो ऐसे समय गाने बजाने में मस्त था जब उसकी आँखों के सामने ही रोम जला जा रहा था।

(५) यदि जगत् ईश्वर की लीला है और ईश्वर अनादि अनन्त है तो उसकी लीला भी उतनी ही चिरंतन होनी चाहिये। अनन्त तत्त्व के लिये एक विशिष्ट काल खंड में सीमित लीला कोई अर्थ नहीं रखती। ऐसी स्थिति में अनिर्मोक्ष प्रसंग अनिवार्य है; कारण, साधारण जीवों की भला क्या ताकत कि वे ईश्वर की लीला से बाहर निकल जाएँ ! किसी भी खेल में से यदि एक भी खिलाड़ी निकल जाता है तो सब खेल ही बिगड़ जाता है। यदि कहा जाय कि मुक्त जीवों का इस लीला से अलग होना ही ईश्वरीय लीला का एक अंग है, तब भी हमारी समस्या हल नहीं होती। हम यह यथार्थता के साथ पूछ सकते हैं कि इस बात का क्या भरोसा कि मुक्त जीव भी फिर इस लीला के चक्कर में न घसीटा जायगा ?

(६) यदि ईश्वरीय लीला अनादि एवं अनन्त काल तक चलने वाली हो तब तो वह स्वयं ईश्वर के लिये भी भारभूता बन जायगी। थोड़ी देर का खेल तो मनोविनोद के लिये हो सकता है। किन्तु खेलना जिनका व्यवसाय हो उन्हें उससे विशेष आनन्द नहीं मिल सकता। इतना ही नहीं, वह उन्हें एक तरह का भार या चिंता का विषय भी हो जाता है। कारण, अच्छे खेल पर ही उनकी सारी प्रतिष्ठा अवलम्बित होती है। यदि वह लीला कुछ ही काल तक टिकने वाली हो तो वह निरर्थक सी ही है। अनन्तता के आगे यत्किंचित् काल खंड नगण्य सा ही है।

(७) जीव का ईश्वरीय लीला का खिलौना होना न तो जीव की प्रतिष्ठा के अनुरूप है न ईश्वर की

ही, एक ओर जहाँ श्रुति जीव को 'तत्त्वमसि' घोषित करती है वहाँ दूसरी ओर लीलावाद उसे दूसरे के हाथ का खिलौना बनाने का प्रयत्न करता है ! फिर वह दूसरा चाहे साक्षात् ईश्वर ही क्यों न हो ! यह तो औपनिषद् दर्शन की और विडंबना है।

(८) इस लीला के लिये निर्मित जगत् का सत्ता की दृष्टि से क्या स्थान है (Ontological Status) ? इस वाद के पुरस्कर्त्ता इसे सत्य ही कहते हैं। जगत् सत्य है; कारण, वह सत्य ईश्वर द्वारा निर्मित है। अब प्रश्न यह है - क्या जगत् उसी कोटि का सत्य है जिस कोटि का सत्य ईश्वर है। वह संभव नहीं, कारण जगत् अपनी उत्पत्ति, स्थिति इ. के लिये पूर्ण रूप से ईश्वर पर अवलम्बित है। किंतु ईश्वर जगत् के बिना भी रह सकता है। जगत् तथा ईश्वर के बीच परस्परावलम्बित नहीं, एकांगी अवलम्बित्व है। पुनश्च, जो सत्य है उसके निर्मित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। असत् का कभी भाव नहीं होता, सत् का कभी अभाव नहीं होता। ('नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:')। जो असत् है उसकी भी उत्पत्ति संभव नहीं, यथा वंध्यापुत्र की। उत्पत्ति तो सद्भिन्न तथा असद्भिन्न पदार्थ की ही संभव है। किंतु यह तो घट्ट-कुटी प्रभात-न्याय से वेदान्त दर्शन का अनिर्वचनीयत्व या मिथ्यात्व ही आ गया। वेदान्त दर्शन के अनुसार कोई वस्तु-जन्य है (फिर वह किसी भी कारण से हो) इसीलिये वह मायिक या मिथ्या होनी चाहिये ; "जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम्"। किसी वस्तु की व्यवहारकाल में प्रतीयमान सत्यता उसकी वस्तुगत या पारमार्थिक सत्यता में प्रमाण नहीं हो सकती। वैसे तो फिर बाध से पूर्व मृगमरीचिका तथा स्वप्नादि सदृश प्रातिभासिक पदार्थ भी सत्य ही मालूम होते हैं। किंतु बाधोत्तर काल में उन्हें कोई सत्य नहीं समझता। इसलिये यदि हम दार्शनिक विचार में शिथिल शब्द प्रयोग का आश्रय न करके प्रत्येक शब्द की व्याख्या बाँधकर ही उसका प्रयोग करें तो अनेक दोषों तथा व्यर्थ के वाद-विवाद से बच जाएँ। तर्क या न्याय शास्त्र को इसी दृष्टि से सर्वशास्त्रोपकारक कहा गया है।

(९) इस प्रकार के अनेक सैद्धान्तिक (Theoretical) दोष लीलावाद पर दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये कुछ दोषों का दिग्दर्शन हमने किया। किन्तु लीलावाद व्यवहार पक्ष (Practical) में भी अनेक दोषों की संभावना से ग्रस्त मालूम होता है। भारतवर्ष में दार्शनिक सिद्धान्त महनीय व्यक्तियों द्वारा आदृत होने पर व्यवहार में धर्म का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इसलिये समाजधुरीणों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे स्वसम्मत सिद्धान्तों को अधिक से अधिक निर्दोष बनाएँ ताकि उनके अनिष्ट परिणाम साक्षात् या परम्परया समाज जीवन पर न हों। लीला के लिये हमेशा दो की अपेक्षा रहती है। यथा, प्रकृति और पुरुष, या उनके साकार सगुण रूप राधा और कृष्ण। किन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध प्रारम्भ में विशुद्धतम तथा आध्यात्मिक दृष्टि से सांकेतिक (Symbolic) होते हैं। लेकिन कुछ काल के अनन्तर अनुयायियों की मर्यादाओं के कारण प्रत्यक्ष व्यवहार में इस प्रकार के सिद्धान्तों ने अनेकविध दुराचारों को जन्म दिया है जिनकी कल्पनामात्र से ही शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लगभग ७०-७५ वर्ष पहले बम्बई के उच्च न्यायालय में इस प्रकार के धर्म की ओट में चलने वाले अनेक अनैतिक दुराचारों को लेकर एक महत्त्व का मुकदमा चला था। जिसमें यह सब आरोप सिद्ध हुए थे। इस सम्बन्ध में डॉ. आर.सी. मजुमदार की निम्न चेतावनी का एक-एक अक्षर ध्यान देने योग्य है :-

"The history of religions teaches us an important lesson. It is that any exaggerated importance attached to the female element in religion, or the association of religion with amorous elements, even though inspired or prompted by the highest spiritual motive and backed by metaphysical or mystic interpretations, is sure to lead to the degradation of its followers. This is best illustrated by the fate of the Shakta and Radha-Krishna Cults". (The Cultural Heritage of India, Vol. IV, The Religions; Second Edition; P. 5-9).

अर्थ :- "धर्मों का इतिहास हमें एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है। वह यह कि धर्म नारीतत्त्व को दी हुई प्रधानता का अतिरेक या धर्म के साथ किसी भी प्रकार की श्रृंगार चेष्टाओं अथवा कामुक भावनाओं का साहचर्य-फिर उसका उद्देश्य कितने ही उच्चतम आध्यात्मिक स्वरूप का क्यों न हो; साथ ही उसे अध्यात्मवाद एवं रहस्यवाद का समर्थन भी प्राप्त क्यों न हो-उस धर्म के अनुयायियों के पतन का कारण अवश्य बनेगी। शाक्त तथा राधाकृष्ण संप्रादाय की अधोगति इस बात के जीते जागते उदाहरण हैं।"

हमने ऊपर जिस मुकदमे का उल्लेख किया है वह राधाकृष्णोपासक वाल्लभ सम्पद्राय के तत्कालीन प्रमुख आचार्य से सम्बन्ध रखने वाला था। कहने की आवश्यकता नहीं कि मायावाद या विवर्तवाद इन सब बुराईयों की जड़ से कोसों दूर है। यहाँ 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का सिद्धान्त सब कुछ होने से और जीवो ब्रह्मैव, नापर: का प्राधान्य होने से स्त्री पुरुष के भेद को तात्त्विक क्षेत्र में अवकाश नहीं। दोनों को एकसा ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हो सकती है। जनक राजा के यहाँ ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में गार्गी बराबरी के नाते महर्षि याज्ञवल्क्य के साथ वादविवाद कर सकती थी। चुडाला अपने पति को ब्रह्मविद्या का उपदेश कर सकती थी। विवर्तवाद द्वारा एक मात्र प्राप्तव्य है जीव का अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप जिसका अज्ञान ही समस्त द्वैतात्मक अनर्थों का कारण है। इसमें माया कोई सत्य पदार्थ नहीं, न जगत् ही सत्य है। यदि जगत् है और वह कोई समस्या उपस्थित करता है तो माया की सहायता से उसका हल हो जाता है। यह माया आत्ममाया है, किसी विजातीय या आत्मस्वरूप से ब्रह्म सत्तागत नहीं। इसकी निवृत्ति का एक मात्र उपाय है आत्मज्ञान। इसके बाद 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' ; 'यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं श्रृणोति ...... यत्रवा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन् कं जिघ्रेत् तत्केन् कं पश्येत् तत्केन् कं शृणुयात् ......' बृ. २-४-१३-१४। फिर भी देहपात तक जीवन्मुक्ति दशा में ज्ञानी पुरुष ज्ञान की पाँचवी तथा छठी भूमिका तक यथासम्भव स्वभावत: ही-किसी प्रयोजन से नहीं-ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा त्रिविधताप से तप्तजनों को ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा मुक्त करते रहते हैं और इस प्रकार इस आर्यावर्त के लिये ललामभूत ब्रह्मविद्या की सोज्ज्वल परम्परा को अविच्छिन्न रूप से चलाने में योग देते हैं।

हमारी नम्र सम्मति से लीलावाद ब्रह्मविद्या द्वारा संपाद्य उच्च एवं विशुद्ध ध्येय तक पहुँचाने में असमर्थ होने से वह अस्वीकरणीय है। उसका क्षेत्र हर तरह से द्वैतानुभूति तक ही सीमित होने से अद्वैत दर्शन द्वारा प्राप्त किये जाने वाले दर्शन के गौरीशंकर शिखर से हम हमेशा नीचे ही रहते हैं। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि लीलावाद किस प्रकार अनेकविध सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोषों से ग्रस्त है किन्तु विवर्तवाद के अन्तर्गत यदि उसे स्वीकार किया जाय - जैसे कि अद्वैत वेदान्त के मनीषियों ने किया है - तो उसका प्राधान्य न रहने के कारण ये सब दोष नगण्य से हो जाते हैं।

प्रस्तुत विषय में हमने अपने निष्पक्ष एवं प्रामाणिक मत व्यक्त किये हैं, किसी आग्रहवश या वादविवाद के हेतु नहीं ; और न ऐसा करते समय हमें किसी व्यक्ति विशेष के विरुद्ध कुछ कहना है। वैयक्तिक दृष्टि से हमें सभी के प्रामाणिक मतों, धारणाओं एवं विश्वासों के प्रति पूर्ण आदर तथा सहानुभूति है। किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में मतभेद होना कभी-कभी अपरिहार्य सा हो जाता है और सम्भव है विचारों को गति देने की दृष्टि से किसी भी पक्ष का साधक-बाधक विचार सहायक सिद्ध हो। यदि इतना हो जाय तब भी प्रयोजन सिद्ध हुआ। 'वादेवादे जायते तत्त्वबोध:'।

***

संदर्भ सूची

* पंचदशी, ६-१३०, श्रुतिसिद्ध ज्ञान के अनुसार माया गनन-कुसुम की तरह अत्यन्त असत् है। युक्ति या विचार की द्रृष्टि से हम उसका स्वरूप अनिर्वचनीय पाते हैं। किन्तु साधारण लोक व्यवहार की द्रृष्टि से वह सत्य है।

१ इसी आशय को श्री महादेवन ने निम्न में बहुत ही उत्तमता के साथ व्यक्त किया है - *"The task of the philosopher, however, is not to play to the gallery, and provide a justification for the common man's point of view. His mission is to see the truth and make others see it. When this is borne in mind the Advaitin's position will he appreciated." (Gaudapada : A Study in Early Vedanta by Prof. T.M.P. Mahadevan, P. 115).*

२. अद्वैत दर्शन का 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व' रूप मिथ्यात्व इसी का नाम है।

३. *"When we consider that we have the conceptions of a veil, of blindfoldness, of a knot, of ignorance, of not being, of darkness, of death, of unreality and uncertainty, of untruth, fo crookedness and falsehood and illusion, of the power of God, of this power as identical with nature, of meshes, of semblance, an as it were and as appearance, and finally, of a word, a mode and a name, let no man stand up and say that we do not find the traces of the doctrine of Maya in the Upanishads !" (A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy by R. D. Ranade, P. 228.)*

ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य

प्रामाण्य-अप्रामाण्य या सत्यासत्य का प्रश्न हमारे दैनंदिन व्यावहारिक जीवन में एवं हमारे वैचारिक जीवन में अपना अनोखा महत्त्व रखता है। सत्यासत्य का भेद किये बिना हमारा व्यावहारिक जीवन ही असंभव हो जायगा। लेकिन व्यावहारिक जीवन में साधारण मनुष्य इस प्रश्न के तात्त्विक पक्ष से प्राय: अनभिज्ञ ही रहता है। इन बातों का विचार दर्शनशास्त्र में किया जाता है। सत्य का अर्थ क्या, असत्य का अर्थ क्या, सत्यासत्य की कसौटी क्या इ. प्रश्न दार्शनिकों द्वारा विचारणीय होते हैं।

हमारे अनुभव से निकतटया संबद्ध होने के कारण यह प्रश्न दर्शनशास्त्र जितना ही प्राचीन है। दर्शनशास्त्र से यहाँ अभिप्राय जागतिक दर्शन से है। पाश्चात्य दर्शन में सुकरात से पूर्व ई.पू. पाँचवी शताब्दी में प्रॉटेगॉरस ने 'सत्य' (The truth) नामक एक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ की युक्तियाँ प्लेटो ने अपने 'थीटेटस' नामक संवाद में पूर्वक्षतया उपस्थिति की हैं। साथ ही प्लेटो ने इनका खंडन करके इस मत को सर्वथा त्याज्य बताया है। परन्तु आधुनिक काल में डॉ. एफ.सी.एस. शिलर (F.C.S. Schiller) ने प्लेटो के विरुद्ध प्रॉटेगॉरस के ही मतों का समर्थन किया है। यह प्रश्न हमेशा से वैसे ही वादग्रस्त रहा है परन्तु डॉ. शिलर के उक्त सर्मथन ने इस वाद में गहरा रंग डाला। यह प्रश्न कितना वादग्रस्त है, इसकी कल्पना ऑक्सफर्ड के डॉ. बूझली (A.D. Woozley) के निम्न शब्दों से आ सकेगी। सत्य के प्रकरण के प्रारंभ में ही वे कहते हैं :-

"For years now one of the bitterest and bloodiest battle grounds of philosophical theories has been that on which the dispute between rival theories of truth has been fought"[1]

अर्थात दार्शनिक विवादों की कटुतम एवं सबसे अधिक रक्तरंजित युद्धभूमि वह रही है, जिस पर सत्य के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को लेकर युद्ध मचे हैं।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्य-अप्रामाण्य विचार अपना अनोखा महत्त्व रखता है। ऐसा कहा जाता है, कि भारतीय पण्डितों के घर की शुक-सारिकाएँ भी 'स्वत: प्रमाणं परत: प्रमाणम्' इस प्रकार के वचन कहा करती थीं। इससे भारतीय दर्शन में इस प्रश्न का महत्त्वपूर्ण स्थान द्योतित होता है। यद्यपि पाश्चात्य दर्शन में भी प्रामाण्य या सत्यविषयक विभिन्न सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित हैं तथापि प्रामाण्य का विचार वहाँ ठीक इसी रूप में नहीं पाया जाता जिस रूप में वह हमारे यहाँ पाया जाता है। हमारे नम्र विचार से इस प्रकार का विचार सत्य का वास्तविक स्वरूप निर्णय करने की दृष्टि से अधिक मूलगामी है। प्रमाण-विचार भारतीय दर्शन की विशेषता है। प्रत्येक दर्शन अपनी प्रक्रियानुसार प्रमाणों का विचार करता है। इन प्रमाणों की संख्या प्रमुखतया एक से लगाकर छ: तक है तथा एक से लगाकर छहों प्रमाणों तक विभिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकार किये गये हैं। प्रमाण यथार्थज्ञान (प्रमा) के 'करण' या 'असाधारण' कारण हैं। हमारे यथार्थ अनुभव में रहने वाले धर्म विशेष को ही प्रमात्व या प्रामाण्य कहा जाता है। लेकिन हमारे सारे अनुभव तो यथार्थ नहीं होते। हमारे अनुभवों में अयथार्थ अनुभव भी अपना

स्थान रखते हैं। ये प्रमाण से जन्य नहीं होते। हमारे अयथार्थ अनुभवों में रहने वाले धर्म विशेष को अप्रमात्व या अप्रामाण्य कहा जाता है। इन्हीं प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य को लेकर भारतीय दर्शन में 'प्रामाण्यवाद' उठ खड़ा हुआ है। 'प्रामाण्यवाद' नामक स्वतंत्र ग्रंथ भी है तथा प्रत्येक दर्शन में इसका स्वतंत्र विचार भी पाया जाता है। इस विवाद के मुख्य विषय हैं - प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के कारण क्या हैं तथा ये कैसे जाने जाते हैं ? क्या प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान की उत्पादक सामग्री से ही होती है या ज्ञानोत्पादक सामग्री से अतिरिक्त कारण इसमें घटक होते हैं ? उसी प्रकार प्रामाण्य या अप्रामाण्य जाने कैसे जाते हैं ? क्या ज्ञान को ग्रहण करने वाली सामग्री से ही इनका ज्ञान होता है या अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता है ? इनमें 'स्वतस्त्व' पक्ष के अनुसार प्रामाण्य या अप्रामाण्य ज्ञानोत्पादक सामग्री द्वारा ही उत्पन्न होते हैं तथा ज्ञान ग्राहक सामग्री द्वारा जाने जाते हैं। 'परतस्त्व' पक्ष के अनुसार प्रामाण्य या अप्रामाण्य ज्ञानोत्पादक सामग्री द्वारा जन्य न होकर तथा ज्ञान ग्राहक सामग्री द्वारा ज्ञात न होकर अतिरिक्त करणों से ही जन्य एवं अतिरिक्त कारणों से ही ज्ञात होते हैं।

उपर्युक्त प्रश्न को लेकर चार पक्ष संभव हो सकते हैं। (१) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों के बारे में 'स्वतस्त्व' का पुरस्कार; (२) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों के बारे में 'परतस्त्व' का स्वीकार; (३) प्रामाण्य को परत: मानकर अप्रामाण्य को स्वत: मानना; (४) प्रामाण्य को स्वत: मानकर अप्रामाण्य को परत: मानना। सत्यासत्य के स्वरूप से थोड़ा भी परिचय रखने वालों को इनमें से कुछ विकल्प सकृत् दर्शन में ही असमर्थनीय जान पड़ेगें। किंतु भारतीय दर्शन में इन चारों मतों का पुरस्कार एवं परमत-खंडन-पूर्वक स्वमत का समर्थन विभिन्न दार्शनिकों द्वारा किया हुआ हम पाते हैं। प्रत्येक दर्शन द्वारा अपने विशिष्ट दर्शन की स्वयं की संपूर्ण प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ही यह खंडन-मंडन किया गया है। उक्त चार मतों में प्रथम पक्ष सांख्य तथा योग दर्शन द्वारा पुरस्कृत है; द्वितीय पक्ष न्याय दर्शन का है। तृतीय पक्ष बौद्धदर्शन में स्वीकृत है तथा चतुर्थ पक्ष पूर्व एवं उत्तर मीमांसा दर्शनों को सम्मत है[१]। प्रस्तुत लेख में हम चारों पक्षों का संक्षेप में विचार चतुर्थ पक्ष को सिद्धान्त मानकर करेंगे।

प्रारंम्भ ने हम प्रथम पक्ष की समीक्षा करेंगे। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह पक्ष सांख्य-योग दर्शनों द्वारा पुरस्कृत है। ये दर्शन सत्कार्यवाद मानने वाले हैं। कोई भी कार्य अपने कारण में सत् अर्थात् विद्यमान रहता ही है। अन्तर इतना ही है कि कारक-व्यापार से पूर्व वह अनभिव्यक्त दशा में रहता है। कारक-व्यापार केवल इसी पहले से ही विद्यमान, किंतु अनभिव्यक्त कार्य को व्यक्तदशापन्न कर देता है, न कि असत्कार्यवाद की तरह कार्य की एक दम नई उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न होता, यदि कार्य अपने कारण में विद्यमान न होता, यदि असत् की भी उत्पत्ति हो सकती तो घर बनाने के लिये मृत्तिका का ही अवलंब क्यों किया जाता ? दही बनाने के लिये दूध का ही उपयोग क्यों किया जाता ? तैल निकालने के लिये तिल का ही उपयोग क्यों किया जाता, बालू से यह काम क्यों न लिया जाता ? बालू से तैल इसीलिये नहीं निकाला जा सकता कि वह उसमें किसी भी रूप में विद्यमान नहीं है - सत् नहीं है। इसी सिद्धान्तानुसार प्रामाण्याप्रामाण्य भी कार्य होने के नाते अपने कारण में सत्-पहले से विद्यमान होने चाहिए। उनकी उत्पत्ति 'स्वत:' ही होनी चाहिये, 'परत:' नहीं।

यह मत न्यायमत के ठीक विरुद्ध है, क्योंकि न्यायदर्शन में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को परत: माना गया है। लेकिन इस मत का पूर्वार्ध-प्रामाण्य का स्वतस्त्व पूर्व तथा उत्तर मीमांसा (वेदान्त) दर्शनों से मिलता-जुलता है। लेकिन उत्तरार्ध-अप्रामाण्य का स्वतस्त्व बौद्ध दर्शन के आधे भाग से मेल खाता है। मीमांसा दर्शन में अप्रामाण्य को परत: कहा गया है; बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य को परत:। यह प्रस्तुत मत का इन दर्शनों के साथ भेद है। न्यायादि दर्शनों ने इस मत का खंडन अपने अपने दर्शन की विशिष्ट प्रक्रियानुसार किया है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, हम मीमांसा दर्शन को सिद्धान्त मानकर

इस मत की आलोचना करेंगे। इस दृष्टि से इसका आधा भाग-प्रामाण्य का स्वतस्त्व निर्दोष एवं निरापद ही मालूम होता है। अत एव न्याय दर्शन द्वारा प्रामाण्य स्वतस्त्व के विरुद्ध उद्भावित आक्षेपों का विचार न्यायमत के खण्डन के समय एवं स्वमत-प्रतिपादन के समय ही करना उचित होगा। अभी इतना ही कहना पर्याप्त है कि अप्रामाण्य का स्वतस्त्व इस मत को दोष-दूषित बनाता है। इस पर मुख्य आक्षेप यह आता है कि एक ही ज्ञान-व्यक्ति एक ही समय प्रमाण तथा अप्रमाण नहीं हो सकती। जैसे प्रकाश और अन्धकार एक ही काल में एक ही जगह नहीं रह सकते, वैसे ही प्रामाण्य-अप्रामाण्यरूप विरुद्ध धर्म एक ही ज्ञान-व्यक्ति में एक ही समय नहीं रह सकते। यदि कहा जाय कि कोई ज्ञान-व्यक्ति स्वत: प्रमाण होती है और तदन्य ज्ञान-व्यक्ति स्वत: अप्रमाण होती है, तो उक्त दोष का तो वारण हो जाता है, किंतु इसके साथ ही दूसरी आपत्ति उपस्थित होती है। वह यह कि कोई भी बाह्य नियामक कारण न मानने वाले इस पक्ष में ज्ञान-व्यक्ति प्रमा है, और तदन्य कोई अप्रमा है, यह भेद किस आधार पर किया जा सकेगा ? प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों में स्वतस्त्व मानने वाला पक्ष है। यदि बाह्य कारण का इसमें स्वीकार किया जाता है, तो परतस्त्व का अंगीकार होने से 'स्वतस्त्व' से हाथ धोना पड़ता है। इस पक्ष पर एक और आपत्ति यह आती है कि यदि अप्रामाण्य भी स्वत: होगा तो हमें कभी भ्रम ही न होगा और हमारी कोई भी प्रवृत्ति असफल न होगी। यदि ज्ञानोत्पत्ति के साथ ही हम उस ज्ञान का अप्रामाण्य जान लेते हैं, तो जान-बूझ कर हम भ्रम में क्यों पड़ेंगे ? भ्रम का स्वरूप ही ऐसा है कि वह कभी हेतु पुरस्सर नहीं होता। लेकिन भ्रम तथा असफल प्रवृत्ति तो सार्वजनीन अनुभव हैं। इनकी सम्यक् उपपत्ति इस पक्ष में नहीं लग सकती। बाधित ज्ञान देने वाला शास्त्र भी त्याज्य ही समझना जाना चाहिये।

अब हम उक्त पक्षों में थोड़ा व्यतिक्रम कर के सौकर्य की दृष्टि से तृतीय पक्ष की समीक्षा पहले करें। यह मत बौद्ध-दर्शन द्वारा पुरस्कृत है। इसका प्रामाण्यपरतस्त्व रूप आधा भाग न्याय दर्शन से मिलता-जुलता है, लेकिन अप्रामाण्य स्वतस्त्व भाग न्याय दर्शन से विपरीत है। इसी प्रकार इसका अप्रामाण्य स्वतस्त्व अंश सांख्य दर्शन से मिलता-जुलता होने पर भी प्रामाण्य-परतस्त्व अंश सांख्यदर्शन का विरोधी है। दोनों मीमांसा-दर्शनों का तो यह एक दम से विरोधी है। इसका एक भी अंश इन दर्शनों से इस बात में मिलता-जुलता नहीं है।

प्रथम हम इस पक्ष की स्वमतसमर्थनार्थ दी हुई युक्तियों को उपस्थित करेंगे। इस मत में अप्रामाण्य को स्वत: माना गया है, प्रामाण्य को परत:। इसका कारण यह है कि अप्रामाण्य को इस मत में प्रामाण्य का अभाव समझा गया है। अभाव कोई वस्तु नहीं, जिसकी कि उत्पत्ति हो सके। अत एव अप्रामाण्य परत: अर्थात् दोष से उत्पन्न होता है यह न्याय तथा मीमांसा दर्शन का मत बौद्धों को सम्मत नहीं। दोषजन्य न होने से यह भी कहना ठीक नहीं कि दोष से अप्रामाण्य का अवधारणा भी हो सकता है। इसके विपरीत प्रामाण्य भावरूप वस्तु होने से उसकी उत्पत्ति परत: अर्थात् अपने कारण रूप के द्वारा हो सकती है। साथ ही गुणजन्य होने के नाते गुण के द्वारा उसका अवधारण भी हो सकता है। कभी हमें टेबल सामने होते हुये उसका ज्ञान होता है, कभी भ्रम में टेबल न हो कर भी टेबल का ज्ञान होता है। ऐसी परिस्थिति में टेबल के ज्ञान के प्रामाण्य या यथार्थता का निर्णय बिना बाह्य कारणों के यथा गुण, संवाद या अर्थक्रिया ज्ञान इ. के बिना नहीं हो सकता। इसका अर्थ होता है प्रामाण्य परतस्त्व। इसके विपरीत यदि प्रामाण्य को स्वत: माना जाय तो स्वप्नादि भ्रम-ज्ञान के भी प्रमा या यथार्थ होने की आपत्ति आती है। इस प्रकार भ्रम-प्रमा भेद ही मिट जाएँगे। यह भी कहना ठीक नहीं कि दोषजन्य अप्रामाण्य ने औत्सर्गिक प्रामाण्य का अपवाद किया है, क्योंकि अवस्तु या अभावरूप अप्रामाण्य दोष-जन्य नहीं हो सकता, यह पहले ही बतलाया जा चुका है। अतएव अप्रामाण्य को दोषजन्य मानने से अभाव भी किसी कारण से उत्पन्न होता है, यह मानने की आपत्ति प्रतिपक्षी पर आती है। बौद्धमत में यह आपत्ति नहीं

आती, कारण, इस मत में अप्रामाण्य स्वाभाविक है - स्वभावत: प्राप्त है। प्रामाण्य द्वारा उसका अपवाद हुआ करता है। भ्रमस्थल में गुणरूप कारणों के न होने से उनका कार्य-प्रामाण्य भी उत्पन्न नहीं होने पाता। इसीलिये औत्सर्गिक अप्रामाण्य को धक्का नहीं लगने पाता। इस मत में दोष का काम केवल इतना ही है कि वह प्रामाण्य उत्पन्न करने वाले गुणों का प्रतिबन्ध करता है। इसलिये प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती और स्वभावत: प्राप्त अप्रामाण्य अक्षुण्ण बना रहता है।

हमारे दैनंदिन अनुभव की दुहाई भी इस मत में दी जाती है और कहा जाता है कि प्रत्येक ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही प्रमाण हो, यह अनुभव के विरुद्ध है। अन्यथा ज्ञान के प्रामाण्य के बारे में संदेहादि क्यों उठते हैं ? इस सर्वसाधारण अनुभव का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक ज्ञान प्रमाण न होकर पहले अप्रामाण्य-ग्रस्त ही होता है। पीछे से अर्थक्रियाकारित्व, सफलप्रवृत्तिजनकत्व इ. बातों के द्वारा ही अर्थात् परत: ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। प्रामाण्य के जनक गुणों में से कुछ हैं - इन्द्रियों की विशुद्धता, वातादि धातुओं का साम्य, इन्द्रियों की शुद्धता तथा धातुओं के वैषम्य से काचकामलादि तथा तिमिरादि दोष उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार शब्द का गुण है, वक्ता से आशय की विशुद्धता। शब्द के दोष हैं, विप्रलंभ इत्यादि। यह है संक्षेप में प्रामाण्य-अप्रामाण्य-विषयक बौद्धमत।

संक्षेप में इस मत का अनुवाद करने के अनंतर अब हम इसकी समीक्षा करें। हमारे विनम्र मत से प्रामाण्य-विषयक उपर्युक्त चार पक्षों में यदि सबसे अधिक त्याज्य एवं गर्ह्य कोई मत है तो वह प्रस्तुत मत है। अन्य मतों में कम से कम एकाध अंश तो स्वीकरणीय तथा युक्तियुक्त है, किन्तु इस मत के दोनों अंश विचार करने पर त्याज्य ही मालूम होते है। इस मत के समर्थन में दी हुई युक्तियाँ हेत्वाभासग्रस्त हैं। सार्वजनीय अनुभव की भी इस मत में ठीक विपरीत उत्पत्ति लगाई गई है। दार्शनिक विचार की दृष्टि से भी इस मत में कोई सूक्ष्मता या गहराई नहीं मालूम होती। बहुत ही छिछले स्तर पर तर्क की दृष्टि से स्थूल स्वरूप का यह मत है।

इस मत के विरुद्ध हमारी मुख्य युक्ति यह है कि यह अप्रामाण्य ज्ञान का औत्सर्गिक या स्वाभाविक धर्म हो और प्रामाण्य आगन्तुक धर्म तो प्रमाण-ज्ञान का उच्छेद ही हो जायगा। इस स्वभावभूत अप्रामाण्यज्ञान को लाख प्रयत्न करने पर भी प्रमाण नहीं बनाया जा सकेगा। इसका कारण यह है कि ज्ञान का बाधक या साधक अथवा समर्थक ज्ञान भी ज्ञान होने के नाते अप्रामाण्य लेकर ही उत्पन्न होगा और तीसरे ज्ञान की शरण लेने पर भी वह पुनरावृत्ति चालू रहेगी और अप्रामाण्य अविचल ही रहेगा, उससे कभी पीछा न छूटेगा। इस प्रकार की अनवस्था अपरिहार्य हो जायगी। कोई भी आगन्तुक धर्म, जो किसी भी वस्तु के स्वरूप से बहिर्भूत होता है, वह उस वस्तु के स्वभावभूत धर्म का स्थान नहीं ले सकता! लेकिन इसके विपरीत यह अवश्य संभव है कि क्षणिक आगंतुक धर्म स्वभावभूतधर्म का कुछ देर के लिये प्रतिबंधक बन कर यथार्थ ज्ञान से दूर हो जाय। इस पर शायद यह कहा जाय कि अप्रामाण्य को ही औत्सर्गिक या स्वाभाविक धर्म क्यों न माना जाय ? इसका समाधान यह है, जैसा कि आचार्य कुमारिल भट्टपाद ने अत्यन्त मार्मिकता का परिचय देते हुए दिखलाया है - यदि स्वयं ज्ञान में ही अपने विषय को जैसा वह है, वैसा उसे दिखाने की शक्ति न हो (और यही तो ज्ञान का प्रामाण्य है जिसका रूप है 'स्वविषयतथात्वावधारण') तो किसी भी बाह्य आगन्तुक कारण द्वारा उसमें यह शक्ति उत्पन्न न की जा सकेगी। इसका घोर परिणाम यह होगा कि जगत् में किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही न होगा और अंततोगत्वा जगदांध्य में इसका पर्यवसान होगा; कारण, जगत् के समस्त व्यवहार प्रमाण-ज्ञान मूलक ही हैं, अयथार्थ ज्ञान अपवादरूप से ही दृष्टि-गोचर होता है। जैसे व्यवहार में असत्य सत्योपजीवी है, सत्य की ओट में अपनी गुजर करता है वैसे ही अप्रामाण्य ज्ञान के स्वाभाविक धर्म प्रामाण्य पर अपनी उपजीविका चलाता है-वह परोपजीवी है; दोषजन्य होने के नाते वह परत: है। यह तो प्रमाण ज्ञान की ही

महिमा है कि उसकी ओट लेकर अप्रमाण ज्ञान भी कुछ काल तक सत्य की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। लेकिन उसका सच्चा स्वरूप प्रकट होने पर वह मुंह दिखलाने के लायक भी न रहने से एकदम गायब ही हो जाता है। क्या यही बात अप्रामाण्य को स्वाभाविक मानकर प्रामाण्य के बारे में कही जा सकती है ?

प्रामाण्य-परतस्त्ववाद पर मुख्य आपत्ति यही है कि अन्य सापेक्ष प्रमाणत्व मानने से ज्ञान स्वयं अपने विषय का वास्तविक स्वरूप बतलाने में असमर्थ है, यह स्वीकार करना पड़ता है और इस असमर्थ ज्ञान का प्रामाण्य निर्धारण करने के लिए उक्त ज्ञान, से अतिरिक्त बातों की शरण लेनी पड़ती है। परत: प्रामाण्यवाद स्वीकार करने वाले पक्ष में अतिरिक्त बातें (यथा गुण, संवाद, अर्थक्रिया इत्यादि) स्वयं प्रमाण न होने से इनका प्रामाण्य इनसे अतिरिक्त बातों द्वारा निर्धारित करना पड़ेगा। स्वयं इन बातों का प्रामाण्य अनिश्चित होते हुए दूसरों को भला ये प्रामाण्य क्या प्रदान कर सकेंगी ? इनका प्रामाण्य-निर्धारण करने के लिये इन से भिन्न बातों का आश्रय लेना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था अपरिहार्य हो जाती है। इसलिये 'शास्त्र-दीपिका' में इस पक्ष को "मूलोच्छेदकर पक्ष" कहा गया है[३]—क्योंकि इस पक्ष में प्रामाण्य का समूल उच्छेद होने की आपत्ति आती है। लेकिन बौद्धमत में अप्रामाण्य को स्वत: मानने से यह आपत्ति कई गुना बढ़ जाती है। इस सिद्धान्त द्वारा मानो प्रामाण्य का झरना अपने उद्गम स्थान में ही इस प्रकार दूषित हो जाता है कि उसका परिमार्जन आगे किसी भी अवस्था में किसी भी कारण से संभव नहीं। 'अप्रामाण्य ज्ञान का स्वाभाविक धर्म है'-यह विधान भी, जो स्वयं एक ज्ञान है अप्रमाण ही सिद्ध होगा। इस प्रकार यह मत आत्मविघातक भी कहा जा सकता है। यदि बौद्धमत ठीक है, तो कम से कम यह विधान तो प्रमाण होना चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि प्रामाण्य ज्ञान का स्वाभाविक धर्म है, आगंतुक नहीं, नित्य है, नैमित्तिक नहीं। दोषवश इसमें कुछ काल के लिये प्रतिबन्ध हो जाय यह बात दूसरी। अर्थात् अप्रामाण्य दोषवशात् परत: सिद्ध होता है और प्रामाण्य स्वत:।

विवरणकार ने सविस्तर रूप से बतलाया है कि प्रामाण्य न तो उत्पत्ति में परत: हो सकता है, न ज्ञप्ति में। उत्पत्ति में परतस्त्व संभव नहीं, कारण, बौद्धमत में सभी ज्ञान क्षणिक हैं। अतएव चक्षुरादि कारणों से उत्पन्न हुआ ज्ञान क्षणिक होने के नाते जब उसमें प्रामाण्यरूप धर्म की उत्पत्ति हो तब तक ठहरेगा ही नहीं। फिर प्रामाण्य किस में उत्पन्न होगा ? ज्ञप्ति में भी परतस्त्व संभव नहीं, कारण, इसमें अनवस्था अपरिहार्य हो जाती है।

सार्वजनीन अनुभव की ओर यदि हम ध्यान दें तो यही मानना पड़ता है कि प्रामाण्य स्वत: ही है, अप्रामाण्य परत:। कोई भी अप्रमाण ज्ञान अपना स्वरूप स्वयं नहीं प्रकट कर सकता। किसी भी भ्रम या अयथार्थ ज्ञान का स्वरूप यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर, अर्थात् भ्रम के बाधकाल में प्रकट होता है। इसका अर्थ यह होता है कि अप्रामाण्य का प्रकाश प्रमाण ज्ञान के अधीन है। अप्रामाण्यज्ञान याचितमंडन न्याय से सत्य ज्ञान के उदय होने तक सत्य के समान ही कीमत पाता है। लेकिन यह महिमा तो सत्य की है, असत्य की नहीं। सत्य के द्वारा असत्य का वास्तविक रूप प्रकट होने पर उसकी कीमत तीन कौड़ी की हो जाती है, लेकिन सत्य किसी दूसरे से प्रकाशित न होकर अपने बल पर ही प्रकाशित होता है। यदि प्रामाण्य ही उत्सर्ग न होता तो भ्रम ही न होता। भ्रम इसीलिए होता है कि सत्य को हम उत्सर्ग समझकर तदनुसार आचरण करने लग जाते हैं और किसी दोष की उपस्थिति के कारण धोका खाते हैं। इसीलिए भ्रम मालूम होने पर हम उसका कारण दोष भी खोज निकालते हैं, ताकि दुबारा ऐसा धोखा न हो। इसका अर्थ यह होता है कि हमारे दैनंदिन व्यवहार में भी हम सत्य को ही उत्सर्ग समझते हैं और असत्य को अपवाद।

अप्रामाण्य को स्वत: मानने के कारण इस पक्ष पर भी सांख्यपक्षोक्त दोष आता है। वह यह कि अप्रामाण्य यदि स्वत: हो तो भ्रम ही न होगा। ज्ञात भ्रम तो भ्रम ही नहीं होता।

बौद्धमत में अप्रामाण्य कारणजन्य अतएव परत: इसीलिए नहीं माना गया है कि वह अवस्तु है। अभावात्मक है। लेकिन मीमांसक तथा वेदान्ती इस बात को स्वीकार नहीं करते। संशय, विपर्यय आदि अप्रामाण्य के अनेक प्रकार हैं और इन्हें केवल अभावात्मक नहीं कहा जा सकता। वे ज्ञानात्मक वस्तु होने के नाते दोषरूप कारण से जन्य हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि हर तरह से विचार करने पर बौद्धमत तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त नहीं मालूम होता। बौद्धमत की इस संक्षिप्त समीक्षा के अनन्तर हम द्वितीय पक्ष (जो तार्किकों का है) की ओर मुडें।

न्यायदर्शन अनेक कारणों से भारतीय दर्शन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह तर्क के लिए प्रसिद्ध है। इसकी तर्कशुद्धता के कारण यह सर्वशास्त्रोपकारक कहा गया है। नव्यन्याय ने इस दिशा में परिसीमा कर दी। साथ ही यह भारत का श्रेष्ठ वास्तववादी दर्शन है (Realism)। प्रस्तुतवाद में न्यायदर्शन की भूमिका इसी वास्तववाद को लिए हुए है। इसके अनुसार प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों में परत: हैं। इस वाद में नैयायिक ही मीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त दर्शनों का मुख्य प्रतिस्पर्धी है। सब विरोधी मतों के खंडन द्वारा स्वमत का प्रतिपादन न्यायग्रंथों में बहुत ही उत्तमता के साथ किया गया है।

यह मत सांख्यमत के ठीक विरुद्ध है। इसका आधा भाग बौद्धों के प्रामाण्य-परतस्त्ववाद से मिलता-जुलता है और अप्रामाण्य-परतस्त्वरूप अंश बौद्धमत से असमान है तथा प्रामाण्य-परतस्त्वरूप अंश उभय मीमांसा-दर्शनों से असमान है। इस मत की स्वपक्ष-समर्थनार्थ निम्न युक्तियाँ हैं -

उत्पत्तिपरतस्त्व-प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति, ज्ञान के जनक कारणों से भिन्न कारणों द्वारा (जिसकी ही पारिभाषिक शब्दों में 'परत:' संज्ञा है) होती है। यदि ज्ञान की उत्पत्ति अ, ब, क संज्ञक कारण-समुदाय से होती है तो उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति उसी कारण-समुदाय से न होकर ब या ड कारणों द्वारा होती है। इस प्रकार ज्ञान-जनक कारण-सामग्री से भिन्न कारणों में ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्यरूप धर्म जन्म पाते हैं। ज्ञान तो सिर्फ अपने विषय का प्रकाश भर करना जानता है। वह प्रामाण्य या अप्रामाण्य की दृष्टि से उदासीन है। कोई भी ज्ञान स्वयं न तो प्रमाण है न अप्रमाण। उदाहरणार्थ, नीलरूप का ज्ञान जिस समय होता है, उस समय उसके प्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता। नीलरूप के ज्ञान-काल में स्वयं इस ज्ञान का भी ज्ञान नहीं होता, प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति या ज्ञान तो दूर रहा। इनकी उत्पत्ति या ज्ञान तो ज्ञानजनक कारणों से भिन्न कारणों द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो भ्रम-प्रमा भेद का ही उच्छेद हो जायगा। भ्रम-ज्ञान भी ज्ञान होने के नाते ज्ञानकरणों के साथ ही जन्य होगा। तब भ्रम को भी प्रमा कहना पड़ेगा। ज्ञानत्व दोनों में समान ही है।

प्रामाण्य की तरह अप्रामाण्य को यदि स्वत: माना जाय तो प्रवृत्ति विसंवाद या असफल प्रवृत्ति जगत् में कभी देखने में ही न आयगी।

अब प्रश्न यह है कि वे कौन से कारण हैं जिनमें प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य उद्गम पाते हैं। न्याय-मत से इसका उत्तर यह है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान की सामान्य सामग्री के अतिरिक्त गुणों से होती है तथा अप्रामाण्य की दोषों से। ज्ञान की सामान्य सामग्री इन्द्रियाँ, अनुमान इ. हैं। जब गुण-युक्त इन्द्रियों आदि के द्वारा ज्ञान होता है तभी वह प्रमा कहलाता है। गुण-रहित इन्द्रियों आदि के द्वारा होने वाला ज्ञान प्रमा नहीं होता। नेत्र तथा विषय का संयोग ज्ञान की सामान्य सामग्री है। लेकिन केवल इसी से प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रमा की उत्पत्ति के लिये सन्निकर्ष के साथ ही निर्दोष इन्द्रिय, वस्तु का सामीप्य, इ. बातें चाहिए। विषय के साथ विभिन्न प्रकार के सन्निकर्षों में से योग्य सन्निकर्ष चाहिये, विषय के अधिक भाग के साथ संबंध इ. प्रत्यक्ष के गुण हैं। इसी प्रकार अनुमान ज्ञान में गुण होना साध्यवान पर्वत में 'साध्यव्याप्यहेतुविशिष्टपक्ष' है इस प्रकार का परामर्श। इसी प्रकार ज्ञान के अलग-अलग प्रकारों के

अनुसार ये गुण भी अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अप्रामाण्य के जनक ज्ञान के जनक कारणों से अतिरिक्त दोष हैं यथा नेत्र-गत पित्तादि दोष, दूरस्थ दोष, अंधकार इ.। ये दोष अगणित हो सकते हैं। इस प्रकार न्याय-मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य में उत्पत्तिपरतस्त्व सिद्ध किया जाता है।

उत्पत्तिपरतस्त्व के साथ ही ज्ञप्ति परतस्त्व भी विचार द्वारा सिद्ध किया जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि ज्ञान जिस ज्ञान से जाना जाता है उसी ज्ञान से ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य नहीं जाने जाते। उदा. अनुव्यवसाय से ज्ञान जाना जाता है, लेकिन उससे प्रामाण्य-अप्रामाण्य नहीं जाने जाते। प्रामाण्य-अप्रामाण्य तो अनुक्रम से सफल प्रवृत्ति अथवा विफल प्रवृत्ति द्वारा अनुमेय हैं। मुझे जल का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का प्रामाण्य मैं तभी अनुमान से निर्धारित करता हूँ जब मैं इसे पीकर प्यास बुझा सकता हूँ या जल द्वारा संपाद्य अन्य कोई उपयोग कर सकता हूँ। यदि मैं इन बातों में विफल होता हूँ तो ज्ञान के अप्रामाण्य का अनुमान करता हूँ। स्वत: प्रामाण्य मत में प्रामाण्य-विषयक संशय की उत्पत्ति नहीं जग सकती। इस प्रकार न्याय-मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का परतस्त्व सिद्ध किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक स्थल में हम अनुमान करते बैठें। परिचित विषयों में एक बार का प्रामाण्य का अनुमान आगे भी काम दे सकता है। केवल अनभ्यस्त या नवीन स्थलों में ही अनुमान आवश्यक हो जाता है। लेकिन परिचित स्थलों में भी प्रामाण्य स्वत: होता हो यह बात नहीं। यहाँ भी अनुमान अप्रकटतया रहता ही है। इससे व्यवहार-सौकर्य होता है। यह है संक्षेप में इस वादग्रस्त विषय में न्याय-मत। अब हम इस मत की संक्षेप में समीक्षा करें।

न्याय दर्शन का अप्रामाण्य-परतस्त्व अंश युक्ति-युक्त तथा ग्राह्य है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति दोष से एवं ज्ञप्ति विफल-प्रवृत्ति-मूलक अनुमान से होती है। लेकिन इस दर्शन का प्रामाण्य-परतस्त्व रूप अंश दोष-दूषित मालूम होता है। पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा ग्रंथों में इस मत की विस्तृत समीक्षा की गई है। यहाँ सिर्फ प्रामाण्य-परतस्त्व के विरुद्ध प्रमुख युक्तियाँ दी जाती हैं। बौद्ध-दर्शन की समीक्षा के समय प्रामाण्य-परतस्त्व के विरुद्ध हमने कुछ युक्तियाँ उद्भावित की हैं, वे भी न्यायमत के विरुद्ध इस अंश में लागू समझी जाँय। नीचे दी हुई अन्य युक्तियाँ किसी भी प्रकार के प्रामाण्य-परतस्त्ववाद के विरुद्ध उपस्थित की जा सकती हैं।

प्रामाण्य-परतस्त्व का अर्थ यह होता है कि कोई भी ज्ञान स्वयं प्रमाण न होकर अपने प्रामाण्य के लिये अन्य कुछ बाहरी शर्तों पर अवलंबित होता है। अब यहाँ पर मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम इन शर्तों की पूर्ति को प्रामाण्य का कारण क्यों समझते हैं? या तो इन शर्तों की पूर्ति के साथ ही ज्ञात होने वाला प्रामाण्य स्वयंप्रभ होना चाहिये या इन शर्तों की पूर्ति के साथ ही प्रामाण्य प्रकट न होकर किन्हीं और शर्तों पर अवलंबित होता है। दूसरे विकल्प में अनवस्था अपरिहार्य हो जाती है। अन्ततोगत्वा पहिले विकल्प की कहीं न कहीं शरण लेनी पड़ती है। फिर इतना द्राविड़ी प्राणायाम करने के स्थान पर प्रारंभ से ही स्वत: प्रामाण्य क्यों न मान लिया जाय? प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों में परतस्त्व मानने से अनेकानेक दोष आते हैं जिनका परतस्त्व-वादियों के पास कोई ठीक समाधान नहीं। इन दोषों में अनवस्था मुख्य दोष है। प्रामाण्य ज्ञान को किसी बाह्य कारण पर अवलंबित मानने में उक्त कारण के प्रामाण्य का निर्धारण पहले करना पड़ेगा और यही कम चालू रखने से अनवस्था आती है। इसका अर्थ होता है कि ज्ञान का प्रामाण्य किसी बाह्य कसौटी पर अवलंबित न होकर ज्ञान स्वयं ही प्रमाण होता है। दोष के कारण यह प्रामाण्य कुछ काल के लिये प्रतिबद्ध हो जाय यह बात दूसरी। या यह कहें कि जहाँ दोष होता है वहाँ प्रामाण्य नहीं होता। अर्थ-क्रियाकारित्व (Pragmatic Tests) संवाद (Coherence) या बाधा-भाव (Non-contradiction) इनमें से कोई भी प्रामाण्य की बाह्य कसौटी नहीं हो सकती। अर्थ-क्रियाकारित्व तथा संवाद स्वप्न में भी मालूम होते हैं। भ्रमकाल में बाध नहीं प्रतीत होता। कुछ काल

के अनन्तर वह प्रतीत हो सकता है। सर्वकाल तथा सर्व देश में बाध का अभाव सर्वज्ञ ईश्वर के सिवाय अन्य किसी को संभव नहीं। ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने स्वयं की उत्पत्ति के लिये कुछ कारणों की अपेक्षा रखता है। एक बार उत्पन्न होने पर उसमें अपने विषय के प्रकाशन का सामर्थ्य स्वयं ही रहता है। या तो ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता; यदि उत्पन्न होता है तो विषय-प्रकाशन के लिये गुणादि की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के परतस्त्व में उपर्युक्त दोष हैं।

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के परतस्त्व में एक बड़ा आक्षेप यह है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञान को नि:स्वभाव मानना पड़ता है अर्थात् ऐसी स्थिति में न तो वह प्रमाण ही है, न अप्रमाण। लेकिन सार्वजनीन अनुभव तो यह है कि ज्ञान या तो प्रमाण होता है या अप्रमाण। तटस्थ या उदासीन या नि:स्वभाव ज्ञान में कोई प्रमाण नहीं। ज्ञान या तो अपने विषय का अवधारण करता है या नहीं करता। अवधारणा या अनवधारणा दोनों नहीं करता यह बात अनुभव के विरुद्ध है। यहाँ यह न भूलना चाहिये कि संशय की गणना अप्रामाण्य में की गई है।

प्रामाण्य-परतस्त्व पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष भी है। प्रामाण्य का ज्ञान सफल प्रवृत्ति के द्वारा होता है और बिना प्रामाण्यज्ञान के सफल-प्रवृत्ति संभव नहीं। यदि ऐसा न हो तो भ्रमज्ञान में भी सत्य वस्तु की उपलब्धि होनी चाहिये। अर्थात् सफल-प्रवृत्ति प्रामाण्यज्ञान-मूलक होनी चाहिये। इस प्रकार परस्पराश्रय अपरिहार्य हो जाता है।

क्या प्रामाण्यनिश्चय के बिना हम किसी बात में प्रवृत्त नहीं होते ?-नैयायिक द्वारा यह प्रश्न पूछा जा सकता है। प्रामाण्यनिश्चय के बिना भी हम प्रवृत्त होते हैं लेकिन यह प्रवृत्ति नि:शंक नहीं होती, यह साशंक होती है। इस साशंकता के कारण प्रवृत्ति के स्थान पर हम किसी कार्य विशेष से निवृत्त भी हो सकते हैं। अतएव यह व्याप्ति की जा सकती है कि जहाँ-जहाँ नि:शंक प्रवृत्ति होती है वह प्रामाण्य-निश्चय के अधीन ही होती है [४]। न्यायमत में ऐसे स्थलों में केवल अप्रामाण्य का अभाव माना जाता है क्योंकि प्रामाण्य-निश्चय तो सफल प्रवृत्ति के बाद होता है। लेकिन वेदान्त के आचार्य इस बात से सहमत नहीं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से अपने अनुभव का हम विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि वेदान्तियों का पक्ष ही ठीक है। नि:शंक प्रवृत्ति के समय हमें ऐसा उत्कट प्रामाण्य-निश्चय होता है कि उक्त प्रामाण्यनिश्चय के बारे में संदेह ही नहीं होता। यद्यपि यह संभव है कि किसी दोष के कारण हमारा यह निश्चय आगे चलकर हिल जाय और हमारा ज्ञान भ्रम सिद्ध हो जाय। लेकिन ऐसे स्थलों पर भी हमें आश्चर्य का जो धक्का लगता है वह हमारे मन में रहने वाले, प्रामाण्यनिश्चय के कारण ही लगता है। ज़रा भी प्रामाण्य में संदेह होने पर मानो हम चौकन्ने हो जाते हैं और धक्के से बच जाते हैं। याद रखना चाहिये कि यह प्रामाण्यनिश्चय सफल प्रवृत्ति से पूर्व ही होता है, अनंतर नहीं। इसका अर्थ होता है कि ज्ञान का प्रामाण्य किन्हीं बाह्य कारणों पर अवलंबित नहीं होता। वह स्वत: अर्थात् ज्ञान के साथ ही ज्ञान-कारणों से जन्य होता है।

न्याय-मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति में गुण को कारण माना गया है। यह ज्ञान के जनक कारणों से अतिरिक्त होता है, अतएव उत्पत्ति में प्रामाण्य-परतस्त्व होता है। इसके विरुद्ध वेदान्ती तथा मीमांसकों का प्रश्न यह है कि यह तथाकथित गुण क्या पदार्थ है ? क्या यह ज्ञान कारणों से अतिरिक्त कुछ है या हो सकता है ? इस दृष्टि से विचार करने पर मालूम होता है कि इस गुण का अर्थ सिर्फ कार्यक्षम चक्षु इत्यादि ही हो सकता है। अर्थात् गुण-शब्द से ज्ञान की जनक सामग्री में दोषों के अभाव का होना ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त गुण का कुछ अर्थ नहीं। यदि कहा जाय कि दोषाभाव प्रामाण्य का जनक है और इस तरह परत: प्रामाण्य ही सिद्ध होता है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि दोषाभाव कारणता की दृष्टि से अन्यथासिद्ध है। वह प्रामाण्य का साक्षात् कारण न होकर परंपरया कारण है। दोषाभाव सिर्फ दोषों का

प्रतिबंध करता है, दोषों का उद्‌भव नहीं होने देता। इस कारण अप्रामाण्य को भी अवकाश नहीं मिलने पाता जो दोषमूलक होता है। प्रामाण्य तो स्वत: ही होता है अर्थात् ज्ञान जनक कारणों से ही उत्पन्न होता है, अतिरिक्त कारणों से नहीं।

इसके सिवाय गुण द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति मानने में और भी दोष हैं। एक दोष तो यह है कि प्रत्येक प्रमा ज्ञान में अनुगत हो ऐसा कोई गुण नहीं बताया जा सकता। कार्य-कारण की दृष्टि से यह एक बड़ा भारी दोष है। दूसरा दोष है व्यभिचार। कुछ स्थलों में गुण के बिना भी प्रमा ज्ञान होते हुए हम पाते हैं और अन्य कुछ स्थलों में गुण के रहते हुए भी प्रमा ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा गुण तथा प्रामाण्य की उत्पत्ति का कार्यकारण-भाव सिद्ध नहीं होने पाता। लेकिन कारण तो अपने कार्य कि नियतपूर्ववर्ती होना चाहिए यह बात नैयायियों को भी मान्य है। अब हम इस व्यभिचार के उभयविध उदाहरण भी देख लें। प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय के अधिकांश भाग के साथ इन्द्रियसंबंध गुण माना गया है। रूपादि निरवयव पदार्थों का प्रत्यक्ष तो होता है लेकिन वहाँ 'भूयोअवयवइन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं होता।' जहाँ अवयव ही नहीं वहाँ 'भूयो-अवयव-सन्निकर्ष' कैसे संभव है ? अब हम दूसरे प्रकार के व्यभिचार का उदाहरण लें। उक्त गुण के रहते हुए भी हम यह पाते हैं कि ज्ञान प्रमात्मक न हो कर भ्रमात्मक ही होता है। मान लीजिए गाय के शरीर के अधिकांश भाग से इंद्रियसन्निकर्ष है लेकिन हम केवल सास्ना नहीं देख पाये; तो ऐसी स्थिति में हम भ्रम से गो को तत्सदृश अन्य प्राणी गवय समझ बैठने की भूलकर सकते हैं। 'सास्नावत्त्व' यह गो का लक्षण है। इसे न देख सकने के उक्त भ्रम बहुत कुछ संभव हैं। इसी प्रकार गुण के रहते हुए भी श्वेत शंख को हम पीला समझ सकते हैं। अनुमान में भी इस प्रकार का व्यभिचार दिखलाया जा सकता है, मान लीजिए वह्नियुक्त पर्वत पर हम धूलिपटल देखते हैं। इस धूलिपटल को ही हम भ्रम से धूम समझ कर पर्वत में वह्नि का अनुमान करते हैं। यहाँ हमें अभिप्रेत गुण के न रहते भी प्रमात्मक अनुमिति होती है। यह बात न्यायशास्त्र भी स्वीकार करता है।

गुण को प्रामाण्य का जनक अर्थात् इस प्रकार प्रामाण्य को परत: मानने में एक और दोष है। भ्रम-स्थल में गुण का सर्वथैव अभाव रहता है यह बात निर्विवाद है। उदा. नेत्र में पित्तादि रोग के कारण जब श्वेत वस्तु पीली दिखाई देती है तब न्याय-मत में ऐसे स्थल में गुण नहीं रहता और तज्जन्य प्रामाण्य भी नहीं रहता। लेकिन ऐसे स्थलों में भी हम बहुत कुछ सत्य पाते हैं। उस श्वेत वस्तु का रूप, उस वस्तु की जाति इ. बातें सत्य होती हैं। केवल श्वेत रंग को हम पीत समझते हैं इतना ही भ्रम है। कोई भी भ्रम या असत्य ज्ञान सर्वथा भ्रम या असत्य नहीं होता। उसमें सत्यानृत का मिश्रण रहता है, यह बात क्या पौर्वात्य क्या पाश्चात्य अनेक दार्शनिक मानते हैं। निरधिष्ठान भ्रम नहीं होता, इस न्याय से कम से कम भ्रम में अधिष्ठान तो सत्य होना ही चाहिये। इस विवेचन से प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध होता है। परत: प्रामाण्य पक्ष में इस तथ्य की सम्यक् उपपत्ति नहीं लग सकती। ऐसे स्थलों में अप्रामाण्य का अंश दोषमूलक अतएव परत: होता है, प्रामाण्य स्वत: ही होता है।

नव्यन्याय के आचार्यों ने ज्ञान के कुछ विशिष्ट प्रकारों में स्वत: प्रामाण्य स्वीकार करना ही उचित समझा। इस विषय में प्राचीन नैयायिकों के साथ उनका वैमत्य है। प्राचीन नैयायिकों का किसी भी ज्ञान का परत: प्रामाण्य सिद्ध करने पर आग्रह है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इनके बाहर जाने की आवश्यकता इन्हें प्रतीत नहीं होती। इन्हीं के सहारे परत: प्रामाण्य निर्धारित किया जा सकता है। इसलिये एक ही ज्ञान कभी तो अन्य द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, कभी वह अन्य के प्रामाण्य की सिद्धि भी कर सकता है। लेकिन नव्यन्याय के आचार्य इनसे सहमत नहीं। उनके अनुसार संशयाभाव की स्थिति में प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध करते बैठना अनावश्यक अतएव व्यर्थ है। बाध-काल तक ऐसे ज्ञान का प्रामाण्य स्वयंप्रभ है। बिना किसी समुचित कारण के व्यर्थ की शंका निष्प्रयोजन ही है। किसी

भी ज्ञान की प्रामाण्य-सिद्धि के लिये यह आवश्यक नहीं कि तद्विरूद्ध अन्य संभावनाओं का हम निषेध करते बैठें। जिस ज्ञान के बारे में हमें कोई योग्य तर्क-संगत संशय नहीं होता उस ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य मानने में इनके अनुसार कोई हानि नहीं। अनुमान, उपमान, अनुव्यवसाय ये स्वयं प्रमाण ज्ञान के उदाहरण हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान तथा शास्त्रज्ञान में स्वयं ही प्रामाण्य नहीं हो सकता। लेकिन अनुमान, अनुव्यवसाय केवल धर्मि-ज्ञान आदि स्वयं ही प्रमाण हैं। इनके प्रामाण्य के लिये अनुमानांतरादि की आवश्यकता नहीं, अन्यथा अनवस्था होगी[५]। इसके सिवाय अनुमानादि ज्ञान के प्रकारों में हेतु तथा साध्य की व्याप्ति, सादृश्यज्ञान इ. अच्छी तरह से देख-परख कर निश्चित किये जाते हैं। अतएव ऐसे स्थलों में निस्संदिग्ध प्रामाण्य होता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तववादी न्यायमत सुसंगत रूप से परत: प्रामाण्य पक्ष की रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं हो पाता। जैसा कि हम प्रारंभ में कह आये हैं प्रामाण्यवाद भारतीय दर्शन में अपना अनोखा महत्त्व रखता है तथा सत्यासत्य के महत्त्वपूर्ण प्रश्न के अंतर्तम रहस्य की थाह लेता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यद्यपि न्यायदर्शन का अप्रामाण्य परतस्त्व अंश सर्वथा समुचित जान पड़ता है तथापि प्रामाण्यपरतस्त्व अंश में न्याय-दर्शन का युक्तिवाद समर्थनीय एवं समाधानकारक नहीं कहा जा सकता। अथवा सच बात तो यह है कि कोई भी वास्तववादी दर्शन प्रामाण्य के परतस्त्व की सम्यक् उत्पत्ति नहीं लगा सकता। इसीलिये पूर्वमीमांसा के धुरंधर विद्वान् आचार्यों को दार्शनिक दृष्टि से प्राय: वास्तववादी होते हुए भी हम स्वत: प्रामाण्यवाद का समर्थन करते हुए पाते हैं। इस प्रकार हम चतुर्थ पक्ष तक आ पहुँचे। यह मत वेदांतियों को भी सम्मत है। व्यावहारिक बातों में यथा प्रमाणों की संख्या, प्रामाण्य आदि में वेदान्ती मीमांसा दर्शन का अनुसरण करते हैं - 'व्यवहारे भाट्टन्याय:'।

इस अंतिम पक्ष में प्रामाण्य स्वत: है, अप्रामाण्य परत:। स्वत:-प्रामाण्य-पक्ष में 'स्व' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। 'स्व' शब्द या तो आत्मवाची या आत्मीय वाची इन दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। प्रथम कल्प में स्व शब्द आत्मवाची होने से उससे ज्ञानपरत्व अभिप्रेत है। इस अर्थ से प्रामाण्य ज्ञान के स्वरूप से ही होता है गुण ज्ञान, संवादज्ञान इ. से नहीं क्योंकि वैसा मानने से अनवस्था अपरिहार्य हो जाती है। जिस संवाद इ. ज्ञान से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य किया जाता है उसका प्रमात्व तदन्य ज्ञान से लेना पड़ेगा, उसका और दूसरे ज्ञान से इ. कहीं तो भी जाकर स्वत: प्रामाण्य का आश्रय लेना ही पड़ता है तो फिर पहले से ही स्वत: प्रामाण्य क्यों न मान लिया जाए ? 'न्यायरत्नमाला' में पार्थसारथिमिश्र कहते हैं- ''आत्मवाची स्व शब्दोऽयं स्वतो भाति प्रमाणता।'' यह पक्ष भी समीचीन ही है। दूसरे कल्प में स्व शब्द आत्मीयवाची है। इस पक्ष में ज्ञान का प्रामाण्य 'स्वीय' करणों से होता है, गुणादि बाह्य कारणों से नहीं। प्रस्तुत निबंध में हमने अभी तक 'स्व' शब्द का 'स्वीय' अर्थ की दृष्टि से ही विवेचन किया है, वेदान्त तथा पूर्व मीमांसा के ग्रंथों में अधिकतर इसी पक्ष का पुरस्कार किया हुआ हम पाते हैं। इस पक्ष के अनुसार ज्ञान की जनक सामग्री से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, गुणादि बाह्य कारणों से नहीं और प्रामाण्य ग्रह में भी स्वतस्त्व है अर्थात् ज्ञानग्राहक सामग्री द्वारा ही ज्ञान का प्रामाण्य भी जाना जाता है, अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं। ज्ञान-ग्राहक सामग्री क्या है इस विषय में पूर्वमीमांसा के आचार्यों, यथा श्री कुमारिलभट्ट, प्रभाकर तथा मुरारि मिश्र में मतभेद है[६]। वैसे ही वेदान्त में ज्ञानग्राहक सामग्री साक्षी है। फिर भी इस बात में सब एकमत हैं कि प्रामाण्यग्रह स्वत: ही होता है, अर्थात् ज्ञान ग्राहक सामग्री द्वारा ही होता है, बाह्यत: नहीं। लेकिन अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: अर्थात् दोष द्वारा होती है। कोई भी दोष इनकी जनक सामग्री के घटक नहीं हो सकते, अतएव अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: होती है, यह कहना ठीक ही है। इसी प्रकार ज्ञान-ग्राहक सामग्री द्वारा ही अप्रामाण्य का ग्रहण नहीं

हो सकता। वह तो बाध-ज्ञान या दोष-ज्ञान द्वारा होता है। उदा. शुक्ति को हम भ्रम से रजत समझ बैठे। यहाँ यदि ज्ञान का अप्रामाण्य यदि ज्ञान के साथ ही ग्रहण किया जा सके तो भ्रम ही न हो। यह अप्रामाण्य तो बाध-काल में 'यह रजत नहीं' इस बाधक ज्ञान द्वारा मालूम होता है। या यदि हम श्वेत वस्तु को नेत्रगत दोष से पीली समझते हैं, तो इस दोष-ज्ञान द्वारा भी हम पीत ज्ञान को अप्रमाण समझ सकते हैं।

हमने अभी तक प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य विषयक विभिन्न मतों की साधक-बाधकतया चर्चा की है। अब प्रश्न यह है कि इन पक्षों में कौन सा सबसे अधिक समीचीन है ? इस प्रश्न का उत्तर सरलता से नहीं दिया जा सकता। सत्यासत्य का प्रश्न तात्त्विक प्रश्नों से निगड़ित है। इन सब की चर्चा करनी होगी। प्रत्येक दर्शन अपनी-अपनी विशिष्ट प्रक्रियानुसार अपने पक्ष का समर्थन करके हमारे दैनंदिन अनुभव की व्यवस्था लगाता ही है। फिर भी अधिक वास्तविक गहराई में न उतर कर और इस प्रश्न को सत्यासत्य तक ही मर्यादित रखकर हम इस विषय में अपना अभिप्राय व्यक्त करना चाहते हैं। दार्शनिक विषय में हम सर्वथा उदासीन और तटस्थ नहीं रह सकते। कोई भी विचारक मनुष्य वाद-ग्रस्त प्रश्नों के बारे में अध्ययन करते हुए या सोचते हुए अपनी वैचारिक प्रतिक्रिया तथा किसी विशिष्ट पक्ष की ओर सयुक्तिक अनुकूल या प्रतिकूल अभिप्राय दिये बिना नहीं रह सकता। यह भी संभव है कि वह विचार के द्वारा प्रचलित मतों के अतिरिक्त नवीन किसी मत का पुरस्कार करे। हमें तो प्रस्तुत सब विकल्पों में अंतिम मत ही समीचीन जान पड़ता है। इसके दोनों अंश प्रामाण्य या स्वतस्त्व तथा अप्रामाण्य का परतस्त्व इस प्रश्न की तह तक पहुँचे हुए अतएव उपादेय मालूम होते हैं। इस संबंध में विचारणीय प्रश्न यह है कि उत्सर्ग याने सर्वसाधारण नियम किसे मानना और अपवाद किसे मानना। यदि अपने व्यवहार की ओर हम सूक्ष्मता से ध्यान दें तो हमें पता चलता है कि ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य को ही हम उत्सर्ग मानकर व्यवहार करते हैं, अप्रामाण्य उत्सर्ग नहीं हो सकता। वह तो अपवादभूत ही होता है और हो सकता है। इसी दृष्टि से मीमांसा के आचार्य इस निर्णय पर पहुँचे :-

यस्मात् स्वत: प्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम्।
बाधकारणदुष्टत्वबोधाभ्यां तद्पोद्यत इति ॥

टीका - स्थितं प्राप्तं प्रतिपन्नमित्यर्थ:। सर्वत्रेति न केवलं प्रमाणेषु ज्ञातमात्रे इति यावत्।

-न्यायरत्नमाला पृ. ३४

जैसा विषय है वैसा ही उसे बतलाना यही ज्ञान का प्रामाण्य है। यह ज्ञान की स्वाभाविक शक्ति है। यदि स्वयं ज्ञान में यह शक्ति ज्ञान को प्रदान न हो तो अन्य किसी में यह शक्ति नहीं हो सकती और न अन्य किसी द्वारा यह शक्ति ज्ञान को प्रदान की जा सकती है। इसीलिए ज्ञान में यह शक्ति न मानने से जगदान्ध्य प्रसंग ही आ जायगा - यह स्वत:प्रामाण्यवादियों का आक्षेप सयुक्तिक ही मालूम होता है। किसी एक जगह स्वतस्त्व न मानने से सर्वत्र परतस्त्व से पीछा नहीं छूट सकता। लेकिन ज्ञान में ही प्रामाण्य का स्वतस्त्व मान लेने से सब व्यवस्था ठीक हो जाती है। कोई भी ज्ञान जिसके द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण किया जाता है - यह कहा जाता है, माने तो तथाकथित प्रामाण्य-ग्राहक ज्ञान स्वयं अप्रमाण होकर अन्य ज्ञान का प्रामाण्य नहीं बतला सकता। उसका प्रामाण्य-निर्धारण अन्याधीन होने से अनवस्था में पर्यवसान होता है। यदि कहा जाय कि घर न होते हुए ही हम भ्रम में घर समझते हैं तो यह स्वत: प्रामाण्य कैसा ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुत: यहाँ भी सामान्य नियम या उत्सर्ग के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य ही प्राप्त है, अप्रामाण्य नहीं; किन्तु दोष की उपस्थिति के कारण, इस आगंतुक कारण द्वारा स्वाभाविक प्रामाण्य उत्पन्न नहीं होने पाया। यदि दोष न होता तो जैसी वस्तु है वैसी ही उसे हम समझते। ध्यान देने लायक मजे की बात तो यह है कि अप्रमाण भी अपने स्वयं के अर्थ में स्वत: प्रमाण

की तरह ही होता है। भ्रम में भ्रम रूप वस्तु जैसी है वैसी ही उसे बतला कर रजत ही है, अरजत नहीं, - इस तरह अप्रमाणज्ञान भी अपने विषय में स्वत: प्रमाण की तरह होकर तदनुसारी व्यवहार कराता है। यह बात अवश्य है कि अप्रामाण्य स्वयं अपना स्वरूप नहीं बतला सकता। अप्रामाण्य ग्रहण के लिये भ्रमात्मक व्यवहार की निवृत्ति मूलक अन्य ज्ञान की अपेक्षा रहती है। अप्रामाण्य की सिद्धि हमेशा परत: ही हो सकती है। स्वत: नहीं। यह बाधक ज्ञान स्वयं प्रमाण होना चाहिये या कम से कम व्यवहार में प्रमाण की तरह ही ग्रहण किया जाना चाहिये। कोई भी ज्ञान अप्रमाण इसीलिये होता है कि वह बाधितार्थविषयक है। यह बाधितार्थ विषयकत्व प्रमाण हुए बिना अप्रमाणत्व ही सिद्ध न हो सकेगी। इसका अर्थ यह होता है कि अप्रामाण्य अप्रामाण्य है यह निणर्य प्रामाण्य द्वारा होता है। लेकिन इसके विपरीत वस्तु-स्थिति है। ऐसा कोई भी ठीक होश-हवास वाला मनुष्य नहीं कह सकता। प्रामाण्य स्वत: ही होता है इसलिये उसकी सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि किसी भी बाह्य कसौटी द्वारा ज्ञान का प्रामाण्य निर्धारितनहीं किया जा सकता है। प्रैग्मेटिज्म में भी इसी प्रकार की कसौटी प्रामाण्य-निर्णय के लिये काम में लाई जाती है। लेकिन क्या यह कसौटी अव्यभिचरिततया ज्ञान का प्रामाण्य बतला सकती है ? विचार करने पर इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक ही मिलता है। स्वप्न में स्वाप्न जल से भी प्यास बुझती है तथा अन्य स्वाप्निक सुखोपभोगों के साधनों द्वारा सुख मिलता है तो क्या इस प्रकार की अर्थ-क्रिया द्वारा ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो सकता है ? जब उक्त अर्थ-क्रिया का ज्ञान स्वयं अर्थ-क्रिया का ही प्रामाण्य नहीं बतला सकता तब वह जैसा पदार्थ है वैसा उसे किस प्रकार बतला सकता है। यह सामर्थ्य तो ज्ञान में स्वयं ही मानना पड़ेगा। यदि यह सामर्थ्य ज्ञान में न हो तो अन्य किसी में संभव नहीं। इस प्रकार प्रामाण्य मात्र का उच्छेद हो जायगा। इसी का नाम जगदांध्य प्रसंग है। इसीलिये प्रामाण्य-परतस्त्व को मूलोच्छेद-कर पक्ष कहा गया है। अनुमान के लिये भी तो व्याप्ति इ. लेनी पड़ती ही है। इसलिये अनुमान-प्रवृत्ति से पूर्व ही घट-ज्ञान से ही घट-निश्चय स्वीकार करना पड़ता है। गुण-ज्ञान तथा संवाद-ज्ञान की भी यही स्थिति है। गुण-ज्ञान के गुण-निश्चय भी संभव नहीं, पूर्वज्ञान का प्रामाण्य तो दूर रहा। संवाद भी इस विषय में समकक्ष है। किसी विषय का ज्ञानान्तर ही संवाद है। उसमें पूर्व-ज्ञान में ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण प्रथम अनिश्चित ज्ञान को वह निश्चित कर सके ?[७] प्रामाण्य-निर्णायक अन्य ज्ञान यदि उसी वस्तु का है, तो यह उस वस्तु के प्रथम ज्ञान की ही एक तरह से पुनरावृत्ति है। अतएव उसके स्वयं के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता है। वह स्वयं प्रामाण्य-निर्णय की दृष्टि से यत्किंचित् भी उपयोगी नहीं। यदि प्रामाण्य-निर्णायक दूसरा ज्ञान मूल वस्तु से भिन्न वस्तु का है तो स्पष्ट ही वह प्रामाण्य-निर्णय की दृष्टि से किसी काम का नहीं। कुर्सी का ज्ञान भला टेबल के ज्ञान के प्रामाण्य-निर्णय में किस प्रकार सहायक हो सकता है ? तात्पर्य यह कि सब तरह से विचार करने पर हमें प्रामाण्य-स्वतस्त्व का ही आश्रय लेना पड़ता है। ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य के साथ ही इसी का उपसिद्धान्त यह मानना पड़ता है कि ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति दोष द्वारा होती है तथा ज्ञप्ति दोषज्ञान द्वारा या बाधज्ञान द्वारा। प्रत्येक ज्ञान स्वरूपत: ही सत्य है। वह प्रामाण्य लेकर ही उत्पन्न होता है। यदि किसी आगन्तुक दोष का प्रवेश न हो गया हो तो हमें ज्ञान के प्रामाण्य के बारे में संदेह का अवकाश ही नहीं रहता। लेकिन दोष-मूलक अप्रामाण्य, ज्ञान का स्वरूप कदापि नहीं हो सकता, न उसका ज्ञान स्वयं हो सकता है। ज्ञान के निस्संदिग्ध प्रामाण्य के लिये सिर्फ एक अभावात्मक शर्त आवश्यक है कि दोष का अभाव हो। इसके अतिरिक्त अन्य बाह्य भाव रूप कारण की आवश्यकता नहीं। ज्ञान स्वयं ही प्रामाण्य की दृष्टि से समर्थ है।

अब हम ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य के विरुद्ध प्रतिपक्षियों द्वारा उद्भावित आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न करें।

(१) स्वत:-प्रामाण्य के विरुद्ध नैयायिकों का मुख्य आक्षेप है 'संशयानुपपत्ति:' 'प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तित:' । भाषा परिच्छेद

टीका - यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो स्यात् तदाऽनभ्यासदशापन्न: ज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात् । तत्रहि यदि ज्ञानं ज्ञातं तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेवेति कथं संशय: । – न्यायमुक्तावली

यदि प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है अर्थात् ज्ञान-ग्राहक सामग्री द्वारा ही जाना जाता हो तो प्रत्येक ज्ञान के साथ उसका प्रामाण्य भी जाना जायगा, अतएव किसी भी ज्ञान के बारे में 'यह ज्ञान प्रमा है या अप्रमा' इत्याकारक संशय नहीं उठाना चाहिए, लेकिन किसी नवीन विषय के अर्थात् अपरिचित विषय के ज्ञान में इस प्रकार का संशय सर्वानुभवसिद्ध है । संशय अपने स्वरूप से ही किसी भी प्रकार के निश्चय का विरोधी होता है । अतएव उक्त संशय से यह सिद्ध होता है कि प्रस्तुत स्थल में ज्ञान का प्रामाण्य रूप निश्चय नहीं है । अर्थात् ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य न होकर अनुम्य होना चाहिये ।

उक्त आक्षेप का समाधान सिद्धान्तियों की दृष्टि से यह है कि कोई भी संशय अकारण न होकर सकारण ही होता है । हम प्रत्येक ज्ञान के स्थल में संशयित नहीं होते । जहाँ हमें संशय उत्पन्न होता है वहाँ संशय का कारण दोष अवश्य ही होना चाहिए । अतएव यद्यपि ऐसे स्थलों में भी उत्सर्गत: प्राप्त प्रामाण्य की प्रसक्ति है तथापि दोषवशात् उसका प्रतिबंध होता है । कारण-सामग्री में सब तरह के प्रतिबंधों का भी अभाव होना चाहिए । प्रस्तुत स्थल में दोष रूप प्रतिबंध होने से ही प्रामाण्य कार्यकारी नहीं हो पाता । "स्वत: प्रामाण्यस्यापि दोषबलात् अप्रामाण्यं विरुद्धम्" । इसके सिवाय यह भी देखने में आता है कि जो ज्ञान एक वादी को स्वत: प्रमाण है वह दूसरे की दृष्टि से वैसा नहीं होता। नैयायिक केवल धर्मी के ज्ञान को, अनुव्यवसायक, अनुमिति, तथा उपमिति इ. के ज्ञान को स्वत: प्रमाण मानते हैं लेकिन बौद्ध चार्वाकादि इन्हें इस प्रकार नहीं मानते [८]। कहने का तात्पर्य यह कि दोषवशात् संशय की उपपत्ति होती है । ज्ञान की ज्ञापक सामग्री दोषाभाव युक्त होगी तो संशय कदापि संभव नहीं । ऐसे स्थलों में भी प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व की योग्यता रहती ही है लेकिन दोष के कारण प्रामाण्य का ग्रहण नहीं हो पाता। इस प्रकार इस मत में संशय की भी उपपत्ति हो जाती है और स्वत: प्रामाण्य की भी रक्षा हो जाती है ।

उपर्युक्त आक्षेप से कुछ मिलता-जुलता आक्षेप यह है कि यदि ज्ञानोत्पादक सामग्री द्वारा ही प्रामाण्य उत्पन्न होता हो तो भ्रम ज्ञान भी ज्ञान होने के नाते उसी सामग्री से उत्पन्न होता है, उसमें भी प्रमात्वापत्ति आती है । इसका अर्थ यह होता है कि भ्रमज्ञान के उच्छेद का प्रसंग आयगा, और भ्रम ज्ञान की प्रमात्वापत्ति आयगी और प्रमाज्ञान की भ्रमत्वापत्ति ।

इस आक्षेप का समाधान यह है कि भ्रमज्ञान में ज्ञान की साधारण जनक सामग्री के अतिरिक्त दोष रूप कारण ही रहता है । दोष के बिना ज्ञान की साधारण सामग्रीमात्र से भ्रम कभी उत्पन्न नहीं हो सकता । जहाँ अप्रामाण्य है वहाँ उसका कारण दोष अवश्य होना ही चाहिए । किसी भी प्रकार के दोष के अभाव में ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य में कोई भी अपवाद नहीं हो सकता । यही कारण है कि जब दोषज्ञान द्वारा या बाधज्ञान द्वारा हम अप्रामाण्य को जान जाते हैं तब निर्दोष प्रामाण्य में हम किसी भी प्रकार का संदेह न करके यथार्थ वस्तुस्थिति पर पहुँचने का समाधान प्राप्त कर लेते हैं और ज्ञान के प्रामाण्य के बारे में निश्शंक हो जाते हैं ।

यहाँ पर यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि यह क्यों माना जाय कि द्वितीय ज्ञान ही प्रथम ज्ञान का बाधक है । द्वितीय ज्ञान भी भ्रांत हो सकता है । अतएव प्रथमज्ञान को ही अप्रमाण क्यों माना जाय ? द्वितीय ज्ञान का प्रामाण्य संशयित होने से तृतीय ज्ञान की शरण लेनी पड़ेगी । तृतीय ज्ञान में भी दोषशंका आ सकती है । इस प्रकार इस परंपरा का कहीं अंत न होगा । ऐसी स्थिति में ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य से क्या लाभ हुआ ?

इस शंका का समाधान यह है कि उपर्युक्त शंकागत दोष-परंपरा में भी ज्ञान का स्वत:प्रामाण्य तथा परत: अप्रामाण्य ही सिद्ध होता है। वह इस प्रकार। यह तो ठीक ही है कि द्वितीय ज्ञान भी भ्रान्त या संदिग्ध हो सकता है। ऐसी स्थिति में याने जहाँ दोष-वशात् द्वितीय ज्ञान में संदेहादि उत्पन्न होते हों वह तृतीय ज्ञान द्वितीय ज्ञान का स्वरूप निर्धारित कर सकेगा। यदि द्वितीय ज्ञान स्वयं भ्रांत, सदोष या बाधित सिद्ध होता है तो प्रथम या मूल ज्ञान का प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहता है। उसके बारे में आई हुई शंका तृतीय ज्ञान द्वारा द्वितीय ज्ञान का बाध होकर निकल जाती है। इस प्रकार द्वितीय ज्ञान का अप्रामाण्य बाधक रूप तृतीय ज्ञान द्वारा सिद्ध होता है। लेकिन प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य अन्य ज्ञान द्वारा सिद्ध हुआ हो यह बात नहीं। वह तो स्वत:प्रमाण ही है। उसके बारे में आई हुई शंका इ. का अन्य ज्ञान द्वारा निराकरण मात्र होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति अन्य ज्ञान द्वारा नहीं होती। अब ऐसा समझिये कि द्वितीय ज्ञान द्वारा प्रथम ज्ञान बाधित सिद्ध हुआ और तृतीय ज्ञान ने द्वितीय ज्ञान का ही समर्थन किया तो ऐसे स्थल में प्रथम ज्ञान का अप्रामाण्य द्वितीय ज्ञान ने सिद्ध किया। द्वितीय ज्ञान यदि प्रमाण है तो वह स्वत:प्रमाण ही है। तृतीय ज्ञान उसके बारे में शंका इ. की निवृत्ति द्वारा निषेधात्मक कार्य ही करता है, प्रामाण्य को नये रूप से जन्म नहीं देता। प्रामाण्य के बीच में आई हुई शंका इ. हटाना दूसरी बात है तथा प्रामाण्य की उत्पत्ति या ज्ञप्ति अन्य साधनों द्वारा होना इन दो बातों में महदंतर है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ प्रामाण्य देखने में आता है वहाँ-वहाँ वह स्वत: ही होता है। जहाँ-जहाँ अप्रामाण्य देखा जाता है वह परत: ही होता है। इस प्रकार उक्त उदाहरणों से सिद्धान्त का ही दृढ़ीकरण होता है। अब यह शंका शेष रह गई कि तृतीय ज्ञान प्रमाण क्यों माना जाय ? इसका समाधान यह है कि यदि वहाँ भी शंका हो तो चतुर्थ ज्ञान द्वारा निर्णय कर लिया जाय। लेकिन ऐसा अवसर ही प्राय: कम आता है। अधिक से अधिक एक या दो ज्ञान द्वारा ही हम वस्तु-स्थिति पर पहुँच जाते है। अप्रामाण्य के हेतु प्राय: देश, काल, अवस्था, इन्द्रियाँ, विषय इ. गत दोष ही तो होते हैं। साधारणतया ये दोष लोकप्रसिद्ध हैं। ये जहाँ संभव नहीं होते जैसे जागृति में, योग्य प्रकाश होने पर, इन्द्रियों के स्वस्थ होते हुए, विषय के सन्निहित होते हुए, ऐसे स्थल में दोष की आशंका बहुत ही कम होती है। दोष की आशंका के अभाव में अप्रामाण्य की शंका भी बहुत ही कम होती है। जहाँ दोषों की संभावना होती है वहीं अप्रामाण्य की भी संभावना होती है, अन्यत्र नहीं। हरेक जगह अकारण ही शंका कोई सार्वजनीन अनुभव नहीं। केवल ज्ञानत्व मात्र से शंका नहीं होती, क्योंकि संशय भी तो यों ही न होकर 'स्थाणु है या पुरष' इस उदाहरण में पाये जाने वाले उच्चैस्तरत्व रूप साधारण धर्म इ. के निश्चय के अधीन होता है। इसका अर्थ यह होता है कि कोई न कोई ज्ञान अवश्य ही ऐसे होने चाहिए जिनका प्रामाण्य निस्संदिग्ध हो। इसका अर्थ यह होता है कि अप्रामाण्य का संशय प्रामाण्य के ठोस आधार पर स्थित है। इसीलिये सर्वत्र आशंका उठते हुए हम नहीं पाते। जहाँ दूरत्वादि दोष के कारण अप्रामाण्य की शंका हो वहाँ पर समीप जाने से स्थाणु है या पुरुष यह निर्णय सुगमता से हो सकता है। अधिक से अधिक दो या तीन ज्ञान में यह निर्णय हो सकता है[१]। अतएव स्वत:प्रामाण्य के तथा परत: अप्रामाण्य के सिद्धान्त में सब व्यवस्था ठीक लग जाती है। लेकिन प्रारम्भ से ही प्रामाण्य का स्वतस्त्व न मानने वाले पक्षों में एवं अप्रामाण्य को ही स्वत: मानने वाले पक्षों में सत्यासत्य-विषयक सब व्यवस्था उलट-पुलट हो जाती है जिसमें से कोई समाधान-कारक हल नहीं मिलता।

इस विषय में एक और आपत्ति दी जा सकती है कि जैसे प्रामाण्य स्वतस्त्ववादी परत: प्रामाण्य मानने वालों पर अनवस्था का दोष देते हैं वैसे ही सिद्धान्ती द्वारा अप्रामाण्य परतस्त्व मानने के कारण उस पर भी यह अनवस्था रूप दोष क्यों न दिया जाय ?

उक्त आपत्ति का समाधान यह है कि स्वत: प्रामाण्य मानने के कारण ही यह दोष नहीं आ सकता। वह इस प्रकार। अनवस्था कौन सी स्थिति में आती है यह बात विचारणीय है। जहाँ कोई वस्तु

किसी अन्य वस्तु के अधीन होती है, केवल इतने ही से अनवस्था नहीं आ सकती। केवल पराधीनत्व मात्र अनवस्था के लिये पर्याप्त कारण नहीं है। अनवस्था तो तब होती है जब सजातीय वस्तु की अपेक्षा हो [१०]। उदाहरणार्थ परत: प्रामाण्यवाद मत में इस प्रकार की सजातीय वस्तु की अपेक्षा स्पष्टतया देखी जा सकती है। एक ज्ञान का प्रामाण्य अन्य ज्ञान के अधीन होता है। वह दूसरा ज्ञान प्रमाण होना चाहिये। लेकिन उसका प्रामाण्य अन्य प्रमाण ज्ञान के अधीन होता है, इत्यादि। यहाँ सजातीय पराधीनत्व है। लेकिन ज्ञान का अप्रामाण्य अन्य अप्रमाण ज्ञान के अधीन नहीं होता। वह इस प्रकार होता तो ही अनवस्था दोष की संभावना होती। ज्ञान का अप्रामाण्य तो दोषज्ञान या बाधज्ञान के अधीन है। लेकिन दोषज्ञान या बाधज्ञान स्वयं प्रमाण होने चाहिए। स्वयं अप्रमाण या अप्रामाण्यग्रस्त होकर वे पूर्वज्ञान को अप्रमाण करार नहीं दे सकते। 'यह रजत नहीं, शुक्ति है' यह ज्ञान यदि अप्रमाण होगा तो वह रजत है यह ज्ञान प्रमाण होगा, अप्रमाण नहीं। इस प्रकार अप्रामाण्य का पराधीनत्व सजातीय न होकर विजातीय है- प्रामाण्य के अधीन है। यह प्रामाण्य तो सिद्धान्ती ने स्वत: ही माना है। अतएव इस पक्ष में अनवस्था की कोई संभावना नहीं। लेकिन अनवस्था दोष प्रामाण्य-परतस्त्ववादी मत में अवश्य अपरिहार्य हो जाता है।

इस प्रकार हमने अब तक स्वत: प्रामाण्य के विरुद्ध दी गई कुछ आपत्तियों का अनुवाद करके उनका समाधान करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार की और भी अनेक आपत्तियाँ दी जा सकती है और उनका समाधान भी ऊपर बतलाई दिशा के अनुसार किया जा सकता है, अतएव व्यर्थ का विस्तार करने से क्या लाभ ? अत: अब हम उपसंहार की ही ओर मुड़ें।

उक्त स्वत:प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त को जब हम व्यावहारिक जीवन के अनुभव की दृष्टि से देखते हैं तब हम यह पाते हैं कि हम किसी भी ज्ञान को, वह प्रमाण या निर्दोष या अभ्रान्त नहीं है यह दावे के साथ नहीं कह सकते। भ्रम भी तो भ्रमकाल में ठीक सत्य जैसा ही मालूम होता है। अतएव किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य देखने के लिए हमें बाह्य कसौटियों की सहायता लेनी पड़ती है। यह बात शास्त्रकारों को मालूम न हो यह बात नहीं। साधारण अनुभव की सुसंबद्ध एवं सुसंगत व्याख्या, यही तो काम शास्त्र करता है। लेकिन फिर भी शास्त्रकारों ने स्वत:प्रामाण्य का सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसका क्या कारण है। इसका कारण सिर्फ इतना ही है कि तार्किक दृष्टि से विचार करने पर, तर्क की कसौटी पर स्वत: प्रामाण्य ही उतरता है, परत: प्रामाण्य नहीं। दार्शनिक विचार में तर्क-संगत या विचारयुक्त व्याख्या ही महत्त्व की बात है। इस दृष्टि से परत:प्रामाण्य पक्ष अत्यंत दोष-दूषित मालूम होता है। स्वत: प्रामाण्य पक्ष में बाह्य कसौटियाँ केवल प्रामाण्य के ऊपर आने वाली शंका, संदेह आदि का निराकरण करती हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करती। उनका काम केवल निषेधात्मक है। प्रामाण्यग्रह की उत्पत्ति करने में वे असमर्थ हैं। विचार करने पर यह पक्ष ठीक ही मालूम होता है।

अब दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न को भी जरा देख लें। दार्शनिक की तलाश त्रिकालाबाधित सत्य के लिये होती है; उस सत्य के लिये नहीं जो कुछ देर के बाद मिथ्या सिद्ध हो जाय अर्थात् बधित हो जाय। सत्यासत्य-विषयक यह छानबीन मुख्यत: इसीलिये होती है। इस दृष्टि से प्रश्न यह है कि क्या कोई सत्य ऐसा है जिसे हम स्वत:प्रामाण्य के सिद्धान्त के अनुसार प्राप्त कर सकते हैं,- ऐसा सत्य जो सर्वथा निर्दोष हो, जिसमें शंका की कोई संभावना न हो ? अद्वैत-वेदान्तानुसार हमारा व्याहारिक जगत् का समस्त ज्ञान अविद्या-दोषदूषित होने के नाते निर्दोष हो ही नहीं सकता। इस प्रकार का निर्दोष ज्ञान तो केवल आत्मज्ञान ही हो सकता है, लेकिन फिर व्यवहार-कालीन सत्य की क्या व्याख्या ? क्योंकि व्यवहार में भी भ्रम-प्रमा व्यवस्था तो है ही। इसका समाधान इस दर्शन में द्विविध प्रामाण्य मानकर किया जाता है। एक तो व्यवहारकालीन प्रामाण्य। इस प्रामाण्य के अधीन ही प्रातिभासिक

वस्तुओं का बाध होता है। लेकिन इस व्यावहारिक प्रामाण्य का बाध सिवाय आत्मज्ञान के या ब्रह्मज्ञान के अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकता। एक ही ज्ञान ऐसा है जो इसका बाधक है। इस ज्ञान के उदय होने तक व्यावहारिक वस्तुओं को प्रमाण मानकर ही चलना पड़ता है। भ्रम-प्रमा व्यवस्था भी स्वत:प्रामाण्य के सिद्धान्त के अनुसार ऊपर बतलाई रीति के अनुसार सम्यक्तया हो सकती है। लेकिन हम यही न समझ बैठें कि यह व्यावहारिक सत्य ही अंतिम सत्य है। इसलिये शास्त्रकार जगन्मिथ्यात्व और ब्रह्मसत्यत्व का सिद्धान्त सामने रखकर हमें हमारी मोहनिद्रा से जगाते हैं। जब इस परम सत्य का, अपने ही पारमार्थिक सच्चे स्वरूप का हम साक्षात्कार कर लेंगे तब इस अद्वैततत्त्वसाक्षात्कार द्वारा समस्त अविद्यादोष-ग्रस्त द्वैतात्मक प्रतीति ही न रहेगी, हम पूर्ण सत्य पर पहुँच जाएँगे और सत्यासत्यविषयक अंतिम निर्णय पर पहुँच कर पूर्ण समाधान तथा शान्ति प्राप्त कर लेंगे। यही इस विषय में परमार्थ सत्य है, अंतिम शब्द है, शेष मौन है।

***

संदर्भ सूची

१. *Theory of knowledge by A. D. Woozley, P. 129*

२. *इस संबंध में 'सर्वदर्शन-संग्रहकार' के निम्न दो श्लोक देखिये :-*

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: सांख्या: समाश्रिता: ।
नैय्यायिकास्ते परत: सौगताश्चरमं स्वत: ॥
प्रथमं परत: प्राहु: प्रामाण्यं वेदवादिन: ।
प्रमाणत्वं स्वत: प्राहु: परतश्चाप्रमाणताम् ॥

३. *"परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित् । मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति यदि हि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयमसमर्थे विज्ञानान्तरमपेक्षेत तत: कारणगुणसंवादर्थ-क्रियाज्ञानान्यपि स्वविषयभूत गुणाद्यवधारणे परमपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति न कश्चिदर्थो जन्मसहस्त्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेवोत्सीदेत् ॥" शास्त्रदीपिका पृ. २२ (निर्णयसार ग्रंथ)*

४. *तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) पृ. १२८ (निर्णयसागर) ।*

५. *अनुमानस्य तु परितोनिरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वतएव प्रामाण्यम्; अनुमेय अव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्। एतेन उपमानं व्याख्यातम् । अनुव्यवसायेऽपि अज्ञान अननुव्यवसायादित्यर्थ: । (वाचस्पतिकृतन्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका)*

६. *"गुरुमते व्यवसायात्मिका, मिश्रमते अनुव्यवसायात्मिका, भट्टमते ज्ञाततालिङ्गिका ।"*

७. *न्यायरत्नमाला (चौखंभा) पृ. ३६*

८. *चित्सुखी, पृ. १२४ ।*

९. *शास्त्रदीपिका (पृ. २३); श्लोकवार्त्तिक पृ. ६४ ।*

१०. *श्लोकवार्त्तिक पृ. ६३ ।*

परिच्छेद : चार

पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री

पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री

प्रो. पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री के अकादमिक जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में मुझे अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी। इतना अवश्य है कि शास्त्री जी १९६० के दशक में एम.ए. (संस्कृत), एम.लिट् (अंग्रेजी) एवं पी-एच.डी. से अलंकृत उन व्यक्तियों में एक थे जिनकी विशेषज्ञता एक से अधिक विषयों में मान्य की जाती थी। १९५० के लगभग शास्त्री जी सागर विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में प्रवक्ता रहे और दर्शन के क्षेत्र में उनकी ख्याति ऐसी थी कि माधव चिंगले एवं अर्जुन काश्यप जैसे लोग इनके आंग्लभाषीय लेकिन विशुद्ध भारतीय मन से लिखे गये आलेखों का हिन्दी अनुवाद करते थे। बाद में शास्त्री जी नागपुर विश्वविद्यालय चले गये और वहीं से अंग्रेजी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में सेवा निवृत्त हुए। संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा-साहित्य के विद्वान होते हुए भी इन्होंने दर्शनशास्त्र की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। इनकी प्रसिद्ध दार्शनिक कृतियाँ इण्डियन आइडियलिज्म - 2 भाग, सोशल एण्ड पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महाभारत एण्ड प्लेटोज रिपब्लिक एवं ऋग्वैदिक एस्थेटिक्स इत्यादि हैं।

*

स्फोटवाद

॥१॥

वैयाकरण शब्द को अविभाज्य मानते हैं। यदि हम शब्द को उसके अंगभूत अक्षरों (घटकावयवों) में तोड़ना चाहें तो हमें दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। प्रथमत: अक्षर न तो शब्द का अर्थ बताने योग्य हैं और न माना गया है। द्वितीय यह कि हम अक्षर को पुन: विभाजित नहीं कर सकते[१]। विभिन्न अक्षर मिलकर समस्त की रचना करते हैं, और इस समस्त से एक अभिनव एवं शक्तिविशेष का प्रादुर्भाव होता है, जो समस्त को अर्थपूर्ण बना देता है। भाव को स्पष्ट करने वाले इसी शक्ति-विशेष को "स्फोट" कहते हैं[२]। यह "स्फोट", जो श्रवणेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय, ध्वनि द्वारा स्पष्ट, एवं बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है, इन्हीं तीन तत्त्वों का समन्वित रूप एवं अविभाज्य इकाई है[३]। ध्वनि के विचार से 'शब्द' "स्फोट" के प्रकाशन का माध्यम है, और "स्फोट" ध्वनि, शब्द एवं अर्थ का समागम-केन्द्र (बिन्दु) है। शब्द सूचक है, अत: यह ध्वनि है; यह सूचित (बोधित) भी है। "स्फोट" शब्द के प्रत्यक्ष ऐक्य का बौद्धिक उभार है, क्योंकि शाब्दिक ज्ञेयता भावनाओं के बौद्धिक समन्वय में प्रतिफलित होती है और भावनाएँ शब्दों के द्वारा वाक्यों में सन्निहित होती हैं[४]। विषय-माध्यम से ये ध्वनियाँ बौद्धिक संतोष की अभिव्यक्ति करती हैं।[५]

इस सिद्धान्त की यथोचित व्याख्या अपेक्षित है क्योंकि शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं। शब्द वह है जो अर्थ को अथवा वस्तुओं को समझने में सहायता प्रदान करता है।[६]प्रत्येक शब्द का एक अर्थ होता है जो केवल शब्द के प्रत्येक अक्षर से ही नहीं, प्रत्युत समस्त शब्द द्वारा अभिव्यक्ति पाता है। शब्द अवयवों से बना समस्तता का द्योतक है, और इसके अवयव अथवा अक्षर पृथक्-पृथक् रूप से अर्थहीन होते हैं। किन्तु यदि अक्षर अर्थहीन हैं, तो शब्द ही अर्थहीन ठहर जाता है[७]। अत: एक शब्द वह इकाईहोना चाहिये जिसके अक्षर किसी विशिष्ट रूप में ग्रथित हों।[८]यदि शब्द अक्षरों का ऐसा समूह है, तो अक्षर को भी अर्थ युक्त होना ही चाहिए, क्योंकि अक्षरों के अतिरिक्त शब्द कुछ भी नहीं है, अर्थहीन अक्षरों से रचित शब्द बिना दीवारों के घर के समान है, अत: दोनों समान रूप से ढह जाएंगे। फलत: यदि कोई ऐसा विश्वास करे कि शब्द अपने अक्षरों से अर्थ ग्रहण न करके 'स्फोट' के सर्वातिरिक्त सिद्धान्त से ग्रहण करता है, तो यह आकाश-कुसुम की कल्पना के समान है[९]।

अस्तु, हम शब्द पर ध्यान दें। इसमें कई अक्षर होते हैं। ये अक्षर इसके मूल तत्त्व हैं, और शब्द अवयवों की समस्तता है। किन्तु समस्तता अथवा समष्टि अवयवों के योग से विशिष्टतर होती है। एक शब्द के अक्षर, जिनका उच्चारण विभिन्न ढंगों से होता है, इसके अर्थ तक नहीं पहुँचा सकते। अत: अक्षरों के अतिरिक्त कुछ और होना चाहिए जो अक्षरों के अनुक्रम का प्रतिफल हो और जो अक्षरों को बोधगम्य बना दे। फलत: किसी विशिष्ट अनुक्रम में बन्धे अक्षर 'कुछ और' की अभिव्यक्ति का, जिसे हम समझते हैं, माध्यम बन जाते हैं।

* अनुवादक : अर्जुन चौबे 'काश्यप', गया कॉलेज गया-बिहार, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के आरम्भिक काल के सहयोगी।

जैसा कि हमने कहा है, प्रत्येक शब्द कई अक्षरों (अंगभूत अवयव) की इकाई है। हमें इस इकाई का परिज्ञान किस प्रकार होता है ? इस इकाई के परिज्ञान पर ही तो अर्थ का बोध अवलम्बित है। नैयायिकों के मतानुसार साहचर्य पर स्थापित स्मृति ही इस परिज्ञान के लिए उत्तरदायी है। प्रत्येक अक्षर मानसिक चिन्ह की रचना करता है। किन्तु अन्तिम अक्षर तक आते-आते एक अभिनव ज्ञेयता का उभार होता है, जो स्पष्टत: स्मृति द्वारा उद्दीप्त होती है, न कि उस के द्वारा रचित[10]। न तो प्रत्येक अक्षर, न तो अक्षरों का समुदाय और न स्मृतिजन्य कोई पृथक् इकाई ही हमें अर्थ का बोध कराती[11] है। अत: अर्थ की सत्ता के परिज्ञान के लिये किसी नवीन इकाई की स्थापना अपेक्षित है, और नैयायिकों की यह रहस्यात्मक ''शक्ति'' वैयाकरणों के रहस्यात्मक ''स्फोट'' के बहुत समीप सी लगती है।

किन्तु वैयाकरण स्मृति-चिन्हों को अग्राह्य समझ कर इस मान्यता में सुधार लाते हैं। एक शब्द का अर्थ अक्षरों की परिज्ञेयता से बहुत कम सम्बन्ध रखता है। एक उच्चारित शब्द बधिर व्यक्ति के मन में कोई चिह्न नहीं उत्पन्न करता, तथापि इससे एक अर्थ की उद्भूति होती है[12]। इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं कह सकते कि पूर्व अक्षरों से उद्भूत चिन्हों के साथ अन्तिम अक्षर को समझ लेते हैं; क्योंकि अन्तिम अक्षर का परिज्ञान वर्तमान में होता है तथा अन्य चिह्न अतीत के पूर्व परिज्ञान वाले होते हैं। वर्तमान तथा अनुपस्थित अतीत के बीच कोई सम्भावी सम्बन्ध नहीं हो सकता[13]। अत: तर्क उपस्थित किया जाता है कि अक्षर एक इकाई से, जिसे हम शब्द कहते हैं, नहीं मिलाए जा सकते। किन्तु शब्द एक इकाई है और इसे हम एक सिद्धांत द्वारा, जिसे ''स्फोट'' की संज्ञा मिली है, व्यक्त कर सकते हैं।

''स्फोट'' में शब्द का अर्थ अन्तर्निहित रहता है, और ज्यों ही हम 'स्फोट' को समझने के लिये समर्थ होते हैं उसी क्षण शब्दों को बनाने वाले अक्षर हमारे लिए अर्थयुक्त एवं बोधगम्य अथवा महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। हम स्फोट को कल्पनात्मक मानने के लिए तर्क नहीं उपस्थित कर सकते। हम 'गौ' को, जिस का अर्थ 'गाय' होता है, लें और 'गामानय शुक्ला' नामक वाक्य का अवलोकन करें। 'गां' 'गौ:' का एक वचन एवं कर्मकारक हैं। ये दोनों शब्द अपने अंगभूत अक्षरों में भिन्न हैं किन्तु दोनों 'गाय' के अर्थ को ही व्यक्त करते हैं[14]। यदि अक्षरों से ही अर्थ का बोध होता तो ऐसा अर्थ किस प्रकार सम्भव होता ?

यदि ऐसा कहा जाता है कि शब्द में अर्थ अन्तर्निहित है, तो हम अर्थ की ज्ञेयता किस प्रकार प्राप्त करते हैं और शब्द के अनुषंग में इसका क्या स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि किसी विशिष्ट अनुक्रम में आये हुए अक्षरों से ही शब्द बनता है और अर्थ की संकेत योग्यता उसी अनुक्रम में पायी जाती है। किन्तु यदि बिना वाक्य रचना विचार अथवा कारक प्रक्रिया के सम्बन्ध के शब्दों का उच्चारण किसी अनुक्रम में किया जाय, तो उनसे कोई भाव नहीं झलक पाता और यदि हम ऐसा कहें कि एक शब्द सीधे एक अर्थ का संकेत करता है, क्योंकि यह अर्थ से गहरे रूप में सम्बन्धित है, तो ऐसा कहना युक्तिसंगत न होगा, क्योंकि यह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध अर्थ का उभरता हुआ बोध-मात्र है और यह सीधा बोध अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से स्थापित इकाई के लिये उठाये गये आवश्यक तर्क से ही लिया गया है[15]।

अत: अक्षरों से 'स्फोट' की ही अभिव्यक्ति होती है ; किन्तु यह अभिव्यक्ति अथवा अर्थ-बोध उच्चारण के तत्क्षण उपरान्त ही नहीं होता। हम एक शब्द को अक्षर रूपी ध्वनियों की सरणि में ही सुनते हैं। यह शब्द एक इकाई का द्योतक हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, किन्तु श्रोता एवं पाठक के लिये यह अनुक्रम एक आवश्यक बात है। जब हम सुनते जाते हैं तो पूर्व ध्वनियाँ अनुस्मरित होती हैं और मन में धारित होती हैं। पूर्वोच्चारित अक्षर से उद्भूत चिन्ह हमें उन अक्षरों का ज्ञान-मात्र कराते हैं। किन्तु हम एक इकाई के लिये कुछ अक्षरों को लेते हैं, और यह वही इकाई है जिसे हम शब्द कहते हैं। दूसरे शब्दों में स्मृति तथा मनीषा एक साथ क्रियाशील होती है। हम अक्षरों का परिज्ञान उन

के अनुक्रम में करते हैं, किन्तु उन की इकाई के परिज्ञान का संश्लिष्टीकरण मनीषा (प्रतिमा) द्वारा होता है। मनीषा अथवा बुद्धि ही सभी अनुभूतियों को समन्वित करती एवं एक में मिलाती है। इकाई के सिद्धांत के अनुसार बुद्धि को इसीलिये 'समस्त प्रत्यवमर्शिनी' की संज्ञा मिली है। प्रत्येक अक्षर चिन्ह की उद्‌भूति करता है और इस प्रकार ये ही चिन्ह अन्तिम अक्षर तक आते-आते अन्तिम फल के दाता हो जाते हैं। उस स्तर पर यह चिन्ह स्मृति द्वारा नहीं बल्कि बुद्धि द्वारा इकाई को प्राप्त होते हैं। यदि यह कार्य स्मृति-जन्य होता तो हमें उन सभी अक्षरों का अनुस्मरण करना होगा जो एक इकाई में कभी भी समन्वित नहीं किये जा सकते [१६]। उच्चारण के उपरान्त अक्षरों का अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है। अत: उनके समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: 'स्फोट' नामक सत्ता ही वास्तविक एवं अमर है और इसी को अर्थ के बोध के लिये स्वीकार करना चाहिये।

॥ २ ॥

ऐसा कहा जाता है कि हम अक्षरों के अनुक्रम का परिज्ञान नहीं करते, अथवा नहीं कर सकते क्योंकि, न्याय के अनुसार जिस क्षण एक अक्षर का उच्चारण हो जाता है, वह अपना अस्तित्त्व खो बैठता है अथवा मीमांसा के अनुसार यह एक शक्य रूप में विराजमान रहता है। दोनों रूपों में यह न तो तात्कालिक है और न वर्तमान में रहता है और यह कि, यह एक अतीत एवं वर्तमान अक्षर में कोई निरन्तरता अथवा प्रबन्धत्व है, ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता। किन्तु पतंजलि का कहना है :

"बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम्" ।[१७]

बुद्धि ही अनुक्रम की पहचान करती है और सातत्य अथवा प्रबन्धत्व को पकड़े रहती है। फलत: केवल अस्पष्ट 'स्फोट' ही ऐसा नहीं है जो एक शब्द की इकाई की रचना करता है और निर्देशित वस्तु की पहचान कराता है। यदि 'स्फोट' नामक कोई वस्तु है तो वह शब्द के अक्षरों द्वारा अभिव्यक्त होती है और ये अक्षर वस्तु के निर्देशक होते हैं। अत: हमें किसी ऐसी सत्ता की न तो धारणा करनी है और न प्राप्य वस्तु को निर्देशित करने वाली इस शक्ति का आविष्कार ही करना है।

हमें बताया गया है कि अक्षरों की सरणि एक शब्द की इकाई को नहीं बना सकती। किन्तु अक्षरों के अनुक्रम में अभिव्यंजित 'स्फोट' भी इकाई नहीं बना सकते। यह 'स्फोट' न तो शब्दों और उस के सम्बन्ध के स्वभाव का विश्लेषण करता, न तो शब्द तथा उसके अर्थ के सम्बन्ध के स्वभाव पर प्रकाश डालता है, और न इसके तथा वस्तु के सम्बन्ध को ही स्पष्ट करता है। प्रत्युत यह परिस्थिति को जटिल बनाने में एक और कठिनाई खड़ी कर देता है और वह कठिनाई समाधान से परे हो जाती है।

इन कठिनाइयों का समाधान शब्द की इकाई तथा इसकी निर्देशन-शक्ति पर निर्भर करता है। वेदांत के अनुसार अक्षरों का अनुक्रम बुद्धि तथा चेतन द्वारा संश्लिष्ट होता है। हमारी वर्तमानकालिक चेतना आणविक नहीं है; यह अविभाज्य एवं इन्द्रियगोचर गणितबिन्दु नहीं है। यह पर्याण-पृष्ठ (घोड़े की जीन) की भाँति विस्तृत है, क्योंकि चेतना की धारा एक सतत्-प्रवाहिणी इकाई है। इसका अपना स्वत: विस्तार है। विलियम जेम्स ने कहा है : "प्रत्यक्ष परिज्ञापित वर्तमान छूरे की धार नहीं है, प्रत्युत यह पर्याण-पृष्ठ की भाँति है, जिसकी कुछ चौड़ाई होती है और जिस पर हम बैठते हैं और जहाँ से हम एक बार दो दिशाओं का अवलोकन कर लेते हैं। काल के प्रत्यक्षीकरण की रचना की इकाई एक अवधि होती है, जिस के साथ-साथ हम झुकते हैं और तनते हैं अर्थात् आगे और पीछे का अवलोकन करते हैं। अवधिशिला के अवयवों द्वारा ही एक छोर से दूसरे छोर के अनुक्रम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ऐसा नहीं है कि हम प्रथमत: एक छोर का अनुभव करके तब दूसरे छोर का अनुभव करते हैं और कुछ अवधि के उपरान्त अनुक्रम का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, प्रत्युत हम दोनों छोरों के समन्वय में कालावधि की इकाई का अनुभव करते हुये प्रतीत होते है। अनुभूति आरम्भ से ही किसी एक का नहीं, प्रत्युत संश्लिष्ट तथ्य होती है[१८]।

इस विशाल वर्तमान के प्रकाश में हमारी अनुभूति किसी भी क्षण कोई ऐकान्तिक सत्ता नहीं है। तत्त्व पृथक् नहीं किये जा सकते, और यद्यपि हम अक्षरों को अनुक्रम से ही जानते हैं, तथापि, जहाँ तक हमारी चेतना उनका बोध करती है, अतीत और वर्तमान में एक संश्लिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि अनुभूति स्वयं एक संश्लिष्ट तत्त्व है। जब हम अन्तर्दर्शन करते हैं और ध्यान देते हैं तभी अनुभूति के विभिन्न तत्त्व पृथक्-पृथक् सत्ता वाले दिखाई पड़ते हैं; किन्तु जिस क्षण हमें बोध होता है, उस समय हम अनुक्रम के प्रति जागरूक नहीं रह पाते। इस सिद्धांत का परिज्ञान 'स्फोट' के सिद्धांत से उद्भूत जटिल कठिनाइयों का निराकरण कर देता है।

॥ ३ ॥

जैसा कि बताया गया है, 'स्फोट' शब्द की इकाई की रचना करता है और उसे अर्थ-युक्त बनाता है; और इस 'स्फोट' का अनुमान विशेषत: इसलिये किया जाता है क्योंकि अक्षर की क्षणिक-सत्ता स्वीकार कर ली गई है। किन्तु यह सिद्धांत त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह केवल क्षणिक सत्ता वाली ध्वनि की अभिव्यक्ति मात्र है। वास्तव में, ध्वनि का नाश नहीं होता। यदि यह नाश को प्राप्त हो जाती है, हमें अनुमान करना पड़ता है कि प्रत्येक शब्द अपने निर्माण-स्थल से सर्वथा नवीन रहता है, भले ही वह चाहे कितनी बार उच्चरित हुआ हो, और हमें यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि प्रत्येक शब्द चाहे जितनी बार उच्चारित हों एक सा ही अर्थ रखता है। इतना ही नहीं, भाषा की प्रेषणीयता नामक गुण-विशेष के विरोध में भी यह तर्क पड़ जाता है। अत: यदि 'गाय' शब्द को दो बार उच्चारित करें, तो हमने उसे दो बार कहा, यहाँ पर हमें यह कहने को कोई बाध्य नहीं कर सकता है कि हमने दो सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र शब्दों का उच्चारण किया[१९]। दो अवसरों पर उच्चारित एक शब्द, कहने के ढंग पर, विभिन्न ठहर सकता है, किन्तु उच्चारण के अन्तर से दोनों में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता, क्योंकि दोनों शब्द सर्वथा समान रूप से पहचाने जाते हैं। एक ही शब्द के दो उच्चारणों के बीच की समानता की यह पहचान स्वयं अक्षरों को संकेतात्मक ठहराती है, फलत: अक्षरों के अतिरिक्त किसी एक सत्ता की, जिसे 'स्फोट' कहा गया है, धारण करना व्यर्थ है[२०]।

बुद्धि अक्षरों को उनकी समस्तता में पकड़ती है; नहीं तो जब 'गौ:' शब्द उच्चारित होता है, तो हमें 'ग' के अतिरिक्त किसी अन्य अक्षर को सोचने के लिये कोई कारण नहीं दीखता। और यदि 'स्फोट' अक्षरातीत है, तो हमें 'ग' के विषय में न तो सोचना चाहिये और न उसे जानना ही चाहिये। जिस प्रकार हम 'गौ:' शब्द के अतिरिक्त अन्य अक्षरों को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार हमें 'गौ:' के अक्षर भी छोड़ देने होंगे और केवल 'स्फोट' का बोध करना होगा[२१]। किन्तु जब ऐसी बात नहीं है तो हमें स्वीकार करना होगा कि स्मृति और बुद्धि एक शब्द को एक मात्र इकाई के लिये तथा उसके अक्षरों को समझने के लिये साथ-साथ क्रियाशील होती हैं। और इस प्रकार के परिज्ञान में अक्षरों का बोध यों ही नहीं होता, प्रत्युत बुद्धि द्वारा, जो 'समस्त प्रत्यमवर्शिनी' कही जाती है, विशिष्ट अनुक्रम[२२] में होता है। अत: हम अक्षरों को एक अनुक्रम में बोधित करते हैं और उस रहस्यात्मक 'स्फोट' का परिज्ञान नहीं करते, जो अक्षरों से भिन्न है। अत: 'स्फोट' नामक तत्त्व के, जो प्रत्यक्षीकरण तथा परिज्ञान के अतीत है, माध्यम से शब्द की परिभाषा नहीं दी जा सकती है। और एक शब्द का अर्थ उस के आधारभूत भाग अर्थात् अक्षरों पर निर्भर नहीं करता, तो उस का माध्यस्थ करना होगा और उस अर्थ का बोध किसी तात्कालिक प्रतिक्रिया को नहीं उभार सकता[२३]। शङ्कर ने कहा है: वर्णवादिनो लधीयसी कल्पना। स्फोटवादिनस्तु दृष्टिहानिरदृष्टकल्पना च, वर्णासीमे क्रमेण गृह्यमाणा: स्फोटं व्यंजन्तीति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्।[२४]

'स्फोट' का सिद्धान्त अक्षरों की सत्ता की परवाह नहीं करता और उन्हें छोड़ देता है, उन के स्थान पर अपना अस्तित्त्व घोषित करता है। किन्तु इसे कोई जान नहीं सकता। इतना ही नहीं, अक्षर 'स्फोट' की अभिव्यक्ति करते हैं, और यह 'स्फोट' अर्थ को प्रकट करता है। यह तो गति की खींचातानी मात्र है, क्योंकि बिना 'स्फोट' को ग्रहण किये हम अक्षरों के माध्यम से अर्थ का बोध कर सकते हैं। अत: श्रीधर का कहना है : तदेवं वर्णेभ्य एवं संस्कारद्वारेण, अर्थप्रत्यय सम्भवादयुक्ता स्फोट कल्पना [२५]।

हमने देख लिया है कि एक शब्द किसी वस्तु का सच्चा एवं अर्थयुक्त नाम है। शब्द जिसका नामकरण करता है, उसका प्रतिनिधित्व करता है। एक शब्द से यदि एक भी अक्षर हटा लिया जाय या इसमें एक अक्षर जोड़ दिया जाय तो वही शब्द ज्यों का त्यों नहीं पाया जा सकता। यदि 'गगन' शब्द से प्रथम 'ग' हटा लिया जाय तो यह 'गन' रह जायगा और उसी प्रकार उसके आदि में 'ज' जोड़ दिया तो यह 'जगगन' हो जायगा। अत: एक शब्द में, जो ठीक है, अक्षर तो रहेंगे ही, जो उसके अर्थ के उपयुक्त होंगे। इसी से नामों के ज्ञान से वस्तुओं का ज्ञान सम्भव हो सकेगा। क्रैट्यलुस ने तर्क उपस्थित किया है कि वस्तुओं की सत्यता के अनुसंधान के लिये नामों के अर्थों का अनुसंधान करना चाहिये[२६]। किन्तु अक्षरों का आपस में समन्वित होना अपेक्षित है। यदि कोई इकाई नहीं पाई जायगी, तो यह सम्भव नहीं होगा कि एक वस्तु किसी भिन्न वस्तु की द्योतक हो सके, नहीं तो 'शाब्दबोध' की परिभाषा ही नहीं दी जा सकेगी। फलत: शब्द द्वारा निर्देशित वस्तु का परिज्ञान किसी निश्चित कारण से संयुज्य नहीं किया जा सकता। यदि इस परिस्थिति की रक्षा के निमित्त 'स्फोट' की कल्पना की जाय, तो 'स्फोट' शब्द से सम्बन्धित एक शक्ति हो जायगी और इसका अर्थ बाह्य मात्र रह जायगा। अक्षर स्वतन्त्र रूप से सांकेतिक नहीं हो सकते, उनका यह स्वभाव 'स्फोट' पर निर्भर करता है, जो शब्द और उसके अर्थ के अमर एवं आवश्यक सम्बन्ध को हठात दूर कर देता है[२७]।

किन्तु एक अनुक्रम में स्थापित अक्षर दर्शक, सूचक अथवा अभिधायक होते ही हैं, 'गाय' नामक शब्द में क्या अक्षर ही शब्द बनाते हैं या उनसे भिन्न कोई 'स्फोट' है ? 'गाय' शब्द में दो अक्षर हैं जो अनुक्रम में रखे हुये हैं। इस अनुक्रम के अतिरिक्त यह शब्द नहीं ही है (उलट देने पर यह 'यगा' हो जायगा) ये अक्षर एक दल में बैठाये गये हैं। किन्तु किसी रचनात्मक भाव में अक्षर स्वयं शब्द के भाग नहीं है, क्योंकि किसी अनुक्रम में संलग्न ध्वनियों का सातत्य किसी अभिन्न एक सत्ता की रचना नहीं करता[२८]। विभिन्न अक्षरों से अर्थ की भावना हमें नहीं प्राप्त होती ; तब भी शब्द को बनाने वाले अक्षरों के उच्चारण से ही अर्थ का बोध होता है। अत: अक्षरों का प्रबन्धत्व ही हमें अर्थ देता है ; और हम संस्कारों अथवा मानस-चिन्हों से ही इस प्रबन्धत्व का बोध करते हैं, क्योंकि अर्थ का बोध केवल किसी एक साधन (कर्तृत्व) तथा वर्णों के उच्चारण के एक विशिष्ट अनुक्रम की अपेक्षा रखता है। यह एक अकेला साधन मानस चिन्हों के साथ-साथ अतीत ध्वनियों को अनुस्मरण में सहायता देता है, एवं उन्हें एक साथ बांधे रखता है। अत: मानस चिन्ह, 'स्फोट' की अभिव्यक्ति के बजाय शब्द एवं उसके अर्थ को प्रकट करता है।

एक अक्षर स्वयं निर्देशक अथवा सूचक नहीं है, क्योंकि इसे अर्थ का बोध कराने के लिये अन्य अक्षरों की अपेक्षा होती है। न तो हम यह कह सकते हैं, कि अक्षरों का एक मेल-भाव को बताने की शक्ति रखता है, क्योंकि वे ही अक्षर कई प्रकार से बैठाये जा सकते हैं (अर्थात् कई शब्दों का निर्माण कर सकते हैं)[२९]। तब भी यदि ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक अक्षर मानस चिन्ह उत्पन्न करता है, तो इस चिन्ह का स्वरूप क्या है ? यदि हम अक्षरों के विषय में न जानें और यह भी न जानें कि वे किस प्रकार मिलते हैं तो हम उनके भाव का बोध नहीं कर सकते; और इस परिस्थति में कोई मानस चिन्ह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता [३०]। यदि हम स्वीकार कर लें कि अक्षर मानस चिन्ह उत्पन्न करते हैं

और इन मानस चिन्हों का तब तक अनुस्मरण होता रहता है जब तक हम अन्तिम अक्षर तक पहुँच नहीं जाते और तभी हमें अर्थ का बोध होता है, तो ऐसा करना एवं कहना एक अतार्किक पद्धति का अनुसरण करना होगा। प्रथम तो, अक्षर को स्मृति चिह्न की उद्भूति करनी है, और फिर इस स्मृति चिन्ह को अर्थ की उद्भूति करनी है। स्मृति चिह्न वह है जो अक्षर की शक्ति से उद्भासित होता है और इसी चिन्ह को हम अर्थ संकेत की योग्यता का गुण प्रदान करते हैं[३१]। एक शक्ति दूसरी शक्ति की उद्भूति नहीं कर सकती, क्योंकि सभी शक्तियाँ एक स्पष्ट व्यक्ति से संबंधित हैं। उदाहरणार्थ, अग्नि जलती है और प्रकाशित करती है; यहाँ 'प्रकाशन करना' जलने का प्रभाव-भाव नहीं है और न 'जलना' प्रकाश की छिपी हुई समर्थता है, क्योंकि ये दोनों गुण (जलना और प्रकाशित करना) अग्नि के ही स्वरूप हैं[३२]। यदि हमें अक्षरों से उद्भूत स्मृति चिह्नों पर निर्भर करना है, तो यदि अक्षरों का उच्चारण और परिज्ञान उल्टे रूप में दिया जाय तो हमें एक ही अर्थ मिलना चाहिये, क्योंकि यहाँ भी तो वे ही अक्षर हैं[३३]। किन्तु यह असंगति का द्योतक है। अत: हमें स्वीकार करना होगा कि अक्षरों से ही शब्द बनता है, ऐसा होने में अक्षरों को एक विशिष्ट अनुक्रम का अनुसरण करना होता है; स्वयं अक्षरों से अर्थ का उभार नहीं होता, तथा अर्थ का भाव हमें शब्द से होता है।

हमारा परिज्ञान 'स्फोट' के अस्तित्त्व का संकेत नहीं करता[३४], क्योंकि हम केवल अक्षरों को ही पहचानते हैं[३५]। केवल अक्षरों में ही वाणी अर्थयुक्त अथवा महत्त्वपूर्ण होती है[३६]; अक्षर एक इकाई की रचना, इकाई द्वारा सम्बोधित अर्थ से ही करते हैं। अत: 'स्फोट' के बहिष्कार से शब्द और अर्थ सार्थक बनते हैं। काव्य में हम किसी अर्थ के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं, ऐसा सामान्यत: कहा जाता है, और हम शब्दों के प्रयोग से ही अपने भावों का अभिव्यंजन करते हैं। हमें शब्द की आवश्यकता सब स्थानों पर होती है, क्योंकि अर्थ के सिद्धांत में हम शब्द को न भूल सकते हैं और न उसका त्याग ही कर सकते हैं। अक्षरों द्वारा स्पष्ट शब्द के बाहर अर्थ का बोध नहीं होता, क्योंकि यदि एक शब्द का कोई अर्थ है, तो वह अर्थ शब्द द्वारा उत्पन्न ध्वनियों से गहरा सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार 'गाय' शब्द में जो ध्वनि है वह अक्षरों के एक विशिष्ट अनुक्रम में बैठे शब्द एवं अर्थ से संलग्न है। यही उपवर्ष का भी कहना है, जिस का समर्थन शबर तथा शंकर दोनों ने किया है।[३७] अक्षरों से ही शब्द का निर्माण होता है[३८]। किन्तु प्रत्येक अक्षर स्वयं अभिधायक नहीं होते, और यदि इकाई से अक्षर विच्छिन्न कर दिये जायें तो इकाई भी अर्थवती नहीं ठहर सकती। शब्द अक्षरों का समूह है; और यह समूह प्रत्येक अक्षर से भिन्न है, किंतु यह वैसा ही है जैसा कि अक्षर उसकी सृष्टि करते हैं[३९]। और हमें स्मरण रखना है कि अक्षर शब्द की इकाई की रचना करते हैं और इसी इकाई में अर्थ पाया जाता है।

॥ ४ ॥

शब्द के अर्थ में बोलने वाले की चेष्टा नहीं पाई जाती; प्रत्युत वक्ता की चेष्टा शब्द के उपयोग में निहित होती है। और जब कभी हम शब्द के चेष्टित अर्थ में अथवा चले आये हुये अर्थ में कोई विभेद पाते हैं, तो हम इस विभेद को सम्बोधित वस्तु के संदर्भ में रखकर दूर करते हैं। जिस अंश तक शब्द सम्बोधित वस्तु की ओर संकेत करता है, वह उतना ही उस वस्तु तथा अपने अर्थ से समन्वित पाया जाता है। किन्तु यदि ऐसा करने में वह समर्थ नहीं होता, तो यह शब्द का दोष नहीं है, प्रत्युत यह उसके गलत प्रयोग का प्रतिफल है, जो कि शब्द के अर्थ तथा चेष्टा के विभेद का कारण होता है। फलत: शब्द तथा उसके अर्थ के बीच के सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं उठती, क्योंकि एक कविता में शब्दों एवं अर्थों में वैसी ही एकरसता पायी जाती है, जैसा कि बिना किसी व्यक्ति की चेष्टा की सहायता लिये किसी साधारण बोली में पायी जाती है[४०]। बौद्ध विचारकों ने तर्क उपस्थित किया है कि शब्द वक्ता की केवल चेष्टा का सूचक है, क्योंकि अर्थ धारणायुक्त प्रतिभा की वस्तु है[४१]। किन्तु सुरेश्वर के मतानुसार

यह चेष्टा भी 'शब्दार्थ' पर निर्भर करती है[४२]। इतना ही नहीं, हम वक्ता की इच्छा को समझने के पूर्व शब्द को समझते हैं[४३]।

इस प्रकार से समझने में हम केवल शब्द का ही बोध नहीं करते क्योंकि हम शब्द और अर्थ को एक ही इकाई के समन्वित रूप में समझते हैं। स्वभावतया वे एक हैं[४४]। क्योंकि शब्द के अर्थ में निहित वस्तुभाव पाया जाता है[४५], और इस प्रकार की मूर्तिमत्ता में हम समस्तता को एक अविच्छिन्न सत्ता के रूप में पाते हैं[४६]। शब्द की यह विशिष्टता एक कविता को अन्य रचनाओं से पृथक् खड़ा कर देती है[४७]। भट्टनायक ने कहा भी है :- ''शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विध: । अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यामे - तयो: ॥ द्वयोर्गुणत्वे व्यापार प्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्[४८]।

'ध्वनि' या 'रस' या 'रस ध्वनि' काव्य की आत्मा कही जा सकती है ; किन्तु यह आत्मा शब्दों से, जो विचार वस्तु-संयुज्य होते हैं, बाहर अन्यत्र नहीं पाई जा सकती। अर्थ वस्तुभाव की समस्तता का द्योतक है, जो शब्द रूप में जीवन डालता है। हम अर्थ को किसी भी रूप में क्यों न लें, उसकी खोज हमें शब्द में ही करनी होगी ; और शब्द की खोज इसको सूचित करने वाली वस्तु ही होगी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शब्द, अर्थ और वस्तु एक ही सत्ता के तीन स्वरूप अथवा मुख हैं। इसीलिये कुन्तक ने शब्द को एक सत्ता के अर्थ में अर्थात् अर्थाभिव्यक्ति के रूप में, तथा अर्थ को एक सत्ता के रूप में अर्थात् अभिप्रायपूर्ण माना है। इनमें पहला दूसरे के अभाव में तथा दूसरा पहले के अभाव में कुछ नहीं ठहरता, अर्थात् एक के अभाव में दूसरे का अभाव हो जाता है। अर्थ अभिप्राय का सूचक है; और शब्द जब कोई अर्थयुक्त भाव नहीं व्यक्त करता तो वह वाक्य के लिए मृतकल्प अर्थात् 'कैंसर' के समान है[४९]। भर्तृहरि ने अर्थ को शब्द का विवर्त माना है। किन्तु दुर्गा ने कहा है : अर्थो हि प्रधानं, तद् गुण: शब्द:[५०]। अर्थात् शब्द की पहचान होती है, वही अर्थ का निरूपणीय अथवा नियत शरीर है।

***

संदर्भ सूची

१. पदेन वर्णा: विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्यन - (वाक्यपदीयम् १, ७७)

२. 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट:'; वाचकता स्फोटैक निष्ठा।''

३. महाभाष्य। १, २ 'श्रोत्रोपलब्धि:' बुद्धिनिग्राह्य:, प्रयोगेनाभिज्वलित:, आकाशदेश: शब्द:।''

४. यदन्त: शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितं तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता। (-वाक्यपदीयम् ॥ ३०)

५. ''ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वञ्च द्वे शक्ति तेजसो यथा तथैव सर्व शब्दानां एतु पृथग्वस्थिते'' - (वही, । ५५)

६. भामह: काव्यालंकार, VI, ७: ''प्रतीतिरर्थेषु यतस्तं शब्दं ब्रुवेतऽपरे।''

७. निरुक्त पर दुर्गा।, ३: ''वर्णैरनर्थरारभ्यमानं पदमप्यनर्थकमेव स्यात्।''

८. ''प्रत्येकमसमर्थानां समुदायोऽर्थवान् कथम् ? वर्णानां क्रमवृत्तित्वान्न्यान्या, नापि च संहति:'' (भामह, VI, ९)

९. वही, VI, १२ : ''सपथैरपि चादेयं वाचो न स्फोटवादीनाम्। नभ: कुसममस्तीति श्रद्ध्यात् क: सचेतन:।''

१०. शेष कृष्ण: ''पूर्व पूर्वामुभूजन्य भावना सचिवेऽन्तिमे चेतसि स्फुरति स्फोट:''

११. न प्रत्येकं, न मिलित्वा, न चैक स्मृतिगोचर:, अर्थस्य वाचका: वर्णा: ; किं तु स्फोट:'' -वही।

१२. शंकर, I, ३-२८: ''सम्बन्ध ग्रहानपेक्षोहि शब्द: स्वयं प्रतीयमानोऽर्थे प्रत्यययेद्, धूमादिवत्''

१३. मिलाईये - न च पूर्व पूर्व वर्णानुभवजनित संस्कार सहितस्यान्य वर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात् संस्काराणाम् वही)।

१४. भामती - १, ३, २८ : न च वर्णातिरिक्तस्य तस्यानुभवोऽस्ति। ''गौ:'' इत्येकं पदं, 'गामानय शुक्लां'' इत्येकं वांक्यमिति, नाना वर्णपदातिरिक्तैकपदवाक्यवगते: सर्वजनितत्वात्। न चायमसति बान्धके एकपदवाक्यानुभव: शक्योऽमिथ्येति वक्तुम्।''

१५. देखिये - ''न तावदेकधिगोचराणां धव खदिर पलाशानामेक निर्भासात् प्रत्यय: समस्ति ... नाप्येकार्थधिहेतुक। तद्हेतुत्वास्य वर्णेषु व्यासेधात्। तद्हेतुत्वेन तु साहित्य कल्पेनऽन्योन्याश्रयसंग:। साहित्यात् तद्हेतुत्वं तद्हेतुत्वाच्च साहित्यमिति।'' (वही)

१६. शंकर, १, ३, २८ : "स चैकेक वर्णप्रत्ययाहित संस्कार बीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनित परिपाके, प्रत्ययिन्येक प्रत्यय विषयतया झटिति प्रत्यवभासते । न दायमेक प्रत्ययो वर्णविषया स्मृति: वर्णनामेकत्वादेक प्रत्यय विषयत्वान्नुपपत्ते: ।'

१७. महाभाष्य, १, ३५६ मिलाइये - "नो वर्णानां पौर्वापर्यमस्ति, उच्छ्रत प्रध्वमैत्वाच्च वर्णानाम् ।" (वही)

१८. विलियम जेम्स : प्रिंसिपल्स आव साइकोलोजी, १, ६०९-१० ।

१९. शंकर, १, ३, २८ : द्वि गो शब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर: न तु द्वौ गो शब्दौ इति ।

२०. "वर्णेभ्यश्चार्थ प्रतीते सम्भवात् स्फोट कल्पनानर्थिका ।" (वही)

२१. अस्यामपि बुद्धे: गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादय: । यदि ह्यस्य बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थानान्तरं स्फोटो विषय: स्यात्, ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्य बुद्धेर्व्यावर्तेरन् । न तु तथास्ति ।" (वही)

२२. "इवं क्रमानुरोधिनेव वर्णा: पद बुद्धिमारोक्षयन्ति" - (वही)

२३. कुमारिल : श्लोकवार्तिक, १३७ :

वर्णातिरिक्त: प्रतिसिद्धयमान: पदेषु मन्दं फलमादधाति ।
कार्यामिवाक्यावयवाश्चयन्ति सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्न: ॥

२४. वेदान्त सूत्र, १, ३, २८, मिलाइये शब्द, I, १-५ ।

२५. श्रीधर: न्यायकन्दाली, पृ. २६९-७०, मिलाइये, "ग़गनकुसुमस्येव स्फोट कल्पना न युक्ता ।" और भी देखिये : शास्त्र दीपिका, पृ. ९५, "शब्दो हि प्रत्यक्षग्राह्योऽभ्युपगम्यते; न च प्रत्यक्षेण वर्णातिरिक्तं किंचित् प्रकाशते ।"

२६. ४३६ ए ।

२७. पार्थसारथी: शास्त्र दीपिका, पृ. ९२ : "सम्बन्ध सिद्धयर्थमवस्यं वर्णानां वाचकत्वं समर्थनीयम् । अन्यथा हि तेषां प्रत्येकं संगत्यभवाद्वाचकत्वा सूपपत्तिमाकलयतां स्फोटस्य च शशविषाणायमाणस्य दूर निरस्तं वाचक इवमिति सम्बन्ध इव वाच्या वाचक भावे निराधारत्वां न स्यान्न तरां नितत्वामिति सिद्ध्यर्थ वर्णानां वाचक इव समर्थयितुं शब्द स्वरूपं निरूप्यते ।"

२८. "एक कर्तृत्वं क्रमविशेषाश्चद्रृष्यते, विपर्ययेणार्थाभिहितानादर्शनात् (वही., पृ. ९४) ।

२९. भामति: १, ३, २८: अपि चैते प्रत्येकं वा वाक्यार्थमवभिद धीरन्, मिलिता वा ? न तावत् प्रत्येकं एक वर्णोच्चारणानन्तरमर्थप्रत्ययादर्शनात् ; वर्णान्तरोच्चारणा-नार्थक्य प्रसंगाच्च । नापिमिलिता:; तेषामेक वक्तृप्रयुज्यमानानां रूपतो, व्यक्तितो वा, प्रतिक्षणमपवर्गीणं मिथ: साहित्य सम्भवाभावात् ।

३०. "न हि शब्द: स्वरूपतोऽङ्गतो वाऽविदितोऽविदितो संगतिरर्थ धी हेतुरिन्द्रियवत्" - (वही) ।

३१. "अर्थ प्रत्ययाच्च तदवगमं समर्थ्यमानो दुरुत्तरमितरेतराश्रयमाविशति-संस्कारावशयार्थ प्रत्यय:, ततश्च इति" (वही) ।

३२. "नापि तस्यैव सामर्थ्यस्य सामर्थ्यान्तरम् । न हि यैव वह्नेर्दहनशक्ति: सैव तस्य प्रकाशने शक्ति: । नापिदहन शक्ते: प्रकाशन शक्ति (वही) ।

३३. "अपि च व्युर्थक्रमेणोच्चरितेभ्यो वर्णेभ्य: सैवास्ति स्मृतिबीजं वासनेत्यर्थ प्रत्यय: प्रसज्येत" - (वही) ।

३४. शङ्कर सूत्र, V, ५७ : प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मक: शब्द:" ।

३५. वृत्ति: "प्रतीति: वर्णानां, अप्रतीति: स्फोटस्य वर्णाति उक्तस्य; तस्मान्न स्फोट: शब्द:, किन्तु वर्णा इव" ।

३६. व्यास (योग सूत्र), III, १७ : तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती ।

३७. शबर, I, १, ५ : "गौरित्यत्र क: शब्द: ? गकारौकार विसर्जनीया इति भगवान् उपवर्ष: ।" मिलाइये - शङ्कर, I, ३, २८ : "वर्णा एव तु शब्द इति भगवा, उपवर्ष:"

३८. शबर, I, १, ५ : "तस्मादक्षराण्येव पदं - अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तमन्यत् पदमस्ति ।"

३९. शबर, I, १-५ : "तस्माद् गौ: इति गकारादि विसर्जनीयान्तं शब्दमक्षराण्येव । अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तमन्यत् पदं नामेति"

४०. मिलाइये - "तयो: (शब्दार्थयो:) दित्व संख्या विशिष्टयोरप्यलंकृत: पुनरेकैव" (कुन्तक, पृ. २२) । और देखिये नमिसाधु: रुद्रट, II, १ : 'द्वयमेतत् समुदितमेव काव्यं भवतीति तात्पर्यम् ।"

४१. "नान्तरीयकताभावाच्चशब्दानां वस्तुभि: सह ।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्तृभिप्राय सूचक: ॥"
("सम्बन्ध वार्तिकम् की व्याख्या में आनन्दगिरि द्वारा उद्धृत किया गया धर्मकीर्ति का तर्क, पृ. १४७) ।

४२. *सम्बन्ध वार्तिक, ५००,*
"कर्तव्यता विवक्षैव नृवाक्येभ्योऽपिगम्यते ।
विवक्षाया न कार्यत्वं, शब्दार्थविषया हि सा ।।"

४३. *"तद् वासान्न तु शब्दार्थौ, स हि पूर्वं प्रतीयते - (वही, ५०७) ।*

४४. *"शब्दार्थौ सहितातेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा" (कुन्तक, ।, १६) ।*

४५. *मिलाइये - "नादैराहित विजायामत्येन ध्वनिना सह ।*
आवर्त्ति परिपाकायां बुद्धं शब्दोऽवधार्यते ।" वाक्यपदीय १, ८५

४६. *मिलाइये - "ऐवं च निरवयवेष्वपि वर्णपदवाक्येषु मात्र विभागो' वर्णविभागा, पदविभागाश्च, काल्पनिको मिथ्येति भावहः (पुण्यार्दन की वाक्यपदीयम् १, ९३)।*

४७. *व्यक्तिविवेक, पृ. ४२२ : "त्रिविधं हि शास्त्रम् - शब्दप्रधानमर्थप्रधानं, उभयप्रधानं चेति - उभय प्रधानं सर्गबन्धादि काव्यम् ।*

४८. *लोचन द्वारा उद्धृत, पृ. ८७।*

४९. *वक्रोक्तिजीवितम् पृ. १४ : "परमार्थततः पुनः उभयोरपि एकतरस्य साहित्य विरहः अन्यतरस्यापि पर्यवस्यति । तथा च अर्थः समर्थवाचक सद्भावे रचात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते । शब्दोऽपि वाक्योपयोगी वाच्यासम्भवे वाच्यान्तर वाचकस्संव्याधि भूतः प्रतिभातीति ।"*

५०. *निरुक्त, पृ. ३ ।*

अद्वैत तर्कशास्त्र में व्याघात एवं बाध का परस्पर सम्बन्ध

शाङ्कर मत के आधारभूत अध्यास-सिद्धान्त के अनेक अर्थ किए गए हैं। आचार्यपाद की परिभाषा, पंचपादिकाकारकृत व्याख्या तथा विवरण-प्रस्तुत महत् मण्डन हमें इस शब्द का व्याघात अर्थ करने की योग्यता प्रदान करते हैं। व्याघात किसी प्रस्तुत विषय का उस अर्थ में ग्रहण है जो अव्यवहित रूप से नहीं दिया रहता है। एक का अर्थ दूसरे के अस्तित्त्व से युक्त समझा जाता है। आचार्य शङ्कर ने भी कहा है - ''स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभास: अथवा अतस्मिन् तद्बुद्धिरध्यास:'। एक के अधिकृत अर्थ का दूसरे के अधिकृत अर्थ से असंगत होना ही यहाँ प्रस्थान-बिन्दु है। दो अधिकृत अर्थों या गुणों का एक वस्तु या अधिकरण से एक रूप में संबन्ध नहीं हो सकता है। बोसांक्वेट का भी यही अभिप्राय था जब उसने लिखा कि भेद असंगति या विरोध हो जाता है जब कि विधायक भिन्न वस्तुएँ एक व्यवस्था से संबद्ध हों। किसी निश्चित सम्बन्ध से अधिकृत होने के कारण एक दूसरी व्यवस्था पृथक् होती है। यह बाध विरोधमूलक है अथवा एक उद्देश्य से संबद्ध विभिन्न विधेयों के अव्यवहित सन्दर्भ में निहित है। भाषा के सामान्य त्रुटिपूर्ण प्रयोग के कारण हम विरोध को व्याघात का पर्याय मान लेते हैं। उपरिपरिभाषित व्याघात वही है जो अध्यास है। यह व्याघात ही भिन्न विधेयों का वह समीचीन सह-अस्तित्त्व है जहाँ कि प्रस्तुत विधान में ये दोनों एक ही सम्बन्ध की साधिकार घोषणा करते हैं। यह अध्यास ही है जिसमें निराकरण के कुछ अर्थ रखने की शक्ति है और जो साधारण निराकरण को अर्थ प्रदान करता है। यह अन्तर ही शंकर के अध्यास-सिद्धांत का आधार है। अध्यास की जड़ इह लोक में ही है और जब कभी दो पृथक् सत्ताओं की असंगत व्यवस्था होती है अध्यास वहीं उत्पन्न होता है। एक का दूसरे के अस्तित्त्व के साथ संश्लिष्ट सम्बन्ध रखता हुआ संग्रह वही है जो हमारा व्याघात से तात्पर्य होता है। इसका अध्यास से तादात्म्य है और इस महत्त्वपूर्ण निराकरण का जो निर्बाध-ज्ञान का मार्गोद्घाटन करता है व्याघात से साक्षात् सम्बन्ध है।

तर्कमूलक अद्वैत वेदान्त में व्याघात सिद्धान्त अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सिद्धान्त का दर्शन रूप से असत्-ख्याति-स्वरूप-निर्णय तथा भ्रमज्ञान-निराकरण-स्वभाव सम्बन्धी परीक्षण में होता है। अध्यास और बाध इन दो शब्दों का मुख्य आशय व्याघात के भाव और अभाव अर्थ का वहन है। जब हम भ्रमज्ञान के निराकरण पर विचार करेंगे, तो यह समस्या और भी स्पष्ट हो जायेगी।

तथाकथित भ्रामक अनुभूति में हम एक वस्तु को सास्तित्त्व जानने लगते हैं। यह वस्तु अत्यंताभावमूलक नहीं हो सकती। यह आदमी नहीं है, क्या यह निराकरणात्मक निर्णय वस्तु की किसी अन्य स्थान-स्थिति का बोध हमें कराता है ? पहली बात नहीं हो सकती, क्योंकि निराकरणात्मक निर्णय उसी वस्तु का निराकरण करता है जो किसी निश्चित स्थान-समय में मानी जाती है। इसके अन्तर्गत अन्य स्थान स्थिति नहीं होती है क्योंकि ''वह आदमी है'' ऐसा ज्ञान हमें उसके निराकरण के पश्चात् नहीं होता। जब हम रज्जु को सर्प मान लेते हैं तब हमें सर्प के इतर-स्थल-कालीन अस्तित्त्व का ज्ञान नहीं

* अनुवादक - हरिप्रसाद त्रिपाठी ''निर्मोही''

होता है। हम ऐसा भी ज्ञान नहीं रखते कि इसकी स्थिति केवल मानसिक है। वाक्य हमें केवल उसी अर्थ के समझने का सामर्थ्य प्रदान करता है जिसके वहन की इसमें क्षमता होती है। 'यह सर्प नहीं है'' इस वाक्य में साँप की अन्यत्र स्थिति के अर्थ प्रतिपादन की शक्ति नहीं। हमको वस्तु का ज्ञान एक स्थलविशेष में होता है और यही हम कालान्तर में उसका निराकरण भी करते हैं। सभी भ्रमज्ञान ''यह सर्प है'', ''यह रजत है'' इसी स्वरूप वाले या इसी प्रकार कहे जाते हैं। यहाँ 'यह' और 'सर्प' या ''रजत'' से दो वस्तु का प्रतिपादन होता है। ''यह'' प्रकृत पदार्थ की ओर संकेत करता है और ''सर्प'' या ''रजत'' वृत्ति की ओर। ''यह'' ज्ञात वस्तु का आधार है। परवर्ती निराकरण भी आधार की ओर संकेत करता है या दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि आधार इसके अन्तर्भुक्त होता है। एक विशेष अर्थ के संवहनाधिकरण में ज्ञात-वस्तु-गृहीत अर्थ के साथ संगति नहीं रखती। परवर्ती निराकरण से यह सिद्ध होता है कि पूर्ववर्ती ज्ञान जो भ्रममूलक आधार वाला तथा प्रकृत स्थल में संगति न रखने वाला होता है, असत् ख्याति का विषय है। यदि 'यह (इदम्) निर्दिष्ट नहीं किया जाता और यदि इसका कुछ अपना विशिष्ट अर्थ नहीं होता तो 'यह सर्प नहीं' - इस प्रकार का निषेधात्मक वाक्य अनुपपन्न हो जाता है। निषेध का लक्ष्य अर्थ दुर्गृहीत विषय की सत्ता है।

यह निराकरण या (बाध) क्या है ? विवरणकार इसकी व्याख्या दो विचार-बिन्दुओं से करता है। इस पर इच्छा-शक्ति के बिन्दुओं से विचार हो सकता है। क्या निराकरण उस पुरुष के लिए जो किसी अन्य वस्तु की कामना रखने वाला है, एक अमुक स्थान में क्रिया की निवृत्ति हो सकता है ? उसकी क्रिया एक निश्चित दिशा में निराकृत कही जा सकती है। परमहंस, जिन्हें चाँदी की आवश्यकता नहीं होती, इसकी पहचान तभी करते हैं जब उनके समक्ष शुक्ति होती है। उन्हें चाँदी से कुछ मतलब नहीं होता और वे इसके लिये चलायमान नहीं होते। वे चाँदी के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के इच्छुक होते हैं। उनकी क्रिया नहीं होती। यदि प्रश्नान्तर्हित परिभाषा ठीक होती तो वे गृहीत रजत का निराकरण नहीं कर सकते। तथापि वे इसका निराकरण करते ही हैं। तात्पर्य यह कि इच्छा-शक्ति के भी विचार से एक जिज्ञासु मनोवृत्ति निराकरणान्तर्भुक्त रहती है। प्रत्यक्षीकरण या किसी निर्णयवान का निराकरण मात्र ऐच्छिक मार्ग का फल नहीं होता। वास्तव में वास्तविकता की बौद्धिक गढ़न के साथ प्रत्यक्षीकृत की असंगति ही निराकरण का आधार है।

निराकरण का अर्थ क्या क्रिया की सम्भाव्यता की समाप्ति हो सकता है ? मैं रजत का ज्ञान करता हूँ पर बाद में मुझे पता चलता है कि वह केवल शुक्ति है। तो क्या मेरी क्रिया की सम्भाव्यता नष्ट हो जाती है। मुझे फिर रजत का ज्ञान हो सकता है। यदि ऐसी क्रिया की सम्भाव्यता ही नष्ट हो जाती तो चाँदी का भ्रम-मात्र मुझे पुन: द्वितीय बार होता ही नहीं। पर ऐसा नहीं होता। पानी ढूंढ़ते हुए एक पिपासाकुल व्यक्ति पर विचार कीजिए। मार्ग में वह एक सर्प देखता है और पिपासा को येन-केन प्रकारेण नियंत्रित करता हुआ पीछे खड़ा होता है। पानी प्राप्त करने की उसकी क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। क्या सर्प-ज्ञान यहाँ जल के या जल की खोज के निराकरण का काम करता है ? दोनों में से किसी का निराकरण नहीं होता। चूँकि भ्रम का सम्बन्ध प्रत्यक्षस्थित कतिपय इन्द्रिय-गोचर तत्त्वों से होता है, इसलिए भ्रमज्ञान की पुनरावृत्ति अनेक बार हो सकती है और निराकरण का पूर्वगृहीत वस्तु से अवश्य ही प्रत्यक्ष और अनिवार्य सम्बन्ध होना चाहिये। उपर्युक्त सम्बन्ध के अभाव में नयी स्थिति में किसी भी प्रकार का निराकरण सम्भव नहीं है।

ज्ञान-पक्ष से भी हमें निराकरण पर विचार करना चाहिये। जब दो वस्तुओं का अभिन्न-कृत ग्रहण होता है, तब ऐसी स्थिति में क्या परवर्त्ती विलगीकरण निराकरणार्थक प्रतिपादक हो सकता है ? प्रारम्भ में सभी वस्तुएँ अभिन्नीकृत रूप से ग्रहण की जाती है। उन्हें पृथक् करने की योग्यता धीरे-धीरे

बाद में हम प्राप्त करते हैं। लेकिन यह परवर्ती भिन्नीकरण पूर्वानुभूति निराकरणार्थ प्रतिपादक नहीं होता। पूर्ववर्ती प्रत्यक्षीकरण में वस्तुएँ अभिन्नीकृत हो सकती हैं। क्या इसका अर्थ बिना बिलगीकरण की सहायता के लिये हुए भ्रम ग्रहण करता है, या क्या उनकी स्व-लक्षणता का ग्रहण इसका अर्थ होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व हम यह पूछना चाहेंगे कि क्या विषय के ज्ञान में विवेक द्वारा ग्रहण भिन्न है। अथवा क्या यह विषय-ज्ञान ही है ? जब हमें विषय का ज्ञान होता है तो उसी समय में अन्य विषयों से इसका पार्थक्य ग्रहण नहीं होता है। और यदि इस युक्ति की मूल-भूत मान्यता ठीक है तो जब आखिर में हम एक विषय को दूसरे से भिन्न करते हैं, उस समय हमें कहना चाहिये कि यह ज्ञान पूर्ववर्ती ज्ञान का प्रतिषेध करता है। लेकिन हम जानते हैं कि पूर्ववर्ती ज्ञान और अधिक स्पष्ट तथा विशद हो जाता है। इसलिए हमें कहना चाहिए कि पार्थक्य का ग्रहण विषय-ग्रहण ही है। जब हम विषय का ग्रहण करते हैं तब इसके पार्थक्य का भी ग्रहण करते हैं। तब अविवेचन का प्रश्न ही नहीं उठता।

क्या अविवेचन विषय-ज्ञान से अभिन्न है ? एक विषय दूसरे विषय के स्वभाव को धारण करते हुए गृहीत होता है। फिर हम जानते हैं कि एक विषय दूसरे को बहिष्कृत करता है। क्या यह प्रतिषेध का अर्थ हो सकता है ? पर प्रथम ग्रहण को लीजिये - घट श्वेत है। बाद में हमें ज्ञान होता है कि घट की श्वेतता केवल एक गुण है। क्या यह प्रथम ग्रहण का प्रतिधेष करता है ? यदि प्रत्येक विषय की भेदाभेद के रूप में परिभाषा की जा सकती है, तो फिर वही आपत्ति आ पड़ती है। यदि हम पहले अभेद का ग्रहण करते हैं और बाद को भेद का, तो प्रत्येक विषय अपने को प्रतिषिद्ध करता है इस आधार पर कि प्रतिषेध की प्रस्तावित परिभाषा समीचीन है। प्रतिषेध के अन्दर तब दो स्पष्ट तत्त्व होंगे और प्राथमिक ग्रहण में तत्त्वों का अस्पष्ट तथा अयथार्थ ज्ञान होता है।

प्रदत्त विषय ग्रहण का आधार होता है। अयथार्थगृहीत तथ्य इसका विरोधी होता है। प्रतिषेध का अर्थ ऐसे विरोधी का असत् नहीं हो सकता। प्रतिषेध भी ज्ञान ही है। रजत का प्राक्ज्ञान होता है जो शुक्ति को बहिष्कृत करता है और वर्तमान रजत का ज्ञान ऐसी रजत की सत्ता का प्रत्याख्यान करता है। यह ज्ञान प्रतिषेध है। क्या इसका अभिप्राय इसके विरोधी के असत्त्व से है जिसका पूर्व ज्ञान होता है। अर्थात् क्या प्रतिषेध का अर्थ दो ज्ञानों का पारस्परिक बहिष्करण है ? प्रतिषेध किसी ज्ञान का नाश नहीं कर सकता। ज्ञान क्षणिक होने से प्रतिपल नष्ट होता रहता है। तब क्या प्रतिषेध दो विषयों का पारस्परिक बहिष्करण है ? देखना है कि गृहीत विषय का प्रतिषेध होता है या कि अगृहीत विषय का। यदि पहला पक्ष है, तो क्या प्रतिषेध उसी विषय के ज्ञान से उत्पन्न होता है या कि दूसरे विषय के ज्ञान से ? उसी विषय के ज्ञान से यह उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि ग्रहण पूर्व-ज्ञान का प्रामाण्य स्थापित करता है। यह दूसरे का प्रतिषेध नहीं हो सकता। और दूसरे पक्ष पर अगृहीत विषय का प्रतिषेध सर्वथा असम्भव है। दूसरे शब्दों में प्रतिषेध वह है जिसमें एक ही विषय के दो ज्ञान या दो गुण निहित हों। इन दोनों को परस्पर असंगत होना चाहिये। एक का भाव इन दोनों में से परस्पर केवल एक को समाविष्ट करे।

प्रतिषेध का दूसरा लक्षण यह किया जाता है कि प्रतिषेध उसे कहते हैं जो अज्ञान को दूर करे। अयथार्थ ज्ञान सचमुच अज्ञान का एक रूप है। लेकिन सभी ज्ञान, जो अज्ञान को हटाते हैं, प्रतिषेध के उदाहरण नहीं कहे जा सकते। तब प्रतिषेध क्या है ? किसी अज्ञान के कारण प्रदत्त विषय का हमें अयथार्थ ज्ञान होता है। यह ज्ञान अपने आधार का ज्ञान हमें नहीं देता है। यहाँ प्रतिषेध गृहीत अर्थ और इसके कारण अज्ञान का निराकरण करता है। संक्षेप में प्रतिषेध हमें अपने आश्रय या आधार का भी ज्ञान देता है।

शुक्तिका में रजत-ज्ञान का उदाहरण लीजिये। कल्पना कीजिये कि इस ज्ञान के अनन्तर मन किसी दूसरे विषय को जानता है। तब चक्षु वापस लौटती है और शुक्तिका के सन्निकर्ष में आती है। यहाँ आश्रय का ज्ञान होता है और जिस अज्ञान से आश्रय तिरोहित रहता है उसका निराकरण होता है। अज्ञान

के तात्कालिक कार्य का यहाँ नाश नहीं होता। प्रतिषेध सार्थक तभी है जब उसका अभिप्राय किसी भ्रान्त ग्रहण या अग्रहण का निराकरण हो। जो सफलता पूर्वक निराकृत है वह आभास है। अयथार्थ ज्ञान का प्रतिषेध प्रतिषेधक वाक्य का रूप लेता है। इस प्रतिषेध का स्वयंकृत ग्रहण यह सत्य देता है कि अयथार्थ ज्ञान का गृहीत अर्थ आभास है। इस आभास की विशेषता यह है कि यह दिए हुए अर्थ का निराकरण है। अर्थात् जब हम किसी स्थान पर किसी अर्थ की उपस्थिति गोचर करते हैं और बाद में इसका निषेध करते हैं तो यह प्रतिषेध की अनुपस्थिति मात्र का द्योतक नहीं है। इसका कुछ विधायक अर्थ भी है। जब प्रतिषेध्य का ज्ञान हो जाता है तब अयथार्थत: गृहीत रजतादि गृहीत आधार की असत् विशेषता प्रतीत होते हैं। यह प्रत्यक्ष ग्रहण है। अत: हम केवल "यह रजत नहीं है" - यही नहीं कहते, वरन् "यहाँ रजत की प्रतीति या आभास है" - यह भी कहते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक प्रतिषेध में किसी व्याघात का पूर्वज्ञान अन्तर्हित रहता है। एक ढंग से दो गुण या अर्थ एक दिए हुए आधार के विषय में विधेय नहीं बन सकते। हर व्याघात के तीन अंग होते हैं। प्रथम अंग पूर्ववर्ती अनुभव द्वारा मन में अंङ्कित संस्कार या प्रतिबिम्ब (Image) है। दूसरा, इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा व्याघात दर्शक विषय का ग्रहण संभव नहीं है। चूँकि ऐसा अनुभव वस्तुत: भ्रान्तिमूलक है और संस्कार तथा इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष स्वत: ऐसे अनुभव के जनक नहीं हैं ; इसीलिये हमें ज्ञान के करण में दोष नामक तीसरा अंग मिलता है। जब ये तीनों अंग युगपत् वर्तमान रहते हैं तो एक विषय दूसरे विषय के स्वभाव से युक्त गृहीत होता है। यही व्याघात का नियामक मूलभूत सिद्धान्त है। जिन विषयों का परस्पर एकीकरण किया जा सकता है उन्हें स्पष्टत: जानकर व्याघात को हटाया जा सकता है। इस ज्ञान के अभाव में व्याघात का दोष अनिवार्य है। यह तभी सम्भव है जब परस्पर भिन्न रहने वाले दो या दो से अधिक पद इस प्रकार एकत्र रक्खे जाते हों जिससे उनके अर्थ परस्पर मिल न सकें। हमारे जगत् की यह एक विशेषता है। हीगेल का कहना है कि जगत् को चलाने वाला व्याघात है। व्याघात अचिन्त्य है - यह कथन हास्यापद है। इसमें यही सत्यांश है कि व्याघात चरम नहीं हो सकता। यह अपने कार्यों द्वारा अपना स्थैर्य और नाश दोनों करता है। नष्ट और स्थित व्याघात अमूर्त तत्त्व (Identity) नहीं है। क्योंकि यह प्रतिवाद (Antithesis) का एक पहलू है। विवरणकार भी यही घोषित करते हैं कि व्याघात सीमित सत्ता का अर्थ है। ज्ञान-परिस्थिति में हमारे लिये यह वस्तुओं और व्यक्तियों के संसार को संभव बनाने वाला सिद्धान्त है। जगत् के मूल में व्याघात है इस कथन का अर्थ है कि जगत् में अवश्यमेव प्रतिषेध अन्तर्हित है। प्रतिषेध के बिना संसार को ठीक-ठाक समझने वाला कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता।

हम अपने पूर्ववर्ती विवेचन में देख चुके हैं कि सच्चा ज्ञान निषेधात्मक वाक्य का रूप लेकर अयथार्थ अनुभव को हटा सकता है। सत्य ज्ञान असत्य ज्ञान को हटाता है। अग्रहण, आभास-ग्रहण, अयथार्थ अनुभव प्रभृति सत्य तथा सत्य-द्योतक वस्तु के प्रतिकूल हैं। ये सक्रिय अनुभव में सत्यज्ञान द्वारा निराकृत होते हैं। सत्यज्ञान होने पर इसके प्रतिकूल का निषेध होता है। यह प्रतिकूल एक विधायक सत्ता है। दूसरे शब्दों में निषेध पूर्ववर्ती अयथार्थ अनुभव की भाँति बराबर रूप से विधायक है। दोनों में अन्तर यह है कि अयथार्थ अनुभव उतना सत्य नहीं है जितना निषेध। किसी ज्ञान के निषेध में वस्तुत: इतना ज्ञान होता कि कोई अर्थ है जिसका ग्रहण हो रहा है। इसका निषेध इस कारण होता है कि प्रदत्त आधार की अस्वाभाविक इकाई को अप्रदत्त अर्थ से प्रभावित करता है। यह (इदम्) और किसी अन्य वस्तु का अर्थ - दोनों एक ही प्रदत्त के अङ्गभूत लगते हैं। उन्हें अभिन्न समझा जाता है। जिसका निषेध होता है वह केवल इदं (यह) अर्थ मात्र नहीं होता, वरन् 'इदं रजतम्' (यह रजत) - यह होता है। सत्ता और अर्थ अवश्य युक्त समझे जाते हैं। 'इदम्' भ्रान्ति में रजत प्रतीत होता है। शुक्ति की सत्ता रजत की सत्ता समझी जाती है। यह भ्रान्त अनुभव बाद को प्रतिषिद्ध होता है ! भ्रान्त अनुभव का प्रतिषेध यह सूचित

करता है कि भ्रांति स्वत: निषेध का रूप है और विधायक ज्ञान का काम करती है। यह युक्ति हमें एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर विचार करने को विवश करती है। अधिकांश चिन्तकों ने अध्यास को बाध समझा है। इन दोनों का कुछ सीमा तक परस्पर सम्बन्ध है। पर बाध अध्यास से अधिक मौलिक सिद्धान्त है। हीगेल का कहना ठीक है कि बाध व्याघात के अन्दर है। व्याघात सीमित जीवन का लक्षण है। जब इसे सत्ता और अर्थ के सन्तुलन से पूर्ण और सम्बद्ध बनाया जाता है तो यह लुप्त हो जाता है। उच्चतर अपरोक्षता में यह वस्तुत: लुप्त रहता है। पर बाध अर्थ और सत्ता के सन्तुलन पर आधारित नहीं है। यह विधि से ओत-प्रोत है और अनुभूति की सघनता के साथ यह भी सघन होता जाता है। इस सिद्धान्त से हमें सत्ता के स्वभाव की अन्तर्दृष्टि मिलती है। इसके बिना सत्य-ज्ञान दुष्प्राप्य है। बोसांक्वेट ठीक कहता है कि सत्य जितना पूर्ण होगा, बाध उतना ही गम्भीर होगा। असत् में असत् द्वारा बाध सत्य ज्ञान को पूर्ण करता है। इसके विपरीत व्याघात इस प्रकार पूर्णता नहीं देता। पूर्णता-प्राप्ति के लिए व्याघात दूर होना चाहिए। निषेध में निषेध द्वारा ही व्याघात शान्त होता है। बोसांक्वेट की भाषा में व्याघात की शान्ति के अनन्तर अवशिष्ट रहने वाली वस्तु बाध की सफल अभिव्यक्ति है।

विवरण प्रस्थान में स्वीकृत तर्क सिद्धांत उपर्युक्त विचार के अनुकूल है। यहाँ किसी दिए हुए विषय के सत्य ज्ञान को प्राप्त करने में बाध का सिद्धांत आवश्यक बताया गया है। व्याघात-शांति में इस सिद्धांत का उपयोग है। विवरणकार के मत में अयथार्थ अनुभव का आधारभूत अज्ञान वस्तुत: विधायक है। इस विधायक का ही सत्य ज्ञान से निषेध होता है। अद्वैत तर्कशास्त्र में बाध के महत्त्व का कारण यही आधार है। वास्तविक जगत् व्याघात के कार्य का प्रबल दृष्टान्त है, पर इसका आशय यह नहीं कि संसार भ्रम हैं। संसार अनिर्वचननीय है जैसे अयथार्थ अनुभव। भ्रम में वर्तमानगृहीत अर्थ पूर्ववर्त्तीगृहीत अर्थ के समान होता है। अत: हम इसे अनिवर्चनीय कहते हैं। जिसका ग्रहण होता है वह नितान्त असत् नहीं है। कारण, हमें वह आश्रय उपलब्ध है जिस पर असत्य सत्ता निर्भर है। यही आश्रित-आश्रयसम्बन्ध व्याघात का लक्षण है। इसका ज्ञान हर व्याघात में रहता है। और, एक अर्थ उस अव्यवहित रूप से समझा जाता है जो दिये हुए पदार्थ का अर्थ नहीं है। पर ग्रहण का आधार दिया हुआ सत् है। यह आधार ज्ञान को व्याहत करता है। व्याघात-ज्ञान में गृहीत अर्थ विषयगत है। यह बाहर है और इसका ज्ञान इसकी विषयगत सत्ता सिद्ध करता है। निषेधात्मक वाक्य का इस ज्ञान से साक्षात् सम्बन्ध है।

इस प्रकार बाध का संदर्भ प्रदत्त और पूर्ववर्त्ती ज्ञान से है। ऐसे संदर्भ के अभाव में निषेधात्मक वाक्य असंभव है। संदर्भ मुख्यत: ज्ञान के आधार से है। आधार विषय है। अयथार्थ अर्थ के निषेध से विशिष्ट विषय का ग्रहण होता है क्योंकि निषेध दुर्गृहीत विषय को सूचित करता है। निषेधात्मक वाक्य किसी विशेष ज्ञान की सत्ता का निषेध करता है न कि ग्रहण का। तात्पर्य यह कि बाध का चरम आधार ज्ञानरूप चैतन्य है। यह ज्ञान भ्रम में जो रूप धारण करता है वह अप्रदत्त विषय का अर्थ है। जिसका हम निषेध करते हैं वह अप्रदत्त विषय का आभास है न कि साक्षात् ज्ञान। ज्ञान करने वाला चैतन्य यथार्थ और अयथार्थ ज्ञानों में उभयनिष्ठ है। अत: निषेध आधार का निषेध नहीं करता। ज्ञात व्याघात भी असत् मात्र नहीं हो सकता। असत् मात्र का पर्यवसान अपरिमित वाक्य में होता है जो वस्तुत: वाक्य नहीं है। असत् साक्षात् दृश्यमान नहीं हो सकता। आभास का निषेध करने पर भ्रम ही नहीं रह जाता। ऐसा निषेध 'कुछ नहीं' दिखलाई पड़ता, इस कथन की भाँति व्यर्थ है। यदि यह दिखलाई नहीं देता तो हम इसे 'कुछ नहीं' नहीं कह सकते। यदि यह दिखलाई देता है तो यह (कुछ नहीं) नहीं है। जब हम अपगृहीत रजत का बाध करते हैं तो आशय है कि प्रत्यक्षत: सत्य रजत प्रदत्त विषय में नहीं है। बाध का अभिप्राय उस रजत से नहीं है जो अनुभव दशा में नहीं आता। प्रत्यक्ष रजत के निषेध से हमें गृहीत रजत और इसका आभास स्वरूप मिलता है। व्याघात के स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में यही बाध या निषेध सार्थक है।

***

अनिर्वचनीय सत्य

भ्रम ज्ञान में जब हम अधिष्ठान का विचार करते हैं तो हमें प्रत्येक सांवेदनिक क्रिया (Perceptual act) के सत्ताविषयक आधार (Ontological basis) का पूरा पता चलता है। इस विषय में द्वैतदर्शन द्वारा की गई योगाचार संज्ञक बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय की आलोचना माननीय है। योगाचार के मतानुसार जब शुक्ति का ज्ञान होता है तब हमारे मन में रजत की कल्पना (Image) या विचार (Idea) होता है। मन में एक विशिष्ट प्रकार का संस्कार होता है। रजत बाहर नहीं है, कारण, उसका तो आगे चलकर निषेध किया जाता है। अब प्रश्न यह है कि रजत को हम मानस किस प्रकार कह सकते हैं ? यह रजत इन्द्रिय-संयोगजन्य ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता ; तथापि मुझे इसका मेरी आंतर-चेतना (Consiousness) जितना ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। क्या रजत का स्वरूप स्वाभाविक है या किसी अन्य निमित्त द्वारा उत्पाद्य है ? प्रथम कल्प ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान तो केवल विशुद्ध ज्ञान ही है और इसी हेतु से दूसरे कल्प को अवकाश ही नहीं। तथापि इस पर कोई कह सकते हैं कि विशिष्ट संस्कारों का बल या सामर्थ्य पाकर ज्ञान रजताकार धारण करता है। पहले किसी समय होने वाले रजत ज्ञान द्वारा यह संस्कार (Impression) या कल्पना (Image) जन्म पाती है। यह संस्कार या कल्पना ज्ञान से विविक्त है। यह ज्ञेय है अथवा नहीं ? यह ज्ञेय है यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि योगाचार सिद्धान्त के अनुसार, ज्ञान तथा ज्ञेय में कोई संभाव्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसे अज्ञेय कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह बात उसके कार्यकारी स्वरूप (Pragmatic nature) के साथ विसंगत है। ऐसी स्थिति में संस्कार या कल्पना को ज्ञानमात्र कहना पड़े (तो आश्चर्य की बात नहीं)।

संस्कार कुछ समय पहले उत्पन्न हुआ और तदनन्तर अनेक ज्ञान हुए। कहा जाता है कि संस्कार वर्तमान ज्ञान का कारण है। एक बीज दूसरे बीज को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, यद्यपि नये बीज की उत्पत्ति के पूर्व अनेक मध्यवर्ती अवस्थाएँ होती हैं। यही न्याय वर्तमान ज्ञान पर लागू होता है। बीजांतर की उत्पत्ति में पाई जाने वाली मध्यवर्ती अवस्थाएँ उस नये बीज की आवश्यक शर्तें या साक्षात् कारण होती हैं। प्रथम बीज कारण हो सकता है और (उसी प्रकार) वास्तव रजत के ज्ञान से संस्कार की जनक ज्ञानपरंपरा-अनंत ज्ञानधारा-उत्पन्न हो सकती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती ज्ञानगत रजत ही रजत-कल्पनारूप मानसिक आकार धारण करता है और साक्षात् या अपरोक्षवत् उसका ग्रहण होता है।

अब हमें यह देखना है कि भ्रमज्ञानगत रजत का सत्ताशास्त्र (Ontology) की दृष्टि से कुछ दर्जा है या नहीं। क्या यह रजत अस्तित्त्वभावापन्न होती है ? यदि नहीं तो वह बाहर किस प्रकार हो सकती है ? यदि कहें कि होती है तो किसी वस्तु से वह जन्य नहीं हो सकती क्योंकि प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं। इस पर यह कहा जा सकता है कि शुक्ति रजत की ज्ञान द्वारा उत्पत्ति

* अनुवादक : श्रीराम माधव चिंगले, एम.ए. तत्त्वज्ञानमन्दिर, अमलनेर।

सूचना :- कोष्ठक के भीतर के अंश मूल में न होते हुए भी अनुवादक ने स्पष्टीकरणार्थ जोड़ दिये हैं।

तथा अस्तित्त्व किसी सदोष कारण द्वारा संभव है। अब हम इस बात को मानकर चलें (अभ्युगम) कि ज्ञान किसी वस्तु को अस्तित्त्व में कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि रजत का जनकज्ञान यही है (ग्राहक ज्ञान) या अन्य कोई ? लेकिन प्रस्तुत रजत का जनक ज्ञान उससे पूर्ववर्ती होना चाहिये। उसी समय रजत उसका विषय नहीं होती। अर्थात् ज्ञान तथा रजत विभिन्न कालखण्डों में होते हैं। रजत का कारणरूप ज्ञान जिस समय होता है उस समय न तो रजत होती है और न उसका ज्ञान ही। चूँकि ज्ञान क्षणिक है इसलिये ज्ञान के क्षण में रजत नहीं हो सकती ; और जब रजत होती है तो रजत क्षण में ज्ञान नहीं रहता। अतएव ऐसा ज्ञान रजत के प्रादुर्भाव का कारण नहीं हो सकता। रजत की उत्पत्ति तो ज्ञानकरण या ज्ञान सामग्री गत किसी दोष द्वारा होनी चाहिये। किंतु वर्तमान क्षण से पूर्व ज्ञान में कोई सदोष कारण उपलब्ध नहीं होता और न यह रजत की उत्पत्ति के अनन्तर ही उपलब्ध होता है। यदि माना जाय कि रजत निर्दोष ज्ञान का विषय होती है तो अतिप्रसंग होगा : प्रत्येक ज्ञान में प्रत्येक वस्तु भासने लगेगी (और सब अव्यवस्था हो जायेगी)।

क्या ज्ञान (शुक्ति) रजत का जनक है ? सत्य वह है जिससे हमें कुछ भावरूप उपलब्धि हो। रजत कम से कम अपने अर्थ तथा ज्ञान का कारण है। अतएव इस शुक्तिरजत को भी सत्य मानना पड़ेगा। यदि सदोष सामग्री द्वारा रजत की उत्पत्ति मानें तो रजत का कुछ न कुछ आधार होना चाहिये। और चूँकि रजत अपने अर्थ का कारण है और क्योंकि उसका ग्रहण होता है (अतएव) उसे सत्य माना जाना चाहिये। इसके विपरीत, यदि ज्ञान को रजत का जनक न मानें तो रजत उसका विषय न हो पाएगी ; अतएव उसका ग्रहण भी संभव न होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भ्रम ज्ञान के लिये भी कोई न कोई वस्तुगत निर्देश्य आधार होना चाहिये।

भ्रमज्ञान द्वारा भी हमें विषय का (या वस्तु का) कुछ न कुछ ज्ञान होता है। यह ज्ञान दोष तथा भ्रमज्ञानजन्य संस्कारों द्वारा उत्पन्न होता है। इस पर कोई कहेंगे कि इस (भ्रम) ज्ञान के लिये किसी सत्य वस्तु या विषय की तथा ज्ञानकरण की आवश्यकता नहीं। इसका सीधा अर्थ यह होता है कि (भ्रम) ज्ञान का कोई आधार नहीं। लेकिन यह पक्ष युक्तिसह नहीं। क्या भ्रम वस्तु का केवल ज्ञान है या वह ज्ञान इन्द्रिय सदृश कुछ दोषों द्वारा उत्पाद्य है ? यदि प्रथम कल्प ठीक माना जाय तो शून्य या नकिंचित् (Nothing) के ज्ञान को भी भ्रमात्मक कहना पड़ेगा। भ्रम में किसी वस्तु का ज्ञान तदन्य किसी स्थान में होता है। यदि द्वितीय कल्प को स्वीकार किया जाय तो हम यह सुगमता से बतला सकते हैं कि आधार का भी ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

अब कोई कहेंगे कि रजत का मुझे भावनात्मक अनुभव है। इस प्रकार की भावना द्वारा रजत का ग्रहण होता है क्योंकि रजत भावनात्मक अनुभूति की पार्श्वभूमि (Felt background) से संबद्ध है। अब चूँकि विषय या ज्ञेय वस्तुएँ कुछ अज्ञेय पदार्थ हैं जिनका एक मात्र निर्वचन हम संवेदनों (Sensations) के रूप में कर सकते हैं, इसलिये रजत का ग्रहण मुझे कुछ संवेदनों या अंकनों (Impressions) के रूप में ही होता है। इससे यह दलील पेश की जा सकती है कि यहाँ भी एक आधार है, एक का आधार दूसरा है। इस सम्बन्ध में बीज तथा पौधे का दृष्टांत दिया जा सकता है। ऐसे स्थलों में आधार नामक तीसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं।

लेकिन उक्त युक्ति समर्थनीय नहीं। किसी भी भ्रमज्ञान में आधार गृहीत विषय से पृथक् होता है। यदि रजत तथा उसका ज्ञान एक दूसरे के आधार हों तो इसका गर्भितार्थ यह होगा कि ये परस्पर "एक अर्थात् दूसरा" इस प्रकार के हैं, अन्योन्य सूचक हैं। लेकिन ऐसा होना असंभव है। लेकिन क्या यह असंभव बात बीज तथा पौधे के बारे में घटती हुई नहीं दीख पड़ती ? थोड़े विचार से भी यह मालूम होगा कि इस प्रकार का कोई संबंध नहीं है। इस बीज से पौधा होता है। उस पौधे से नया बीज और नये

बीज से एक और नया पौधा और यही क्रम आगे भी है। यह तो कारण परंपरा है, पारस्पर्य का गर्भित रूप से द्योतक नहीं। और भी, रजत तथा ज्ञान को इस प्रकार एक दूसरे आधार कहना तर्कसंगत नहीं।

अब यह युक्ति दी जा सकती है कि रजत का आधार पूर्वज्ञान है और ज्ञान का आधार उसका विषय ही है। इस प्रकार हम एक अनंत क्रम या परंपरा की कल्पना कर सकते हैं। लेकिन हमारे इस कथन का यह अर्थ होता है कि वर्तमान ज्ञान उत्तर क्षण भावी रजत का आधार है। और उक्त क्षणवर्ती रजत तदुत्तरभावी ज्ञान का आधार है। लेकिन यह बात ज्ञान के क्षणिकत्व के लिये विघातक होगी। पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान को उस क्षण के अनंतर भी रहना होगा ताकि वह इस क्षण का आधार बन सके। अर्थात् दोनों को एकसमयावच्छेदेन रहना होगा।

यदि उक्त बात ठीक है तो क्या बीज तथा पौधे में इस प्रकार की एककालावस्थिति है ? दोनों का कालिक सहभावित्व किसी अनंत परंपरा द्वारा उत्पाद्य नहीं। बीज पौधे का कारण है और वह स्वयं अनेक परिवर्तनों में से गुजरते हुए कार्यकारी होता है। पौधे के आने के साथ ही बीज-बीज रूप से नहीं रहता। बीज तो पौधे के अस्तित्त्व में विलीन हो जाता है; वह पौधे में और 'पौधा' रूप से रहता है। अन्यथा पौधा ही न हो सकेगा। हमारे ज्ञान तथा प्रदत्तसामग्री (Data) द्वारा उक्त निष्कर्ष को पुष्टि मिलती है। अब कुछ पदार्थ बीज आदि के उपक्रम के हेतु मिलितरूप से कार्य करते हैं। ये पदार्थ की उत्पत्ति की सामग्री है। इसका यह अर्थ नहीं कि बीज निरुपयोगी है। बीज तथा पौधा आवश्यक शर्तें हैं, ये पारस्परिक रूप से आवश्यक हैं।

उक्त न्याय से क्या हम यह नहीं कह सकते कि पूर्वज्ञान उत्तरवर्ती रजत में विलीन होता है, क्या हम यह नहीं कह सकते कि ज्ञान रजत की आवश्यक शर्त है ? हमारे अनुभव में तो हम इस बात के लिये किसी प्रकार का समर्थन नहीं पाते। हम बीज को कारण तथा पौधे को कार्य इसलिये मानते हैं कि हमारे अनुभव में हम इसका समर्थन पाते हैं। किंतु ज्ञान तथा रजत में हमें इस प्रकार का कोई संबंध नहीं मिलता। बीज तथा पौधे के संबंध के कुछ उदाहरण हम प्रत्यक्षरूप से देखते हैं और इसका अतिदेश हम अन्य बीजों में भी करते हैं क्योंकि ये भी बीज हैं (बीजत्व से युक्त हैं)। चूँकि यह प्रत्यक्ष अनुभव के योग्य वस्तुस्थिति है अतएव कार्यकारण सन्बन्ध का वास्तव स्वरूप चाहे कुछ भी क्यों न हो इसमें अनवस्था दोष नहीं आता। किन्तु जहाँ तक रजत तथा ज्ञान के सम्बन्ध का प्रश्न है हमें ठीक प्रारम्भ में ही कारणिक सम्बन्ध (Causal relation) को मान कर चलना पड़ता है। इस गृहीत बात को अनुभव का आधार नहीं क्योंकि उसका एक मात्र आधार है सदोष साद्रृश्य (द्रृष्टान्त तथा द्राष्टान्तिक में)। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसे न तो हम देख पाते हैं और न सिद्ध कर सकते हैं। यह अंधसम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य यह कि ज्ञान विषय तथा मेरे ज्ञान के अतिरिक्त और भी ऐसी कोई वस्तु है जिसका वस्तुनिष्ठ (objective) अस्तित्त्व है, जिसका निषेध हम विचार की मर्यादा में रहकर नहीं कर सकते।

भ्रमज्ञान ''यह रजत है'', ''यह 'सर्प' है'', ''यह क्ष है'' - इत्याकारक होता है। यहाँ दो चीजें हैं, एक तो 'यह' और दूसरी 'रजत', 'सर्प', 'क्ष' रूप अन्तर्गत वस्तु (contant)। इनमें से 'यह' तो अस्तित्त्ववान प्रदत्त (the existent given) की ओर निर्देश करता है और दूसरी चीज गृहीत अन्तरार्थ की ओर निर्देश करती है। 'यह' गृहीत अन्तरार्थ (apprehended content) का आधार है। पश्चात् भावी निषेध भी इसी आधार की ओर निर्देश करता है या कम से कम उसे ध्वनित करता है। (निषेध का आकार है 'यह रजत नहीं है, ''यह सर्प नहीं' ई.)। हम पाते हैं कि जिस विषय को हमने अमुक अन्तरार्थ (content) से युक्त है इस प्रकार जाना था वह उस गृहीत अन्तरार्थ से युक्त नहीं है। तब इस पश्चात्भावी निषेध से यह सिद्ध होता है कि पूर्वज्ञान ('यह रजत है,' 'यह सर्प है' इ.) एक ऐसा भ्रम है जिसका आधार सदोष है या जो प्रदत्त आधार में विसंगत है। यदि उक्त 'यह' निर्दिष्ट न किया जाय, यदि उसके स्वयं कोई

विशिष्ट अन्तरार्थ न हो तो 'यह रजत नहीं है इत्याकारक निषेधात्मक विधान (Negative Judgement) न किया जा सकेगा।

इस पर कोई कहे कि निषेधात्मक निर्णय का उक्त आकार होना आवश्यक नहीं। कभी हम यह भी कहते हैं "सर्प नहीं"। इस प्रकार का शब्द प्रमाण और अनुमान भी सिर्फ सर्प का निषेध करते हैं। वे केवल इतना ही बतलाते हैं कि सर्प का अभाव है। वे ऐसे किसी अन्तरार्थ (content) के बारे में कुछ नहीं कहते जो सर्प के अन्तरार्थ का निराकरण करे (exclude) या स्वयं उससे निराकृत हो। इस बात की सत्यता में कोई सन्देह नहीं। तथापि ऐसे उदाहरणों के बारे में भी यह प्रश्न उठ सकता है कि "यह क्या है ?" तब हमें बलात् आधार की ओर-प्राक्वर्त्ती विषय की ओर-जाना पड़ता है। (तब) हम सिर्फ सर्पाभाव विशिष्ट विषय का ग्रहण करते हैं क्योंकि निषेध गर्भितार्थतया ऐसे विषय के अस्तित्त्व को सूचित करता है जिसका अयथार्थ रूप से ग्रहण किया गया था।

लेकिन इस कथन को लीजिये -"भौतिक जगत् का कारण ऐसी प्रकृति नहीं जो स्वयं अकारणक हो"। प्रस्तुत स्थल में हम प्रकृति के अभाव से विशिष्ट अन्य किसी विषय को ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि जो प्रकृति कारण रूप से गृहीत है वह गृहीत अन्तरार्थ (apprehended content) नहीं कही जा सकती जबकि अन्य कोई वस्तु विश्व के प्रदत्त (given) कारण रूप से कार्य करती हो। तथापि इस युक्ति के भुलावे में आकर हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि जब हम उक्त प्रकृति का जगत् कारणतया निषेध करते हैं तब कारण रूप से गृहीत अन्य कोई वस्तु इस निषेध का आधार अवश्यमेव होती है।

और भी, भ्रम ज्ञान का विचार करते समय हमें ज्ञाता या विषयी की ओर अनवधान नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के विचार में वह भी अपना महत्त्व रखता है। अनुभव लेने वाला विषयी चैतन्य या आत्मा है जो ग्रहण करता है या भावनात्मक अनुभव लेता है। इस प्रकार का भावनाग्राहक या द्रष्टा विषयी सबका अन्तिम आधार है। सच बात तो यह है कि तथाकथित आधार रहित ज्ञान में भी यही आत्मचैतन्य भ्रमविषय तथा उसके बाध का भी आधार होता है। उदाहरणार्थ, अपनी आँख मलिये, और फिर उसे खोलिये, आपकी आँख के सामने अनेक धुंधले गोलाकार चक्र छहराते हुए दीख पड़ेंगे। लेकिन कुछ देर बाद केवल इन्हीं की सत्यता का निषेध किया जाता है। इस अपने ज्ञान या ग्रहण की सत्यता का निषेध नहीं करते। ज्ञान या ग्रहण आवश्यक रूप से उस चैतन्य को लक्षित करता है जो इसका स्वयं का (ज्ञान या ग्रहण का) प्रकाशक है और जो प्रत्यक्ष ग्रहण काल में ज्ञान विषय को सत्यता भी प्रदान करता है। (इसी सत्यता के कारण हम भ्रम विषय को सत्य समझ बैठते हैं और उसे लेने का प्रयत्न करते हैं)

इस पर कोई कहेंगे कि विषय के निषेध (यह रजत नहीं' इत्याकारक निषेध) के साथ ही उसके ज्ञान तथा ग्रहण का भी निषेध होना चाहिये। यदि यह बात ठीक है तो भ्रम के बाध के साथ ही भ्रम विषय के ग्राहक उस चैतन्य का भी निषेध होना चाहिये जिसके कारण उक्त भ्रमात्मकप्रतीति संभव हुई, इसका गर्भितार्थ यह होता है कि चैतन्य आधार नहीं। किंतु उक्त निगमन ठीक नहीं। इतना ही नहीं, वह असंभव भी है क्योंकि बाध या निषेध का विषय तो केवल प्रतिभास है, न कि चैतन्य जिसके कारण यह प्रतिभास संभव होता है। इस चैतन्य का बाध या निषेध संभव नहीं क्योंकि वह तो बाधकाल में भी बराबर विद्यमान रहता है, और भविष्य कालीन अनेक भ्रमों का आधार भी वही है। बाध या निषेध स्वयं ही किसी आधार को सूचित करता है क्योंकि इस आधार के बिना बाध या निषेध-ज्ञान ही संभव नहीं, (बाध साक्षी के बिना बाध होता है यह कहना संभव नहीं) कहने का तात्पर्य यह है कि इस चैतन्य रूप अधिष्ठान का निषेध कभी संभव नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि उसका स्वरूप वास्तविक रूप से भेद-सहिष्णु नहीं। उसका स्वरूप इस प्रकार का नहीं कि जिसमें भेद तथा अभेद सुव्यवस्थित रूप से

रह सकें (a system of identity in difference) । वह स्वगत-भेद रहित है, अंश-अंशिभाव विरहित है, सम्बन्ध युक्त नहीं । यह चैतन्य एकमेवाद्वितीय एवं नित्य अपरोक्ष है।

जब समस्त भ्रमात्मक ज्ञान के लिए कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए तब (इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि) गृहीत अन्तरार्थ (the apprehended content) का भी भावरूप अस्तित्त्व हो। वह अत्यन्त असत् (यथा वंध्यापुत्र या खपुष्प) नहीं हो सकता क्योंकि असत् पदार्थ साक्षात् अपरोक्ष प्रतीति के योग्य नहीं। निरे प्रतिभास का निषेध भ्रम का सूचक नहीं, इस प्रकार का निषेध इतना ही अर्थशून्य है जितना कि यह कथन ''न किंचित् या शून्य प्रतीयमान नहीं होता।'' यदि वह प्रतीयमान नहीं होता तो हम यह भी नहीं कह सकते कि वह न किंचित् या शून्य है, यदि वह प्रतीयमान होता है तो वह किंचित् या शून्य ही नहीं रह पाता। तब तो वह भावरूप कुछ है।

भ्रमज्ञान में गृहीत अन्तरार्थ प्रतिभास रूप होता है। वह नकिंचित् या शून्य से भिन्न होता है। यदि हम कहते हैं कि रजत 'मिथ्या है' तब हमारा (मिथ्यात्व) यह अभिप्राय होता है या होना चाहिए कि यह मिथ्या रजत से पृथक् है, यह कदापि नहीं कि वह शशश्रृङ्ग की तरह असत् है। जब हम निषेधात्मक निर्णय पर पहुँचते हैं (यथा यह रजत नहीं) तब हमें यह अभिप्रेत नहीं होता कि रजत अत्यन्त असत् है। (भ्रमज्ञान का) विषय भ्रम ज्ञान के काल में अस्तित्त्ववान होता है, बाद में (बाध के अनन्तर) वह अस्तित्त्वविरहत होता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु का ज्ञान उस वस्तु के अभाव में नहीं हो सकता, अत्यन्त असत् के द्वारा हम संवेदन (Sensations), अंकन (impressions), कल्पना इत्यादि बातें प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए विषय अस्तित्त्ववान होना चाहिए। किसी भी प्रकार का इन्द्रियज्ञान ज्ञाता या ज्ञेय विषय के बिना संभव नहीं। अनुभव के लिए सदैव अनुभाव्य एवं अनुभविता के अस्तित्त्व तथा सत्यता की आवश्यकता होती है। वस्तुबोध में प्रदस्त (given) के लिए कुछ आधार अवश्य होना चाहिए और सत्य ज्ञान में यह आधार होती है सद्वस्तु (Reality)। मिथ्या या भ्रमज्ञान में यह आधार या तो प्रदत्त विषय होता है या ज्ञान ग्राहक आत्मा। दृश्य ज्ञेयवादियों (Phenomenalists) द्वारा किए गए भ्रमज्ञान के विश्लेषण को देखकर तो हमें विषय की सत्यता का और दृढ़तर निश्चय हो जाता है। वस्तुनिष्ठ अधिष्ठान के बिना हमें भ्रम होना सम्भव नहीं। वैसे ही उक्त अधिष्ठान के अभाव में हमें यथार्थ ज्ञान होना भी सम्भव नहीं। और, एक ऐसा तार्किक सिद्धान्त जो प्रत्यक्षानुभूति पर अधिष्ठित होने का दावा करता है, आवश्यक रूप से सत्ताशास्त्र से नाता रखने वाला होना चाहिए। अनुभूति के विषयों की सत्ता या अस्तित्त्व में सन्देह को तनिक भी अवकाश नहीं। और ज्ञान मीमांसा (Epistemology) का श्री गणेश इसी स्वयंसिद्धसत्य (axiom) के मूलभूत सुदृढ़ आधार पर होना चाहिए। यह आवश्यक है कि ज्ञान विषयक कोई भी सिद्धान्त (Theory of knowledge) हमें ज्ञेय के बारे में कुछ कहे और यह भी कहे कि उक्त ज्ञेय किस प्रकार (किस प्रक्रिया से) जाना जा सकता है। यही वह महत्त्व का सिद्धान्त है जो भ्रमज्ञान के विश्लेषण से हमारे हाथ लगता है।

***

परिच्छेद : पाँच

हर्षनारायण

हर्षनारायण

प्रो. हर्षनारायण का जन्म (१९२२) उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक से लेकर स्नातक पर्यन्त शिक्षा बलिया में ही हुई। दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर एवं पी-एच.डी की उपाधि इन्होंने क्रमश: नागपुर और लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त किया था। अपने अध्यापकीय जीवन में प्रो. हर्षनारायण किसी एक संस्थान से बंधे नहीं रहे और वैसे ही इनके अध्ययन क्षेत्र में भी उल्लेखनीय परिवर्तन होता रहा। उत्तर प्रदेश सचिवालय में अधीक्षक का पद त्यागकर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में लेक्चर बनना स्वीकार किया और कुछ दिनों के पश्चात् रीडर पद पर नियुक्त होकर नार्थ ईस्टर्न हिल युनिवर्सिटी, शिलाँग चले गये। इसी प्रकार कुछ दिनों तक प्रो. नारायण गुरूकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। यू.जी.सी. प्रोजेक्ट के अन्तर्गत दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय को भी इन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण सेवा प्रदान की थी। १९६६ में इन्होंने लखनऊ में 'लखनऊ अकादमी' की स्थापना की थी जो १९७७ तक सफलतापूर्वक चली। अरब सरकार द्वारा इन्हें वेदों का अरबी भाषा में अनुवाद करने के लिए ससम्मान आमंत्रित किया गया था, लेकिन इसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अयोध्या रामजन्म भूमि विवाद को लेकर बाबरी एक्शन कमेटी और विश्व हिन्दू परिषद् के मध्य बातचीत के लिए इन्हें गृहमंत्रालय, भारत सरकार की ओर से विशेषज्ञ नियुक्त किया गया था। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, पाली, प्राकृत, उर्दू, अरबी, फारसी एवं लैटिन इत्यादि भाषाओं के विस्तृत ज्ञान-जगत् में अत्यन्त अवाप्तकारी प्रतिभा के धनी प्रो. हर्षनारायण ने बहुआयामी और प्रचुरमात्रा में लेखन कार्य किया है, जिसमें से अधिकांश प्रकाशित और कुछ अभी भी अप्रकाशित ही हैं। डॉ. मुक्तावली (पुत्री) से प्राप्त जानकारी के अनुसार इनकी प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियाँ-एवोल्यूशन ऑफ न्यायवैशेषिक कैटेगोरियोलॉजी (दूसरा भाग अप्रकाशित), एवोल्यूशन ऑफ डायलेक्टिक इन वेस्टर्न थॉट, डिस्कवरी ऑफ मार्क्स (इण्डियन फिलासफी बुक पुरस्कार १९८८), फैसेट्स ऑफ इण्डियन रिलिजियो फिलासफिक आईडेण्टिटी, मिथ्स ऑफ कम्पोजिट कल्चर एण्ड इक्वलिटी ऑफ रिलिजन्स, दि माध्यमिक माइण्ड, कल्चर कम्पोजिट एण्ड ऐंगलोईट बेस रिलिजन्स (बर्टेण्ड डू बाइट द्वारा फ्रेंच में अनूदित), सिर्रे अकबर सहित उपनिषद् समुच्चय, जजिया एण्ड दि स्प्रेड ऑफ इस्लाम, दि अयोध्या टेम्पल-मॉस्क डिस्प्यूट: फोकस ऑन मुस्लीम सोर्सेज, हिन्दू-मुस्लिम डायलॉग: बेसिक इश्यूज (अप्रकाशित), फ्रेस लुक्स ऑन बुद्धिस्ट थॉट (अप्रकाशित), भारतीय सेक्यूलरवाद पर पुनर्विचार, समिश्र संस्कृति एवं सर्वधर्म समता के प्रवाद, प्रमाण कारिका:, दयानन्द एक प्रामाणिक मूल्यांकन (अप्रकाशित), न्याय वैशेषिक इश्यूज (अप्रकाशित) इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी-अंग्रेजी में शताधिक परिष्कारात्मक शोध निबन्धों के अलावा प्रो. हर्षनारायण ने इन्साइक्लोपीडिया ऑफ लेक्जिऑन्स, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, उर्दू इन्साइक्लोपीडिया के माध्यम से भी महत्त्वपूर्ण लेखन किया है।

वेदान्त-वाङ्मय : एक विवेचन

वेदान्त भारतीय दर्शनाकाश का उज्ज्वलतम नक्षत्र है। उसे भारत का एकमात्र जीवित दर्शन कहा जा सकता है। किन्तु उसके स्वरूप की सही जानकारी विरल है। डॉ. दयाकृष्ण जैसे विचारक को तो उसके दर्शनत्व में ही सन्देह है। उनके एक निबन्ध 'वेदान्त: डज इट मीन एनीथिंग ? इसमें और ऐसे ही कुछ अन्य आलेखों में इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये हैं। हमारा प्रस्तुत निबन्ध पूरा का पूरा उनके उत्तर में तो नहीं, किन्तु बहुत कुछ उसी की प्रतिक्रिया में लिखा जा रहा है। इसमें वेदान्त के स्वरूप का प्रमाणपुरस्सर निर्वचन करने की चेष्टा की जा रही है, जिससे सम्भवत: बहुत सारे प्रश्नों के लिए अवकाश ही नहीं रह जायेगा।

'वेदान्त शब्द का अर्थ हैं वेद+अन्त', वेद का अन्त। 'वेद का अर्थ अथवा स्वरूप जरा जटिल है। मन्त्रसंहिताएँ वेद हैं, किन्तु दयानंद जैसे वेदज्ञों के प्रबल विरोध के होते हुए भी, परम्परया और व्यवहारत: ब्राह्मणों और उनके साथ-साथ आरण्यकों और उपनिषदों को भी वेद के अर्न्तगत माना जाता है। और संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषदें भी कई-कई हैं। परम्परानुसार उनमें से प्रत्येक की संख्या सहस्र के ऊपर जाती है। वैसे उपलब्ध संहिताओं की संख्या प्राय: एक दर्जन से अधिक नहीं है। उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या लगभग ड्योढ़ी है। उपलब्ध आरण्यकों की संख्या तो संहिताओं की संख्या की आधी भी नहीं है। उपलब्ध उपनिषदों की संख्या दो सौ से उपर है, किन्तु इनमें प्राचीन और प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या अत्यंत अल्प है।शंकर के भाष्य कम से कम ९ उपनिषदों पर उपलब्ध हैं, किन्तु उन्होनें कम से कम १४ उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप उदाहृत किया है। उपनिषदें वेद का अंतिम भाग हैं, वेद का अन्त, वेदान्त। 'अन्त' का एक और अर्थ होता है, निष्कर्ष, निर्णय, मर्म, रहस्य। उसी अर्थ के संदर्भ में, 'अन्त' में सिद्ध, राद्ध, और कृत जोड़ कर क्रमश: सिद्धान्त 'राद्धान्त' और 'कृदान्त'बना लिये जाते हैं। 'अन्त' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग गीता के इस श्लोक में हुआ है -

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:॥[1]

अस्तु, 'वेदान्त' के 'अन्त'को इस अर्थ में लेने पर उक्त पद (वेदान्त) का अर्थ हुआ वेद का निष्कर्ष, निर्णय, मर्म अथवा रहस्य। वस्तुस्थिति भी यही प्रतीत होती है। संहिताओं में प्रतिपादित देवता-तत्त्व, यज्ञ-तत्त्व, विश्व-तत्त्व की व्याख्या ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का प्रधान विषय है। ब्राह्मणों मे आधियाज्ञिक दृष्टि का प्राधान्य है, आरण्यकों में आधिदैविक दृष्टि का और उपनिषदों में आध्यात्मिक दृष्टि का। उदाहरणत: ब्राह्मण में यज्ञ का रूप प्राय: द्रव्यमय है, आरण्यक में प्रतीकमय-ध्यानमय और उपनिषद् में ज्ञानमय-अध्यात्ममय। बृहदारण्यक का आरम्भ ही अश्वमेध के वैश्वीकरण से होता है। वस्तुत: उक्त तीनों दृष्टियाँ एक ही विषय के तीन आयामों का उद्घाटन करती हैं जिनका विभागश: प्रतिपादन त्रिविध वैदिक वाङ्मय का विषय है। इस प्रकार वेद के चारों भाग परस्पर पूरक-अनुपूरक -सिद्ध होते हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि वेद का चरम रहस्य अन्तत: उपनिषद् में ही खुलता है। उपनिषद् को वेदान्त कहने का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है।

वेद अर्थात् सहस्राधिकशतशाखात्मक चतुर्विध वाङ्मय, साङ् ख्यदृष्टिबहुल वाङ् मय है- साङ्ख्यदृष्टिबहुल अर्थात् सङ्ख्याओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान का प्रतिपादक। वेद में सर्वत्र एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ आदि सङ्ख्याओं को प्रतीक अथवा प्रहेलिका के रूप में रखकर विविध तत्त्वों का प्रतिपादन प्राप्त होता है ।[२] इन सङ्ख्याओं के रहस्योद्घाटन के बिना वेदार्थ का उद्घाटन असम्भव है। हमारी धारणा है कि सङ्ख्या-विचार द्वारा वेदार्थ के उद्घाटन का आद्य सुव्यवस्थित प्रयत्न ही साङ्ख्यशास्त्र, साङ्ख्यदर्शन, के प्रादुर्भाव का कारण हुआ । कालान्तर में साङ्ख्य का स्वरूप इतना परिणत हो गया कि लोग उसे अर्द्धवैदिक अथवा अवैदिक दर्शन समझने लगे। किन्तु वह मूलत: एक वैदिक दर्शन, वेदार्थ प्रतिपादक दर्शन था। वस्तुत: साङ्ख्य ही आदि दर्शन था, सुव्यवस्थित ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत। परम्परया-

ज्ञानश्च लोके यदिहास्ति किञ्चित् साङ्ख्यागत तच्च महत् महात्मन् ![३] अर्थात् सारा ज्ञान साङ्ख्य से प्रवृत्त हुआ है। हमने एक निबन्ध में साङ्ख्य के गुणत्रय-सिद्धांत का आधार वैदिक वाङ्मय में ढूँढने का प्रयत्न किया है।[४] साङ्ख्यदर्शन की महिमा कभी इतनी बड़ी थी कि इसे साक्षात् मोक्षदर्शन' कह कर पुकारा गया-

एतदाहुर्महाप्राज्ञा: साङ्ख्यं वै मोक्षदर्शनम् ॥[५]

साङ्ख्य-योग की वैदिकता इससे भी ध्वनित होती है कि महाभारत में उसका वेद और आरण्यक से आंगिक सम्बन्ध बतलाया गया है-

'एवमेकं साङ्ख्ययोगं वेदारण्यकमेव च' ।
'परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते' ॥[६]

वैदिक विश्व-दर्शन, वैदिक तत्त्व-विज्ञान के वेदान्त का निरूपक होने के कारण उपनिषदों के बाद साङ्ख्य की भी उपचारत: 'वेदान्त' संज्ञा पड़ी। प्राचीन उपनिषदों में भी साङ्ख्य-दृष्टि का प्रचुर प्रयोग हुआ ही है। गीता में तत्त्वज्ञान की मुख्य धाराओं के रूप में साङ्ख्य और योग का उल्लेख है। वहाँ साङ्ख्य और वेदान्त का अभेद स्पष्ट है। स्वयं शंकर गीता के साङ्ख्ये कृताने"[७] का अर्थ 'वेदान्ते' करते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी के भेद-प्रभेद-स्वरूप साङ्ख्य, योग और लोकायत का उल्लेख किया गया है -

साङ्ख्यं, योगो, लोकायतं' चेत्यान्वीक्षिकी ।[८]

साङ्ख्य के प्राचीनतम विवरणों से उसका वेदान्तत्त्व स्पष्ट है। गीता में उल्लिखित साङ्ख्य का सम्बन्ध वेद के ज्ञान-काण्ड से था, कर्मकाण्ड की व्यवस्था और व्याख्या के लिए जो दर्शन उसी के सामानान्तर विकसित हुआ था उसकी योग संज्ञा थी। ये दोनों दर्शन वैदिक ज्ञान-काण्ड और कर्म-काण्ड के व्यवस्थापक होने के कारण मूलत: अविरोधी और परस्पर पूरक थे, तथापि कालक्रम से साङ्ख्य में ज्ञान और योग में कर्म का आग्रह अत्यधिक हो जाने कारण दोनों में टक्कर की स्थिति आ गयी और एक ओर शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी माध्यन्दिन और काण्व संहिताओं के अंतिम चालीसवें अध्याय में जिस अध्याय का ही नाम 'ईशोपनिषद् है, विद्या और अविद्या के समन्वय द्वारा तथा दूसरी ओर गीता में साक्षात् साङ्ख्य और योग के समन्वय द्वारा उनका विरोध-परिहार करना पड़ा-

अन्धंन्तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता:
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रूमधीराणां, ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥[९]
साङ्ख्योगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत् साङ्ख्यै: प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकंसाङ्ख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति ॥[१०]

साङ्ख्य वैदिक परम्परा से धीरे-धीरे स्वतंत्र होता गया और अन्तत: अनीश्वरवादी होकर रह गया। योग की भी यही दशा हुई, यद्यपि वह एक सीमा तक ईश्वरवादी बना रहा। वस्तुत: परम्परा इसके कारण पर भी यत्किंचित् प्रकाश डाल सकती है, किन्तु इसके लिए यह उपर्युक्त अवसर नहीं है। ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित योग पर्याप्त सीमा तक वैदिक जान पड़ता है।[११] अस्तु, साङ्ख्य-योग के वेदार्थ मीमांसा की परम्परा से टूट कर स्वतंत्र हो जाने के बाद वेदार्थ-विचारार्थ एक नये शास्त्र की नींव पड़ी जिसे 'मीमांसा' शब्द से अभिहित किया गया। यह मीमांसा प्राय: ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सबकी तार्किक समीक्षा के रूप में पल्लवित हुई। तद्विषयक कई ग्रन्थों के प्रणयन की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सूचना प्राप्त होती है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एक 'काशकृत्स्नी, मीमांसा (काशकृत्स्न-प्रणीत मीमांसा) का उल्लेख किया है।[१२] काशकृत्स्न का उल्लेख ब्रह्मसूत्र मे भी प्राप्त होता है[१३] शंकर ने इनके मत को 'श्रुत्यनुसारी, घोषित किया है।[१४] बादरि, आश्मरथ्य आत्रेय, कार्ष्णाजिनि का उल्लेख जैमिनीय मीमांसासूत्र और बादरायणीय ब्रह्मसूत्र दोनों में आता है, जिससे अनुमान होता है कि उन्होंने कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा दोनों पर सूत्र रचे थे। एक प्रामाणिक परम्परा के अनुसार वर्तमान द्वादशाध्यायी जैमिनीय पूर्वमीमांसासूत्र और चतुराध्यायी बादरायणीय ब्रह्मसूत्र एक बृहत्तर विंशत्यध्यायी मीमांसासूत्र के बचे हुए भाग हैं। 'प्रपञ्चहृदय' नामक ग्रन्थ में लिखा है - साङ्गोपाङ्गस्य वेदस्य पूर्वोत्तरकाण्डसंभिन्नस्य -शेषवाक्यार्थविचारपरायणं मीमांसाशास्त्रम्। तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम्। तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसा शास्त्रम् पूर्वकाण्डस्य धर्मे विचारपरायणं जैमिनिकृतम्। तदन्यदध्यायचतुष्कमुत्तरमीमांसा शास्त्रमुत्तरकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणम् व्यासकृतम्[१५] अर्थात् वेद के पूर्व-(कर्म)-काण्ड और उत्तर-(ज्ञान-) काण्ड की वाक्यार्थ-मीमांसा स्वरूप एक विंशत्यध्यायी मीमांसाशास्त्र है। उसके पूर्व षोडश अध्यायों में धर्ममीमांसात्मक पूर्वमीमांसाशास्त्र पूर्ण हुआ है और शेष चार काण्ड ब्रह्ममीमांसात्मक उत्तरमीमांसा कहलाते हैं। वहीं आगे चलकर पूर्वमीमांसा के भी तंत्रकाण्ड (आद्य द्वादशअध्याय) और देवता-काण्ड (शेष चार अध्याय) नामक दो विभाग किये गए है।[१६]

किसी आदिशंकर से भिन्न और परवर्ती शंकर द्वारा प्रणीत 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह नामक ग्रन्थ में भी कुछ ऐसी ही चर्चा आयी है-

चतुर्दशसु विद्यासु मीमांसैव गरीयसी ॥
विंशत्यध्याययुक्ता सा प्रतिपाद्यर्थतो द्विधा।
कर्मार्था पूर्वमीमांसा द्वादशाध्यायविस्तृता ॥
भवत्युत्तरमीमांसा त्वष्टाध्यायी द्विधा च सा।
देवता-ज्ञानकाण्डाभ्यां व्याससूत्रं द्वयो: समम् ॥
पूर्वाध्यायचतुष्केण मन्त्रवाच्यात्र देवता।
सङ्कर्षणोदिता तद्धि देवताकाण्डमुच्यते ॥[१७]

मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' में भी इसी प्रकार की सूचना उपनिबद्ध है- 'एवं मीमांसाऽपि द्विविधा-कर्ममीमांसा शारीरकमीमांसा चेति। तत्र द्वादशाध्यायी कर्म मीमांसा............भगवता जैमिनिना प्रणीता।............तथा सङ्कर्षणकाण्डमप्यध्याय-चतुष्टयात्मकं जैमिनिप्रणीतम्। तत्र च

देवताकाण्डसंज्ञया प्रसिद्धमप्युपासनाख्यकर्मप्रतिपादकत्वात् कर्ममीमांसान्तर्गतमेव। तथा चतुरध्यायी शारीरकमीमांसा............भगवता बादरायणेन कृता।"[१८] सम्प्रति कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा पूर्वमीमांसा सूत्र और ब्रह्मसूत्र के रूप में दो स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं। उनके मध्यस्थ देवता-काण्ड अथवा सङ्कर्ष-काण्ड का कहीं पता नहीं। सम्प्रति ब्रह्मसूत्र को वेदान्तसूत्र कहने की भी परिपाटी है। धीरे-धीरे वर्तमान पूर्वमीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त सारा मूल मीमांसासाहित्य नष्ट हो गया और प्रचलित ग्रन्थद्वय अथवा ग्रन्थखण्ड-द्वय को ही क्रमश: मीमांसा और वेदान्त समझा जाने लगा है।

प्रचलित मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र आरंभ से ही एक-दूसरे के पूरक-अनुपूरक माने जाते रहे हैं, न कि विरोधी। इनके प्रणेता एक-दूसरे को खूब उदाहृत करते हैं, जिससे भी इन ग्रन्थों की मौलिक एकता प्रकट होती है। प्रसंगत: ब्रह्मसूत्र में जैमिनि के उद्धरणों से पता चलता है कि वे ब्रह्मवादी आचार्य थे, न कि अनीश्वरवादी,[१९] जैसा कि पूर्वमीमांसाकार के विषय में समझा जाता है। लगता है कि या तो पूर्वमीमांसासूत्र में पाठ उतना प्रामाणिक नहीं जितना समझा जाता है, या उसका तात्पर्य समझने में कहीं भारी भूल हो रही है। यहाँ कोई अन्य जैमिनि अभिप्रेत नहीं प्रतीत होता। कुमारिल भट्ट को मीमांसा के लोकायतीकरण, अनीशीकरण की विडम्बना का भान हो गया था, जैसा मीमांसाश्लोकवार्त्तिक के इस श्लोक से प्रकट है -

प्रायेणैव ही मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्न: कृतो मया॥[२०]

किन्तु वे इस दिशा में विशेष कुछ नहीं कर सके। सम्भवत: उक्त सूत्रग्रन्थ-द्वय के तात्पर्य की अधिक गहराई से छानबीन करने पर दोनों दर्शन-धाराओं में समन्वय का कोई सूत्र हाथ आ जाये। शंकर के अनुसार तो दोनों ही, धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा भिन्न दर्शन-धाराएँ हैं।[२१]

परम्परया सम्पूर्ण विंशत्यध्यायी मीमांसाशास्त्र पर बौधायन ने 'कृतकोटि' नामक भाष्य लिखा था।[२२] वस्तुत: उसके बाद उपवर्ष आदि अनेक टीकाकारों ने पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसासूत्रों पर टीकाएँ रची थीं। लगता है कि शंकर के कुछ ही पूर्व तक दोनों दर्शनों की मौलिक एकता में किसी को सन्देह नहीं था। कुमारिल भट्ट को भी इस बात की कुछ-कुछ चेतना थी कि उत्तरमीमांसा के बिना पूर्वमीमांसा अधूरी है-

इत्याह नास्तिक्य-निराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयम् तु बोध: प्रायेति वेदान्त-निषेवणेन ।[२३]

अर्थात् शबर स्वामी ने तो केवल नास्तिक्य के निराकरण के लिए आत्मा के आस्तिक्य में प्रमाण उपस्थपित किये हैं। यथार्थ आत्मबोध तो वेदान्त के सेवन से ही सम्भव है। कुमारिल ने अन्यत्र भी कहा है-

द्वैतपक्षात् पराणुद्य बुद्ध्यशुद्धिसमाश्रयात्,
परमात्मानमेवैकं तत्त्वं तत्त्वविदो विदु: ॥[२४]

अर्थात् परमात्मा ही एकमात्र तत्त्व है। इसी प्रकार शंकर के ज्येष्ठ समसामयिक अथवा पूर्वज दार्शनिक मण्डन मिश्र दोनों मीमांसाओं को साथ लेकर चलते थे।

वेदान्त का प्रमाणिक साहित्य समासत: प्रस्थानत्रय अथवा प्रस्थानत्रयों के नाम से विख्यात है। इसके विषय में भारी भ्रम फैला हुआ है। डॉ. दयाकृष्ण का लेख इसका प्रमाण है। प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत सामान्यत: उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र की गणना होती है। वल्लभ, चैतन्य, मध्व आदि

परवर्ती दार्शनिक श्रीमद्भागवत को भी महत्त्व देते हैं। इस आधार पर कुछ लोग समझते हैं कि प्रस्थानों की संख्या चार हो गई। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

मनुस्मृति के अनुसार धर्म में चार प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है- श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे वह :

वेदः, स्मृतिः, सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥[२५]

ब्रह्मसूत्र में प्रथम तीन, अर्थात् श्रुति, स्मृति और आचार की प्रामाणिकता स्वीकृत प्रतीत होती है।[२६] इसमें श्रुति की प्रत्यक्ष और स्मृति की अनुमान संज्ञा प्राप्त होती है।[२७] इस प्रमाणत्रय के अन्तर्गत शब्द-प्रमाण दो ही हैं -श्रुति और स्मृति। उनके आधार पर वेदान्त के प्रमाणभूत साहित्य को श्रुति-प्रस्थान और स्मृति-प्रस्थान के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया। मीमांसाशास्त्र इनके तात्पर्यार्थ के विचार में प्रवृत्त होता है, जिसे प्रमाण-कोटि में रखते हुए एक तीसरे प्रस्थान-तर्क प्रस्थान अथवा न्याय-प्रस्थान-की परिकल्पना की गई। इस प्रकार परवर्ती वेदान्त में प्रस्थान-त्रयी की स्थापना हुई। शंकर ने ९ उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं। इससे इस प्रवाद को बल मिला कि श्रुति-प्रस्थान का अर्थ है प्रधान उपनिषदें, स्मृति-प्रस्थान का गीता और तर्क-प्रस्थान अर्थात् न्याय-प्रस्थान का प्रचलित रूप ब्रह्मसूत्र। किन्तु वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। श्रुति-प्रस्थान के अन्तर्गत चतुर्विध, सहस्राधिक-शाखात्मक वेद की गणना है। इनमें उपनिषदों का विशेष स्थान होने से शंकर ने कतिपय महत्त्वपूर्ण उपनिषदों पर ही भाष्य किये हैं। हो सकता है कि यदि इन्हें अवसर मिलता और सामर्थ्य होता तो वे और अधिक उपनिषदों तथा वेद के अन्य भागों पर भी भाष्य लिखते। वस्तुतः उन्होंने उक्त ९ उपनिषदों के अतिरिक्त ५ और उपनिषदों के प्रमाण दिये ही हैं। उन्होंने ऐतरेयारण्यक, तैत्तिरीयारण्यक, ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, कौषीतकी ब्राह्मण, पञ्चविंश ब्राह्मण, षडविंशब्राह्मण, आर्षेयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणीसंहिता अथर्ववेदसंहिता प्रभृति वैदिक वाङ्मय के अनेक प्रमाण दिये हैं जिससे इन सबकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।[२८] मनुस्मृति के अनुसार 'स्मृति' के अन्तर्गत धर्मशास्त्र की गणना है -

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥[२९]

किन्तु ब्रह्मसूत्र ने 'स्मृति' को अधिक व्यापकता प्रदान की है और भहाभारत, गीता, पुराण आदि को भी 'स्मृति' के अन्तर्गत उदाहृत किया। शंकर ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण गीता पर भाष्य लिखना वरण किया। तर्क-प्रस्थान के अन्तर्गत श्रुतिवाक्यार्थ-विचार में प्रवृत्त होने वाली सभी आधारभूत हेतुमती रचनाएँ आ जाती हैं। हम कह आये हैं कि आदि में ही प्रचलित ब्रह्मसूत्र अथवा मीमांसासूत्र के समान कई सूत्रग्रन्थ रचे गए थे। एक 'ब्रह्मसूत्र' का उल्लेख गीता में भी हुआ है :

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥[३०]

प्रचलित ब्रह्मसूत्र तो गीता को स्वयं प्रमाणत्वेन उद्धृत करता है, अतः गीता में प्रमाणत्वेन उल्लिखित 'ब्रह्मसूत्र भिन्न होना ही चाहिए। अस्तु, इस जाति के साहित्य में केवल प्रचलित बादरायणीय ब्रह्मसूत्र बचा है। शंकर ने इसी पर भाष्य लिखा है। अतःतर्क-प्रस्थान के अन्तर्गत सम्प्रति इसी की गणना हो सकती है।

वेदान्त के अनुसार सभी स्मृतियाँ प्रमाण नहीं हैं। स्मृतियों का विषय श्रौत ज्ञान-विज्ञान का प्रयोग-विनियोग है और प्रयोगों में मतभेद स्वाभाविक है। शंकर के अनुसार ब्रह्मसूत्र में साङ्ख्य आदि

को स्मृतित्वेन् ग्रहण करते हुए भी प्रमाण नहीं माना गया है। उनकी व्यवस्था है, 'श्रुत्यनुसारिण्य: स्मृतय: प्रमाणमनपेक्ष्या इतरा:।'[31] अर्थात् श्रुत्यनुसारी स्मृतियाँ ही प्रमाण हैं।

वल्लभाचार्य ने इस विषय में एक नवीन व्यवस्था की है। शंकर आदि के अनुसार भागवत-पुराण की गणना स्मृति के अन्तर्गत होगी, किन्तु वल्लभ उसे गीता को छोड़कर शेष स्मृतियों से ऊँचा किन्तु श्रुति से नीचा स्थान देते हैं। वे गीता को भगवद्वाक्य और भागवत को व्यास की समाधिभाषा मानते हैं। इसीलिए वे श्रुति, गीता, भागवत और ब्रह्मसूत्र चारों को प्रमाण मानने की घोषणा करते हैं।

वेदा:, श्रीकृष्णवाक्यानि, व्याससूत्राणि चैव हि,
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥[32]

जब वेदान्त-वाङ्मय इतना विपुल है तब उसमें से रूच्यनुकूल वरण के लिए अवकाश होना ही चाहिए। अन्यों के अनुसार भागवत की गणना स्मृति के अन्तर्गत होगी।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इन प्रस्थानों में सब कुछ प्रमाण नहीं है। वल्लभ ने तो स्पष्ट लिख दिया है कि इनका अलौकिक ज्ञापन अंश ही प्रमाण है-'शब्द एव प्रमाणम्। तत्राप्यलौकिकज्ञापकमेव।'[33]

सभी आचार्यों ने प्रस्थान-त्रय पर स्वतंत्र भाष्य नहीं लिखे हैं। शंकर के भाष्य तीनों प्रस्थानों पर उपलब्ध हैं। रामानुज ने केवल ब्रह्मसूत्र और गीता पर भाष्य लिखे हैं, किन्तु वेदार्थसंग्रह में उन्होंने उपनिषदों के विवादग्रस्त स्थलों पर अपनी व्यवस्था देकर अपने उपनिषद्भाष्य के अभाव की पूर्ति कर दी है। अधिकतर आचार्य केवल ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करके रह गए हैं। उपनिषदों पर उन्हें जो कुछ कहना था वह भी उन्होंने ब्रह्मसूत्र भाष्य के माध्यम से कह लिया है। यह अपनी योजना की बात है। किसी को इस बात के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि सब ने सब पर भाष्य क्यों नहीं किया।

अब श्रुति-प्रस्थान, स्मृति-प्रस्थान और तर्क-प्रस्थान का सम्बन्ध समझ लिया जाय। श्रुति-प्रस्थान विशुद्ध दर्शन (तत्त्व-साक्षात्कार) का प्रतिनिधित्व करता है, स्मृति-प्रस्थान में उस दर्शन के प्रयोग प्रतिपादित हैं और तर्क-प्रस्थान दर्शनशास्त्र, अनुदर्शन अथवा आन्वीक्षिकी है। वस्तुत: 'फिलोसोफी' शब्द का निकटतम भारतीय पर्याय 'तर्क-प्रस्थान,' 'दर्शनशास्त्र,' 'अनुदर्शन' अथवा 'आन्वीक्षिकी' ही हो सकता है, और वह भी कुछ-कुछ ही। हो इसलिए सकता है कि दोनों का माध्यम तर्क है, और कुछ-कुछ ही इसलिए कि फ़िलोसोफ़ी की तर्कणा स्वतन्त्र होती है, जबकि तर्क-प्रस्थान का तर्क श्रुत्यनुग्राहक होता है, श्रुत्यविरोधी होता है, अन्वीक्षात्मक होता है।

इसे धैर्य से समझने की आवश्यकता है। परम्परानुसार, श्रुति अथवा वेद के अर्थों अथवा सत्यों का दर्शन किया गया था, वे केवल तर्क-वितर्क की उपज नहीं थे। वेद में इसके कतिपय स्पष्ट अथवा अस्पष्ट संकेत मिल जाते हैं-'अन्तर्हृदा' मनसा पूयमाना,[34] 'तं पाकेन मनसा अपश्यम्'[35] 'हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा'[36] हृदा पश्यन्ति मनसा मनीषिणा:'[37] आदि-आदि। तप द्वारा वेद के सत्यों का उद्घाटन करने वाले मनीषियों को ऋषि अथवा कवि कहा गया है : 'अजान् ह वै पृश्नीरस् तपस्यमानान् ब्रह्म' स्वयम्वभ्यानर्षत्। तं ऋषयो भवंस्, तद् ऋषीणामृषित्वम्।'[38] यास्क का प्रसिद्ध वाक्य है, 'ऋषिर् दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव:'[39] अर्थात् द्रष्टा, मंत्रद्रष्टा को ऋषि कहते हैं। उन्हीं का दूसरा वाक्य है, 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूवु:।'[40] अर्थात् सत्य का साक्षात् करने वालों की ऋषि संज्ञा हुई। ऋग्वेद के अनुसार ऋषियों पर मंत्र (अथवा मन्त्रार्थ) अनायास ऐसे प्रकट हुए जैसे बादल से अनायास वर्षा हो जाती है-

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी ! पूर्व्यस्तुति:
अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि॥[41]

तात्पर्य यह है कि तपस्या के फलस्वरूप ऋषि को सत्य का सीधे साक्षात्कार अथवा प्रतिभान होता है। श्रुति में वे ही प्रतिभान उपनिबद्ध है। श्रुति की प्रामाणिकता का यही रहस्य है। आद्य ऋषियों को इस प्रकार के प्रतिभान हस्तामलकवत् सिद्ध थे, किन्तु अवर ऋषियों को भी आद्य ऋषियों के उपदेश से प्रतिभान हो जाता था- 'साक्षात्कृतधर्माण' ऋषयो वभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।[४२] अवर ऋषियों को निरूक्तभाष्यकार दुर्ग में श्रुतर्षि संज्ञा दी है और कहा है 'ते ये साक्षात्कृतधर्माणस् तेऽवरेभ्योऽनेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः। श्रुतर्षिभ्यस्तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चाद् ऋषित्वमुपजायते, न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्मणां (?) श्रवणमन्तरेणैव।[४३] स्मृतिकारों का युग इन श्रुतर्षियों के बाद आता है, जिन्होंने आद्य ऋषिगण और अवर श्रुतर्षिगण के तत्त्वज्ञान के सहारे विचार-व्यवस्थापन और लोक-व्यवस्थापन का प्रयत्न किया।

शब्दनित्यतावाद के पोषक पूर्वमीमांसकों के मत में वेद का प्रत्येक वर्ण तथा अर्थ तो नित्य है ही, वर्णानुपूर्वी भी नित्य है ; किन्तु व्याकरण में वर्णानुपूर्वी अनित्य है। वस्तुतः इस विवाद का कोई औचित्य नहीं है। वैदिक संहिताओं में दर्जनों ऐसे संकेत विद्यमान हैं जिसे मन्त्रों का ऋषियों द्वारा गढ़ा जाना सिद्ध होता है। ऐसे सन्दर्भों में 'तक्ष्,' 'जन्,' 'कृ,' 'सृज्,' आदि धातुओं का खुलकर प्रयोग देखने को मिलता है।[४४]

अस्तु, जब ऋषियों की (श्रुतर्षियों तथा स्मृतिकारों का भी) परम्परा उच्छिन्न होने लगी तो लोगों ने बचे-खुचे ऋषियों से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा तो इस पर ऋषियों ने उन्हें तर्क-ऋषि प्रदान किया- 'तर्कमृषि प्राच्छत';[४५] ऐसे ही ऋषि स्थानीय तर्क में निष्णात मनीषी को ऋग्वेद में 'ओहब्रह्म' संज्ञा दी गयी प्रतीत होती है।[४६] ओहब्रह्मों की संख्या स्मृति युग में बढ़नी आरम्भ हुई होगी। मोटे तौर पर यही तर्क-प्रस्थान के युग का आरम्भ बिन्दु है।

तर्क-प्रस्थान में आगे चलकर नाना भेद-प्रभेद हो जाते हैं। प्रचलित ब्रह्मसूत्र के पूर्व ही में भेद-प्रभेद वृद्धिगत दिखायी देते हैं, जैसाकि शंकर आदि की कृतियों से पता चलता है। वस्तुतः प्राक्शांकर वेदान्त के जितने भी आचार्यों की सूचना मिलती है वे प्रायः सभी एक-दूसरे से मतभेद रखते पाये जाते हैं। इन्हीं में से अपनी-अपनी रूचि के अनुकूल पड़ने वाले आचार्यों की परम्परा को शंकर और वेदान्त के पश्चवर्ती आचार्यों ने आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। फलतः वेदान्त में मतभेद बढ़ता ही गया। डॉ. दयाकृष्ण का मत है कि वेदान्त परस्पर इतनी विरोधी दर्शन-पद्धतियों की क्रीड़ा-भूमि बन जाता है कि वह दर्शन की हैसियत से अपने-आप में कुछ रह ही नहीं जाता। प्रश्न उठता है कि 'वेदान्ती' कौन है। इसका उत्तर किसी न किसी विशेष वेदान्त-सम्प्रदाय के संदर्भ में ही दिया जा सकता हैं, 'वेदान्ती' का ऐसा कोई दर्शनगत लक्षण उद्भावित नहीं किया जा सकता जो सभी तथोक्त 'वेदान्तियों' के लिए चरितार्थ हो। व्यापक अदार्शनिक लक्षण अवश्य है जिसे सर्वसाधारण माना जा सकता है, जैसे श्रुति में निरूपित दर्शन का अनुसन्धान, व्याख्यान, और उपोद्बलन। इस प्रकार वेदान्त किसी निश्चित दर्शन, दार्शनिक विचारधारा, का नाम नहीं हुआ बल्कि एक ऐसे साहित्यिक अदार्शनिक व्यापार का नाम हुआ जिसे श्रुत्यर्थानुसन्धान कहा जा सकता है; दर्शनानुसन्धान दर्शनानुचिन्तन नहीं। व्याख्याता का कोई अपना दार्शनिक सिद्धान्त नहीं होता, उसे जो भी दर्शन श्रुतिसम्मत प्रतीत होता है वह उसे ही मान लेता है। यह विशुद्ध श्रद्धाविजृम्भित प्रक्रिया दार्शनिक प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। इसमें निजी स्तर पर दार्शनिक खोज की ताजगी का अत्यन्ताभाव होता है। और यदि यह मानकर चला जाय, जैसा मानना सर्वथा निराधार नहीं होगा, कि अनेक व्याख्याताओं ने अपने-अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं का प्रस्थानत्रयी पर अध्यारोप करने का प्रयत्न किया है, तो उनकी दार्शनिकता अत्यन्ताभाव के भी परे पहुँच जाती है।

इस आक्षेप में कुछ न कुछ बल अवश्य है। केवल श्रुत्तर्थ-चिन्तन को दर्शन नहीं कहा जा सकता, पूर्वाग्रह के श्रुति पर आरोप को तो बिल्कुल भी नहीं। इस प्रक्रिया को अधिक से अधिक 'थियोलोजी' अथवा 'अपोलोजी' कहा जा सकता है। किन्तु श्रुत्यर्थ-दोहन का सर्जनात्मक उपयोग भी सम्भव है, और चरितार्थ भी हुआ है। श्रुति है क्या ? सिद्धांत और बहुत कुछ व्यवहारत: भी, पूर्वजों के प्रतिभानों तथा अनुभूतियों का अभिलेख, जो व्यवस्थित दर्शनशास्त्र के लिए कच्चे माल का काम करते हैं। वस्तुत: बुद्धि का इन्द्रियों, मन अथवा प्रतिभान द्वारा जो ज्ञान-बीज उपलब्ध होते हैं वह उन्हीं का वपन कर दर्शन अथवा ज्ञान-विज्ञान की खेती काट सकती है, अन्यथा वह केवल कुछ सामान्यों की उद्भावना करके रह जाएगी। बुद्धि के पास निरंकुश उत्प्रेक्षाओं[८७] और ज्ञान के कोटियों (कैटिगरीज) के अतिरिक्त है ही क्या कि वह विशेषों की सूचना दे सके? बुद्धि सामान्यविषयक होती है और प्रतिभान प्रत्यक्ष के समान विशेषविषयक होते है।[८८]

उक्त ज्ञान-बीजों के अभाव में वह विप्रलम्भक सिद्ध हो सकती है।[८९] अत: परम्परया प्राप्त प्रतिभानों का दर्शन की सृष्टि की दृष्टि से व्यवस्थापन, उपबृंहण और मूल्यांकन दर्शन की सृष्टि में अन्यतम सहायक सिद्ध हो सकता है। निश्चय ही, प्रतिभा का सद्भाव सबसे बड़ी शर्त है। आखिर हम अतीत के दर्शन का अवगाहन करते ही हैं, जिसके बिना मौलिक दर्शन का उदय प्राय: असम्भव ही है। हाँ, श्रुति में निबद्ध तत्त्व ज्ञान-बीज है अथवा अज्ञान-बीज इसमें मतभेद हो सकता है, किन्तु यह मनुष्य की विवशता है, सीमा है, इसके लिए क्या किया जा सकता है ? यह सीमा तो खुलकर स्वीकार्य है कि हमें श्रुति पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में नहीं मिलती है। उसका अधिकांश निश्चय ही नष्ट हो गया और जो बचा भी है उसका रहस्य सम्यकतया और पूरा-पूरा खुल गया है, इसका दावा कौन कर सकता है ?

वेदान्त में वास्तविक मतभेदों का यही मूल है। उसके सभी व्याख्याकारों का लक्ष्य है आर्ष ज्ञान अथवा पूर्वजों के प्रतिभानों की पकड़, किन्तु बुद्धि की सीमा अथवा साम्प्रदायिक स्वार्थ के कारण निष्कर्ष भिन्न हो जाते हैं। श्रुतिगत प्रतिभानों की सत्ता और महत्ता के स्वीकार-पूर्वक उनके आधार पर दर्शन की उद्भावना का प्रयत्न अदार्शनिक प्रक्रिया कैसे ? वेदान्त के गम्भीर मौलिक व्याख्याकारों का कार्य यहीं समाप्त भी कहाँ होता है ? दार्शनिक प्रक्रिया के चार सोपान हैं-आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यो, मैत्रेयि ! आत्मनो व दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्"[९०] अर्थात् दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन अथवा विज्ञान इन्हें ही दर्शन-हेतु की संज्ञा दी गई है-

> 'श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्यो, मनतव्यश्चोपपत्तिभि:,
> मत्वा च सततं ध्येयं एते दर्शन-हेतव: ।[९१]

अन्यत्र भी कहा गया है-

> आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरतेन च
> त्रय्या प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥[९२]

अत: श्रुतिवाक्य-विचार दर्शन में सहायक हो सकता है, आरम्भ-बिंदु हो सकता है, किन्तु उसकी चरम परिणति, चरम-बिन्दु तो निदिध्यासन, विज्ञान अथवा अवगति है।[९३] व्यवहार में अधिकतर क्या होता है, यह दूसरी बात है। वेदान्त के सभी प्रामाणिक आचार्य निदिध्यासन-पर्यवसायी दर्शन के पोषक रहे हैं ? श्रुति उनका आरम्भ-बिन्दु है, चरम बिन्दु नहीं। वस्तुत: यह प्रक्रिया थियोलोजी से एकान्तत: भिन्न है। थियोलोजी में श्रुति अथवा दिव्य पुस्तक को कानून की पुस्तक के समान परिनिष्ठित वस्तु (फिनिश्डप्राडक्ट) मान कर चला जाता है। उसके लिए श्रुति आदि भी और अन्त भी है, जबकि वेदान्त में श्रुति से हमें अधिकतर ज्ञान का कच्चा माल प्राप्त होता है, जिसे परिनिष्ठित रूप देना हमारा

काम है। और परिनिष्ठित रूप देना मात्र भी पर्याप्त नहीं है, ब्रह्मावगति तक दौड़ लगानी होती है। खेद है कि वेदान्त परम्परा के एक अच्छे-खासे भाग में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण प्रस्थानत्रयी पर हावी हो जाता है और उसे रबड़ की तरह जिधर चाहे उधर खींच कर अर्थ का अनर्थ कर डालता है। आवश्यकता है वेदान्त के तात्त्विक स्वरूप की प्रतिष्ठापना की, जिसके लिए शांकर अथवा शांकरोत्तर वेदान्त की अपेक्षा प्राचीन वेदान्त को अधिक गम्भीरता से लेना अनिवार्य है।

एक बात और है। डॉ. दयाकृष्ण की धारणा है कि चूँकि वेदान्त के मूर्धन्य भाष्यकार परस्पर भिन्न दर्शनों के संस्थापक हुए हैं अत: इन सबको वेदान्त के अन्तर्गत रखने पर 'वेदान्त' शब्द निरर्थक हो जायगा। यदि प्लातोन, हेगेल, मार्क्स, नागार्जुन जैसे दार्शनिकों के व्याख्याकारों में मतैक्य नहीं तो क्या प्लातोन आदि के दर्शनों को 'प्लातोनी' आदि कहना निरर्थक होगा ? वस्तुत: सामान्य की व्यापकता के स्तरों (लेवेल्ज् ऑव जेनरालिटी) में भेद होता है, तारतम्य होता है, जिसे ध्यान में रख कर ही दर्शनत्व का निर्धारण करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, श्रुति में निरूपित परमतत्त्व के आयाम-वैचित्र्य का भी प्रश्न है। प्रत्येक व्याख्याकार एक ही आयाम पर बल दे, यह आवश्यक नहीं। व्याख्या अधिकारानुरूप, रूच्यनुरूप ही हो सकती हैं। परमतत्त्व सबको एक ही समान दीखे, यह आवश्यक नहीं है।

***

संदर्भ-सूची

१. *गीता २,१६.*
२. *इन सङ्ख्याओं का एक सुन्दर संकलन श्री हरिशंकर जोशी, 'वैदिक विश्वदर्शन', काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, श्रीमती सरदार कँवर बाई फण्ड ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक - १. सं. वासुदेवशरण अग्रवाल (वाराणसी: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६६), अध्याय ४, में किया गया है।*
३. *महाभारत (गीता प्रेस), शांतिपर्व ३०१, १०९*
४. *द वैदिक ओरिजिन ऑफ द साङ्ख्य डायलेक्टिक।*
५. *महाभारत, शांतिपर्व ३००.५*
६. *महाभारत, शांतिपर्व ३४८. ८१-८२*
७. *गीता १८,१३*
८. *कौटिल्य अर्थशास्त्र १.१.२*
९. *यजुर्वेद (काण्व-संहिता) ४०.९-११*
१०. *गीता ५.४-५*
११. *ब्रह्मसूत्र २,१, ३; ४, २, २१*
१२. *महाभाष्य ४, १, १४,९३,४,३,१५४*
१३. *ब्रह्मसूत्र १. ४. २२*
१४. *काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृत: परमेश्मरो जीवो नान्य इति मतम्.........तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीतिते गम्यते............। शारीरकभाष्य १,४, २२*
१५. *प्रपञ्चहृदय, त. गणपतिशास्त्री, सं. अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावलि:, ग्रन्थाङ्क ४५ (त्रिवेन्द्रम, त्रावनकौर गवर्नमेंट प्रेस, १९१५) पृ. ३८-३९।*
१६. *वही, पृ. ३९*
१७. *सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रह, सूर्यनारायणशुक्ल, सं. (वाराणसी: काशीविश्वनाथ प्रेस अतिथि), १,१६-१७, २०-२१*
१८. *मधुसूदन सरस्वती, प्रस्थानभेद (श्रीरङ्गम: श्री वाणीविलास प्रेस, १९१२), पृ. ११-१२*
१९. *'ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्य: ।' ब्रह्मसूत्र ४, ४, ५; परं जैमिनिरमुख्यत्वात्। वहीं, ४, ३, १२। प्रथम सूत्र के अनुसार मुक्तात्मा ब्राह्म रूप से रहता है और द्वितीय सूत्र के अनुसार ब्रह्मोपासक की गति ब्रह्म तक होती है।*
२०. *मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, ग्रन्थकारप्रतिज्ञा १०*
२१. *'तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्य बोधायनेन कृतम्।' प्रपञ्चहृदय, पृ.३९*

२२. कुमारिल भट्ट, मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद, अन्त्य श्लोक।
२३. कुमारिल, बृहट्टीका,जो आनन्दानुभव, न्यायरत्नदीपावली (मद्रास: गवर्नमेन्ट ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी संस्करण), पृ. ३६१, में उदाहृत है।
२४. मनुस्मृति २, १२
२५. ब्रह्मसूत्र १, ३, २८; ३, २,२४; ३, ३, ३; ४, ३, ४३; ४, ४, २०
२६. वहीं, १, ३, २८; ३, २, २४; ४, ४, २०
२७. तफ्सील के लिए द्रष्टव्य पाल डायसन, 'द सिस्टम ऑफ द वेदान्त,' चार्ल्स जान्स्टन अनु. (पुनर्मुद्रण, दिल्ली: वाराणसी: पटना: मोतीलाल बनारसीदास, १९७२), पृ. ३२-३४
२८. मनु. २,१० । भविष्यपुराण, ब्रा. प. ७,५६, में 'मीमांस्ये' पाठ है 'अमीमांस्ये' नहीं। मीमांस्ये' ही शुद्ध प्रतीत होता है। द्रष्टव्य, इन्दिरारमण शास्त्री, मानवार्षभाष्य (वाराणसी: काशी विद्यापीठ,१९९९ वि.),पृ.४१३
२९. गीता १३, ४
३०. शारीरकभाष्य २,१,१
३१. वल्लभ, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थप्रकरण), केदारनाथ मिश्र, सं-अनु. (वाराणसी: भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७१),७
३२. वहीं, ७, पृ. २६
३३. ऋग्वेद, ४,४८,६
३४. ऋ. १०, ११४,४
३५. ऋ. १०, १२९, ४
३६. ऋ. १०, १७७, १
३७. तैत्तिरीयारण्यक २, ९, पृ. १६८
३८. निरूक्त (६ठा संस्करण, अजमेर: वैदिक यन्त्रालय, १९५७) २, ११
३९. वहीं, १, २० पृ. १२
४०. ऋग्वेद ७, ९४, १
४१. निरूक्त १, २०, पृ.१२
४२. निरूक्तभाष्य, बैजनाथ काशीनाथ रजवाड़े, सं., आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थांक ८८ पूना: आनन्दाश्रम, १९२१) १,२०, पृ. ११४
४३. द्रष्टव्य हर्षनारायण, 'तात्त्विकं स्वरूपं वेदस्य', २४,अं. २ (भाद्रपदपूर्णिमा, २०२६ वि.) पृ. १३०-१३८
४४. निरूक्त १३, १२
४५. ऋग्वेद १०, ७१, ८। इस पर निरूक्त १३,१३ द्रष्टव्य है।
४६. निरागमा: पुरूषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्। शारीरकभाष्य २,१,११, पृ. ३६६-३६७
४७. तुलनीय- 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। श्रुतानुमान-प्रज्ञाभ्यामन्यविषया, विशेषार्थत्वात् योगसूत्र १.४८-४९
४८. 'केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति।' शारीरकभाष्य २,१,६, पृ.३६१
४९. वृहदारण्यकोपनिषद् २,४,५
५०. विद्यारण्य:विवरण प्रमेय-सङ्ग्रह, चण्डीप्रसाद शुल्क और श्रीकृष्ण पन्त सं अच्युतग्रन्थमाला (ख), पृ. ८ (वाराणसी अच्युतग्रन्थमाला) कार्यालयं, १९९६ विक्रमी), १,१, पृ. ४, में उदाहृत बृहदारण्यक भाष्यवार्त्तिक १०८३
५१. व्यासभाष्य १,४८ में उद्धृत
५२. 'अवगतिपर्यन्त ज्ञानम्।' शारीरकभाष्य १,१,१, पृ. ४०; ब्रह्मावगतिर्हि पुरूषार्थ: वही पृ. ४१

सामाजिक समता के सन्दर्भ में भारतीय धर्म-दर्शन

भारतीय दर्शन भारतीय धर्म रूपी अवयवी का प्राय: अवयव-विशेष मात्र है, धर्म से व्यतिरिक्त कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। अत: लोकयात्रा, लोकव्यवहार के विषय में दर्शन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में धर्म की व्यवस्था को मानकर चलता है, धर्म के अनुमोदन के अतिरिक्त अपनी ओर से विशेष कुछ नहीं कहता। और तो और, जिसे चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन कहा जाता है वह भी लोकयात्रा का नियमन, कर्तव्याकर्तव्य का व्यवस्थापन नहीं करता जिससे उसे जयन्त भट्ट का यह उपालम्भ सुनना पड़ा है -

न हि लोकायते किंचित् कर्तव्यमुपदिश्यते।
वैतण्डिककथैवासौ न पुन: कश्चिदागम:॥[1]

अर्थात् लोकायत में कर्तव्याकर्तव्य का विधान नहीं पाया जाता, अत: वह आगम नहीं प्रत्युत वितण्डावाद मात्र है। जयन्त बौद्धों पर भी इसी प्रकार उपालम्भ करता है- "बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एव चाण्डालादिस्पर्शं परिहरन्ति"[2] अर्थात् बौद्ध आदि को भी स्पृश्यास्पृश्य-निर्णयार्थ वेद का ही आश्रय लेना पड़ता है, उनके पास तत्सम्बन्धी अपना कोई विधान नहीं। वाचस्पति मिश्र इसी स्वर में लिखते हैं-"न चैतेषामागमा वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाहेतव:, नो खलु: निषेकाद्या: क्रिया: श्मशानान्ता: प्रजानामेते विदधति ! न हि प्रमाणीकृत बौद्धागमा अपि लोकयात्रायां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणनिरपेक्षागममात्रेण प्रवर्तन्ते, अपितु तेऽपि 'सांवृत्तमेतद्' इति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादीन्येवानुसरन्ति"[3] अर्थात् बौद्धागम में लोकव्यवस्था, अन्त्येष्टि आदि क्रिया, के सम्बन्ध में कोई विधान नहीं, अत: बौद्धों को भी लोकयात्रा, लोकसंवृत्ति का निर्वाह वेद-शास्त्र के आधार पर ही करने को बाध्य होना पड़ता है। अत:सामाजिक समता के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन के आकलनार्थ दर्शन-सहकृत आगम अथवा धर्म-व्यवस्था का विश्लेषण अपेक्षित है।

विरुद्ध धर्माश्रयत्व

भारतीय प्रतिभा की विशेषता है उसका विरुद्धधर्माश्रयत्व। इसे हृदयंगम किये बिना प्रस्तुत प्रकरण को प्रकृत परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित करना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

मुफ्ती सदुऽद्दीन आजुर्द ने उर्दू के महान् कवि मीर तकी 'मीर' के विषय में कहा था, "परत-श ब-गायत पस्त व बलन्द-शब-मायत बलन्द" अर्थात् मीर का निकृष्ट निकृष्टतम है और उत्कृष्ट उत्कृष्टतम है। मैं समझता हूँ कि कुछ ऐसी ही उक्ति भारतीय धर्म-दर्शन के विषय में भी चरितार्थ होती है।

मौलाना अब्दुल्-कलाम आजाद ने अपने तर्जु मानुऽल्-कुर्आन शीर्षक कुर्आन-भाष्य में एक पते की बात कही है- "यहाँ फिक्र (चिन्तन) व अकीद (सिद्धान्त) की कोई बुलन्दी (उच्चता) भी वहम (अन्ध-विश्वास) व जिहालत (मूढ़ता) की गिरावट से अपने आपको महफूज (सुरक्षित) न रख सकी, और इल्म (विद्या) व अक्ल (बुद्धि) और वहम व जिहल (मूढ़ता) में हमेशा समझौते का सिलसिला जारी रहा। इन समझौतों ने हिन्दुस्तानी दिमाग की शक्ल व सूरत बिगाड़ दी। उसकी फिक्री तरक्कियों का

तमाम हुस्न (सौन्दर्य) अस्नामी (प्रतिमोपासना-सम्बन्धी) अकीदों के गर्द व गुबार में छिप गया।"[४] महमूद गजनबी का सभ्य अप्रतिम भारतविद् अबू रीहान अल्-बैरूनी लिखता है कि हिन्दू प्रतिभा ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों-आदर्शों और घटिया से घटिया मूढ़ाग्रहों की ऐसी खिचड़ी पकाती है कि ज्ञान और अज्ञान में कोई भेद ही नहीं रह जाता, मानो किसी शिशु के सामने हीरे-मोती तथा कंकड़-पत्थर पड़े हैं और वह उन्हें गड्ड-मड्ड कर दे रहा है। अल्-बैरूनी के अनुसार इस देश में सुकरात के समान कोई नीर-क्षीर विवेकी सुधारक नहीं उत्पन्न हुआ जो संस्कृति का संस्कार कर सके। फलत: यहाँ बड़े से बड़ा धर्माचार्य भी लोक में व्याप्त कुरीतियों और मूढ़ाग्रहों पर कभी प्रहार नहीं करता (राममोहन राय, दयानंद प्रभृति आधुनिकों की बात जाने दीजिए), यहाँ जो उचित अथवा अनुचित प्रथा एक बार चल पड़ी वह स्थाई हो गई। मेरी एक स्वोपज्ञकारिका है -

सुरीतय: कुरीतय:, सुदृष्टय: कुदृष्टयो,
भवन्ति तस्य चेत् सकृद्, भवन्ति शश्वदस्य वै।
विभागतस्तथा पुनर् द्वयोश्च सत्या-सत्ययो:,
परापर-प्रभेदतो द्विधाऽस्य व्यक्तिताऽजनि ॥[५]

ग्रेशम का प्रसिद्ध अर्थशास्त्रीय नियम है कि बाजार मे चलने वाला खोटा सिक्का खरे सिक्के को खदेड़ देता है। किसी ने धार्मिक विषयों में भी ग्रेशम के नियम को चरितार्थ माना है। इसके अनुसार धर्म में जब श्रेष्ठ और गर्ह्य, बढ़िया और घटिया का साङ्कर्य होता है तो अन्तत: गर्ह्य श्रेष्ठ को खदेड़ देता है, ठीक उसी प्रकार जैसे खोटा सिक्का खरे सिक्के को खदेड़ देता है। और भारत में यही होता रहा है।

दो सत्यों की अवधारणा

उक्त अन्तर्विरोध का मूल बहुत कुछ भारतीयों की दो सत्यों की अवधारणा में मिलेगा। भारतीय चिन्तनधारा की प्रमुख विशेषता रही है सत्यद्वय में स्वस्थ समन्वय और सहकार की सिद्धि की अक्षमता। बात जरा कटु लगेगी, किन्तु है विचारणीय। परमार्थ और व्यवहार में यहाँ साङ्कर्य होता रहा है, समन्वय अथवा सहकार नहीं।

वस्तुत: परमार्थ और व्यवहार का द्वैत हमारी घुट्टी में पड़ा है। प्राय: सभी प्रमुख भारतीय दर्शन इसको मानकर ही नहीं, इसे किसी न किसी रूप में केन्द्र में रखकर चलते हैं। वेदान्त और महायान का तो इसे मेरुदण्ड ही समझिए। अन्य दर्शनों में भी यह किसी न किसी ओर से प्रविष्ट हो गया है। जो वैष्णव वेदान्ती प्रपंच को ब्रह्मात्मक मानकर सत्य, और संसार को अहन्तात्मक मानकर मिथ्याभूत घोषित करते हैं[६] वे प्रकारान्तर से सत्यद्वय ही की तो उपस्थापना करते हैं। परमार्थ और व्यवहार का द्वैत जैनदर्शन में केवलज्ञान और स्याद्वाद के द्वैत का रूप लेता है।[७] पालि-बौद्ध दर्शन में 'परमत्थ और सम्भूति' सत्यों का भेद स्वीकृत है।[८] 'संवृत्ति' (सम्भूति) का प्रयोग पालि-निकाय में 'लोक-सम्मति' के अर्थ में मिलता ही है।[९] उसमें 'नीतत्थसुत्त' और 'नैयत्थ-सुत्त' का भेद प्राप्त होता है,[१०] जिसके मूल में सत्यद्वय की भावना स्पष्ट देखी जा सकती है। बुद्ध कहा करते थे कि मैं लोक से विवाद नहीं करता, लोक ही मुझसे विवाद करता है-"नाहं" भिक्खवे ! लोकेन विवदामि, लोको वा मया विवदति। न भिक्खवे ! धम्मवादी केनचिद् लोकस्मिं विवदति।"[११] इस वचन के मूल में भी लोकसंवृत्ति-सत्य की कल्पना का आभास मिलता है। काश्मीर-वैभाषिक वसुबन्धु और बौद्ध सत्यसिद्धिशास्त्र के रचयिता हरि वर्मा (२५३ ई.) भी परमार्थ और संवृत्ति का भेद स्वीकार करते हैं।[१२] मक्खलि गोसाल के अनुयायी आजीविक सत् और सत्य को तीन राशियों, तीन कोटियों- सत्, असत् और सदसत्-में विभक्त करने के कारण त्रैराशिक कहे जाते हैं। उनका नय-सिद्धान्त भी सत्यद्वय का परामर्श करता है। उनके नय तीन हैं-द्रव्यास्तिक नय, पर्यायास्तिक नय, और उभयास्तिक नय- जो एक ही वस्तु के प्रति तीन दृष्टियाँ, तीन

दृष्टिकोण हैं।[13] लोकायतमतावलम्बी जयराशि भट्ट भी सत्यद्वैत को मान्यता देता है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। वह परमार्थ और व्यवहार ('लोकव्यवहार, लौकिक मार्ग') के द्वैत की ओर इंगित करते हुए लिखता है कि लोकव्यवहार के प्रति बालक और पण्डित समान है-

लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बाल-पण्डितौ।[14]

सांख्य दर्शन के अनुसार बन्धन और मोक्ष केवल प्रकृति का होता है, पुरुष का नहीं।[15] यद्यपि वह (व्यवहारत:) प्रकृति नहीं प्रत्युत पुरुष के बंध और मोक्ष की चर्चा से आरम्भ करता है।[16] यह परमार्थत: प्रतीति और व्यवहारत: प्रतीति में भेद की ओर ही संकेत नहीं तो और क्या है ? न्याय-वैशेषिक दर्शन भी उपनिषद् को अध्यात्मविद्या मानता है और उसमें अपनी आस्था का संकेत करता है।[17] और उपनिषद् में 'सत्य' और 'सत्यस्य- सत्यं', 'अविद्या' और 'विद्या', 'अपरा' विद्या और 'परा' विद्या का भेद सर्वविदित ही है। इसके अतिरिक्त राधा मोहन गोस्वामी भट्टाचार्य और विट्ठलेशोपाध्याय द्वारा परिगृहीत पाठ के अनुसार न्यायसूत्र के चतुर्थ अध्याय का अन्तिम ५२ वाँ सूत्र है ' तत्त्वं तु वादरायणात्, अर्थात् तत्त्वज्ञान के लिए वादरायणीय ब्रह्मसूत्र की ओर उन्मुख होना चाहिए।[18] यदि वह सूत्र प्रमाणित है तो मानना पड़ेगा कि न्यायसूत्र में परमार्थ-सत्य का नहीं, व्यवहार-सत्य का प्रतिपादन हुआ है। जैमिनीय मीमांसासूत्र में ईश्वर का सर्वथा अनुल्लेख है, किन्तु वादरायण ने जैमिनि से जो उदाहरण दिये हैं उनसे प्रतीत होता है कि जैमिनि ईश्वरवादी-ब्रह्मवादी आचार्य थे। यहाँ इसकी विवृत्ति का अवकाश नहीं, अत: हम पाठक से ब्रह्मसूत्र के जैमिनि-विषयक सूत्रों के अवलोकन का आग्रह करके विराम लेते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि अन्यत्र दिखा चुके हैं,[19] मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र मूलत: एक ही कृति के दो अंग है। अत: मीमांसा भी दो सत्यों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। कुमारिल भट्ट व्योम शरीर, 'ख ब्रह्म' पदवाच्य परमात्मा को एकमात्र तत्त्व और वेदात्मक शब्द-ब्रह्म का अधिष्ठाता घोषित करते हुए[21] और आत्मज्ञान के लिए वेदान्त के सेवन का उपदेश करते हुए पूर्वमीमांसा को व्यावहारिक और उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त को पारमार्थिक सत्य का प्रतिपादक प्रतिपादित करते पाये जाते हैं।[22] प्रभाकर का भी कथन है कि अहंकार-ममकार अनात्मा में आत्माभिमान-स्वरूप है, जो मृदितकषायों को ही उपदेश्य है, कर्मसंगियों को नहीं।[23] यहाँ पूर्वमीमांसा-प्रतिपाद्य सत्य से बड़े सत्य की परिकल्पना स्पष्ट है। यह सही है कि कुमारिल निरालम्बनवादी बौद्धों के परमार्थ और संवृत्ति-सत्य के द्वैत का खंडन करता है,[24] किन्तु इससे उसका परखंडन-चातुर्य ही प्रमाणित होता है।

सत्यद्वय में विरोध

अतएव सत्यद्वैत भारतीय दर्शन का मूल स्वर कहा जा सकता है। हमारी सुचिन्तित धारणा है कि भारतीय प्रतिभा उक्त सत्यद्वय में समन्वय के प्रति समुचित रूप से सचेष्ट नहीं रही। दोनों सत्य दो स्वतंत्र संसारों का रूप ले लेते हैं, जिनमें किसी प्रकार का संचार समागम अथवा संव्यवहार (कम्यूनिकेशन) सम्भव नहीं, चाहे इस सम्बन्ध में जितने भी बड़े बोल बोले जाएँ। यहाँ तक कि यहाँ एक व्यक्ति एक ही विषय में एक ही सांस में दो परस्पर सर्वथा विरोधी बातें करते हुए भी महामानव बना रह सकता है, यदि वह दोनों बातों को सत्य के दोनों स्तम्भों-परमार्थ और व्यवहार में पृथक्-पृथक् डाल सकता है। मनु आदि का आदेश है कि ज्ञानी होते हुए भी लोक में जड़वत्, यन्त्रवत् अथवा पामरवत् व्यवहार करना चाहिए-

जानन्नपि हि मेधावी जड़वत् लोक आचरेत्।[25]

ध्यान रहे कि आलोच्य सत्यद्वैत सिद्धान्त और व्यवहार का सामान्य द्वैत मात्र नहीं। सिद्धान्त और व्यवहार में सदा और सर्वत्र द्वैत रहता है। चाहे जो भी समाज हो, जो भी व्यक्ति हो, अन्तर केवल तारतम्य का होता है। हमारे यहाँ तो व्यवहार सत्य में ही सिद्धान्त और व्यवहार का भेद है। अन्यत्र जो

सिद्धान्त और व्यवहार का भेद है वह हमारे यहाँ के व्यवहार सत्यगत सिद्धान्त और व्यवहार भेद के आगे नहीं जाता, परमार्थ और व्यवहार के भेद की सीमाओं को नहीं छू पाता। यह बात नहीं कि अन्यत्र परमार्थ और व्यवहार जैसे भेद की चेतना ही नहीं। पार्मेनिदीस, अफलातून, कान्ट, हेगेल जैसे दार्शनिक इस प्रकार के भेद को पूर्ण प्रश्रय देते पाये जाते हैं। किन्तु पश्चिम में दर्शन और जीवन के बीच सम्बन्ध यूं भी कम रहा है, अत: वहाँ सत्यद्वैत समाज के लिए कभी समस्या नहीं बना। इसके विपरीत, भारतीय दर्शन का सामान्यत: घोषित उद्देश्य जीवन के आध्यात्मिकीकरण द्वारा मोक्ष का पथ प्रशस्त करना रहा है, अत: यहाँ परमार्थ और व्यवहार के सम्बन्ध का प्रश्न गम्भीर अर्थ रखता है।

अब हम प्रस्तुत प्रश्न को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। अच्छा, ब्रह्मवाद की दृष्टि से सभी ब्रह्म है, अत: वे मूलत:-तत्वत: सर्वथा समान भी हैं। इसी प्रकार, यदि नित्यमुक्त और नित्यबद्ध जीववाद रूपी अपवादों को छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि आत्माओं में तात्त्विक समता का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की मूलधारा का सर्वतंत्र सिद्धान्त है। और भी, ज्ञान और भक्ति की पराकाष्ठा की अवस्था में वैषम्य, किसी भी प्रकार का वैषम्य, नहीं रह जाता। एक ऐसी स्थिति आती है जिसे परम साम्य की स्थिति कहा जाता है-

"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन: परमं साम्यमुपैति" [२६]

पुन: साम्य मूलावस्था है, और वैषम्य या तो अविद्या का और या (जो भी हो अन्तत: वही बात है) कर्म का खेल है। व्यवहारत: इतिहासत: भी जैसा कि हमारे शास्त्रकारों का मत है कि आद्य युग समता का युग था-

समाश्रयं,समाचारं समज्ञानं च केवलम्,
तदाहि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥[२७]

उस समय न राजा था, न राज्य था, न दण्ड था, न दाण्डिक था, सर्वत्र धर्म ही धर्म था-

नैव राज्यं, न राजा ऽऽसीत्, नच दण्डो न दाण्डिक:
धर्मेणैव प्रजा: सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥[२८]

आगे चलिये। वेद से लेकर गीता पर्यन्त विश्व-मैत्री के अत्यन्त उदात्त उद्गार और आदर्श प्राप्त होते हैं। वेद-मन्त्र लीजिए-

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥[२९]

यहाँ सभी प्राणियों के प्रति मित्र-दृष्टि रखने का उपदेश है, इसी प्रकार-

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्यैवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानत:
तत्र को मोह: ? क: शोक: ? एकत्वमनुपश्यत: ॥[३०]

अर्थात् सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखना चाहिए, और मानना चाहिए कि अपनी ही आत्मा सभी प्राणियों के रूप में विद्यमान है।

समता का कैसा ऊँचा आदर्श है ? समता को प्राणिमात्र से मैत्री और तदाकारता से अधिक ठोस आधारशिला कहाँ मिलेगी ? गीता ने स्थिति और स्पष्ट कर दी है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्रह्मणे, गवि, हस्तिनि,
शुनि चैव, श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन: ॥[३१]

अर्थात् ज्ञानी समदर्शी होता है-विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को वह समान

देखता है। ऐसी समता यदि आकाश से धरती पर उतर आये, तो सामाजिक समता ही क्यों, प्राणिमात्र से समता का साम्राज्य स्थापित हो जाए।

शास्त्रों में शूद्र और दास की दशा

यह तो रही परमार्थ की बात, अब देखिए व्यवहार कैसे सिद्धान्तित हो रहा है; महाभारत में शूद्र और नीच से भी ज्ञान-प्राप्ति का स्वागत किया गया है-

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्, क्षत्रियाद् वा, वैश्याश्च शूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्
श्रद्धातव्यं श्रद्धानेन नित्यं, न श्रद्धिने जन्म-मृत्यु विशेषताम् ॥[३२]

मनु अन्त्यज से भी परम धर्म ग्रहण करने में संकोच न करने का उपदेश देते हैं-

श्रद्धान: शुभां विद्यामाददीतावरादपि,
अन्त्यादपि परं धर्मं, स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥[३३]

यहाँ तक तो जगन्मैत्रीवाद और समदर्शितावाद का पूरा-पूरा पोषण हुआ। किन्तु वहीं मनु यह भी व्यवस्था देते हैं कि जो शूद्र विप्रों को धर्मोपदेश करने का साहस करे उसके मुख और श्रोत्र में जलता हुआ तेल भर देना चाहिए-

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वत:।
तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिव: ॥[३४]

मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र के अपशूद्राधिकरण[३५] में शूद्रों द्वारा वेद के श्रवण और अध्ययन के निषेध का प्रसंग अनुमोदनपूर्वक उठाया गया है। अपने-अपने भाष्य में शंकर और रामानुज गौतम-धर्मसूत्र के एक विधान का अनुमोदनपूर्वक स्मरण और उदाहरण करते हैं। वह विधान यह है-"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस् त्रपुजतुम्यां श्रोत्रपरि-पूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीर भेद:"[३६] अर्थात् शूद्र यदि वेद सुन ले तो उसके कान में सीसा और लाह पिघला देना चाहिए, यदि वह वेद-मंत्र का उच्चारण कर ले तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए, और यदि वह वेद को धारण कर ले तो उसके शरीर के दो टुकड़े कर देने चाहिए। पता नहीं यह विधान इतिहास में कभी चरितार्थ हुआ या नहीं, और यदि हुआ तो किस सीमा तक । वैसे, इसी कोटि के कतिपय अन्य विधानों के कार्यान्वयन के उदाहरण तो मिलते ही हैं। तैत्तिरीय-संहिता शुद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं देती-"तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त: ।"[३७] अत्रि-स्मृति और महाभारत के अनुसार जप, तप, होम, तीर्थ यात्रा, देवाराधन, आदि से शूद्र को पाप लगता है। इतना ही नहीं, उनका स्पष्ट आदेश है कि यदि शूद्र जप-होम का अनुष्ठान करे तो उसे वध कर देना चाहिए-

वध्यो राज्ञा स वे शूद्रो जपहोमपरश्च य:।
ततो राष्ट्रस्य हन्ताऽसौ, तथा वह्नेश्च वै जलम् ॥
जपस्,तपस्,तीर्थयात्रा प्रवज्या, मन्त्रसाधनम् ।
देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ॥[३८]

शम्बूक के साथ ऐसा ही तो हुआ ?[३९] और एकलव्य के साथ ही क्या हुआ था ?[४०]

मनुस्मृति में शूद्र को शिक्षा देने,धर्मोपदेश करने, और व्रत का आदेश देने का निषेध करते हुए कहा गया है कि जो उसे धर्म का उपदेश करता है, व्रत का आदेश देता है वह उसी के साथ नरक-वास करता है-

न शुद्राय मतिंदद्यात्, नोच्छिच्टं, न हविष्कृतम्,
न चास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥
यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशाति व्रतम्,
सो संवृतं नाम तम: सह तेनैव मज्जति ॥[४१]

शंकर के शूद्र के प्रति दृष्टिकोण की उनके अद्वैतब्रह्मवाद से विसंगति स्पष्ट है। किन्तु यह प्रश्न नया नहीं है। माधवीय-शङ्करदिग्विजय के अनुसार एक बार शंकर ने आपने मार्ग में एक अन्त्यज को देखकर 'दूर हटो', 'दूर हटो' कहा। इस पर अन्तयज ने उनके ब्राह्मण-श्वपच-भेद-विचार को पाखण्ड बतलाते हुए उन्हें आड़े हाथों लिया, और शंकर को लज्जित होकर कहना पड़ा कि अभेद-बुद्धि से युक्त चाण्डाल भी मेरा गुरू है।[४२]

धर्मशास्त्र आदि में शूद्र के प्रति कई घृणासूचक और अपमानजनक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो समतामूलक जीवन-दृष्टि से सर्वथा बेमेल है। शतपथब्रह्मण के अनुसार स्त्री, शूद्र कुत्ता, काला पक्षी, अनृत है, इन्हें देखना नहीं चाहिए-"अनृतं स्त्री, शूद्रः, श्वा, कृष्णः शकुनिः"। तानि न प्रेक्षेत।[४३] आपस्तम्ब के अनुसार शूद्र और पतित व्यक्ति श्मशान के तुल्य होते है, अतः इनके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए-"श्मशानवत् शूद्र-पतितो।"[४४] अन्त्यज शूद्र को चलता फिरता श्मशान कहा गया है और इसी आधार पर उसके समीप वेदाध्ययन का निषेध किया गया है-"पद्यु वा एतच् श्मशानं यच् शूद्रः। तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।"[४५] मनु तो हद कर देते हैं। वे कहते हैं कि बिल्ली, नेवले, नीलकण्ठ पक्षी, मेंढक, कुत्ते, गोह, उलूक और कौए की हत्या करने पर शूद्र हत्याव्रत का अनुष्ठान करना चाहिए-

माजारिं नकूलं हत्वा,चाषं मण्डूकमेव च,
श्व-गोधोलूक-काकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥[४७]

अर्थात् शूद्र और पशु समान हैं।

ऐतरेयब्राह्मण में शूद्र 'कामोत्थाप्य' (जब चाहे उठा दो, निकाल दो) और 'यथाकामबध्य' (जब चाहे पीटो, मारो) है।[४८] वहाँ वैश्य को भी नहीं बक्शा गया है : वैश्य 'अन्यस्य बलिकृत्' (अन्य को कर देन वाला), 'अन्यस्याद्य' (अन्य द्वारा भक्ष्य, शोषणीय, अधीन), 'यथाकामयोज्य' (जब और जैसे चाहो दबाओ, अभिभूत करो, तिरस्कृत करो) घोषित किया गया है।[४९] आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में शूद्र के सम्बन्ध में एक अत्यन्त उदार विधान प्राप्त होता है, जो अन्यत्र भी अनूदित हुआ है। वह विधान यह है कि जो प्रतिदिन भोजन पाने वाले दास-कर्मकर अथवा शूद्र हैं उन्हें खिलाकर खाना चाहिए, चाहे तदर्थ अपने को, भार्या को, अथवा पुत्र को भूखा रह जाना पड़े- " ये नित्या भक्तिकास्तेषामनुपरोधेन संविभागो विहितः। काममात्मानं, भार्यां, पुत्रं वोपरुन्ध्यान्, न त्वेव दासकर्मकरम्॥"[५०] मनु का वचन है-

मुक्तवत्स्वथ विप्रेषु,स्वेषु, भृत्येषु, चेव हि,
भुंजीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पत्ती।
देवान्, ऋषीन् मनुष्यांश्च पितृन्, गृह्याश्च देवताः
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत्॥[५१]

यहाँ भी नौकर-चाकर सहित सबको खिलाकर ही खाने का आदेश है। दूसरी ओर शास्त्रों ने धर्मभूत ब्राह्मण और धर्माग्रभूत क्षत्रिय[५२] वैश्य और शूद्र के शोषण की खुली छूट दे रखी है। लिखा है मनु ने कि यदि यज्ञ में धन कम पड़ जाय तो वैश्य अथवा शूद्र के घर से बलपूर्वक अथवा चोरी करके यथेष्ट धन प्राप्त किया जाना चाहिए-

यज्ञश्चेत् प्रतिरूद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि,
यो वैश्यःस्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः
कुटुम्बात् तस्यतद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये॥
आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः,
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः।[५३]

कुल्लूक भट्ट इन श्लाकों की टीका में कहता है कि वैश्य अथवा शूद्र के घर से द्रव्य बलात् अथवा चोरी से हरण कर लेना चाहिए (बलेन चौर्येण वा हरेत्) क्योंकि विप्र के लिए शूद्र से यज्ञार्थ धन की भिक्षा मांगने का मनु ने निषेध किया है[५४] बल-प्रयोग द्वारा अथवा चोरी द्वारा धन हरण करने का नहीं।[५५] वस्तुत: यहाँ शूद्र को वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार ही नहीं दिया गया है-

भार्या, पुत्रश्च, दासश्च त्रय एवाधना: स्मृता: ।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ॥[५६]

चूँकि शूद्र का धन पर कोई अधिकार ही नहीं है अत: वह 'भर्तृहार्यधन' कहा गया है। अर्थात् वह ऐसा व्यक्ति है जिसका धन उसका नहीं उसके मालिक का है। अत: ब्राह्मण को अधिकार दिया गया है कि वह नि:शंक होकर शुद्र से धन छीन लिया करे-

विस्रब्धं ब्राह्मण: शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।
न हि तस्यास्ति किंचित् स्वं, भर्तृहार्यधनो हि स:॥[५७]

वैशेषिक-सूत्र में हीन, सम, और विशिष्ट धार्मिक के परस्वादान की चर्चा आई है-'एतेन हीन-सम-विशिष्ट-धार्मिकेम्य: परस्वादानं व्याख्यातम्'[५८] शंकर मिश्र ने वैशेषिकसूत्रोपस्कार में 'वृत्तिकार' के हवाले से लिखा है कि परस्वादान का अर्थ है चोरी आदि द्वारा पर-सम्पत्ति का ग्रहण (वृत्तिकारास्तु परस्वादानं पर-स्व ग्रहणं व्याख्यातम्)।[५९] इसके बाद वे श्रुति के हवाले से कहते हैं कि अपनी क्षुधा-पीड़ा की दशा में तथा कुटुम्ब की रक्षा के लिये सात दिन से भूखा रहने पर शूद्र का भोजन चुरा लेने से कोई दोष नहीं, दस दिन से भूखा रहने पर वैश्य का, पन्द्रह दिन से भूखा रहने पर क्षत्रिय का, और प्राण छूटने लगे तो ब्राह्मण का भोजन छीन लेने में कोई दोष नहीं-

''तथा च श्रुति:''-शूद्रात् सप्तमे, वैश्याद् दशमे, क्षत्रियात् पंचदशे, ब्राह्मणात् प्राणसंशये' इति क्षुधा-पीड़ितमात्मानं कुटुम्बं वा रक्षितुं सप्तदिनान्याहारमप्राप्य शूद्रभक्ष्यापहार: कार्य:, एवं दशदिनान्याहारमप्राप्य वैश्यात्, पंचदशदिनान्याहारमप्राप्य क्षत्रियात्, प्राणसंशये ब्राह्मणाद् भैक्ष्यापहरणं न दोषायेत्याहु:।[६०] वे आगे कहते हैं कि जो उक्त कार्य में बाधा डालें उनका यदि वध भी कर दिया जाय तो धर्म की हानि और अधर्म का प्रादुर्भाव नहीं होता-''न केवलं प्राणसंशये परस्वादानं न निषिद्धं किन्तु तस्यां दशायामपहर्तुये न प्रयच्छन्ति तेषां बधोऽपि कार्यो, न तावत् धर्महानिरधर्म-प्रादुर्भावोवा''।[६१] जैसा कि अगले सूत्र में भी कहा गया है,उक्त विशेषाधिकार के विरोधियों को मार डालना चाहिए (तथा विरूद्धानां त्याग:)।[६२] सूत्रकार ने शर्त यह लगाई कि ऐसा तभी करना चाहिए जब विरोधी हीन वर्ग का हो (हीने परे त्याग:),[६३] यदि दोनों पक्ष सम वर्ण के हों तो उनमें (परिस्थित्यनुसार) जो जिसको मार डाले वही ठीक (समे आत्मत्याग: परत्यागो वा)।[६४] हाँ, यदि विरोधी उच्चतर वर्ण का हो तो उसे कदापि नहीं मारना चाहिए, अपने को ही मरने देना चाहिए (विशिष्टे आत्मत्याग इति)।[६५]

शास्त्रों में दासता-प्रथा को मुक्तकण्ठ से स्वीकृति दी गई है, और दास केवल शूद्र ही नहीं होते। मनु ने सात प्रकार के दास बतलाये हैं -

ध्वजाहतो, भक्तदासो, गृहज: क्रीत-दत्त्रिमौ ।
पैत्रिको, दण्डदासश्च-सप्तैते दास-योनय: ॥[६६]

अर्थात् संग्राम में विजित, जीविकार्जन के लिए बना हुआ दास, दासी-पुत्र, क्रीत दास, दान में मिला हुआ दास, कुलक्रमागत दास, ऋण चुकाने के लिए दासता स्वीकार करने वाला दास, दासों की ये सात कोटियाँ हैं। नारद-स्मृति में १५ प्रकार के दासों की सूची प्राप्त होती है।[६७] यह सही है कि भारत में दासों के साथ उतना अमानुषिक व्यवहार नहीं होता था जितना युनान, रोम, मिस्र, आदि अन्य प्राचीन सभ्यताओं में होता था, तथापि सामाजिक समता और दासता में आत्यन्तिक विरोध का अपलाप

असम्भव है, विशेषत: उस स्थिति में जबकि यह तथ्य कि दासता-प्रथा प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था का आधार कभी नहीं बनी। जैसा हम लिख आये हैं, धर्मशास्त्र का विधान है कि चाहे घर भर को भूखा रह जाना पड़े किन्तु दास को पहले भोजन देना चाहिए। कौटिल्य अर्थशास्त्र में दासों को जितनी सुविधा दी गई है[६८] उतनी इस्लाम को छोड़कर अन्य किसी परम्परा ने नहीं दी है। दास के साथ सद्व्यवहार का जो मानदंड इस्लाम ने स्थापित किया है वह विश्व में बेजोड़ है। कहते हैं कि खलीफा उमर शाम देश के शासक से संधि के लिए आमन्त्रित हुए और उन्होंने एक ऊँट पर सवार होकर एक उष्ट्रवाहक दास के साथ प्रस्थान किया, इस नियम के साथ कि मार्ग में एक मंजिल (मील अथवा किलोमीटर समझ लीजिए) तक वे ऊँट पर सवार रहते और दास ऊँट की नकेल थाम कर चलता और दूसरी मंजिल पर दास ऊँट की पीठ पर आ जाता और खलीफा ऊँट की नकेल थाम लेते। बात यहाँ तक पहुँची कि उनके नगर में प्रवेश के समय ऊँट पर दास आसीन था और ऊँट की नकेल खलीफा के हाथ में थी। यह कौतुक शाम के शासक ने देखा और इतने बड़े सम्राट के सामाजिक समता के आदर्श पर दांतों तले ऊँगली दबा ली। मौलिक्य इस्लाम के इतिहास से इस कोटि के अनेक अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

यह सब सही, किंतु मानना होगा कि इस्लाम दासता-प्रथा तथा तज्जन्य सामाजिक विषमता के धब्बे को धो नहीं सकता। वस्तुत: दासता-प्रथा का अस्तित्त्वमात्र सामाजिक समता में बाधक कहा जा सकता है। फारसी के कविवरेण्य बेदिल का शेर है-

इलाजे नीस्त दागे बन्दगी रा
अगर बेश-मव गर कम आफरीदन्द

अर्थात् दासता चाहे कम हो या अधिक, उसके धब्बे का कोई उपचार नहीं। लगता है कि महाभारतकार को इस प्रकार की चेतना हो गयी थी और वह दासता-प्रथा पर करारी चोट करते हुए लिखता है-

मानुषा मानुषानेव दास-भावेन भुंजते
बध-बन्ध-निरोधेन कारयन्ति दिवानिशम्॥[६९]
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिता:
बध-बन्ध-परिक्लेशै: विलश्यन्ते पुन: पुन:॥[७०]

शूद्र के प्रति वैदिकों के वैषम्यमूलक व्यवहार का प्रभाव बौद्धों पर भी पड़ा और जैसा कि हम जयन्त भट्ट के हवाले से दिखला आये हैं, वे भी स्पृश्यास्पृश्य के चक्कर में पड़ गये। बुद्ध ने भी ऋणी और राजसैनिक के साथ-साथ दास को भी प्रव्रज्या वर्जित कर दी, और दासों की दशा सुधारने की चिन्ता भी नहीं की। अन्यथा भी, बौद्धों में परमार्थ और व्यवहार अथवा सिद्धान्त और आचरण, के बीच की खाई पर कटाक्ष करते हुए जयन्त लिखता है -

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
संस्कारा: क्षणिका, युगस्थितिभृतश्चैते विहारा: कृता:,
सर्व शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते-
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमि: परा॥[७१]

अर्थात् बौद्धों का दम्भ देखिए-वे कहते हैं कि आत्मा नहीं है, किन्तु स्वर्ग के लिए चैत्य-पूजा करते हैं, वे कहते हैं कि सारे संस्कार क्षणिक हैं, किन्तु युग-युग तक स्थित रहने वाले विचार बनाते हैं, वे कहते हैं कि सब कुछ शून्य है, किन्तु गुरू को धन देने का आदेश करते हैं।

शूद्र और श्रुति के श्रवणाध्ययन-वर्जन के प्रसंग में हम एक विशेष तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जो प्राय: प्रसिद्ध नहीं है। एक परम्परा ऐसी भी है जो शूद्र के शास्त्राधिकार पर प्रतिबन्ध नहीं लगाती। महाभारत में ब्राह्मी-सरस्वती, वेद-वाणी, चारों वर्णों के लिए बतलायी गयी है।

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं, लोभात् त्वज्ञानतां गता: ॥[७२]

उसमें पंच महायज्ञों आदि में शूद्रों का भी अधिकार माना गया है -

इत्येते कर्मभिर् व्यस्ता द्विजा वर्णांतरं गता: ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥[७३]

लघुविष्णु-स्मृति पंच यज्ञों का विधान शूद्र के लिए भी करती है-

पंचयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते ॥[७४]

महाभारत में शूद्रों के शास्त्राधिकार की घोषणा कई अन्य स्थलों पर भी की गयी है-

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत: ।
वेद स्याध्ययनं हीदं, ते च कार्यं महत् स्मृतम् ॥[७५]
सर्वे वर्णा- ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च सर्वे-नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि, सर्वे विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम् ॥[७६]

महाभारत में यह भी सूचना है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण चण्डालों को भी वेद सुनाया करते थे-

पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलान् श्रावयन्ति ॥[७७]

जैमिनी से प्राचीनतर मीमांसासूत्रकार बादरि कर्म में शूद्र का पूरा अधिकार मानते थे, ऐसी सूचना जैमिनि से प्राप्त होती है।[७८]

भारद्वाज-श्रौतसूत्र के अनुसार शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नियों को जला सकता है।[७९] अहिर्बुध्न्य-संहिता चारो वर्णों को वेद में अधिकार देती है-

ये हि ब्रह्ममुखादिभ्योवर्णाश्चत्वार उद्‌गता: ।
ते सम्यग्धिकुर्वन्ति त्रय्यादीनां चतुष्टयम् ॥[८०]

माध्यन्दिन-वाजसनेयी-संहिता घोषणा करती है कि वेदवाणी शूद्र के लिए भी सुलभ है-'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य: । ब्रह्मराजन्याभ्यां ॐ शूद्राय, चार्याय च स्वाय, चारणाय च ।'[८१]

खेद और आश्चार्य का विषय यह है कि इस वेदानुमोदित स्वस्थ परम्परा की सर्वथा उपेक्षा कर के शबर, कुमारिल, शंकर, रामानुज प्रभृति आचार्यों ने शूद्र के लिए श्रुति-श्रवणाध्ययन-वर्जन की नितान्त वैषम्यमूलक परम्परा को ही मान्यता दी है।

इससे भी आश्चर्यकारी तथ्य यह है कि जिस वेद का द्वार शूद्र के लिए बन्द कर दिया गया उसके निर्माण में शूद्रों का भी हाथ है। कहते हैं कि इलूषा के पुत्र कवष को ऋषियों ने सरस्वती के तट पर अनुष्ठित सोम-यज्ञ से यह कह कर निकाल दिया कि "यह दासी पुत्र", जुआड़ी-अब्राह्मण हमारे मध्य में दीक्षा कैसे प्राप्त करेगें ?" उसे मरुभूमि में भगा दिया गया , कि वह प्यासा मर जाय और सरस्वती का जल न पी पाये। जब वह प्यास से व्याकुल हो गया तब उसे ऋग्वेद के दशम मण्डल के अपोनप्त्रीय (अपां नपात् अथवा आप:) सूक्त (ऋ १०.३०) के दर्शन हुए, अर्थात् उस पर उक्त वेद-सूक्त प्रकट हुआ। वह सूक्त वेद में कवष ऐलूष के नाम से अब तक चला आ रहा है। यह कथा ऐतरेय-ब्राह्मण की है, जिसके शब्द ये हैं-'ऋषयो वे सरस्वत्यां सत्रमासत । ते कवषमैलूषं सोमादनयन्-'दास्या: पुत्र:, कितवो, ब्राह्मण:, कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति ?" तं बहिर धन्वोदवहन-अत्रैनं पिपासा हन्तु, सरस्वत्या ऊकं मा पातु-इति । स बहरि धन्वोदूढ: पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् ।'[८२]

इसी प्रकार, इतरा दासी के पुत्र महिदास ऐतरेय पर ऐतरेय-ब्राह्मण का प्रादुर्भाव हुआ था।'[८३]

पुराण आदि में स्त्री का भी वेद में अधिकार नहीं माना गया है। श्रीमद्भागवत का वचन है -

स्त्री-शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥[८४]

किन्तु प्राचीन काल में ऐसा नहीं था, स्त्री को वेदाध्ययन का अधिकार था और उसका यज्ञोपवीत भी होता था-

पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते,
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवाचनं तथा ॥[८५]

स्कन्दपुराण की अङ्गभूत सूत संहिता में कण्ठतः स्वीकार किया गया है कि वेदाभ्यास का अधिकार द्विज-स्त्रियों को भी है-

द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽधिकारिता ॥[८६]

कहीं-कहीं 'यज्ञोपवीतिनी' कन्या का भी विधान देखने में आता है,[८७] और भी आता है कि पति के न होने पर स्मार्त-होम स्त्री ही करे।[८८] हारीत-स्मृति में दो प्रकार की स्त्रियाँ मानी गयी है-ब्राह्मवादिनी और सद्योवधू। इनमें से ब्रह्मवादिनी को उपनयन, अग्नीन्धन, और अपने घर में भिक्षाचर्या का अधिकार है, जबकि सद्योवघू का उपनयन नहीं होता-'द्विविधा हि स्त्रियः ब्रह्म-वादिन्यः सद्यौवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयन, अग्नीन्धनं स्वगृहे भिक्षाचर्या च। सद्योवधूनामुपनयनमकृत्वा विवाहः कार्यः।'[८९]

इसके अतिरिक्त मीमांसा-सूत्र में स्त्रियों का वेदाधिकार स्वीकार किया गया है, तदन्तर्गत एक सूत्र है-'जाति तु वादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्रियति प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्।'[९०] इस पर शबर का भाष्य है- 'तस्मात् शाब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिकृताविति गम्यते।'[९१] स्त्री और पुरूष दोनों का अधिकार है। उसी प्रकार एक अन्य सिद्धान्त-सूत्र में वैदिक कर्म में दम्पती का सहाधिकार माना गया है -'स्वावतोस् तु वचनादेककर्म्य स्यात्।'[९२]

आश्‍चर्य है कि स्त्री के वेदाधिकार का प्रश्न परवर्ती शास्त्रों में जटिल बना दिया गया है, जबकि वेद की रचना में स्त्रियों का भी हाथ रहा है। आत्रेयी, विश्ववारा, आत्रेयी (कोई अन्य आत्रेयी) अपाला, घोषा, काक्षीवती जैसी स्त्रियों के रचित अथवा द्रष्ट कई सूक्त ऋग्वेद में विद्यमान है।

यह सब देखते हुए स्त्री के साथ वेदाधिकारकृत वैषम्य-भाव का तनिक भी औचित्य नहीं।

शास्त्रों में ब्राह्मण-क्षत्रिय का महत्त्व

समाज में शूद्र के ठीक विपरीत ब्राह्मण और क्षत्रिय की दशा थी। शूद्र यदि पशु माना जाता था तो ब्राह्मण देवताओं का भी देवता माना जाता था-

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्राह्मणैव हि कारणम् ॥[९३]

अतः दस वर्ष का ब्राह्मण किशोर सौ वर्ष के वृद्ध राजा से भी इतना बड़ा बतलाया गया है कि इनमें पिता-पुत्र का सम्बन्ध बन जाता है-

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्
पिता-पुत्रौ विजानीयाद्, ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥[९४]

यहाँ तक कह दिया गया है कि ब्राह्मण जन्म लेते ही वसुधा की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और कि अन्य लोग जो सम्पत्ति का भोग करते हैं वह ब्राह्मण की कृपा का फल है-

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥

सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचित् जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिभजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जना: ॥[९५]

क्षत्रिय भी देवताओं के अंश से समुत्पन्न, देवताओं का प्रभाव रखने वाला, नर-रूपी महान् देवता बतलाया गया है-

इन्द्रानिलयमर्काणामग्नेश्च वरुणस्य च
चन्द्रवित्तेशयोश्चैवमात्रा निर्हृत्य शाश्वती
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृप:,
तस्मादभिवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
सो ऽग्निर्भवति, वायुश्च, सौऽर्क: सोम:, स धर्मराट्,
स कुवेर:, स वरुण:, स महेन्द्र प्रभावत: ॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप: ।
महती देवता ह्येष नररूपेण तिष्ठति ॥[९६]

ऐसी विचारधारा सामाजिक समता के सिद्धान्त से सर्वथा बेमेल है।

श्रमिक वर्ग की दशा

तथापि शूद्र के साथ भेद-भाव की परम्परा उतनी शास्त्रकारों की सामाजिक-आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति से प्रेरित नहीं प्रतीत होती जितनी एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि की आन्तरिक अपेक्षाओं से। हमारे शास्त्रकार ब्राह्मण रहे हैं, और उन्होनें ब्राह्मणों का जो जीवन स्तर निर्धारित किया है वह भारतीय इतिहास के अधकचरे मार्क्सवादी व्याख्याओं को चक्कर में डाल देने वाला तथ्य है। यूरोप में श्रमिकों का शोषण करने वाला वर्ग उत्पादन के साधनों- भूमि, पूंजी, आदि पर एकाधिकार जमा लेने वाला वर्ग रहा है, जो समाज का सारा सुख बटोर लेने की महत्वकांक्षा से प्रेरित था। यहाँ, समाज में शूद्रों का स्थान नीचा निर्धारित करने वाला वर्ग ब्राह्मण रहा है। प्राचीन काल में, मुट्ठी भर दरबारी ब्राह्मणों को छोड़कर प्राय: सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति एक अकिंचन भिक्षुक जाति के रूप में उभरी थी। उसने अपना जीवन-स्तर स्वेच्छया इतना नीचा रखा था कि उन पर-शोषण का आरोप हास्यापद हो जाता है। द्रोण जैसे ब्राह्मण राज्याश्रय प्राप्त करने के पूर्व अपने पुत्र अश्वत्थामा के लिए गाय का दूध नहीं जुटा पाते थे और पुत्र को आटे का घोल दूध समझकर पीते देख आंसू बहाया करते थे।[९७] ब्राह्मण के प्ररिग्रह की सीमा बांधते हुए मुनि कहते हैं-

ऋतामृताभ्यां जीवेत् तु,मृतेन प्रमृतेन वा,
सत्यानृताभ्यामपि वा, न श्ववृत्या कदाचन ॥
ऋतमुंछशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्,
मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ॥[९८]

अर्थात् ब्राह्मण को ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत से जीवन-निर्वाह करना चाहिए। ऋत उंछशिल को कहते हैं, अमृत अयाचित भिक्षा को, मृत याचित भिक्षा को, प्रमृत खेती को, और सत्यानृत वाणिज्य को। इतना ही नहीं-

कुसूलधान्यको वा स्यात्, कुम्भीधान्यक एव वा,
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेत्, अश्वस्तनिक एव वा ।

चतूर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्
ज्यायान् परः, परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥[99]

अर्थात् तीन वर्ष, अथवा एक वर्ष, अथवा तीन दिन अथवा केवल आज के लिए धन संग्रह संजोना चाहिए। इनमें से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर को ज्यायवान् मानना चाहिए।

और इतिहास में उक्त आदर्शों पर चलने वाले ब्राह्मणों की कमी नहीं रही है। अतः ब्राह्मणों को चाहे जो कह लीजिए, शूद्रों का सर्वथा शोषक नहीं कह सकते।

वैषम्य और पुनर्जन्मवाद

वस्तुतः हमारे सामाजिक वैषम्यवाद का प्रेरक हेतु प्रतीत होता है हमारा कर्म और पुनर्जन्म सिद्धान्त। समाज में ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, सुखी-दुःखी के भेद कर्मजनित हैं, अतः सामाजिक विषमता ही स्वाभाविक है, सामाजिक समता का सिद्धान्त अयौक्तिक है। पूर्वकृत-फलानुबन्ध से तीन परिणाम प्रवृत्त होते हैं-जाति, आयु और सुख-दुःख। अब यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण है अथवा शूद्र है तो इसलिए कि उसकी पूर्वजन्म की कमाई ही ऐसी रही है। इसी प्रकार जो सुख भोग रहा है वह पूर्वजन्म में पुण्यात्मा रहा है और जो दुःख भोग रहा है, वह पूर्वकृत पापों का दण्ड पा रहा है। ऐसी दशा में सामाजिक समता का क्या प्रश्न ? कारावास में दण्ड भोग रहे आततायी को भला कारावास से समय से पूर्व ही मुक्त कराने के लिए हाय-तौबा शासन सहन कर सकता है ?

वस्तुतः कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से पीड़ित प्राणी पापी सिद्ध होता है, और समृद्ध पुण्यात्मा। फलतः पीड़ित से समता के व्यवहार के बदले घृणा के व्यवहार का ही औचित्य सिद्ध होता है। इस प्रकार सहज विषमतायें विधाता का विधान बन जाती हैं जिनमें हस्तक्षेप मानव की अक्षम्य धृष्टता ही कही जायेगी। विज्ञान जन्मान्ध को भी आँख देने के लिए सचेष्ट है, जबकि कर्म-सिद्धांत अन्धत्व को उचित धोषित कर उसे अहस्तक्षेप्य कर देता है। यदि कोई जीव शूद्र के घर में उत्पन्न होगा तो उसे आजीवन दासता ही करनी होगी, उसे अपनी स्थिति सुधार कर स्वतंत्र जीवन नहीं जीने दिया जा सकता। मनु कहते हैं-

शूद्रं तुकारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा ॥
न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद् विमुच्यते।
निसर्गज हि तत् तस्य, कस् तस्मात् तदपोहति ?[100]

अर्थात् शूद्र चाहे क्रीत हो चाहे अक्रीत, चाहे स्वामी की सेवा में हो चाहे स्वामी ने उसे मुक्त कर दिया हो, उससे दासता ही करानी चाहिए, क्योंकि विधाता ने उसे उत्पन्न ही दासता के लिए किया है। भला प्रकृति को कौन बदल सकता है ?

पाप के फलस्वरूप जीवात्मा की जब मध्यमा तामसी गति होती है तभी वह हाथी, घोड़े, सिंह, व्याघ्र, बराह और गर्हित म्लेच्छों के साथ-साथ शूद्र के रूप में जन्म पाती है।

हस्तिनश्च, तुरङ्गाश्च, शूद्रा, म्लेच्छाश्च गर्हिताः,
सिंहा, व्याघ्रा, बराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥[101]

यह भी मान्यता है कि आज का चण्डाल अथवा पूक्कस पिछले जन्म में ब्रह्म हत्यारा था-

श्व-सूकर-खरोष्ट्राणां गोऽजावि-मृग-पक्षिणाम्,
चण्डाल-पुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥[102]

कर्म-सिद्धान्त के स्तर पर वैदिक,बौद्ध, और जैन बराबर हैं, ये सभी उसके पोषक हैं। अतः वे सामाजिक विषमता का पोषण और उपोद्बलन ही कर सकते हैं। यह तो कहिये कि कर्म-सिद्धांत के इस

निहितार्थ पर प्राय: विचार ही नहीं किया जाता, अन्यथा समाज से समता की भावना के साथ-साथ भूत-दया का भी लोप हो जाय। पीड़ित-शोषित पर दया का औचित्य तभी बनेगा जब हम आश्वस्त हों कि उसे जो पीड़ा मिल रही है वह उसे नहीं मिलनी चाहिए, कि उसके साथ अन्याय हो रहा है। और जब सिद्धान्त यह है कि उसकी पीड़ा विधाता के न्याय का नमूना है तो उसके प्रति दया उमड़ने के बदले विधाता की न्यायप्रियता के प्रति उत्साह उमड़ने लगेगा।

समता की सम्भावनायें

आइए, लगे हाथों किंचित् इस पर भी विचार करते चलें कि कैसा दर्शन सामाजिक समता का साधक और पोषक हो सकता है। ऐसे दर्शन की प्रथम अर्हता तो यह हो सकती है कि वह मान कर चले कि सभी सत्य मानव सत्य है और कि अन्तिम सत्य का दावा दम्भ मात्र है। अन्तिम सत्य का साक्षात्कार कम से कम अभी मानव के वश की बात नहीं। जिन परम्पराओं ने सत्य के सम्बन्ध में अंतिम शब्द बोलने का दृढ़तापूर्वक दावा किया है उन्होनें प्राय: भिन्न विचार वाले व्यक्तियों की सामाजिक समता का निषेध किया है। वे विपक्षी को गुमराह, पथभ्रष्ट समझ कर सम-भाव, सद्-भाव का रास्ता बन्द कर देती हैं। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि किसी सत्य के विषय में हमें निश्चय ही नहीं। अनिश्चय की अवस्था में कोई कार्य नहीं हो सकता-'संशयात्मा विनश्यति। अत: विचाराधीन दर्शन की दूसरी विशेषता यह हो सकती है कि वह हम में सार्वभौम सत्यों-मूल्यों की चेतना जगाता रहे और तदर्थ अन्यों की सत्य-चेतना, मूल्य-चेतना से भी लाभान्वित होने की प्रवृत्ति का पोषण करता रहे। सामाजिक समता के साधक दर्शन की तीसरी अर्हता है व्यक्ति को साधन न मानकर साध्य मानना। अत: जो दर्शन व्यक्ति की सत्ता ही नहीं मानता, व्यक्ति को भूत-तत्त्व का परिणाम-विशेष मात्र मानकर चलता है अथवा उसे क्षणभंगुर मानने का आग्रह करता है, वह व्यक्ति को साध्य नहीं मान सकता और इस प्रकार सामाजिक समता का पथ नहीं पकड़ सकता है। वह वैयक्तिक स्वातंत्र्य का समादर करते हुए एक-एक व्यक्ति के मत को वह महत्त्व नहीं दे सकता जो सामाजिक समता का मूलाधार है। नश्वर क्षणभंगुर आत्मा के लिए इतनी हाय-तौबा क्या ? जो वस्तु रहने वाली नहीं है, जो मात्र एक आकस्मिक घटना है, जिसकी सत्ता का कोई भरोसा नहीं, वह अपना साध्य स्वयं कैसे हो सकती है ? बुद्धघोष लिखते हैं कि संसार में दु:ख तो है किन्तु दु:खी नहीं, क्रिया तो है किन्तु कर्ता नहीं, निर्वाण तो है किन्तु निर्वृत्त नहीं, पथ तो है किन्तु पथिक नहीं-

दुक्खमेव न हि कोपि दुक्खितो, कारको न किरिया व विज्जति,
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा, मग्गमत्थि गमको न विज्जति ॥[१०३]

यहाँ व्यक्ति की सत्ता का खुल कर अपलाप किया गया है, जिससे व्यक्तियों की समता विषमता का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है। अत: सामाजिक समता के साधक दर्शन की चौथी अर्हता है व्यक्ति की स्वतंत्र और स्थायी सत्ता मानना। किन्तु यदि सभी व्यक्ति इतने स्वतंत्र हैं कि वे आत्मपूर्ण, स्वत:पूर्ण, होने का दावा कर सकते हैं, जैसे सांख्य के पुरूष, अथवा न्याय की जीवात्मायें, तो उनमें परस्पर सहकार संभव नहीं होगा और वे एक-दूसरे की उपेक्षा करेंगे। फलत: सामाजिक समता चरितार्थ ही नहीं होगी। अत: सामाजिक समता के साधक दर्शन की पाँचवीं अर्हता है व्यक्तियों, आत्माओं का किसी स्तर पर अन्योन्याश्रयत्व, अन्योन्यसम्बन्ध। अर्थात् आत्मायें स्थायी और स्वतंत्र सत्तायें होते हुए भी किसी गहरे स्तर पर एक ओर अभिन्न हों। अत: एक प्रकार का भेदाभेद सिद्धांत ही सामाजिक समता को प्रश्रय दे सकता है।

अधिकांश भारतीय दर्शन आत्मौपम्यवादी दर्शन हैं। आत्मा एक हो अथवा अनेक, नित्य हो

अथवा अनित्य, किन्तु भारतीय दार्शनिकों का गीता के इस आदेश पर सही करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि सर्वत्र आत्मौपम्य-दृष्टि रखनी चाहिए।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत: ॥[104]

महायान भी बुद्धों और सत्त्वधातु की तात्त्विक अभिन्नता के आधार पर जीवों में समता भाव का आधार पा लेता है-

बुद्धानां सत्वधातोश् च येनाभिन्नत्वमर्थत:।
आत्मनश्च परेषां च समता तेन ते मता ॥[105]

यह दृष्टि सम-दर्शन और सम-दर्शिता का ठोस आधार है। यह सामाजिक समता के सिद्धांत और व्यवहार को भी ठोस आधार प्रदान कर सकती है।

कहना नहीं होगा कि कोई एक भारतीय दर्शन, अथवा दर्शन, इन सभी शर्तों को पूरा नहीं करता, सभी अर्हताओं से मंडित नहीं दिखायी देता। अत: संस्कृत के ग्रन्थों में यत्र-तत्र विकीर्ण सूक्तियों से झट निष्कर्ष निकाल कर भारत की दार्शनिक प्रतिभा पर कोई हुक्म नहीं लगा देना चाहिए, बल्कि उस प्रतिभा के गठन का विश्लेषण करके ही कोई निष्कर्ष निकालना चाहिए।

***

टिप्पणियां

१. *न्यायमंजरी, प्रमाण-प्रकरण, पृ.२४७*
२. *तत्रैव, पृ. २४३*
३. *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका,२/१/६८, पृ ४३२*
४. *अबदुल-कलाम-आजाद, तर्जुमानुऽल-कुर्आन, खण्ड १, पृ. १६८-१७०*
५. *हर्षनारायण, हिन्दुत्व-सर्वस्वम् (अप्रकाशित)*
६. *प्रमेयरत्नार्णव, पृ. २५*
७. *आप्तमीमांसा १०५*
८. *अभिधम्मत्थ-सङ्गहो, द्वितीय भाग, पृ. ७९६, टिप्पणी १ में उदाहृत कथावत्थु- अट्टकथा; 'सम्भूति-सच्च', कथावत्थु, पंचमो बग्गो, सम्मुति-ञाणकथा ४९, पृ.२७७-२७८*
९. *मज्झिम-निकाय, मज्झिम-पण्पासक, सुभ-सुत्त, पृ. ४७४; सुत्तनिपात, अट्ठक- वग्ग ४, महाब्यूह सुत्त १३, सुत्त १७, पृ. ४०९*
१०. *अंगुत्तर-निकाय, भाग १,पृ. ५७*
११. *संयुक्त-निकाय, खन्ध-वग्गो (पुप्फ-सुत्त), पृ. ३५६। तु. मध्यमक-वृत्ति १८८, पृ.१५७*
१२. *अभि धर्मकोश ६/४/९६; सत्यसिद्धिशास्त्र पृ.१६, ३५५*
१३. *नन्दी-सूत्र (लुधियाना, आत्माराम जैन १९६६) पृ. ३३० (हिन्दी व्याख्या में उदाहृत)*
१४. *तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ.१*
१५. *सांख्य-कारिका ६२*
१६. *तत्रैव १७ और आगे*
१७. *वात्स्यायन-भाष्य १/१/१,पृ. ३*
१८. *न्यायसूत्र-विवरण ४/२/५२, अद्वैतसिद्धि-गौड़ब्रह्मानन्दी*
१९. *मीमांसा-सूत्र १/२/२८,३१; १/४/१८; ४/३/११-१४;४/४/५*
२०. *हर्षनारायण, वेदान्त-वाङ्मय- एक विवेचन, दार्शनिक त्रैमासिक १९, ३ (१९७३)*
२१. *तन्त्रवार्त्तिक ३/१/१३ (द्वि.सं. १९७२), पृ. ७०*
२२. *श्लोकवार्त्तिक १/१/५, आत्मवाद, अन्त्य श्लोक*
२३. *बृहती १/१/५, पृ. २५६*
२४. *श्लोकवार्त्तिक १/१/५, निरालम्बनवाद ६-१०*

२५. मनुस्मृति २।११०, सन्यासोपनिषद् २।१।२
२६. मुण्डकोपनिषद्, तृतीय मुण्डक १।३
२७. महाभारत, वनपर्व १४९।१९
२८. तत्रैव, शान्तिपर्व ५९।१४
२९. यजु. ३६।१८
३०. यजु, ४०।७-८
३१. गीता ५।१८
३२. म.भा. शान्तिपर्व ३१८।८८
३३. मनु. २।२३८
३४. मनु. ८।२७२
३५. मीमांसासूत्र ६।१।७, ब्रह्मसूत्र १।३।९
३६. गौतम-धर्मसूत्र २।३।४
३७. तैत्तिरीय-संहिता ७.१।९।६
३८. अत्रि-स्मृति १९।१३६-१३७ म.मा., बन. १५०।३६
३९. रामायण, उत्तरकाण्ड सर्ग ७६
४०. म.भा. द्रोण. १८१।१७
४१. मनु. ४।८०-८१
४२. शंकर-दिग्विजय ६।२५-३८
४३. शतपथ-ब्राह्मण १४।१।१,३१
४४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।९।९। तु. याज्ञवल्क्य-स्मृति १।१४८
४५. शबर,शंकर आदि द्वारा उदाहृत। शबर-भाष्य ६।१।७।३८, पृ. १३८१,
४६. शारीरिक-भाष्य १।३।९, ३८, पृ. २८०
४७. मनु. ११।१३१
४८. ऐतरेय-ब्राह्मण ७।५।२९
४९. तत्रैव
५०. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २।४।९,१०-११
५१. मनु. ११।१३१
५२. 'धर्मस्य ब्राह्मणी मूलमग्रं राजन्य उच्चते' मनु. ११।८३
५३. मनु. ११।११-१३
५४. मनु. ११।२४
५५. मन्वर्थमुक्तावली ११।१३
५६. मनु. ८।४१६
५७. मनु. ८।४१७
५८. वैशेषिक-सूत्र १।१२
५९. वैशेषिकसूत्रोपस्कार ६।१।१२
६०. तत्रैव ६।१।१३
६१. तत्रैव ६।१।१३
६२. वै.सू.६।१।१४
६३. तत्रैव ६।१।१५
६४. तत्रैव ६।१।१६
६५. तत्रैव ६।१।१५
६६. मनु. ८।४१५
६७. नारदस्मृति, पंचम व्यवहार-पद २२-२८
६८. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, अधिकरण, ३, अध्याय १३ (अथवा प्रकरण ६५), 'दासकर्मकर-कल्प'
६९. म.मा.शान्ति. २६२।३८-३९

७०. तत्रैव १८८।१५
७१. न्यायमंजरी प्रमेय-प्रकरण, पृ. ३९
७२. म.भा.शान्ति. १८८।१५
७३. तत्रैव १८८।१५
७४. लघुविष्णु-स्मृति ५।९
७५. म.भा. शान्ति. ३२७।४९
७६. तत्रैव ३१८।८९
७७. तत्रैव, अनुशासन. ९४।११
७८. मीमांसा-सूत्र ६।१।७।२७
७९. भारद्वाज-श्रौतसूत्र ५।२।८
८०. अहिर्बुधन्य-संहिता १५।२०-२१
८१. यजु. २६।२
८२. ऐतरेय-ब्राह्मण २।३।१
८३. ऐतरेयारण्यक भाष्य २।१।८, ऐतरेयालोचन, पृ. ११.१५
८४. श्रीमद्भागवत १।४।२५
८५. यम-स्मृति, मनु-परिशिष्ट पृ. १४ ('पुराकल्पे कुमारीणां')
८६. सूतसंहिता, शिवमाहात्म्य-खंड ७।२०
८७. गोमिल गृह्यसूत्र १।६
८८. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।६
८९. हारीत-स्मृति
९०. मीमांसा-सूत्र ६।१।३।८
९१. मीमांसा (शबर)भाष्य ६।१।३।८, पृ. १३५९
९२. मीमांसा-सूत्र ६।१।४।१७
९३. मनु. ११।८४
९४. तत्रैव २।१३५
९५. तत्रैव १।९९-१०१
९६. तत्रैव ७।४,५,७,८
९७. म.भा.आदि. १३०।५४-५८
९८. मनु. ४।४-६
९९. तत्रैव ४।६-७
१००. तत्रैव ८।४१३-४१४
१०१. तत्रैव १२।४३
१०२. तत्रैव १२।५५
१०३. विसुद्धि-मग्गो, भाग २पृ. ११६१-११६२
१०४. गीता. ६।३२
१०५. चतु:शतक ३।४०

☆ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, की 'भारतीय शास्त्रों में समता का स्वर' विषयक चतुर्दिवसीय परिसम्वाद-गोष्ठी (१६-१९ अगस्त १९७८) में पठित

श्रामण्य और निर्वाण का लोक-व्यवस्था से सम्बन्ध

लोक में शास्ताओं की कमी नहीं रही है। किन्तु लोक का दायित्व वहन करने का साहस और सामर्थ्य विरलों में ही दृष्टिगत होता है। घोर अराजकता से त्रस्त मानवता ने जब वैवस्वत मनु से राजा बनने का आग्रह किया तो वे प्रस्ताव टाल न सके और अन्तत: उन्होंने राज्य का दायित्व स्वीकार कर लिया।[1] प्लातोन के दार्शनिक भी राज्य की धुरी संभालने का जनता का आग्रह अन्तत: स्वीकार ही कर लेते हैं। मुहम्मद ने इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद उसकी देखरेख दूसरों को सौंप कर सन्यास नहीं ले लिया, अपितु शासन-सूत्र स्वयं संभालते हुए उसका पूरा दायित्व झेला। ईसा को एक बार राज्य-सत्ता संभालने के लिए आहूत किया गया, किन्तु वे पर्वतों मे भागते फिरे।[2] मार्क्स की दायित्व-चेतना ने उसे क्रान्ति के प्रयत्नों में संलग्न कर दिया। गांधी जी ने क्रान्ति के सूत्रधार की भूमिका निभायी, किन्तु राष्ट्र की धुरी संभालने का अवसर उपस्थित होने पर वे उसे अन्यों के कन्धों पर डाल कर विरत हो गये - उनके कन्धों पर जिन्हें उनके जीवन-दर्शन में आस्था ही नही थीं। इस प्रकार राष्ट्र एक बहुत बड़े सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रयोग से वंचित रह गया। साक्षात् कर्मयोग के मार्ग से विरत और सामाजिक जीवन से अत्यन्त निवृत्त श्री अरविन्द की भी यही दशा कही जा सकती है। इसी प्रकार बुद्ध जब बोधि-वृक्ष के तले ध्यानमग्न थे तब उन्हें सूचना मिली कि देवदत्त ने कपिलवस्तु पर अधिकार करके उनकी भार्याओं को स्वायत्त कर लिया है और शुद्धोदन को कारागार में डाल दिया है। इस उपद्रव की शान्ति के लिए बुद्ध को आहूत किया गया। किन्तु उनके मन में विचार आया कि देवदत्त का कृत्य काम और द्वेषभाव की उपज है और शाक्यों ने कायरता का परिचय दिया है, और यह सब हेय है, संसार ही हेय है। अत: इसके स्थान पर कि वे कपिलवस्तु की दु:स्थिति सुधारने की चेष्टा करते, उनका वैराग्य और दृढ हो गया। वस्तुत: मूल्यों का उपदेश देकर विरत हो जाना सरल है, महत्त्व उन्हें कल्पनाकाश से व्यवहार-भूमि पर लाने, उन्हें स्थानबद्ध करने, उसके द्वारा लोकव्यवस्था सम्पन्न करने में है। ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय का आदर्श शाश्वत आदर्श है।

अस्तु, उक्त कथाओं से लोकव्यवस्था के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोण उभरते हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार लोकव्यवस्था उपादेय है, जबकि दूसरे के अनुसार वह हेय और उपेक्षणीय है। संसार की स्थिति सुधार कर लोक-श्री की अभिवृद्धि की बात बुद्ध की दृष्टि में गौण प्रतीत होती है। वे ईर्ष्या-द्वेष,काम-क्रोध से भरे संसार की समस्याओं,न्याय-अन्याय के प्रश्नों को ध्यातव्य ही नहीं समझते प्रतीत होते हैं। गीता के कृष्ण लोकव्यवस्था को गम्भीरता से लेते हैं, अत: वे अर्जुन को अन्यायी-आततायी के विरूद्ध युद्ध में प्रवृत्त करके ही दम लेते हैं। यहाँ इससे कोई अन्तर नहीं आता कि बुद्ध-सम्बन्धी उक्त कथा में कपिलवस्तु के उपद्रव की सूचना में मार का षड्यंत्र था। कृष्ण भी अपने को विधि-निषेध से परे मानते प्रतीत होते हैं, किन्तु लोकव्यवस्था के हित में वे कर्मक्षेत्र में उतरना वरण करते हैं -

उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्यां कर्म चेदहम्
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा: प्रजा: ॥[3]

जैसे ईसा ने ईश्वरीय राज्य और सीजरीय राज्य में गठबन्धन वर्जित किया है वैसे ही बुद्ध के विषय में समझना चाहिए। बुद्ध के पिता, माता, पत्नी, पुत्र और शाक्य राजकुमारों के एक बड़े समुदाय ने अपना भौतिक ऐश्वर्य त्याग कर भिक्षु बनना पसन्द किया। हाँ, अशोक, कनिष्क जैसे सम्राटों तथा कई अन्य राजाओं ने ऐसा नहीं किया। उन्होनें आत्मानुशासन से अधिक लोकानुशासन को गौरव दिया। यह भी ज्ञातव्य है कि अशोक के शिलालेखों में 'निब्बान' का नाम तक नहीं; उनमें सदाचरण और पुण्य-संभार का फल लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण बतलाया गया है।

बौद्ध धर्म घोर वैराग्यवादी, निवृत्तिवादी धर्म हैं। उसका विनयपिटक केवल भिक्षुओं के लिए है। बौद्ध धर्म ने उपासको और गृहस्थों को कोई धर्मशास्त्र नहीं दिया है। दीघनिकाय के तृतीय, पाथिक-वग्ग के नवम सिंगालवाद-सुत्त में बुद्ध ने छह दिशाओं को नमस्कार करने की जो विधि बतायी है उससे उपासकों को कुछ शिक्षा अवश्य मिलती है। उनके द्वारा उपदिष्ट कर्तव्य-षट्क यह है- पिता का कर्तव्य पुत्र के प्रति और पत्नी के प्रति, शिष्य का गुरू के प्रति और गुरू का शिष्य के प्रति, पति का पत्नी के प्रति और पत्नी का पति के प्रति, मित्र का मित्रों के प्रति और मित्रों का उस मित्र के प्रति, स्वामी का सेवकों के प्रति और सेवकों का स्वामी के प्रति, उपासकों का भिक्षुओं के प्रति, भिक्षुओं का उपासकों के प्रति। किन्तु इस प्रकार के छिटपुट अपवादभूत उपदेशों से लोकव्यवस्था नहीं बनती। बौद्ध धर्म द्वारा अनागरिक भिक्षु-जीवन की गार्हस्थ्य से श्रेष्टता का भूरि-भूरि प्रतिपादन सिद्ध करता है कि उसका मूल स्वर लोकव्यवस्था-निरपेक्ष वैराग्यवाद ही है। भिक्षु बनाने की प्रक्रिया समाज-निरपेक्षकरण की प्रक्रिया नहीं तो और क्या है ? वस्तुत: उसमें उपासक-जीवन को अनुकम्पापूर्वक सहन ही किया गया है, प्रोत्साहित नहीं किया गया है। यह सही है कि बुद्ध ने कहा है कि लोक से वैसी ही ममता रखनी चाहिए जैसी माता अपने इकलौते पुत्र से रखती है और कि सबसे मैत्री की भावना होनी चाहिए-

माता यथा निजं पुत्तं आयुस्मा एकपुत्तमनुरक्खे,
एवंपि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं ॥
मेत्तं च सब्बलोकस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं ।
उद्धं अधो च, तिरियं च असम्बाधं अवेरमसपत्तं ॥[४]

किन्तु यह वैसा ही हुआ जैसे कोई 'अत्तदीपो भव' जैसे वचन के आधार पर बुद्ध को आत्मवादी घोषित करे। सामान्य नीति-नियमों का उपदेश और बात है और लोकव्यवस्थापन और ही। लोकव्यवस्था वस्तुत: राग और ममता का खेल है, जबकि बुद्ध राग और ममता के उच्छेद का उपदेश करते हैं। मैत्री और करुणा वैदिक धर्म में केवल उपदेश की वस्तु नहीं है, उन्हें लोकव्यवस्था का अभिन्न अंग बनाने के निमित्त पञ्च महायज्ञों द्वारा संस्थाबद्ध करने की चेष्टा की गयी है। वैदिक धर्म में गार्हस्थ्य को आश्रमों में ज्येष्ठ बतलाकर उसका विशद गान किया गया है-

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव:,
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा: ॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्,
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्जयेष्ठाश्रमो गृही ॥[५]

मनु यहाँ तक कह जाते हैं कि गार्हस्थ्य के कर्तव्यों का भलीभाँति पालन किये बिना, ऋणत्रय का सम्यक् निर्मोचन किये बिना, सन्यास आश्रम में प्रवेश करने से मनुष्य नरक का भागी होता है-

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्,
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यध:॥
अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रानुत्पाद्य धर्मत:,

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्,
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् ब्रजत्यध: ॥[६]

बौद्ध धर्म में ऋणत्रय की कल्पना नितान्त शून्य है। यह कल्पना कि समाजधारणा में योगदान प्रत्येक मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य है, कि लोक का संग्रह होना चाहिए न कि उच्छेद, कि प्रजातन्तु को टूटने नहीं देना चाहिए, वैराग्यवाद से सर्वथा बेमेल है।

वैदिक धर्म में पुरुषार्थों, मूल्यों का वर्गीकरण चार शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह वर्गीकरण प्रवृत्ति, भोग और वैराग्य, लोक और परलोक के सुन्दर समन्वय पर प्रतिष्ठित है। किन्तु वैराग्यवादी धर्म इस पुरुषार्थ-चतुष्टय में से केवल धर्म और मोक्ष को मान्यता दे सकते है, वे अर्थ और काम को सहन तो कर सकते हैं, किन्तु उनहें परम पद की प्राप्ति में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायक कथमपि स्वीकार नहीं कर सकते। तैत्तिरीयोपनिषद् का आदेश है- प्रजातंतु को टूटने न दो (प्रजातंतु मा व्सवच्छेत्सी:)।[७] बुद्ध ऐसे उपदेश का दायित्व लेने को तैयार नहीं दिखायी देते। उन्हें सन्तति के सातत्य में कोई रूचि नहीं बल्कि उनका स्पष्ट उपदेश है कि पुत्र, धन और राज्य की इच्छा ही नहीं करनी चाहिए, न अपने लिए, न दूसरे के लिए-

न अत्तहेतु न परस्स हेतु न पुत्तमिच्छे, न धनं, न रट्ठं।[८]
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो-स सीलवा, पञ्ञ धम्मि को सिया।

वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि लोक का संवर्द्धन करना ही नहीं चाहिए-

हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे,
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सियालोकवड्ढनो ॥[९]

शकंर का कहना है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर हमारा कोई भी कर्तव्य नहीं रह जाता है और कि यह नैष्कर्म्य हमारा दूषण नहीं भूषण है (अलङ्कारो ह्यस्मांक यद् ब्रह्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानि:)।[१०] ठीक इसी स्वर में नागार्जुन का कहना है कि कर्म तो अज्ञानी करता है, जिसे तत्त्वदर्शन हो गया उसे कोई कर्म नहीं करना होता-

अविद्वान्कारकस् तस्मान्, न विद्वांस् तत्त्वदर्शनात् ॥[११]

चंद्रकीर्ति भी लिखता है-'न क्वचिद् धर्मे मुह्यति, अमूढश् च कर्म न करोति।'[१२] अत: लोकव्यवस्था अज्ञानियों की चीज होकर रह जाती है।

बुद्ध की लोकव्यवस्था के प्रति उदासीनता का सीधा अर्थ तो यही निकलता है कि उनकी दृष्टि में लोक का कोई महत्त्व नहीं था। कहने वाले यह भी कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म मूलत: भिक्षु-धर्म के रूप में उभरा, जिसकी श्रौत-स्मार्त धर्म से कोई प्रतिस्पर्धा अथवा विरोध न था। बौद्ध धर्म भिक्षुओं के लिए था और श्रौत-स्मार्त धर्म मुख्यत: गृहस्थों के लिए। चूँकि गृहस्थों के लिए विधि-निषेध उपस्थित ही थे, अत: बौद्ध धर्म को इस विषय में कुछ भी करणीय नहीं था। बुद्ध-धर्म वस्तुत: कोई स्वतंत्र, सर्वाङ्गपूर्ण, स्वत:पूर्ण धर्म न होकर श्रौत-स्मार्त परम्परा में विकसित एक सम्प्रदाय मात्र था। हो सकता है कि इस दृष्टिकोण में बल हो, किन्तु यह मानना ही होगा कि बुद्धोत्तर बौद्ध धर्म वैदिक परम्परा से अधिकाधिक स्वतंत्र होता गया है, चाहे महायानिक तत्त्वज्ञान वेदान्त के सन्निकट ही क्यों न पहुँच गया हो।

बौद्ध धर्म में लोकव्यवस्थापरक आगम, धर्मशास्त्र के अभाव तथा बौद्धों की एतद्विषयक परमुखापेक्षिता की कई दार्शनिकों ने खिल्ली उड़ायी है। वाचस्पतिमिश्र का कथन है कि बौद्धागम में न तो लोकव्यवस्था के लिए कोई विधान है और न वैयक्तिक अथवा पारिवारिक संस्कार के लिए कोई योजना। अत: बौद्धों को विवश होकर लोकयात्रा के लिए श्रुति-स्मृति का अनुशरण करना पड़ता है- 'न

चैतेषामागमा वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाहेतवो, नो खलु निषेकाद्याः क्रियाः श्मशानान्ताः प्रजानामेते विदधति। न हि प्रमाणीकृतबौद्धाद्यागमा अपि लोकयात्रायां श्रुतिस्मृतीतिहास-पुराणनिरपेक्षागममात्रेण प्रवर्तन्ते। अपितु तेऽपि सांवृत्त-मेतदिति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादिनेवानुसरन्ति।'[13] जयन्त भट्ट का कथन है कि बौद्ध आदि वैदिक मर्यादा के प्रभाव में ही चाण्डाल आदि को अस्पृष्य मानते हैं- 'बौद्धादयोऽपि दुरात्यानो वेद प्रामाण्यनियमिता एव चाण्डालादिस्पर्श परिहरन्ति।'[14]

बौद्ध नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी नीतिशास्त्र है, उसके लिए पारिवारिक, सामाजिक सम्बन्धों का विशेष महत्त्व नहीं है। उसका आदर्श है सबको भिक्षु बनाकर निर्वाणपुरगामिनीप्रतिपद् पर आरूढ़ करना। बौद्ध धर्म वस्तुतः वैयक्तिक धर्म है, सामाजिक धर्म नहीं, व्यक्तिपरक धर्म है, लोकपरक नहीं। बौद्ध संघ की परिकल्पना कुछ इस प्रकार हुई है कि उसमें सामाजिक-सामूहिकता (कलेक्टिविटी) नहीं अपितु सामूहिक एकांकिकता (कलेक्टिव लोनलीनेस) को ही प्रश्रय मिलता है।

लोक में रस लेने वाला धर्म ही लोकव्यवस्था में रूचि ले सकता है। वैराग्यवादी धर्म लोक को हेय समझता है और उसकी सारी चेष्टा एक ही ओर केन्द्रित होती है - लोकोच्छेद की ओर। अतः वैराग्यवादी लोक-विवृद्धि का स्वप्न भी नहीं देख सकता। मानव और मानवीय सम्बन्धों की पवित्रता में आस्था ही लोकव्यवस्था का मूलाधार है। इसके विपरीत वैराग्यवाद मानव के शरीर, मानवीय सम्बन्धों, मानव-जीवन के विरूद्ध धृणा का भाव उत्पन्न करता है, अतः वह लोकव्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है। इस्लाम शूकर को हराम समझता है, अतः उससे यह आशा कि वह शूकर-वंश की वृद्धि में उसी प्रकार रूचि लेगा जैसे हिन्दू धर्म गोवंश की वृद्धि में लेता है, दुरास्था मात्र है। बौद्ध धर्म से ही उदाहरण लीजिए। वह लोक का, जीवन का विश्लेषण करके उसे निस्सार, निरर्थक और गर्हणीय पाता है। स्त्री के कटाक्ष पर रीझने वालों को वह बतलाता है कि वह परमाणु-पुञ्ज के अतिरिक्त कुछ नहीं है-

नर्तकी भ्रूलताक्षेपो न ह्येकः परमार्थतः।
परमाणुसमूहत्वादेकत्वं तस्य कल्पितम्॥[15]

शान्तिदेव मानव-शरीर का विश्लेषण करके उसके असार घोषित करते हैं-

इमं चर्मपुटं तावत् स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरू,
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचयः,
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः,
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥[16]

विसुद्धिमग्ग में मानव में विरक्त की अरूचि और मानव की सत्ता के अस्वीकार का एक मार्मिक उदाहरण प्राप्त होता है। कोई किसी स्थविर से पूछता है कि क्या आपने इधर जाती हुई स्त्री को देखा है ? स्थविर का उत्तर है-

नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो
अपि च अट्ठिसंघातो गच्छ ते स महापथे॥[17]

अर्थात् मैं यह तो नहीं जानता कि इधर से स्त्री गई अथवा पुरूष गया, किन्तु इस मार्ग से एक अस्थिसंघात अवश्य जा रहा है।

वैराग्यवाद में मानव-मानव के बीच प्रेम और ममता का विकास ही नहीं हो सकता क्योंकि मानव का व्यक्तित्व अस्थि और मांस के पुञ्ज से अधिक कोई मूल्य ही नहीं रखता। एक फारसी-कवि कहता है-

गर दिल ब-मज्हबे तू हमीं गोश्त-पारः ईस्त,
कस्साबे शहर बिह जि तू दावद बहा-इ दिल॥[18]

अर्थात् यदि हे प्रेयसि ! तुम्हारी दृष्टि में दिल मांस का एक लोथड़ा मात्र है, तब तो तुम्हारी अपेक्षा नगर का मांसिक (कसाई) ही दिल की कीमत अच्छी आंक सकता है।

यही कारण है कि अर्हत् प्रेम को महत्त्व नहीं देता, ज्ञान को महत्त्व देता है, जिस से वह वैयक्तिक निर्वाण का प्रतिलाभ कर सके। महायान के अनुसार अर्हत् का आदर्श मूलत: स्वार्थपरक है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि जब ज्ञान का स्वरूप यह है कि न आत्मा है, न जीव, न पुद्गल, न मानव तो शीलप्रयोग और संवर क्रिया से ही क्या बनेगा। यह आशंका बौद्धों में भी उठी थी, ऐसा प्रतीत होता है-

यत्रात्म नास्ति न च जीवो देशित, पुद्गलोऽपि न कथञ्चित्,
व्यर्थ: श्रमोऽत्र घटते य: शीलप्रयोग संवरक्रिया च ॥
यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि आत्म, सत्त्व, मनुजो वा,
व्यर्थ: श्रमोऽत्र हि कृतो में यत्र न चात्मसत्त्व उपलब्धि: ॥[१९]

किसी भी धर्म अथवा दर्शन की जीवन-व्यवहार, लोक-व्यवस्था के प्रति प्रासंगिकता और सार्थकता का निकष है व्यक्तित्व का वह चरम आदर्श जो वह धर्म अथवा दर्शन प्रस्तावित करता है। आदि बौद्ध धर्म का, जिसे मैं बुद्ध-धर्म (Buddhaism) कहता हूँ, चरम आदर्श है सम्यक्सम्बुद्ध, जो आर्यसत्यचतुष्टय का साक्षात्कार कर दु:खनिरोध और सम्बोधि का प्रतिलाभ कर लोककल्याणार्थ, बहुजनहिताय,धर्मोपदेश करता है। आदि बौद्ध धर्म सम्यक्सम्बुद्धत्व की सिद्धि सबके लिए सम्भव मानता है। वह यह भी मानता प्रतीत होता है कि बुद्ध और उनके प्रबुद्ध शिष्यों-अनुयायियों में केवल तारतम्य-भेद है, प्रकार-भेद नहीं। आगे चलकर इस सम्बन्ध में एक त्रिविध प्रकार-भेद प्रकाश में आया-श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्बुद्ध। यह भेद हीनयान में विकसित हुआ था। महायान ने इसे अपने ढंग से लिया।

श्रावक चार प्रकार के माने गये हैं- स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। स्रोतापन्न श्रावक वे हैं जो निर्वाण-पथ पर अभी-अभी आरूढ़ हुए हैं। सकृदागामी श्रावकों को लोकधातु-त्रय में बस एक बार जन्म लेना शेष है, उसके पश्चात् वे निवृत्त हो जाने वाले हैं। आनागामी श्रावक उक्त लोकधातु त्रय से निवृत्त होकर पुनर्जन्म से विरत हैं और अगली बार निर्वृत्त हो जाने वाले हैं। अर्हत् श्रावक वे हैं जो जीते-जी निर्वाण-लाभ कर रहे हैं और शरीर छूटते ही स्कन्धों से पूर्णत: निवृत्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

आदि बौद्धधर्म और हीनयान में निर्वाण के दो प्रकार- सोपाधिशेष और निरूपाधिशेष। शरीर रहते प्राप्त निर्वाण सोपाधिशेष और शरीरपात, स्कन्धनिवृत्ति के अनन्तर प्राप्य निर्वाण निरूपाधिशेष निर्वाण कहलाता है। सोपाधिशेष निर्वाण प्राप्त करने वाला श्रावक ही अर्हत् का महनीय अभिधान प्राप्त करता है।

वैयक्तिक दु:ख और दस संयोजनों का नाश करके वैयक्तिक निर्वाण प्राप्त करने वाला श्रावक अर्हत् बनता है। उसमें पहले सत्त्वावलम्बना करुणा का उदय होता है, जिसका उपयोग वह वैयक्तिक निर्वाण के हित में करता है। उसके दु:ख निरोध का साक्षात् कारण है पुद्गलनैरात्म्य-ज्ञान अथवा प्रतीत्यसममुत्पाद-ज्ञान। किसी श्रावक को पुद्गलनैरात्म्य-ज्ञान से दु:खनिरोध सिद्ध होता है तो किसी को प्रतीत्यसमुत्पाद-ज्ञान से। अर्हत् का ज्ञान परोपदेशहेतुक ज्ञान, औपदेशिक ज्ञान, होता है। महायान का आरोप है कि तीव्र करुणा के अभाव में वह संसार के त्रास से पीड़ित रहता है। महाकरुणा की अवस्था में तो वह परार्थ बड़े-बड़े दु:ख को झेलने के लिए तत्पर रहेगा, संसार से किसी भी प्रकार के त्रास का प्रश्न ही नहीं उठेगा। अर्हत् का द्वैत-बोध भी बना रहता है, ज्ञेयावरण भी बना रहता है, केवल क्लेशावरण क्षीण होता है। महायान के अनुसार अर्हत् का निर्वाण वास्तविक निर्वाण न होकर संसार से

निर्गम जैसा है। आदि बौद्ध-धर्म और हीनयान के अनुसार अर्हत् शील, समाधि, प्रज्ञा और अनुत्तरा विमुक्ति द्वारा निवार्ण की उपलब्धि करता है।[19] अन्यत्र श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नामक इन्द्रियों द्वारा निर्वाण की प्राप्ति मानी गयी है।[20] श्रावक अपनी निर्वाण-यात्रा अष्टांगिक मार्ग से आरम्भ करता है। वह कुल मिलाकर कर्मग्रही ठहरता है।

प्रत्येकबुद्ध वह ज्ञानी पुरुष है जो वैयक्तिक दु:ख का निरोध कर एक प्रकार से स्वान्त:सुखाय बोधि लाभ करता है। उसकी करुणा भी सत्त्वावलम्बना करुणा है। वह पूर्वश्रुतादि अभिसंस्कारों द्वारा स्वत: बोधिलाभ करता है, बुद्धत्व की प्राप्ति करता है। उसे उपदेश ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती, उसका ज्ञान एक प्रकार से प्रातिभ ज्ञान कहा जा सकता है, जो तन्मयता मात्र से उद्भूत स्वयंबोध रूप होता है। वह ऋद्धि, आदेशना और अनुशासनी नामक प्रतिहार्यत्रय के सामर्थ्य से अन्यों को कुशल आदि में प्रवृत्त करता है। उसका द्वैत-बोध भी पूरा जा नहीं पाता। बोधि से बुद्धत्व प्राप्त है, किन्तु सम्बुद्धत्व के लिए महाबोधि और महाकरुणा की अपेक्षा होती है। प्रत्येक बुद्ध अर्हत् की अपेक्षा अधिक ज्ञानाग्रही होता है, किन्तु उसका ज्ञान प्राय: उसी के लिए होता है, परार्थ नहीं। प्रत्येकबुद्ध का क्लेशावरण तो क्षीण होता ही है, उसमें ज्ञेयावरण के एक-देश ग्राह्यावरण का भी क्षय हो जाता है; केवल ग्राहकावरण शेष रहता है।

सम्बुद्ध सर्वोपरि हैं। वे महाबोधि-सम्पन्न और अद्वय-भूमि में पूर्णत: प्रतिष्ठित होते हैं। वे अनन्त ज्ञान और अनन्त करुणा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी महाबोधि का अर्थ है, पारमिता-चर्या की पूर्ति से प्राप्त भगवत्ता से मण्डित शुद्ध बोधि। उनकी विशेषता यह है कि वे अपना सारा ज्ञान-पुण्य लोककल्याणार्थ संचित करते हैं।

> दु:खज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी।
> वस्तुधर्मादियोत्पत्तिर्, नसा सत्त्वानुरोधिनी॥[21]

योगाचार के अनुसार करुणा का मूल है क्षणिकत्व और नश्वरत्व की चेतना, किन्तु माध्यमिक करुणा को शून्यता से अभिन्न मान कर ही उसे महाबोधि का हेतु मान सकता है।

हीनयान के अनुसार सामान्यजन केवल अर्हत् बन सकते हैं, लाखों मेंएक प्रत्येकबुद्ध बन सकता है और अनेक कल्पों में कोई एक बुद्ध बन सकता है।

महायान ने श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्बुद्ध के प्रकार-भेद को हटाने और 'उच्छिन्न-गोत्र' व्यक्तियों को छोड़कर सम्बुद्धत्व का द्वार प्राय: सबके लिए खोलने का स्तुत्य प्रयास किया है। श्रावकयान प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान करके तीन प्रकार के माने गये हैं। विचारान्तर से उक्त तीनों यान एक ही यान, महायान, के विविध सोपान है। प्रासंगिक और स्वातन्त्रिक माध्यमिक तथा युक्तानुयायी विज्ञानवादी एकयानवादी कहे जाते हैं। उनका कहना कि बोधिसत्त्वयान महायान ही एकमात्र यान है और कि श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व सबका अन्तिम प्राप्य फल बुद्धत्व है। बुद्ध-गोत्र सबमें व्यापक है। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध के लिए निरूपाधिशेष-निर्वाण प्राप्त कर लेने के बाद भी बोधिसत्त्व-ज्ञान में प्रवेश और बुद्धत्व-लाभ अनिवार्य है। आगमानुयायी विज्ञानवादी त्रियानवादी कहलाता है। उनके अनुसार उक्त तीनों यानों में से प्रत्येकयान स्वतंत्र और अन्तिम है। तथापि इनकी मान्यता है कि यद्यपि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध की चरम गति निरूपाधिशेष निर्वाण है, तथापि इस निर्वाण की प्राप्ति के पूर्व वे बोधिसत्त्वयान में प्रविष्ट होना चाहें तो होकर बुद्धत्व लाभ कर सकते हैं। निरूपाधिशेष निर्वाण की प्राप्ति के फलस्वरूप अनेक कल्पों तक निर्वाण-धातु में लीन रहने के बाद भी श्रावक और प्रत्येकबुद्ध एक-न-एक दिन बोधिसत्त्वयान में प्रविष्ट हो बुद्धत्व-लाभ अवश्य करेंगें। धर्मकीर्ति के अनुसार चित्तसन्तति आनादि और अनन्त है।[22] वह निरूपाधिशेष निर्वाण में भी विद्यमान रहती है। संयुक्तनिकाय

के इस वाक्य की भी यही ध्वनि है-यञ्च ख्वस्स चित्तं दीघरत्तं सद्धापरिभावितं सील-सुत-चाग-परिभावितं, तं उद्धगामि होति विसेसगामि।'[२३] (अर्थात् यदि शरीर काकों और गृध्रों द्वारा भक्षित भी हो जाय तो भी चित्त श्रद्धा आदि से परिभावित होकर ऊर्ध्वगामी बना रहता है। अतएव बोधिचित्त का उत्पाद उस अवस्था में भी सर्वथा सम्भव है।) अभिसमयालङ्कारालोक के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध केवल त्रैधातुक जन्म का उपराम लाभ करते हैं, किन्तु वे अनास्त्रव धातु अर्थात् परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्रों में कमल-पत्रों में जन्म लेकर समाधि की अवस्था में वहीं अवस्थित रहते हैं। पुन: अमिताभ आदि बुद्ध आक्लिष्ट ज्ञान की हानि के लिए उसका प्रबोध करते हैं और बोधिचित्त का ग्रहण कर लोकनायक बनते हैं। बुद्धधातु, बुद्धबीज, बुद्धगोत्र तथागतगर्भ इत्यादि शब्द पर्याय हैं। बुद्धगोत्र का धर्म-धातु से तादात्म्य है-

धर्मधातोरसम्भेदाद् गोत्रभेदो न युज्यते।
आधेयधर्मभेदात् तु तद्भेद: परिगीयते ॥[२४]

इस वचन से धर्मधातु में भेद का निषेध होता है और इस प्रकार गोत्रभेद भी समाप्त ही जाता है।

आदि बौद्ध धर्म से लेकर महायान तक की यह पूरी प्रक्रिया लोकव्यवस्थानिरपेक्ष है। निर्वाण की प्राप्ति का प्रश्न व्यक्ति का निजी मामला है, उससे समाज को कुछ भी लेना देना नहीं। तदर्थ कारुण्य आदि का अभ्यास अवश्य प्रतिपादित है, किन्तु उससे लोकव्यवस्था में विशेष अन्तर नहीं आता। जब तक जीवन के प्रति गहरा अनुराग, जोश जिन्दगी न पैदा हो तब तक मनुष्य लोकव्यवस्था की कोई दीर्घकालिक योजना नहीं ही बना सकता। यही कारण है कि बौद्ध आचार्यों ने समाज के संस्कार, मूढ़ग्राहों के उच्छेद, सुराज्य की परिकल्पना, आदि लोकव्यवस्थामूलक क्रिया-कलाप में कभी रूचि ही नहीं ली। बुद्ध ने, जहाँ आवश्यकता पड़ी, प्राचीन वर्णव्यवस्था को आगे करके काम चला लिया। वे जब कर्मणा वर्णव्यवस्था के प्राचीन आदर्श का बखान करने लगते हैं तो प्रतीत होता है कि वे वैदिक परम्परा से सर्वथा स्वतंत्र किसी अपने में परिपूर्ण, स्वत:पूर्ण धर्म की योजना लेकर नहीं आये थे, बल्कि उनका धर्म वैदिक परम्परा का आधेय मात्र है। जो भी हो, बौद्ध धर्म में लोकव्यवस्था के प्रति दायित्व-चेतना का अत्यन्ताभाव ही परिलक्षित होता है।

सोपाधिशेष-निर्वाण प्राप्त अर्हत् स्खलन-भय से लोक से अपने को असम्पृक्त ही रखता है। उस अवस्था में उपादान-रूपी ईन्धन विद्यमान रहता है,अत:तृष्णा की अग्नि कभी भी भड़क सकती है। निरूपाधिशेष निर्वाण में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, चित्त शेष रहता है, किन्तु वह बुझी हुई अग्नि अथवा प्रशान्त, गम्भीर महासमुद्र के समान हो जाता है।[२५] और यह अवस्था लोकव्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं है। संयुत्तनिकाय के एक वचन के अनुसार क्षीणास्रव अर्हत् के लिए लाभ, सत्कार आदि अन्तराय सिद्ध होते हैं (यो भिक्खवे ! भिक्खु अरहं खीणासवो तस्स पाहं लाभ-सक्कार-सिलोकं अन्तरायाय वदामीति)।[२६] अत: ऐसा अर्हत् न पुण्य कर्म करता है, न अपुण्य कर्म करता है , और न तटस्थ प्रकार का कर्म करता है (यतो....भिक्खुनो अविज्जा पहीना होति विज्जा उप्पन्ना, सो.....नेव पुञ्ञाभिसङ्खारं अभिसङ्खरोति, न अपुञ्ञाभिसङ्खरं, अभिसङ्खरोति, न आनेञ्ञाभिसङ्खारं अभिसङ्खरोति)।[२७] यह वह अवस्था है जिसमें सारी क्रियायें शान्त हो जाती है (पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं)[२८]। वह शरीर-क्रियाओं के उपशम का अभ्यास करता रहता है (कायसङ्खारं अस्ससिस्सा मीति)।[२९] वह केवल राग-द्वेष-निरोध-रूपी कार्य करता है (कम्मसेट्ठस्स कारका-रागं दोसं, पजहन्ति)।[३०] अर्हत् रूग्ण भिक्खुओं की परिचर्या आदि कर सकता था,[३१] किन्तु उसका नियमित कार्य उन्हें उपदेश करना मात्र था।[३२] एक कृषक ब्राह्मण ने बुद्ध से कहा कि आप खेती करके क्यों नहीं खाते, जैसा मैं करता हूँ ? बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं भी खेती करके खाता हूँ, मेरी खेती के लिए बीज श्रद्धा है, वृष्टि तप है, आदि-आदि।[३३] सारिपुत्त मोग्गलान को पापगर्ही बतलाया गया है (पापगर्ही आयस्मा सारिपुत्तो)।[३४] अन्यथा, अर्हत् के लिए कुछ भी करणीय नहीं है (नत्थि.....अरहतो उत्तरिकरणीयं)

बोधिसत्त्व का आदर्श लोकव्यवस्था के लिए अधिक उपयुक्त है। बोधिसत्त्व की विशेषता है कि वह लोककल्याण में प्रवृत्त होने के लिए निर्वाण को भी ठुकरा देता है। उसकी घोषणा-

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यासागरा:।
तैरेव ननु पर्याप्तं, मोक्षेणारसिकेन किम् ?[३७]

वह लोक को पुण्य-दान करने के लिए तो तैयार है ही, अन्न पान आदि की व्यवस्था करके क्षुधा-पिपासा की व्यथा हरने के लिए भी सन्नद्ध बताया गया है-

क्षुत्पिपासा-व्यथां हन्यामन्नपाणप्रवर्षणै:।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ॥[३८]

उसे वीर्य-पारमिता की भी साधना करनी पड़ती है, जिसे कर्म के लिए आह्वान समझना चाहिये। शान्तिदेव बोधिसत्त्व के लिए इस संदर्भ में इस प्रकार उपदेश करते हैं-

यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत् ।
तत्कर्मशौण्डोऽतृप्तात्मा क्रीडाफलसुखेप्सुवत् ॥[३९]

अर्थात् प्रवाहपतित कर्म बोधिसत्त्व के लिए अवश्य करणीय हैं। यह भी कहा है-

सुखार्थं क्रियते कर्म तथाऽपि स्यान् न वा सुखम्।
कर्मैव तु सुखं यस्य निस्कर्मा स सुखी कथम् ?
कामैर् न तृप्ति: संसारे क्षुरधारामधूपमै:
पुण्यामृतै: कथं तृप्तिर् विपाकमधुरै: शिवै: ?[४०]

हमारे प्रतिपाद्य विषय में एक महत्त्वपूर्ण विचार-पद अभी शेष है। वैराग्य का लोक-व्यवस्था में स्थान एक बात है और लोकव्यवस्था-निरपेक्ष वैराग्य दूसरी बात। वैराग्य दो प्रकार का होता है : एक है जीवन की बाधाओं, अभावों से पराजित पुरुष का ऐहिकनैराश्यमूलक वैराग्य, जिसके परिणामस्वरूप पुरूष सर्वविघ सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण स्वर्ग आदि की कल्पना करके मनस्तोष प्राप्त करता है। दूसरे प्रकार का वैराग्य मूलत: वैयक्तिक दु:ख नहीं बल्कि एक प्रकार के सामान्य तत्त्वज्ञानमूलक (मैटाफिजिकल) दु:ख की उत्कट चेतना का प्रतिफल होता है, जिस अर्थ में 'सर्वं दु:खं अथवा 'सर्वं दु:खं विवेकिन:' जैसे वाक्य बोले जाते हैं। यह जीवन की सीमाओं के तीव्र बोध और तज्जनित औदासीन्य का परिणाम है। यही भौतिक अपकर्ष का नहीं, बल्कि जीवन के गहरे, व्यापक और युग-युग से संचित अनुभव का फल है। अत: ऐसे वैराग्य का उदय जीवन के अनुभवों के परिपाक के फलस्वरूप ही हो सकता है। वैदिक अश्रम-व्यवस्था में ऐसे वैराग्य को जीवन के चौथे, अंतिम चरण में स्थान दिया गया है जो सर्वथा स्वाभाविक और समीचीन लगता है। ऐसे विरक्त पुरुष समाज से अनासक्त रहकर उसकी बेलाग समीक्षा कर सकने की स्थिति में होते है और इस प्रकार लोक का सही मार्गदर्शन करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे विरक्त समाज के लिए वरदान सिद्ध होते हैं। गीतोक्त लोकसंग्रही सिद्ध पुरुष इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। उसका अनासक्त भाव से किया हुआ कर्म लोक के लिए उदाहरण बनता है, जिसके अभाव में लोक के कुकर्म में फंस जाने का अन्तराय उपस्थित हो जाता है। कृष्ण कहते हैं कि यदि अनासक्त होते हुए भी स्थितप्रज्ञ कर्म न करे तो लोक उत्सन्न हो जाय, अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय और प्रजाओं का नाश हो जाय-

उत्सीदेयुरिमे लोका: न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा: प्रजा: ॥[४१]

इस प्रकार के वैराग्य की कल्पना बौद्ध परमपरा में अलीक है।

***

संदर्भ सूची

१. सहितास् तास् तदा जग्मुरसुखार्ता: पितामहम्
अनीश्वरा विनश्यासो, भगवान् ! नीश्वरं दिश,
यं पूजयेम सम्भूय यश् च न: प्रतिपालयेत् ॥ महाभारत (गीता प्रेस) ६७.२०-२१
२. जॉन ६.१५.
३. गीता ३.२४
४. सुत्तनिपात,उरग-वग्गो, मेत्त-सुत्त (नालन्दा), चतुर्थ खंड, १४९-१५०
५. मनुस्मृति ३.७७-७८.
६. तत्रैव ६.३५-३७.
७. तैत्तिरीयोपनिषद् १.१०.१.
८. धम्मपद (नालन्द) ८४.
९. तत्रैव १६७.
१०. शारीरकभाष्य १.१.४ (निर्णय सागर प्रेस), पृ. ८५
११. मध्यमकशास्त्र २६.१०
१२. मध्यमकशास्त्र-प्रसन्नपदाटीका (मिथिला) २६.११पृ. ८५.
१३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.१.६८ (चौखम्बा), पृ.४३२
१४. न्यायमंजरी प्रमाण-प्रकरण (चौखम्बा) पृ. २४३.
१५. तत्त्वसङ्ग्रह (वराणसी) २००.
१६. बोधिचर्यावतार (मिथिला) ५.६२-६३
१७. विसुद्धिमग्गो (वाराणसी), भाग १ पृ. ६७.
१८. राष्ट्रपाल-परिपृच्छा (मिथिला), १७४-१७५.
१९. दीघनिकाय, महापरिनिब्बान-सुत्त (नालन्दा), खंड २ पृ. ९५.
२०. संयुक्त-निकाय, (नालन्दा), महावग्गा, इन्द्रिय-संयुक्त, पृ. १६७ से.
२१. प्रमाणवार्तिक (वराणसी) १.१९६-१९७
२२. तत्रैव १.४६-४७.
२३. संयुक्त-निकाय, महावग्गा, सोतापत्ति-संयुक्त, पठ्ठमहानाम-सुत्त, चतुर्थ खंड (नालन्दा), पृ. ३१५
२४. अभिसमयालङ्कार कारिका: (मिथिला) १.४०,पृ. ३०७.
२५. मज्झिम-निकाय (नालन्दा) ।
२६. संयुक्त-निकाय,निदान-वग्ग (२) लाभसक्कार-संयुक्त (१७), भिक्खु-सुत्त (३०), खंड २, पृ. १९९.
२७. तत्रैव निकाय-संयुक्त (१२), परिवीमंसन-सुत्त (५१) पृ. ७०.
२८. धम्मपद ३६८.
२९. मज्झिम-निकाय, मूल-पण्णासक (१), सतिपट्ठान-सुत्तं (१०), पृ. ७७
३०. थेरीगाथा (नालन्दा)
३१. संयुक्त-निकाय (नालन्दा)
३२. सुत्त-निपात (नालन्दा), महावग्गा. २३१
३३. तत्रैव,उरगवग्गा, कसि भारद्वाज-सुत्त, पृ. २८१.
३४. संयुक्त-निकाय,सगाथ-वग्गा (१), देवपुत्त-संयुक्त (२), सुसिम-सुत्त (२९), पृ.६२
३५. तत्रैव, खन्ध-वग्गा (३), खन्ध-संयुक्त (२२), सडिकवन्त-सुत्त (१२२) पृ. ३८१-३८३
३६. बोधिचर्यावतार (मिथिला) ८.१०८
३७. तत्रैव ३.६.
३८. तत्रैव ३.८.
३९. तत्रैव ७.६२.
४०. तत्रैव ७.६३-६४.
४१. गीता ३.२४.

तत्त्वज्ञान में प्रमाण की अप्रवृत्ति

(महायान के संदर्भ में)

बौद्ध तथा अन्य भारतीय दर्शनों में प्रमाणों पर पर्याप्त चिन्तन हुआ है। यहाँ प्रत्येक दर्शन की अपनी प्रमाणमीमांसा होती है। प्रमाणमीमांसा के चार पक्ष माने गये हैं- प्रमाणों की संख्या,लक्षण, विषय और फल।[१] बौद्धों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दो प्रमाण मानने का दावा करते हैं- (निर्विकल्पक) प्रत्यक्ष और अनुमान।[२] वसुबन्धुकृत **वादविधि**,[३] अज्ञात-कर्तृक **तर्कशास्त्र**[४] और दिङ्नाग-पूर्व अखण अडिगल[५] को भी ये ही दो प्रमाण सम्मत प्रतीत होते हैं। मैत्रेयनाथ, असङ्ग, उनके भाष्यकार वसुबन्धु, उन के टीकाकार स्थिरमति, तथा हरिभद्र तीन प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और टीका शब्द।[६] **उपायहृदय** नामक दिङ्नाग-पूर्व बौद्ध तर्क-ग्रन्थ में चार प्रमाण स्वीकृत हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।[७] नागार्जुनकृत **विग्रहव्यावर्त्तनी**,[८] चन्द्रकीर्ति-कृत **मध्यमक शास्त्र-प्रसन्नपदा टीका**,[९] और पिङ्गलकृत **मध्यमकशास्त्र-व्याख्या**[१०] में भी व्यवहारत: इस प्रमाण-चतुष्टय की स्वीकृति प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त, बल्कि इन सब के ऊपर, एक बुद्ध-प्रमाण, आगम-प्रमाण है, जो सर्वबौद्ध-सम्मत प्रमाण है।[११] अवश्य ही, महायानसूत्र इस उक्ति से बुद्ध-प्रमाण में चार चाँद लगा देते हैं- 'यत्किंचित्' मेत्रैय ! सुभाषितं तत् सर्वं बुद्धभाषितम् '।[१२] बल्कि बौद्धों की नित्य आगम में आस्था देखकर कुमारिल भट्ट ने कटाक्ष किया था-

यथा मीमांसकत्रस्ता: शाक्यवैशेषिकादय: ।
नित्य एवागमोऽस्माकमित्याहु: शून्यचेतनम्।।
तत्र शाक्यै: प्रसिद्धाऽपि सर्वक्षणिकवादिता ।
त्यज्यते वेदसिद्धान्ताज्जल्पद्भिर्नित्यमागमम्।।[१३]

किन्तु बौद्ध प्रमाणवाद प्राय: सारा का सारा व्यवहार-पर्यवसायी प्रतीत होता है, उसकी गति व्यवहार के आगे नहीं मानी जाती। माध्यमिक आदि इसे खुल कर स्वीकार करते हैं।[१४] चन्द्रकीर्ति लिखता है-'अस्त्ययं प्रत्यक्ष-शब्दो लोके प्रसिद्ध:, स तु यथा लोके तथाऽस्माभिरूच्यत एव'।[१५] इसीप्रकार- 'न वयं स्वतंत्रमनुमानं' प्रयुञ्ज्महे, परप्रतिज्ञानिषेधफलत्वादनुमानानाम्।[१६] हरिभद्र लिखता है- 'तत्त्वतोऽनुत्पन्नत्वेन सर्वधर्माणामप्रमाणत्वात् प्रमाणं न विद्यते।[१७] चन्द्रकीर्ति इस बात से अवगत हैं कि दिङ्नाग- धर्मकीर्ति प्रस्थान अपने प्रमाणवाद को लोकव्यवहार की दृष्टि से गठित मानता है। वह उस प्रस्थान की ओर से कहता है- 'नैव हि वयं सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारं सत्यमित्याचक्ष्महे, किन्तु लोकप्रसिद्धिरेषां अनुमा न्यायेन व्यवस्थाप्यत इति।'[१८] चन्द्रकीर्ति का आरोप है कि उक्त मतावलम्बी अपने सत्यद्वय सिद्धांत द्वारा घपला करते हैं।[१९]

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अनुसार स्वलक्षण ही एकमात्र प्रमेय है (मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्)।[२०] उसी के स्वरूप और पररूप की दृष्टि से क्रमश: दो भेद हो जाते हैं, स्वलक्षण और सामान्यलक्षण-

'तस्य स्व-पर-रूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम्'[२१]

इस प्रकार प्राप्त प्रमेयद्वय के अनुरूप प्रमाण भी दो हो जाते हैं (मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात्),[22] प्रत्यक्ष और अनुमान। अब सामान्यलक्षण तथा तद्विषयक अनुमान (पररूपेण गतिः) की गणना 'भ्रान्ति' के अन्तर्गत की गई है, क्योंकि वे वस्तुतत्त्व का साक्षात् परापर्श नहीं करते-

'अयथाभिनिवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते'[23]

दिङ्नाग ने अनुमान और आनुमानिक की गणना प्रत्यक्षाभास-चतुष्टय के अन्तर्गत की है-

'भ्रान्तिः संवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम् ।
स्मरणं चाभिलाषाश्चेत्यक्षाभासं सतैर्मिदम् ॥[24]

किन्तु भ्रान्ति प्रमाण कैसे ?-

'गतिश्चेत् पर-रूपेण, न च भ्रान्तेः प्रमाणता'[25]

धर्मकीर्ति का उत्तर है कि (यद्यपि अर्थाविसंवाद के कारण नहीं, तथापि) अभिप्रेत अर्थक्रिया, प्रयोजन का साधक होने के कारण इस प्रकार की भ्रान्ति प्रमाण बन जाती है-

'अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता'[26]

अर्थाविसंवाद ही नहीं, अभिप्रायाविसंवाद, विवक्षाविसंवाद, वक्तृव्यापाराविसंवाद, भी प्रमाण का प्रयोजक होता है-

'वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।
प्रमाणं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥[27]

कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति के मत में भ्रान्ति दो प्रकार की होती है, व्यवहारसाधक भ्रान्ति और व्यवहारबाधक भ्रान्ति, जिनमें से व्यवहारसाधक भ्रान्ति प्रमाण है। दिङ्नाग भी विभ्रम-रूपी प्रमाण (विभ्रमेऽपि प्रमाणता) की चर्चा करता है, यह शान्तरक्षित और कमलशील का कथन है।[28] धर्मोत्तर भी 'भ्रान्तं ह्यनुमानम् कहता है।[29]

भ्रान्ति को प्रमाण का पद प्रदान करना अन्य दार्शनिकों को अटपटा लगता है। वस्तुतः दिङ्नाग-धर्मकीर्ति-प्रस्थान ने एक विशेष अर्थ में ही भ्रान्ति को प्रमाण कहा है। उक्त प्रस्थान प्रमाण को सम्यग्ज्ञानात्मक न मानकर अविसंवादिज्ञानात्मक मानने के पक्ष में है (प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्)।[30] अतः कहा जा सकता है कि उसके अनुसार प्रमाण का तत्त्वज्ञान में प्रवेश नहीं, प्रमाण केवल अविसंवादी ज्ञान का दायित्व होता है। यदि प्रमाण को सम्यग्ज्ञानात्मक माना जाय तो हम कह सकते हैं कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति प्रस्थान तत्त्वतः एकप्रमाणवादी दर्शन है, प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी। अनुमान अन्ततः भ्रान्ति-स्वरूप होने से अप्रमाण ही है, वह चाहे जितना भी व्यवहारोपयोगी हो।

अच्छा, अब प्रत्यक्ष की स्थिति पर विचार कीजिए। इस सम्बन्ध में विभूतिचंद्र यह सूचना देता है कि धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अनुमानाश्रित है- 'प्रत्यक्षमपि हि अनुमानबलादेव प्रामाण्यं लभते।'[31] इस उक्ति का आधार हमें धर्मकीर्ति के उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता। अतः इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन हैं। हम उसकी उपलब्ध रचनाओं पर ही विचार कर सकते हैं।

धर्मकीर्ति आगे चल कर स्वीकार करता प्रतीत होता है कि उसने स्वलक्षण और सामान्यलक्षण का भेद (सौत्रान्तिक नय से) बाह्यार्थ का अभ्युपगम करके, सम्भवतः व्यवहार सौकर्यार्थ, किया है -

'तदुपेक्षिततत्त्वार्थैः कृत्वा गजनिमीलनम् ।
केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते ॥[32]
'अस्त्येष विदुषां वादो, बाह्यंत्वाश्रित्य वर्ण्यते ।
द्वैरूप्यं सहसंवित्तिनियमात् तच्च सिध्यति ॥[33]

धर्मकीर्ति के टीकाकार मनोरथनन्दी के अनुसार 'विदुषां वादः' का अर्थ है योगाचारों का

सिद्धान्त (योगाचाराणां वाद:) और 'बाह्य' का अर्थ है 'सौत्रान्तिकों द्वारा मान्य बाह्य पदार्थ' (सौत्रान्तिकैरिष्टं बाह्यमर्थं)।[३४] धर्मकीर्ति को सम्मिलित करते हुए सभी योगाचारों के मत में बाह्यार्थ बाह्यार्थत्वेन अविद्यमान हैं।[३५]

किन्तु उक्त प्रमाणवाद इतना सांवृत्तिक भी नहीं कि वह -द्रव्य, अवयवी आदि को मान कर चले। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति संवृत्तिसत् के ज्ञान को प्रत्यक्षाभास मानते हैं।[३६] धर्मकीर्ति एक कारिका में विज्ञानवाद में भी कथञ्चित् प्रमाण का अर्थसंवित्फलत्व स्वीकार करता है।[३७]

मनोरथनन्दी, धर्मोत्तर और दुर्वेकमिश्र का कहना है कि धर्मकीर्ति का प्रमाणवाद सांव्यवहारिक है। अर्थक्रिया की इच्छा से लोग स्वलक्षण का ही प्रमाण से अन्वेषण करते हैं, क्योंकि स्वलक्षण ही अर्थक्रिया का साधन है। और चूँकि शास्त्र में सांव्यवहारिक प्रमाण का ही अधिकार है, अत: उसमें उसका विचार होता है जो लोक के अन्वेषण का विषय होता है। (अर्थक्रियार्थिभि: स्वलक्षणमेव प्रमाणेनान्विष्यते तस्यैवार्थक्रियासाधनत्वात्। यदेव च तैरन्विष्यते तदेव शास्त्रे विचार्यते, सांव्यवहारिकप्रमाणाधिकारात्।[३८] दुर्वेकमिश्र भी ऐसा ही कहता है ('सांव्यवहारिकस्य प्रमाणस्येदं लक्षणमुच्यते।'[३९]) सांव्यवहारिकस्येव प्रमाणस्य लक्षणमुच्यते। तेन नैकान्तेन वस्तुस्थितिपेक्ष्यते।'[४०] धर्मकीर्ति कहता है- प्रामाण्यं व्यवहारेन शास्त्रं मोहनिवर्तनम्'।[४१] अर्थात् प्रमाणवाद मोह की निवृत्ति करने वाला व्यवहारशास्त्र है। इस पर मनोरथनन्दी लिखता है - 'सांव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणम्।'[४२] इस प्रकार दिङ् नाग-धर्मकीर्ति प्रस्थान का प्रमाणवाद व्यवहार-साधक है, परमार्थ-साधक अथवा तत्त्वज्ञान- परामर्शक नहीं।

दिङ्नाग-धर्मकीर्ति-प्रस्थान योगाचार-सम्मत विज्ञप्तिमात्रतावादी प्रस्थान है। विज्ञप्तिमात्रता प्रमाण-प्रमेय-प्रयोजक ग्राह्यग्राहकाकार -भेद में नितान्त शून्य है।

'अविभागोऽपि बुद्ध्यात्माविपर्यासितदर्शनै: ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥[४३]

वस्तुत: उक्त प्रस्थान व्यवहार में सौत्रान्तिक और परमार्थ में विज्ञप्तिमात्रतावादी, विज्ञानवादी, प्रतीत होता है, अत: उसका प्रमाणवाद व्यावहारिक ही माना जा सकता है, उसे परमार्थ में विज्ञानवादियों का मत ही ग्राह्य है। दुर्वेकमिश्र स्वलक्षणवाद को विज्ञानवाद से विसंगत घोषित करते हुए धर्मकीर्ति की प्रमाणमीमांसा को सौत्रान्तिकनयीय सिद्ध करते हैं। ('न योगाचारनये लक्षणमिदं, किन्तु सौत्रान्तिक नय एव। न च सर्व विज्ञानवादे योजयितुं शक्यम्। ''तस्य विषय: स्वलक्षणं'' इत्यादेरशक्ययोजनत्वात्)[४४]

आगमानुयायी विज्ञावाद की स्थिति स्पष्ट है। वह ग्राह्यग्राहकाकारभेद के पारमार्थिक अभाव की भूरि-भूरि चर्चा करता है।[४५] ऐसी दशा में वह प्रमाण को केवल व्यावाहारिक महत्त्व की वस्तु समझ सकता है, उसके परमार्थ में प्रमाणों की गति नहीं। विज्ञानवाद सम्मत प्रमाणों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। यहाँ असङ्ग महायान को तर्क का अविषय बतलाते हुए जो कुछ कहता है उसका उल्लेख प्रासंगिक होगा। वह कहता है कि तर्क पराश्रित, अनियत, सर्वत्र अथवा सबके पक्ष में लगने वाला, व्यावहारिक मात्र, कष्टकर और बच्चों के लिए है ; अत: परमार्थ उसका विषय नहीं-

'निश्रितोऽनियतो, व्यापी, सांवृत्त: खेदवानपि।
बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यास्तु विषयो न तत्॥[४६]

अस्तु महायान में प्रमाणों का अधिकार व्यवहार तक ही सीमित है, उसकी दृष्टि मे परमार्थ प्रमाणातीत होता है, प्रमाणगम्य नहीं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित विज्ञप्तिनय में भी प्रमाण, प्रमेय और फल की व्यवस्था सम्भव मानते हैं - आत्मसंवेदन-योग्यता प्रमाण, आत्मा, प्रमेय और

आत्मसंवेदन फल।[४७] कमलशील कहता है - 'बाह्येऽर्थे प्रमेये विषयाधिगमःप्रमाणफलं, सारूप्यं तु प्रमाणम्।............ ज्ञानात्मनि तु प्रमेये स्वसंवित्तिः फलं, योग्यता प्रमाणम्।'[४८] किन्तु यह शब्दों का खेल मात्र है। विज्ञप्ति में इस प्रकार का त्रैत वस्तुतः अकल्प्य है, अधिक से अधिक सांवृत्तिक है।

अस्तु, पातञ्जल योगसूत्र में प्रमाण की गणना विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति के साथ वृत्तिपञ्चक में की गई है : (वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः),[४९] जिनके अभ्यास और वैराग्य द्वारा निरोध (अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः)[५०] से ही योग अथवा समाधि की सिद्धि होती है और ऋतम्भरा प्रज्ञाः स्वरूपावस्थान, स्वरूप-ज्ञान, तत्त्वज्ञान की निष्पत्ति होती है (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्;[५१] ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा च[५२])। यहाँ भी प्रमाण तत्त्वज्ञान का जनक नहीं।

अच्छा, बौद्ध तथा अन्य प्रमुख भारतीय दर्शनों में तत्त्वज्ञान तथ्यज्ञान मात्र नहीं। घट, पट का ज्ञान और है तथा तत्त्वज्ञान, परमज्ञान और ही। तत्त्वज्ञान इन्फॉर्मेशन (ज्ञानजातीय, सूचना) न होकर एक प्रकार का ट्रान्सफॉर्मेशन (संस्कार जातीय परिणाम) है। बौद्ध दर्शन इसे प्रज्ञा की संज्ञा देता है। तार्किक को तिब्बती सन्त मिलारेपा (Milarepa) का उत्तर है कि धर्मज्ञान के भावाभाव का निकष है अहंकार, ममकारमूलक राग-द्वेष पर विजय-अविजय। यदि अहन्ता-ममता पर विजय प्राप्त दीखे तो समझना चाहिए कि धर्मज्ञान, तत्त्वज्ञान का प्रकाश हो गया है।[५३]

पश्चिम में दर्शन का सम्बन्ध प्रायः हमारी कुतूहल-वृत्ति से रहा है। हमें जीवन और जगत् को लेकर पद-पद पर आश्चर्य और कौतूहल होता है। उसका शमन विज्ञान, विद्याएँ और दर्शन अपने-अपने ढंग से करने का यत्न करते हैं। कुतूहल-वृत्ति की शान्ति के बाद इनमें से दर्शन का कोई उपयोग नहीं रह जाता। आधुनिक पश्चिम में तो दर्शन को वाक्यार्थगत गुत्थी सुलझाने का माध्यम (पजिल-सॉलवेन्ट) बना कर छोड़ देने की प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। इसप्रकार का दर्शन, ऐसा तत्त्वज्ञान, सब को सुलभ है, तदर्थ सामान्य, सहज बुद्धि (कॉमन सेंस) और भाषाज्ञान पर्याप्त है। किन्तु भारतीय तत्त्वज्ञान अथवा प्रज्ञा की स्थिति विशेष तैयारी अथवा तपस्या की अपेक्षा करती है। तत्त्वज्ञान केवल बौद्धिक व्यापार नहीं है, वह सम्पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का व्यापार है। वह दर्शन, श्रवण और मनन के परे जाता है, और निदिध्यासन-पर्यवसायी होता है।[५४] तदर्थ आत्मा का, व्यक्ति का,यथावत् संस्कार अपेक्षित है। मनु की उक्ति है-

'स्वाध्यायेन, व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया, सुतैः।
महायज्ञैश्च, यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥'[५५]

वेदान्त-विज्ञान की सिद्धि के लिए शंकर ने साधन-चतुष्टय-नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविराग; शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान रूप षट्क-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व- का प्रतिपादन किया है।[५६] बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रज्ञा का उदय शील और समाधि की सिद्धि के बिना असम्भव है। प्रज्ञा के लिए प्रमाण नहीं, शील और समाधि साधनभूत हैं, शील से प्रज्ञा निखरती है और प्रज्ञा से शील निखरता है : (सीलपरिधोता...पञ्ञा, पञ्ञापरिधोता सीलं)।[५७] शील का अर्थ है सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त,सम्यगाजीव और सम्यक् व्यायाम। समाधि का अर्थ है सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। ये ही सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प स्वरूप प्रज्ञा के उदय में कारणीभूत हैं। शील से ही प्रज्ञा शोभा पाती है। (अपदाने सोभति पञ्ञा)।[५८] और भी, जहाँ शील है वहाँ प्रज्ञा है और जहाँ प्रज्ञा है वहाँ शील है (यत्थ सीलं तत्थ पञ्ञा, यत्थ पञ्ञा तत्थ सीलं)।[५९] शील के बिना चित्त असंस्कृत, खनिज धातु के समान होता है जिसे शोध कर ही प्रज्ञावतार के योग्य बनाया जा सकता है। कुछ स्वोपज्ञ कारिकाएँ प्रस्तुत हैं-

रूढ़िरक्तिश्च सौकर्यसक्ती, रम्यरतिस्तथा,
अधृतिश्चाभिभूतिश्च, रागद्वेषा दिवासना:-
षड्भिराभि: प्रवृद्धाभि: सत्यस्यापिहीतं मुखम्।
प्रमार्थिभिर्नियन्तव्या, अप्रमायोनयो हि ता: ॥
कामक्रोधादिसंभिन्ने चित्ते, स्वार्थपराहते,
जाड्याक्रान्ते तथा म्लानेन ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥[६०]

वस्तुत: तत्त्वज्ञान एक विशेष अर्थ में रेचक (cathartic) अथवा नैदानिक (therapeutic) होता है,[६१] अथवा एक विशेष प्रकार की रेचन-प्रक्रिया (catharsis) का परिणाम होता है। वह केवल सूचक/ज्ञानजातीय (epistemic) अथवा शास्त्रीय (academic) नहीं होता, मनोविश्लेषण-प्रक्रिया में ही नहीं, तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया मात्र होता तो वह प्रमाणों के वश का होता, किन्तु वह एक आत्मिक प्रक्रिया है जिसके लिए सम्पूर्ण पुद्गल का शोधन-संस्कार अनिवार्य हो जाता है।

प्रज्ञा का उदय केवल ज्ञेयावरण के क्षय का फल नहीं, तदर्थ क्लेशावरण का क्षय भी आवश्यक है, और इस दिशा में प्रमाण नितांत अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार दु:खमय है और उसका कारण अविद्या है, दु:ख-समुदाय के द्वादश निदानों, प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादशाङ्गों में अविद्या प्रथम है। उसके नाश का उपाय है विद्या, ज्ञान, तत्त्वज्ञान, लोकोत्तर ज्ञान, प्रज्ञा। लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति की क्षमता सब में नहीं होती। अविद्या दो प्रकार की होती है- मुख्य विभ्रम और प्रातिभासिकी भ्रान्ति। प्रातिभासिकी भ्रान्ति के निरोध में प्रमाण को सक्षम माना जा सकता है, किन्तु मुख्य विभ्रम का क्षय उसके वश की बात नहीं।

बौद्ध ग्रन्थों में कहीं-कहीं भव-हेतु के रूप में तृष्णा को माता और अविद्या को पिता अभिहित किया गया है-

'तृष्णा हि माता इत्युक्ता अविद्या च पिता तथा' [६२]

ऐसी दशा में प्रमाणों की कठिनाई और बढ़ जाती है। तृष्णा का उच्छेद उनकी सीमा के एकदम बाहर है।

प्रस्तुत संदर्भ में महायान-सूत्रों में कतिपय रोचक प्रसंग उत्थापित हुए हैं। आर्य सङ्गीति-सूत्र में कहा गया है कि बोधिसत्त्व के ढेरों धर्मों में शिक्षित होना आवश्यक नहीं, महाकरुणा एक ऐसा अर्थ है जिसके अभ्यास से बोधिसत्त्वों के सारे बुद्ध-धर्म हस्तगत हो जाते है। जैसे चक्रवर्ती राजा का रथ जिस-जिस ओर घूमता है उस-उस ओर उसकी सेना भी घूम जाती है, उसी प्रकार जिस ओर बोधिसत्त्व की करुणा जाती है उसी ओर सभी बुद्ध-धर्म भी जाते हैं। जैसे सूर्य के उदित होने पर सभी प्राणी अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाते है वैसे ही जहाँ महाकरुणा का उदय होता है वहाँ बोधि के साधनभूत अन्य धर्म भी सक्रिय हो उठते हैं। जैसे मन द्वारा अधिष्ठित सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्त हो जाती हैं वैसे ही महाकरुणा से अधिष्ठित होकर बोधि के उत्पादक धर्म भी अपने-अपने क्षेत्र में क्रियाशील हो जाते हैं। जैसे प्राण इन्द्रियों का प्रवर्तक है वैसे ही महाकरुणा बोधि के साधनभूत अन्य धर्मों का प्रवर्तन करती है।[६३] इसी प्रकार आर्य अक्षयमति-सूत्र में कहा गया है कि जैसे श्वास-प्रश्वास जीवितेन्द्रिय के अग्रेसर होते हैं वैसे ही महाकरुणा बोधिसत्त्व की अग्रेसर होती है।[६४]

इसप्रकार बोधि अथवा तत्त्वज्ञान की साधक महाकरूणा है न कि प्रत्यक्षादि प्रमाण। तत्त्वज्ञान में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा आत्मसंस्कार की कारणता कहीं अधिक है। आधुनिक धर्मवित् ओटो (Otto) कहता है कि धर्म-तत्त्वों का ज्ञान बौद्धिक ऊहापोह से नहीं, बल्कि भक्ति, दिव्य उन्माद आदि

से होता है।[६५] विद्युल्लता, ज्वालामुखी, तथा अन्य पर्वत, तीर्थ-स्थान, विशिष्ट पशु-पक्षी, विशिष्ट औषधि-वनस्पति-वर्ग, राजा, पुरोहित, बौने प्रभृति के पावन माने जाने का रहस्य यह है कि उनके सान्निध्य में अनेक व्यक्तियों को गहरी और उच्च कोटि की धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति हो सकती है और हुई है।[६६] यहाँ भी तत्त्वज्ञान के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों को अधिक उपयोगी नहीं समझा गया है। पाइथागोरस के भाष्यकार हाइरोक्लीज (Hierocles) के अनुसार दर्शन का प्रयोजन है मानवीय प्रकृति का शोधन (perfection catharsis) और परिपूरण (perfection) है जो शील (virtue) और सत्य (truth) द्वारा ही साध्य है।[६७] ऐसी ध्वनि पश्चिमी दर्शन में यदाकदा ही सुनाई देती है।

हमने प्राय: महायान-सूत्रों के आधार पर शील, समाधि, करुणा द्वारा तत्त्वज्ञान अथवा प्रज्ञा की उत्पत्ति की चर्चा की है, और निष्कर्ष निकाला है कि तत्त्वज्ञान में प्रमाण का प्रवेश नहीं। किन्तु कोई यह विप्रतिपत्ति उठा सकता है कि जब शील आदि तत्त्वज्ञान के जनक हैं तो क्यों न उन्हें ही 'प्रमाण' का अभिधान प्रदान किया जाय ? प्रमाण का सामान्य अर्थ है प्रमा का कारण, जो अर्थ शील आदि में भी घटाया जा सकता है। इस पर हमारा कहना है कि यदि ऐसा किया जाय तो हमें यह मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती कि ऐसी दशा में तत्त्वज्ञान में प्रमाण की कारणता है, किन्तु यह मानने में ही कठिनाई है कि शील आदि प्रमा के कारण हैं। कारण का अर्थ है साधकतम कारण। धर्मोत्तर का कहना है- 'साधकतमत्वाभावात् प्रमाणमेव न स्याज्ज्ञानम्' [६७] अत: शील आदि तत्त्वज्ञान के साक्षात् कारण अथवा करण नहीं, बल्कि परम्परया कारण अथवा करण माने जाने चाहिए और ज्ञान उनका एकमात्र फल भी नहीं है। वे अर्हत्व, प्रत्येकबुद्धत्व अथवा सम्यकसम्बुद्धत्व की प्राप्ति करा देते हैं, और ज्ञान की हैसियत एक उपफल की सी हो जाती है। ऐसी दशा में प्रमाणवादी प्रमाण का इतना व्यापक अर्थ लेने को शायद ही तैयार हो।

एक बात और है। लगता है कि दर्शन प्रमाण का अग्रयायी है, अनुयायी नहीं। दर्शन के क्षेत्र में मौलिक उद्भावनाएँ प्रतिभा-बलेन, अकस्मात् ही हो पाती है, वे न्याय के नियमों का अनुगमन नहीं करतीं। न्याय का उपयोग उन्हें व्यवस्थित करने, निखारने में अवश्य किया जा सकता है, किन्तु उनकी उत्पत्ति न्याय के अधीन नहीं मानी जा सकती।

तत्त्वज्ञान, महायान-सूत्रों के 'यथाभूत ज्ञान',[६८] के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है। वेदान्त में तत्त्वज्ञान और तत्त्व, परमार्थ-ज्ञान और परमार्थ, का भेद अन्तत: समाप्त हो जाता है। वस्तुत: परमार्थ-स्तर पर ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तीनों ही एक हो जाते हैं-ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।[६९] महायान की भी यही ध्वनि है। उदाहरणत:, बोधि का लक्षण करते हुए प्रज्ञाकरमति लिखता है कि बोधि नाम है बुद्धत्व का, जो धर्मकाय नामक परमार्थ-तत्त्व है, इसे ही प्रज्ञापारमिता, शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु, आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है (बोधि: बुद्धत्वम्, एकानेकस्वभाव-विविक्तमनुत्पन्नानिरूद्ध- मनुच्छेदमशाश्वतं सर्वप्रपञ्चविनिर्मुंक्तमाकाशप्रतिसमं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते एतदेव च प्रज्ञापारमिता-शून्यता-तथता-भूतकोटि: धर्मधात्वादिशब्देन संवृत्तिमुपादाय अभिधीयते।)[७०] इस अर्थ में तत्त्वज्ञान एक प्रकार का अभेद-ज्ञान (knowledge by being) ही नहीं, बल्कि अभेद-भाव भी बन जाता है। ऐसा तत्त्वज्ञान भला प्रत्यक्षादि प्रमाणों के वश का माना जा सकता है ? ऐसी बोधि में सहायक विषय, बोध्यङ्ग, सात माने गये हैं- स्मृति,धर्मप्रविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा।[७१]

***

संदर्भ-सूची

१. चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः, संख्या-लक्षण-गोचर-फलविषया।' न्यायबिन्दु-टीका, द्र. धर्मोत्तरप्रदीप, दलसुखभाई मालवणिया, सं भोटदेशीय-संस्कृतग्रन्थ माला, पुष्प २ (पटना : काशीप्रसाद जायसवाल, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९५५), १२।

२. प्रमाणसमुच्चय, प्रत्यक्ष-परिच्छेद, स्वोपज्ञवृत्त्यंश और जिनेन्द्रबुद्धिकृत विशालामलावती-टीका सहित, एच.आर. आयंगार, सं. (मैसूर : गवर्नमेंट ब्रांच प्रेस, १९३०), २-३ ; न्यायविन्दु १.२-४ ; प्रमाणवार्त्तिक, द्वारिकादासशास्त्री, सं. मनोरथनन्दी-वृत्ति सहित, बौद्धभारती ग्रन्थमाला-३ (वाराणसी : बौद्ध भारती, १९६८), प्रत्यक्ष-परिच्छेद १।

३. जी.तुची, प्री-दिङ्नाग बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स ऑन लॉजिक, फ्रॉम चाईनीज सोर्सेज ; गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, खण्ड ४६ (बड़ौदा : ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, १९२९), भूमिका, पृ. १७।

४. तर्कशास्त्र, तत्रैव, पृ. ४-५।

५. एस.कृष्णस्वामी आयंगार मणिमेखलै इन इट्स हिस्टॉरिकल सेटिंग (लंदन : ल्यूजाक कं, १९२८), पृ. २०५।

६. मध्यान्तविभाग-कारिका, मध्यान्तविभाग-भाष्य और मध्यान्तविभागभाष्य टीका, द्र.मध्यान्तविभाग-शास्त्र रामचन्द्र पाण्डेय सं, (दिल्ली, पटना, वाराणसी : मोतीलाल बनारसीदास, १९७१), ३.१२, पृ.९७-९८ ; अभिसमयालंकारालोक, द्र.अष्टसाहस्तिकाप्रज्ञापारमिता, अभिसमयालंकारालोक सहित, परशुरामशर्मा वैद्य, सं. बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-४ (दरभंगा : मिथिला विद्यापीठ, १९६०), पृ. २८९, ३१३, ५०४,५२०,३६०।

७. उपायहृदय, तुची के उक्त संग्रह में, पृ.६,१३।

८. विग्रहव्यावर्त्तनी, द्र. मध्यमकशास्त्र, प्रसन्नपदा सहित, परशुराम शर्मा वद्य, सं.बौ सं. ग्रं-१० (दरभंगा : मिथिला विद्यापीठ, १९६०), पञ्चम परिशिष्ट, ५-६।

९. प्रसन्नपदा, द्र. मध्यमकशास्त्र १.३, पृ. २५।

१०. तत्रैव।

११. उदाहरणत: प्रमाणसमुच्चय १.१. प्रमाणवार्त्तिक १.३१-३३, ३४, ३५, ३६, १३४, १४१-१४४, १४७-१४८, २८५-२८६ ; ३.२१६ ; ४.१०८।

१२. अध्याशयसञ्चोदन-सूत्र, द्र. शिक्षासमुच्चय, परशुराम शर्मा वैद्य, सं बौ. सं. ग्रं.-११ (दरभंगा : मिथिला विद्यापीठ, १९६०), २, पृ. १२ ; बोधिचर्यावतार-पञ्जिका, परशुराम शर्मा वैद्य, सं., बौ. सं. ग्रं.-१२ (दरभंगा : मिथिला विद्यापीठ, १९६०), ९.४२, पृ. २०५।

१३. तंत्रवार्त्तिक, काशीनाथ वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर तथा गणेश शास्त्री जोशी, सं., आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली; ग्रन्थाङ्क९७ (द्वि. सं. पूना : आनन्दाश्रम, १९७०), १.३.१२, पृ. १६२।

१४. विग्रहव्यावर्त्तनी ३१-५२; वैदल्यसूत्र, सेम्पा दोर्जे, सं.(वाराणसी : तिब्बती-हिन्दी केन्द्र, १९७४), २-१९।

१५. मध्यमकशास्त्र-प्रसन्नपदावृत्ति, १.३, पृ. २५।

१६. तत्रैव, १.३, पृ. ११।

१७. अभिसमयालंकारालोक, पृ. ४४५।

१८. मध्यमकशास्त्र-प्रसन्नपदावृत्ति १.३., पृ. २३।

१९. तत्रैव।

२०. प्रमाणवार्त्तिक २.५३; प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति १.२।

२१. प्रमाणवार्त्तिक २.५४।

२२. तत्रैव २.१।

२३. तत्रैव २.५५।

२४. प्रमाणसमुच्चय १.८। तु. प्रमाणवार्त्तिक २.२८८-३००।

२५. प्रमाणवार्त्तिक २.५६

२६. तत्रैव।

२७. तत्रैव १.४।

२८. तत्त्वसंग्रह, पञ्जिका सहित, द्वारकादास शास्त्री,सं., बौ.भा.ग्रं.मा.पुष्प १ (वराणसी : बौद्ध भारती, १९६८), १३२३, प्रथम भाग, पृ. ४८२।

२९. न्यायबिन्दु-टीका १.५, पृ. ४७।
३०. प्रमाणवार्त्तिक १.३, पृ. ३।
३१. विभूतिचंद्र द्वारा उदाहृत। द्र. प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दी-वृत्ति सहित, राहुल-सांकृत्यायन, सं., १९३७ परिशिष्ट।
३२. प्रमाणवार्त्तिक २.२१९।
३३. तत्रैव ३९८।
३४. तत्रैव पृ.२१७।
३५. प्रमाणवार्त्तिक २.३३३-३३७, ३५४-३६३।
३६. प्रमाणसमुच्चय १.८; प्रमाणवार्त्तिक २.२८८-२८९ (मनोरथनन्दी-वृत्ति सहित)।
३७. प्रमाणवार्त्तिक (स-वृत्ति) २.२११-२१५, ३३९-३४६, ३६४-३६५, ३८९। तु. ४१०-४११,४३३-४३६।
३८. प्रमाणवार्त्तिक-वृत्ति १ ८, पृ. ९१। तु. न्यायबिन्दु-टीका १.१,पृ. २३।
३९. धर्मोत्तरप्रदीप १.१,पृ. २०।
४०. तत्रैव पृ.२७।
४१. प्रमाणवार्त्तिक १.७।
४२. प्रमाणवार्त्तिक-वृत्ति १.७,पृ. ७।
४३. प्रमाणवार्त्तिक २.३५४।
४४. धर्मोत्तरप्रदीप १.४, पृ. ४४।
४५. महायानसूत्रालंकार, शीतांशुशेखर बागची, सं.,बौ सं ग्रं.-१३ (दरभंगा : मिथिला विद्यापीठ, १९७०), १.१२।
४६. प्रमाणसमुच्चय ९-११; प्रमाणवार्त्तिक २.३६४-३६७; तत्त्वसंग्रह १३४३।
४७. तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका १३४३।
४८. योगसूत्र १.५-६।
४९. तत्रैव १.१२।
५०. तत्रैव १.३।
५१. तत्रैव १.४८।
५२. *'the fact that one Knows or Knows not the Dharma, can easilybe detected by whether or not he can conquer his own egoclinging desires. If he can that proves that he knows and also practices the Buddhist teachings' The Hundred Thousand Songs of Milarepa, Garma C.C. Chang, tr. (New York : University books, 1962), Vol.II, p. 384*
५३. बृहदारण्यकोपनिषद् (गोरखपुर : गीताप्रेस), २,४.५।
५४. मनुस्मृति,गोपाल शास्त्री नेने, सं., काशी संस्कृत सीरीज, ११४ (वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, १९३५), २.२८।
५५. शारीरकभाष्य, महादेव शास्त्री बाके सं.वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, परिष्कर्ता (तृ.सं.बम्बई : निर्णय-सागर प्रेस, १९३४) १.११. पृ. ३६-३७। तु. बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.२३।
५६. दीघनिकाय, भिक्खु जगदीसकस्सपो, सं नालन्दा-देवनागरी-पालि ग्रन्थमाला (पालि प्रकाशन बोर्ड, बिहार राज्य, १९५८), सोणदण्डसुत्त, पृ. १०६।
५७. अंगुत्तरनिकाय १.१०२।
५८. दीघनिकाय सोणदण्डसुत्त, पृ. १०६।
५९. लेखक-कृत अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ हिन्दुत्व-सर्वस्वम्, पस्पशाध्याय।
६०. द्रष्टव्य हर्षनारायण,Evolution of the Nyaya-Vaisesika Categoriology, Vol I, (वाराणसी : भारती प्रकाशन, १९७६), पृ. ६०-६१।
६१. (संदर्भ-)लंकावतारसूत्र, परशुराम शर्मा वैद्य, सं., बौ.सं. ग्रं.-३ (दरभंगा : मिथिला विद्यापीठ, १९६३), ३.३; १०.४६२।
६२. शिक्षासमुच्चय २४,पृ.१५१; बोधिचर्यावतार-पञ्जिका ९.७६, पृ. २२८।
६३. शिक्षासमुच्चय २४,पृ.१५१।

६४. *Rudolf Otto, The Idea of the Holy (E.T. 1950), पृ.९८ ।*

६५. *E.O. jemes, Comparative Religion (१९६१), पृ.३९-४० ।*

६६. *Hiercoles, The Commentary of Hierocles on the Golden Verses of Pythagoras,quoted in Joseph politella, 'Greek Philosophy as a Yoga System',Journal of Religious Studies, Vol. III, No.1, (Spring, 1971), p. 148*

६७. *न्यायबिन्दु-टीका १.२१,पृ. ८४ ।*

६८. *अर्थविनिश्चय-सूत्र २२, महायानसूत्रसंग्रह, परशुराम शर्मा वैद्य, सं., बौ. सं., ग्रं.-१७ (दरभंगा : मिथिला विद्यापीठ, १९६१), पृ.३२५ ।*

६९. *मुण्डकोपनिषद् (गोरखपुर : गीताप्रेस),३.२.९ ।*

७०. *बोधिचर्यावतार-पञ्जिका ३.३८, पृ. २०० ।*

७१. *महायानसूत्रसंग्रह, पृ. ३३२ ।*

परिच्छेद : छह

अभेदानन्द भट्टाचार्य

अभेदानन्द भट्टाचार्य

प्रो. अभेदानन्द भट्टाचार्य शास्त्री, वेदान्ताचार्य, एम.ए. (दर्शन शास्त्र) एवं पी-एच.डी. तथा डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त किये हुए अपने समय के गणमान्य विद्वानों में एक थे। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत इन्होंने श्री भगवान दास संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार से की थी और लम्बे समय तक इसी महाविद्यालय के प्राचार्य रहे। तदुपरान्त इन्होनें दर्शन विभाग, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को अपनी अकादमिक सेवायें प्रदान कीं और वहीं से आचार्य एवं अध्यक्ष के रूप में सेवा निवृत्त हुए। प्राप्त जानकारी के अनुसार इन्होंने भारतीय दर्शन के गम्भीर विषयों पर ६२ शोध पत्रों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त एक दर्जन से अधिक शोध ग्रन्थों को प्रकाशित किया था। प्रो. भट्टाचार्य की प्रमुख और बहुमान्य कृतियाँ-शांकर वेदान्त, शांकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, अद्वैत एवं द्वैताद्वैत तत्त्वमीमांसा, दार्शनिक निबन्धावली, और आइडियलिस्टिक फिलॉसफी ऑफ शंकर एण्ड स्पीनोजा इत्यादि हैं।

*

जगन्मिथ्यात्ववाद और बौद्ध विज्ञानवाद

बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार एकमात्र आन्तर ज्ञान ही सत्य है, बाह्य वस्तुएँ असत्य हैं। विज्ञानवाद के प्राचीन आचार्य असंग के अनुसार विषय और विषयी दोनों ही विज्ञान या चित्त हैं।[1] आचार्य वसुबन्धु ने बाह्यता से रहित विज्ञान को ही तत्त्व माना है। उन्होंने "चित्त मात्रं भो जिनपुत्रा, यदुतत्रैधातुकमिति" इस सूत्र का ही अनुसरण किया है।[2] इनके अनुसार कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु सब विज्ञप्ति मात्र हैं। वस्तुत: बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है, जो कुछ भी है विज्ञान ही है। विज्ञान के अतिरिक्त सब असत् है। इसलिये वसुबन्धु ने विंशतिका की प्रथम कारिका में ही कहा है "असदर्थाविभासनात्" अर्थात् जिस प्रकार तिमिरादि रोगग्रस्त को असत् केशगुच्छादि के दर्शन यों ही होते हैं, उसी प्रकार न होते हुए भी अर्थ प्रतीत होते हैं।[3] वसुबन्धु ने यहाँ पर असदर्थ की प्रतीति की बात कही है। प्रतीति के लिए अवभास शब्द का प्रयोग किया है, जो कि शंकर ने अध्यास के लक्षण में कहा है : "अवभासोऽध्यास:" अध्यास का अर्थ भी अवभास ही है।[4] जहाँ पर जो नहीं है वहाँ पर उसकी प्रतीति होना ही अवभास है। "अतस्मिन् तद्बुद्धि" ही अवभास है। यही बात वसुबन्धु उक्त प्रथम कारिका में "असदर्थाविभासनात्" शब्द द्वारा कहना चाहते हैं। असत् का अर्थ है - न होना,जहाँ पर अर्थ या विषय न हो वहाँ पर विषय की प्रतीति अवभास है, जैसे सीपी में चाँदी का भ्रम है; क्योंकि सीपी में चाँदी का आभास है, अत: सीपी में चाँदी असत् है। असत् होने पर भी वहाँ चाँदी का प्रतीति होना ही अवभास है। यहाँ पर वसुबन्धु ने तिमिर रोगी के केशगुच्छादि के दर्शनभ्रम का उदाहरण दिया है, जो कि अद्वैत केअनुसार प्रातिभासिक है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार अलीक की तो प्रतीति ही सम्भव नहीं है।[5] यदि प्रतीति हो रही है तब तो उसे प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत् कहना होगा। तिमिर रोगी एक विशेष द्रष्टा हुआ; उसको विशेष रूप से जो दोष के कारण अभाव में केशगुच्छादि की प्रतीति होती है वह प्रातिभासिक प्रतीति ही है। यद्यपि वसुबन्धु ने प्रातिभासिक सत्ता का नाम नहीं लिया है तथापि केशगुच्छादि के उदाहरण प्रातिभासिक प्रतीति की ओर साक्ष्य देते हैं एवं अवभास शब्द व्यावहारिक सत्ता की ओर संकेत करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वसुबन्धु अद्वैत के ही समान व्यावहारिक वस्तुओं को स्वतंत्र सत्ता नहीं देने को तैयार हैं। अद्वैत में रज्जु-सर्पादिभ्रम के उदाहरणों द्वारा जगत् की मध्यस्तता एवं मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है; इसी प्रकार वसुबन्धु ने भी केशगुच्छादि के प्रातीतिक ज्ञान के उदाहरण द्वारा विज्ञप्तिमात्रता के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की स्वतंत्रसत्ता का निषेध किया है। अद्वैत वेदान्ती "प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व" को मिथ्यात्व कहते हैं - जैसे कि रज्जु-सर्प भ्रमस्थल में रज्जु में सर्प का परमार्थत: त्रैकालिक निषेध सम्भव है। यद्यपि रज्जु विषयक अज्ञानकालीन प्रातीतिक सर्प भ्रमकाल में होता है, फिर भी उस काल में भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से सर्प नहीं होता। अत: भ्रमकाल के सर्प का तीनों कालों में निषेध होता है, इसी कारण भ्रमकालीन सर्प मिथ्या है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच का ब्रह्मरूप प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेध है, अत: परमार्थत: प्रपंच भी मिथ्या है, फिर भी अधिष्ठान-ज्ञान से पूर्व प्रपंच की प्रातीतिक सत्ता अद्वैत के अनुसार स्वीकार्य है। इसी प्रकार

वसुबन्धु के अनुसार बाह्य वस्तुएँ तीनों कालों में नहीं हैं। जो कुछ भी है विज्ञप्ति मात्रता ही है। वसुबन्धु आत्मा और धर्मों को आलय विज्ञान के परिणाम कहते हैं[६] किन्तु वसुबन्धु के अनुसार परिणाम का अर्थ सांख्य के परिणाम से भिन्न है।[७] वसुबन्धु द्वारा प्रयुक्त परिणाम शब्द का अर्थ करते हुए स्थिरमति ने कहा है "कोऽयं परिणामो नाम ? अन्यथात्वम्" अन्यथाभाव को ही परिणाम कहा है।[८] सांख्य के परिणाम में नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी गई, क्योंकि सांख्य के अनुसार कारण में पूर्व से ही सत् कार्य की उत्पत्ति होती है न कि नवीन कार्य की। विज्ञानवादी वसुबन्धु के अनुसार, कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवाद के अनुसार अनादि विकल्प-वासनाओं के कारण आत्मादि एवं रूपादि का आरोप होता है। वसुबन्धु का 'उपचार' और अद्वैत का 'अध्यास' या 'आरोप' समानार्थक शब्द हैं। जिस प्रकार अद्वैत में वस्तुत: ब्रह्म में प्रपंच के तीनों कालों में न रहने पर भी वह अज्ञान के कारण आरोपित माना जाता है उसी प्रकार आचार्य स्थिरमति विज्ञान में बाह्य वस्तुओं के अभाव होने पर उन्हें विज्ञान में आरोपित मानते हैं। 'उपचार' का अर्थ आरोप है। स्थिरमति का कहना है "जो पदार्थ जहाँ नहीं उसके वहाँ होने का जो आरोप होता है उसे उपचार कहते हैं। यथा शुक्ति में रजत का उपचार अथवा वाहीक में बैल का उपचार। इसी अर्थ में विज्ञान के स्वरूप में बाह्य पदार्थों का आरोप या उपचार होता है, अत: बाह्य वस्तुएँ परिकल्पित हैं। परमार्थत: वे वस्तुएँ नहीं हैं।[९] वसुबन्धु के अनुसार सम्पूर्ण परिणाम या उपचारों का कारण या अधिष्ठान आलय विज्ञान है। आलय विज्ञान ही संसार का बीज है।[१०] इसी आलय विज्ञान को आलम्बन करके मनोविज्ञान एवं विषयविज्ञप्ति की उत्पत्ति होती है। सभी आरोपित सत् वस्तुओं का विशुद्ध आलम्बन या अधिष्ठान विशुद्ध विज्ञप्ति है, जिसे विज्ञप्तिमात्रता कहा है। यह नित्य है, शाश्वत है। इस प्रकार हम वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता की तुलना अद्वैत के ब्रह्म से कर सकते हैं। आचार्य वसुबन्धु के अनुसार, विशुद्ध विज्ञप्ति समुद्र के समान है और बाह्य वस्तु तरंगों के समान उस पर परिकल्पित हैं। विशुद्ध विज्ञप्ति ग्राह्य-ग्राहकता से परे है। पं. विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार, विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता भी सापेक्षनित्य है।[११] परन्तु भट्टाचार्य जी का कथन समीचीन नहीं जान पड़ता। वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता को ध्रुव कहा है।[१२] भट्टाचार्य जी ने ध्रुव शब्द का जो सापेक्ष नित्य अर्थ किया है वह आचार्य स्थिरमति के भाष्य के आधार पर समीचीन नहीं बैठता, क्योंकि स्थिरमति ने त्रिंशिका भाष्य में ध्रुव शब्द का अर्थ नित्य किया है।[१३] अत: इस विषय में आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि वसुबन्धु ने यहाँ पर ध्रुव शब्द का प्रयोग निरपेक्ष सत्य के अर्थ में किया है।[१४] वसुबन्धु जब यह कहते हैं कि दृश्यप्रपंच स्वप्नवत् है, यह तिमिर रोगी के केशगुच्छादि के समान है, इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्य वस्तुएँ हैं ही नहीं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सविकल्पक बुद्धि की कोटियों द्वारा कल्पित जगत् स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं रखता। विज्ञप्तिमात्रता या धर्मनैरात्म्य का सिद्धान्त सविकल्पक बुद्धि द्वारा कल्पित कर्त्ता और कर्म, ग्राहक और ग्राह्य, द्रष्टा और दृश्य के द्वन्द्व पर अधिष्ठित जगत् का खण्डन करता है, न कि विशुद्ध निर्विकल्पक विज्ञप्तिमात्रता का। यह मत व्यावहारिक जगत् को परतंत्र सत्ता प्रदान करता है। जब तक निर्विकल्पक आर्य ज्ञान की अनुभूति नहीं होती तब तक परिकल्पित जगत् की व्याख्या करने के लिए ही वसुबन्धु ने त्रिविध सत्तावाद स्वीकार किया है। अद्वैत में स्वीकृत प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ता के समान ही आचार्य वसुबन्धु भी त्रिविध सत्ता स्वीकार करते हैं। परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न ये त्रिविध सत्ताएँ हैं। इन त्रिविधि सत्ताओं को वस्तुस्वभाव भी कहा गया है। परिकल्पित स्वभाव वाली वस्तुएँ आरोपित हैं, क्योंकि उन वस्तुओं का अपना स्वभाव नहीं है, जैसे शुक्ति में रजत की कल्पना परिकल्पित है। वस्तुत: शुक्ति में रजत है ही नहीं, अत: उसमें रजत का ज्ञान आरोपित वस्तु-विषयक ज्ञान ही है। आरोपित वस्तु-विषयक ज्ञान को ही वसुबन्धु परिकल्पित कहते हैं।[१५] परिकल्पित वस्तु स्वाधिष्ठान में न होने के कारण ही स्थिरमति ने अपने

भाष्य में कहा है "न स विद्यते इति"[15] अर्थात् कल्पित वस्तु की अपनी सत्ता का अभाव हुआ करता है। यहाँ तक कि कल्पित वस्तु हेतु-प्रत्यय से प्राप्त स्वभाव भी नहीं है। हेतु-प्रत्यय-स्वभाव व्यावहारिक वस्तुओं का ही होता है। प्रातिभासिक वस्तुओं का स्वभाव कल्पित ही है। द्विचन्द्र ज्ञान के समान परिकल्पित ज्ञान तथ्यरहित है। एवमेव परिकल्पित वस्तु भी तथ्यहीन है। परतंत्र सत्य या परतंत्र ज्ञान सापेक्ष है, क्योंकि यह कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित है। परतंत्र स्वभाव वाला पदार्थ परिकल्पित की अपेक्षा सत्य अवश्य है, किन्तु यह भी परसापेक्ष होने के कारण स्वतंत्र सत्ता से रहित है। सापेक्ष का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न। संसार की वस्तुएँ परतंत्र हैं, क्योंकि वे वस्तुएँ किसी हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न हैं। जो वस्तु कारणसापेक्ष है वह परतंत्र है, अत: परतंत्र को भी शुद्ध सत्ता प्राप्त नहीं है, यह भी एक प्रकार सत् स्वभाव से रहित ही है। अद्वैतवेदान्त की व्यावहारिक सत्ता से इसकी तुलना की जा सकती है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार व्यावहारिक जगत् अपनी सत्ता के लिए ब्रह्मसापेक्ष है। कारण के बिना कार्य अस्तित्त्व में नहीं आ सकता। अत: ब्रह्मसत्ता के बिना जगत् कार्यरूप में नहीं रह सकता। घटोऽस्ति पटोऽस्ति इत्यादि बाह्य वस्तुएँ अस्ति-सापेक्ष हैं। वह अस्ति ही कारणरूप ब्रह्म हैं, अत: अद्वैत के अनुसार जगत्-प्रपंच सापेक्षसत् है। विज्ञानवादी के अनुसार भी सभी वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, अत: परतंत्र-स्वभाव हैं।[16]

परिनिष्पन्न वस्तुस्वभाव है, अर्थात् परिनिष्पन्न ही तत्त्व है। परिनिष्पन्न परतंत्र का भी अधिष्ठान है। बिना परिनिष्पन्न के परतंत्र की सत्ता हो ही नहीं सकती, क्योंकि परिनिष्पन्न को लेकर ही परतंत्र का व्यवहार सम्भव है। यह ग्राह्य-ग्राहकादि भावों से परे है। यह परतंत्र से भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं। हम इसे यह भी नहीं कह सकते कि यह परतंत्र से तादात्म्य है या भिन्न है। परतंत्र से भिन्न इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि परनिष्पन्न ही अविद्या के कारण परतंत्र के रूप में भासने लगता है। साथ में परिनिष्पन्न परतंत्र की पहुँच से सर्वथा बाहर है, अत: परतंत्र से अभिन्न भी कहना समीचीन नहीं है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में एकमात्र विशुद्ध परमार्थ ब्रह्म ही सत्य है और सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठानरूप है, फिर भी प्रपंच से वह परे है, उसी प्रकार परिनिष्पन्न शुद्ध और शाश्वत है। वह देश-काल से परे है। देश-काल उसी परिनिष्पन्न में आरोपित हैं। परिनिष्पन्न समस्त प्रपंच का आधार होते हुए भी प्रपंच से वह रहितावस्था है,[17] अतएव यह इन्द्रियानुभवातीत है। यह निरपेक्ष सत् है। बाह्य विषय को अस्तित्त्व इसी के अस्तित्त्व से प्राप्त है। इसी सदधिष्ठान में घटादि विकल्प कल्पित हैं, क्योंकि कारणव्यतिरेक कार्य की सिद्धि नहीं है अत: कारण ही कार्यरूप से भासित होता है।

इस प्रकार हमने दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवादानुसार बाह्य वस्तुएँ विशुद्ध विज्ञान या विज्ञप्ति में आरोपित हैं। अद्वैत वेदान्त के आचार्य प्रकाशात्मयति ने पंचपादिका-विवरण में त्रिविध सत्ता की स्थापना करते हुए कहा है कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म की है, अर्थक्रियासामर्थ्य तत्त्व आकाशादि का, एवं अविद्योपाधिकसत्व शुक्ति व रजतादि का।[18] जिस प्रकार रजतादि शुक्ति में आरोपित हैं उसी प्रकार आकाशादि भी ब्रह्म में आरोपित हैं, अत: शुक्ति-रजतादि के समान ही आकाशादि भी मिथ्या हैं। यहाँ पर विज्ञानवाद और अद्वैत मत की समानता है। अद्वैत में जिस प्रकार प्रातिभासिक को व्यावहारिक दृष्टि से सत्-स्वभाव-रहित कहा गया है और व्यावहारिक वस्तुओं को पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत् स्वभावरहित कहा गया है, उसी प्रकार आचार्य वसुबन्धु भी तीन प्रकार के नि:स्वभावों का कथन करते हैं। इन्हें लक्षणनि:स्वभावता, उत्पत्ति नि:स्वभावता एवं परमार्थनि:स्वभावता कहते हैं। परिकल्पित वस्तुएँ आकाश-कुसुम के समान नि:स्वभाव हैं। ये लक्षण से उपेक्षित हैं। परिकल्पित वस्तुओं की सिद्धि के लिए जिन लक्षणों का समावेश किया जाता है वे वास्तविक नहीं हैं, अत: ऐसी वस्तुएँ लक्षणों से नि:स्वभाव होने के कारण

लक्षणनि:-स्वभाव कहलाती हैं। परतन्त्र वस्तुएँ कारणसापेक्ष होने के कारण उत्पत्तिनि: स्वभाव हैं, क्योंकि स्वयंस्वभाववाले परतंत्र नहीं हैं। स्वयंस्वभाववाले होते तो परतंत्र ही नहीं कहलाते। इसी प्रकार परिनिष्पन्न परमार्थनि:स्वभाववाला है। परमार्थत: उसमें किसी प्रकार के धर्म नहीं हैं, अत: वह विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र होने के कारण परमार्थत: नि:स्वभाव है।[19] इस प्रकार परमार्थ विशुद्ध विज्ञान ही एक निरपेक्ष सत्ता है। आचार्य असंग ने भी उक्त त्रिविध सत्वों का प्रयोग महायान सूत्रालंकार में किया है।[20]

वसुबन्धु के विज्ञानवाद के विषय में ऊपर दिये गए विवरण से हम यह धारणा बना सकते हैं कि असंग तथा वसुबन्धु ने जगत् की बाह्यता को तो आरोपित या मिथ्या कहा है, किन्तु वे जगत् की बाह्यता का अपलाप नहीं करते। इन विज्ञानवादी आचार्यों के अनुसार बाह्यता या ग्राह्य-ग्राहकता आदि सर्व प्रपंच विज्ञान में आरोपित हैं। आरोपित वस्तु की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती, अत: वे मिथ्या हैं। अद्वैत में भी अध्यस्त तथा प्रपंच को मिथ्या कहा गया है। वसुबन्धु ने जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम कहा है, और विशुद्ध विज्ञप्ति को कार्य-कारण भाव से अतीत कहा है। जब विशुद्ध विज्ञप्ति सांसारिक द्वन्द्व या विकल्पों से परमार्थत: परे है और शाश्वत एकरूप है तब विशुद्ध विज्ञप्ति से कार्य-कारणात्मक संसार सम्बन्धित नहीं हो सकता अथवा व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्धित मानना होगा, जैसा कि अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म परमार्थत: किसी का अधिष्ठान भी नहीं है, क्योंकि सत्य अर्थ में किसी का अधिष्ठान होना भी निर्गुणत्व को आघात पहुँचाना है। अत: कहा गया है कि प्रपंच ब्रह्म में विवर्त है। विवर्त का अर्थ है अध्यस्ततया कार्य का होना, न कि वस्तुत:। इसी प्रकार वसुबन्धु की विशुद्ध विज्ञप्ति भी जब परतंत्रों से भी सम्बन्धित नहीं है, फिर जगत् को विज्ञप्ति का परिणाम कैसे कहा जाय? ऐसा लगता है, वसुबन्धु जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम और पारमार्थिक दृष्टि से विशुद्ध विज्ञप्ति का विवर्त मानते हैं। यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का परिणाम जगत् है तब तो विशुद्ध विज्ञप्ति में भी विकृति आनी चाहिए? ऐसा होता नहीं है। जगत्-परिणाम के होने पर भी विज्ञप्ति विशुद्ध ही रहती है, अत: जगत्-परिणाम को विवर्त के अर्थ में लेना आवश्यक है। इसी अर्थ में वसुबन्धु ने आत्मधर्मों को विज्ञान में उपचरित कहा है, अर्थात् आत्मा और धर्मो का उपचार होता है, न कि ये वस्तुत: हैं।

वसुबन्धु के द्वारा परतंत्र वस्तुओं का स्वीकार करना ही सिद्ध करता है कि वसुबन्धु बाह्यता का सम्पूर्ण अपलाप नहीं करते, जैसा कि आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन है कि इस विज्ञानवाद में प्रपंच की बाह्यता का प्रत्याख्यान नहीं किया गया।[21] इस कारण विज्ञानवाद को विशुद्ध विषयीवाद नहीं कह सकते।[22] विज्ञानवाद मात्र यह कहता है कि विज्ञानातिरिक्त के रूप में असत् है, किन्तु विज्ञान सापेक्ष बाह्यता है। यही अद्वैत के अनुसार बाह्यता की स्थिति है।

लंकावतार के दर्शन को विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही का मिश्रण कहा जा सकता है। यह न विशुद्ध शून्यवाद है, न ही विज्ञानवाद। इस ग्रन्थ के अनुसार एकमात्र चित्त ही सत्य है। लंकावतार में विशुद्ध विज्ञान के लिए 'चित्त' शब्द का ही प्रयोग मिलता है।[23] चित्त ही विज्ञान है, इस विज्ञान के अतिरिक्त काम, रूप एवं अरूप, अर्थात् भौतिक वस्तुएँ, असत् हैं। बाह्यता नाम की कोई भी वस्तु वस्तुत: है नहीं। बाह्य वस्तु व्यक्तिगत मन की सृष्टि नहीं है, अपितु विशुद्ध विज्ञान की सृष्टि है। लंकावतार में बाह्य वस्तुओं के अस्तित्त्व का जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान मिलता है।[24] बाह्य वस्तुओं के प्रत्याख्यान पर वसुबन्धु वस्तुत: उतना बल नहीं देते जितना कि लंकावतार देता है। लंकावतार में बाह्य वस्तुओं के अस्तित्त्वप्रत्याख्यान में नागार्जुन एवं गौड़पाद के समान स्वप्न, माया, बन्ध्यापुत्रादि के दृष्टान्तों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।[25] लंकावतार के अनुसार सम्पूर्ण बाह्य वस्तुएँ विकल्प मात्र हैं। यहाँ पर वस्तुत: न द्रष्टा है, न द्रष्टव्य ही कुछ है, न कोई वाच्य है, और न ही उसका वाचक।[26] जिस प्रकार अद्वैत के ब्रह्म में परमार्थत: ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृत्व-भाव नहीं उसी प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार भी

प्रपंच परमार्थतः उक्त भेदों से रहित है। न ग्राह्य है न ग्राहक, बन्ध्यापुत्र के समान सभी कल्पित हैं। न उत्पत्ति है और न ही कोई उत्पाद्य है, किन्तु व्यवहार में सभी कल्पित हैं।[२७] जिस प्रकार आकाश, कुसुम, बन्ध्यापुत्र आदि न होने पर भी कहे जाते हैं, उसी प्रकार भाव वस्तुओं की कल्पना होती है।[२८] वस्तुतः सभी धर्म निःस्वभाव हैं। दार्शनिक विश्लेषण करने पर या कार्य-कारण भाव से विश्लेषण करने पर बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध नहीं होती, इसलिए इन्हें अनभिलाप्य कहा गया है।[२९] अद्वैत के अनुसार भी प्रपंच को सदसद् अनिर्वचनीय कहा गया है, अर्थात् सत् रूप से, असत् रूप से अथवा उभय रूप से वस्तुओं का कथन सम्भव नहीं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार सत् का बाध नहीं होता, असत् की प्रतीति नहीं होती। बाह्य वस्तुओं में दोनों बातें हैं, अतः सदसद् अनिर्वचनीय हैं। इसी प्रकार लंकावतार में भी वस्तुओं को अनभिलाप्य कहा है, अर्थात् ये अनिर्वचनीय हैं। वस्तुओं के स्वभाव की खोज करने पर स्वभाव का परिचय नहीं मिलता, अपितु परभाव का ही परिचय मिलता है। घटादि का स्वभाव कुछ भी नहीं है, विज्ञानातिरिक्त घटादि की सत्ता नहीं है, किन्तु घटादि की प्रतीति होती है, इसी कारण घटादि माया के समान है। जिस प्रकार माया की सिद्धि सम्भव नहीं है उसी प्रकार संसार की भी सिद्धि सम्भव नहीं।[३०] अद्वैत में भी माया को सदसद् अनिर्वचनीय कहा गया है, क्योंकि उसकी उक्त रूपों से सिद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार लंकावतार में यद्यपि प्रपंच के बाह्यत्व का जोरदार प्रत्याख्यान किया गया है, फिर भी उसके मायिक या परिकल्पित अस्तित्त्व को अस्वीकार नहीं किया गया। जैसा कि आचार्य पी.टी. राजू ने कहा है कि लंकावतार के अनुसार संसार न यथार्थ है, न भिन्न है और न अभिन्न है, फिर भी यह बिना सत्य के नहीं है। इसे माया अवश्य कहा गया है, किन्तु माया असत्य का वाचक नहीं है। माया इसलिए कहा गया है क्योंकि सत् न होने पर भी प्रतीत होता है।[३१] यहीं अद्वैत भाव रूप से अज्ञान के कारण प्रतीत संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य वस्तुएँ हैं ही नहीं। यही बात अद्वैत के अनुसार भी कही गई है। आरम्भणाधिकरण ब्रह्मसूत्र भाष्य-टीकाओं में अद्वैताचार्यों ने वाचरम्भण के दृष्टान्त से कार्य को कारणाभिन्न कहा है।[३२] लंकावतार के द्वितीय परिवर्त में भी बाह्य जगत् को वाक्कल्पित कहा गया है। अद्वैत के ही समान कहा गया है कि हे महामते, मृत्परमाणुओं से मृत्पिण्ड न भिन्न है, न अभिन्न है। सुवर्ण आभूषणों से न अन्य है, न अनन्य। यदि अन्य होता तो उनसे आरब्ध नहीं होता, अर्थात् यदि मृत्परमाणुओं से मृत्पिण्ड एकान्त भिन्न होता, तब परमाणुओं से उसे आरब्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एकान्त भिन्न एकान्त भिन्न वस्तु का कारण नहीं बन सकता। और यदि अभिन्न कहा जाय तो भी मृत्पिण्ड और परमाणुओं में कार्य-कारण विभाग नहीं बन सकता।[३३] अतः कार्य न कारण से अभिन्न है, न भिन्न है। अद्वैत के अनुसार भी कार्य जगत् न ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि अभिन्न होने पर कार्य की पृथक् प्रतीति नहीं होनी चाहिए, और न भिन्न ही है। ऐसा होने पर कारण-सत्ता से कार्य-सत्ता की भिन्नता सिद्ध होगी और द्वैतवाद की आपत्ति होगी। अद्वैतवाद के ही समान लंकावतार में भी त्रिविध सत्ताओं का वर्णन है: परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न।[३४] परिकल्पित के अनुसार अवस्तु में भी वस्तुत्व की कल्पना करना है, जैसे रज्जु में सर्प की कल्पना, एक चन्द्र में द्विचन्द्र की कल्पना। परतंत्र सापेक्षता को कहते हैं। सभी वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, विश्लेषण करने पर निःस्वभाव हो जाती हैं। परनिष्पन्न वस्तुओं का मूल सत्व है। वही विशुद्ध विज्ञान है।

ऊपर के विवरण से हम यह समझने में समर्थ हो सकते हैं कि किस प्रकार लंकावतार के विज्ञानवाद की बाह्य वस्तुविषयक धारणा अद्वैत के मिथ्यावाद से समानता रखती है। अन्तर इतना ही है कि अद्वैतवाद बाह्य वस्तुओं की अनिर्वचनीयता एवं उनकी प्रातीतिक बाह्यता की सिद्धि पर बल देता है, इसके विपरीत उक्त विज्ञानवाद बाह्यता या बाह्यवस्तुओं की विज्ञानातिरिक्तता के प्रत्याख्यान पर

बल देता है। यह बात नहीं कि इस विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य वस्तुएँ प्रातीतिक भी नहीं है। प्रतीति का अपलाप कोई भी नहीं कर सकता।

बौद्ध विज्ञानवाद का दूसरा रूप है स्वतंत्र विज्ञानवाद। इस विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्य दिङ्नाग हैं। आचार्य दिङ्नाग के विज्ञानवाद का अनुसरण आचार्य धर्मकीर्ति ने किया है। इनके बाद इस विज्ञानवाद का विकास आचार्य शान्तरक्षित एवं कमलशील ने किया है। यह वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रतावाद से अत्यन्त भिन्न विज्ञानवाद है। इसी विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में किया है, न कि वसुबन्धु के शाश्वत विज्ञानवाद का।[३५] "भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण" में आचार्य चन्द्रधर शर्मा ने इसी को स्वतंत्र विज्ञानवाद कहा है।[३६]

आचार्य दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्त्व नहीं है। जो कुछ भी घट-पटादिकों के रूप में दिखायी देते हैं, वे सब विज्ञान के ही आकार हैं। वस्तुत: विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में अवभासित हो रहा है। दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओं की कल्पना दो रूपों में की जा सकती है - अणुरूप में या संघात रूप में। अणु अविभाज्य एवं अमूर्त हैं। अणुओं का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, तब अणुओं के संघात के विषय में भी वही बात होगी, अर्थात् अणुओं के संघात का भी प्रत्यक्ष असंभव है। इस प्रकार बाह्य वस्तुएँ न अणुरूप हो सकती हैं और न ही अणुओं का संघात रूप। बाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष-गोचर होती हैं। अणु या संघात बाह्य वस्तुओं के कारण नहीं बन सकते।[३७] दिङ्नाग के अनुसार आन्तरिक प्रत्यय ही बाह्य वस्तुओं के रूप में भासित होते हैं। ये ही आन्तरिक प्रत्यय ग्राह्य-ग्राह्यकता के रूप में अवभासित होते हैं। वस्तुत: ग्राह्य और ग्राहक दोनों ही आन्तरिक हैं। बाह्यता अलीक है।

धर्मकीर्ति के अनुसार "सत् वह है जो प्रभावोत्पादन में समर्थ हो, जो वस्तु किसी कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ है वह असत् है, अत: 'अर्थक्रियाकारित्व-प्रभावोत्पादन सामर्थ्य" परमार्थ का लक्षण है। धर्मकीर्ति के अनुसार बाह्य वस्तुएँ असत् हैं, फिर भी अनादि वासना के कारण नानात्व एवं बाह्यत्व दिखायी देता है। परमार्थ-सत् ग्राह्य-ग्राहकत्व से परे है। पाण्डु रोगी रोग के कारण जिस प्रकार शंख को पीला देखता है उसी प्रकार अविद्या-ग्रस्त होने के कारण चित्त को हम परमसत् नहीं समझ पाते, न ही बाह्य वस्तुओं को ही असत् समझते हैं। आन्तरिक प्रत्ययों को ही बाह्य वस्तुएँ मान बैठते हैं। एकमात्र चित्त ही शुद्ध सत् है, वह स्वयंप्रकाश एवं स्वत: देदीप्यमान है।[३८]

शान्तरक्षित ने भी धर्मकीर्ति के समान अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य को ही परमार्थ कहा है। वह प्रभावोत्पादन में समर्थ है तथा क्षणिक है। संसार की सभी वस्तुएँ शान्तरक्षित के अनुसार क्षणिक हैं, क्योंकि वे विनाशी हैं। क्षणिक वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है उसका विनाश अवश्यम्भावी है।[३९] विनाश वस्तु में कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु वस्तु के साथ ही होता है।[४०] अविनश्वर और नित्य वस्तु असम्भव है। यह विवेक और तर्क के विपरीत है। यदि कोई वस्तु नित्य और शाश्वत है तो उसमें उत्पन्न होने वाली सभी कार्यों की एकसाथ उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि निमित्त कारण या प्रभावोत्पादक कारण विद्यमान होने के कारण विलम्ब का कोई हेतु नहीं है। इस प्रकार की कल्पना यथार्थ जीवन के विपरीत है। वस्तुएँ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। भ्रमवश उनके सादृश्य को हम एकरूपता मान बैठते हैं, और लगने लगता है कि वस्तुएँ नित्य हैं: वस्तुत: वस्तुएँ क्षणिक हैं। इस क्षणिक विज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हुए शातरक्षित ने कहा है कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यता नहीं है। ये सब क्षणिक विज्ञान के ही विलासमात्र हैं। इस क्षणिक विज्ञान का प्रकाशक अन्य नहीं है। यदि प्रकाश्य-प्रकाशक हैं भी तो भी वे विज्ञानमात्र हैं, इसीलिये विज्ञानवाद में ज्ञान और ज्ञेय को अभेद कहा है। दोनों में भेद नहीं है। इसको धर्मकीर्ति ने प्रमाण-विनिश्चय में सहोपलम्भ नियम कहा है।[४१] इस नियम के अनुसार वस्तु और वस्तु के ज्ञान में पार्थक्य नहीं है। प्रत्ययवाद का यह मूल और प्रधान तर्क है कि विज्ञान और विज्ञेय में

अन्तर नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्ययवादी का कहना है कि कोई भी वस्तु ज्ञान के बिना उपलब्धि का विषय कैसे बन सकती ? ज्ञान के बिना वस्तु को जानना वदतोव्याघात है। ज्ञान के बिना वस्तु की सिद्धि करना असम्भव है। जहाँ भी वस्तु की सिद्धि की जायगी, ज्ञान वहीं पर होगा। ज्ञान और ज्ञेय में एक प्रकार यह व्याप्ति है, किन्तु प्रत्ययवादी का कहना है कि ज्ञान विषय-निरपेक्ष हो सकता है, विषय ज्ञान निरपेक्ष नहीं हो सकता। बर्कले ने भी इस तर्क से बाह्य वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार ''सत्ता सर्वदा अनुभवमूलक होती है'',[४२] जहाँ अनुभव नहीं, सत्ता नहीं। इसी प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध का भी यही कथन है कि ज्ञान के बिना ज्ञेय के अस्तित्त्व की सिद्धि कैसे सम्भव है ? जहाँ पर भी घट को जाना गया, वह ज्ञात पाया गया। धर्मकीर्ति का सहोपलम्भ नियम भी यही बतलाता है कि विषय नील और उसकी धी अर्थात् ज्ञान दोनों अभिन्न हैं - नील वस्तु और नील ज्ञान दोनों अभिन्न पदार्थ हैं। जिसे ज्ञान का विषय कहा जाता है वह भी ज्ञान का ही आकार विशेष है। नीलाकार विज्ञान-विशेष ही नील वस्तु है। घटाकार विज्ञान-विशेष ही घट है। ज्ञानातिरिक्त विषय की पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञानातिरिक्त विषय असत् है। विज्ञानवादी ज्ञान और वस्तु में अभेद-सिद्धि करने के लिए ''सहोपलम्भनियमात्'' इस प्रकार ''सहोपलम्भ'' का हेतु रूप से उपन्यास करते हैं। और इसी हेतुबल से अनुमान करके ज्ञान-ज्ञेय में, नील और नील-ज्ञान में अभेद सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। ज्ञान और ज्ञेय के इस सिद्धान्त को जानने के लिए उक्त अनुमान के हेतु ''सहोपलम्भनियमात्'' को जानना आवश्यक है। यहाँ पर ''सह'' और ''नियम'' दो विशेष शब्द हैं। ज्ञान के साथ ज्ञेय नीलादि की उपलब्धि होती है। ज्ञान के बिना ज्ञेय विषय की उपलब्धि नहीं हो सकती। यही उक्त सह शब्द का अर्थ है। किन्तु सह शब्द के इस प्रकार अर्थ करने पर ज्ञान और ज्ञेय में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। ''किसी के होने पर किसी का होना'' इससे दो पदार्थों की सिद्धि होती है, न कि अभेद की। सह शब्द का स्वार्थ है, साहित्य। साहित्य या सहभाव दो भिन्न पदार्थों में ही सम्भव है। अभेद में सहभाव कैसा ? इसी कारण भदन्त शुभगुप्त ने कहा है ''विरुद्धोऽयं हेतु:'' यह सहोपलम्भ नियम हेतु विरुद्ध हेतु है।[४३] ज्ञान और ज्ञेय का पूर्ण रूप से अभेद होने पर सहभाव सम्भव नहीं, अत: उक्त हेतु ज्ञान-ज्ञेय में अभेद का साधक न होकर भेद का ही साधक हुआ। इसीलिए विपरीत हेतु होने के कारण विरुद्ध हेतु हुआ। विरुद्ध हेतु का अर्थ हुआ हेत्वाभास। हेत्वाभास अनुमान से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त हेत्वाभास दोष से मुक्त होने के लिए शान्तरक्षित ने ''तत्त्वसंग्रह'' में सह शब्द का प्रयोग न करके प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय के अभेद-सिद्धान्त की स्थापना की है। शान्तरशित का कहना है कि नील-ज्ञान और नील वस्तु-ज्ञान दोनों एक हैं।[४४] एक या अभिन्नोपलब्धि ही सहोपलम्भ है। सर्वत्र ज्ञानाकार ही विषयाकार है, अत: ज्ञान की उपलब्धि ही विषय की उपलब्धि है, अत: ज्ञान और ज्ञेय में भेद नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय एक हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा एक होने पर भी नेत्र रोगी द्विचन्द्र दर्शन किया करते हैं। वस्तुत: चन्द्रमा दो नहीं हैं, उसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय एक हैं, फिर भी अज्ञानवश लोग दो समझ बैठते हैं।[४५] शान्तरक्षित ने एकोपलब्धि को सहोपलम्भ कहा है। इनके अनुसार ''सह'' शब्द का अर्थ एक है, न कि साहित्य। तत्त्वसंग्रह पंजिका में किसी विज्ञानवादी आचार्य के अनुसार ''सह'' शब्द का अर्थ ''एक काल'' किया है। इनके अनुसार कालभेद वस्तुभेद का व्याप्य है। ''कालभेदस्य वस्तुभेदेन व्याप्यत्वात्''[४६] अर्थात् कालभेद होने पर वस्तु में भी भेद अवश्य होगा। ज्ञान और ज्ञेय की उपलब्धि एक काल में है, अत: दोनों एक हैं। इस प्रकार स्वतंत्र विज्ञानवादानुसार ज्ञान की उपलब्धि ही ज्ञेय सत्ता को सिद्ध करती है, अत: ज्ञान-व्यतिरिक्त ज्ञेय की पृथक् सत्ता नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी दृक्-व्यतिरेक दृश्य की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि अध्यस्त कभी भी अधिष्ठानातिरिक्त नहीं होता बल्कि अधिष्ठान-सापेक्ष होता है। उक्त सहोपलम्भ नियम का और उससे साधित बाह्य सत्तारहित विज्ञानवाद का अद्वैताचार्यों ने जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान

किया है। अद्वैत आचार्यों का कहना है कि नील और नीलज्ञान अभेद अथवा एक साधक हेतु हेत्वाभासमात्र है, क्योंकि घट और घटदर्शन का भेद संसार में प्रसिद्ध है। ज्ञान-ज्ञेय-प्रभेद-सिद्धान्त अथवा ज्ञान-ज्ञेय-अभेद सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है। प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण है, अत: प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा बाधित होने के कारण हेत्वाभास है। अत: इसप्रकार के हेतु से विज्ञानवादी विज्ञान और विज्ञेय में एकत्व या अभेदत्व-साधन नहीं कर सकते। आचार्य शंकर ने ''नाभाव उपलब्धे:'' (२।२।२८) ब्रह्मसूत्र के इस सूत्रभाष्य में विज्ञानवाद के उक्त सहोपलम्भ नियम का जोरदार खंडन किया है। बहिर्विश्व को विज्ञानातिरिक्त न मानने के सिद्धान्त के खंडन में शंकर ने उपलब्धि का प्रश्न उठाया है, अर्थात् बहिर्विश्व-घट-पटादि, कैसे नहीं है ? हमारे सामने जो स्मम्भ या घट दिखायी दे रहे हैं उन्हें ''नहीं है'', ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि उनकी उपलब्धि हो रही है। उपलभ्यमान वस्तु के अस्तित्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता।[८७] वाचस्पति मिश्र का कहना है कि घटादि बाह्य वस्तु की उपलब्धि इतनी स्पष्ट है कि उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। मात्र स्पष्ट अनुभव ही नहीं, ''यह घट है,'' ''यह पट है'' इत्यादि सार्वजनिक अनुभव हुआ करता है, अर्थात् एक व्यक्ति के लिए जो घट प्रत्यक्षसिद्ध बाह्य वस्तु है, वह सभी के लिए प्रत्यक्षसिद्ध घट है, अत: उनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।[८८] एक बात और है कि जो भी बाह्य विषय की उपलब्धि करता है, वह उपलब्धि की ही उपलब्धि नहीं करता, अपितु बाह्य विषय की उपलब्धि विषयतया करता है। अत: बाह्यार्थ का अभाव नहीं है।

अद्वैत वेदान्ती बाह्य वस्तुओं को विज्ञानातिरिक्त व्यावहारिक बाह्य वस्तु स्वीकार करते हैं, इसी कारण विज्ञानवाद के ऊपर उनका आक्षेप है कि वे बाह्य वस्तु को स्वीकार किये बिना ठहर नहीं सकते, क्योंकि बाह्यता का खंडन करने के लिए भी उसे स्वीकार करना होगा।

आचार्य दिङ्नाग ने आलम्बन-परीक्षा में विज्ञानवाद की स्थापना करते हुए कहा है कि ''यदन्तर्ज्ञेय रूपं तु बहिर्वदवभासते''[८९] अर्थात् जो आन्तर विज्ञान है वही बहिर्विश्व में ज्ञेय रूप से भासता है। ज्ञान के समान ज्ञेयवस्तु भी आन्तर है, बाह्य नहीं। बाह्यता अलीक है, अलीक बाह्यता ही मन में भासती है और उस बाह्यता को हम सत्य समझ बैठते हैं। आचार्य दिङ्नाग की इस उक्ति को उद्धृत करते हुए अद्वैताचार्यों ने इसका प्रत्याख्यान किया है। आचार्य शंकर का कहना है कि यदि बहिर्विश्व विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तब तो घटादि भी अलीक वस्तु हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बर्हिवस्तुएँ अलीक हैं। यदि ऐसी बात है कि बाह्य वस्तुएँ अलीक हैं तब उस अलीक वस्तु का उपमान कैसे सम्भव है ? विज्ञानवादी जो कहते हैं ''बहिर्वत्'' यहाँ बर्हिवस्तु के अभाव में ''बर्हिवत्'' ''बाह्य वस्तु के समान'' यह शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? अर्थात् यदि बाह्य वस्तुएँ हैं ही नहीं तब उन्हें उपमान रूप में कैसे लिया जा सकता है ?[९०] बहिर्वस्तु यदि आकाश-कुसुम के समान अलीक है, तब तो ''बहिर्वत्'' करके उपमान नहीं दिया जा सकता, आकाश-कुसुम के समान देखा जा रहा है, ऐसा कथन नहीं होता। ''विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र के समान है'' ऐसा कथन कोई भी नहीं करता।[९१] विज्ञानवादी बहिर्विश्व के अस्तित्त्व को नहीं स्वीकार करते, फिर भी ''बहिर्वत्'' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार वे विरुद्धोक्ति करते हैं। ज्ञेय विषय से ही ज्ञान में विशेषता आती है। यदि ज्ञेय विषय के स्वतंत्र अस्तित्त्व को स्वीकार न किया जाय तब ज्ञान में विशेषता कहाँ से आयेगी ? घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदि सभी में ज्ञान है। ऐसी अवस्था में घट-पटादि को अलीक कह दिया जाय, तब तो ज्ञान ही मात्र रह जायगा जिसमें घट पटादि विशेषताएँ होंगी नहीं। इस पर यदि वासना-वैचित्र्य के कारण ज्ञान में वैचित्र्य माना जाय तो भी समाधान नहीं हो पाता, क्योंकि वासना-वैचित्र्य भी तो ज्ञेय वैचित्र्य पर निर्भर करेगा। बिना ज्ञेय वैचित्र्य के वासना में विचित्रता सम्भव नहीं। विज्ञानातिरिक्त बाह्य सत्ता के अभाव होने पर सर्वत्र ज्ञान का ही

ज्ञान होगा, किन्तु व्यवहार में 'मैंने ज्ञान को जाना है' ऐसा बोध न होकर 'मैंने घट को जाना है' ऐसा होता है। यदि काल्पनिक बाह्य वस्तु को माना जाय तब उसे मिथ्या रूप में स्वीकार करना ही होगा।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में (२।२।२९) जाग्रत और स्वप्न के वैधर्म्य भी बतलायें हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य वस्तुएँ स्वप्न की वस्तुओं के समान निःस्वभाव हैं, किन्तु आचार्य शंकर यहाँ पर बाह्य वस्तुओं को स्वप्नतुल्य कहने के भी विरुद्ध हैं। उनका कहना है, जाग्रत और स्वप्न में महदन्तर है। प्रथम वैधर्म्य तो बाद्य-अबाध हैं, अर्थात् स्वप्नदृष्ट वस्तुएँ जाग्रत में बाधित हो जाती हैं। स्वाप्नदृष्ट महाजन-समागम जागने पर नहीं रहता। स्वप्न में सिंह देखकर भीत हुआ व्यक्ति जागने पर नहीं रहता। इस प्रकार स्वाप्निक वस्तुएँ जाग्रत में बाधित हो जाती हैं, अतः जाग्रत से स्वाप्निक वस्तुएँ कम सत्ता वाली हैं।[52] जाग्रत वस्तुएँ अनुभूत वस्तुएँ होती हैं जबकि स्वप्न की वस्तुएँ स्मृति में निहित होती हैं। स्वप्न व्यक्तिगत होता है। जाग्रत सार्वजनिक है, अर्थात् स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ उसी स्वप्नद्रष्टा को ही दिखाई देती हैं, पास में सोये हुए को नहीं दिखाई देतीं, जबकि जाग्रत की वस्तुएँ सभी को समान रूप से दिखायी देती हैं। इस प्रकार शंकर ने जाग्रत्-स्वप्न में वैधर्म्य दिखाकर बाह्य वस्तुएँ स्वप्नवत् नहीं हैं, सिद्ध किया है।

हमने ऊपर के विवरणों में देखा है कि किस प्रकार आचार्य शंकर और उनके अनुयायी बौद्ध विज्ञानवाद के खंडन के प्रसंग में वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। इससे कुछ स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैतवादी प्रत्ययवादी होते हुए भी बाह्य वस्तुओं की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते, यह दूसरी बात है कि वे बाह्य वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करते हैं। सहोपलम्भ नियम के प्रत्याख्यान से - तथा जाग्रत्-स्वप्न-वैधर्म्य के कथन से अद्वैतवादी की बाह्य विषयक धारणाएँ और भी स्पष्ट हो जाती है। बाह्य वस्तुओं का अद्वैत अपलाप नहीं करता। वाचस्पति मिश्र ने विज्ञानवाद के ज्ञेय-निरपेक्ष विज्ञान के विषय में कहते हुए अद्वैत की बाह्य वस्तु-विषयक धारणा को और स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा कि ''ब्रह्मवादी नीलादि की आकार वाली वित्ति को नहीं मानता किन्तु नील से अनिर्वचनीय को मानता है।''[53] इसी कारण महायानिक मत में उसका अनुप्रवेश नहीं होता। कल्पतरुकार ने भी भामती का समर्थन करते हुए कहा है कि बौद्ध विज्ञानवादी नीलादि आकार को विज्ञानाकार मानते हैं न कि वेदान्ती।[54] न्यायमकरन्दकार आनन्द भट्टारक ने भी अद्वैत मत को विज्ञानवाद से भिन्न प्रकार का बतलाने के लिए कहा है कि हम प्रपंच को आकाशकमल नहीं कहते। यदि प्रातीतिक प्रपंच को स्वीकार न करते तब तो विज्ञानवाद में ही अनुप्रवेश हो जाता।[55]

इस प्रकार हमने देखा कि अद्वैत वेदान्ती जगत् की अनिर्वचनीयता की रक्षा के लिए व्याकुल हैं, जबकि बौद्धविज्ञानवादी जगत् की वस्तुओं के आकारों को भी विज्ञानाकार बतलाते हैं। अद्वैतवेदान्त में दृष्टि-सृष्टिवाद नामक एक सिद्धान्त है जिसकी तुलना विज्ञानवाद से की जा सकती है। प्रो. दासगुप्ता के अनुसार अद्वैत में दृष्टि-सृष्टिवादी आचार्य मण्डनमिश्र और बाद में उनके अनुयायी प्रकाशानन्द हैं। इस मत के अनुसार भी दृष्टि-समकालीन-सृष्टि मानी गई है। ज्ञान में प्रतिभास होता है इसलिये विषय है, ज्ञानप्रातिभासक न होने पर विषय भी नहीं है। समस्त वस्तुएँ इस मत के अनुसार साक्षी-भास्य हैं। यदि द्रष्टा जीव न हो तो जगत्दर्शन भी नहीं रहेगा, क्योंकि द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं है, दृश्य द्रष्टा के अधीन है। मण्डनमिश्र के अनुसार यदि बाह्य वस्तुएँ सिद्ध होती तो उन्हें ज्ञान-निरपेक्ष कह सकते; किन्तु दृष्टि के बिना दृश्य असिद्ध है।[56]

मण्डन मिश्र के उक्त सिद्धान्त का अनुसरण प्रकाशानन्द ने किया है और दृष्टि-निरपेक्ष सत्ता का उन्होंने भी प्रत्याख्यान किया है।[57] प्रकाशानन्द के अनुसार बौद्ध विज्ञानवाद के समान ही ज्ञान और ज्ञेय साथ में पाये जाने के कारण सब कुछ ज्ञान का ही प्रतिभास है।[58] किन्तु अद्वैतवेदान्त के विवरण

सम्प्रदाय के आचार्य पद्मपाद और प्रकाशात्मयति इस दृष्टि-सृष्टि के विरोधी हैं। उनके अनुसार ज्ञानव्यतिरिक्त भी बाह्य वस्तुओं का व्यावहारिक अस्तित्त्व है।[५९] अद्वैतसिद्धिकार ने उक्त दृष्टिसृष्टि का अर्थ ही व्यावहारिक सत्तापरक किया है। उनके अनुसार दृष्टिसृष्टि का अर्थ "दृष्टिरेव सृष्टि" नहीं है, क्योंकि दृष्टि ही सृष्टि मानने पर बौद्ध विज्ञानवाद में अनुप्रवेश होगा। न ही उन्होंने दृष्टि-व्यतिरिक्त सृष्ट्यभाव को ही "दृष्टिसृष्टि" माना है। "दृष्टि-समकालीन सृष्टि" इस पक्ष का भी प्रत्याख्यान करके उन्होंने "ज्ञातैकसत्व" अथवा "अज्ञातसत्वाभाव" को ही "दृष्टिसृष्टि" कहा है।[६०] घट-पटादि वस्तुएँ जब भी हैं ज्ञानपूर्वक हैं, अर्थात् उनकी सत्ता ज्ञात होती है। कोई भी वस्तु अज्ञातसत्व नहीं होती। इस प्रकार अद्वैतसिद्धिकार ने बाह्य वस्तुओं को ज्ञान-भिन्न माना है। साथ में वे वस्तुएँ ज्ञात-सत्व होने के कारण दृगध्यस्त भी हैं। दृष्टिसृष्टि के अद्वैतसिद्धिकार द्वारा प्रदर्शित अर्थ से वस्तुएँ ज्ञानातिरिक्त होते हुए भी ज्ञानाध्यस्त सिद्ध होती हैं। इस प्रकार अद्वैत का अनिर्वचनीय वस्तुवाद शान्तरक्षित और धर्मकीर्ति के क्षणिक विज्ञानवाद से भिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि इनके अनुसार "ज्ञातैकसत्व" होना ज्ञान ही हो जाना नहीं है। घट ज्ञात है, किन्तु ज्ञान से भिन्न सत्व वाला है। वह सत्व न सत् है न असत् है, किन्तु सदसदनिर्वचनीय है। उक्त स्वतंत्र विज्ञानवाद से अद्वैत मत का अन्तर यह है कि अद्वैत मत में स्थिर अधिष्ठान में अध्यस्त मिथ्या जगत् को माना जाता है, जबकि विज्ञानवाद में क्षणिक विज्ञान ही सत् है।[६१]

स्वतंत्र विज्ञानवाद में बाह्य वस्तु-विषयक धारणा क्या है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि हमने पहले दर्शाया है कि वसुबन्धु का विज्ञानवाद शाश्वत विज्ञानवाद है, जबकि धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित की ओर से ऐसा कोई आग्रह नहीं। सहोपलम्भ नियम से उक्त विज्ञानवाद ने सिद्ध किया है कि विज्ञानातिरिक्त वस्तुएँ हैं नहीं, जबकि अद्वैत में वस्तु की सिद्धि के लिए बहुत प्रयास देखा जाता है। "अन्तर्ज्ञेरूपं बहिर्वत्" के प्रत्याख्यान में हमने देखा है कि किस प्रकार शंकर और उनके अनुयायी बाह्य वस्तुओं को विज्ञानरूपता से भिन्न सिद्ध करने को तत्पर हैं। इसी प्रकार जाग्रत-स्वप्न-वैधर्म्य विचार में भी अद्वैताचार्य दोनों में अन्तर दिखाते हैं। तात्पर्य यही निकलता है कि स्वप्न प्रातिभासिक है। स्वाप्निक वस्तुएँ भी प्रातिभासिक हैं, किन्तु जाग्रत् के घटादि पदार्थ उससे भिन्न व्यावहारिक हैं। घटादि पदार्थ सार्वजनिक होने के कारण व्यावहारिक हैं। साथ में घटादिकों का बाध ब्रह्म के ज्ञान से पूर्व नहीं होता, अत: घटादि वस्तुएँ प्रातिभासिक स्वप्न या रज्जुसर्प के समान मिथ्या न होकर अन्य प्रकारत: मिथ्या हैं, अर्थात् व्यवहार विषय होते हुए भी त्रिकालाबाध्य न होने के कारण मिथ्या हैं। स्वप्नादि के दृष्टान्त अद्वैत में भी दिये गये हैं, किन्तु व्यवहार में दोनों में सत्ता-भेद को स्वीकार करते हुए ही ऐसे दृष्टान्त दिये गये हैं।[६२]

***

संदर्भ सूची

१. *महायान सूत्रालंकार - पृ. ६३ । असंग । सम्पा., एस.लेवी, पेरिस १९०७ ।*
२. *विंशतिका - पृ. १ । वसुबन्धु, चौखम्बा, १९६७ ।*
३. *विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादि दर्शनम् ॥ विंशतिका । कारिका १ - पृ. १ । वसुबन्धु, चौखम्बा, १९६७ ।*
४. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, भामती - पृ. १८, निर्णय सागर १९३८ ।*
५. *अद्वैतसिद्धि - पृ. ३३२ तथा ३३३ । निर्णयसागर १९१७ ।*
६. *आत्मधर्मोपचारो हि द्विविधो य: प्रवर्तते । विज्ञान परिणामेऽसौ । त्रिंशिका का. १ - पृ. २८, चौखम्बा १९६७ ।*
७. *Indian Idealism - P. 113 Dasgupta (1962).*
८. *विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि - पृ. २८, स्थिरमति भाष्य, चौखम्बा १९६७ ।*

९. यच्च यत्र नास्ति तत्त्त्रोपचर्यते। तद्यथावाहीके गौ:।
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि - स्थिरमति। भाष्य - का. १-पृ. ९। चौखम्बा १९९७.
१०. सर्वबीजं हि विज्ञानम्।
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि - त्रिंशिका १८-पृ. १८१। चौखम्बा १९६७
११. The Agam Shastra of Gaudapada, Introduction, PCXLII. V. Bhattacharya, Calcutta Univ., 1943.
११. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि - का. ३०, अचिन्त्य: कुशलोध्रुव:। चौखम्बा १९६७।
१२. ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षयतया ...... अयं च नित्य इति। चौखम्बा १९६७।
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि - स्थिरमति भाष्य, का. पृ. १०१।
१३. "Vasubandhu uses the word 'Dhruva' here in the sense of the absolutely permanent. - A Critical Survey of Indian Philosophy- P. 122, C.D., Sharma, London 1960.
१४. येन येन विकल्पेन यद्यद्वस्तु विकल्प्यते
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते। त्रिंशिका-का. २०। चौखम्बा १९६७।
१५. त्रिंशिका भाष्य - का. २०-प्र. ८९, चौखम्बा १९६७।
१६. परतन्त्र स्वभावस्तु विकल्प: प्रत्ययोद्भव:। त्रिंशिका, २१, का. चौखम्बा १९६७।
१७. निष्पन्नस्तस्य पूर्वेणरहितता तु या। त्रिंशिका, का. २१, चौखम्बा १९६७।
१८. त्रिविधं सत्वं-परमार्थ सत्वं ब्रह्मण: अर्थक्रियासामर्थ्यसत्वंमायोपाधिक-माकाशादे: अविद्योपाधिकसत्वं रजतादे:।
पंचपादिका विवरण - पृ. १६५, मद्रास १९५८।
१९. त्रिंशिका - का. २५ ए।
२०. महायानसूत्रालंकार - ११/३९, ४०, ४१, बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ. २५० से उद्धृत, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा १९५४।
२१. Sharma C.D. A Critical Survey of Indian philosophy. p. 122, Allen & Univin, 1960.
२२. Ibid.
२३. Ibid, 110.
२४. लंकावतार - १८६ तथा १५८। सम्पा. - बी. नानजिओ, लन्दन, १९२३।
२५. स्वप्नोऽथवा मायानगरं गन्धर्व शब्दितम्। लंकावतार पृ. ९, लन्दन, १९२३।
२६. लंकावतार, का. ४३, पृ. ९। लन्दन १९२३।
२७. वही, का. १४४, द्वितीय परिवर्त।
२८. वही, का. १६६, पृ. १०५।
२९. बुध्या विवच्यमानानां स्वभावोनावधार्यते।
तस्मादनभिलाप्यास्ते नि:स्वभावाश्चदेशिता:। लंकावतार सूत्र, लन्दन १९२३, पृ. ११६ २। १७५।
३०. लंकावतार, पृ. ३०, लन्दन १९२३।
३१. The Idealistic Thought of India, p. 264।
३२. विमतमधिष्ठानातिरिक्तसत्वशून्य सावधित्वात्। न्यायनिर्णय, पृ. ३७४, भामती भी द्रष्टव्य, पृ. ३७४। निर्णयसागर १९३८।
३३. लंकावतार, द्वितीय परिवर्त, पृ. ३४।
३४. The Idealistic Thought of India - P. २६४ P.T. Raju, १९५३।
३५. A Critical Survey of Indian Philosophy - P. 323.
३६. Ibid. - P. 124.
३७. आलम्बन परीक्षा, का. १। एवं आलम्बन परीक्षावृत्ति, पृ. ३ तथा ४। १९४, अय्य-स्वामी सम्पादित, १९४२।
३८. प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवोमला:। प्रमाणवार्त्तिक २-२०८।
धर्मकीर्ति, सम्पा. राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद १९४३।
३९. तत्त्व संग्रह, कारिका ३७५। वाराणसी १९६८।

४०. वही - पृ. ३७६ ।

४१. सहोपलम्भ नियमादऽभेदो नीलतद्धियो:
भामती में उद्धृत पृ. ५४४

४२. EsseEst Percipi.

४३. कमलशील । तत्त्वसंग्रह पंजिका, ६९२, बौद्धभारती वाराणसी, १९६८ ।

४४. यत्संवेदनमेवस्याद्यस्य संवेदनध्रुवम् तस्मादव्यतिरिक्तं तत् ततोवा न विभिद्यते ।
तत्त्वसंग्रह, पृष्ठ ६९१ । वाराणसी १९६८ ।

४५. आलम्बन-परीक्षा, का. २, पृ. १ अय्यस्वामी संपादित, १९४२ ।

४६. तत्त्व संग्रह पंजिका, पृ. ६९३, वाराणसी, १९६८ ।

४७. न खल्वभावो बाह्यस्वार्थस्याध्यवसातुं शक्यते । कस्मात्, उपलब्धे: ।
ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृष्ठ ५४७ । निर्णयसागर, १९३८.

४८. नहि स्फुटतरे, सर्वजनीन न उपलम्भे सति तदभाव: न शक्यो वक्तुम् ।
भामती - पृ. ५४७ । निर्णयसागर १९३८

४९. आलम्बन-परीक्षा-पृ. २, कारिका ६ । अय्यस्वामी सं. १९४२.

५०. प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यार्थं बहिर्वदितिवत्कारं कुर्वन्ति ।
ब्रह्मसूत्रभाष्य, पृ. ५४८ । निर्णयसागर १९३८ ।

५१. नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासत इति क्वचिदाचक्षीत ।
ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृ. ५४८ । निर्णयसागर १९३८ ।

५२. ब्रह्मसूत्रभाष्य - पृ. ५५५, निर्णयसागर १९३८.

५३. नहि ब्रह्मवादिनो नीलाकारां वित्तिमभ्युपगच्छन्ति । किन्त्वनिर्वचनीय नीलादिति । भामती - पृ. ५४१ । निर्णयसागर १९३८ ।

५४. बौद्धाहि वित्तेर्विज्ञानस्यान्तरं नीलादिरूपमाचक्षते न वयमिति ।
कल्पतरु - पृ. ५४१ । निर्णयसागर १९३८.

५५. न्यायमकरन्द - पृ. ६१ । मैसूर १९५५.

५६. *Indian Idealism - P. 170. S.Dasgupta, Cambridge, 1962.*

५७. *The World is appearance and all objects contained in it have no existence while they are not perceived, - Ibid. P. 172.*

५८. *Indian Idealism - P. 173, S.Dasgupta, Cambridge, 1962.*

५९. वही - पृ. १७८ ।

६०. अद्वैतसिद्धि - पृ. ५३३ । निर्णयसागर १९१७.

६१. संक्षेप शारीरिक - २/२८, पृ. २०, सर्वज्ञात्ममुनि, काशी, सं. १९४४ ।

६२. *Indian Idealism - P. 180, Dasgupta, Cambridge 1962.*

जगन्मिथ्यात्ववाद और शून्यवाद

नागार्जुन माध्यमिक कारिका में शून्यवाद की स्थापना करते हैं। उनके अनुसार बाह्य वस्तुएँ बोध्य होने के कारण अवास्तव हैं। बाह्य वस्तुओं के स्वभाव में विरोध है। इस कारण उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्य सर्वदा एक रूप होता है। यह प्रपंच चाहे आन्तर हो चाहे बाह्य, प्रातीतिक है। यहाँ पर विज्ञान और विज्ञेय दोनों अवास्तव हैं। ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों के रूप में वस्तुएँ सिद्ध नहीं हो सकतीं। सम्बन्धों की जटिलता को ही लोग संसार कहते हैं, परन्तु विश्लेषण करने पर सम्बन्ध दुर्बोध्य है। नागार्जुन ने चेतन-अचेतन सभी को अवास्तव कहा है। जिस प्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या हैं उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या है।[१] आचार्य नागार्जुन ने संसार की सभी वस्तुओं को अवास्तव कहा है, क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ है, कारण पर निर्भरशीलता। कोई भी कार्य अपने कारण से व्यतिरिक्त उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण नाना हैं। इसका अर्थ हुआ, नाना कारणों पर निर्भरशीलता ही कार्य है। कार्य यथार्थ नहीं हैं। यदि वे यथार्थ हैं तब उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता है ? यदि अयथार्थ हैं, तब कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? नागार्जुन के अनुसार, जो भी सापेक्ष हैं, प्रातीतिक हैं। संसार की वस्तुएँ सापेक्ष हैं, इसलिए अवास्तव हैं।[२] कार्य से अन्य रूप से कारण की, और कारण से अन्य रूप से कार्य की उपलब्धि नहीं होती। यदि अतिरिक्त रूप से कारण-कार्य की उपलब्धि हो तब तो उनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध ही नहीं होगा, क्योंकि कार्य-कारण का सम्बन्ध अनिवार्य माना गया है। विग्रहव्यावर्तनी में नागार्जुन कहते हैं कि सभी धर्म तत्त्वरहित हैं, निःस्वभाव हैं, क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पन्न है।[३] इसी प्रकार आत्मा और स्कन्धों की सत्ता का भी प्रत्याख्यान किया है। इनके अनुसार जो परमार्थ है वह उत्पत्ति और विनाश का विषय नहीं बनता। वस्तुएँ भी वस्तुतः न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होती हैं।[४] उत्पत्ति-विनाश प्रातीतिक होते हैं। वस्तुएँ न भावरूप हैं न अभावरूप है, न वस्तु का लक्षण सम्भव है, न वस्तु लक्ष्य ही बन सकती है।[५] लक्ष्य-लक्षण-भाव, कार्य-कारण-भाव आदि बातें काल्पनिक हैं। माध्यमिक के अनुसार वस्तु न सत् है, न असत् है और न सदसत् है, न उभय भिन्न है। इस प्रकार वस्तु "चतुष्कोटिविनिर्मुक्त" है। जिस वस्तु का कथन उक्त किसी भी पक्षावलम्बनपूर्वक सम्भव नहीं उस वस्तु की उपलब्धि के विषय में किसी प्रकार का कथन सम्भव नहीं, अर्थात् वस्तु का कथन किसी भी पक्ष से सम्भव नहीं है।[६] भाव पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः, और न दोनों से, न बिना हेतु के ही होते हैं। इस प्रकार भाव पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते।[७] जिनकी उक्त प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं उनकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं, क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। यदि उत्पन्न उक्त विरोध के कारण सम्भव नहीं तब विनाश या निरोध भी सम्भव नहीं।[८]

नागार्जुन वस्तुओं को ही शून्य नहीं कहते अपितु तत्त्व को भी शून्य कहते हैं। तत्त्व को शून्य कहने का तात्पर्य है स्वभावशून्यता। तत्त्व में किसी प्रकार के स्वभाव नहीं हैं, इस कारण शून्य है। चन्द्रकीर्ति ने शून्यता की व्याख्या निःस्वभावता से ही की है।[९] धर्म-शून्यता या स्वभावशून्यता तो अद्वैतब्रह्म में भी है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार ब्रह्म में सत्यत्वादि गुण भी नहीं रहते। वह निधर्मक है।

अद्वैत में भी कार्य को कारण-व्यतिरिक्त कहा है। पारमार्थिक दृष्टि से कार्य जगत् कारणानन्य है और व्यावहारिक दृष्टि से कारणभिन्नत्वेन प्रतीत होने के कारण कार्य जगत् मिथ्या है। शून्यवाद के अनुसार कारणाधीन कार्य है, अत: कार्य सत्ता-भिन्न नहीं। जब कारणाधीन कार्य सत्ता है, तब कार्य की अपनी सत्ता नहीं है, अत: वह मिथ्या है, "स्वसत्ताराहित्य" ही मिथ्या है। शून्यवादी कार्यकारणात्मक जगत् का सत्व नहीं मानते। कहीं-कहीं पर कार्य जगत् के लिए शशश्रृंग, स्वप्न-सदृश कहा गया है, कहीं पर मरूमरीचिका कहा है। कहीं पर उदक-प्रतिबिम्ब के उदाहरण से मिथ्यात्व समझाया गया है।[१०] शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में मायोपम कहा गया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी मायोपम हैं।[११] इसी प्रकार उक्त रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के लिए प्रतिभास शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक वस्तुओं को जब शून्य कहते हैं तब उनका तात्पर्य स्वभावशून्यता से है, न कि वस्तुओं के अभाव से। इसी कारण वस्तुओं के विषय में निजस्वभाव और परस्वभाव का खंडन किया गया है। वस्तुत: वस्तुओं के अभाव का कथन सम्भव ही नहीं है। न्याय की भाषा में अभाव प्रतियोगी सापेक्ष होता है। यदि वस्तुओं के पूर्ण अभाव का कथन हो तब तो प्रतियोगित्वेन अन्यत्र वस्तुएँ सिद्ध हो जायेगी। नागार्जुन सापेक्षता के कारण वस्तुओं की सत्ता का खंडन करते हैं। अद्वैत वेदान्त में भी कार्य-जगत् अधिष्ठान-सापेक्षतया सत्स्वभाव शून्य है। अद्वैतवादी कहते हैं कि "घट" सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान-बाध्य है, अर्थात् अधिष्ठान ज्ञान से आरोपित वस्तु के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। घटाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य को जान लेने पर अद्वैत के अनुसार "घट" बाधित हो जायेगा। तब वह सत नहीं रहेगा, क्योंकि जो बाध्य है वह परमसत् नहीं है, व्यावहारिक सत् भले ही हो। शून्यवाद में सापेक्षता द्वारा वस्तुओं को मायोपम कहना अद्वैत के मिथ्यात्व से साम्य रखता है। अद्वैत में मिथ्यात्वानुमान में 'परिच्छिन्न' हेतु दिया है। सभी वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं, अत: मिथ्या हैं। वस्तुएँ देशगत और कालगत हैं। कोई भी वस्तु देश और काल से परे नहीं है। देश-काल से वस्तुएँ सीमित हैं। घट न उत्पत्ति के पूर्व था, न विनाश के बाद रहेगा, अत: मिथ्या है। इसी प्रकार घट किसी देश में होता है और घट घट ही में व्याप्त है, पट में नहीं है, अत: मिथ्या है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुएँ इसी अर्थ में सापेक्ष हैं। सापेक्ष वस्तु परमसत् नहीं हो सकती। परमसत् निरपेक्ष होगा। यद्यपि नागार्जुन ने वस्तुओं के लिए शशविषाण, गन्धर्वनगरादि उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और वस्तुओं को असत् कहा है, फिर भी व्यवहार का वे अपलाप नहीं करते। अद्वैत के ही समान वे जागतिक वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने (जिनमें अद्वैतवादी भी हैं) शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप में लिया है। न्यायदर्शन में माध्यमिक के शून्यवाद को "सर्वाभाववाद"[१३] कहा गया है, क्योंकि शून्यवादी सभी वस्तुओं को असत् कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी शून्यवाद को अभाववादपरक ही कहा है। उनका भी कहना है कि इस मतानुसार अश्वात्मना गौ नहीं है और गवात्मना अश्व नहीं है। इतरेतराभाव सिद्ध होने के कारण सर्वत्र सर्व का अभाव है[१४] आचार्य शंकर ने भी भाष्यों में "शून्य" को अभाव के रूप में ही लिया है : "सदभावमात्रं तत्त्व परिकल्पयन्ति बौद्धा:।"[१५] बौद्ध शून्यवादी तत्त्व को सदभाव के रूप में कहते हैं। ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकर ने व्यावहारिक सत्य को सर्वप्रमाणसिद्ध कहा है। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक लोकव्यावहारिक वस्तुओं का अपलाप नहीं किया जा सकता।[१६] पंचपादिकाकार ने भी शून्यवाद को असदर्थ में ग्रहण किया है। बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत ब्रह्मवाद में अन्तर दिखाते हुए उन्होंने भी कहा है कि अध्यस्त वस्तु को असत् नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहने पर उसकी प्रतीति की संगति नहीं बनेगी। अध्यस्त वस्तु प्रतीत होती है, अत: अद्वैत के अनुसार अध्यस्त वस्तु सदसदनिर्वचनीय है किन्तु बौद्धमत के अनुसार वस्तु असत् ही है। "ननु सर्वमेवेदमसदिति

भवतोमतम्"[17]। खण्डनकार श्री हर्ष ने भी बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत के अनिर्वचनीयतावाद में भेद सिद्ध किया है, किन्तु खण्डनकार ने पूर्वोक्त आचार्यों के समान शून्यवाद के साथ अन्याय नहीं किया है। खण्डनकार ने शून्यवाद के लिए कहा है कि शून्यवाद सभी को अनिर्वचनीय कहता है जबकि अद्वैतवादी विज्ञान- स्वरूप ब्रह्म को छोड़कर विश्व को सदसद् रूप से अनिर्वचनीय कहते हैं।[18]

ऊपर के विचारों से वैदिक दर्शनों की शून्यवाद के प्रति धारणा को हम ठीक प्रकार से समझ सकते हैं। शून्य का अर्थ इन दार्शनिकों ने विशेष न करके लोक में गृहीत अर्थ ही किया है और विश्व को सापेक्षतया शून्य कहने वाले माध्यमिक को सर्वाभाववादी सिद्ध किया है।[19] परन्तु शून्यवाद का प्रधान ग्रंथ माध्यमिक कारिका के साक्ष्य पर माध्यमिक सर्वाभाव या अभाववादी सिद्ध नहीं होता।[20] माध्यमिक विश्व की सांवृत्तिक सत्ता का अपलाप नहीं करता। प्रपंच को माध्यमिक संवृत्तिसत्य कहता है। वस्तुत: अद्वैत वेदान्त के ही समान माध्यमिक व्यवहार और परमार्थ में भेद करता है। माध्यमिक के अनुसार सत्य दो हैं - सांवृत्तिक सत्य और परमार्थ सत्य।[21] संवृत्ति का अर्थ है अविद्या, जो वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है। अद्वैत में अविद्या की दो शक्तियाँ मानी गई हैं - आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति वस्तुस्वरूप को आवृत कर लेती है, विक्षेप शक्ति उसी में नवीन वस्तु का आरोप करती है जैसे रज्जुगत अज्ञान की आवरण-शक्ति द्वारा रज्जु को आवृत कर दिया जाता है और विक्षेप-शक्ति द्वारा वहीं पर सर्पज्ञान की सृष्टि होती है। इस प्रकार अध्यस्त मिथ्या वस्तु की उत्पत्ति होती है। माध्यमिक के अनुसार संवृत्ति का कार्य भी वस्तु को आवृत करके अवस्तु का ज्ञान कराना है।[22] बोधिचर्यावतार में कहा है - "जिस प्रकार कामला रोगी रोग के कारण श्वेत वस्तु (शंखादि) के श्वेत रूप को पीलेपन से आवृत कर देता है, उसी प्रकार अविद्या वस्तु के स्वरूप को आवृत करके अविद्यमान रूप को आरोपित करती है।"[23] अविद्या के कारण असत् का सत् में आरोप होता है और असत् सत् के समान लगने लगता है। जो दृश्यमान है वह सत् नहीं है, क्योंकि वह विनाशी है। संवृत्ति तो सम्पूर्ण व्यावहारिक वस्तुओं का कथन है जिसे साधारण लोग सत्य समझते हैं। यह सांवृत्तिक सत्य भी दो प्रकार का है : लोकसंवृत्ति और अलोकसंवृत्ति। लोकसंवृत्ति परमार्थ ज्ञान होने से पूर्व तक सत्य है। कार्यकारण भावादि सर्व-जगत् सापेक्षता परमार्थज्ञान अर्थात् शून्यता के स्वरूपज्ञान से बाध्य है। साथ में परमार्थज्ञान के लिए साधना भी इसी लोकसंवृत्ति में ही करनी है। अत: लोकसंवृत्ति आकाशकुसुमादि से भिन्न है, क्योंकि आकाशकुसुमादि की सत्ता की कभी भी प्रतीति लौकिक वस्तुओं के समान नहीं होती। लौकिक वस्तुएँ अपरमार्थ होने पर भी हैं। दूसरी है अलोकसंवृत्ति। अलोकसंवृत्ति भ्रान्ति है, जैसे सीपी में चाँदी का भ्रम। यह अलोकसंवृत्ति है। अद्वैतवेदान्त की व्यावहारिक सत्ता ही माध्यमिक की लोकसंवृत्ति है और अलोकसंवृत्ति अद्वैत की प्रातिभासिक सत्ता के समान है। अलोकसंवृत्ति की पृथक् सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अलोकसंवृत्ति भी लोकसंवृत्ति के अन्दर ही आ जाती हैं।[24] वस्तुत: सत्ता तो परमार्थ शून्यता की है। पारमार्थिक दृष्टि से संवृत्ति का बाध हो जाता है।[25]

ऊपर के विवरण माध्यमिक सम्प्रदाय का अद्वैत सम्प्रदाय के साथ साम्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अद्वैत के समान त्रिविध सत्तावाद के द्वारा नागार्जुन अपने दर्शन को सर्वाभाववाद से बचा लेते हैं, [26] साथ में व्यावहारिक जीवन एवं वस्तुओं की आवश्यकता की आवश्यकता को भी अक्षुण्ण रखते हैं। जब माध्यमिक अलोकसंवृत्ति सत्य रज्जु सर्पादि भ्रम के विषयों को कहता है तब लोकसंवृत्ति सत्य को प्रातिभासिक या शशविषाण के समान अलीक कैसे कहा जाय ? शशविषाण और रज्जु-सर्प में अन्तर तो अगत्या मानना पड़ेगा। जहाँ पर नागार्जुन शशविषाण या गन्धर्वनगरादि शब्दों का प्रयोग बाह्य वस्तु के लिए करते है, वहाँ पर उन्हें मात्र उदाहरण के रूप में समझना चाहिए। तात्पर्य मात्र "बाध" से है। जिस प्रकार आकाशकुसुम का अस्तित्त्व नहीं है उसी प्रकार भ्रमकालीन सर्प का वस्तुत:

अस्तित्त्व नहीं है, उसी प्रकार व्यावहारिक कार्यकारणात्मक वस्तुओं का भी अस्तित्त्व नहीं रहेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन तीनों स्वभावों में अन्तर है ही नहीं। इन तीनों में जो व्यक्तिगत सर्वजनीनादि तथा कालगत अन्तर हैं, वे अवश्य नागार्जुन को भी स्वीकार्य हैं। ए.बी. कीथ का यह कथन कि नागार्जुन संसार को बन्ध्यापुत्र के समान अलीक मानता है, समीचीन नहीं है।[२७] आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि माध्यमिक जब बन्ध्यापुत्रादि शब्दों का प्रयोग करता है तो उसका तात्पर्य अलीक कथन करना नहीं है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सत्ताशून्यता ही तात्पर्य है।[२८] इसी कारण माध्यमिक ने मध्यम मार्ग को अपनाया है। अद्वैत वेदान्त में संसार मायामय है और मिथ्या है। मिथ्यात्व के एक लक्षण में कहा गया है "ज्ञाननिर्वर्त्यं मिथ्यात्वं", जिसका अर्थ हुआ ज्ञान-बाधित। ज्ञान द्वारा बाधित घट होता है। जब ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होता है तब घटादि वस्तुएँ भी बाधित होती है - जैसा कि रज्जु-ज्ञान से भ्रमस्थानीय सर्प का बाध हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान से सभी वस्तुएँ बाधित होती है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार घटादि प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है। बाधित्वेन प्रपंच मिथ्या है। इसी प्रकार माध्यमिक के अनुसार भी परमार्थ-ज्ञान से प्रतीत्यसमुत्पन्न जगत् बाधित होता है और परमार्थशून्यता ही दिखती है, अत: जगत् को बाध्यत्वेन मिथ्या कहा जा सकता है। सद्विविक्तत्त्व को भी मिथ्यात्व का लक्षण कहा गया है। नागार्जुन के अनुसार परमार्थ सत् शून्य है। जगत् परमार्थ सत् से रहित है, अत: मिथ्या है। फिर भी प्रतीतिकालीन जगत् की सत्ता तो है ही। डॉ. मूर्ति के अनुसार "वस्तुएँ शून्य हैं" का अर्थ सापेक्ष और परतंत्र स्वभाव है।[२९] परमार्थशून्य को व्यावहारिक दृष्टि से शून्य कहा गया है, विश्व को सापेक्षतया शून्य कहा गया है। वस्तुत: शून्यवाद और अद्वैत में अन्तर केवल इतना ही है कि शून्यवाद बाह्य वस्तु की सत्तासिद्धि पर जोर नहीं देता जबकि अद्वैत वेदान्त प्रपंच के अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि के लिए तत्पर रहता है।

***

संदर्भ सूची

१. *मध्यमक शास्त्र ७ - ३४, दरभंगा, १९६०.*

२. *A Critical Survey of Indian Philosophy. P. 100. Sharma, London, 1960.*

३. *विग्रहव्यावर्त्तनी - पृ. २६, बड़ौदा १९२९.*

४. *Mahayana Vimsaka of Nagarjuna - P. 11, Bhattacharya, Calcutta, 1931.*

५. *तस्मान्नभावो नाभावो न लक्ष्यं नापि लक्षणम्।*
मध्यमक शास्त्र, पृ. ५३ (दरभंगा १९६०)

६. *सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते।*
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते।
चतु:शतक - १६-२५.
मध्यमक शास्त्र में उद्धृत - पृ. ५

७. *मध्यमक शास्त्र - पृ. ४ (दरभंगा १९६०)*

८. *वही - पृ. ७०*

९. *मध्यमक शास्त्र प्रसन्नपदा टीका - १९१। दरभंगा १९६०.*

१०. *वही - १९३, दरभंगा, १९६०।*

११. *मायोपमं सुभूते रूपं मायोपमा वेदना, मायोपमा संज्ञा, मायोपमा संस्कारा:, मायोपमं विज्ञानम्। शतसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता - परिवर्त्त ६, पृ. ९०७।*

१२. *प्रतिभासोपमं सुभूते रूपमित्यादि, वही पृ. ९०८। कलकत्ता, १९०२।*

१३. *सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धे: - न्यायदर्शन ४। १। ३७ (लन्दन १८९८)।*

१४. *असन्गौरश्वात्मना अनश्वो गौरसन्नश्चो गवात्मना.*
न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका, पृ. ४३० तथा ४३१, लन्दन १८९८।

१५. छान्दोग्य भाष्य - ६।२।१.
१६. ब्रह्मसूत्रभाष्य - ५५७, निर्णय सागर, १९३८.
१७. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग-पृ. १०३२ से उद्धृत
१८. यदादिम: सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति... विज्ञान व्यतिरिक्त पुनरिदं विश्व सत्वासत्वाभ्याम् ब्रह्मवादिन: संगिरन्ते। खण्डनखण्डखाद्य - १८३, चौखम्बा, वाराणसी.
१९. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, २२१ तथा २२२, अंग्रेजी संस्करण, हिरियन्ना, लन्दन, १९५८।
२०. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. ६९१, प्रथम खण्ड। (कलकत्ता सं. २०११)
२१. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना
लोकसंवृत्तिसत्यंच सत्यं च परमार्थत: ॥
मध्यमक शास्त्र, पृ. २१५ (दरभंगा) १९६०
२२. बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ. २९१। (बनारस १९५४)
२३. अभूतंज्ञाप्यतेऽर्थोभूतंमावृत्यवर्तते
अविद्याजायमानेव कामलान्तकवृत्तिवत्।
बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ. ६८९।
२४. The Central Philosophy of Budhism, P. 244-45, London 1955.
२५. वही, पृ. २५२ तथा २५३.
२६. Mahayana Buddhism - P. 90, Suzuki, London 1959.
२७. Buddhist Philosophy - A.B. Keith, P. 261, Oxford, 1923.
२८. A Critical Survey of Indian Philosophy P. 32, London 1960.
२९. The Central Philosophy of Buddhism, P. 229. Murti, London 1955.

परिच्छेद : सात

रघुनाथ गिरि

रघुनाथ गिरि

प्रो. रघुनाथ गिरि का जन्म (१९३१) बिहार प्रान्त के सिवान (दीनदयालपुर) अंचल में हुआ। इनकी आरम्भिक शिक्षा दीनदयालपुर में ही और विधिवत प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में सम्पन्न हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से इन्होंने न्याय-वैशेषिक दर्शनाचार्य एवं दर्शनशास्त्र में एम.ए. तथा पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त किया। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत इन्होंने दर्शन विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी से किया और वहीं प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष इत्यादि पदों पर रहते हुए सेवा निवृत्त हुए। न्याय, वैशेषिक सांख्य-योग एवं पुराणों के अधिकृत विद्वान के रूप में इन्हें भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आमंत्रित किया जाता रहा है। १९९२ में अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों की अकादमिक यात्रा पर भी गये। प्रो. गिरि गाण्डीवम् (वाराणसी), हिन्दुत्व एवं दार्शनिक त्रैमासिक इत्यादि पत्रिकाओं के लम्बे समय तक सम्पादक भी रहे हैं। १९९४ में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (रायपुर अधि.) के अध्यक्ष भी मनोनीत हुए थे और परिषद् द्वारा २००१ में इन्हें प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया था। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पचास से अधिक गवेषणात्मक शोध-निबन्धों के अतिरिक्त 'बौद्धतर्क भाषा' (हिन्दी व्याख्या) एवं 'दि फिलॉसफी ऑफ दि पुराणाज' इनकी बहुमान्य कृतियाँ हैं। आज भी प्रो. गिरि अपने वार्द्धक्य की परवाह किये बिना दार्शनिक गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

*

उदयनाचार्य की ईश्वर-सिद्धि एवं न्यायदर्शन की अवधारणात्मक की योजना

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य न तो ईश्वरवादियों के समान ईश्वर की स्थापना एवं ईश्वर साधक तर्कों का समर्थन है, न अनीश्वरवादियों के समान ईश्वर का खण्डन एवं ईश्वरवादी तर्कों का खण्डन करना है और न तार्किक भाववादी एवं विश्लेषणवादी दार्शनिकों के समान ईश्वर के सम्बन्ध में स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक वाक्यों की निरर्थकता का विश्लेषण करना है। इस निबन्ध का उद्देश्य ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया में निहित उन दार्शनिक समस्याओं का उद्घाटन करना है जो न्यायदर्शन की अवधारणात्मक योजना की रूप-रेखा सुनिश्चित करते हैं। उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया में ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर अवधारणात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित प्रतीत होता है। किन्तु प्रस्तुत निबन्ध की परिधि को देखते हुए उन सभी समस्याओं और प्रश्नों पर विस्तार एवं गंभीरता से विचार करना यहाँ सम्भव नहीं लगता। इसलिये यहाँ उन समस्याओं और प्रश्नों को मात्र उद्भावित कर उन्हें विचार के लिये प्रस्तुत किया गया है।

उदयनाचार्य ईश्वर सिद्धि के लिये प्रस्तुत अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि की प्रस्तावना में यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर की उपासना मोक्ष या अपवर्ग के लिये आवश्यक साधन है।

स्वर्गापवर्गयौर्मार्गिमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥

उनकी यह मान्यता प्राचीन न्याय की परम्परा के अनुरूप नहीं है क्योंकि गौतम ने अपने प्रथम् सूत्र[1] में पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति का स्पष्ट समर्थन किया है तथा द्वितीय सूत्र[2] में दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या ज्ञान के उत्तरोत्तर विनाश को अपवर्ग का मार्ग बतलाया है। ईश्वर की उपासना न्याय परम्परा के प्रतिकूल नहीं है इस बात को स्पष्ट करने के लिये उदयनाचार्य ने इस परमात्मा को वेदानुगामी परम्परा मानकर उपनिषद् वाक्यों से ईश्वर की उपासना को आवश्यक प्रदर्शित किया है और यह संकेत किया है कि न्याय परम्परा का उदय वैदिक परम्परा के संरक्षणार्थ हुआ है। गौतम ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि वैदिक सिद्धान्तों के रक्षणार्थ ही न्याय दर्शन में जल्प-वितण्डा आदि तार्किक प्रक्रियाओं की उद्भावना की गयी है। जिस प्रकार किसी पौधे के संरक्षण के लिये मेड़ और काँटों का घेरा बनाया जाता है, उसी प्रकार वेद प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के अंकुर के संरक्षणार्थ तार्किक प्रक्रियाओं का घेरा बनाया गया है।[3]

उक्त प्रस्तावना में उदयनाचार्य ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि ईश्वर जाति, गोत्र, कुल, धर्म आदि के समान सर्वानुभव सिद्ध है। क्योंकि उपनिषद् परम्परा के लोग ईश्वर को शुद्ध-बुद्ध स्वभाव वाला मानते हैं। कपिल दर्शन के अनुयायी उसे सिद्ध एवं आदि विद्वान स्वीकार करते हैं। पतंजलि दर्शन के पोषक क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय के सम्बन्ध से रहित सम्प्रदाय संचालक एवं अनुग्राहक के रूप में स्वीकार करते हैं। महापाशुपत दार्शनिक लोकवेद से विरूद्ध निर्लेप एवं स्वतंत्र रूप

में उसे मानते हैं। शैव उसे शिव के रूप में, वैष्णव पुरूषोत्तम के रूप में, याज्ञिक यज्ञपुरूष के रूप में, बौद्ध सर्वज्ञ बुद्ध के रूप में, जैन निरावरण रूप में तथा मीमांसक वेद वाक्यों द्वारा उपास्य रूप में निर्देशित देवता रूप में चार्वाक लोक व्यवहारदक्ष के रूप में तथा न्यायैकदेशिक उसे युक्तियों से उपपन्न के रूप में यहाँ तक कि सामान्य कारीगर भी उसे विश्वकर्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिये इस प्रकार समस्त लोगों के अनुभव एवं मान्यता से स्वीकृत ईश्वर के विषय में संदेह का कोई स्थान नहीं है।[४] और सन्देह न रहने के कारण तर्क प्रक्रिया प्रारम्भ करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि न्याय की यह मान्यता है कि तर्कप्रवृत्ति अज्ञात एवं निर्णीत विषय में नहीं होती है अपितु केवल संशय से युक्तविषय में होती है।[५] जब ईश्वर के विषय में कोई सन्देह ही नहीं है तो उसकी सिद्धि के लिये न्यायप्रयोग भी आवश्यक नहीं है। फिर भी न्याय का प्रयोग यहाँ ईश्वर उपासना के रूप में उपस्थित किया गया है क्योंकि श्रुतियों में यह निर्देश है कि श्रवण के बाद मनन आवश्यक होता है। ईश्वर के संबंध में श्रवण अंग की पूर्ति श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि से हो जाती है और मनन का कार्य न्याय प्रयोग द्वारा किया जाता है।

इस संदर्भ में विचारणीय समस्या यह है कि किसी न किसी रूप में किसी तत्त्व को परतत्त्व स्वीकार कर लेना या उपास्य मान लेना यदि ईश्वर को स्वीकार कर लेना है तो कम से कम भारतीय दर्शन में कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय अनीश्वरवादी नहीं रहेगा जबकि स्पष्ट रूप से यह मान्यता है कि चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसक अनीश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं।

उदयनाचार्य ने ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया में ईश्वर स्थापना के विरूद्ध पाँच मान्यताओं को उपस्थित किया है और इनमें से एक-एक मान्यता का परीक्षण एवं खण्डन न्यायकुसुमाञ्जलि के एक-एक स्तवक में किया गया है। ये पाँच विप्रतिपत्तियाँ या विरूद्ध मान्यतायें निम्न हैं –

(१) परलोक का कोई अलौकिक या अदृष्ट साधन नहीं है।

(२) ईश्वर को माने बिना भी परलोक के साधनों का अनुष्ठान संभव है।

(३) ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अस्तित्त्व है।

(४) ईश्वर हो भी तो वह प्रामाणिक नहीं है।

(५) ईश्वर को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव है।[६]

इनमें प्रथम विप्रतिपत्ति न्यायदर्शन द्वारा मान्य ईश्वर की अवधारणा के साथ-साथ उसके सम्पूर्ण नैतिक आधार का विरोध करती है। क्योंकि न्याय दर्शन की सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था में अदृष्ट के व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर स्वीकृत है। न्यायदर्शन की मान्यता के अनुसार जीवात्मा में बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म ये छह विशेष गुण हैं। इनमें प्रथम चार गुणों को दृष्ट एवं धर्म तथा अधर्म को अदृष्ट या अलौकिक कहा जाता है। इनके आधार पर ही आत्मा के विभुत्त्व की सिद्धि की जाती है और सुख-दुःख आदि भोगों एवं जन्म, मृत्यु के चक्र की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। चूँकि अदृष्ट अचेतन है अतः भोग, जो प्रति व्यक्ति भिन्न है, की व्यवस्था, नियमन एवं नियन्त्रण में सक्षम नहीं है। इसलिए अदृष्ट के अनुसार भोग की व्यवस्था करने के लिए सचेतन, समर्थशाली, सर्वज्ञ ईश्वर की मान्यता स्वीकार की जाती है। प्रथम विप्रतिपत्ति जो यह स्थापित करती है कि परलोक का साधन कोई अदृष्ट नहीं है के स्वीकृत होते ही न्याय दर्शन की समस्त नैतिक व्यवस्था का आधार ध्वस्त हो जाता है। इसलिए उदयनाचार्य ने इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए न्याय कुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तवक में अनेक दार्शनिक मतवादों को उपस्थित कर उनका खण्डन किया है। उनमें से कुछ मतों एवं उनके खण्डन की प्रक्रिया का यहाँ एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

इस विप्रतिपत्ति में दो प्रमुख मतवाद हैं, अपरलोकवाद एवं अकारणवाद या स्वभाववाद जिन्हें चार्वाक द्वारा उपस्थित किया जाता है। अपरलोकवाद में इस जीवन को ही प्रथम एवं अन्तिम जीवन

स्वीकार कर लिया जाता है, अत: न इसके बाद किसी जन्म या किसी लोक में अस्तित्त्व का अवसर रह जाता है, और न उसकी स्थापना के लिए किसी अदृष्ट या धर्म-अधर्म का। अकारणवाद या स्वभाववाद में कार्यकारण नियम की मान्यता, कार्यकारण सम्बन्ध की नित्यता एवं अनिवार्यता को अस्वीकार करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया जाता है कि समस्त घटनायें अपने स्वभाव से उत्पन्न होती हैं और उनके पीछे किसी कारण श्रृंखला की खोज एक निरर्थक प्रयास मात्र है क्योंकि कार्यकारण एक कल्पित मान्यता पर आधारित है जिसे अनुभव के आधार पर सिद्ध करना संभव नहीं है।

ये दोनों मान्यतायें न केवल न्यायदर्शन के सिद्धांतों के आधार को ध्वस्त करती हैं अपितु परलोक, पुनर्जन्म एवं पुण्य-पाप तथा कार्यकारण सम्बन्ध के आधार पर प्रतिष्ठित समस्त दर्शनों को आधारहीन बना देती हैं। अत: उदयनाचार्य इन दोनों मान्यताओं के खण्डन के लिए अपनी तार्किक कुशलता का उपयोग करते हैं। परलोक की स्थापना के लिए उदयनाचार्य परलोक के लिए यज्ञ, याग, सत्कर्म, पुण्यकार्य, तप, स्वाध्याय, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कर्मों में संलग्न लोगों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि इन लोगों की प्रवृत्ति को निष्फल, निरर्थक अथवा केवल दुखात्म फल देने वाला मान लेना उचित न होगा। क्योंकि प्रवृत्ति मात्र के प्रति इष्ट-साधनता बुद्धि कारणक होती है। अर्थात् जब कर्ता यह समझ लेता है कि इस कार्य से मेरी इस इच्छा की पूर्ति होगी तभी वह उस कर्म या याग को करने के लिए अग्रसर होता है। यदि यह माना जाय कि यज्ञ, तप आदि पुण्य कर्म सम्मान, यश, धन, प्रतिष्ठा आदि के लिए किये जाते हैं तो यह मानना भी उचित नहीं है क्योंकि इन दृष्टफलों को न चाहने वाले लोगों को भी ऐसे पुण्य कर्मों में लगा हुआ देखा जाता है। यदि यह कहा जाय कि दूसरों को ठगने के लिए या धोखा देने के लिए ये कर्म किये जाते हैं तो यह कथन भी असंगत लगता है क्योंकि कौन ऐसा लोकोत्तर व्यक्ति होगा जो केवल दूसरों को ठगने के लिए इन कर्मों के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहकर इनका स्वयं अनुष्ठान किया होगा और लोगों को इस निरर्थक काम के लिए प्रेरित किया होगा। अत: इन शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को ही स्वर्ग आदि परलोक के लिए प्रमाण मानना उचित होगा। इस प्रवृत्ति को हेतु बनाकर अनुमान के द्वारा स्वर्ग आदि परलोक की स्थापना की जा सकती है।[९]

दूसरी मान्यता-अकारणवाद या स्वभाववाद के निराकरण के लिये उदयनाचार्य एक प्रकार की विश्लेषणात्मक पद्धति का आश्रय लेते हैं। वे कहते हैं कारण से कार्य मानने वाले कार्य के सम्बन्ध में यह किससे उत्पन्न हुआ प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा रखते हैं किन्तु अकारणवादी यह मानता है कि कार्य अकस्मात् होता है।' यहाँ उदयनाचार्य 'अकस्मात्' के विश्लेषण करते हुए चार विकल्प प्रस्तुत करते हैं (१) हेतु का निषेध अर्थात् यह किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता है (२) उत्पत्ति का निषेध अर्थात् यह उत्पन्न नहीं होता है। (३) स्व से अतिरिक्त हेतु का निषेध अर्थात् यह स्वयं उत्पन्न होता है। (४) पारमार्थिक हेतु का निषेध अर्थात् यह किसी वास्तविक कारण से उत्पन्न नहीं होता है। और इन चारों विकल्पों के खण्डन के लिए एक हेतु देते हैं, अवधि का निश्चित निर्धारित होना। अर्थात् कार्य कभी रहता है और कभी नहीं रहता है, यह अनुभव सिद्ध है। यदि वह अहेतुक हो जायेगा तो या तो सदा रहेगा या कभी नहीं रहेगा। सदा रहने वाला नित्य अनुत्पन्न होगा इसलिए कार्य नहीं होगा, कभी भी नहीं रहने वाला बन्ध्या पुत्र के समान अलीक होगा, इसलिए कार्य ही नहीं होगा। इस प्रकार अकस्मात् शब्द के उक्त चार अर्थों में किसी भी अर्थ को स्वीकार करने पर कदाचित् अर्थात कभी रहने और कभी न रहने की संगत व्याख्या सम्भव नहीं है, इसलिए स्वभाववाद या अकारणवाद या अकस्मातवाद को स्वीकार करना संभव नहीं है।

इस प्रकार वे स्वभाववाद का खण्डन करते हुए कारणता सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि कार्य सापेक्ष होता है क्योंकि उसकी अवधि निर्धारित होना ही सापेक्षता

के लिए प्रमाण है। जो सापेक्ष नहीं होगा उसकी अवधि निर्धारित नहीं होगी। ऐसा पदार्थ या तो नित्य होगा या अलीक। जो नित्य और अलीक नहीं होगा उसकी अवधि अवश्य ही निर्धारित होगी और जिसकी अवधि निर्धारित होगी वह निर्विवाद रूप से सापेक्ष होगा। सापेक्षता स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठता है कि पट आदि कार्य को सापेक्ष मान लेने पर उसकी कारण सामग्री को भी सापेक्ष मानना होगा। पुन: उसके कारण सामग्री और फिर उसके कारण के कारण सामग्री को सापेक्ष मानने पर अनवस्था दोष हो जाएगा और अनवस्था के कारण सापेक्षता की सिद्धि नहीं हो सकेगी। सापेक्षता सिद्ध न होने से कारणता की सिद्धि नहीं होगी।

इस अनवस्था दोष के विषय में उदयनाचार्य का कहना है कि अनादि परम्परा में अनवस्था दोष नहीं माना जाता है जैसे बीज और अंकुर आदि की परम्परा में अनवस्था दोष आता है किन्तु अनादि अनवस्था को दोष मानने पर बीज से अंकुर होता है इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ समुचित व्याख्या के लिए अन्य कोई उपाय न हो वहाँ अनवस्था को दोष नहीं मानना चाहिए। बीज-अंकुर स्थल पर अनादि सम्बन्ध मानकर व्याख्या की जाती है। इसलिए ऐसे स्थल पर अनवस्था को दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार कार्य-कारण परम्परा भी अनादि सम्बन्ध पर आधारित है। इसलिये यहाँ अनवस्था को दोष नहीं माना जाएगा।

इस संदर्भ में उदयनाचार्य शक्ति कारणवाद, प्रकृतिकारणवाद एवं ब्रह्मकारणवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि संसार में विविधता एवं विभिन्नता की व्याख्या एक कारण मानने से नहीं हो सकती, इसलिए विचित्र कार्यों के लिए विचित्र कारणों की श्रृंखला स्वीकार करनी होगी जो प्रत्येक आत्मा में विद्यमान अद्रृष्ट ही हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है कि यज्ञ-याग आदि कर्म को ही स्वर्ग आदि फल का कारण क्यों न मान लिया जाय ? इससे अद्रृष्ट की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी और कार्य कारण का निर्वाह भी हो जाएगा। इस प्रश्न के उत्तर में उदयनाचार्य का कहना है कि कारण को कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती होना चाहिए। यज्ञ-याग आदि जब किए जाते हैं तो उनके अव्यवहित उत्तरकाल में स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति नहीं होती। अत: उनसे उत्पन्न भोग जनक किसी अद्रृष्ट की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। "स्वर्गकामो यजेत" इस वेद वाक्य के आधार पर यज्ञ करने वाले व्यक्ति को यज्ञ के अव्यवहित उत्तर फल प्राप्ति न होने पर वेदवाक्य की निरर्थकता होगी और यज्ञ आदि कर्मों में स्वर्ग चाहने वालों की प्रवृत्ति भी न होगी। इसलिए यज्ञ आदि को स्वर्ग आदि का साक्षात् कारण न मानकर व्यापारवत् कारण मानना उचित होगा। व्यापार का लक्षण तत् जन्य होते हुए तत् जन्य का जनक होना है। अर्थात् यज्ञ आदि से उत्पन्न अद्रृष्ट यज्ञ आदि से उत्पन्न वाले स्वर्ग आदि का जनक होता है। इसलिए यज्ञ आदि अद्रृष्ट द्वारा स्वर्ग के जनक होते हैं। जैसे दण्ड घट का चक्र में भ्रमी के द्वारा जनक होता है। यहाँ उदयनाचार्य यह भी स्पष्ट करते हैं कि भोग स्वर्गादि में संस्कार मान लेने से भी काम नहीं चलता क्योंकि भोग सर्वसाधारण है, वे किसे मिले और किसे न मिले इसका निर्धारण नहीं हो सकेगा। अत: भोग को आकृष्ट करने तथा कर्ता को ही भोग प्राप्ति की व्यवस्था करने के लिए अद्रृष्ट को आत्मगत मानना ही अधिक न्यायसंगत होगा। इसी प्रसंग में उदयानाचार्य देहात्मवाद क्षणिकात्मवाद, संघातात्मवाद, एकात्मवाद, अणु-आत्मवाद आदि का खण्डन करते हुए नित्य-अनेक-विभु आत्मवाद की स्थापना करते हैं।

द्वितीय विप्रतिपत्ति मीमांसकों के द्वारा स्थापित की गयी है। इस विप्रतिपत्ति में ईश्वर के बिना भी परलोक साधनों के अनुष्ठान की स्थापना की गई है। इसमें यज्ञ-याग आदि परलोक साधनता, परलोक की मान्यता और कार्य-कारणता तो स्वीकृत है किन्तु ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसमें वेदों की अपौरूषेयता, संसार की अनादिता, महाजनपरिग्रह के कारण वेदों की स्वत:

प्रामाणिकता तथा कर्म की फलवत्ता की स्वत: प्रामाणिकता एवं कर्म की फलवत्ता की स्वत: अपरिहार्यता स्वीकार कर ली जाती है। वेदों की अपौरूषेयता के लिए शब्द की नित्ययता एवं विद्या की गुरूपूर्वकता मूल्य आधार है। मीमांसकों का कहना है कि तालुदन्त, जिह्वा, ओष्ठ आदि के अभिघात से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती अपितु अभिव्यक्ति होती है। शब्द की उत्पत्ति मानने पर उच्चारण एवं उच्चारियता के भेद से शब्द में भेद मानना पड़ेगा, किन्तु एक व्यक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न काल में विभिन्न स्वरों में अर्थात् कभी मन्दा, कभी मध्यम, कभी तीव्र और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न या एक समय में अनेक स्वरों में घट-पट आदि शब्दों के उच्चारण में भेद होना स्वाभाविक है। यदि उच्चारण से शब्द की उत्पत्ति होती है तो भिन्न उच्चारण से भिन्न शब्दों की उत्पत्ति होती किन्तु भिन्न-भिन्न उच्चारणों से एक ही शब्द उत्पन्न होता है और एक ही अर्थ का बोध कराता है। इसलिए शब्द की उत्पत्ति मानना न्यायसंगत नहीं है। शब्द को नित्य मानना ही उचित है। और उच्चारण से शब्द की अभिव्यक्ति मात्र मान लेने से इस कठिनाई का निवारण हो सकता है। दूसरी ओर मानव जो कुछ वाक्य प्रयोग करता है वह किसी गुरू से सुनकर ही करता है। इस प्रकार वेदों को गुरू परम्परा से सुनने के कारण श्रुति कहा जाता है। इसमें गुरू परम्परा का कभी उच्छेद नहीं होता, इसलिए वेदों को अनादि एवं नित्य मानना होगा। चूँकि वेदों की मान्यता शिष्टों द्वारा स्वीकृत है इसलिए इसकी प्रामाणिकता भी स्वत: सिद्ध है। साथ ही साथ यह संसार भी अनादि है। इसलिए इसके कर्ता की कोई आवश्यकता नहीं है। इस अनादि संसार में वेदों की स्वत:प्रामाणिकता के आधार पर वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान संभव हैं और इन कर्मों में फल उत्पन्न करने की अनिवार्यता अपूर्व द्वारा फल से कर्ता की प्रतिबद्धता भी सिद्ध है। इसलिए जगत् के कर्ता तथा अदृष्ट के अधिष्ठाता ईश्वर को माने बिना भी यज्ञ आदि का अनुष्ठान और स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति की व्याख्या सम्भव है।

मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन उदयनाचार्य न्याय की मान्यता के आधार पर करते हैं। उनका कहना कि वाक्यार्थबोध के लिए आकाँक्षा, आसत्ति, योग्यता और तात्पर्य का ज्ञान आवश्यक है। वेदवाक्यों से होने वाला बोध भी वाक्यार्थ बोध है, अत: इसमें तात्पर्य ज्ञान के लिए प्रथम उच्चारयिता को स्वीकार करना पड़ेगा। कोई भी प्रमा (यथार्थ ज्ञान) स्वत: उत्पन्न नहीं होती है। किन्तु कारण के गुण से उत्पन्न होता है। शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रमा भी प्रमा होने से कारण के गुण से उत्पन्न होगी। यहाँ करण का गुण होती है वक्ता के वाक्यार्थ का यथार्थ ज्ञान। क्योंकि यदि वक्ता को वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा तो श्रोता को उस वाक्य से यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं है। इसलिए वेदों को पौरूषेय मानना होगा। इनकी दूसरी आपत्ति सर्ग-प्रलय को लेकर है। उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, ह्रास, विनाश का क्रम अनुभव सिद्ध है और शास्त्र मान्यता के आधार पर भी सर्ग-प्रलय स्वीकृत है। खण्ड-प्रलय के आधार पर महाप्रलय की स्थापना अनुमान द्वारा भी संभव है। जन्म, संस्कार, शक्ति, विद्या, स्वाध्याय, कर्म आदि के विषय में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलि आदि युगों के क्रम से ह्रास देखा जाता है। अत: इस ह्रास के आधार पर वेद आदि सम्प्रदाय का भी ह्रास मानना ही न्याय संगत है। इससे यह स्थापित होता है कि प्रलय में वेदादि सम्प्रदाय का विनाश हो जाता है। अत: सर्ग के प्रारम्भ में वेदों को प्रवृत्त करने के लिये सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि सर्ग आदि में कपिल आदि ॠषि ही वेद सम्प्रदाय के प्रवर्तक होते हैं तो इन ॠषियों को भी सर्वज्ञ मानना होगा क्योंकि अल्पज्ञ के कथन में आस्था न होने के कारण उसकी प्रामाणिकता नहीं रहेगी। इस प्रकार अनेक सर्वज्ञ मानने की अपेक्षा एक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर को मान लेने में कल्पना लाघव भी है।[१०]

तृतीय विप्रतिपत्ति ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करती है। अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसक तथा अनुपलब्धि को अनुमान के लिए एक हेतु मानने

वाले बौद्ध तार्किक दोनों की ओर से यह पक्ष उपस्थित किया जाता है कि जिस प्रकार घट के अभाव की सिद्धि घट की अनुपलब्धि के द्वारा होती है इसी प्रकार ईश्वर के अभाव की सिद्धि भी ईश्वर की अनुपलब्धि के द्वारा मानना न्यायसंगत है। यह मत यह भी स्थापित करना चाहता है कि ईश्वर के संदर्भ में योग्य अनुपलब्धि को ईश्वर के अभाव का ग्राहक मानना उचित नहीं है क्योंकि योग्य प्रतियोगी के स्थल में ही अभाव ग्रहण के लिए योग्य अनुपलब्धि को प्रमाण माना जाता है। अयोग्य प्रतियोगी के अभाव ग्रहण के लिए भी यदि योग्य अनुपलब्धि को प्रमाण माना गया तो ईश्वर अभाव के समान शशश्रृङ्ग का अभाव भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। जबकि ईश्वर को मानने वाले शशश्रृङ्ग के अभाव को तो अवश्य स्वीकार करेंगे।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए उदयनाचार्य का कहना है कि प्रथम तो अनुपलब्धि न कोई स्वतन्त्र प्रमाण है और न अभाव के अनुमान के लिए सक्षम हेतु है। क्योंकि अभाव का ग्रहण प्रतियोगी के ग्रहण करने वाले साधनों से ही सम्भव है। जैसे चक्षु द्वारा पुरूष में गन्ध की उपलब्धि न होने से पुरूष में गन्धाभाव का अस्तित्त्व मानना उचित नहीं है। जब कभी अनुपलब्धि के आधार पर अभाव का ग्रहण होता है तो वहाँ योग्य अनुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक माना जाता है। अनुपलब्धि में योग्यता का अर्थ होता है प्रतियोगी या उसके व्याप्य से इतरयावत् उपलब्ध सामग्री का समवधान। गन्धाभाव के ग्रहण के लिए गन्ध से इतर उपलब्ध सामग्री में प्राण का सम्बन्ध अपेक्षित है। इसलिए ईश्वर के सम्बन्ध में ईश्वर की जो अनुपलब्धि है उसमें योग्यता नहीं है। क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष वेद्य वस्तु नहीं है इसलिए प्रत्यक्ष के साधनों से उपलब्ध न होने मात्र से ईश्वर का अभाव मान लिया जाय तो आकाश, धर्म, अधर्म, आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी लोप हो जाएगा। शशश्रृङ्ग के अभाव के आधार पर ईश्वर के अभाव की स्थापना की प्रक्रिया संगत नहीं है, क्योंकि शश में श्रृङ्ग का अभाव है और उसको ग्रहण करने वाली अनुपलब्धि है। किन्तु शशश्रृङ्ग की अनुपलब्धि के आधार पर उसका अस्तित्त्व स्थापित नहीं होता अपितु शशश्रृङ्ग इस पद समूह में योग्यता न होने के कारण इसे निरर्थक कहा जाता है। न तो शशश्रृङ्ग भाव है और न अभाव अपितु एक निरर्थक शब्दयोजना है। अभाव को भी न्याय वैशेषिक दर्शन पदार्थ मानता है। पदार्थ का अर्थ पद वाच्यता होती है और अभाव की पद वाच्यता इस आधार पर सिद्ध होती है कि अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है और प्रतियोगी भाव रूप होता है। इसलिए उन्हीं वस्तुओं का अभाव पदार्थ होगा जिनका भाव होना सिद्ध होगा जो भाव ही नहीं उसका अभाव भी नहीं हो सकता है। इसलिए न्याय यह स्थापित करता है कि अलीक प्रतियोगिक अभाव नहीं होता। अभाव बोध वहीं संभव है जहाँ प्रतियोगिक अभाव नहीं होता। अभाव बोध वहीं संभव है जहाँ प्रतियोगी स्वीकृत हो और अनुपलब्धि उसी अभाव की ग्रहिका है जहाँ प्रतियोगी को ग्रहण करने के लिए अपेक्षित समस्त सामग्रियों का समवधान हो। इसलिए ईश्वर के सम्बन्ध में अनुपलब्धि योग्य नहीं है और अयोग्य अनुपलब्धि से ईश्वर के अभाव को नहीं सिद्ध किया जा रहा है अपितु ईश्वर में कर्तृत्व का अभाव अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा रहा है क्योंकि कर्तृत्व का व्यापक शरीरित्व है अर्थात् जो कर्ता होता है वह शरीरधारी होता है। ईश्वर शरीरधारी नहीं है, इसलिए वह कर्ता भी नहीं है तो यह भी कथन संगत नहीं है क्योंकि इस अनुमान में पक्षाप्रसिद्धि दोष है। अनुमान में पक्ष को सिद्ध होना चाहिए, जहाँ पक्ष नहीं सिद्ध होगा वहाँ अनुमान आश्रयासिद्धि दोष से ग्रस्त होने के कारण अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा।[11]

चतुर्थ विप्रतिपत्ति में यह स्थापित किया जाता है कि यदि ईश्वर हो भी तो वह प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रमाण या प्रामाणिक होने के लिए प्रमा (प्रज्ञा) ज्ञान का कर्ता या करण होना आवश्यक है और प्रमा वह ज्ञान है जो अगृहीतग्राही हो अर्थात् वह ज्ञान प्रमा है जिसका विषय पहले से ज्ञात न हो। अज्ञात विषय

के ज्ञान के लिए ही ज्ञाता साधनों का उपयोग करता है। विषय के ज्ञात होने पर ज्ञाता के द्वारा उसके पुन: जानकारी का प्रयास निरर्थक व्यापार है। चूँकि ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है अत: सर्वज्ञ का ज्ञान अगृहीतग्राही नहीं हो सकता। यही दशा नित्य ज्ञान की भी है। ऐसी स्थिति में ईश्वर का ज्ञान अगृहीतग्राही न होने के कारण प्रमा ज्ञान नहीं है। और ईश्वर के ज्ञान को प्रमा न होने के कारण ईश्वर न प्रमा ज्ञान का कर्ता (ज्ञाता) है और न प्रमा का साधन। प्रमा के कर्ता या साधन न होने के कारण वह न प्रमाण है न प्रामाणिक। इस प्रकार अप्रामाणिक ईश्वर यदि रहे भी तो उसके रहने से किसी को कोई लाभ नहीं है, क्योंकि अप्रामाणिक व्यक्ति के प्रति न किसी की श्रद्धा होगी और न उसके वचनों पर किसी को विश्वास। इस प्रकार वह अत्यन्त उपेक्षणीय होकर ही रह जाएगा। यह स्थापना उन दार्शनिक सम्प्रदायों की ओर से की जाती है जो ज्ञान के प्रमा होने के लिए अज्ञात विषयक होना अनिवार्य शर्त मानते हैं।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए उदयनाचार्य का कहना है कि अगृहीतग्राही होना प्रमा का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि इस लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष हैं। प्रमा का यह लक्षण मानने पर धारावाहिक ज्ञान प्रमा नहीं रह जाएगा क्योंकि द्वितीय, तृतीय क्षण में भी यह प्रमा है। उसमें प्रमा का लक्षण घटित न होने के कारण लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। साथ ही साथ स्मृति ज्ञान भी प्रमा नहीं रहेगा क्योंकि स्मृति तो अनुभव के प्रमा होने पर प्रमा होती है किन्तु उसका विषय अज्ञात नहीं होता है अपितु पूर्वज्ञात विषयक ही स्मृति होती है। दूसरी ओर यह लक्षण "इदं रजतम्" इस भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्त भी हो जाएगा, क्योंकि भ्रम का विषय भी पूर्वज्ञात नहीं रहता है। इस आधार पर अज्ञात विषयक होना प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता। वास्तव में प्रमा का लक्षण सम्यक् होना है या यथार्थता है, यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है। ईश्वर का ज्ञान तो सदा यथार्थ होता है। इसी प्रकार प्रमाता होने के लिए यथार्थ का कर्ता होना आवश्यक नहीं है अपितु यथार्थ ज्ञान वाला होना मात्र अपेक्षित है। अत: नित्य यथार्थ ज्ञान वाला ईश्वर प्रमाता होने के कारण प्रमाण्य है। प्रमाण होने के लिए प्रमा का कर्ता या कारण होना आवश्यक नहीं है। ईश्वर को प्रमाण मानने पर न्याय मत में पाँच प्रमाण मानने की आपत्ति नहीं आएगी क्योंकि प्रमाणों का विभाग प्रमाकरण के रूप ही किया गया है।[१२]

पंचम विप्रतिपत्ति है कि ईश्वर की स्थापना में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि रूपादि सम्पन्न न होने के कारण ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अन्वय या व्यतिरेक के द्वारा ईश्वर के साथ व्याप्ति गृहीत न होने के कारण अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि संभव नहीं और सादृश्य ज्ञान न होने के कारण उपमान द्वारा भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता। विषय के साक्षात्कार करने के पश्चात् यथार्थ वक्ता के ही वचन शब्द प्रमाण होते हैं। ईश्वर अपरिमेय है, अत: उसका सम्पूर्ण साक्षात्कार होना संभव नहीं। ऐसी स्थिति में उसके विषय में बताने वाला आप्त नहीं हो सकता और आप्त न होने के कारण उनके वचन शब्द प्रमाण नहीं हो सकते। इस तरह ईश्वर साधक कोई प्रमाण नहीं है।

इस विप्रतिपति का निराकरण करते हुए उदयनाचार्य अनुमान और शब्द प्रमाण द्वारा ईश्वर की स्थापना करते हैं। अनुमान के लिए उन्होनें जो हेतु उपस्थित किये है,[१३] उसमें से चार जगत् से सम्बन्धित हैं अर्थात् जगत् कार्य है इसलिए उसके कर्ता के रूप में ईश्वर सिद्ध होता है। आयोजन अर्थात् जगत् के निर्माण के लिए आवश्यक कारणों का संकलन एवं प्रथम क्रिया का संचालन एक सचेतन द्वारा संभव है। इसी प्रकार जगत् के धारण एवं विनाश के आधार पर भी धारक एवं विनाशक के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। इसी तरह चार हेतु वेद से सम्बन्धित हैं-पद, प्रत्यय, श्रुति और वाक्य। पद का प्रयोग व्यवहार होता है, अत: सृष्टि के आरंभ में पद के व्यवहार संचालक के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान या प्रमाण। वेद वाक्यों की प्रमाणिकता सर्वज्ञ के द्वारा उच्चारित होने के कारण है। श्रुति के निर्माता के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है, क्योंकि वेद पौरूषेय हैं। और वेद वाक्यों में

जिसका तात्पर्य निहित है वह ईश्वर है। इस प्रकार इन चार हेतुओं से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। इन हेतुओं में एक हेतु उदयनाचार्य ने न्याय की मान्यता के आधार पर दिया है। वह है संख्या विशेष। संख्या विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए न्याय दर्शन की दो पूर्वमान्यताओं को स्पष्ट करना आवश्यक है। न्याय की एक पूर्व मान्यता है कि परमाणु का परिमाण किसी परिमाण का कारण नहीं होता।[१४] क्योंकि परिमाण जब कारण होता है तो अपने से तर या तम परिमाण को उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में अणु परिमाण को कारण मानने पर उत्पन्न परिमाण को अणुतर या अणुतम मानना पड़ेगा, जो तर्कसंगत नहीं होगा! अत: दो परमाणुओं से निर्मित द्वयणुक के परिमाण के लिए परमाणु के परिमाण को कारण न मानकर परमाणु गत द्वित्व संख्या को कारण माना जाता है। यहाँ एक दूसरी पूर्वमान्यता यह है कि सभी पदार्थों में एकत्व संख्या स्वत: सिद्ध है। किन्तु द्वित्वआदि संख्या अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है। अर्थात् कोई भी वस्तु स्वत: दो नहीं होती। गणना करने वाले की गिनती से एक-एक की अपेक्षा से दो होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में द्वयणुक के परिमाण के जनक परमाणुगत द्वित्व संख्या जिस चेतन की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है वह ईश्वर ही हो सकता है। इस प्रकार संख्या विशेष अर्थात् द्वयणुक के परिमाण का जनक परमाणुगत द्वित्व संख्या के आधार पर भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

उदयनाचार्य ने अपने साधक तर्कों के विरूद्ध लगायी जाने वाली समस्त आपत्तियों का निराकरण करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया है कि उक्त हेतु सद्हेतु हैं और इनमें व्यभिचार, बाध्य, विरोध, सत्प्रतिपक्ष आदि कोई दोष नहीं है। अत: इनके द्वारा ईश्वर की सिद्धि संभव है।

ईश्वर सिद्धि की प्रक्रिया में उदयनाचार्य ने जिन मुख्य बिन्दुओं का संकेत किया है उनमें से कतिपय बिन्दुओं को यहाँ उपस्थित किया गया है। इन बिन्दुओं की व्याख्या, परीक्षा, समीक्षा एवं मूल्यांकन इस निबन्ध की परिसीमा में संभव नहीं हो सका है। इस निबन्ध का उद्देश्य भी विचारार्थ दार्शनिक बिन्दुओं को प्रस्तुत करना मात्र था, जिससे इन पर विभिन्न पक्षों एवं दृष्टियों से प्रकृत विचार को बढ़ावा मिले।

***

संदर्भ

१. *प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम:। न्याय सूत्र, १।१।१*

२. *दु:ख जन्य-प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोतरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग:। वही, १।१।२*

३. *तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणार्थ जल्पवितण्डे।*
बीज प्रोहसंरक्षणार्थ कण्टक शाखा वरणवत्। *वही, ४।२।५०*

४. *इह यद्यपि इयं किमपि पुरूषार्थमयमाना: शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदा:, आदि विद्वान् सिद्ध इति कापिला:, क्लेशकर्मविपाकाशयेरपरामृष्टो निर्माण कायमधिष्ठाय-सम्प्रदाय प्रद्योतकोअनुग्राहकश्चेति पातञ्जला:, लोकवेदविरूद्धेरपि निर्लेप: स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपता:, शिव इतिशैवा:, पुरूषोत्तम इति वैष्णवा:, पितामह इति पौराणिका:, यज्ञपुरूष इति याज्ञिका:, सर्वज्ञ इति सौगता:, निरावरण इति दिगम्बरा:, उपास्यत्वेन देशिता इति मीमांसका:, लोकव्यवहार सिद्ध इति चार्वाका:, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिका:, किं बहुनाऽयं कारकोऽपि विश्वकर्मेति उपासते, तस्मिन् एव जातिगोत्र प्रवरचरण कुलधर्मादि वदसंसारं सुप्रसिद्धानुभवे भगवति भवे संदेह एव कुत:। -न्या.कु. अवतरणिका, १।३*

५. *तत्र नानुपलब्धे न निर्णीते अर्थे न्याय: प्रवर्तते किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे।*
-न्यायभाष्य, १।१।१

६. *तदिह संक्षेपत: पंचतयी विप्रतिपत्ति :-*
(१) अलौकिकस्य परलोक साधनस्याभावात्।
(२) अन्यथापि परलोक साधनानुष्ठान संभवात्।

(३) तद्भावावेदक प्रमाण सद्भावात् ।
(४) सत्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् ।
(५) तत्साधक प्रमाणाभावात् ।

७. विफला विश्ववृत्तिर्नो न दु:खेकफलापि वा ।
दृष्ट लाभ फला वाऽपि विप्रलम्भोपि नेदृशः ।

८. हेतु भूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्नेव च ।
स्वभाव वर्णना नैवकवधेः नियतत्त्वतः ।

९. विरध्वस्तं फलायासं न कर्मातिशयं विना ।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतेरपि ।

१०. प्रमाया परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसंभवात् ।- २/१
तदन्यस्मिन् अविश्वासात् न विद्यान्तर सभवः ।
जन्म संस्कार विद्यादेः शक्तेः स्वाध्याय कर्मणोः ।
ह्रास दर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्यमीयताम् । २/३

११. योज्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम् ।
क्वायोग्य बाध्यते श्रृंगं क्वानुमानमनाश्रयम् ॥

१२. अप्रोपृरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थे अनुभवो मानमनपेक्षत्येष्यते ॥
मितिः सम्यक् परिच्छिस्तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोगव्यच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ।

१३. कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्या विशेषाच्च साध्यौ विश्वविदव्ययः ।

१४. पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ।
परिमाणो परिमितिः पारिमाण्डल्यमुच्यते ।

बौद्धेतर दर्शनों की दृष्टि में माध्यमिक दर्शन

प्रस्तुत विषय इतना विस्तृत और बहुआयामी है कि इसके सभी आयामों से सम्बन्धित संक्षिप्त विचारों को भी एक बहुत बड़े शोधप्रबन्ध की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। अत: प्रस्तुत निबन्ध में कतिपय मुख्य बिन्दुओं को आधार बनाकर विचार करने का प्रयास किया गया है। इन बिन्दुओं में (१) भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के नवीन वर्गीकरण में माध्यमिक दर्शन का स्थान (२) भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में माध्यमिक दर्शन के खण्डन का स्वरूप और उसकी समीक्षा (३) माध्यमिक दर्शन के अनुरूप प्रतीत होने वाले भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के साथ इसकी तुलना आदि को प्रमुखता दी गई है।

१. भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के नवीन वर्गीकरण में माध्यमिक दर्शन का स्थान

इस संदर्भ में विचार के लिए यह प्रश्न उठाना असंगत न होगा कि दर्शन के साथ भारतीय विशेषण से हम क्या संकेत करना चाहते हैं, क्योंकि दर्शन सम्प्रदायों पर विचार करते हुए अन्य प्राचीन दार्शनिकों ने कहीं भी भारतीय दर्शन शब्द का कोई उल्लेख नहीं किया है। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में भी भारतीय दर्शन शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इससे लगता है कि यूरोपीय दर्शन के अध्ययन-अध्यापन के प्रारम्भ होने के पश्चात् यूरोपीय दर्शन से अलग करने के लिये डॉ. राधाकृष्णन, डॉ.सुरेन्द्र दास गुप्ता, डॉ. जे.एन. सिन्हा आदि ने यहाँ के दर्शनों को भारतीय दर्शन कहना प्रारम्भ किया है, किन्तु कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि भारतीय कहने से उनका क्या तात्पर्य है। क्योंकि यदि भौगोलिक दृष्टि से भारतीय विशेषण को दर्शन के साथ सम्बद्ध किया जाए तो एक विचित्र स्थिति उत्पन्न होगी। जैसाकि इतिहास साक्षी है भारत की भौगोलिक सीमा घटती गई है और स्वतंत्रता के पश्चात् भारत भू-भाग के तीन भाग हो गए हैं- भारत, पाकिस्तान और बांगलादेश। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना होगा कि भौगोलिक दृष्टि से भारतीय विशेषण को सार्थक बनाने के लिए किस काल के भारत भू-भाग को लिया जाएगा। भौगोलिक अर्थ में भारतीय विशेषण की संगति में कठिनाई को देखते हुए यदि कहा जाए कि भारत में अध्ययन-अध्यापन में आने वाले दर्शन भारतीय हैं तो आधुनिक भारत के संदर्भ में उन सभी दर्शनों को जो भारत के विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन में हैं, भारतीय कहना पड़ेगा, जिससे भारतीय विशेषण द्वारा यूरोपीय आदि दर्शनों का व्यावर्त्तन भी सम्भव नहीं होगा। इस कठिनाई से बचने के लिए यदि भारतीय विशेषण को भारत में उत्पन्न अर्थ में संगत बनाने का प्रयास किया किया जाए तो यह विचार करना आवश्यक हो जाएगा कि यहाँ 'भारत' से किस काल के भारत के भू-भाग को लिया जाएगा और तिब्बत, चीन, जापान, श्रीलंका एवं अन्य पूर्वी द्वीप-समूहों में बौद्ध दर्शन का जो रूप विकसित हुआ है वह भारतीय दर्शन के अन्तर्गत किस प्रकार आ सकेगा। इन आपत्तियों को देखते हुए इस अर्थ में भी भारतीय विशेषण की संगति का निर्वाह नहीं हो पाता। अत: सुझाव के रूप में एक अन्य विकल्प यहाँ विचार के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि भारतीय पूर्वमान्यताओं को स्वीकार या निषेध करने वाले दर्शन भारतीय दर्शन हैं। भारतीय पूर्वमान्यताओं में मुख्य तीन बिन्दु हैं- कर्मवाद, पुनर्जन्म

और पुरुषार्थ। जो दर्शन इन पूर्व मान्यताओं को आधार बनाकर इनके पक्ष या विपक्ष में विचार करते हैं, उन्हें भारतीय दर्शन कहा जाएगा।

इस संदर्भ में दूसरा विचारणीय प्रश्न है भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण। भारतीय दर्शन का परम्परागत वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक दर्शन के रूप में रहा है। पाणिनि[1] ने परलोक में आस्था और अनास्था को आधार बनाकर इसकी व्याख्या की है। सामान्य व्यवहार में ईश्वर के अस्तित्त्व और अनस्तित्त्व के आधार पर इसकी व्याख्या की जाती है। किन्तु पारिभाषिक रूप में वेदों की मान्यता और अमान्यता के आधार पर इसकी सार्थकता प्रदर्शित की जाती है। यहाँ यह भी संकेत कर देना आवश्यक हैं कि आस्तिक दर्शनों में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा–उत्तरमीमांसा (वेदान्त) और नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शनों की गणना को भारतीय दर्शन का वर्गीकरण मान लिया जाता है। जबकि भारतीय दर्शनों के अनेक वर्गों की यहाँ कोई चर्चा ही नहीं होती, जैसे आगम एवं तंत्र, जिनके अन्तर्गत वैष्णवागम, शैवागम, शाब्दागम, सौर्यागम एवं गाणपत्यागम सम्मिलित हैं। इनमें प्रत्येक के अनेक भेद हैं, जिनकी परिगणना वर्गीकरण के अवसर पर होनी चाहिए। भारत के विभिन्न भागों में अनेक सन्तों ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से अनेक दार्शनिक मतों की स्थापना की है, जिनमें से अधिकांश आज भी भारतीय समाज के नैतिक जीवन को सुव्यवस्थित करने में सहायक हैं। भारतीय दर्शनों की परिगणना के अवसर पर इनके दर्शनों का भी समावेश किया जाना चाहिए। इसी तरह पुराणों, स्मृतिग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में जो दार्शनिक विधायें उपलब्ध होती हैं, उन्हें भी भारतीय दर्शन में समुचित स्थान प्राप्त होना चाहिए।

अत: यहाँ यह कहा जा सकता है कि परम्परागत वर्गीकरण एवं परिगणना जहाँ एक ओर अपूर्ण है, वहीं दूसरी सर्वमान्य भी नहीं है, क्योंकि जिस पारिभाषिक अर्थ में आस्तिक एवं नास्तिक शब्दों की सार्थकता प्रदर्शित की गई है, सभी विचारक इस पारिभाषिक अर्थ में आस्तिक-नास्तिक भेद को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रकीर्ति के वचन को यहाँ उद्धत किया जा रहा है कि- "हम लोग नास्तिक नहीं हैं, हम लोग अस्तित्त्व और अनस्तित्त्व दोनों का निराकरण करते हुए निर्वाण की ओर ले जाने वाले अद्वैत पथ का प्रकाशन करते हैं[२]।" इससे इस परम्परागत वर्गीकरण की सर्वमान्यता संदिग्ध हो जाती है। साथ ही साथ यह बहुत वैज्ञानिक भी नहीं है क्योंकि इस वर्गीकरण का कोई तात्त्विक आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसलिए भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के नवीन वर्गीकरण की आवश्यकता है और उस वर्गीकरण में माध्यमिक दर्शन के स्थान पर विचार करना अपेक्षित है। भारतीय दर्शन के नवीन वर्गीकरणों के लिए आधारों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव यहाँ विचारार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं- नवीन वर्गीकरण के आधार के लिए मुख्य रूप से प्रतिपादन शैली और प्रतिपादन विषय को लिया जा सकता है। शैली की दृष्टि से निरूपणात्मक शैली, प्रतिपादनात्मक या विवेचनात्मक शैली तथा समीक्षात्मक शैली (साग्रह समीक्षात्मक एवं अनाग्रह समीक्षात्मक) को आधार मानकर भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण की आवश्यकता है। निरूपणात्मक शैली के अन्तर्गत उन दार्शनिक ग्रंथों या सम्प्रदायों को रखा जा सकता है जो केवल अपनी दार्शनिक मान्यताओं का निरूपण करते हैं। उसकी स्थापना के लिए कोई विशेष युक्तियों का प्रयोग नहीं करते, जैसे-वैशेषिक सूत्र, गीता, सांख्यकारिका, धम्मपद आदि। प्रतिपादनात्मक या विवेचनात्मक शैली के अन्तर्गत उन दार्शनिकों को रखा जा सकता है जो अपनी मान्यता के आधार पर अपने प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण तर्क और युक्तियों के आधार पर करते हैं तथा कुछ सीमा तक दूसरे मतों का खण्डन भी अपने सिद्धांत की स्थापना के लिए करते हैं। इस वर्ग में भारतीय दर्शन के अधिकांश विचारकों को रखा जा सकता है। समीक्षात्मक शैली के अन्तर्गत उन चिन्तकों को रखा जा सकता है जिनकी दार्शनिक कृति का मुख्य लक्ष्य दार्शनिक मान्यताओं का

परीक्षण करना होता है। इसके अन्तर्गत भी दो दृष्टियाँ हो सकती हैं, जिसको यहाँ साग्रह समीक्षा और अनाग्रह समीक्षा शब्दों के द्वारा संकेतित किया गया है। साग्रह समीक्षा में समीक्षक किसी मत की स्थापना को ध्यान में रखते हुए तर्क और युक्तियों का प्रयोग करते हुए अन्य मतों का खण्डन करता है, किन्तु अनाग्रह समीक्षा में समीक्षक के समक्ष कोई पक्ष नहीं रहता वह तर्क और युक्तियों से सभी मान्यताओं का परीक्षण करता है, भले ही वह मान्यता उसके अपने सम्प्रदाय से भी सम्बन्धित क्यों न हो। मुझे लगता है कि साग्रह समीक्षा में खण्डनखण्डखाद्य को और अनाग्रह समीक्षा में मूलमाध्यमिक-कारिका को रखा जा सकता है।

भारतीय दर्शन के नवीन वर्गीकरण के लिए प्रतिपाद्य विषय को आधार बनाते समय निम्नलिखित आधार बिन्दुओं को ध्यान में रखा जा सकता है। प्रमाण की संख्या के आधार पर (एक प्रमाणवाद, द्विप्रमाणवाद, त्रिप्रमाणवाद अनेक प्रमाणवाद आदि), तत्त्व की संख्या के आधार पर (एकतत्त्ववाद, द्वैतवाद, अनेकतत्त्ववाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वयवाद आदि), स्वीकृत तत्त्व के स्वरूप के आधार पर (जड़वाद, चेतनावाद, उभयवाद), सत्ता के स्वरूप के आधार पर (बाह्यार्थसत्तावाद, अबाह्यार्थसत्तावाद, उभयसत्तावाद, अनुभयसत्तावाद, अथवा शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, ऐकान्तवाद, अनेकान्तवाद, एवं मध्यममार्ग आदि), कार्यकारण के स्वरूप के आधार पर (सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद, अजातिवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि) नवीन वर्गीकरण का विचार किया जा सकता है। इस संदर्भ में माध्यमिक दर्शन के प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रखते हुए इस नवीन वर्गीकरण में उसके स्थान का विचार किया जाना उचित होगा। माध्यमिक दर्शन के प्रतिपाद्य विषय का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते समय हम इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार करने का प्रयास करेंगे।

२. अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में माध्यमिक दर्शन के खण्डन का स्वरूप एवं उसकी समीक्षा

गौतम के न्यायसूत्र एवं वात्स्यायन के न्यायभाष्य में माध्यमिक दर्शन या शून्यवाद का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। न्याय दर्शन के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक के चौदहवें सूत्र[३] की अवतरिणका में वात्स्यायन ने इस सूत्र में संकेतित मत को प्रावादुक लोगों की दृष्टि कहा है[४]। किन्तु विश्वनाथ ने उक्त सूत्र की दृष्टि में इसे शून्यतोपादान की संज्ञा दी है और इसे शून्यता उपादान का समर्थक पूर्वपक्ष स्वीकार किया है[५] तथा इसी आह्निक के अठारहवें सूत्र के अन्त में अपनी वृत्ति में यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि शून्यता उपादान निराकरण प्रकरण समाप्त हुआ।[६] इसी प्रकार इसी आह्निक के ३७ वें सूत्र में वात्स्यायन ने इसे एक दूसरा एकान्त मत माना है[७] जिसे विश्वनाथ ने सर्वशून्यता की संज्ञा दी है[८] और इस प्रकरण के अन्त में यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि सर्वशून्यता निराकरण प्रकरण समाप्त हुआ[९]। यहाँ यह विचारणीय है कि न्याय दर्शन के सूत्र, भाष्य एवं वृत्ति में उक्त संदर्भ में पूर्वपक्ष के रूप में जो मत उपस्थित किया गया है और सिद्धान्त दृष्टि से जिसका खण्डन किया है, वह माध्यमिक दर्शन का मत है अथवा नहीं। यदि पूर्वपक्ष माध्यमिक का मत हो तो खण्डन की समीक्षा आवश्यक होगी और यदि पूर्वपक्ष ही माध्यमिक का मत न हो तो उस खण्डन का माध्यमिक का खण्डन मानना कथमति न्यायसंगत न होगा। उक्त संदर्भ के प्रथम प्रकरण में यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है कि असत् या अभाव से सत् या भाव की उत्पत्ति होती है और इसके लिए हेतु दिया गया है कि बीज का विनाश (उपमर्दन) कर अंकुर की उत्पत्ति होती है। यदि बीज का विनाश या उपमर्दन नहीं होता तो अंकुर की उत्पत्ति भी नहीं होती[१०]। इस पूर्वपक्ष को किसी प्रकार माध्यमिक दर्शन का मत मानना संगत नहीं है, क्योंकि माध्यमिक दर्शन में कहीं भी यह स्वीकार नहीं किया गया है कि असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। नागार्जुन ने प्रत्यय परीक्षा में यह स्पष्ट निर्देश किया है कि न सत्, न असत् और न सत्-असत् धर्म की उत्पत्ति सम्भव

हो सकती है, ऐसी स्थिति में उत्पत्ति की स्थापना सम्भव नहीं तब उत्पादक प्रत्यय की स्थापना किस प्रकार की जा सकेगी[11] । नागार्जुन के उक्त स्पष्ट कथन को देखते हुए भी यह स्वीकार करना कि माध्यमिक दर्शन असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है स्पष्ट रूप से किसी अन्य के मत को माध्यमिक दर्शन के ऊपर बलपूर्वक थोपना कहा जाएगा। उक्त संदर्भ के द्वितीय प्रकरण में पूर्वपक्ष के रूप में यह स्थापित किया गया है कि जो कुछ भाव है वह सब कुछ अभाव है, क्योंकि भावों में इतर-इतर का अभाव सिद्ध हो जाता है, जैसे अश्व की दृष्टि से गौ असत् है उसे अनश्व कहना संगत है, उसी प्रकार गो की दृष्टि से अश्व असत् है उसे अगौ कहा जा सकता है। इस प्रकार सभी भावों का निषेध-मुख निर्वचन होने के कारण उनके भावत्व की सिद्धि नहीं होती, अपितु उनका अभावत्व ही सिद्ध होता है । यदि इसे माध्यमिक का मत माना जाए तो यह मानना होगा कि माध्यमिक दर्शन सभी पदार्थों या तत्त्वों को अभाव रूप में स्वीकार करता है, जो किसी प्रकार संगत नहीं लगता। माध्यमिक दर्शन न तो भाव की स्वीकृति के पक्ष में है और न अभाव के। नागार्जुन ने स्पष्ट रूप से ऐसे लोगों को तत्त्वद्रष्टा नहीं माना है जो लोग स्वभाव एवं परभाव तथा भाव एवं अभाव को देखते हैं।[12] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वनाथ की वृत्ति में शून्यता के नाम से जिन प्रकरणों का उल्लेख किया गया है वे प्रकरण किसी प्रकार भी माध्यमिक दर्शन के मत को प्रस्तुत नहीं करते हैं। विश्वनाथ ने भी उक्त संदर्भों में यह कहीं नहीं कहा है कि ये शून्यवादी मत बौद्धों के हैं अथवा माध्यमिक दर्शन के हैं। उन्होंने मात्र यही कहा है कि शून्यता-उपादान प्रकरण एवं सर्वशून्यता प्रकरण और इन दोनों स्थलों पर शून्य को अभाव का पयार्यवाची माना है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कोई ऐसा दार्शनिक मत रहा होगा जो 'अभाव' और 'शून्य' को पर्यायवाची मानकर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करता रहा होगा।

अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में माध्यमिक के खण्डन के प्रसंग में न्यायदर्शन के उक्त विवरण के पश्चात् आचार्य शंकर के दर्शन को लिया जा सकता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आचार्य शंकर ने अन्य दार्शनिक मतों के खण्डन के लिए उनके मतों को उपस्थित किया है और उनमें विरोध एवं असंगति प्रदर्शन करते हुए उनका खण्डन किया है, किन्तु शून्यवाद के खण्डन के प्रसंग वैसा नहीं किया है। मात्र इतना कहा है कि शून्यवादी का पक्ष तो सभी प्रमाणों से प्रतिषिद्ध है इसलिए उसके खण्डन को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है । इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा है कि सभी प्रमाणों से प्रसिद्ध इस लोकव्यवहार का किसी अन्य तत्त्व को प्राप्त किये बिना निराकरण सम्भव नहीं है। क्योंकि अपवाद के अभाव में सामान्य नियम (उत्सर्ग) की सिद्धि माननी पड़ती है[13] । आचार्य शंकर के उक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका शून्यवादी पक्ष को उपस्थित किए बिना उसे सर्वप्रमाण प्रतिषिद्ध कहना शून्यवाद के साथ न्याय नहीं है और उनके सदृश दार्शनिक चिंतक के अनुरूप नहीं है। शून्यवाद का समुचित रूप से खण्डन न करने के कारण ही भारतीय दर्शन परम्परा में अनेक दार्शनिकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। इस आरोप से आचार्य शंकर को बचाने के लिए उनके अनुयायी दार्शनिकों ने शून्यवाद एवं अद्वैतवाद में अंतर दिखलाने का प्रयास भी किया है। इस प्रसंग का एक संक्षिप्त विवरण माध्यमिक दर्शन के विषय में अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों की दृष्टि को स्पष्ट करने में सहायक होगा। अत: यहाँ इसका एक संक्षिप्त विवरण स्थाने होगा।

श्री रामानुजाचार्य ने अपने श्री भाष्य में आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध मानते हुए यह कहा है कि इस प्रकार सकर्मक सकर्तृक ज्ञाधातु के अर्थ से सर्वलोक साक्षिक अपरोक्ष रूप से अवभासमान होने के कारण ज्ञानमात्र को ही परमार्थ सिद्ध करने वाले सभी लोगों के उपहास के पात्र बनते हैं। वेदवाद के छद्म में प्रच्छन्न बौद्ध के निराकरण के संदर्भ में इसे गम्भीरता से प्रदर्शित किया गया है[14] । पद्म पुराण में तो मायावाद को भी दर्शन में महत्त्व देने के कारण शंकर दर्शन को प्रच्छन्न बौद्ध, असत् शास्त्र एवं अवैदिक

कहा गया है[15]। इसी प्रकार भास्कराचार्य ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में भेदाभेदवाद का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर द्वारा समर्थित मायावाद को महायान सम्प्रदाय का सिद्धान्त मानते हैं। उन्होंने शंकर के मायावाद को निन्दनीय, विच्छिन्न सूत्र वाले महायान बौद्ध द्वारा समर्थित, लोगों को व्यामोहित करने वाला सिद्धांत माना है[16] और यह संकेत किया है कि बौद्ध मत का अवलम्बन करने वाले मायावादी सिद्धांत का भी इसी प्रकार खण्डन सूत्रकार द्वारा किया गया है यह समझ लेना चाहिए[17]। शतदूषणी में यादव प्रकाश ने भी शांकरवेदान्त और बौद्ध दर्शन को समानतंत्र कहा है[18]। श्रीकृष्ण मिश्र ने अपने प्रबोधचन्द्रोदय में बौद्ध और वेदान्त को समान मानते हुए यह कहा है कि प्रत्यक्ष आदि प्रभाव से सिद्ध अर्थ के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त को यदि दर्शन शास्त्र कहा जाए तो बौद्ध दार्शनिकों का क्या अपराध है अर्थात् इसी प्रकार के सिद्धांत के स्थापन करने वाले उनके दर्शन को भी शास्त्र क्यों न कहा जाए[19]। इसी प्रकार मीमांसा के प्रसिद्ध ग्रन्थ शास्त्रदीपिका में मायावाद के समर्थन करने वाले अद्वैत वेदान्त से बौद्धमत को अच्छा माना गया है[20]। शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध बतलाने वाले उक्त उद्धरणों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन उद्धरणों में शंकर के मायावाद को बौद्धदर्शन के महायान का सिद्धांत मानकर उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है। अन्य किसी ऐसी मान्यता का उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर महायान बौद्ध दर्शन और शंकर दर्शन में समता या एकता की स्थापना परिलक्षित होती हो। किन्तु शंकर के अनुयायी दार्शनिकों ने उक्त आरोपों को निराधार बतलाने के स्थान पर शंकर दर्शन और माध्यमिक दर्शन में भेद दिखलाकर उक्त आरोप के खण्डन का प्रयास किया है। इसके लिए छान्दोग्य उपनिषद् के शांकरभाष्य का यह उद्धरण कि- "तब तो दिक्, देश, काल, गुण, गति, फल आदि भेदों से शून्य जो शून्य है वही ब्रह्म है, वही परमार्थ सत्य है, वही अद्वय ब्रह्म है। मन्दबुद्धि वाले लोगों को वह असत् प्रतीत होता है[21]।" उसी तरह ब्रह्मसूत्र के इस उद्धरण को कि -"यह प्रतिषेध ब्रह्म में समाप्त होता है न कि अभाव में[22]" तथा मांडूक्य कारिका का यह उद्धरण कि -"ज्ञान, ज्ञेय ज्ञाता आदि भेद से रहित परमार्थ तत्त्व अद्वय है यह बुद्ध ने नहीं कहा था। यह तो परमार्थ तत्त्व अद्वैत वेदान्त में ही समझा जाता है[23]।" श्री वाचस्पति मिश्र ने भी शांकर-वेदान्त को शून्यवाद से पृथक् करते हुए कहा है कि आरोपित का निषेध होना चाहिए। आरोप तत्त्व के आधार पर ही होता है, जैसे शुक्ति आदि में रजत आदि। यदि कोई तत्त्व ही नहीं है तो कहाँ किसका आरोप होगा। इसीलिए निष्प्रपञ्च परमार्थसत् ब्रह्म जो अनिर्वाच्य है प्रपञ्च रूप से आरोपित होता है। उस तत्त्व को व्यवस्थापित कर व्यावहारिक प्रमेयों को बाधित होने के कारण अतात्त्विक माना जाता है[24]। आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ने न्यायमकरन्द नामक अपने ग्रन्थ में यह स्पष्ट किया है कि जो लोग यह मानते हैं कि ब्रह्मवादियों की स्थापना में महायान बौद्ध पक्ष का प्रवेश हो जाता है यह उनका मोह है और मूर्खतापूर्ण कथन है। हम लोग नीलादि आकार वाले संविद् स्वीकार नहीं करते हैं, जिससे महायानिक पक्ष का प्रवेश हो जाए, किन्तु हम लोग यह मानते है कि प्रपञ्च अनादि अविद्या के कारण अलीक निर्भास के आकार में भासित होता है[25]।

आचार्य प्रकाशात्मा ने अपने पञ्चपादिका विवरण में यह कहा है कि जो लोग यह मानते हैं कि विज्ञानवाद और वेदान्तवाद समान हैं वे दुर्जनों को अच्छा लगने वाले वचन बोलते हैं। यह चिन्ता का विषय है[26]। श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में ब्रह्मवाद और सौगत मत में भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन दोनों में विशेष बात यह है कि जहाँ सौगत मत में सब कुछ अनिर्वचनीय कहा जाता है, वहाँ ब्रह्मवाद में विज्ञान से अतिरिक्त विश्व को सत्त्व-असत्त्व से अनिर्वचनीय कहा जाता है[27]।

शंकर पर प्रच्छन्न बौद्धता के लगाए गए आरोप के निवारण के लिए शंकरानुयायियों के द्वारा प्रस्तुत उद्धरण जो ऊपर दिए गए हैं, उनकी विस्तृत व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। उनके संदर्भ में यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि ये लोग माध्यमिक दर्शन और शंकर दर्शन में मुख्य भेदक

बिन्दु के रूप में यह स्वीकार करते हैं कि शंकर दर्शन जगत् प्रपञ्च का निषेध के आश्रय के रूप में ब्रह्म को स्वीकार करता है जबकि माध्यमिक दर्शन बिना किसी आधार को स्वीकार किए ही प्रपञ्च को अस्वीकार करता है। साथ ही साथ शंकर दर्शन में परमतत्त्व के रूप में ब्रह्म की सत्ता स्वीकृत है। यदि उसी रूप में शून्य को भी देखा जाए तो शून्य ब्रह्म का पर्यायवाची बन जाता है, जो माध्यमिकों को स्वीकार्य नहीं है।

इस बिन्दु पर विस्तृत विचार कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक में उपलब्ध होता है। कुमारिल भट्ट ने औत्पत्तिक सूत्र के प्रसंग को २६४ कारिकाओं में शून्यवाद की स्थापना और उसका खण्डन करने का प्रयास किया है[२८]। साथ ही साथ कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में अपोहवाद का खण्डन भी १७६ कारिकाओं में किया है, जिसका विस्तृत विवरण यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी इतना यहाँ संकेत कर देना आवश्यक है कि शाबर भाष्य[२९] में शून्यवाद के सिद्धांत के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया गया है कि ज्ञान एवं उसके विषय में कोई आकार भेद नहीं होता है। इसी आधार पर श्लोकवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने पहले ६३ श्लोकों में शून्यवाद को स्थापित करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया है कि बाह्य वस्तु का आकार ज्ञान में भासित नहीं होता, अपितु निराकार ज्ञान ही वासनावशात् बाह्य वस्तुओं का आकार ग्राह्य करता है। इसलिए वासनावशात् ज्ञान जिस समय जिस आकार का ग्रहण करता है उस समय बाह्य वस्तु में उस आकार की सत्ता प्रतीत होती है। इसके लिए अनेक महत्त्वपूर्ण तर्क दिए गए हैं, जिनमें एक यह भी है कि जिस प्रकार स्त्री के शव को संन्यासी, कामी एवं कुत्ता क्रमशः शव, कामिनी एवं भोजन के रूप में देखते हैं वैसे ही वस्तु एक है किन्तु उनकी वासना में भिन्नता है। उसी प्रकार बाह्य वस्तु के आकार के कारण ज्ञानभेद नहीं होता, किन्तु वासनाओं के कारण ही ज्ञानभेद होता है।

इसके पश्चात् उपर्युक्त स्थापना का युक्तियों के आधार पर खण्डन किया गया है और ज्ञान में आकार भेद के हेतु के रूप में बाह्यार्थ की सत्ता को सिद्ध किया गया है। निष्कर्ष में यही दिखलाया गया है कि शून्यवादी बाह्यार्थ भंग के आधार पर सर्वशून्यता की स्थापना करते हैं। अतः बाह्यार्थ भंग के खण्डन हो जाने से शून्यवाद का खण्डन हो जाता है। जैन दार्शनिक मल्लिषेण ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ स्यादवाद् मंजरी में बड़े विस्तार के साथ शून्यवाद के खण्डन का प्रयास किया है। उनका मुख्य आधार यह है कि शून्यवाद अपने पक्ष की स्थापना के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किसी प्रमाण का उपयोग नहीं करता है। और बिना प्रमाण के स्थापित मत पर किस प्रकार विश्वास किया जा सकता है। शून्यवादियों की यह मान्यता कि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण[३०] और प्रमिति ये चारों परिकल्पित वस्तुयें हैं। किसी भी दशा में इनका विचार संगत नहीं है। मल्लिषेण ने इन चारों को अर्थात् प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति को अपने मत से स्थापित करते हुए शून्यवादियों की दृष्टि और तर्कों का खण्डन किया है और यह दिखलाने का प्रयास किया है कि शून्यवाद जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व की स्थापना करना चाहता है, वह प्रमाणाभाव तथा तार्किक-विरोध के कारण सम्भव नहीं है[३१]। इतना यहाँ संकेत कर देना आवश्यक लगता है कि माध्यमिक की तत्त्वदृष्टि को प्रस्तुत करने में अन्य भारतीय दार्शनिकों की अपेक्षा मल्लिषेण अधिक स्पष्ट हैं और आग्रहरहित हैं, क्योंकि इन्होंने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि माध्यमिक तत्त्व को सत्, असत्, उभय एवं अनुभय इन चारों कोटियों से विनिमुक्त मानते हैं [३२]।

३. माध्यमिक दर्शन का तुलनात्मक सर्वेक्षण

इस बिन्दु पर विचार करते समय माध्यमिक दर्शन का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक लगता है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, पद्धति की दृष्टि से माध्यमिक दर्शन अनाग्रह समीक्षा का दर्शन है। अतः यहाँ उसकी पद्धति का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह भी संकेत किया गया है कि अनाग्रह समीक्षा में समीक्षक किसी भी मत, अवधारणा या प्रयुक्त होने वाले सभी मतों,

अवधारणाओं और सिद्धांतों को सामान्य रूप से लेकर उसकी तार्किक परीक्षा करता है। भारतीय दर्शनों में नागार्जुन की यह अनाग्रह समीक्षा इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसके आधार पर इन्हें सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कहा जाना चाहिए था। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारतीय चिंतकों ने नागार्जुन की इस शैली को महत्त्व दिए बिना उनकी तत्त्वमीमांसा के खण्डन का प्रयास किया है। जबकि नागार्जुन ने स्वयं ही यह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है कि दर्शन के मत, अवधारणा और सिद्धांत दृष्टियाँ हैं और दृष्टियाँ सदा ही सापेक्ष होती हैं, दृष्टियों से ऊपर उठना ही दर्शन का कार्य है। यदि दृष्टियों से ऊपर उठने की प्रक्रिया को भी दृष्टि मान लिया जाए तो बड़ी कठिनाई होगी और अनाग्रह दर्शन समीक्षा सम्भव नहीं होगी[33]। दार्शनिक विवेचन में चिंतन और अभिव्यक्ति ये दो धरातल हैं। चिंतन के धरातल पर जितनी सूक्ष्मता और गम्भीरता एवं स्पष्टता सम्भव है, अभिव्यक्ति के धरातल पर उतनी सूक्ष्मता, गम्भीरता एवं स्पष्टता संभव नहीं है। भाषा में जिन शब्दों एवं प्रतीकों का प्रयोग होता है उनमें इतनी क्षमता नहीं होती है कि वे चिंतन में आए भावों को इतनी ही गम्भीरता एवं स्पष्टता से व्यक्त कर सकें, क्योंकि इन शब्दों एवं प्रतीकों के दूसरे अर्थ में प्रयोग भी किया जाता है और किया जा सकता है। अपनी शैली को स्पष्ट करने के लिए नागार्जुन ने जिस शून्य शब्द को लिया है, उसके साथ भी अन्य दार्शनिकों ने न्याय नहीं किया है। उसका अर्थ भी अपनी-अपनी दृष्टि से लगाकर शून्यवाद का खण्डन किया है। नागार्जुन ने अपने निष्पक्ष चिंतन को जिस सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है उसका आधार विशुद्ध तार्किकता है। अपनी अनाग्रह समीक्षा में वे यह दिखलाना चाहते हैं कि दार्शनिक अवधारणाएँ सामान्यतया जैसा प्रतीत होती हैं और व्यवहार में जैसा मानी जाती हैं विचार में उनकी वही स्थिति नहीं होती। इसीलिए विचार में जो उनकी स्थिति है उस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। किन्तु संकट यह है कि विचार को अभिव्यक्त करते समय पुन: उसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है, जिसके कारण समस्त कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि नागार्जुन ने अपनी मूलमाध्यमिककारिका के प्रकरणों को परीक्षा कहा है और प्रत्येक प्रकरण में किसी एक दार्शनिक अवधारणा को लेकर दार्शनिक चिंतन के सूक्ष्म उपकरणों (शास्त्र) से उसकी शल्यक्रिया की है। इस शल्यक्रिया द्वारा वे यह दिखलाना चाहते हैं कि इन अवधारणाओं का कोई भी अपना स्वभाव नहीं हैं, जिन्हे जब जिस स्थिति में लिया जाता है, विचार करने पर वहीं ये सापेक्षता एवं व्याघात जैसे दोषों से इस प्रकार घिर जाती हैं कि उससे इन्हें किसी प्रकार निकालना सम्भव नहीं है। व्याघात देखते हुए किसी को स्वीकार कर लेना और सापेक्षता के रहते हुए किसी के अस्तित्त्व को निरपेक्ष मान लेना तार्किक बुद्धि का पूर्णरूप से तिरस्कार करना है। तार्किक बुद्धि इन दोषों का प्रदर्शन इसलिए करती है कि जिन अवधारणाओं में ये दोष हैं, उनकी नि:सारता एवं नि:स्वभावता समझ ली जाए। इसके पश्चात् भी यदि कोई उन्हें स्वीकार करता है, उनका स्वभाव मानता है, उनके अस्तित्त्व की चर्चा करता है तो बुद्धि उसे किसी दण्डप्रहार से रोकने नहीं जाती है। उसे तो अपना ही तिरस्कार मानकर उसकी जड़ता पर वह स्वयं ही विस्मित होती है। नागार्जुन की इस समीक्षा पद्धति को कुछ उदाहरणों द्वारा यहाँ समझ लेना उचित होगा।

व्यवहारिक जीवन में तथा दार्शनिक चिंतन में गति का व्यवहार एवं विचार होता है। जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है गति है, इसका व्यवहार होता रहा है और होता रहेगा। किन्तु जब गति पर विचार किया जाता है तो इसके साथ अन्य दो अवधारणाएँ आवश्यक हो जाती हैं-गन्ता और गन्तव्य। क्योंकि यदि जाने वाले (गन्ता) को न मानकर गति की चर्चा की जाय तो वह सम्भव ही नहीं है। उसी प्रकार जाने के लिए यदि किसी मार्ग को स्वीकार न किया जाए तो भी गति सम्भव नहीं होगी। अत: गति के विचार के संदर्भ में एक ओर गन्ता और दूसरी ओर गन्तव्य को लेना आवश्यक है। यहाँ पहले गन्तव्य मार्ग पर विचार करना आवश्यक है। काल की दृष्टि से इस मार्ग को सामान्यतया दो भागों में विभक्त किया जा

सकता है। अर्थात् गत (वह मार्ग जिस पर गति सम्पन्न हो चुकी है) एवं अगत (वह मार्ग जिस पर गति आरम्भ नहीं हुई है) । इन दोनों के साथ गति की संगति नहीं बनती, क्योंकि गत पर गति समाप्त हो चुकी है और अगत पर गति प्रारम्भ ही नहीं हुई है। अब इन दोनों के मध्य कोई ऐसा मार्ग शेष नहीं बचता जिसे गम्यमान मार्ग कहा जाए। ऐसी स्थिति में मार्ग जो गति के लिए नितान्त अपेक्षित है, सिद्ध नहीं हो पाता जिस पर गति सम्भव हो। अब हम दूसरे विकल्प गन्ता को लेते हैं और देखते हैं कि क्या इसकी स्थापना सम्भव है ? किसी को गन्ता कहने के लिए पहले उसमें गति स्वीकार करनी पड़ेगी। यदि उसमें गति नहीं है तो वह गन्ता कैसे कहा जाएगा ? और यदि उसमें गति पहले से ही विद्यमान है तब उसमें पुन: गति मानना निरर्थक है और अभिव्यक्ति में पुनरुक्ति दोष है, जैसे जाने वाला जाता है। यहाँ 'जाने वाले' और 'जाता है' इन दो वाक्य खण्डों के अर्थ में कोई भेद नहीं है। अत: इनके प्रयोग से कोई अभिव्यक्ति नहीं होती है। यदि उक्त विकल्प को न मानकर यह कहा जाए कि अगन्ता में गति होती है तो यहाँ स्पष्ट रूप से व्याघात (Contradiction) दोष आता है, क्योंकि अगन्ता का अर्थ है जिसमें गति न हो उसमें गति मानने पर अभिव्यक्ति का स्वरूप होगा "नहीं जाने वाला जाता है"। इस अभिव्यक्ति में वदतोव्याघात दोष स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। अत: इसे स्वीकार करना तार्किक दृष्टि से कथमपि सम्भव नहीं है। यदि इन दोनों विकल्पों में कठिनाई का अनुभव करते हुए कहा जाए कि गन्ता और अगन्ता से कोई अन्य है, जो जाता है अथवा जिसमें गति होती है तो यह और भी हास्यास्पद है, क्योंकि गन्ता और अगन्ता यह विभाजन सर्वसंग्राहक है। इन दोनों के अतिरिक्त किसी तृतीय वर्ग की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अत: गन्ता के साथ, अगन्ता के साथ एवं किसी अन्य के साथ गति की संगति नहीं बन पाती। इसलिए गन्ता का अस्तित्त्व भी संकटापन्न है। अब इस संदर्भ में एक अन्य विकल्प विचारणीय है कि गति और गन्ता में क्या सम्बन्ध है ? अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध है अथवा भेदाख्य कोई अन्य सम्बन्ध। यदि दोनों में अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध होगा तो कर्त्ता और क्रिया में अभेद मानना पड़ेगा, जिसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की जाएगी कि गमनक्रिया ही गमन करती है अथवा गमन करने वाला ही गमन क्रिया है, जो पूर्णरूपेण असंगत अभिव्यक्ति है और किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। इस आपत्ति से बचने के लिए यदि दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाए कि गमनक्रिया से नितान्त पृथक् गमन करने वाला रहता है और गमन करने वाले से नितान्त पृथक् गमन क्रिया रहती है। यह मानना भी किसी प्रकार तर्कसंगत नहीं लगता। इस प्रकार विचार करने पर गति, गन्ता और गमन किसी का भी अस्तित्त्व सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार गति के लिए आवश्यक किसी भी अंग की सत्ता सिद्ध नहीं होती। अत: गति के अस्तित्त्व को स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं है।

नागार्जुन ने इसी समीक्षात्मक पद्धति द्वारा प्रत्यय, इन्द्रिय, धातु, संस्कृत, दु:ख, संस्कार, स्वभाव, बन्धन-मोक्ष, कर्मफल, आत्मा, काल, भव-विभव, तथागत, आर्यसत्य, निर्वाण, द्वादशाङ्ग एवं दृष्टि आदि की परीक्षा की है और उनकी समीक्षा में वैचारिक शास्त्र के समस्त अवधारणाओं की शल्यक्रिया कर उनकी नि:स्वभावता का स्पष्ट प्रदर्शन किया है। यहाँ इतना कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि दर्शन में जितनी सूक्ष्मेक्षिका का प्रदर्शन नागार्जुन में मिलता है उतना अन्य किसी भारतीय दार्शनिक में नहीं मिलता। हाँ, इस प्रकार की समीक्षा का उदाहरण पाश्चात्य दार्शनिक एफ एच ब्रैडले में भी एक हद तक उपलब्ध होता है।

शून्यवाद की जिस अनाग्रह समीक्षा पद्धति का प्रारम्भ आचार्य नागार्जुन ने किया है, उसे शून्यवादी अन्य आचार्यों ने पल्लवित एवं पुष्पित कर उसका काफी विस्तार किया है। इन आचार्यों में प्रमुख आर्यदेव, स्थविर बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव एवं शान्तरक्षित आदि हैं।

माध्यमिक मत का अन्य मतों के साथ तुलनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के लिए हम यहाँ

माध्यमिक दर्शन के कार्यकारण एवं सत्ता सम्बन्धी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना चाहते हैं। भारतीय परम्परा में कार्यकारण सिद्धांत के संदर्भ में सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, अजातिवाद, विवर्तवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रमुख सिद्धांत हैं। कार्यकारण सिद्धांत के विषय में नागार्जुन की दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यय परीक्षा एवं भव-विभव परीक्षा को देखा जा सकता है। प्रत्यय परीक्षा में नागार्जुन ने कार्य एवं कारण के परस्पर सम्बन्धों की परीक्षा करते हुए इनकी सापेक्षता का प्रदर्शन किया है और यह दिखलाने का प्रयास किया है कि व्यवहार में इनकी मान्यता के आधार पर इनके अस्तित्त्व की स्थापना सम्भव नहीं है। उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से यह विवेचन किया है कि भाव यदि उत्पन्न होगा तो स्वयं होगा या दूसरे से अथवा स्वयं एवं दूसरे दोनों से अथवा बिना हेतु से। इन चार विकल्पों में से किसी विकल्प से भाव की उत्पत्ति मानना तर्कसंगत नहीं है, अत: यह मानना अधिक संगत है कि कभी कोई भाव उत्पन्न ही नहीं होता[३४]। इसी क्रम में हेतु, आलम्बन, समनन्तर एवं अधिपति प्रत्ययों की परीक्षा कर यह स्पष्ट किया गया है कि इन किसी में प्रत्ययता स्थापित नहीं होती, इसलिए यह कहना कि फल प्रत्ययमय होता है अथवा अप्रत्ययमय होता है संगत नहीं है, क्योंकि वास्तव में फल ही नहीं होता है। अत: प्रत्यय या अप्रत्यय कहना कैसे संगत हो सकता है[३५]। इसी प्रकार भव-विभव परीक्षा में नागार्जुन ने यह स्पष्ट बतलाया है कि कोई भाव न तो स्वत: उत्पन्न होता है और न परत:। जब स्वत: या परत: वह उत्पन्न नहीं होता है तो यह कहना कि वह उत्पन्न होता है संगत कैसे हो सकता है।[३६]

उत्पत्ति एवं कार्यकारण के सन्दर्भ में नागार्जुन के कुछ कथनों से कभी-कभी ऐसा लगता है कि नागार्जुन अजातिवाद के सिद्धांत के समर्थक हैं, किन्तु नागार्जुन के समस्त चिंतन के आधार पर उन्हें अजातिवादी मानना न्यायसंगत नहीं लगता क्योंकि उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रतीत्यसमुत्पाद का स्पष्ट निर्देश किया है। तत्त्व के लक्षण के बाद तत्त्व से भेद बतलाते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि जिस किसी को प्राप्त कर जो होता है वह न तो वही होता है और न अन्य ही होता है। अत: उच्छेद एवं शाश्वत दोनों ही नहीं है[३७]। इसी तरह यह भी स्पष्ट किया है कि शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद एवं मध्यमा-प्रतिपद् सब एक ही को कहा जाता है[३८]।

इन कथनों से यह मानना पड़ता है कि कार्य-कारणसिद्धांत के सम्बन्ध में नागार्जुन का मत प्रतीत्यसमुत्पाद के पक्ष में है।

सत्तामीमांसा

तुलनात्मक विवेचन के लिए माध्यमिक के सत्तामीमांसा का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ आवश्यक है। माध्यमिक दर्शन में संवृतिसत्य एवं परमार्थसत्य स्वीकार किए गए हैं। संवृतिसत्य वह है जो संवृति के द्वारा उत्पन्न होते हैं। संवृति शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की जाती है -(क) संवृति उस अविद्या को कहते हैं, जो सत्य वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है। इसके अनेक नाम हैं, जैसे अविद्या, मोह, विपर्यास आदि[३९]। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कामला रोग होने पर रोगी श्वेत वस्तु को पीत रूप में देखता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण भी वस्तु का सच्चा स्वरूप ढक जाता है और उस पर दूसरा रूप आरोपित हो जाता है। अत: आवरण करने के कारण अविद्या को संवृति कहा जाता है। (ख) संवृति का दूसरा अर्थ है हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न वस्तु। अर्थात् जो किसी के आधार पर उत्पन्न होता है, वह संवृति है[४०] उसे ही लौकिक या व्यवहार कहा जाता है। (ग) संवृति का तीसरा अर्थ है संकेत या लोक-व्यवहार। जो नाम रूप, ज्ञान, ज्ञेय आदि रूप होता है[४१]। यह संवृति दो प्रकार की होती है जिसे लोकसंवृति या तथ्यसंवृति एवं अलोकसंवृति या मिथ्यासंवृति कहते हैं। तथ्यसंवृति किसी कारण से उत्पन्न दोषरहित इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध विषयवस्तु रूप होती है। मिथ्यासंवृति भी किंचित्

किसी कारण द्वारा उत्पन्न तो होती है, परन्तु दोष सहित इन्द्रियों द्वारा गृहीत होता है। तथ्यसंवृति को लौकिक दृष्टि से सत्य और मिथ्यासंवृति को लौकिक दृष्टि से असत्य माना जाता है।

परमार्थ सत्य को शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए नागार्जुन ने कहा[४२] है कि समस्त दृष्टियों का निःशरण शून्यता है। जो लोग शून्यता को भी दृष्टि समझते हैं उनको शून्यता समझ में नहीं आती।[४३] यही शून्यता परमार्थसत्य है। जब इसे तत्त्व कहा जाता है तो इसे अपर-प्रत्यय, शान्त, प्रपञ्च से अप्रपञ्चित, निर्विकल्पक एवं अनानार्थ कहते हैं। [४४] समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही परमार्थिक रूप है, क्योंकि जगत् के समस्त पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पाद हैं, उनका अपना कोई स्वभाव नहीं है। उनकी यही निःस्वभावता या शून्यता परमार्थिक सत्य है। नागार्जुन निर्वाण को ही परमार्थसत्य मानते हैं, जिसमें विषयी तथा विषय, कर्ता तथा कर्म किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहती। इसे ही प्रज्ञाकरमति ने सर्वव्यवहार से अतिक्रान्त कहते हुए निर्विशेष, असमुत्पन्न, अनिरुद्ध, अभिधेय और अभिधान से रहित, ज्ञेय और ज्ञान से विगत बतलाया है[४५]। यह परमतत्त्व न तो वाणी का विषय है और न चित्त का। इसे वाणी और चित्त ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने में नितान्त असमर्थ हैं। यह किसी प्रकार शब्द द्वारा अभिव्यक्त होने वाला नहीं है। अतः शब्दातीत होने के कारण उपदेशातीत भी है। पिता-पुत्र समागम सूत्र में इसे अनभिलाप्य, अनाज्ञेय, अपरिज्ञेय, अविज्ञेय, अदेशित, अप्रकाशित, अक्रिय, अकरण बतलाया गया है। इसका वर्णन निषेध मुख से ही सम्भव है, विधिमुख से नहीं। यह प्रत्यात्मवेदनीय है[४६]।

शून्यता के प्रकार

शूयता का स्वरूप भली-भाँति समझने के लिए शून्यता के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त विवरण आवश्यक प्रतीत होता है। 'महाप्रज्ञापारमिता' के ह्वेनसांग द्वारा कृत चीनी अनुवाद में शून्यता के अट्ठारह प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है[४७], किन्तु हरिभद्र के अभिसमयालंकारालोक में शून्यता के बीस प्रकारों का निरूपण मिलता है।[४८]

१. अध्यात्म-शून्यता

अध्यात्म का यहाँ तात्पर्य है छः प्रकार का विज्ञान। इन्हें शून्य माना गया है अर्थात् मानस प्रक्रिया के मूल में इन विज्ञानों के आधारभूत कोई आत्मा नाम का नित्य पदार्थ नहीं है। इसी शून्यता को अध्यात्म शून्यता अर्थात् आन्तरिक-शून्यता कहते हैं।

२. बहिर्धा-शून्यता

यह माना जाता है कि इन्द्रियों के विषय बाह्य हैं, जिनसे ज्ञान उत्पन्न होता है। बहिर्धा-शून्यता में यह निर्देश दिया जाता है कि इन्द्रियों के विषय, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि स्वभावशून्य होने के कारण शून्य हैं।

३. अध्यात्म-बहिर्धा शून्यता

जो लोग अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं, वे दोनों में भेद भी मानते हैं। इस शून्यता में यह प्रदर्शित किया जाता है कि उक्त दोनों का भेद भी वास्तविक नहीं है। अतः दोनों में स्थानमात्र का भेद है। कभी अन्तः बाह्य बन जाता है और कभी बाह्य अन्तः बन जाता है। इसलिए इसे अध्यात्म-बहिर्धा शून्यता कहते हैं।

४. शून्यता-शून्यता

सभी धर्मों की शून्यता सिद्ध करने के बाद लोगों को यह लगता है कि शून्यता कोई तत्त्व या पदार्थ है जिसे प्रयत्न से प्राप्त किया जा सकता है। इसके निराकरण के लिए शून्यता में भी शून्यता का प्रदर्शन किया जाता है, जिसका तात्पर्य है कि शून्यता भी कोई सत् या पदार्थ नहीं है।

५. महाशून्यता

हमारे सामान्य व्यवहार में दस दिशाओं की मान्यता है, किन्तु विचार करने से दिशाओं की कल्पना सापेक्षिक है। किसी को आधार मानकर उससे किसी को पूर्व और किसी को पश्चिम कहा जाता है। महाशून्यता में यह दिखलाया जाता है कि दिशाएँ भी शून्य हैं। इस शून्यता को महाशून्यता कहा जाता है।

६. परमार्थ-शून्यता

शून्यतावाद के अनुसार निर्वाण भी प्रपञ्चशून्य होने के कारण शून्य ही है। निर्वाण को परमार्थ कहा जाता है, इसमें शून्यता का प्रदर्शन परमार्थ- शून्यता है।

७. संस्कृत-शून्यता

संस्कृत का अर्थ है हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न पदार्थ। इसके अन्तर्गत कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु का समावेश किया जाता है। इनसे उत्पन्न पदार्थस्वरूप भी स्वभावशून्य होते हैं। अत: इस शून्यता को संस्कृत-शून्यता कहते हैं।

८. असंस्कृत-शून्यता

असंस्कृत पदार्थ उत्पादरहित एवं विनाशरहित माने जाते हैं, परन्तु इनका अनुत्पाद तथा अनिरोध सापेक्षिक होता है। संस्कृत विरोधी होने के कारण इन्हें असंस्कृत कहा जाता है। अत: जिस प्रकार संस्कृत शून्य है, उसी प्रकार असंस्कृत भी शून्य है। असंस्कृत शून्यता में यही प्रदर्शित किया जाता है।

९. अत्यन्त-शून्यता

इसके द्वारा यह प्रदर्शित किया जाता है कि प्रत्येक अन्त स्वभावशून्य होता है। शाश्वत या नित्यता एक अन्त है, उच्छेद या विनाश दूसरा अन्त है। इन दोनों के मध्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो इनमें भेद स्थापित करे। अत: इनकी शून्यता को प्रदर्शित करना अत्यन्त शून्यता है। कभी-कभी इस शून्यता को शून्यता-शून्यता भी मान लिया जाता है।

१०. अनवराग्र-शून्यता

किसी वस्तु की चर्चा करते समय उसके आरम्भ, मध्य और अन्त का विचार किया जाता है। किन्तु वास्तव में आदि, मध्य और अन्त सापेक्षिक कल्पनाएँ हैं, इसी अवधारणा का प्रदर्शन इस शून्यता में किया जाता है।

११. अनवकार-शून्यता

अनवकार का तात्पर्य है अनुपाधिशेष निर्वाण, जिसका अपाकरण किसी प्रकार नहीं किया जाता है। यह मान्यता भी कल्पना पर आधारित होने के कारण शून्य रूप ही है। अपाकरण क्रिया रूप होने से अनपाकरण रूप अपने विरोधी पर अवलम्बित है। अत: सापेक्ष होने के कारण शून्य है।

१२. प्रकृति-शून्यता

किसी भी वस्तु की कोई प्रकृति अथवा कोई भी स्वभाव नहीं होता। जब उसका कोई स्वभाव नहीं होता तो उसमें न तो परिवर्तन सम्भव है और न ही अपरिवर्तन। इसी बात को प्रकृति-शून्यता में प्रदर्शित किया जाता है।

१३. सर्वधर्म-शून्यता

जगत् के सभी पदार्थ चाहे वे संस्कृत हों या असंस्कृत, स्वभाव रहित हैं। यही बतलाना सर्वधर्म-शून्यता है।

१४. लक्षण-शून्यता

सामान्यता किसी वस्तु के विशेष धर्म को उसका लक्षण मान लिया जाता है। जैसे अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता आदि। किन्तु विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि ये लक्षण भी हेतु प्रत्यय से उत्पन्न हैं। अत: शून्य हैं। इसे ही लक्षण-शून्यता कहा जाता है।

१५. उपलम्भ-शून्यता

दिशा के समान काल भी व्यवहार में आता है। इसके तीन भेद-भूत, वर्तमान तथा भविष्य माने जाते हैं, किन्तु काल के इन भेदों की मान्यता या काल की मान्यता किसी क्रिया की अपेक्षा रखता है। अत: सापेक्ष होने के कारण यह भी शून्य है। इसे ही उपलम्भ-शून्यता कहते हैं।

१६. अभाव-स्वभाव-शून्यता

अनेक धर्मों के संयोग से जो वस्तु उत्पन्न होता है, उसका कोई अपना स्वरूप नहीं होता। परस्पर सापेक्ष होने के कारण ऐसी वस्तु की कोई सत्ता नहीं होती। इसे ही अभाव-स्वभाव-शून्यता कहा जाता है।

१७. भाव-शून्यता

सामान्यतया रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान को पंचस्कन्ध या व्यवहारिक आत्मा कहते हैं, किन्तु यह पंचस्कन्ध भी स्वभावशून्य हैं। इसे ही भाव-शून्यता कहा जाता है।

१८. अभाव-शून्यता

आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध को अभाव रूप माना जाता है, किन्तु ये भी स्वभाव रहित होते हैं, केवल संज्ञामात्र होते हैं। यह बतलाना अभाव-शून्यता है।

१९. स्वभाव-शून्यता

साधाणतया यह माना जाता है कि प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव या स्वतंत्र रूप होता है, जिसे जाना जा सकता है, बदला नहीं जा सकता, किन्तु वास्तविकता यह है कि किसी भी वस्तु का कोई अपना स्वरूप होता ही नहीं है, यही बतलाना स्वभाव-शून्यता है।

२०. परभाव-शून्यता

जिस प्रकार किसी वस्तु का स्वभाव नहीं होता, उसी प्रकार किसी वस्तु का परभाव (परमार्थ रूप, नित्य रूप) भी नहीं होता। यही परभाव-शून्यता में प्रदर्शित किया जाता है[९]।

माध्यमिक दर्शन के उक्त संक्षिप्त विवरण के पश्चात् इस बिन्दु पर गौड़पादाचार्य एवं आचार्य शंकर के दर्शन के साथ एक तुलनात्मक विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। तुलनात्मक विवेचन के सम्बन्ध में यहाँ वह बतला देना आवश्यक है कि अनेक विद्वानों ने अद्वैतवेदान्त एवं माध्यमिक दर्शन का तुलनात्मक सर्वेक्षण किया है, जिनमें विधुशेखर भट्टाचार्य, एस.के. वेलवेल्कर, हर प्रसाद शास्त्री, सुरेन्द्रदास गुप्ता, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. टी.आर.वी. मूर्ति, डॉ.टी.एम.पी. महादेवन, डॉ. सी.डी. शर्मा आदि प्रमुख हैं। यहाँ इन सभी की दृष्टियों का विवेचन सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि इन चिंतकों की दृष्टियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग की मान्यता है कि अद्वैत-वेदान्त एवं माध्यमिक दर्शन में केवल शब्दों का अंतर हैं। वास्तव में सिद्धांत दृष्टि से दोनों एक ही हैं, क्योंकि व्यवहार-परमार्थ के भेद को दोनों स्वीकार करते हैं। अन्य और भी इन दोनों में अनेक समानताएँ हैं। उस पक्ष के विचारकों में भी इस बात पर मतभेद है कि माध्यमिक का प्रभाव अद्वैतवेदान्त पर पड़ा अथवा अद्वैत की परम्परा का प्रभाव माध्यमिक पर पड़ा है। विधुशेखर भट्टाचार्य यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि माध्यमिक दर्शन का पूर्ण प्रभाव गौड़पाद पर पड़ा है और रूपान्तर से गौड़पाद का दर्शन एक प्रकार से वेदान्त की प्रक्रिया में माध्यमिक दर्शन ही है। दूसरे लोग जिसमें सी.डी. शर्मा

को विशेष महत्त्व दिया जा सकता है, यह मानते हैं कि माध्यमिक दर्शन भी एक अद्वैतदर्शन है जिसे शून्याद्वैत कहा जा सकता है। इस शून्याद्वैत दर्शन पर उपनिषद् प्रतिपादित अद्वैत परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। इस संदर्भ में दूसरा वर्ग अद्वैत वेदान्त की परम्परा एवं माध्यमिक परम्परा को दो नितान्त भिन्न मानता है। इनका कहना है कि मूल स्थापना में ही दोनों में अन्तर है। वेदान्त आत्मवादी परम्परा के अन्तर्गत अद्वैत की स्थापना करता है और माध्यमिक अनात्मवादी परम्परा में अद्वय की स्थापना करता है। डॉ. टी.आर. वि. मूर्ति इस स्थापना के प्रमुख विचारक माने जा सकते हैं। यहाँ इस विवाद को अधिक विस्तार न देकर कुछ बिन्दुओं पर हम नागर्जुन, गौड़पाद एवं शंकर के मतों का तुलनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करना चाहेंगे।

कार्यकारण सिद्धांत

कार्यकारण सिद्धांत के विषय में नागार्जुन के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जा चुका है और यह दिखलाया गया है कि नागार्जुन कार्यकारण से सम्बन्धित सभी अवधारणाओं की परीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न कार्य सम्भव है न कारण, न उत्पत्ति सम्भव है न विनाश। किन्तु फिर भी वे व्यवहार की दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद का समर्थन करते हैं, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुएँ स्वभावशून्य होने के कारण शून्य हैं और जगत् की समस्त वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता की दृष्टि से अनुकूल सिद्धांत हो सकता है।

आचार्य गौड़पाद श्रुति और युक्ति दोनों से अजातिवाद की स्थापना करते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि श्रुतियों को देखने से यह लगता है कि श्रुतियों में कहीं सत् से असत् की उत्पत्ति तो कहीं असत् से सत् की उत्पत्ति का समर्थन प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में श्रुतियों के आधार मात्र से यह निर्णय कठिन हो जाता है कि उत्पत्ति किस प्रकार होती है। इसलिए युक्ति की प्रबलता को स्वीकार करना श्रेयस्कर लगता है और युक्ति से जिसकी स्थापना हो जाए उसे ही सही सिद्धांत मानना युक्तिसंगत होगा। ऐसी स्थिति में सत् का जन्म मानना जितना असंगत है असत् का जन्म मानना भी उतना ही असंगत है। अत: सत् पदार्थ से मायावशात् जन्म माना जा सकता है किन्तु यह वास्तविक नहीं होता, परन्तु असत् से तो माया अथवा तत्त्वत: किसी प्रकार कोई जन्म स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि बन्ध्यापुत्र का जन्म न तो तात्विक है और न मायिक। दूसरी युक्ति यह है कि यदि यह माना जाए कि अजात का जन्म होता है तो स्पष्ट विरोध है, क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त उपस्थित करना सम्भव नहीं है, जिसमें अजात के जन्म का प्रदर्शन हो। यदि जात का जन्म माना जाए तो दूसरी कठिनाई होगी। एक ही वस्तु का दो जन्म मानना होगा, जो अत्यन्त निरर्थक है। इन युक्तियों से यही स्पष्ट होता है कि कोई वस्तु कभी उत्पन्न ही नहीं होती। यही गौड़पाद का अजातिवाद है[५०]।

विवर्तवाद

आचार्य शंकर का कार्यकारण सिद्धांत विवर्तवाद है। विवर्तवाद में अधिष्ठान की वास्तविकता, तात्त्विकता, स्वीकृत होती है। वास्तविक अधिष्ठान पर माया के द्वारा अवास्तिक की उत्पत्ति ही विवर्त है। माया अपनी प्रक्रिया में अधिष्ठान के वास्तविक स्वरूप को तिरोहित कर देती है। इसे उसकी आवरण शक्ति कहा जाता है और कहीं पर अपनी विक्षेप शक्ति से अन्य वस्तुओं को उत्पन्न कर देती है।

तत्त्वमीमांसा

आचार्य शंकर की तत्त्वमीमांसा मुख्य रूप से उपनिषद से प्रभावित है और परमतत्त्व के निरूपण में उन्होंने उपनिषद् की प्रक्रिया का ही रूपान्तर से उपयोग किया है। उपनिषद् में परमतत्त्व (ब्रह्म) निरूपण के लिए मुख्य चार दृष्टियाँ उपलब्ध होती हैं। प्रथम दृष्टि में उसे नेति-नेति के द्वारा निरूपित किया जाता है अथवा यह कहा जाता है कि वह मन, वाणी से अगोचर है[५१]। इस निरूपण में

निषेधात्मक शब्दों द्वारा निरूपण होता है, जिसमें उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान्, समीप से समीप और दूर से दूर कहा जाता है[52]। तृतीय दृष्टि से उसे सत्य, ज्ञान और आनन्द कहा जाता है और यह बतलाया जाता है कि समस्त जगत् की उत्पत्ति उसी से होती है। समस्त जगत् उसी में स्थित रहता है और समस्त जगत् का उसी में लय होता है[53]। चतुर्थ दृष्टि से समस्त जगत् के साथ उसके अभेद की स्थापना की जाती है, जो विभिन्न महावाक्यों द्वारा स्पष्ट होता है। इसी उपनिषद् परम्परा का अनुसरण करते हुए आचार्य शंकर की परम्परा में परब्रह्म और ईश्वर की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है और त्रिविध सत्ता स्वीकार की गई है। परमतत्त्व या परमसिद्ध सत्ता त्रिकालाबाधित है। असत् वह है जिसका तीनों काल में कोई अस्तित्त्व न हो जैसे आकाश पुष्प, बन्ध्या पुत्र आदि। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है, जो असत् इसलिए नहीं है कि प्रतीत होती है और सत् इसलिए नहीं है कि उसका बाध होता है। इसलिए वह सत् असत् विलक्षण है। प्रतिभासित सत्ता का बाध-व्यवहार द्वारा होता है, इसलिए वह सत् असत् विलक्षण अनिर्वचनीय है। जैसे रस्सी में सर्प, सीप में रजत आदि।

तत्त्वमीमांसा के सम्बन्ध में शंकर के उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वे अद्वैत सत् तत्त्व की स्थापना करते हैं और उसी सत् का विवर्त व्यवहार है और व्यवहार के आधार पर प्रतिभास है, किन्तु नागार्जुन सत्ता के व्यावहारिक और परमार्थिक भेद में शंकर से नितान्त भिन्न है। उनके अनुसार संसार और परमार्थ में मात्र दृष्टि का भेद है[54]। इनके अनुसार व्यवहार प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण स्वभाव शून्य है और परमार्थ चतुष्कोटि विनिर्मुक्त होने के कारण प्रपञ्च शून्य है।

इस प्रकार निबन्ध में माध्यमिक दर्शन और भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदाय के संदर्भ में कतिपय बिन्दुओं को विचारार्थ उपस्थित किया गया है। इन बिन्दुओं पर जो विवरण दिया गया है, वह इतना कम और अपूर्ण है कि उसके आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं लगता। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि निषेध में प्रस्तुत बिन्दुओं पर गम्भीर, व्यापक एवं निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है।

***

संदर्भ-सूची

१. *पाणिनीसूत्र ४/४/६० अस्ति नास्ति दिष्टै मति: ।*

२. *चन्द्रकीर्ति माध्यमिकवृत्ति, पृ. ३३१ ।*
न वयं नास्तिका: । आस्तित्त्व नास्तित्त्व द्वय निरोधेन तु वयं निर्वाण पुरगामिनमद्वैत पथं विद्योतयाम: ।

३. *अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् । (न्यायसूत्र ४/१/१४)*

४. *अत: परं प्रावादुकानां दृष्टय: प्रदर्श्यन्ते । (न्यायसूत्र ४/१/१४)*

५. *तत्रादौ शून्यतोपादान प्रकरणम् तत्रपूर्व पक्ष सूत्रम् । (विश्वनाथवृत्ति४/१/१४)*

६. *समाप्तं शून्यतोपादान प्रकरणम् । (न्यायदर्शन विश्वनाथ वृत्ति ४/१/१८)*

७. *अयमपर: एकान्त: । (न्यायभाष्य अवतरणिका ४/१/३७)*

८. *सर्वशून्यत्वेन कार्यकारणभावसम्भव: इति तन्निराकरणाय आरभ्यते । (न्यायवृत्ति ४/१/३७)*

९. *समाप्तं सर्वशून्यता निराकरण प्रकरणम् । (न्यायवृत्ति ४/१/४०)*

१०. *असत: सदुत्पद्यते इत्ययं पक्ष: कस्मात् उपमृद्य बीजाङ्कुर उत्पद्यते..... (न्यायभाष्य ४/१/१४)*

११. *न सद् नासद् न सदसद्धर्मो निवर्तते यदा कथं निवर्तको हेतु रेवं सति युज्यते ।*
(मूलमाध्यमिककारिका १/७)

१२. *स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च ये पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने ।*
(मूलमाध्यमिककारिका १५/६)

१३. *शून्यवादिपक्षास्तु सर्वप्रमाण प्रतिषिद्ध सति तन्निराकरणाय नादर: क्रियते न ह्यं सर्वप्रमाण प्रसिद्धो लोक-व्यवहारोऽन्यत् तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम, अपवादाभावे उत्सर्गं प्रसिद्धे: ।*
(ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २/२/३१)

१४. एवं रूपेण सकर्मकेण सकर्तृकेण ज्ञाधात्वर्थेन सर्वलोक साक्षिकमपरामवभासमानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थं इति साध्यन्तः सर्वलोकापहासकरणं भवन्ति वेदवादच्छद्म प्रच्छन्नबौद्ध निराकरणे निपुणातरं प्रपञ्चितम् । (श्री भाष्य २/२/२७)

१५. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च । (पद्मपुराण ६/२६३/७०)
वेदार्थवत् महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् । (पद्मपुराण ६/२६३/७४)

१६. विगीतं विच्छिन्नमूलमहायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति । (ब्रह्मसूत्र भा. भा. १/४/२५)

१७. ये तु बौद्धमतबलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणेव निरस्ता वेदितव्याः । (ब्रह्मसूत्र भा. भा. २/२/२९)

१८. यूयं बौद्धाश्च समानसंसदः । (शतदूषणी शास्त्रप्रामाण्यानुपपत्तिप्रदर्शने ४३ वादे)

१९. प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धि विरुद्धार्थाभिधायिनः वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते । (प्र.च.२/४)

२०. तस्माद् वरमस्माद् मायावादान् माहायानिकवादः । (शा.दी.,पृ. १११)

२१. शून्यमेव तर्हि तद् (ब्रह्म) दिग्देशगुणगतिफलमेवशून्यं हि परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धिनाम-सदिव प्रतिभाति। (छा. उ. शा.भा. ८/१/१)

२२. ब्रह्मावसानो यं प्रतिषेधः नाभावावसानः । (ब्र.सू.शा.भा.३/२/२२)

२३. ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वमद्वयमेतत् न बुद्धेन भाषितम्......इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेनैव विज्ञेययमित्यर्थः । (मा. का. शा.भा. ४/९९)

२४. अपिचारोपितं निषेधनीयम् । आरोपश्च तत्त्वाधिष्ठानों दृष्टः यथा सुक्तिकादिषु रजतादेः । न चेदमस्ति किंचित् तत्त्वं कस्य कस्मिन् आरोपः । तस्मात् निष्प्रपञ्चं परमार्थसत् ब्रह्म अनिर्वाच्यं प्रपञ्चात्मानाऽरोप्यते । तच्च तत्त्वं व्यवस्थाप्य अतात्त्विकत्वेन सांव्यवहारिकत्व प्रमेयाणां बाधकत्वेनोपद्यते इति युक्तमुत्पश्यामः । (भामती ब्र.सू.शा.भा. २/२/३१)

२५. तथा सत्येषो पि महायानिकपक्षप्रवेशो ब्रह्मवादिनां मोह एवेति मूढभाषितम् । नहि वयं नीलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छामः ये न महायानिक पक्षानुप्रवेशः किन्तु अनाद्यविद्या विक्रीडितमलीक निर्भासाकारं प्रपञ्चमाचक्ष्महे । (न्याय मकरन्द. पृ. ३०४)

२६. दुर्जनरमणीयां वाचां जल्पयति सुगतविज्ञानवाद समानोऽयं वेदान्तवादः स शोचनीयः । (पञ्च पा. वि.पृ. ८४)

२७. एवं सति सौगतब्रह्मवादिनोः को विशेष इति चेत् अयं विशेषः यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति । विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सत्वासत्वाभ्यामनिर्वचनीयं ब्रह्मवादिभिः संगीरन्ते । (खण्डन-खण्डखाद्य, पृ. ३६)

२८. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक, पृ. सं. ३६६-४३० ।

२९. वही, पृ. सं. ६७७-७८५ ।
(क) शाबरभाष्य पृ. ३२१, शून्यस्मतुकलम् अर्थज्ञान ।
(ख) अन्यवयव्यतिरेकाभ्यामेवं ज्ञानस्य गम्यते ।
निराकारेपि विज्ञाने वासनास्वेव युज्यते ॥ (श्लोक वा. ५३-५४)
निरपेक्ष स्वरूपेण तस्मात्ज्ञानं यदाकृति ।
तथार्थो न यथार्थं तु ज्ञानमुत्पद्यते क्वचित् ॥ (श्लोक वा. ६२)
परिव्राट् कामुकशुनां कुणपादिमतिस्तथा ।
दीर्घह्रस्वत्वबुद्धिश्च ह्योकस्मिन्नप्यपेक्षया ॥ (श्लोक वा. ५९)
(ग) इतिवहिर्विषयप्रतिपादनात् तदभावकृतामति संवृत्तिः ।
उभययतत्त्वविदां परमार्थतः क्षेममिदं धुरिधर्मं विचारणे ॥ (श.वा. २६४)

३०. बिना प्रमाणं परवन्त शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत् ।

३१. स्याद्वाद मंजरी, पृ. सं. १६३-१७८ ।

३२. नसन्नासन्नसदसन्न चाप्यभुयात्मकम् ।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥ (स्यादयादमंजरी, पृ. १७८)

३३. शून्यता सर्व दुष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।
येषां तु शून्यता द्रष्टिःतानसाध्यान् वभाषिरे ॥ (मू. मा.का. १३/८)

३४. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुत: ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन् केचन् ॥ (मा. का. १/१)

३५. तस्मात् न प्रत्ययमयं नाप्रत्ययमयं फलम् ।
संविद्यते, फलाभावात् प्रत्ययाप्रत्यया: कुत: ॥ (मा. का. १/१४)

३६. न स्वतो जायते भाव: परतो नैव जायते ।
न स्वत: परतश्चैव जायते जायते कुत: ॥ (२१/११)

३७. प्रतीत्य यद् यद् भवति नहि तावत् तदेव तत् ।
न चान्यत् अपि तत् तस्मान् नापिशाश्वतम् ॥ (मा. का. १८/१०)

३८. य: प्रतीत्यसमुत्पाद: शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिमुपादाय प्रतिपद् सैव मध्यगा ॥ (मा. का. २४/१८)

३९. संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद्
आवृत भाशानाच्चानयेति संवृत्ति: । (बोधि पञ्चिका, पृ. ३५२)

४०. परस्पर संभवनं वा संवृति: । (माध्यमिक वृत्ति)

४१. संवृत्ति: संकेतो लोकव्यवहार: । स चाभिधानाभिधेय ज्ञानज्ञेयादिलक्षणा: ।
(प्रसन्नपदा माध्यमिक वृत्ति:)

४२. सर्वधर्माणां नि:स्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटि: धर्मधातुरिति पर्याया: । (बोधिचर्या. ३५४)

४३. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता नि: सरणं जिनै: ।
येषान्तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् वभाषिरे ॥ (मा. का. १३/८)

४४. अपरप्रत्ययंशान्तं प्रपञ्चैर प्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥ (मा. का. १८/९)

४५. बोधिचर्या. पंजिका, पृ. ३६६ ।

४६. बोधिचर्या. पंजिका, पृ. ३६७ ।

४७. *Dr. Suzuki- Essays in Zen Buddhism (Third Series)*

४८. *Dr. Obrmiller* का निबन्ध *Indion Historical Quarterly Vol.IX 1933*

४९. डॉ. बलदेव उपाध्याय- बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ. ३०४-३०८ ।

५०. अजातस्ययेव भावस्य जातिमिच्छन्तिवादिन: ।
अजातोऽमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ (मा.का. ३/२०)
भूततो भूततो वापि सृज्यमाने समाश्रुति: ।
निश्चितम् युक्तियुक्तं च यत्तद् भवति नेतरत् ॥ (मा.का. ३/२३)
सतो पिमाययाजन्म युज्यते न तु तत्त्वत: ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥ (मा.का. ३/२७)
असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ (मा.का. ३/२८)
अजाद्धि जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥ (मा.का. ४/१३)

५१. यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह ।

५२. अणोरणीयान् महतोमहीयान तदूरे तदन्तिके ।

५३. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मतज्जलानि ।

५४. न निर्वाणस्य संसारात् कश्चिदस्ति विशेषणम् । (मा.का. २४/१९)

सामान्य और विशेष

इस विषय का विवेचन प्रस्तुत करने के पूर्व हम यह मान ले रहे हैं कि विशेष (कुछ काल और किसी देश से सम्बन्ध रखने वाला) और सामान्य (सभी काल और सभी देश से सम्बन्ध रखने वाला एकरूप, अपरिवर्तनशील) क्या है, यह सभी जानते हैं। हम जिस परिवेश में रहते हैं वह विशेषों का परिवेश है। यहाँ कुछ भी सामान्य नहीं है। हम ज्रिस कमरे में, जिस कुर्सी पर बैठकर, जिस मेज पर रख कर, जिस लेखनी से, जिस कागज पर यह निबन्ध लिखने जा रहे हैं वे सभी विशेष ही हैं। इन सबका सम्बन्ध किसी देश मात्र और कुछ काल मात्र से है। किन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि विशेषों के लिये जिन शब्दों का प्रयोग मैंने किया है उसमें प्राय: सभी शब्द सामान्य वाचक हैं, विशेष या व्यक्ति वाचक नहीं हैं। कमरा, मेज, कुर्सी, लेखनी, पेपर, लिखना, मैं, खड़ा होना, पढ़ना इत्यादि शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग अन्य स्थान या समय में विद्यमान अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित उक्त समस्त विशेषों के लिये भी हो सकता है और होता भी है। यही कारण है कि आप लोग मेरे कमरे, कुर्सी, मेज, लेखनी, कागज, बैठने, लिखने से परिचित न होकर भी उक्त वाक्य का अर्थ भलीभाँति समझ लेते हैं। कहना न होगा कि उक्त सामान्य शब्द यशदेव, बलदेव, जयपुर, दिल्ली, ताजमहल आदि व्यक्ति वाचक शब्दों से अत्यन्त विलक्षण हैं। यहीं एक प्रश्न उठता है कि जब व्यक्ति-वाचक शब्दों का वाच्य व्यक्ति है तो साधारण शब्दों का वाच्य क्या सामान्य है ? ये साधारण शब्द प्रत्येक भाषा के प्राण हैं, जिससे भाषा भावाभिव्यंजन रूप अपने महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्यक् सम्पादन कर जीवित रहती है। इस प्रकार इन्द्रियानुभव में विशेषों का बाहुल्य और अभिव्यक्ति में सामान्यवाचक शब्दों के प्रयोग के बाहुल्य से दार्शनिक स्तर पर विचार करने के लिए सामान्य और विशेष की समस्या उपस्थित हो जाती है।

सामान्य और विशेष की इस समस्या का विवेचन हम यहाँ तीन दृष्टियों से करेंगे। प्रथम दृष्टि में सामान्य और विशेष दोनों का समान महत्त्व है। दोनों सत् या सत्य हैं, अन्योन्याश्रित हैं। केवल विशेष या केवल सामान्य सम्भव नहीं, अपितु सामान्य संवलित विशेष ही अनुभव में आते हैं। अत: सामान्य और विशेष दोनों को ही प्रत्यक्ष सिद्ध मानना पड़ता है। दूसरी दृष्टि से विशेष ही केवल वास्तविक एवं सत् है। सामान्य कोरी कल्पना है, मिथ्या है, भ्रम है। न तो वह नित्य है, न सर्वगत और न सर्वकालिक। जिसकी सत्ता ही नहीं, जो न कभी था, न है और न होगा उसको नित्य, सर्वगत मानना उचित नहीं। अत: सामान्य नामक कोई वस्तु सत् नहीं, वह केवल हमारी बुद्धि का विकल्प है, कल्पनामात्र है। तीसरी दृष्टि में सामान्य ही वास्तविक सत् है, विशेष की सत्ता गौण है, व्यवहार सम्पादनार्थ है। सामान्य नित्य, अनादि, अनन्त और वस्तुसत् है। विशेष अनित्य, उत्पत्ति-विनाशशाली, सान्त और कल्पित है। विशेष अपने अस्तित्त्व और बोध दोनों के लिये सामान्य पर आश्रित है। अत: सामान्य की स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ता है और विशेष की गौण और सापेक्ष।

द्वैतवादी दृष्टिकोण

यह सामान्य और विशेष उभय को वस्तुसत् मानता है। इस मत के परिपोषकों में हम न्याय,

वैशेषिक, मीमांसा (कुमारिल, प्रभाकर) तथा अरस्तु को रखते हैं : इन तीन दर्शन सम्प्रदायों को एक कोटि में रखने का मतलब यह नहीं है कि ये तीनों एक रूप में ही सामान्य और विशेष को मानते हैं, इनमें कोई मतभेद नहीं। अपितु एक कोटि में रखने से मेरा मन्तव्य केवल इतना ही है कि ये तीनों दोनों (सामान्य और विशेष) के अस्तित्त्व में विश्वास करते हैं, किसी एक की प्रधान सत्ता और दूसरे की गौण सत्ता का प्रतिपादन नहीं करते। दोनों को वस्तुसत् और प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक

न्याय-वैशेषिक मत में विशेष को दो रूपों में समझना चाहिये। एक विशेष तो सप्तपदार्थों के अन्तर्गत एक पदार्थ है, जो नित्य द्रव्यों में रहकर स्वयं व्यावृत्त होता हुआ उनको एक दूसरे से व्यावृत्त करता है। नित्य द्रव्य परमाणु आदि अनन्त या असंख्य हैं। अत: इनमें रहने वाले विशेषों को भी अनन्त माना जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में इस विशेष से हमारा कोई मतलब नहीं। दूसरा विशेष व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध है, जो देश-काल से परिच्छिन्न अनुभव का विषय बनता है, जो सामान्य का आश्रय है, जिसके अनेक वर्ग और एक वर्ग में अनेक संख्यायें हैं, जो अपने सजातीय विशेषों के अनुरूप और विजातीय विशेषों के प्रतिरूप हैं। इस मत में सामान्य नित्य है, वह अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहता है (नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्त्वम्)। इस लक्षण में नित्यत्व विशेषण संयोगादि में अतिव्याप्ति निवारण के लिये दिया गया है, क्योंकि "अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहना" मात्र सामान्य का लक्षण मानने पर अनेक में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान संयोगादि में भी यह लक्षण चला जाता है, और संयोग को भी सामान्य मानना पड़ता, जो अभीष्ट नहीं है। अत: नित्यत्व विशेषण दिया गया है। संयोगादि समवाय सम्बन्ध से अनेक में विद्यमान होने पर भी नित्य न होने के कारण सामान्य लक्षण का लक्ष्य नहीं बन पाता है। "लक्षण कुक्षि" में 'अनेक' पद आकाश के परिमाणादि नित्य गुण में अतिव्याप्ति के वारणार्थ दिया गया है, क्योंकि "नित्य होते हुए समवाय सम्बन्ध से रहना" मात्र सामान्य का लक्षण रखने पर नित्य एवं समवाय सम्बन्ध से विद्यमान आकाश परिमाणादि भी इस लक्षण के लक्ष्य बनते। अत: 'अनेक' पद दिया गया है, जिससे अनेक में समवेत न होने के कारण आकाश के परिमाणादि इसके लक्ष्य न बन सकें। जिस किसी भी सम्बन्ध से "वृत्तित्व" न देकर समवाय सम्बन्ध से वृत्तित्व देने का प्रयोजन अत्यन्ताभाव में अतिव्यप्ति का निवारण है। यदि सामान्य का लक्षण "नित्य होते हुए अनेक मे रहना" मात्र रखा जाता तो नित्य होते हुए अनेक में रहने वाले अत्यन्ताभाव में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती। समवाय पद देने से इस अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है क्योंकि अत्यन्ताभाव स्वरूप सम्बन्ध से अनेक में रहता है समवाय सम्बन्ध से नहीं।

सामान्य के आश्रय द्रव्य, गुण और क्रिया हैं। यह सामान्य साधारणतया दो वर्गों में विभक्त किया जाता है, पर सामान्य और अपर सामान्य। यह पर- अपर भेद सापेक्ष दृष्टि से है। सबसे पर सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली सत्ता है एवं सबसे अपर सामान्य घट, पट आदि में रहने वाली घटत्व, पटत्व सत्ता है। मध्यवर्ती सभी सामान्य पृथिवीत्व, द्रव्यत्व आदि घटत्वादि की अपेक्षा पर हैं और सत्ता की अपेक्षा अपर हैं। यह पर-अपर भेद व्यापकता और समावेश के आधार पर है ; जो सामान्य व्यापक है और अपने में अनेक सामान्य को समाविष्ट करता है वह अपने में व्याप्त एवं समाविष्ट सामान्य की अपेक्षा अपर है, जैसे द्रव्यत्व के अन्तर्गत पृथिवीत्व, जलत्व, तेजत्व आदि व्याप्त हैं। अत: यहाँ द्रव्यत्व पर और पृथिवीत्व आदि अपर सामान्य हैं। विशेष या व्यक्ति यदि प्रत्यक्ष योग्य है तो उसमें विद्यमान सामान्य का भी प्रत्यक्ष होता है, किन्तु अनुमेय व्यक्ति में विद्यमान सामान्य का ज्ञान प्रत्यक्षत: नहीं होता, अपितु अनुमान द्वारा ही होता है। व्यक्ति नित्य और अनित्य उभय प्रकार के हैं किन्तु सामान्य नित्य है, उसकी उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होते।

सामान्य के अर्थ

दर्शन में सामान्य के दो महत्त्वपूर्ण कार्य माने गये हैं। प्रथम यह अपने विशेषों को अन्य सामान्य के विशेषों से अलग करता है (इतरव्यावर्तकत्वम्), जैसे गौ में विद्यमान गोत्व सामान्य गौ को महिषत्व सामान्य के व्यक्ति महिषादि से अलग करता है, गौ महिषादि से भिन्न है, क्योंकि उसमें गोत्व है। द्वितीय कार्य में यह सामान्यलक्षणारूप अलौकिक प्रत्यासत्ति बनकर सामान्य से विशिष्ट एक व्यक्ति के प्रत्यक्ष काल में सामान्य-लक्षण द्वारा उस सामान्य के भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में विद्यमान समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष कर लेता है। यही कारण है कि एक गौ व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के उपरान्त अन्य गौ व्यक्ति को देखकर हमें यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह गौ है। यदि उस गौ व्यक्ति का प्रत्यक्ष किसी प्रकार न माना जाय तो प्रत्यभिज्ञा का निर्वाह नहीं हो सकेगा और यह प्रत्यभिज्ञा सर्वानुभव सिद्ध है। अत: इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

जातिबाधक

कुछ ऐसे धर्म हैं जो अनुगत प्रतीति एवं इतरव्यावर्तन रूप सामान्य के कार्य का सम्पादन करते हैं, किन्तु न्याय दर्शन में जाति नहीं माने जाते हैं। ऐसे धर्मों को सामान्य न मानना पड़े इसके लिये न्यायदर्शन ने कुछ ऐसा नियम मान रखा है, जिन्हें वह जाति बाधक कहता है। जाति बाधक का साधारण अर्थ है जाति के विरोधक तत्त्व। जहाँ जाति के विरोधक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, वहाँ जाति नहीं रहती है। इन जातिबाधक तत्त्वों के प्रकार हैं :

१- एक व्यक्ति मात्र का होना :- सामान्य के लक्षण से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि सामान्य को अनेक व्यक्तियों में विद्यमान रहना चाहिये, किन्तु जहाँ एक वर्ग में एक ही व्यक्ति हो, अन्य कोई व्यक्ति संभव ही नहीं हो, वहाँ उस व्यक्ति में विद्यमान धर्म उस व्यक्ति विशेष को अन्य व्यक्तियों से व्यावृत्त अवश्य करता है, फिर भी वह धर्म सामान्य नहीं कहा जाता, क्योंकि सामान्य की सत्ता का मुख्य उद्देश्य अनुगत प्रतीति है और एक व्यक्ति मात्र के रहने पर अनुगत प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठ पाता है। इसीलिए आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व, आदि को सामान्य नहीं माना जाता है। (परन्तु नागेश ने अपने "मंजूषा" नामक व्याकरण ग्रन्थ में एक व्यक्तिमात्र में विद्यमान आकाशत्व, कालत्व आदि को भी जाति माना है) न्याय दर्शन में ये धर्म अखण्डोपाधि माने गये हैं और अपने आश्रय में स्वरूप सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं- जैसे आकाशत्व आकाश में, कालत्व काल में आदि।

२- तुल्यता :- (दो जातियों के व्यक्तियों में तुल्यता का होना)। अर्थात् उन दो धर्मों को दो पृथक्-पृथक् सामान्य नहीं माना जा सकता जो दोनों धर्म एक ही वर्ग के व्यक्तियों में विद्यमान हों। जैसे समस्त घट व्यक्तियों में एक जाति घटत्व मानी जाती है; उन्हीं घट व्यक्तियों में दूसरी जाति कलशत्व नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समान व्यक्तियों में दो जाति मानने का कोई प्रयोजन नहीं। अत: यहाँ तुल्यता बाधक बन जाती है। जिस प्रकार अनेक पर्यायवाची शब्दों का अर्थ एक ही होता है, शब्द भेद से अर्थभेद नहीं उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार अनेक वाचक शब्दों द्वारा वाच्यगत एक ही जाति का निर्देश होता है, अनेक जातियों का नहीं। ऐसा न करने से केवल कल्पना गौरव मात्र होगा, अन्य कोई फल नहीं।

३- संकर :- (दो परस्पर स्वतन्त्र स्थित धर्मों का एक साथ समाविष्ट होना)। यदि दो धर्मों में सांकर्य दोष आ जाय तो दोनों को जाति नहीं माना जाता है। दो धर्मों में सांकर्य दोष तब आता है, जब उन दोनों का सम्बन्ध ऐसा हो कि दोनों स्वतन्त्र रूप से एक दूसरे के अभाव के अधिकरण में रहते हों और कहीं एक अधिकरण में दोनों साथ-साथ भी रहते हों। उदाहरण के लिए भूतत्त्व, मूर्तत्त्व के अभाव के अधिकरण आकाश में रहता है और मूर्तत्त्व भूतत्त्व के अभाव के अधिकरण मन में रहता है। इस प्रकार ये दोनों धर्म एक दूसरे के अभाव के अधिकरण में रहते हैं और दोनों का समावेश पृथिवी, जल, तेज, और

वायु में हो जाता है। अत: यहाँ सांकर्य दोष आ पड़ता है और सांकर्य दोष के कारण इन दोनों को जाति नहीं माना जाता है। सांकर्य दोष के कारण जाति का महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण व्यावर्त्तन (complete exclusion) और पूर्ण समावेश (complete inciusion) सिद्ध नहीं हो पाता है। अत: सांकर्य दोष आ जाने पर जाति नहीं मानी जाती है।

४- अनवस्था :- एक जाति के व्यक्यिों को अन्य जाति के व्यक्तियों से व्यावृत्त करने के लिए जाति मानी जाती है, किन्तु जाति को दूसरी जातियों से पृथक् करने के लिये जाति में अन्य जाति नहीं मानी जाती है। जाति में यदि जाति मानी गयी तो इस मानी हुई दूसरी जाति में अन्य जाति और तीसरी जाति में अन्य चौथी जाति माननी पड़ेगी। इस प्रकार अवस्था दोष आ पड़ेगा।

५- रूप हानि :- नित्य द्रव्यों में रहने वाला विशेष पदार्थ नित्य और अनन्त तथा समवाय का सम्बन्धी है। इस प्रकार अनेक विशेषों में रहने वाले विशेषत्व को सामान्य मानना चाहिये, किन्तु विशेषत्व का सामान्य स्वीकार कर लेने पर विशेष की मान्यता का महत्त्व समाप्त हो जाता है। विशेष पदार्थ वास्तव में इतरव्यावर्त्तन के लिये अर्थात् नित्य पदार्थों में भेद व्यवस्थापन के लिये ही माने गये हैं। यदि वे स्वयं व्यावृत्त न होकर जाति के कारण दूसरे से व्यावृत्त होते हों तो उनकी मान्यता निष्प्रयोजन सिद्ध होती है तथा उनके स्वत: व्यावर्त्तक स्वरूप की हानि होती है। अत: उनमें विशेषत्व नामक जाति नहीं मानी जाती है।

६- असम्बन्ध :- सामान्य और उनके व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध समवाय है। व्यक्ति समवाय सम्बन्ध का अनुयोगी और सामान्य समवाय सम्बन्ध का प्रतियोगी कहा जाता है। अत: सामान्य का किसी प्रकार से सम्बन्धी वही हो सकते हैं जिनमें समवायानुयोगित्व एवं समवाय प्रतियोगित्व में से अन्यतर रहता हो, जिसमें इन दोनों में से कोई सम्बन्ध न होगा, वहाँ सामान्य अपने सम्बन्ध के अभाव के कारण ही नहीं रह सकेगा। समवाय और अभाव दो ऐसे पदार्थ हैं, जो न स्वयं कहीं समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और न इनमें कोई अमवाय सम्बन्ध से रहता है। अत: ये दोनों न तो समवाय सम्बन्ध (जो सामान्य का वास्तविक सम्बन्ध है) के अनुयोगी ही बन पाते हैं और न प्रतियोगी। इसलिये इनमें सामान्य के सम्बन्ध के अभाव के कारण सामान्य नहीं माना जाता है। (व्यक्तिभेदस्तुल्यत्वं संकरोथानवस्थिति: । रूप हानिरसम्बन्ध: जातिबाधक संग्रह: ॥)

कुमारिल भट्ट - उनके अनुसार जाति नित्य, सर्वगत तथा प्रत्यक्ष विषय है। व्यक्ति के साथ इसका सम्बन्ध भेदाभेद रूप है।

(जाति: सर्वगता नित्या प्रत्यक्ष ज्ञान गोचरा।
भिन्नाभिन्ना च सा व्यक्ते: कुमारिल मते मता: ॥)

सामान्य को सर्वगत मान लेने पर भी सर्वत्र प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं आ पाती है, क्योंकि व्यक्ति उसका व्यंजक है और यह मत सर्वमान्य है कि अभिव्यंजक के बिना सर्वव्यापक अभिव्यंग्य की भी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। अत: व्यक्तिरूप अभिव्यंजक के रहने पर सामान्य का प्रत्यक्ष होता है। उसके अभाव में सामान्य का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। सामान्य के लिये प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जो लोग सामान्य नहीं भी मानते हैं, उन्हें भी समस्त में अनुस्यूत और महिषादि से व्यावृत्त 'गाय' इस प्रकार का एकाकार अवमान प्रत्यक्षत: स्वीकार करना पड़ता है। यदि प्रत्यक्ष विषयीभूत ''गौ'' इस एकाकार ज्ञान को कोई अ-गो की निवृत्ति मात्र माने तो यह मान्यता उचित नहीं हो सकती, क्योंकि विधिमुख से होने और अभिव्यक्त किये जाने वाले ज्ञान को निषेध मुख मानना तथा निषेध मुख से उसकी अभिव्यक्ति करना न्याय संगत नहीं। यदि अ-गो निवृत्ति मान भी लें तो भी तो गोत्व की ही सिद्ध होगी, क्योंकि अ-

गो निवृत्ति में दो निषेध हैं और दो निषेध रहने पर स्वमावत: निषेध का ही निषेध होता है, जिससे विधि अपने आप सिद्ध हो जाती है।

ऊपर यह कहा गया है कि जाति, व्यक्ति का सम्बन्ध न केवल भेद है और न केवल अभेद, अपितु उनका सम्बन्ध भेदाभेद है। पूर्ण भेद या पूर्ण अभेद कोई भी न्याय संगत नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति और जाति में पूर्ण अभेद माना जाय तो एक को व्यंजक और दूसरे को व्यंग्य कहने का कोई अर्थ ही नहीं होता। यदि जाति अनुपलब्ध है तो उससे पूर्ण अभिन्न व्यक्ति को भी अनुपलब्ध ही होना पड़ेगा, वह जाति की उपलब्धि का साधन कथमपि नहीं बन सकेगा। और यदि दोनों को पूर्ण भिन्न मान लिया जाय तो "गौ" में गोत्व है अश्व में नहीं, इस प्रतीति का निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि गो से पूर्ण भिन्न गोत्व का सम्बन्ध गो से ही रहेगा, अश्व से नहीं, ऐसा कहना उचित नहीं जान पड़ता। इन कठिनाइयों के कारण जाति और व्यक्ति में भेदाभेद सम्बन्ध मानना पडता है यह प्रश्न कि भेदाभेद अग्नि एवं जल के समान परस्पर विरूद्ध होकर एक साथ कैसे रहते हैं? भट्ट के अनुसार कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि भेदाभेद यदि अनुभव सिद्ध है तो विरोध नियम अनुभव का अपलाप नहीं कर सकता है। हम प्रतिदिन के व्यवहार में ऐसा प्रयोग करते हैं कि "यह गौ है"। इस वाक्य में यह शब्द से व्यक्ति का निर्देश है और गौ शब्द से जाति का। यदि व्यक्ति और जाति दोनों अत्यन्त भिन्न होते तो "यह गौ" के स्थान पर समुच्चय रूप में "यह और गौ" कहना पड़ता, क्योंकि दो अत्यन्त भिन्न वस्तुओं का एक साथ निर्देश संयोजक के बिना या द्वन्द्व समास के बिना संभव नहीं, जैसे घट और पट दोनों का प्रयोग एक साथ जब होगा तब या तो संयोजक के साथ होगा या द्वन्द्व समास में होगा। यदि "यह और गौ" ये दोनों अत्यन्त अभिन्न होते तो दोनों का एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग होता है। इस प्रकार व्यक्तिवाचक "यह" और जातिवाचक "गौ" शब्द का समानाधिकरण रूप में प्रयोग प्रत्यक्ष सिद्ध है। अत: इन दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध भी स्पष्ट है।

भाट्टमत में जाति का आश्रय द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य चारों हैं। सत्ता जो परतम सामान्य है वह (सत्ता) सामान्य या जाति में भी रहती है। जिस प्रकार गुण एवं कर्म में सत्-सत् की अनुगत प्रतीति उनमें सत्ता सामान्य को सिद्ध करती है, उसी प्रकार सामान्य में सत्-सत् की अनुगत प्रतीति सत्ता सामान्य की द्योतिका है। न्यायमत वाले सामान्य में अन्य सामान्य अनवस्था के भय से नहीं मानते हैं, पर भट्ट का कहना है कि अनवस्था का प्रसंग तब आता जब गोत्व आदि सामान्य में अन्य गोत्व-त्व आदि को सामान्य माना जाता, किन्तु घटत्व, पटत्व, गोत्व आदि सभी समान्य सत् हैं और इनमें सत्ता नामक सामान्य है, इस मान्यता से अनवस्था नहीं आ सकती है।

प्रभाकर के अनुसार भी जाति और व्यक्ति या सामान्य और विशेष दोनों सत् हैं, वास्तविक हैं, कोई कल्पना या मिथ्या नहीं। सामान्य अपने वर्ग के समस्त व्यक्यिों में अनुगत रूप से विद्यमान रहता है, वह प्रत्यक्ष का विषय भी बनता है तथा अपने वर्ग के व्यक्तियों को अन्यवर्ग के व्यक्तियों से अलग भी करता है। यह सामान्य व्यक्ति की अनित्यता तथा परिवर्तनशीलता से प्रभावित नहीं होता है। यह सदा अनुगत रूप से एक रूप में ही अपने समस्त व्यक्तियों में विद्यमान रहता है। अत: सामान्य नित्य, अपरिवर्तनशील और सदा एकरूप रहने वाला है। प्रभाकर को कुमारिल का यह मत कि सामान्य सर्वगत है और व्यक्तिमात्र के अभिव्यंजक होने के कारण वहीं उसका प्रत्यक्ष होता है, मान्य नहीं है। इनका कहना है कि प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु के लिये हठात् कोई कल्पित मान्यता स्वीकार करना उचित नहीं। सामान्य का प्रत्यक्ष जब विशेषों में ही होता है तो विशेष में अन्यत्र उसको मानने में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं। अत: सामान्य है, वह नित्य है, किन्तु विशेषों में ही है। नवीन विशेष के उत्पन्न होने और विद्यमान विशेष के नष्ट होने से न जाति उत्पन्न ही होती है और न नष्ट। उसका सम्बन्ध समवाय उत्पन्न और नष्ट

होता रहता है। समवाय अनेक है और उत्पत्ति-विनाशशाली भी। इसलिए जब कोई नवीन विशेष उदित होता है तो उसमें सामान्य का सम्बन्ध नवीन समवाय का भी उदय हो जाता है। अत: वहाँ सामान्य का अस्तित्त्व आ जाता है। उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति नष्ट होता है तो सामान्य नष्ट नहीं होता, अपितु उसके समवाय का विनाश हो जाता है एवं सम्बन्ध के नष्ट हो जाने के कारण सामान्य का अस्तित्त्व नहीं माना जाता है। पर समवाय जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध है। यह अनन्त व्यक्तियों से सम्बद्ध होने के कारण अनन्त है, यह उत्पत्ति विनाशशाली व्यक्तियों में उत्पत्ति विनाशशाली है और अनुत्पन्न अविनाशी व्यक्तियों में अनुत्पन्न और अविनाशी भी। प्रत्यक्षविषयीभूत वस्तुओं में समवाय का प्रत्यक्ष होता है। अत: वहाँ सामान्य का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु प्रत्यक्ष के अविषय परमाणु-आदि व्यक्तियों में विद्यमान समवाय का प्रत्यक्ष न होने के कारण उनमें विद्यमान सामान्य का भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। न्याय वैशेषिक और भाट्टमत के अनुरूप प्रभाकर को भी सामान्य का पर एवं अपर भेद मान्य है, किन्तु ये सत्ता नामक परम परसामान्य नहीं मानते हैं, क्योंकि उनके मत में ऐसे किसी पर सामान्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे घट, पट आदि को हम घट, पट रूप में देखते हैं और उनमें घटत्व, पटत्व का भान होता है उसी प्रकार अनेक वस्तुएँ न सत् रूप में दीख पड़ती और न उनमें किसी सत्ता का ही भान होता है। हम उन्हें सत् कहते अवश्य हैं, किन्तु सत् कहने का हमारा तात्पर्य सत्ता जाति से नहीं रहता है अपितु स्वरूपसत्ता से रहता है जो पूर्णतया विशेष और व्यक्तिगत है, सामान्य या अनुगत नहीं। वहाँ हम उस व्यक्ति विशेष के गुण, देश, काल आदि के सम्बन्ध के आधार पर उसको सत् कहते हैं, किसी सत्ता नामक जाति के आधार पर नहीं।

अरस्तु :- इनके मत में भी सामान्य और विशेष दोनों वस्तु सत् हैं। दोनों का ही ज्ञान होता है। न केवल सामान्य का ज्ञान होता है ओर न केवल विशेष का, अपितु सामान्य से विशिष्ट व्यक्ति का ज्ञान होता है। सामान्य व्यक्तियों में है, वह उनमें अनुगत एवं अनुस्यूत (immanent) है। परन्तु व्यक्तियों से पृथक् उसकी सत्ता नहीं है, वह पर (Transcendent) नहीं है। वास्तविक सामान्य (Concrete Universal) वस्तुगत, व्यक्तिगत या विभिन्न विशेष में अनुस्यूत है, वह पर या अन्यलोक में नहीं है। यह सामान्य अपने वर्ग के समस्त विशेषों में विद्यमान रहकर उनको अन्य वर्ग के विशेषों से अलग करता है तथा उनमें अनुगत प्रतीति का कारण बनता है। यह भेद में अनुस्यूत अभेद है, अनेकता में व्याप्त एकता है। सांसारिक पदार्थ प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, वे विशेष हैं, वे द्रव्य हैं, वे तत्त्व हैं और उनकी वास्तविक सत्ता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य असत् या अतत्त्व है। यह उन पदार्थों का, तत्त्वों का, विशेषों का, वास्तविक स्वरूप है। उनके वास्तविक स्वरूप होने के कारण यह वास्तविक सत् है। वास्तव में हमारे ज्ञान में दृढ़ता, स्थिरता और सार्वभौमता सामान्य के कारण से ही आती है। अत: विभिन्न विज्ञान विभिन्न विशेषों में अनुस्यूत सामान्य की खोज कर सामान्य नियम का निर्धारण करना चाहते हैं। विशेष अनित्य, परिणामी और विनाशी है, किन्तु इनमें विद्यमान रहकर भी सामान्य नित्य, अपरिणामी और अविनाशी है। फिर भी सामान्य विशेषों के बिना रह नहीं सकता है। यद्यपि विशेष के परिवर्तन का प्रभाव सामान्य पर नहीं पड़ता है तथापि समस्त विशेषों के अभाव में सामान्य को स्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं रहता। अनुभव ही इसके लिये प्रमाण है कि व्यवहार में सामान्य और विशेष अलग-अलग नहीं रह सकते हैं।

आक्षेप :- १. उभय को सत् मानने वाले सभी सामान्य को विशेषों में अनुगत या अनुस्यूत मानते हैं अथवा यह कहते हैं कि विशेष सामान्य में भाग लेते हैं, यहाँ अनुगत या अनुस्यूत या भाग लेना आदि शब्द अस्पष्टार्थक है। हम माला में सूत्र को अनुगत या अनुस्यूत कहते हैं, या नमक को नमकीन में या मिठास को मिठाई में अनुस्यूत कहते हैं। परन्तु इस प्रकार से अनुगत या अनुस्यूत कोई वस्तु विशेषों में

नहीं दीखती। यदि उनके गुण विशेष को ही सामान्य कहा गया हो तो हमें अनुगत और अनुस्यूत मान लेने में कोई आपत्ति नहीं, परन्तु गुण, सम्बन्ध आदि तो व्यक्ति के साथ उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। उन्हें नित्य, अपरिणामी आदि कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार भाग लेने का भी व्यावहारिक प्रयोग अनेक रूपों में होता है-जैसे हम लोग इस कमरे में भाग लेते हैं, हम लोग इस गोष्ठी में भाग ले रहे हैं, हम लोग भोजन और जलपान में भाग ले रहे हैं, हम लोग ठंडी के समय में एक अग्नि के पास बैठ कर उसमें भाग लेते हैं। हम किसी जुलूस या ग्रुप फोटो में भाग लेते हैं। ये सभी प्रयोग समान हैं, परन्तु अर्थ की दृष्टि से सभी में कुछ अंतर है। जाति में व्यक्तियों के भाग लेने का अर्थ उक्त में से कोई भी नहीं, फिर भी वे उनमें भाग लेते हैं। अत: यह हम साधारण बुद्धि वालों की समझ के परे की वस्तु हो जाती है। कोई दार्शनिक ही इसके अनुभव करता होगा कि वे किस प्रकार भाग लेते हैं और जाति किस प्रकार उनमें अनुस्यूत है।

२- व्यक्ति मात्र में विद्यमान रहने पर भी व्यक्ति के परिवर्तन, परिणाम तथा विनाश से प्रभावित न होना (प्रभाकर और अरस्तु) तथा नित्य सर्वगत रहकर भी व्यक्ति मात्र में ही उपलब्ध होना (न्याय, भट्ट) एवं महाप्रलय में व्यक्तियों के पूर्णत: विनाश हो जाने पर भी जाति का अस्तित्त्व देश-काल में बने रहना और व्यक्तियों में ही अनुगत प्रतीति का कारण होना (न्याय वैशे.) आदि स्पष्टत: विशेष और वदतोव्याघात है।

३- क्या भविष्य में आविष्कृत होने वाली सभी वस्तुओं के सामान्य भी किसी भण्डार में सुरक्षित हैं ? यदि हाँ तो कहाँ ? और किसके ? मुझे इसका उत्तर नहीं मिलता।

४- विशेषों के अभाव में भी सामान्य के अस्तित्त्व की उपलब्धि क्या इस द्वैतवादी मत पर ठोकर नहीं लगाती ? क्या ज्यामिति की ऋजु रेखा का कोई वास्तविक उदाहरण बन सकता है ? कितनी भी सावधानी और चातुरी से खींची रेखा साधारण दृष्टि से ऋजु प्रतीत भले ही हो जाय किन्तु आविष्कृत यन्त्रों से देखने पर उसकी वक्रता अवश्यमेव दृष्टिगोचर होगी। ऐसी स्थिति में क्या ऋजु रेखा को बिना विशेषों का सामान्य नहीं मानना पड़ेगा ? यदि नहीं तो उसका उदाहरण कैसे उपस्थित होगा ? यदि उसे बिना विशेष का सामान्य मान लिया गया तो कम से कम एक स्थल पर सामान्य और विशेष का द्वैत खण्डित हो गया, और तब यह कहना कि उभय की सत्ता वास्तविक एवं यथार्थ है, केवल आंशिक सत्य हो सकता है पूर्ण सत्य नहीं।

द्वितीय दृष्टिकोण: (विशेषाद्वैत)

इस दृष्टिकोण में उन दार्शनिकों के मतों का विवेचन करना है जो केवल विशेष को ही वस्तु सत् मानते हैं, सामान्य को नहीं। सामान्य को नित्य-अनादि-अनंत मानना दूर रहा, ये सामान्य के अस्तित्त्व तक को तिलांजलि दे बैठते हैं। सामान्य के अनुभव की व्याख्या के लिये सामान्य को मिथ्या, भ्रम या कल्पना मात्र मान लेते हैं। इनके मत में सामान्य न तो वस्तु सत् है न प्रत्यक्ष विषय। भ्रम वश अनुगत प्रतीति को, जो केवल सादृश्य मूलक है, सामान्य मूलक नहीं, हम सामान्य मूलक मानकर सामान्य की स्थापना करने लगते हैं। इस दृष्टिकोण के परिपोषक सम्प्रदाय में हम बौद्ध (क्षणभंगवाद), सादृश्यवाद (रिजेंब्लेंस थ्योरी) तथा नामवाद (नोमीनलिज्म) के मतों का संक्षेप में उल्लेख करेंगें।

बौद्ध दर्शन (क्षणभंगवाद)

इस मत में विशेष या स्वलक्षण ही वस्तुसत् या परमार्थ सत् है। सामान्य या सामान्यलक्षण कल्पित, मिथ्या या भ्रम है। वास्तव में विशेष या स्वलक्षण ही प्रत्यक्षसिद्ध है, सामान्यलक्षण का तो अनुमानादि के द्वारा ही बोध होता है। विशेष या स्वलक्षण वह है जिसमें अर्थक्रिया सामर्थ्य हो। शान्तरक्षित का कहना है कि जो अग्नि दाह, पाक, या प्रकाश मे समर्थ है वही अग्नि है, वही स्वलक्षण है। सामान्यलक्षण अग्नि न जला सकती है, न पका सकती है और न उजाला कर सकती है। अत: वह

कल्पना है, निरर्थक है। अर्थक्रिया में असमर्थ सामान्यलक्षण के अस्तित्त्व का विवेचन एवं परीक्षण, सौभाग्य कांक्षिणी कमिनी का षण्ड के सुरूप और कुरूप के विवेचन और परीक्षण के समान व्यर्थ है, निरर्थक है। अत: परमार्थ सत् स्वलक्षण है। वह "इदं"-"अत्र" और "अधुना" में विद्यमान रहने वाला अर्थक्रिया समर्थ क्षण है। जो सत् है वह क्षणिक है। (यत् सत् तत् क्षणिकम्)। वास्तव में सामान्यलक्षण या नित्य केवल कल्पना है, वह शशश्रृंग के समान मिथ्या है। अनुगत प्रतीति सादृश्यमूलक भ्रमात्मक है। दीपलव और नदी प्रवाह में भी एकता की प्रतीति होती है, किन्तु स्पष्त: यह विदित है कि पूर्व प्रवाह और उत्तर प्रवाह दोनों दो क्षण हैं, पूर्व लव और उत्तर लव केवल दो क्रमिक क्षण हैं। सादृश्य भाव के कारण एकता या अनुगतता की प्रतीति होती है, वास्तव में कोई सामान्य उनमें अनुगत नहीं है। उन समस्त विशेषों के लिये एक शब्द का प्रयोग सामान्य को सिद्ध नहीं करता; जैसे घट, गो, पट आदि घटत्व, गोत्व और पटत्व आदि सामान्य को सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि शब्द का प्रयोग केवल अपोह, व्यावृत्ति, व्यतिरेक या निषेध के लिए है। अत: गौ: का अर्थ न-अगौ, घट का अर्थ है न- अघट, पट का अर्थ न अपट। इसी व्यवहार के सम्पादन एवं अपोह के लिए शब्दों का प्रयोग होता है। उनके प्रयोग मात्र से नित्य सामान्य की सिद्धि नहीं हो जाती है।

जाति का खण्डन करते हुए दिङ्नाग का कहना है कि क्या जाति सर्वगत है या व्यक्तिगत ? उसे सर्वगत नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसकी सर्वत्र उपलब्धि भी माननी पड़ेगी जो जातिवादियों को भी अभीष्ट नहीं है। अत: उसे व्यक्तिगत मानना चाहिये। किन्तु व्यक्तिगत मानने पर भी दोषों से छुटकारा नहीं। क्योंकि जो व्यक्तिगत होगा वह एक व्यक्ति मे होगा दूसरे में नहीं। अत: गोत्व सामान्य को यदि व्यक्तिगत मानेंगे तो वह एक गाय में जिस समय रहेगा उसी समय दूसरी गायों में नहीं रह सकता। व्यक्तिगत का अर्थ उस समय में विद्यमान समस्त व्यक्तियों में करें तो भी निर्वाह नहीं होता, क्योंकि जब कोई नवीन गो-व्यक्ति की उत्पत्ति होगी तो उसमें गोत्व कैसे और किस प्रकार आ पायेगा ? और इसी प्रकार यदि विद्यमान गो व्यक्तियों में से किसी गो-व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो क्या उसमें विद्यमान जाति का विनाश नहीं हो जायेगा ? यदि यह स्वीकार कर लें कि व्यक्ति की उत्पत्ति के साथ जाति की उत्पत्ति और व्यक्ति के विनाश के साथ जाति का विनाश हो जाता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु जातिवादियों को यह कदापि मान्य नहीं, क्योंकि वे तो जाति को नित्य मानते हैं। यदि उत्पन्न और विनष्ट न मान कर यह मानें कि जाति विद्यमान व्यक्तियों से नवीन उत्पन्न व्यक्ति में चली जाती है और विनष्ट व्यक्ति से पुन: विद्यमान व्यक्तियों में चली आती है तो जातिवादियों की जाति की निष्क्रियता तथा गमनागमन परस्पर विरूद्ध पड़ते हैं। यदि यह मान भी लें तो भी प्रथम किसी व्यक्ति में जहाँ से जाति निकल कर नवीन व्यक्ति में आई तो वहाँ जाति का अभाव रहना चाहिये और द्वितीय जहाँ जिस व्यक्ति में नष्ट व्यक्ति से जाति निकल कर गई है वहाँ कम से कम दो जातियों की उपलब्धि होनी चाहिये। यदि यह कहें कि जाति अंशत: विद्यमान व्यक्तियों में रहती है और अंशत: नवीन व्यक्ति में बदली जाती है तो भी जातिवादियों के ही कथन में विरोध पड़ता है, क्योंकि जाति मानने वाले उसे निरंश भी मानते हैं। इसी तरह यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि जब जाति वर्ग के सभी व्यक्तियों में विद्यमान रहती और उनमें से किसी व्यक्ति का नाश होता है तो जाति का क्या होता है ? क्या जाति वहीं व्यक्ति के साथ ही नष्ट हो जाती है ? क्या दूसरे व्यक्तियों में चली जाती है। क्या वहीं रहती है। यदि प्रथम प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देते हैं तो जाति की नित्यता के साथ विरोध पड़ता है: कि जाति नित्य है पर व्यक्ति के विनाश के साथ-साथ नष्ट हो जाती है। यदि दूसरे प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देते हैं तो जाति की निष्क्रियता के साथ विरोध पड़ता है और किसी भी एक व्यक्ति में एक से अधिक जाति का सद्भाव मानने के लिये बाध्य करता है। यदि तीसरे प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देते हैं तो व्यक्ति के नाश स्थल पर जाति की

उपलब्धि होनी चाहिये : पर स्वयं जातिवादियों को ही ये बातें मान्य नहीं हैं। इस प्रकार सामान्य मानने वालों के लिये दोषों की श्रृंखला उपस्थित हो जाती है। (न याति नच तत्रासीदस्ति पश्चान्न न चांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहोव्यसन सन्तति ?) वास्तविकता तो यह है कि सामान्य कल्पना मात्र है। भिन्न-भिन्न भावों में भ्रमवश या संवृत्ति के कारण एकता की प्रतीति होती है। भिन्न-भिन्न भाव (गाय, घट, पट) सत् अवश्य हैं किन्तु इनमें गोत्व, घटत्व, पटत्व असत् है। प्रत्येक गाय, घट, पट आदि को गिनना, उनका भिन्न-भिन्न नाम रखना, उनका भिन्न-भिन्न वर्णन करना एक ओर सामर्थ्य के बाहर हैं और दूसरी और अनावश्यक और निरर्थक भी। अत: वृद्धों ने अतद्व्यावृत्तिनिमित्त "गोत्व", "घटत्व" आदि सामान्य की कल्पना कर ली है। परन्तु यह केवल कल्पना, नाम, व्यवहार या संकेत मात्र हैं, वस्तुसत् नहीं।

आक्षेप :- (१) यह मत केवल सामान्य का ही खण्डन नहीं करता अपितु विशेष को भी क्षणिक मानता है और भ्रमात्मक सादृश्य के कारण एकता या सामान्य की कल्पना की व्याख्या करता है। किन्तु क्या किसी को स्थिर माने बिना सादृश्य ज्ञान भी संभव हो सकेगा ? कम से कम द्रष्टा को दोनों वस्तुओं के विभिन्न क्षण में देखने के लिये तथा तृतीय क्षण में उनकी तुलना करने के लिये तीन क्षण स्थायी अवश्य ही मानना पड़ेगा जो क्षणिकत्व के विरूद्ध है। कोई वस्तु यदि क्षण से अधिक स्थिर मान ली गई तो क्षणभंग की स्थापना नहीं हो सकेगी।

(२) यदि सभी वस्तुएँ स्वलक्षण हैं , गाय भी और घट भी, तो क्यों सभी गायों में सादृश्य की प्रतीति होती है, सभी घटों में सादृश्य की प्रतीति होती है और गाय और घट में सादृश्य की प्रतीति नहीं होती है ? क्या उनमें सादृश्य का कोई बीज या कारण विद्यमान है ? यदि हाँ, तो वह अवश्यमेव सामान्य है। यदि नहीं, तो उन्हीं में सादृश्य (भ्रमात्मक ही सही) क्यों प्रतीत होता है, अन्य में नहीं, इसकी समुचित व्याख्या नहीं हो पाती है।

सादृश्यवाद :- आधुनिक तार्किकों में कुछ हैं जो सादृश्य (रिज़ेम्बलेंस) के आधार पर सामान्य की व्याख्या करते हैं। इनका कहना है कि सामान्य कोई वस्तु सत् या वास्तविक तत्त्व या पदार्थ नहीं है। यह एक कल्पित धारणा है, भ्रमात्मक विकल्प है, मिथ्या प्रत्यय है। इस भ्रमात्मक धारणा के उदय होने का मूल कारण पदार्थों का सादृश्य है। यद्यपि समस्त विशेष स्वतन्त्र हैं, उनकी वास्तविक सत्ता है और एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, फिर भी एक वर्ग के अनेक विशेषों में कुछ सादृश्य प्रतीत होता है। यह सादृश्य पूर्णरूपेण नहीं रहता, अपितु आंशिक और अपूर्ण होता है। कभी आकार का सदृश्य तो कभी रंग का तो कभी किसी अन्य गुण या धर्म विशेष का सादृश्य होता है, यद्यपि यह सादृश्य पूर्ण नहीं रहता तथापि न्यूनधिक मात्रा में विद्यमान सादृश्य को हम सादृश्य मान लेते हैं और इसी सादृश्य के आधार पर सदृश प्रतीत होने वाले विशेषों में एक सामान्य या जाति भी मान बैठते हैं। जैसे, हमारे सामने दो गेंदें रखी हुई हैं। उनमें गोलाई, आकार आदि की समानता विद्यमान है, इसलिए हम उन दोनों को सदृश, समान, या तुल्य मान लेते हैं पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो कोई भी एक धर्म, गुण या स्वरूप ऐसा नहीं है जो दोनों में हो। दोनों के अपने-अपने रंग हैं, अपने-अपने रूप हैं, अपने-अपने आकार एवं अपनी-अपनी परिधि है। ये पूर्ण व्यक्तिगत हैं, पूर्णत: विशेष गत और एक दूसरे से भिन्न हैं। यद्यपि दोनों लाल हैं और दोनों गोल हैं फिर भी कहने मात्र के लिये ही दोनों की लालिमा और गोलाई में एकरूपता है, वास्तव में दोनों की लालिमा और गोलाई भी भिन्न-भिन्न हैं। इसीप्रकार भेद में प्रतीत होने वाले अभेद को मानकर हम सादृश्य की स्थापना करते हैं और सादृश्य के आधार पर सामान्य की। किन्तु वास्तव में न कोई पूर्ण सदृश है और न ही कहीं कोई सामान्य।

आक्षेप: (१) यह सादृश्यवाद का सिद्धान्त सीमित वर्ग (क्लोज्ड क्लास) में किसी प्रकार मान्य भी हो पर असीमित वर्ग (ओपन क्लास) के लिये कथमपि मान्य नहीं हो सकता। सीमित वर्ग (क्लोज्ड

क्लास) से मेरा तात्पर्य उस वर्ग से है जिसके समस्त व्यक्तियों की संख्या की गणना संभव हो और असीमित वर्ग (ओपन क्लास) से मेरा तात्पर्य उस वर्ग से है जिसके समस्त व्यक्तियों की गणना सम्भव न हो सके।

(२) क्या हम किन्हीं दो वस्तुओं को बिना किसी रूप में सदृश माने सदृश कह सकते हैं ? अत: जिस रूप में ये दोनों सदृश कहे जाते हैं वह सामान्य है या व्यक्तिगत ? उसे व्यक्तिगत कहने पर उसी रूप को सदृश कहने का कोई अर्थ नहीं रहता।

(३) क्या यह सादृश्य, या समता स्वयं एक सामान्य नहीं है ? जिसके अनेक उदाहरण या व्यक्ति हैं ? इस प्रकार हम सामान्य के स्थान पर सादृश्य नाम दे रहे हैं ?

(४) क्या यह सादृश्य कल्पित है या वास्तविक ? यदि कल्पित है तो कुछ में ही सादृश्य कल्पना का क्या कारण है ? सब में सादृश्य क्यों नहीं कल्पित हो जाता ? और यदि वास्तविक है तो सामान्य मान लेने में क्या आपत्ति है ?

नामवाद:- सादृश्यवादियों के सिद्धान्त, कि दो या अनेक वस्तुओं में कुछ सादृश्य है, जिसके आधार पर सामान्य की कल्पना की जाती है, को मान कर उसपर उठाये गये आक्षेपों से बचने के लिये नामवादियों ने अपने मत की स्थापना की है कि वह सादृश्य केवल समान नामों से पुकारा जाना मात्र है। अर्थात् विभिन्न विशेष एक नाम से पुकारे जाते हैं यही उनका सादृश्य है, और कोई सादृश्य, गुण, या धर्म,या जाति में नहीं। अत: नामवादियों के मत में विशेष अनुभव-वेद्य हैं: उनकी देश, काल आदि में सत्ता है, वे वस्तु सत् और वास्तविक हैं। उनमें सामान्य कुछ भी नहीं है ; सादृश्य, एकता या समता नामक कोई गुण या धर्म भी नहीं है। यदि कुछ सादृश्य, या सामान्य है तो वह केवल यही कि वे एक समान नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

आक्षेप:(१) क्या यह नाम हमारी स्वतंत्र इच्छा पर आधारित है या इसकी कोई परम्परा (कन्वेंशन) है ? मेरी गाय को एक बछड़ा है, इन दोनों को हम गाय कहते हैं। क्या ऐसा कहने के लिये हम किसी परम्परा में बँधे हैं या पूर्ण स्वतन्त्र हैं ? यदि किसी दूसरे नगर से कोई व्यक्ति, जो मेरी भाषा में बातें करता है, आकार पूछे कि आपकी गाय ने बछड़ा दिया वह क्या है घोड़ा या हाथी ? तो क्या उसके इस प्रश्न को हम ठीक वैसा मान लें जैसा हमारे मित्र हमारे नवजात शिशु के विषय में प्रश्न करते हैं कि आपके नवजात बालक का क्या नाम है, रमेश, सुरेश या कुछ और ? क्या दोनों प्रश्न समान हैं ? हम दूसरे प्रश्न का उत्तर बड़े गर्व और प्रसन्नता से देने को तैयार रहते हैं कि नहीं महाशय, मैं अपने पुत्र को प्रमोद कुमार कहता हूँ। किन्तु प्रथम प्रश्न को सुनते ही हमें हँसी छूटती है और तरस आता है कि यह मनुष्य कितना मूर्ख है, इसे इतना भी नहीं मालूम कि गाय का बच्चा गाय (गाय-बैल) ही होता है, घोड़ा या हाथी नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि "गाय" यह नाम व्यक्ति वाचक नाम है जो रमेश, सुरेश या ताजमहल या जयपुर या किसी जहाज या मकान के नाम के समान नहीं है। यदि भेद है तो उसका क्या कारण है? इसके अतिरिक्त कोई जंगल का निवासी मेरे पास आकर "गवय" के विषय में बात करने लगे और हम उससे पूछें कि गवय कहा जाने वाला जानवर कैसा होता है ? और वह यह उत्तर दे कि गवय कहा जाने वाला जानवर गवय नाम से सम्बोधित जानवर के समान होता है, क्योंकि दोनों एक ही नाम से पुकारे जाते हैं, तो क्या उसके इस उत्तर से हमें सन्तोष हो जाएगा ? हम सोचते हैं कि केवल नामवादी भी सिद्धांत के कारण ही सन्तुष्ट भले ही हो जायें अन्यथा ऐसे उत्तर देने वाले के प्रति उनमें भी क्रोध के अतिरिक्त और कुछ संवेग या भाव नहीं प्रदर्शित होगा।

हॉब्स का नामवाद

हॉब्स को नामवाद की कठिनाई कुछ सीमा तक प्रतीत हुई कि विशेषों में केवल एक नाम से

संबोधित किया जाना मात्र ही सादृश्य नहीं है, अपितु एक नाम से पुकारे जाने के कारण कुछ अन्य रूप में भी उनमें सादृश्य है। इनका कहना है कि कुछ विशेष एक नाम से पुकारे जाते हैं यही उनका सादृश्य नहीं। किन्तु ये नाम क्यों पुकारे जाते हैं ? यह प्रश्न हमें उनमें नाम से अतिरिक्त कुछ और सादृश्य भी मानने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार इन्हें इन नामवादियों की कोटि में नहीं रखना चाहिये, फिर भी इनको नामवादियों की कोटि में इसलिये रखा जाता है कि साधारण नाम के अतिरिक्त ये किसी अन्य को सामान्य नहीं मानते हैं और विशेषों में सामान्य नाम के अतिरिक्त कोई सामान्य धर्म भी मानने को ये तैयार नहीं हैं।

परिष्कृत नामवाद

परिष्कृत नामवादियों का कहना है हॉब्स को यह बात भलीभाँति समझ में नहीं आयी कि शब्द-प्रकार और शब्द-चिन्ह दोनों में भेद होता है। इसलिये वे नाम के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में भी सादृश्य मानने को तैयार हो गये। परन्तु यदि हम शब्द-प्रकार और शब्द-चिन्ह को भलीभाँति समझें, तो यह सामान्य का बखेड़ा अपने आप समाप्त हो जायेगा। यदि इस पृष्ट में दस बार 'रक्त' शब्द आया है और सभी स्थलों पर उसका अर्थ वही है जो हिन्दी में "लाल" या अंग्रेजी में 'रेड' शब्द का होता है तो हम इसे प्रकार-शब्द कहेंगे। किन्तु यदि कहीं लिखा है कि उसके कोट में रक्त पुष्प लगा है तो यहाँ रक्त एक शब्द चिन्ह है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही प्रकार (टाइप) के अनेक चिन्ह (टोकन) का प्रयोग हुआ करता है। जब हम यह कहते हैं कि एक ही नाम एक वर्ग के लिये है तो हमारा तात्पर्य यही रहता है कि दो या दो से अधिक शब्द-चिन्ह एक ही प्रकार के हैं। सामान्य मानने की आपत्ति इसलिए आ पड़ती है कि हम व्यक्तिवाचक शब्द "ताजमहल" के समान साधारण शब्दों के भी कुछ निश्चित अर्थ मान लेते हैं। परन्तु वास्तव में साधारण शब्द का महत्त्व इसलिये है कि उसका व्यक्तिवाचक शब्दों के समान कोई निश्चित व्यक्ति अर्थ नहीं है। इसलिए इसके प्रयोग से हम लाभान्वित हुआ करते हैं।

आक्षेप :- प्रकार या संकेत दोनों भेदों का आधार स्पष्ट नहीं है। क्यों कुछ शब्दों को हम एक ही प्रकार (टाइप) का मानते हैं ? क्या जिन व्यक्तियों के लिये साधारण शब्द का प्रयोग होता है उनमें परस्पर में भी कुछ सादृश्य या समता है अथवा नहीं ? आदि प्रश्न इस मत पर भी बने रहते हैं।

तृतीय दृष्टिकोण: (सामान्याद्वैत)

यह दृष्टिकोण उन दार्शनिकों का है जो सामान्य को ही वस्तुसत् मानते हैं और विशेष को मिथ्या,भ्रम या कल्पना कहते हैं। इस मत में सामान्य नित्य, अनादि, अनन्त, अपरिवर्तनशील एवं वस्तु सत् है तथा विशेष अनित्य, सादि, सान्त, विनाशी और कल्पित हैं। इस मत के परिपोषकों में हम प्लेटो और अद्वैत वेदान्त के मतों का उल्लेख करेंगे।

प्लेटो

इनके अनुसार सामान्य नित्य, उत्पत्ति-विनाश रहित, अपरिणामी और वस्तु सत् हैं। ये हमारी बुद्धि की कल्पना नहीं। वास्तव में इनकी ही सत्ता है और विशेष उनकी सत्ता के कारण ही सत् प्रतीत होते हैं। विशेष इन्हीं पूर्ण, अपरिणामी, नित्य, सर्वानुगत सामान्यों की क्षीण, परिणामी, अनित्य एवं सीमित प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब हैं। सामान्य वस्तु सत् हैं, वे अपनी जाति के विशेषों में अनुगत रहते हैं तथा उनको अन्य जाति के विशेषों से व्यावृत्त करते हैं। न्याय, मीमांसा आदि के समान प्लेटों भी यह मानते हैं कि सामान्य का कार्य सजातीय विशेषों में एकरूपता लाना तथा विजातीय विशेषों से भेद करना है। सामान्य पूर्ण है और विशेष अपूर्ण। सामान्य नित्य है और विशेष अनित्य। सामान्य देश और काल से परे है और विशेष देश और काल परिच्छिन्न। विशेष सामान्य का अनुकरण करना चाहते हैं परन्तु वास्तव में वे सामान्य के अनुरूप नहीं हो पाते। सामान्य ही वास्तव में ज्ञान के विषय हैं, किन्तु

इनका ज्ञान इन्द्रिय से नहीं हो सकता है। इन्द्रिय जगत् तो केवल विशेषों का जगत् है। यहाँ क्षीण, परिवर्तनशील विशेष ही दीख पड़ते हैं, नित्य सामान्य नहीं। अत: नित्य सामान्य का दिव्य लोक या नित्यलोक है, पर वे विशेषों में अनुस्यूत भी है। ये विशेष पूर्ण स्वतंत्र नहीं, उन्हीं सामान्यों के क्षीण प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब हैं। हमारे समक्ष कोई भी पूर्ण मानव नहीं, कोई भी पूर्ण त्रिभुज नहीं, कोई भी पूर्ण ऋजुरेखा नहीं। ये तो सभी सामान्य हैं और दिव्य लोक में हैं। ये सभी मनुष्य, त्रिभुज और ऋजुरेखा अपूर्ण हैं। ये उस सामान्य की प्रतिकृतियाँ हैं। इस प्रकार प्लेटो संसार के प्रत्येक वर्ग के विशेषों का एक सामान्य मानते हैं और उन सामान्यों को विशेषों में अन्तर्हित (इमेनेन्ट) तथा अतिक्रामी (ट्रान्सेन्डेन्ट) दोनों मानते है। इन्द्रिय जगत् में इनकी क्षीण उपलब्धि और विज्ञान जगत् में पूर्ण उपलब्धि होती है। वास्तव में ये विशेषों के सार, प्राण, बिम्ब तथा स्वरूप हैं। विशेष उनके कारण ही भासित होते रहते हैं। सामान्य की मुख्य सत्ता है और विशेष की गौण। सामान्य वस्तु सत् है और विशेष कल्पित। सामान्य विशेषों में अनुस्यूत रहते हैं, अत: यह कहा जाता है कि विशेष सामान्य में भाग लेते हैं। विशेष तुच्छ या अलीक नहीं हैं। ये सामान्य के प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब या प्रतिभास मात्र हैं, अत: इनकी गौण सत्ता है प्रधान नहीं।

आक्षेप :- अरस्तु ने प्लेटो के सामान्य के ऊपर बहुत से आक्षेप किये हैं जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार से रखा जा सकता है।

(१) सामान्य का पृथक् लोक मानना, (२) सामान्य जगत् को विशेष जगत् में निरर्थक पुनरावृत्ति के रूप में स्वीकार करना, (३) दिव्य जगत् में रहने वाले सामान्यों को वस्तुजगत् में अनुस्यूत मानना, (४) सामान्य के कारण ही विशेष की सत्ता स्वीकार करना और सामान्य तथा विशेष के स्वरूप में विरोध भी मानाना आदि ऐसी मान्यतायें है जो अनुभव और तर्क दोनों से विरूद्ध जान पड़ती हैं।

अद्वैत वेदान्त

हमने वेदान्त को तृतीय कोटि (सामान्य को सत् और विशेष को कल्पित या असत् मानने वाले दार्शनिक संप्रदाय) में रखा है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वेदान्त न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, अरस्तु या प्लेटो आदि के मत के अनुरूप सामान्य को सत्, नित्य, या अपरिणामी मान लेता है। इतने अंश में वेदान्त सामान्य मानने वाले अन्य दार्शनिकों के तुल्य है कि सामान्य को अन्तर्हित होना चाहिये, किन्तु इस अन्तर्हितत्त्व का किसी वर्ग विशेष में ही रहना वेदान्त को अभीष्ट नहीं है। उसके मत में अन्तर्हितत्त्व का अर्थ है सर्वांतर्हितत्त्व, अर्थात् त्रिकालाबाधित्व। जो तत्त्व सर्वांतर्हित होगा वह सर्वकाल और सर्वत्रान्तर्गत होगा, इसलिये कहीं किसी काल में उसका बाध संभव ही नहीं हो सकेगा। इस प्रकार वेदान्त मत में सामान्य विशुद्ध सत् है जिसका त्रिकाल में बाध नहीं होता है। उससे अतिरिक्त अन्य सभी जो देश व काल में सीमित हैं, किंचिद् देशावच्छेदेन जिनकी सत्ता है, अन्य देशावच्छेदेन जिनकी सत्ता नहीं है मिथ्या हैं, व्यावहारिक हैं और विशेष हैं। इसी बात को बृहदारण्यक उपनिषद् में उद्दालक ने अपने प्रिय पुत्र श्वेतकेतु को विभिन्न उदाहरणों के द्वारा समझाने का प्रयास किया था कि मृत्तिका से बनी हुई अनेक वस्तुएँ हैं - जैसे दीपक, घड़ा, सुराही, ईंट, लोष्ट आदि। इनमें भेद केवल नाम और रूप के कारण है और इनमें अन्तर्निहित मृत्तिका है। अत: मृत्तिकेत्येव सत्यम्, अर्थात् मृत्तिका ही सत्य है, सामान्य है, सत् है। और अन्य नाम-रूप कल्पित हैं, मिथ्या हैं। इसी विश्लेषण प्रणाली का अनुसरण करते हुए विद्यारण्य ने संसार की समस्त वस्तुओं का परीक्षण किया है और बताया है कि संसार की समस्त वस्तुओं में पाँच तत्त्व मिलते हैं जिन्हें अस्ति (अस्तित्त्व), भाति (भान, ज्ञान-विषयता), प्रियं (आनन्द), नाम और रूप कहा जा सकता है। इनमें प्रथम तीन अस्तित्त्व, भान और प्रियता सभी में अन्तर्निहित हैं और नाम और रूप सभी में अन्तर्निहित न होकर कहीं अन्तर्निहित हैं और कहीं अन्तर्निहित नहीं हैं। इस प्रकार वास्तव में अन्तर्निहित कहे जाने वाले तत्त्व सत्, आनन्द, अस्तित्त्व, भान और

प्रियता हैं तथा नाम और रूप कल्पित या व्यवहारिक हैं या वास्तव में सर्वत्र और सर्वदा अन्तर्निहित रहने वाले नहीं हैं, किसी वर्ग विशेष मात्र में अन्तर्निहित रहने वाले हैं। इस प्रकार वेदान्त के सामान्य को हम दो वर्गों में रखते हैं, पारमार्थिक सामान्य और व्यावहारिक सामान्य। प्रथम, पारमार्थिक सामान्य, विशुद्ध तत्त्व है। वह सत्, चित् और आनन्द है। वह नित्य है, अनादि, अनन्त और अपरिणामी, तात्त्विक और परम सत्य है। उसका कहीं और कभी न विरोध है, न बाध, न अभाव। वह अनादि, अनन्त, विभु, व्यापक, विशुद्ध चित् रूप है। वह स्वत: प्रकाश है, जिसे श्रुतियों ने कहा है कि तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति-उसके ही प्रकाश से ये सभी वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं। यह सबमें अन्तर्निहित या अन्तर्यामी अवश्य है किन्तु यह इतर व्यावर्त्तक नहीं है, क्योंकि इससे भिन्न इतर कुछ संभव ही नहीं है।

व्यावहारिक सामान्य

द्वितीय है, व्यावहारिक सामान्य और इसे हम दो वर्गों में रखते हैं: नाम सामान्य और रूप सामान्य। किन्तु ये दोनों एक दूसरे से सदा सम्बन्धित रहते हैं। ये दोनों ही कल्पित हैं, व्यावहारिक हैं तथा अतात्त्विक हैं, इनकी वास्तविक एवं सर्वकालिक सत्ता नहीं है। ये दोनों अपने वर्ग के विशेषों में (जो नाम, रूप, सत्, चित्, आनन्द के समन्वय हैं) अन्तर्निहित रहकर अन्य वर्ग के विशेषों (जो अन्य नाम, अन्य रूप, सत्, चित् और आनन्द के समन्वय हैं) से उन्हें पृथक् करते हैं तथा अपने वर्ग के विशेषों में आनुरूप्य प्रतीति के कारण भी बनते हैं। इन नाम-रूपात्मक सामान्यों में सामान्य के सभी गुण हैं। यह (नाम रूपात्मक सामान्य) भेद और आनुरूप्य प्रतीति दोंनों का सम्पादन कर न्यायवैशेषिक, मीमांसा, अरस्तु और प्लेटो सभी के मान्य सामान्य का प्रतिनिधित्व कर लेती हैं। किन्तु इसकी वास्तविक सत्ता नहीं हैं, यह कल्पित है, यह मायिक और मिथ्या है। यह केवल नाम-रूप है। इसलिये उन पर दिये गये समस्त आक्षेपों से बच भी जाता है। यह ऐसे आक्षेपों, जैसे सामान्य कहाँ रहता है, वह अनेक में किस प्रकार अनुस्यूत है, नवीन व्यक्ति में कैसे जाता है, व्यक्ति के नष्ट हो जाने के पश्चात् कहाँ रहता है, नवीन वर्ग के किसी व्यक्ति की उत्पत्ति के समय कहाँ से चला आता है आदि का इस पर कोई प्रभाव भी नहीं पड़ता है। इस प्रकार एक ओर सामान्य को सत् मानने वालों के सामान्य के समस्त कार्य का सम्पादन भी हो जाता है और उन पर आये आक्षेपों का निवारण भी। दूसरी ओर नामवादी और सादृश्यवादियों का भी इसमें पूर्ण समन्वय हो जाता है और उन पर आये आक्षेप भी इस पर नहीं लगते। नामवादी केवल एक नाम मात्र से कहे जाने वाले को सामान्य कहते हैं, वेदान्त को यह अभीष्ट है। किन्तु यहाँ नामवादियों पर यह प्रश्न उठता है कि आखिर उसी वर्ग के विशेष इस नाम से क्यों कहे जाते हैं ? क्या हम उनको दूसरा कुछ कहने के लिये और अन्य व्यक्ति तीसरा कुछ कहने के लिये स्वतंत्र है ? और वे इसका उत्तर नहीं दे पाते हैं; इसका वेदान्त यह उत्तर देता है कि उनको एक नाम कहे जाने के कारण उनमें एकरूपता तथा एकाकारता है। अर्थात् वे एक आकृति, रूप, स्वरूप (फार्म, पैटर्न) आदि के हैं, अत: उन्हें एक नाम से सम्बोधित किया जाता है। सादृश्यवादियों का यह मत कि सभी विशेष आपस में किसी न किसी रूप में सदृश हैं, वेदान्त को मान्य है। किन्तु जहाँ उनके सामने सादृश्य की व्याख्या तथा रूप में सादृश्य का प्रश्न जटिल और असमाधेय बन जाता है वहाँ वेदान्त के समक्ष यह कोई समस्या ही नहीं रहती है, क्योंकि यहाँ उनका सादृश्य आकृतिमूलक है और आकृति स्वयं कल्पित है, मान्यता पर आधारित है। अत: इसमें विभुता और नित्यता आदि मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह कोई वस्तुसत् नहीं कि पूछा जाये कि वह कहाँ रहता है, किस प्रकार रहता है ? जाति को नित्य मानने वाले भी तो आखिर आकृति के द्वारा ही जाति का अभिव्यंजन स्वीकार करते हैं (आकृति ग्रहणाजाति:)। अब यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि जब ये नाम और रूप ही सामान्य हैं और ये कल्पित भी हैं तो क्या हम कल्पना के आधार पर इस प्रकार के नाम-रूपात्मक सामान्य की रचना करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं ? वेदान्त की ओर से यह उत्तर दिया

जायेगा कि अवश्य आप अपनी कल्पना से नाम-रूप के निर्माण में पूर्ण स्वतंत्र हैं और इसलिए प्रतिदिन नव आविष्कृत नानाविध वस्तुओं में नानाकार तथा नाना नाम भी आपको मिलते हैं। आप किसी नवीन आकृति की कल्पना कर उसके आकार में बनी वस्तुओं का नवीन नाम रखें। वे सभी एक आकार की होंगी और एक ही नाम से कहीं भी जायेंगी। इसमें वेदान्त को काई आपत्ति नहीं। किन्तु आपकी पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ इस माने में सीमित है कि जो आकृति आपकी कल्पना नहीं तथा जिसका नाम आपका दिया हुआ नहीं उसे बदलने के लिये आप स्वतंत्र नहीं, जैसे पृथिवी, समुद्र, गो, हस्ती आदि अनादि आकृतियाँ अनादि कल्पना से प्रभावित हैं। अत: उन्हें हम एक आकृति में देखते हैं, जानते हैं, पहिचानते हैं, पर उनको बदलना हमारे लिए संभव नहीं। इसके पश्चात् भी यदि कोई यह प्रश्न उठाये कि यह आकृति या आकार या रूप क्या है ? क्या यह विशेषों में रहता है या उनसे बाहर भी ? क्या यह गतिशील है आदि ? तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, इनका उत्तर बड़ा ही सरल होगा, अत्यन्त व्यावहारिक होगा। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि हमारी अँगूठी, घड़ी, कलम तथा टेबुल का आकार कल्पित है। यह आविष्कर्ता या निर्माता की बुद्धि की उपज है और हमारी अँगूठी, घड़ी, कलम तथा टेबुल में रहता भी है, किन्तु न यह विभु है, न व्यापक, न नित्य, न गतिशील। यह तो अवयव या उपादान का एक विशेष प्रकार का संस्थापन, संयोजन या संकलन है। यह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है, हमारी घड़ी, अँगूठी, टेबुल, कलम आदि के विनष्ट हो जाने पर उसका आकार (जो सामान्य-कल्पित आकार है) नष्ट नहीं हो जाता है, केवल उसका व्यक्तिगत आकार (अवयव संस्थान की विलक्षण स्थिति) मात्र नष्ट होता है; किन्तु इस आधार पर यह सिद्ध करना कि, तब तो कलम या घड़ी का आकार अवश्यमेव नित्य होगा, निश्चय ही निरर्थक सिद्धांत कहा जायेगा। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि आकार नित्य भी नहीं है और वस्तु सत् भी नहीं, पर वस्तु के साथ नष्ट भी नहीं होता है। कारण यही कि यह कल्पित है। केवल व्यवहार चलाने के लिये है।

इस मत में व्यक्तिवाचक और साधारण शब्दों की व्याख्या भी सरलतया हो जाती है। व्यक्तिवाचक नाम किसी आकार के एक वस्तु, जो किसी निश्चित देश-काल आदि से सम्बन्धित रहती है, का होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि जो व्यक्तिवाचक नाम की वाच्य वस्तु है उसमें कोई साधारण आकृति ही नहीं होती और उसके लिये किसी साधारण शब्द का प्रयोग ही नहीं होता, अपितु सदा ही उसमें आकृति सामान्य रहती है और साधारण नाम का प्रयोग भी होता है। जैसे हम सभी व्यक्तिवाचक शब्द के वाच्य हैं किन्तु हम लोग मनुष्य, प्राणी आदि साधारण शब्दों से सम्बोधित भी किये जाते हैं और हम लोगों में एक आकार विशेष की एकरूपता भी विद्यमान है। साधारण शब्द इसी सामान्य आकृति के वाचक हैं, इसका यह अर्थ कदापि नहीं होगा कि तब 'मनुष्य' शब्द द्वारा वाच्य कोई सामान्य मनुष्य भी मिलना चाहिये। क्योंकि सामान्य तो केवल एक कल्पित आकार है। भले ही उसे अनादि कल्पना जन्य कहें और दीर्घकाल स्थायी मानें।

***

परिच्छेद : आठ

नवजीवन रस्तोगी

8.1 प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप

8.2 काश्मीर शैव दर्शन में पदार्थ का स्वरूप

8.3 बाह्य पदार्थों की अनुमेयता और अभिनवगुप्त

नवजीवन रस्तोगी

प्रो. नवजीवन रस्तोगी का जन्म एवं कर्म स्थान दोनों ही लखनऊ रहा है। लखनऊ विश्वविद्यालय से ही इन्होंने बी.ए. (१९५७), एम. ए. (१९५९) एवं पी-एच.डी. (१९६८) की उपाधि प्राप्त किया। अपने "आल्मामेटर" के ही संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग से लेक्चरर के रूप में अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत कर वहीं रहते हुए क्रमश: रीडर, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष इत्यादि पदों पर आसीन होकर सेवा निवृत्त हुए। इन्होनें मानद निदेशक, अभिनव गुप्त-संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय, सदस्य, सम्पादक-मण्डल, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क, सीरीज इन दि शैव ट्रैडिशन्स ऑफ काश्मीर, विशेषज्ञ, कॉम्परेटिव रिलिजियस फिलॉसफी : कॉन्ट्रीब्यूशन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, ए प्रोजेक्ट ऑफ हाँग-काँग युनिवर्सिटी; डायरेक्टर काश्मीर शैव ट्रांसलेशन सीरीज, नित्यानन्द इन्स्टीट्यूट-कैम्ब्रिज इत्यादि के रूप में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। प्रो. रस्तोगी की बहुमान्य कृतियाँ- कर्म तान्त्रिज्म ऑफ काश्मीर, इन्ट्रोडक्शन टू दि तन्त्रालोक: ए स्टडी इन स्ट्रक्चर, तन्त्रालोक-विवेक एवं जयरथ टीका सहित-(सह सम्पादन) एवं काश्मीर शिवाद्वय की मूल अवधारणायें इत्यादि रही हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र अनेकों उच्चस्तरीय शोध निबन्धों को भी (हिन्दी एवं अंग्रेजी) प्रकाशित किया है। प्रो. कांतिचन्द्र पाण्डेय जैसे मूर्धन्य विद्वान के साथ मिलकर इनके द्वारा किया गया कुछ ग्रन्थों का आलोचनात्मक सम्पादन बहुत ही मानक स्तर का माना जाता है। प्रो. रस्तोगी आज भी अकादमिक दृष्टि से सक्रिय हैं और इनकी मेधा आज भी शैव, काश्मीर शैव की आगमिक परम्परा को समर्पित है।

✲

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप

भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का विशेष रूप से स्थिर आत्मा या विषयी को सिद्ध करने में उपयोग हुआ है। अनात्मवादी मतों के, जिनमें बौद्ध प्रमुख हैं, विरुद्ध इस प्रमाण का उपयोग यह बताने में किया गया है कि स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञान-प्रक्रियाओं को एक स्थिर आधार की अपेक्षा होती है, अत: धर्मी का अपलाप नहीं किया जा सकता।[१] अस्तु प्रत्यभिज्ञान के बल पर ही धर्म के बदल जाने पर भी धर्मी पहचान लिया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के सम्बन्ध में प्रचलित विचारों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। एक, जो "यह वही घड़ा है" इस ज्ञान को एक मानते हैं। इस श्रेणी में नैयायिक आदि की गिनती होती है। दूसरे, जो इसमें ग्रहण और स्मरण के अंशों को पृथक् मानते हैं, उनके लिए इस वाक्य में दो ज्ञान हैं। इसमें बौद्ध प्रमुख हैं। तीसरे, जो इसे उभयात्मक मानते हैं। काश्मीर के त्रिक या प्रत्यभिज्ञा दर्शन को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।[२]

नैयायिकों की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा सविकल्पक प्रत्यक्ष का ही एक रूप है। एक वस्तु को पहचानना, प्रत्यभिज्ञा करना, उसे एक निश्चित वस्तु के रूप में जानना है। इसलिए मोटे तौर पर प्रत्यभिज्ञा सविकल्पक प्रत्यक्ष है। किन्तु पारिभाषिक अर्थ में हम प्रत्यभिज्ञान को साधारणतया बिम्बात्मक या साम्प्रतिक और प्रतिरूपक या प्रतिबिम्बात्मक (प्रेजेन्टेटिव और रि-प्रेजेन्टेटिव) प्रक्रियाओं की अंत:करण वृत्ति (कॉम्प्लेक्स साइकोसिस) के रूप में लेते हैं। जो कुछ भी हम देखते हैं उसी का पूर्व-प्रत्यक्ष के विषय रूप में स्मरण भी करते हैं और दोनों मिलकर प्रत्यभिज्ञान को साधारणतया परिचित अर्थ देते हैं। इससे लगता है कि प्रत्यभिज्ञा स्मृति के अधीन है और यह एक जटिल प्रक्रिया है। किन्तु नैयायिकों का विश्वास है कि यह जटिल अंत:करण वृत्ति का क्षेत्र न होकर एक विशेषित अंत:करणवृत्ति का क्षेत्र है।[३]

पूर्व प्रत्यक्ष वस्तु का उसी व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्ष या ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है जो "मैंने इस वस्तु को पहले देखा है" के शब्दों में व्यक्त होता है। न्यायवार्तिक (३-२-३९, ३-२-४२) से पता चलता है कि प्रत्यभिज्ञा केवल एक वृत्ति, एक प्रत्यक्षात्मक क्रिया मात्र नहीं है अपितु यह स्मरण-क्रिया से भी अत्यन्त भिन्न नहीं है। संस्कारजन्य स्मरण होता है और प्रत्यभिज्ञा यह जानना है कि इस समय दिखलाई पड़ रही चीज वैसी ही है जो पहले देखी जा चुकी है।[४] चूँकि प्रत्यभिज्ञा एक अवसर पर ही वस्तु से संबद्ध रहती है अत: वह एकतामूलक प्रत्यक्ष है। पदार्थ का पुराना अनुभव अपने संस्कार छोड़ जाता है जो वर्तमान इन्द्रिय संस्कारों को रंग देते हैं। यह एक प्रकार का प्रत्यक्ष है, जहाँ प्रतिरूपक या संस्कार अंश की प्रधानता रहती है और प्रत्यक्षात्मक अंश गौण रहता है। न्यायभाष्यकार के शब्दों में, जब एक ही पदार्थ दो भिन्न समयों में होने वाले दो ज्ञानों से जोड़ा जाता है तो प्रत्यभिज्ञान जन्म लेता है।[५] नैयायिकों के लिए प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षात्मक और अव्यवहित है क्योंकि जो भी बहिरिन्द्रिय-उत्तेजना से जन्य है वह अव्यवहित और प्रत्यक्षात्मक होता है।[६] प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रिय सन्निकर्ष और पदार्थ का व्यवधानरहित प्रत्यक्ष दोनों निहित हैं। इसलिए यह सारा अनुभव ही प्रत्यक्षमूलक और अव्यवहित है। बावजूद इसके कि प्रस्तुत

विषय (कॉन्टेन्ट) मन में छुपे अवचेतन संस्कार के योग से ही सार्थक बन पाता है। एक ही विषय के भूत और वर्तमान ग्रहण की सहचेतना ही प्रत्यभिज्ञा है।[७-८]

मीमांसक और जैन भी करीब करीब इसी श्रेणी में आते हैं। मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को सामान्य सविकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं करते। यह एक प्रकार का प्रत्यक्ष है जिसमें वस्तु का नाम उसका विशेषण बन जाता है, अर्थात् वस्तु उस नाम से विशिष्ट होती है जिससे उसे पुकारा जाता है : यह वही देवदत्त है। भर्तृहरि के मत से इसका काफी हद तक साम्य मिलेगा। जैन प्रत्यभिज्ञा के स्वतन्त्र अस्तित्त्व में विश्वास करते हैं। यह ज्ञान की स्वतन्त्र कोटि है। यह जानना कि पदार्थ का एक बार प्रत्यक्ष हो चुका है, प्रत्यभिज्ञा है। यह ऐक्यमूलक ज्ञान है। जैन उपमान को भी प्रत्यभिज्ञानरूप ही मानते हैं।

प्रत्यभिज्ञा में ग्रहण और स्मरण के अंशों को अलग-अलग मानने वाले बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि में वस्तु की प्रत्यभिज्ञा देश और कालकृत भेदों के बावजूद भी स्मृत और अनुभूत में सादृश्य के कारण होती है। एक क्षण से विशिष्ट दीपशिखा दूसरे क्षण से विशिष्ट दीपशिखा से भिन्न है फिर भी वह एक ही शिखा है, यह प्रतीति बनी रहती है। साधारण जीवन में एक व्यक्ति के मूँछ-दाढ़ी, नख, रंग आदि में फर्क आ जाने पर भी उसी रूप में गृहीत होता है। भास्कर के शब्दों में, यह सादृश्य (अभेद नहीं) भेदप्राणसादृश्य है।[९] क्योंकि विशेषकृत भेद वस्तु के स्वरूप को छूते तक नहीं। वस्तु का स्वरूप या क्षण दूसरे क्षण से नितान्त भिन्न है। दोनों में एकता का भान बुद्धि-विकल्पमात्र है।[१०] देखा जाए तो हमारा सारा अनुभवजगत् इसी सादृश्य-प्रत्यभिज्ञा के सहारे चल रहा है। बौद्ध प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष और स्मृति का यांत्रिक संघात मानते हैं। न तो यह दोनों का समन्वय है और न एकता। यह एक प्रकार का द्वैतज्ञान है जो क्रमशः दोनों पक्षों की ओर संकेत करता है।

प्रत्यभिज्ञा को उभयात्मक ज्ञान मानने वाले काश्मीर शैवदर्शन से पहले हम एक-आध दर्शनों की ओर देख लें। अद्वैतवेदान्त में प्रत्यभिज्ञा का स्वतन्त्र विवेचन नहीं के बराबर है, फिर भी ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वहाँ भी यह अभेदज्ञान ही है। अद्वैतवेदान्त में "वह तुम हो" (तत्त्वमसि), "वही यह देवदत्त है" (सोयं देवदत्तः) आदि वाक्यों को अखंडार्थ का प्रतिपादक माना गया है। "यह वही देवदत्त है" वाक्य की यदि व्याख्या करें तो कोई संगत अर्थ निकालना असंभव सा लगता है। यह (अयम्) का अर्थ है- "वर्तमान समय और देश से अवच्छिन्न", अर्थात् इस समय यहाँ पर दिखाई पड़ने वाला; वह (सः) का अर्थ है "अन्य काल व देश से अवच्छिन्न" अर्थात् कभी अन्यत्र देखा हुआ। चूँकि दोनों ही विशेषण परस्पर विरोधी हैं अतः यह "वही" नहीं हो सकता है। दो भिन्न प्रकार से विशिष्ट होकर विशेष्य तार्किक दृष्टि से भिन्न हो जाता है। अतः एक ही रास्ता बचा रहता है जिसमें ऐसे वाक्यों को सार्थक और संगत कहा जा सकता है: विशेष्य-देवदत्त के तादात्म्य को उपाधि हटाकर या निषेध कर समझना। इसी प्रकार औपनिषदिक महावाक्य "वह तुम हो" (तत्त्वमसि, जहाँ "तुम" का अर्थ है जीवचैतन्य और "वह" का अर्थ है पूर्ण चैतन्य) में अपेक्षित तादात्म्य दोनों विशेषणों (जीवत्व और पूर्णत्व) के निषेध और उभयनिष्ठ चैतन्य को बचाने से सधता है। इस प्रकार के वाक्य में अर्थ वस्तुतः बचा हुआ भाग है और विश्लेषण की इस पद्धति को जहत्-अजहत्-लक्षणा कहा गया है।[११]

विशिष्टाद्वैत का शंकर के इस मंतव्य से विरोध है। उसके लिए हमारा सारा प्रत्यक्षात्मक अनुभव निर्णयमूलक है - सविकल्पक, निर्विकल्पक दोनों ही। फिर भी सविकल्पक और प्रत्यभिज्ञा में अंतर है। "यह वही देवदत्त है" (प्रत्यभिज्ञा), इसमें एक ही पदार्थ का दो बार प्रत्यक्ष होता है जबकि सविकल्पक में एक तरह के कई पदार्थों का ज्ञान होता है। जहाँ दोनों में ही वर्तमान विषय समान रूप से पूर्व संस्कारों के उद्‌बोध से सम्पृक्त रहता है वहाँ प्रत्यभिज्ञा में व्यक्ति-अंश का भी संस्कार रहता है। और भी, जहाँ सारे प्रत्यक्ष में निर्णय निहित रहता है वहाँ प्रत्यभिज्ञा में समय और स्थान के भेद की ओर भी

इशारा रहता है। न केवल प्रत्यक्ष की पहली स्थिति में सविशेष वस्तु का ज्ञान होता है बल्कि सारा का सारा ज्ञान-चरमसत्य के बोध समेत- आवश्यक रूप से सविकल्पक और सगुण वस्तु का ज्ञान है।[12] इस प्रकार ''तत्त्वमसि'' (वह तुम हो) जैसे वाक्य एकता के वाचक न होकर ''वह'' और ''तुम'' के सामानाधिकरण्य के वाचक हैं। ''वह'' असंख्य कल्याणगुणों के आश्रय ब्रह्म और ''तुम'' चित्-अचित्-विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का वाची है। सामानाधिकरण्य की विशिष्टवस्तुपरकता के दो तरीके हैं। ''किंचित्-ज्ञता'' और ''सर्वज्ञता'' आदि विरुद्धांशों का निषेध नहीं होता; क्योंकि एक ही पदार्थ का भूत और वर्तमान दो कालों से सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध नहीं है-दूसरी जगह स्थिति ''थी'', यहाँ स्थिति ''है''। विभिन्नदेशगत सम्बन्धविरोध तो कालभेद के कारण नहीं होता। इसी प्रकार शरीर और आत्मा के रूप में जीव और परमात्मा का तादात्म्य विरुद्ध नहीं होता।[13]

अब हम प्रत्यभिज्ञा और उससे सम्बन्धित विचारों की तीसरी कोटि की ओर आते हैं। प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण और प्रमा के रूप में जो असामान्य महत्त्व काश्मीर के शिवाद्वयवाद में मिला है वह कहीं नहीं। सोमानंद द्वारा प्रवर्तित इस दार्शनिक संप्रदाय का नाम ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पड़ गया है।[14] इस नामकरण के पीछे आत्मा की ईश्वर या चरमतत्त्व के अनुभव के रूप में प्रत्यभिज्ञा की कल्पना निहित है। ''मैं वह हूँ'' (सोऽहम्), ''मैं ही वह अद्वयतत्त्व हूँ'' यह चरम् प्रत्यभिज्ञा की अभिव्यक्ति है। अत: प्रत्यभिज्ञा के विषय के प्रति मोह का अपसारण और उसका (प्रत्यभिज्ञेय का) ज्ञान-साधन इस दर्शन के अवान्तर प्रयोजन हो जाते हैं।[15]

प्रत्यभिज्ञा की धारणा को ठीक से समझने के लिए त्रिक में प्रमाण के स्वरूप को समझना जरूरी है। न्याय या अन्य दर्शनों में प्रमाण वह ज्ञान-साधन है जो ''नवीन'', ''अनधिगत''(अद्वैत वेदान्त में ''अबाधित''भी) वस्तु का प्रकाशन करता है।[16] उद्योतकर आदि ने प्रमाण के जोर से ईश्वर आदि की सिद्धि इसी प्रकार की है। परन्तु यह परिभाषा टिकती नहीं क्योंकि चेतन और कर्ता रूप में जो ईश्वर अनुमित होता है वह अपूर्व या नवीन नहीं है, क्योंकि व्याप्तिग्रह के अवसर पर सामान्यात्मना हर वस्तु का ज्ञान होता है। अत: वह ईश्वर भी सामान्यात्मना अपूर्व नहीं है। ज्ञान के एक विशिष्ट साधन का प्रयोग वस्तुत: पदार्थ का विशेषात्मना ज्ञान कराता है, उसकी अपूर्वता का नहीं, इसीलिए यहाँ प्रमाण का कार्य पहले से ही सिद्ध वस्तु या प्रमेय के प्रति मोह का अपसारण मात्र है। ''सामने घड़ा है क्योंकि दिखाई पड़ रहा है'' - इस अनुमान से घट का ज्ञापन नहीं होता, वह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, अन्यथा पक्ष में हेतु असिद्ध रह जायेगा। इस प्रकार प्रमाण न तो पदार्थ की सिद्धि करता है और न ज्ञापन, उसका एक निषेधमुख कार्य है-प्रमेय के प्रति मोह-आवरण को हटाना।[17] यही कार्य प्रत्यभिज्ञा का भी है।[18] इस आवरण को तोड़कर प्रमाण वस्तु के सहज और वास्तविक स्वरूप तक पहुँचने की चेष्टा करता है, वैषयिक अस्तित्त्व की प्रतिष्ठा उसके कार्य क्षेत्र से बाहर है।

प्रत्यभिज्ञा एक ही वस्तु का फिर से (प्रति) जानना या पहचानना (अभिज्ञान) है। यह ऐक्य ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा एक बार भात पदार्थ से इस समय भासमान पदार्थ के एकीकरण की प्रक्रिया है, जैसे इस निर्णय में -यह वही चेतराम है। यह ''वहीपन'' का अंश दो अनुभवों के ऐकात्म्य, न कि सादृश्य, का फल है। प्रत्यभिज्ञा के घटक शब्द प्रति, अभि और ज्ञा क्रमश: संस्कृत के प्रतीप या प्रतिसंधान, आभिमुख्य और ज्ञान के लिए प्रयुक्त होते हैं।[19] प्रतीप का अर्थ है उल्टा, ठीक वही जो अंग्रेजी का ''अपोजिट'' शब्द व्यक्त करता है (अपोजिट माई हाउस-मेरे घर के सामने) अर्थात् जब विषय पलटकर पुन: सामने (अभिमुख) आता है उस समय उसका ज्ञान (ज्ञा) प्रत्यभिज्ञा कहलाता है।[20] जो पहले जाने हुए पदार्थ से हमारा संपर्क बीच में छूट जाता है और पुनर्दर्शन के समय प्रथम संपर्क की स्मृति ताजी हो जाती है।

एकीकरण का शास्त्रीय शब्दावली में अर्थ है दोनों अनुभवों के बीच के मोह को हटा देना।

अतीत में "क" देखा था, अब फिर उसे देखते हैं। यदि उससे हमारा सम्बन्ध बीच में न छूटता तो प्रतिफलित ज्ञान का आकार होता-"यह क है", परन्तु हमारे ज्ञान का आकार है- "यह वही क है।" यह प्रत्यभिज्ञान तभी सम्भव है जब वस्तु के साथ हमारा ज्ञान-सम्बन्ध पहले प्रत्यक्ष के बाद छूट गया हो। विषय के प्रति अनुभव की यह विच्छिन्नता या मध्य का बोधाभाव परवर्ती प्रत्यक्ष के अवसर पर दूर हो जाता है। प्रमेय विषयक मोह का अपसारण इसे ही कहते हैं।

परन्तु यह एकीकरण-प्रक्रिया एक ही अधिकरण पर घटित होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में अनुभव और स्मृति की एक साथ क्रियाशीलता से उत्पन्न होने वाला यह ज्ञान उस एक पदार्थ को विषय करता है जिसमें "यह" और "वह" अंश समन्वित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष और संस्कार-उद्बोध दोनों ही प्रत्यभिज्ञान के कारण हैं[२१]। स्मृति-संस्कार में विषय का पहला अनुभव अवचेतन में छिपा रहता है और इन्द्रिय के द्वारा विषय का निरीक्षण संस्कारों को उद्बुद्ध कर देता है। स्मृति और प्रत्यक्ष का विषय एक होने के कारण प्रत्यभिज्ञान में देनों की एकता उभर आती है। इस दृष्टि से त्रिक धारणा प्रत्यभिज्ञा के बौद्ध मंतव्य से भिन्न है जिसके अनुसार यह द्वैतज्ञान है और "यह" और "वह" अंश पृथक् पदार्थों के वाचक हैं। प्रत्यभिज्ञान एक ऐक्यमूलक "यह-वह" अंशों का एकीकृत ज्ञान है क्योंकि हमें दोनों का पृथक् ज्ञान न होकर उस एक का ही ज्ञान होता है जिसमें दोनों ही अंश घुल गए हैं।[२२]

न्याय में प्रत्यभिज्ञा को एकतामूलक माना गया है, अर्थात् ग्रहण और स्मरण के अंशों को पृथक् नहीं किया जाता। इसके लिए न्याय खास प्रक्रिया का आश्रय लेता है। वहाँ यह अतीत और वर्तमानकाल से विशिष्ट विषय का ज्ञान है। अर्थात् ज्ञान का विषय एक होने पर भी उसका ग्रहण दो कालों से विशिष्ट रूप में होता है। और भी स्पष्ट शब्दों में, प्रत्यभिज्ञा हमें ऐसे विषय का ज्ञान देती है जो इस समय वर्तमान है और अतीत के प्रति अपने सम्बन्ध से विशेषित है। यह ऐकिक (यूनीटरी) मानसिक वृत्ति है क्योंकि संस्कार-रूप प्रतिरूपक तत्त्व अलग न रहकर साम्प्रतिक अंश के साथ आत्मसात् हो जाते हैं ताकि हमें एक ज्ञानाकार (प्रिसेप्ट) दे सकें। यह सही है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी पदार्थ दोनों ही कालों में रहता है-एक बार अतीत में और एक बार इस समय अनुभव के क्षण में। परन्तु यहाँ अतीत और वर्तमान में एकता के लिए "उभयमेलनात्मक प्रक्रिया"[२३] का सहारा लेते हैं। पदार्थ का हमारा ज्ञान दो कालों से उपहित नहीं होता। यदि यह किसी से कुछ लेता भी है तो केवल समय के भिन्न बिन्दुओं पर होने वाले अनुभवों की एक-विषयता लेता है। स्मृति अर्थ की नहीं उसके अनुभव की होती है। "वह" के द्वारा स्मृतिमूलक अनुभव का ग्रहण होता है न कि अर्थ का। जब स्मृति और अनुभव दोनों ही इन्द्रियगोचर पदार्थ की ओर उन्मुख होकर एक-प्रत्यय का रूप धारण करते हैं, उस समय उनकी यह प्रत्ययमूलक एकता ही प्रत्यभिज्ञा है। दोनों अनुभवों के विषय की एकता तो दो परामर्शों के योग से सहज ही प्रतिफलित होती है।[२४]

इस प्रकार त्रिक दार्शनिकों की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा नैयायिकों की भाँति सरल या एक वृत्तिक (सिंगिल साइकोसिस) न होकर जटिल वृत्तिक (कॉम्प्लेक्स साइकोसिस) है, क्योंकि यह भुलाना मुश्किल है कि प्रत्यक्ष और स्मरण वर्तमान संवेदन और पूर्व-घटित के संस्कार से जन्मते हैं। इन दोनों को एक में घपलाया नहीं जा सकता। यदि ऐसा कर दिया जाए तो प्रश्न उठेगा कि इस प्रकार प्रत्यक्षीकृत विषय का स्वरूप क्या है? यदि यह अतीत अनुभव का विषय मात्र है तो प्रत्यभिज्ञा और स्मरण में नाम भर का अन्तर रह जाता है और उसकी वर्तमान प्रत्यक्ष विषयता की व्याख्या नहीं हो सकती। यहाँ यह केवल एक साम्प्रतिक घटना मात्र नहीं हो सकती क्योंकि इसका भूत में घटित किसी चीज के साथ तादात्म्य भी निहित है। अत: भात और भासमान का एकीकरण ही प्रत्यभिज्ञा है। भान या प्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान

का कारण है और स्मृति अतीत अनुभव-विषय और वर्तमान अनुभव-विषय के एकीकरण का।[२५] यह निष्कर्ष इस बात की घोषणा है कि प्रत्यभिज्ञा का कुछ न कुछ अंश ज्ञानों और विचारों में अवश्य रहता है। केवल वर्तमान प्रत्यक्ष (सविकल्पक) में यह स्मृति अंश, प्रतिरूपक तत्त्व, इतना गौण हो जाता है कि उसका साधारण तौर पर दर्शन नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा में यह स्मृति-अंश उभर आता है और साम्प्रतिक अंश को दबा हुआ ही छोड़ जाता है।[२६] दूसरे शब्दों में, साम्प्रतिक अंश (यह) की व्याख्या स्मृति अंश (वह) के आधार पर होती है। एक दूसरी स्थिति भी हो सकती है कि स्मृति का अंश चेतन धरातल पर आ जाए परन्तु प्रतिरूपक अंश के प्रति आग्रह बना रहे। इस दशा से स्मृति अनुभव से गौण रह जाती है, पर यह गौणता का अंश सविकल्पक प्रत्यक्ष में होने वाली स्मृति अंश की नगण्यता से बहुत कम है। अत: जहाँ इस स्थिति में प्रत्यभिज्ञा का सविकल्पक प्रत्यक्ष से अन्तर स्पष्ट है वहाँ स्मृति-अनुभव यह प्रधानगुणभाव प्रत्यभिज्ञा के उभयस्पर्शी होने पर भी उसे ऐक्यमूलक वृत्ति बनाए रखता है। प्रत्यभिज्ञा की पहली स्थिति में न्याय से त्रिक एकमत है पर दूसरी त्रिक की अपनी कल्पना है। इसीलिए ऐसा लगता है कि त्रिक दार्शनिकों के लिए प्रत्यभिज्ञा एक जटिल वृत्ति है, सरल नहीं, क्योंकि स्मरण के अंश की उपेक्षा संभव नहीं है। इसे उभयज, उभयमेलनात्मक कहकर वृत्तिजटिलता का ही संकेत किया गया है।

प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति के दो घटक हैं -स्मृति और अनुभव। पूर्व अनुभव के संस्कार हमारे अवचेतन में निहित रहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा का प्रतिरूपक अंश (रि-प्रेजेन्टेटिव फैक्टर) है। और दूसरा घटक है वर्तमान अनुभव जो प्रत्यभिज्ञा का साम्प्रतिक अंश है। अतीत अनुभव की व्यवहित और वर्तमान अनुभव की अव्यवहित प्रतीति प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं। साम्प्रतिक अंश का अनुभव तो अनिवार्यत: प्रत्यक्षात्मक है। प्रश्न है कि अतीत अनुभव का स्वरूप क्या है, यह भी प्रत्यक्षात्मक है या उससे भिन्न? प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस पर सीधे कुछ नहीं कहा गया है, फिर भी जो विवेचन हुआ है उससे इस दर्शन के दृष्टिकोण का अच्छा परिचय मिल जाता है। अतीत में विषय के ज्ञान के दो प्रकार हैं- या तो सामान्यात्मना ज्ञान हो और या फिर विशेषात्मना। "यह कोई है" यह पहले ज्ञान का आकार है और "यह अमुक का लड़का, ऐसी शक्ल सूरत और इन गुणों वाला है" यह दूसरे ज्ञान का आकार है। इस दर्शन के संदर्भ में पहली विधा ज्यादा महत्त्वपूर्ण बताई गयी है। प्रश्न था कि पदार्थ का यह (अतीत) सामान्य या विशेष ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है ? प्रत्यभिज्ञान की धारणा को समझने के लिये दिये गए उदाहरणों [२८] से यह स्पष्ट है कि अतीत ज्ञान का प्रत्याक्षात्मक होना अनिवार्य नहीं है। अधिकतर संभावनाएँ प्रत्यक्ष की ही हैं, परन्तु ऐसी स्थितियों का अभाव नहीं है[२९] जहाँ पूर्वज्ञान हमें युक्ति, आगम या श्रवण से प्राप्त हुआ है। अर्थात् अतीत अनुभव व्यवहित भी हो सकता है और किसी से सुन कर या अनुमान से भी जान सकते हैं।[३०] इस प्रकार की शैव घोषणा हमें प्रत्यभिज्ञा के पाश्चात्य मंतव्य[३१] के काफी निकट ला देती है कि प्रत्यभिज्ञान स्मृति-चित्र या मानस-प्रतिमा और परवर्ती विषय की तुलना से भी सम्भव है। किसी धारणा से (जिनमें प्रत्यक्षेतर कारण भी शामिल है) जैसे अध्ययन, गुण-गान, कल्पना से यदि कोई वस्तु-चित्र मन में खिंच गया है और बाद के अनुभव-विषय से उसका साम्य या ऐक्य है तो प्रतीति का स्वरूप प्रत्यभिज्ञात्मक ही होगा।

इस प्रसंग में एक प्रश्न और उठाया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा एक स्वतंत्र प्रमाण है या अनुभव, युक्ति और आगम (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) में अंतर्भूत है। प्रत्यभिज्ञा के असामान्य महत्त्व के बावजूद भी उसे एक स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर तीनों में (न कि किसी एक में) उसका अंतर्भाव किया गया है।[३२] प्रत्यभिज्ञा को विकल्प-ज्ञान माना गया है परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष से उसे अलग रखा गया है। इसी विकल्पस्वभाव के कारण इसे कभी प्रत्यक्ष[३३] तो कभी अनुमान[३४] से समीकृत किया गया है। यह

सम्प्रदाय की दार्शनिक व्यंजनाओं से समंजस भी बैठ जाता है, क्योंकि सब प्रमाण मोहापसारण कर आखिर में आत्मप्रत्यभिज्ञान ही कराते हैं।[३५]

त्रिक दार्शनिक इस बात में भर्तृहरि से सहमत हैं कि हमारी सम्पूर्ण बोध-प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञात्मक हैं।[३६] "यह वह है" (सोऽयं) के द्वारा सामान्य विषय का ग्रहण होता है। संकेत-ज्ञान के समय का "वह" व्यावहारिक ज्ञान के "यह" से एक रूप हो जाता है। "गाय" प्रतीक, गाय लाने के समय "गाय" पदार्थ से एक हो जाता है। शब्द और अर्थ के एकीकरण की यही प्रक्रिया है। इस अंश में मीमांसक भी सहमत जान पड़ते हैं। इसीलिए सारे विकल्प-भेद अभिलाप या शब्द के भेद पर आधारित हैं। इस विकल्पज्ञान के अवान्तर भेदों में "वह" अनुसंधान में स्मृति, "वह यह है" अनुबोध में प्रत्यभिज्ञा, "मानो यह वही है" अनुबोध में उत्प्रेक्षा, "वही यह है" अनुयोग में व्यवच्छेद आदि की गिनती होती है। परन्तु सबका सामान्य स्वरूप विकल्पात्मक ही है। निर्विकल्प, सविकल्प, प्रत्यभिज्ञा, उत्प्रेक्षा-ज्ञान के इन विविध रूपों के काल, विषय और आकार भिन्न हैं।[३८] इसलिए प्रत्यभिज्ञा, उत्प्रेक्षा आदि सभी को विकल्परूप माना गया है और उनसे होने वाले ज्ञानाकार भी अलग-अलग हैं।[३९] इसी प्रकार इन ज्ञानों की सविकल्पात्मक प्रकृति को उनके दैशिक व कालिक सम्बन्धभेद के बल पर भी समझाने की चेष्टा की गयी है। पूर्व देश और काल के योग से विषय का स्मरण, वर्तमान देश और काल के योग से अनुभव, दोनों के योग से संभाव्य रूप में उत्प्रेक्षा होती है।[४०]

प्रत्यभिज्ञा यद्यपि विकल्पज्ञान है फिर भी अधिक स्पष्ट शब्दों में उसे उभयज अर्थात् सविकल्प और निर्विकल्प दोनों से उत्पन्न होने वाला कहा गया है।[४१] अर्थात् प्रतिरूपक और साम्प्रतिक दोनों ही अंशों की सह-क्रियता से प्रत्यभिज्ञान फलता है। "वह" निर्विकल्पक और "यह" सविकल्पक ज्ञान का संकेतन करते हैं। घट का प्रकाश या अस्तित्त्वेन भान निर्विकल्पक है, घट का उसके विकल्पों के वैशिष्ट्य के साथ ज्ञान सविकल्पक है। उभयज कहकर प्रत्यभिज्ञा की प्रकृति को विश्लेषणात्मक ढंग से रखा गया है, परन्तु इससे प्रत्यभिज्ञान के विकल्प-स्वभाव में अन्तर नहीं रहता। दो अनुभव-विषयों का सम्मिलन विकल्प-व्यापार ही है। निर्विकल्पक दशा में प्रमाण की आवश्वयकता नहीं रहती क्योंकि वह अभेद की स्थिति है, परन्तु सविकल्पक में भेद रहता है, प्रमाण-प्रमेय का द्वैत रहता है। प्रत्यभिज्ञा भी प्रमाण होने के नाते विकल्प-बोध बनती है।[४२] परन्तु इस भेद के पीछे छिपी दो अनुभवविषयों की एकता खंडित नहीं होती। दूसरे शब्दों में दो परामर्शों (स्मृति-अनुभव) का मिलन होता है और उससे विषय की एकता निष्पन्न होती है। भास्कर का बौद्ध-प्रत्यभिज्ञा को "भेदप्राणसादृश्यनिमित्तक"[४३] कहने का लक्ष्यार्थ यही है कि त्रिक-प्रत्यभिज्ञा अभेदप्राणसादृश्यनिमित्तक है। प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानाकार "यह वही है" के दो घटक हैं- "वह" और "यह"। हम देखेंगे कि इनका अर्थ क्या है। दो संवेदन-विषयों के एकीकरण का अर्थ हम पहले ही देख चुके हैं, शेष है उनके मध्य के अवकाश को हटा देना। वस्तुत: अनुभव एक ही है, बीच में विस्मृति के आवरण से वह विच्छिन्न हो जाता है। यों तो दोनों अनुभव (अनुभव, स्मृति) विस्मृति के आवरण के कारण बीच में विच्छिन्न हो जाते हैं, फलत: दोनों में कालभेद भी हो जाता है, परन्तु प्रणिधान, पुनर्प्रत्यक्ष या अन्य किसी कारण से यदि पुराना अनुभव फिर से उद्बुद्ध हो जाए तो यह विच्छेद समाप्त हो जाता है, इससे कालभेद की संभावना भी नहीं रहती।[४४] और अगर काल रहता भी है तो प्रमाता और प्रमेय में समकालता रहती है, अर्थात् बोधक्षण में विषयी-विषय का सहभाव, वर्तमानकालता रहती है। कालभेद की बात इसी दृष्टि से सधती है। हम जिसका "वह" शब्द से परामर्श करते हैं वह "उस समय" के अनुभव में बोध को विषयनिष्ठ बताता हुआ "इस समय" के बोध या परामर्श की विषयनिष्ठता को प्रधान रूप से विषय करता है। योगी के लिए तो पूर्व ज्ञान के अर्थ में ही काल आरोपित है, अनुभव के समय अर्थ में काल का आरोपण नहीं होता क्योंकि अनुभव का काल

वही है जो उस समय के प्रमाता का। जब इन दोनों (अतीतज्ञान और अनुभव) को मिलाकर विकल्प व्यापार चलता है, उस समय "वह यह है" ऐसा प्रत्यभिज्ञान जन्म लेता है। उस प्रत्यभिज्ञान के भी दोनों में से एक के अनुवाद और एक के विधान के कारण दो भेद हो जाते हैं। प्रतीतज्ञान और अनुभव के एक साथ अनुवेदन व समान विधान से भी प्रत्यभिज्ञा के दो भेद हो जाते हैं।[४५] दूसरे शब्दों में, दोनों अंशों का समान महत्त्व भी हो सकता है अथवा दोनों में से एक की प्रधानता (विधान) और दूसरे की गौणता (अनुवाद) भी हो सकती है या इसका उल्टा भी हो सकता है। न्याय में प्रत्यभिज्ञा एक वृत्ति ही रहती है क्योंकि स्मृति अंश का विधान होता है और अनुभव का अनुवेदन। परन्तु यहाँ यह द्वैध-प्रक्रिया का मिलन व्यापार चलता रहता है। अत: यह एक जटिल वृत्ति बन कर आ पाती है।

प्रत्यभिज्ञान के तमाम अवान्तर भेद गिनाये गए हैं। स्मृत और अनुभूत पदार्थ के एकतानुसंधान की दृष्टि से सोलह और भेदानुसंधान की दृष्टि से चौंसठ भेदों की गिनती की गयी है। अनुभव की दो संभावनाएँ हैं : एक तो "मैं देख रहा हूँ" जैसे स्थलों में, जहाँ आत्मपरामर्श पूर्वक विषय का परामर्श या ज्ञान होता है। यहाँ विषयी और विषय के ऐक्य पर जोर है। दूसरे "यह है" जैसे स्थलों में, जहाँ प्रत्यक्ष के विषय की प्रधानता है। यहाँ पर इच्छा न रहने पर भी वस्तु-बल से या किसी अर्थक्रिया के प्रति आग्रह विशेष से विषय का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। चूँकि अनुभूत अर्थ का ही स्मरण होता है अत: स्मृति भी दो प्रकार की हो जाती है। अपने उपविभागों को लेकर यह स्मृति चार प्रकार की है। प्रत्येक अनुभव में दो दो परामर्श होते हैं : अनुभव-क्रिया (देखता हूँ-दृश्यते) और अनुभव विषय (यह-अयम्)। दोनों प्रकार के अनुभव (स्वात्मपरामर्श पूर्वक विषय-बोध और प्रधानतया विषय-बोध) में इस प्रकार चार परामर्श हो जाते हैं। इनको लेकर स्मृति की चार विधायें हो जाती हैं। अनुभव और स्मृति के इन्हीं छ: भेदों में स्मृति और अनुभूत विषयों का एकीकरण रूप प्रत्यभिज्ञान, जिसमें अनुभव और स्मरण दोनों के परामर्श सम्मिलित हैं, अंतर्भूत हैं। अनुभव के दो भेद और स्मरण के चार भेदों के कारण प्रत्यभिज्ञा आठ प्रकार की हो जाती है, क्योंकि दो परामर्शों का सम्मिलन ही प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप है। अतीत अनुभव की स्मृति चतुर्विध हो सकती है और वर्तमान अनुभव की द्विविध। फलत: प्रत्यभिज्ञा के आठ प्रकार सध जाते हैं। यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दो अनुभव-विषयों का एकीकरण है, फिर भी कभी पूर्वकाल से अविच्छिन्न विषय पर आग्रह अधिक हो सकता है, कभी अपरकाल से अविच्छिन्न विषय पर।[४६] "यह वही है" और "यही वह है" को क्रमश: दोनों के उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, कभी प्रत्यभिज्ञा में साम्प्रतिक अंश प्रधान हो जाता है तो स्मृति अंश गौण, कभी स्मृति अंश प्रधान हो जाता है तो साम्प्रतिक अंश गौण। इस आग्रहभेद के सोलह भेद फलते हैं।[४७] परन्तु प्रत्यभिज्ञा चूँकि स्मृति और अनुभूत विषय के एकीकरण की प्रक्रिया है अत: इस ऐक्यानुसंधान में प्रमातृ अंश की प्रधानता रहती है, फलत: ज्ञानांश का भी प्रधानतया परामर्श होता है। परन्तु जिस समय हम दोनों को पृथक् रखते हैं उस समय दृश्य या विषय की प्रधानता रहती है और ज्ञान का आदर नहीं होता। इस प्रकार अनुभव में चार प्रकार का, स्मृति में सोलह और उभयस्पर्शी प्रत्यभिज्ञान में चौंसठ प्रकार के विषय का अंश होता है।[४८-४९]

अपने विषय की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा के दो भेद किये जा सकते हैं।[५०] प्रत्यभिज्ञा में होने वाले ज्ञानाकार दो तरह के हो सकते हैं- "वह मैं हूँ" (सोऽहम्) और "यह मेरा है" (ममेदं)। स्वाभाविक है कि ये प्रतीकात्मक ज्ञानाकार हैं। पहले प्रतीक में दो धर्मियों में एकता का अनुसंधान किया जाता है और दूसरे प्रतीक में गुण या धर्म का ग्रहण वस्तु-संबद्ध रूप में होता है। पहले को हम आत्म-प्रत्यभिज्ञान या धर्मि-प्रत्यभिज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं और दूसरे को धर्म-प्रत्यभिज्ञान या आत्मीय-प्रत्यभिज्ञान की। धर्मि-धर्म-प्रत्यभिज्ञान की इस द्वैधता से परमार्थ-मीमांसा (मेटाफीजिक्स) में अनुभवजगत् या विकल्पसृष्टि

का आत्मतया या आत्माभासतया ग्रहण होता है। संप्रदाय की विशिष्ट शब्दावली में ऐश्वर्य-प्रत्यभिज्ञान ईश्वर प्रत्यभिज्ञान में सहायक होता है।

प्रत्यभिज्ञा से वस्तु-बोध में शब्द भी कभी-कभी सहकारी का कार्य करता है। साधारण जीवन में अक्सर ऐसे अवसर आते रहते हैं जहाँ हमें विश्वस्त कथन के आधार पर प्रत्यभिज्ञान होता है। "आप कौन हैं?" "तुम नहीं जानते, आप भारद्वाज हैं", "अच्छा आप वही भारद्वाज हैं, चलिए खूब मुलाकात हुई" इस प्रकार की प्रत्याभिज्ञाएँ अक्सर होती रहती हैं। दार्शनिक संदर्भ में यदि हम इसी बात को लें तो हम देखेंगे कि आत्म-तत्त्व की अविच्छिन्न प्रतीति यद्यपि हमारे स्वभाव का अंग है फिर भी उसके पूर्ण अहं-बोध के लिए हमें गुरू या शास्त्र के उद्बोधन की आवश्यकता पड़ जाती है।[51] इस दृष्टि से वेदान्त का "दशमस्त्वमसि" (तुम्हीं दसवाँ हो) त्रिक में प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण बनता है।

प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से जो प्रमा जन्म लेती है उसका नाम भी प्रत्यभिज्ञा ही है। प्रमा है "तथात्वप्रकाश"-जो जैसा है उसका वैसा ही भान।[52] प्रत्यक्ष-प्रमा में वस्तु का यथातथ्य भासन होता है, अर्थात् नील के रूप में; सुख आदि आंतरिक वृत्तियों का उन्हीं के रूप में ग्रहण प्रत्यक्ष है- "यह नील है," "मैं सुखी हूँ" इत्यादि। लेकिन प्रत्यभिज्ञा-प्रमा में वस्तु का बोध अधिक स्फुट होता है-"यह वही नील है।" परमार्थमीमांसा में वस्तु का यह स्फुटतर बोध उसका तात्त्विक और सम्यक् स्वरूप-बोध है। यह वही है, अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप में यह बताया गया है कि ज्ञान-ज्ञेय के मध्य प्रत्यभिज्ञान अनुभव के चरम तत्त्व (महेश्वर) से एकरूप है।[53] इसके कारण यह अतिक्रान्त होकर तादात्म्य में पर्यवसित होता है, फलत: प्रमा और प्रमाता एक ही हो जाते हैं।[54]

इसमें शायद इस प्रश्न का उत्तर भी ढूँढा जा सके कि सविकल्पक बोध (प्रत्यभिज्ञा) से निर्विकल्पक प्रमा कैसे जन्म लेगी, क्योंकि चरम अहंबोध (सोऽहं) तो निर्विकल्पक है। वस्तुत: होता यह है कि ज्ञान की प्रकृति अर्थ की प्रकृति से निर्धारित होती है, अपने आप में तो ज्ञान विकल्पहीन है। ज्ञान-विकल्प अर्थविकल्प-जन्य है। काल आदि का आरोपण अर्थ में है, ज्ञान में नहीं (यह हम देख चुके हैं)। क्षण से पदार्थ विशिष्ट होता है, बोध नहीं। चरम प्रत्यभिज्ञा-प्रमा निर्विकल्पक है क्योंकि "अहं" प्रमेय निर्विकल्पक है। बोध में चूँकि विकल्प होते नहीं, अत: चरम प्रत्यभिज्ञान की निर्विकल्पकता सध जाती है। इसीलिए साधारण प्रत्यभिज्ञा का विषय विकल्पात्मक होने के कारण उसकी प्रत्यभिज्ञा निर्विकल्पक न होकर सविकल्पक ही रहती है।[55] यह वही घड़ा है-यहाँ पर पूर्व अनुभव की प्रत्यावृत्ति और वर्तमान की अभिमुखता से जो ज्ञान हो रहा है उसमें दो घड़ों में एकता का अनुसंधान होने पर भी विकल्पता बनी रहती है। देश, काल आदि भेदों के बने रहने पर भी विकल्प की अपेक्षा चूँकि आकार की एकता का स्फुरण यहाँ अधिक होता है, अत: साधारण-प्रत्यभिज्ञा की ओर पहला कदम मान लिया जाता है।[56] विकल्प का स्वरूप है दूसरे से व्यवच्छेद।[57] साधारण अनुभव में प्रमाता-प्रमाता और प्रमेय-प्रमेय में भेद का भान होता है। जहाँ पर भी बोध का प्रतियोगी है,[58] अर्थात् उसका विषय अन्य विषय से भिन्न, व्यवच्छेद्य है वह ज्ञान हमेशा विकल्परूप होता है। चरम प्रत्यभिज्ञा (सोऽहम्-वह मैं हूँ) में जो "अंह" (मैं) है वह साधारण अहंबोध से इस अर्थ में भिन्न है कि पहला केवल संवित्रूप है जबकि दूसरा वेद्यपरामर्शी। समझने के लिये इन्हें क्रमश: शुद्ध और अशुद्ध अंहविमर्श कह दिया जाता है। शुद्ध अहं बोध में कोई भी ऐसा प्रतियोगी नहीं है जिसका अपोहन या व्यवच्छेद किया जा सके, क्योंकि वह सम्पूर्णता का, प्रकाश मात्र का बोध है (अनुभव की इस समग्रता में हमारा सारा अनुभव-जगत् समाविष्ट हैं)। दूसरी ओर अशुद्ध या साधारण अहं-बोध में अहंतया ग्राह्य शरीर या वस्तु का दूसरे देह, घड़े आदि से भेद स्पष्ट है, अत: वह विकल्परूप है। शुद्ध और अशुद्ध (चरम और दैहिक) अहं प्रत्यय में से प्रत्येक दो तरह का है- अनुभवरूप और अनुसंधानरूप। निर्विकल्परूप "अहं" अनुभवमात्र हो

(संप्रदाय में शिव की अवस्था) या "अहमिदम्" (यह मैं हूँ) रूप दो की अभेद-योजना हो (सदाशिव आदि की स्थिति), अर्थात् अहं-प्रत्यवमर्श हो या अहम्-प्रत्यभिज्ञान, यह शुद्ध अहं की स्थिति है। इस "अहं" प्रत्यभिज्ञा (अहम्-इदम्) में पूर्ण अहं की ही इदन्तया आवृत्ति होती है। अत: व्यवच्छेद-वर्जना और पूर्णता के कारण अनुसंधानात्मक होने पर भी यह निर्विकल्पात्मक स्थिति है। इसी तरह साधारण या अशुद्ध अहंबोध में भी "मैं मोटा हूँ" यह अहं के अनुभवमात्र का निदर्शन है। और "जो मैं मोटा था, वही दुबला हो गया हूँ" या "जो मैं लड़का था, युवा था, वही मैं बूढ़ा हो गया हूँ" यह अहं का अनुसंधानात्मक या प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान है। ये दोनों ही स्थितियाँ विकल्पात्मक हैं।[६०] साधारण अहं प्रत्यभिज्ञान को, सारे अनुसंधानात्मक ज्ञानों अर्थात् समस्त बाह्य प्रत्यभिज्ञाओं से सभीकृत किया जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक फलक को मनोवैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा की गई है। यदि आत्मा चरम तत्त्व से स्वभावत: एक है तो फिर प्रत्यभिज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, अधिक से अधिक प्रत्यक्ष से कार्य लिया जा सकता है। अत: आत्मप्रत्यभिज्ञान में कोई व्यावहारिक (प्रैगमेटिक) विवशता नहीं है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन उत्तर में अर्थक्रिया की दो कोटियाँ मानता है- बाह्य और आंतरिक। बीज को कोई पहचाने या न पहचाने वह अंकुर तो देगा ही (कहा जा सकता है कि विशिष्ट पेड़ को उगाने के लिए बीज के प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता है ही)। अंकुरादिरूप यह बाह्य अर्थक्रिया है और यहाँ प्रत्यभिज्ञान आवश्यक नहीं हैं। परन्तु प्रमाता की प्रसन्नता और सन्तोषरूप की आत्मनिष्ठ अर्थक्रियाओं के लिए प्रत्यभिज्ञान के महत्त्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। "वह यह है" कि भाँति, जहाँ तत्-त्व और इदं-त्व की एकता मुखर है, "सोऽहम्" ("वह मैं हूँ") में अहं-त्व और चरम तत्-त्व की एकता की जो अभिव्यक्ति है वह प्रत्यभिज्ञानात्मक है। और पहले में जहाँ ज्ञाता की मानसिक प्रतिक्रिया प्रसन्नता (दु:ख, घृणा, तिरस्कार कुछ भी हो सकता है) है वहाँ दूसरे में यह पूर्ण आनन्द की स्थिति है। आशय यह है कि प्रत्यभिज्ञा से होने वाली ज्ञाता की मानसिक प्रतिक्रियाएँ अन्य प्रमाणजन्य प्रतिक्रियाओं से भिन्न हैं और प्रतिक्रियाएँ ही प्रत्यभिज्ञा के प्रमाण व्यापार को आवश्यक बनाती हैं।[६१]

प्रत्यभिज्ञादर्शन में स्वरूप बोध के लिए प्रत्यभिज्ञा को ही एकमात्र प्रमाण मानने के पीछे जो दार्शनिक तन्तु छिपे हैं, हम उन्हें समझने की चेष्टा करेंगे। ज्ञान सम्बन्धी प्रक्रियाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं- एक ज्ञानात्मक (कॉग्निटिव) और दूसरी प्रत्यभिज्ञानात्मक (रिकॉग्निटिव)। पहली प्रक्रिया किसी भी विषय को चुनने में निहित है, अर्थात् वह विषय को चुनती है और तदितर का तिरस्कार, उपेक्षा या निषेध करती है। दूसरी प्रक्रिया में चयन नहीं है, वहाँ पूर्ण स्वीकृति है, अपने पिछले अनुभव का पूरा अनुमोदन, आवृत्ति है, अर्थात् वहाँ निषेध, बाध, तिरस्कार, और उन्मूलन कुछ भी नहीं है।

भारतीय दर्शन के प्राय: सभी संप्रदाय, चाहे वह वेदान्त हो या सांख्य या न्याय हो, वहाँ चरम बोध की प्रक्रिया ज्ञानात्मक है। आत्म-ज्ञान स्वरूप-लाभ का पर्याय है। अत: अनुभव के एक विषय (आत्मा) का स्वीकरण है और अन्य (अनात्मतत्त्व) का निषेध या तिरस्कार।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन" में "सर्व" की ब्रह्मरूप एकता की घोषणा तो है पर "सर्व" की 'सर्वता' (नानारूपता) का निषेध है, किन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में सभी पदार्थ शिवतया भी एक हैं और उनकी "सर्वता" भी सत् है : सर्वपदार्थानां समैव शिवतास्थिता।" यहाँ पर निषेध, बाध या तिरस्कार अप्रासंगिक हो जाता है।

इस विश्लेषण से हम एक अन्य दिशा की ओर भी बढ़ते हैं। सांख्य, वेदान्त और न्याय एक विशेष सीमा के आगे नहीं बढ़ते। सांख्य में यह कैवल्य है, योग में निरोध, न्याय में स्वस्थता और वेदान्त में अविद्यानिवृत्ति। स्वरूपलाभ की प्रक्रिया सब में मोटे तौर पर ही एक है- आत्मा और अनात्मतत्त्व में

विवेक करना, दोनों को पृथक् कर सकना। आत्म और अनात्म तत्त्व के स्वरूप और दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को लेकर इन दर्शनों में चाहे जितना मतभेद हो परन्तु मुक्ति या स्वरूप-बोध आत्मा को अनात्म तत्त्व से विविक्त करने पर ही संभव है, इसमें मतभेद नहीं। यह सारा मनो-भौतिक संस्थान और जगत् अनात्म-स्वभाव है और आत्मा में अध्यस्त, प्रतिबिंबित, संपृक्त या समवेत है। इसलिए दोनों का विवेक कहीं निषेधरूप है और कहीं निषेध जैसा है। मुक्ति अनात्मा का निरोध या निषेध है।

किन्तु प्रत्यभिज्ञा में स्वरूपबोध दो विरोधी बिन्दुओं (शिव और शक्ति) के समन्वय में है। अत: यह दो तत्त्वों का सामरस्य है न कि दो में से एक का निषेध। इसलिए हमारे सांसारिक अनुभवों का विशुद्धिकरण और अतिसंसारी अनुभवों में उदात्तीकरण संभव हो पाता है। अनुभव का प्रत्येक स्तर स्वरूपबोध की ओर एक कदम है- जहाँ दोनों ही विरोधी सत् हैं। प्रत्यभिज्ञा इसी उपलब्धि की व्याख्या करती है जिसमें इदंता (अनात्मतत्त्व) और अहंता (आत्मतत्त्व) दोनों ही निहित हैं, दोनों ही विहित हैं और एक दूसरे से समंजस हैं।[६२]

***

संदर्भ-सूची

१. *धर्मिशून्यता के खंडन में व्यासभाष्यकार ने तीन युक्तियाँ दी हैं- स्मृत्याभाव, भोगाभाव और प्रत्यभिज्ञा। अंतिम के सम्बन्ध में देखिए योगभाष्य ३-१४- "वस्तु प्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितो योऽन्वयी धर्माया: धर्मान्यथात्वनभ्युपरत: प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति।"*

२. *मानमेयरहस्य श्लोकवार्त्तिक, लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्य, पृ.३१०।*

३. *माइन्ड इन इंडियन फिलासफी, सरस्वती चेन्नकेशवन्, पृ.७१।*

४. *मितभाषिणी, पृ. २५, उद्धृत, वही पृ.७३।*

५. *पूर्वापरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसंधितज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। न्याय, भाष्य-३-१-७।*

६. *न्याय सूत्र १-१-४*

७. *पूर्वाभिज्ञानविशिष्टग्राह्यमाणयिष्यतां प्रत्यभिज्ञानम्। न्यायमंजरी पृ. ४६१।*

८. *अतीतकालविशिष्टो वर्तमानकालावच्छिन्नश्चार्थ एतस्यावभासते। वही पृ.४५९।*

९. *भास्करी, डा. पांडेय द्वारा सम्पादित, भाग १,पृ.११२।*

१०. *अ- सादृश्याच्च तत्रप्रत्यभिज्ञाभिन्नेऽपि कायकेशनखादिव-भास्करी (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी), भ.ग. १, पृ. ११२।*

ब- साच केशनखादौ सर्वत्रैव भिन्ने भवन्ती, न वस्तु अपेक्षते वस्तुनस्तथा -भूतस्य अयोगादितिबाधकाधीनमेव-प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यमिति- विरुद्धेन अन्योन्यभावनाक्षिपता धर्मेण योऽध्यासोऽधिष्ठानम्। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी, भ, ग १, पृ. १९२।

११. *वेदान्तपरिभाषा, स्वामी माधवानंद का संस्करण पृ. ३६-३७, १००-१०३; सिक्स वेज आफ नोइंग, डी.एम.दत्त, पृ. ३१९-२०।*

१२. *देखिए श्रीभाष्य, अण्वंगराचार्य का संस्करण, पृ. ९६-९८; और भी, आउट- लाइन्स ऑफ इन्डियन फिलासफी, हिरियन्ना, पृ. ३८७।*

१३. *सर्वदर्शन संग्रह, अभ्यङ्कर का संस्करण, पृ. १०१-१०४।*

१४. *ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका। १-१-१, ४-१-६७।*

१५. *भास्करी (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी),भाग १, पृ. ८, १६, ३४५; ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी, भाग १, पृ. ४७।*

१६. *अपूर्वप्रकाशनरूपं तत्रज्ञानं यतो भवति। वही पृ. ४०।*

१७. *न कारक व्यापारो भगवति नापि ज्ञापक: व्यापारोऽयम्, अपितु मोहापसारणमा त्रमेतत् व्यवहारसाधनानां प्रमाणानां तावत्येव विश्रान्ते:। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १, पृ. ५७ ५८।*

१८. *व्यवहारसाधनरूपं प्रत्यभिज्ञानं माहोपसारणफलम्। ई, प्र. वि.वि., भाग, १ पृ.३९।*

१९. *भात भासमानरूपानुसंधानात्मिका। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ पृ. ३६, उसी पर भास्करी "पूर्व भातमद्य भासमानं तयोर्यदनुसंधानम्। एकीकरणम् "*

२०. यहाँ शब्द का विग्रह है -प्रति+अभि+ज्ञान, अन्यत्र है-प्रति+अभिज्ञान ।

२१. प्रतिसंधानेन अभिमुखे वस्तुनिज्ञानम् । भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ पृ. ३६ ।

२२. स्मरणानुभवारूढ़ा सामानाधिकरण्यधी: ।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता ॥ यह उद्धरण किसी शैव ग्रन्थ से है। उद्धरण लेते समय ग्रन्थ का नाम रह गया जान पड़ता है।
प्रसंगवश एक बात और भी कही जा सकती है। दार्शनिक संदर्भ में शुद्ध विद्या की स्थिति में होने वाला अहम्-इदम् (मैं यह हूँ) बोध भी सामानाधिकरण्यमूलक और प्रत्यभिज्ञात्मक है।

२३. ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसंधित प्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १, पृ. ३७; देखिए इसी पर भास्कर की वृत्ति-प्रतिसंधिना सोऽयमिति एकीकरणेन, प्राणितं सत्तायुक्तं कृतम्।"

२४. अनुसंधानं स्मृतानुभूतयोरेकीकरणम्, प्रत्यभिज्ञानम्-प्रत्यभिज्ञा, एतदुभयमेलनात्मकम्-प्राक्तनुभवस्मरणपरामर्शमिलनस्वरूपम्। भास्करी, भाग, पृ. १८८।

२५. अनुभवस्य भानं अयं नील इत्याद्यर्थस्य ज्ञानस्य यदेतत् भानं. तन्नीला, द्यर्थव्यपेक्षया स्मृति: । सोऽर्थस्य स इति स्मृतिमूलकानुभव: परामृश्येत । अर्थस्य भानं त्वनुभव इत्यर्थ: द्वौ सह तौ एतौ स्मृत्यनुभवौ द्वावपि दृष्टपरार्थप्रतिसन्धान-वेलायामेक प्रत्ययतापन्नौ अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञोच्यते । (विरूपाक्ष पँचाशिका. ३९ पर विद्याचक्रवर्तीकृत टीका पृ. २१) ।

२६. तदौन्मुख्यं बिना तदवस्थाग्रहणासंभवात् तत्प्रतिसंधानेन तत्स्मृत्या एकीकरणो न ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ प्र.३७।

२७. देखिए, माइन्ड इन इंडियन फिलासफी, पृ. ७४।

२८. भास्करी,भाग १,पृ.३६-३७।

२९. देखिए अभिनवगुप्त: एन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॉसोफिकल स्टडी, डॉ. के.सी.पांडेय, दूसरा संस्करण, पृ. ३००।

३०. उदहरण के लिए देखें, वहीं पृ. ३०१-३०२।

३१. इह दीर्घदर्शिना प्रत्यक्षानुमानागमान्यतमप्रमाणमूलां प्रत्यभिज्ञामाश्रित्य.........। भास्कर (विमर्शिनी), भाग १ पृ. १९५। यहाँ पर गृहीत अर्थ में प्रमाणमूल शब्द पर आग्रह स्पष्ट है।

३२. डिक्शनरी आफ फिलासफी, डी.डी. र्‌यून्स-संपादित. पृ. २६५।

३३. प्रत्यक्षानुमानागमाद्यन्यतममानप्रत्यभिज्ञानबलेन.........। ई. प्र. वि.वि., भाग ३, पृ. २३३।

३४. निर्बाधप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षप्रसाधितैकभाव: पदार्थ: वही, पृ. २।

३५. एतेन शक्तीनां इच्छाज्ञानक्रियाणां प्रकाशकेन प्रत्यभिज्ञारूपेण व्यवहारसाधन-परार्थानुमानात्मना शास्त्रेण तं व्यवहारं प्रवर्तयतां तत्समर्थाचरणं क्रियते। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ पृ. १४३।

३६. प्रत्यभिज्ञा का अन्य प्रमाणों से ऊपर बताये गये संबंध को लेकर लेखक पूर्णत: निश्चित नहीं है। फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर ऊपर का निष्कर्ष सहज निकल आता है। इस समस्या को भावी अनुसंधान के लिए छोड़ा जा सकता है।

३७. सोऽयमित्यऽभिसंबंधाद्रूपमेकीकृतं यदा ।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते ॥ बाक्यपदीय २-१३०।

३८. ई. प्र. वि.वि.,भाग १ पृ. ११५।

३९. भास्करी (वि) भाग १ पृ. ८६।

४०. आदिग्रहणात् प्रत्यभिज्ञोत्प्रेक्षणाध्यवसायादिविकल्पेषु अपि यथायोगं तदिदमिति इदं तदिति तदिव इदमिति तदेव इदमित्यादिनिर्देश्यता मन्तव्या उभयत: । ई.प्र.वि.वि.,भाग २ पृ. १९।

४१. वही, भाग १, पृ. १४८।

४२. घटप्रकाशं घटविषयं निर्विकल्पज्ञानम् विकल्प:सविकल्पज्ञानम्। प्रत्यभिज्ञा सोऽयमित्युभयजं ज्ञानम्। भास्करी (वि.), भाग १, पृ. ६४।

४३. ई.प्र. वि. वि. भाग १, पृ. ७५।

४४. भास्करी, भाग १,पृ. ११२।

४५. "यह" "वह" परस्पर विच्छिन्न अनुभव हैं। परन्तु प्रत्यभिज्ञा में "यह" "वह" हो जाता है।

४६. तथा हि अनुभवं तत्कालं परामर्शस्य अर्थनिष्ठत्वात् मन्यमान: एतत्काल परामर्शस्य प्रमातृनिष्ठतां प्राधान्येन

स्पृशति इदानिम् भवत्येव ममनीलानुभवोऽभूदिति।............यदा तु द्वयं एतत् सम्मील्य विकल्पयति तदा प्रत्यभिज्ञानं सोऽयमिति। तत्र च एकतरानुवादैकतरविधेश्च भेदद्वयम्, सममनुवादात् समं विधेश्च भेदद्वयम्, इत्यलं बहुना। ई. प्र. वि.वि., भाग २ १६-१७।

४७. तदेते द्वाविंशतिः संवेदनभेदाः। चत्वारः स्मरणभेदाः, द्वौ अनुभवभेदो, षोडश प्रत्यभिज्ञाभेदाः। वही (वि.)।

४८. इह अभिसंधाने द्रष्टृभागबहुमाने च दृक् प्राधान्येन परामृश्यते।...........तथा हि अनभिसंधौ दृश्यभागबहुमाने च दृग्भागो न आद्रियते अपितु अर्थ भाग एवेति चतुर्धा अनुभवे, षोडशधा च स्मृतौ, उभयस्पृशि प्रत्यभिज्ञाने च चतुःषष्टिधा...........। ई.प्र.वि.वि., भाग २, पृ. ५७-५८।

४९. प्रत्यभिज्ञान के पीछे जो मानसिक प्रक्रियाएँ और अनुभव-क्रम छिपे हैं उनमें पैठने का आग्रह इस प्रकार स्पष्ट है। परन्तु अपने अध्ययन की इस अल्पायु में इससे अधिक कहने की स्थिति में अभी हम नहीं हैं।

५०. अ- "सोयं ममायं विभव इति प्रत्यभिज्ञानतः।........." इति उक्तनयेन द्विविधां प्रत्यभिज्ञां दर्शयन्......। विज्ञान-भैरव-उद्योत, पृ. ९५।
ब- एवकारौ निपातौ प्रत्यभिज्ञाद्वैधं सूचयतः। वही पृ.९६।
स- इति सिद्धा द्विविधा प्रत्यभिज्ञा। वही पृ. ९७।
द- तत् ईश्वरविषयं ममैवेदमैश्वर्यमिति प्रत्यभिज्ञाविषयीकार्यम्। भास्करी वि.), भाग १, पृ. ३४५-३।
क- ई.प्र.वि.वि., भाग १, पृ. ४१।

५१. अ- भास्करी (वि.) भाग १,पृ. ३७।
ब- गुरूणा ईश्वरोऽहम् इति प्रत्यभिज्ञापित इति व्यवहारः संभवत्येव नान्यथा भ्रमितव्यम्। वही, पृ. ३८।
स- वही, भाग २,पृ. ३१४।
द- सर्वदर्शन संग्रह, पृ.२००-२०१।

५२. तथात्वेन नीलसुखादिभावेन प्रकाशः भानं प्रमा। भास्करी, भाग १, पृ. ३४।

५३. तथाहि स्फुटतरभासमाननीलसुखदिप्रमान्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिक प्रमातृलाभ इह उपदिश्यते। भास्करी (वि.), भाग १,पृ.३४।

५४. एवमहमलौकिकः कश्चित् प्रमाता इति प्रत्यभिज्ञानात्मा यो विमर्शः-लौकिकसंबंधस्वभावितभ्रान्त्या तादात्म्यपर्यवसितोपश्लेषः...........। महार्थमंजरी-परिमल, ११; तुलना कीजिए, ईश्वरत्वप्रदर्शनं तद्व्यवहारसिद्धिनिबन्धनं प्रमाणं, ततो या प्रतिपत्तिरीश्वरताविमर्शरूपा प्रमात्मिका। ई.प्र.वि.वि., भाग १, पृ. १११।

५५. भिन्नं तात्कालिकमभिन्नं पूर्वावस्थया एकीकृतं देहादि यतोऽस्या विषयातत् इयं न शुद्धो विकल्पो, नापि शुद्धः साक्षात्कारः अपितुच्छायामयी प्रत्यभिज्ञा, इत्युच्यते। ई.प्र.वि.वि., भाग २, पृ. ३१४।

५६. भास्करी (वि.), भाग २, पृ.३२७।

५७. अन्यवस्तुव्यवच्छेदप्राणोविकल्पो। वही (वृत्ति)।

५८. प्रतियोगी-समकक्षतया प्रतिस्पर्धी। वही, पृ. ३१३।

५९. यदि हि तस्य देहादेः सर्वतः पूर्णत्वं अवच्छेदहीनत्वं पश्यन् "अनुसन्धानं अहमिदम्" इति विदध्यात तदियं सदाशिवभूः केन विकल्पास्पदत्वेन भण्येत यावता विच्छिन्ने अनुसंधिः। भास्करी (वि.) भाग १, पृ. ३२६।

६०. तत्र शुद्धे विकल्परूपत्वमप्रतिष्ठमेव इत्युक्तम्, अशुद्धे तु अनुभवरूपे विकल्पत्वमुपपादितम्, अशुद्धेऽपि अनुसंधानात्मकतया अभेदस्य प्रस्फुरणात् कश्चिद् विकल्पत्वंशंकेत तस्य व्यामोह व्योहितुमाह........सा योजना सर्वा कल्पना विकल्प एव, न तु शुद्धः प्रत्यवमर्शः। वही, पृ. ३२४-३२५।

६१. भास्करी (वि.), भाग २, पृ. ३१२-३१५; ई.प्र.वि.वि., भाग ३, पृ.४०३ ; अनुत्तराष्टिका ४।

६२. तत्र दर्पणस्य इव अनेकाभासभेद एकतामनपबाधमानो न विरोधमावहति, इति उक्तेतिर्बाधप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष प्रसाधितैकभावः पदार्थ आभासारस्तथा-भूतानेव विरुद्धाकारान् स्वात्मनि उपगच्छन् क्रमिकांस्तानाभासभेदानात्मनि अभिन्ने भासयन्...........। ई.प्र.वि.वि., भाग ३, पृ. ३

काश्मीर शैव दर्शन में पदार्थ का स्वरूप

काश्मीर शिवाद्वयवाद में पदार्थ सम्बन्धी विचारों का विकास आभासवाद की त्रिक धारणा के अनुरूप ही हुआ है। अर्थात् पदार्थ की चर्चा आभास-औचित्य की दृष्टि से की गई है। वस्तु को इस दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में आभास कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रमेय,तत्त्व और पदार्थ ये सब आपस में पर्याय हैं।[1] और एक ही वस्तु के सूचक हैं। यह मनोरंजक बात है कि तत्त्व और पदार्थ शब्दों के परम्परागत अर्थों (क्रमश: "तस्य भाव: उसका होना, पदस्यार्थ: पद का अर्थ") को यद्यपि शैव मीमांसा में स्थान मिला है फिर भी उसने यहाँ कुछ वैशिष्ट्य अर्जित किया है। यहाँ तत्त्व उस वस्तु का नाम है जो सबमें या एक वर्ग के अन्तर्गत सभी वस्तुओं में व्याप्त रहता है।[2] व्याप्ति की प्रणाली या ढंग को लेकर कोई कठोर नियम नहीं है। एक जगह एक तरीके से व्याप्ति संभव है तो अन्यत्र दूसरी तरह से। यह बात और भी स्फुट हो जाती है जब शैव दार्शनिक पदार्थ को इतर दर्शन के "सामान्य" से समीकृत करते हैं।[3] अभिनव ने अपनी विवृत्ति-विमर्शिनी में इसे प्रतिध्वनित किया है- पदार्थ आभास-सामान्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[4] तत्त्व और साधारण वस्तु में यदि अन्तर करना इतना ही आवश्यक हो तो कहा जा सकता है कि जहाँ प्रत्येक वस्तु आभासरूप है वहाँ तत्त्व आभास-सामान्यरूप है। यद्यपि इस सम्प्रदाय में न्याय-वैशेषिकों की भाँति सामान्य या जाति की एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में कल्पना नहीं की गई है, फिर भी इस तुलना से इसके अनुसार तत्त्व का स्वरूप सरलता से समझा जा सकता है। विभिन्न वस्तुओं में जो रूप सबमें समान है उसे तत्त्व संज्ञा दी जाती है।[5] सबमें क्या चीज समान है, यह जानने के लिए हमारे पास एक सुनिश्चित और सुनिर्धारित आधार होना चाहिए। एक सी शब्दावली का प्रयोग या अभिधान-समता इस समता का निर्धारण करती है।[6] वस्तुत: पदार्थ (पदस्य अर्थ:) शब्द से भी यही ध्वनित होता है। यद्यपि पदार्थ का साधारण तौर पर प्रचलन एक वस्तु अथवा अस्तित्त्व (बीइंग) के एक प्रकार (मोड) के अर्थ में होता है, परन्तु पदार्थ शब्द का अक्षरश: अर्थ यह नहीं है। "पदार्थ" शब्द एक "शब्द के अभिप्राय या अर्थ" को द्योतित करता है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ उस वस्तु का प्रतीक है जिसके विषय में भाषात्मक अभिव्यक्ति संभव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि एक शब्दावली का प्रयोग तमाम वस्तुओं को द्योतित करने के लिए किया जाए तो वह उनके समान अंश का ही संकेतन करेगी। और वह संकेतित वस्तु स्वभावत: ही तत्त्व से भिन्न न होगी। इस प्रकार संभवत: यह कहा जा सकता है कि तत्त्व या पदार्थ की धारणा एक वर्ग-धारणा (क्लास-कॉन्सेप्ट) है। इस विचार को एक अन्य बात से भी समर्थन मिलता है। पदार्थ को शिवाद्वयवादियों ने "वर्गीकरण का आधार या निमित्त" कहा है।[7] इसके अनुसार तत्त्व (अर्थात् "उसका वास्तविक स्वरूप") वह चीज है जो वस्तुओं के विशेष रूप वाले वर्गों में अविभक्त, अखंडित प्रकाशित होता है, और इस प्रकार, वे सब वस्तुएँ एक वर्ग के अन्तर्गत हैं, इसके औचित्य को प्रमाणित करता है। उदाहरण के लिए मिट्टी, पत्थर, हड्डी और मांस ये सब अपने आंतरिक स्वरूप में पृथ्वी हैं या पार्थिव पदार्थ हैं, और नदी, कूप, पोखर, समुद्र आदि अन्तत: पानी हैं। इससे यह भी निष्पन्न होता है कि तत्त्व केवल वर्गीकरण

का ही नहीं एकीकरण का भी कारण है।[८] इस प्रसंग में यह याद रखना आवश्यक है कि "सामान्य" के न्याय-दर्शनगत सिद्धान्त ने तत्त्व की शैव धारणा को काफी हद तक प्रभावित किया है। अभिनव ने "तत्त्व" की जगह "सामान्य" शब्द का जो प्रयोग किया है वह शायद इस बात पर जोर देने के लिए ही।[९] संभवत: यह निर्देश प्रासंगिक होगा कि प्रभाव एक दूसरी दिशा से भी आया है और वह दिशा है आगमों की। मतंगागम से जयरथ द्वारा दिया गया उद्धरण इस कथन की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं रहने देता और स्वयं अभिनवगुप्त ने भी इसकी पुष्टि की है।[१०] इसकी दृष्टि में तत्त्व वह वस्तुरूप है जिसमें उसका आत्मधर्म स्फुट है और जो कभी भी स्वाभाविक आचरण से च्युत नहीं होता और किसी दूसरे से अपनी व्याप्ति की अपेक्षा नहीं करता।

अब तक हमने देखा कि एक की अनेक में अनुवृत्तियाँ, एक के द्वारा अनेकों की व्याप्ति अथवा 'अनुगामिता' किसी भी वस्तु को तत्त्व या पदार्थ का नाम देने में प्रमुख आधार हैं। किन्तु इस अनुगामिता का क्षेत्र अबाधित नहीं है। मानवीय देह और भुवनादि में भी परस्पर काफी साम्य पाया जाता है और अनेक विशेषताओं की एक-दूसरे में अनुवृत्ति संभव है। परन्तु देह और भुवनादि में अनुगामी अंश को तत्त्व की संज्ञा नहीं मिलती[११], पर अनुगामिता के आधार पर दी गई तत्त्व की परिभाषा लागू तो इन पर होती है। अत: परिभाषा को अतिव्याप्ति दोष से बचाने के लिए उसे और भी निश्चित और ठोस बनाया गया है। इस परिभाषा को शैवदर्शन द्वारा स्वीकृत छत्तीस तत्त्वों पर ही लागू होना चाहिए। इस परिभाषा में अभिनवगुप्त ने तत्त्व के सभी लक्षणों को संक्षेप में एकत्र कर दिया है।[१२] तत्त्व वह है जो अपने कार्यों में, संधातों में (जहाँ गुणों के पारम्परिक अभिभव के कारण एकरूपता नहीं है) और अपने जैसे गुण वाले प्रमाताओं में (चाहे वह संकुचित-प्रमाता हो और चाहे विश्वप्रमाता)[१३] आत्मस्वरूप को संक्रान्त करता है। दूसरे शब्दों में, निज-स्वरूप से उन्हें व्याप्त करता है। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक होगा कि सभी स्थितियों में व्यापन की शैली एक ही नहीं है। पृथ्वी, प्रकृति, पुरुष और शिव (ये सभी तत्त्व हैं), सभी व्यापक हैं पर उनका व्यापन प्रकार पृथक् है। सभी पार्थिव सृष्टियों में पृथ्वी उपादान के रूप में व्याप्त रहती है। अर्थात् सारे पार्थिव पदार्थ अन्तत: पृथ्वी रूप ही हैं। प्रकृति अपने विकारों में उस तरह से व्याप्त होती है जैसे गुण अपने संघातों में। पुरुष और शुद्ध सृष्टि के शिव आदि तत्त्व अपने समान गुण वालों में उसी तरह अनुवृत्त होते हैं जैसे एक सामान्य व्यक्तियों में व्याप्त रहता है। उदाहरणों की संख्या बढ़ाई जा सकती है। इसी प्रकार अहंकार आदि (अंत:करण) भी तत्त्व हैं क्योंकि ये इन्द्रियरूप अपने कार्यों में व्याप्त रहते हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि यद्यपि व्यापन का एक निश्चित प्रकार नहीं है फिर भी स्थूल रूप से व्यापन-प्रकारों का तीन रूपों में विभाग किया जा सकता है। एक है कार्य में उपादान की व्याप्ति, दूसरी है संघात में संघात-अवयवों की व्याप्ति या अनुस्यूति और तीसरी है व्यक्ति में सामान्य की अनुगति या अनुवृत्ति। विभिन्न वर्गों या वस्तुओं में यदि किसी वस्तु की, उपर्युक्त व्यापन प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार से, व्याप्ति या अनुवृत्ति है तो उसे तत्त्व संज्ञा देने में शैव पदार्थवादी को संकोच न होगा। देह, भुवन आदि वस्तुओं को तत्त्व अथवा पदार्थ न मानने के पीछे यही युक्ति दी जाती है कि वह अपने कार्यों में व्याप्त नहीं होते। देह का कार्य है विविध चेष्टाएँ और भुवनादि फल-भोग की भूमि हैं, ये दोनों ही चेष्टा या फलादि में व्याप्त नहीं होते।[१४] यही नहीं, घट जैसे स्थूल कार्य आदि भी स्वतंत्र तत्त्व नहीं माने जाते, क्योंकि अपने से परवर्ती किसी पदार्थ में वे व्याप्त नहीं होते। इसके भी मूल में एक कारण है। तत्त्वों का विचार शैव दर्शन में कारण-कार्यभाव के सन्दर्भ में हुआ है। परम शिव प्रथम कारण है और पृथ्वी अंतिम कार्य। इन दोनों के बीच सारा तत्त्व-जगत् एक आनुपूर्वी में आ रहा है।[१५] इस आनुपूर्वी-सम्बन्ध (क्रम सम्बन्ध) को महेश्वरानन्द ने स्पष्टत: कारणतामूलक माना है।[१६] तत्त्वों में पारस्परिक प्रयोज्य-प्रयोजक भाव है और अंतिम कारण-परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति को सामान्य

प्रयोजक माना गया है।[१७] इस प्रकार तत्त्व-विचार के मूल में कारणता-दृष्टि रही है। इसका सहज परिणाम यही हुआ है कि घट, भुवन आदि तत्त्व नहीं माने जा सके हैं। ऊपर की सभी व्यापन-पद्धतियों में अनुगामिता की सम्भावना का निषेध सहज नहीं है। पर देह, भुवन आदि को इस दृष्टि से घट के समक्ष ही माना गया है कि वे तत्त्व नहीं हैं। अर्थात् देहादि में पाया जाने वाला सामान्य तत्त्वरूप नहीं है। अभिनवगुप्त ने अपनी विवृत्ति-विमर्शिनी में इस प्रसंग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है। वह यह मानते हैं कि आभास-सामान्य ही तत्त्वरूप हो सकता है। परन्तु यह आभास सामान्य, चाहे यह सीमित प्रत्यक्ष का विषय हो या सार्वजनीन अनुभव का, "विभव-रूप" में जब तक विकसित नहीं होता तब तक तत्त्व नहीं हो सकता। विभव का यहाँ एक पारिभाषिक शब्द के तौर पर प्रयोग हुआ है। तत्त्व शब्द की निष्पत्ति संस्कृत की तन् धातु (तनु विस्तारे) से हुई है, जिसका अर्थ है विस्तार करना। "विभव" शब्द आभास सामान्य के उस आत्म-विस्तार की ही व्याख्या करता है। विभव का अर्थ है "विचित्र प्रकार से होना" (विचित्रेण भवनम्)। भवन-क्रिया का यह वैचित्र्य मिश्रण, पारस्परिक व्याप्ति और विभाग की त्रिविध पद्धति के सहारे पलता है। घर का आत्मविस्तार किसी भी दूसरे रूप में सम्भव नहीं है परन्तु मिट्टी या पृथ्वी का आत्मविस्तार नाना रूपों में सम्भव है। उदाहरण के लिए घर पृथ्वी से मिश्रित प्रतीत होता है, मिट्टी में यह व्याप्त है और मिट्टी इसमें व्याप्त रहती है, और फिर भी वह मिट्टी से पृथक् दिखाई पड़ता है। वस्तु-घटना का यही प्रकार है। मिट्टी तत्त्व है क्योंकि घट रूप में इसका 'विभव' संभव है, पर घट का अन्य रूप में 'विभव' संभव नहीं है। इस विविधरूपता का उल्लास उपर्युक्त त्रिविध पद्धति के सहारे ही हो पाता है। मिट्टी का उपयोग यहाँ पर एक तरीके से उपलक्षणार्थक है। सभी तत्त्वों में यह बात समान रूप से पायी जायेगी कि वे (१) किसी न किसी के अनुभव-विषय हैं, (२) आभास-सामान्य रूप हैं और (३) विभवतया विकसित हो सकते हैं।[१८] इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि तत्त्व होने के लिए वस्तु का आभास-सामान्य रूप होना ही आवश्यक नहीं है, उसके अन्दर आत्म-विस्तार की संभावना भी उतनी ही आवश्यक है। इसीलिए और गहरे जाने पर पता चलेगा कि तत्त्वजगत् का विकास निरन्तर दो दिशाओं में हो रहा है- समानान्तर (पैरेलल) और क्रमिक (सक्सेसिव)। एक ओर सम इकाइयों (आइडेन्टिकल यूनिटस) में हर तत्त्व फैलता है और दूसरी ओर आनुपूर्वी में किसी दूसरी वस्तु को व्यक्त या प्रकट करता है। तत्त्व की यह विभव-सामर्थ्य ही उसका प्राण है जबकि देह, घट, भुवन आदि में इस सामर्थ्य का अभाव है। वस्तुत: इस सामर्थ्य के बल पर समस्त प्राणिजगत्, भावजगत् और भुवन संसार के रूप में तत्त्व ही भासित होते हैं। साधारण आभास तत्त्व का केवल इसी अर्थ में पर्याय है कि तत्त्व उस रूप में आभासित हुआ है। इस बात में संदेह और ऊहापोह की कुछ भी गुंजाइश नहीं रखी गयी है। अभिनव स्पष्ट कहते हैं कि तत्त्व आभास-सामान्य रूप है और गुणगुणिभाव से, शेषशेषिभाव से, अंगागिभाव से विचित्र सामस्त्य के साथ मिलकर भोक्ता, भोग्य और उन दोनों के अधिकरण के रूप से भासित होते हैं।[१९] भूत शब्द भोक्ता का, भोग्य भाव का और भुवन इन दोनों के अधिकरण का वाचक हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे भोग और अनुभव का सारा जगत् इन तत्त्वों का ही विलासमात्र है। भूतसृष्टि प्राणी और देह की सृष्टि है, भावसृष्टि घटादि रूप विषयसृष्टि है और अधिकरणसृष्टि भुवनसृष्टि है। कह सकते हैं कि तत्त्व का क्रमिक इकाइयों में विश्लेषण और उसकी व्याप्ति का अनुसंधान संभव है जबकि भूत, भाव और भुवनादि के सम्बन्ध में यह विश्लेषण संभव नहीं है। इसलिए शिवाद्वयवाद में तत्त्व की भूत, भाव और भुवन से हमेशा अलग गिनती की गयी है और एक क्षण के लिए उन्हें मिलाया नहीं गया है।[२०]

इससे यह भी स्पष्ट है कि न्याय के "सामान्य" की शब्दावली में तत्त्व निर्णय समझने की सुविधा के लिए हुआ है अन्यथा दोनों में मौलिक अन्तर है। न्याय में केवल नित्य अनुगामिता ही सामान्य का रूप है। यहाँ मात्र अनुगामिता सामान्य का रूप-निर्धारण नहीं करती, यह हमने ऊपर देखा है।[२१] इस

अनुगामिता का स्वरूप न्याय दर्शन की अनुगामिता से व्यापक है, शैव मत में यह अनुगामिता त्रिविध है। इसके अतिरिक्त, न्याय में पदार्थ का अर्थ एवं क्षेत्र सामान्य के अर्थ एवं क्षेत्र की अपेक्षा कहीं व्यापक है। पदार्थ के व्यापक वर्ग में सामान्य का अवान्तर वर्ग अन्तर्भूत है। काश्मीर दर्शन में पदार्थ और सामान्य को प्राय: समानार्थक माना गया है। एक दूसरा अंतर भी है। जहाँ न्याय में पदार्थ की स्वरूपधारणा सामान्य को पदार्थ की ख्याति देने के लिए उत्तरदायी है वहाँ काश्मीर शैव मत में सामान्य की धारणा पदार्थलक्षण का मूलाधार है। परन्तु सामान्य के ग्रहण में यहाँ नैयायिक के पदचिन्हों का अन्धानुकरण नहीं हुआ है अपितु सामान्य के स्वरूप का शैव मन्तव्यों के अनुरूप विकास हुआ है।

अब हम समस्या के दूसरे पहलू की ओर मुड़ते हैं। यद्यपि यह संकेत किया जा चुका है कि प्रमेय और आभास दोनों ही तत्त्व, वस्तु, या आभास के पर्याय हैं[२२] फिर भी उनकी ज्ञेयता या प्रमेयता पर अभी तक कुछ नहीं कहा गया है।

शिवाद्वयवाद में आभास शब्द का प्रयोग अद्वैतवेदान्ती सुरेश्वराचार्य के आभासवाद से भिन्न अर्थों में हुआ है। परमसत्य के परिच्छिन्न अवभासन (आ ईषत् भासनम्) के लिए आभास शब्द का प्रयोग हुआ है। यह परिच्छिन्न या "ईषत्" भासन स्वयं ज्ञेयता का धर्म है।[२३] इस बात पर विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया गया है कि जिसे हम "धर्म" कहते हैं वह अर्थ या वस्तु का आभास (अर्थविभास) है[२४], और जिसे धर्मी कहते हैं वह स्वरूपावभास है। प्रमेयता स्वयं धर्मरूप है, अर्थात् अर्थावभास और प्रमेयता धर्म एक ही चीज हैं। परमसत्य या तत्त्व की अपेक्षा से यह आभास मेय या परिच्छिन्न है। अवभास्य होने कारण ही वह मेय है, क्योंकि चरम सत् का वह व्याप्य है। प्रमाण-विज्ञान की दृष्टि से भी वह वस्तु या ज्ञेय है। प्रमाण-व्यापार की पहुँच के वह भीतर है, क्योंकि हमारे दैनन्दिन व्यवहार में उसके द्योतन के लिए किसी न किसी पदावली का उपयोग होता है।[२५] वे प्रमेय हैं क्योंकि वे हमारे ज्ञान के विषय हैं। उनके ज्ञान-विषय होने का सीधा सा कारण यही है कि व्यवहार जगत् में हमारे प्रवेश के लिए आवश्यक है कि हम पहले उन्हें जान लें।

इसीलिए उनको लेकर प्रत्यक्ष और अनुमान आदि व्यावहारिक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, ऐसा माना गया है। तत्त्व की विभव-सामर्थ्य के विवेचन प्रसंग में हमने देखा था कि अभिनव ने किसी वस्तु के तत्त्व हो सकने के लिए तीन अनिवार्य शर्तें रखी हैं: सबसे पहले वह सामान्य रूप हो, फिर ज्ञान का विषय हो और तीसरे वह विभवतया परिणत हो सकता हो। यह आवश्यक नहीं है कि वह सबके ज्ञान का विषय हो। यह सबके ज्ञान का भी विषय हो सकता है और कुछ लोगों के ज्ञान का विषय भी। पारिभाषिक शब्दावली में, ज्ञान का विषय होने का अर्थ है कि उस विषय का प्रमाता में दर्शन इत्यादि द्वारा उपलक्षित किसी भी अर्थक्रिया को संपादित करने की योग्यता का होना, जैसे रूप विषय और दर्शन नामक अर्थक्रिया को सम्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में, प्रमाता को रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, अत: रूप प्रत्यक्ष का विषय है।[२६] प्रत्यभिज्ञा कारिका के ऊपर अपनी विमर्शिनी नामक वृत्ति में अभिनवगुप्त ने वस्तु के वेद्यभाव में परिनिष्ठित दशा को ही तत्त्व का स्वरूप कहा है। दूसरे शब्दों में, वेद्यभाव ही जाकर तत्त्वभाव में परिणत होता है।[२७] इसको हम यों समझ सकते हैं कि तत्त्वजगत् ही वस्तुत: व्यवहार-जगत् है। हमारा सारा व्यवहार अनुभवमूलक है अर्थात् तत्त्व-भूमि अनुभव की भूमि है। हर तत्त्व एक विशिष्ट अनुभव का संकेत करता है। तत्त्व के लिए दूसरा पर्याय "आभास" इसी का द्योतन करता है। 'आभासते' का अर्थ है प्रमाता के प्रति पदार्थ का आभासन। इस प्रकार अनुभव प्रमाता का धर्म है। अनुभवरूप प्रत्येक तत्त्व प्रमातृ विशेष की संवेद्य वस्तु है। यही संवेद्य वस्तु सामान्य रूप में तत्त्व बनती है। इसलिए अन्यत्र अभिनव ने सामान्यरूप विमर्श को ही पदार्थ माना है।[२८] प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से वस्तु का सामान्यात्मक ज्ञान ही पदार्थ रूप से गृहीत होता है। इसलिए सारा तत्त्वसंघात प्रत्यक्ष आदि

प्रमाणों से ग्राह्य माना गया है।[२९] न्याय दर्शन में भी हमें करीब-करीब यही दृष्टिकोण मिलता है। उद्योतकर ने बिल्कुल साफ स्वर में कहा है कि सारे पदार्थ ज्ञेय हैं।[३०] वाचस्पति ने इसी विचार का अनुमोदन किया है।[३१] यहाँ भी बार-बार यह बात कही गयी है कि यह सारा तत्त्व-राज्य प्रमेयरूप या विषयरूप है।[३२] वस्तुत: चरम सत्य से अभिन्न होने के कारण तत्त्व भी अप्रमेय है, परन्तु तत्त्वरूप में साकार का अर्थ है कि परमार्थत: अप्रमेय भी प्रमेय बन जाता है। उदाहरण के लिए, स्वयं शिवतत्त्व (प्रथम तत्त्व) भी प्रमेय या आभास माना गया है। जैसे पृथ्वी कठिनता का अवभास है, माया भेद का अवभास है, उसी प्रकार मायातत्त्व से परे शुद्ध प्रकाश का, चित् का, अवभास शिवतत्त्व की संज्ञा पाता है। अत: निष्कर्ष निकलता है कि तत्त्व प्रमेय है।[३३] इन प्रमेयों को आगमाधिकार में तत्त्व कहा गया है। यहाँ पर एक प्रश्न किया जा सकता है कि हम तत्त्व की प्रमेयता या विषयता की बात ही क्यों करें या उठाएँ ? इस प्रश्न के उत्तर में पदार्थमीमांसा (ऑन्टोलोजी) परमार्थमीमांसा (मेटाफिजिक्स) का आश्रय लेती है। शैव चिन्तकों का केवल एक ही लक्ष्य है। वे सत्य का संधान, चरम सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं। यह तत्त्व-विमर्श चरम सत्य की प्राप्ति का द्वार है। युक्ति यह है कि विषयता के वास्तविक मर्म से यदि हम एक बार भी परिचित हो जाएँ तो तत्त्वजगत् से परे "सत्य" का बोध सहज हो जाता है। स्वरूप-बोध ही अद्वैत दर्शन का उद्देश्य है। स्वरूप-बोध या आत्मप्रमातृत्व का हृदयंगम होना दोनों एक ही बातें हैं। यह आत्मप्रमातृता निश्चय ही प्रमेय से भिन्न है। अत: प्रमेय के वास्तविक रूप का यदि ज्ञान हो जाए तो आत्म-स्वरूप का विवेक कठिन नहीं रहता है।[३४] शिवाद्वयवाद की दार्शनिक शब्दावली में कहें तो परतत्त्व विषयता से अतीत है। वह अपने स्वरूप में सर्वदा प्रकाशित है, प्रकाशरूप है। यदि हम सृष्टि प्रक्रिया के व्यावहारिक छोर से चले तो शिव तत्त्व जगत् का अंतिम तत्त्व ठहरता है जिसका वर्णन "चित् या प्रकाश के आभास" के शब्दों में किया जाता है। जागतिक व्यापार में हमारी दृष्टि भेदाभेद मूलक रहती है। जिस प्रकार हम घड़े का ज्ञान करते हैं उस प्रकार शिवगत प्रकाश का भी। अत: शिव तत्त्व का यथार्थबोध हो जाने पर परमशिव की उपलब्धि का द्वार उन्मुक्त हो जाता है।[३५] पर चूँकि शिवतत्त्व का बोध भी एकदम से संभव नहीं है हम सोपान की प्रथम सीढ़ी, पृथ्वी तत्त्व, से प्रारंभ करते हैं जहाँ प्रमेयता स्फुटतम है। पर जिस तरह से ईख के रस की मिठास गुड़ की घेली में बची रहती है उसी प्रकार शिव की प्रकाशरूपता का अपलाप पृथ्वी आदि में कहीं नहीं होता। शिव और शिवेतर तत्त्वों में केवल स्त्यानता, काठिन्य या जमाव की क्रमिक अधिकता को लेकर ही भेद है। स्त्यानता का अर्थ प्रमातृभाव की अप्रधानता और वेद्यता का उत्कर्ष है। शिवाद्वयवाद के एक अवान्तर सम्प्रदाय क्रम-दर्शन का भी इस विषय में यही मन्तव्य है।[३६] पाँचरात्र मत में भी कहीं कहीं यही विचार देखने को मिलता है।[३७] न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी तत्त्व या प्रमेय विचार के पीछे परमपुरूषार्थ की प्राप्ति का आग्रह रहा है।[३८]

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये पदार्थ अथवा "ज्ञान-विषय" स्वरूपत: सारे व्यवहार जगत् को समेट लेते हैं। इसका कारण है कि उन्हें "ऑन्टोलाजिकल" पदार्थ माना गया है। तात्पर्य यह है कि वे केवल प्रमाणमूलक (इपिस्टिमॉलोजिकल) विषय ही नहीं हैं अपितु अस्तित्त्वमूलक विषय (आब्जेक्ट्स ऑव बीइंग) हैं। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि क्या सत्यता का विषय (कॉन्टेन्ट) उन पदार्थों में ही नियमित और समाप्त किया जा सकता है या वे अपेक्षाकृत अधिक मौलिक और चरम पदार्थ की अभिव्यक्तियाँ हैं ? शैव दार्शनिकों ने इस समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। वे पहले प्रश्न का निषेध में और दूसरे प्रश्न का स्वीकृति में उत्तर देतें है। चरम सत्य का कॉन्टेन्ट उन पदार्थों में समाप्त नहीं किया जा सकता, अपितु वे एक परतत्त्व के स्फार हैं। शिवाद्वयवादियों की एक बड़ी संख्या उन्हें अधिक चरम पदार्थ का स्फुरण मानती है जिसे उन्होंने परमशिव का नाम दिया है। इस

सन्दर्भ में परमशिव को भी लाक्षणिक शब्दों में पदार्थ माना गया है। वह चरम पदार्थ है।[39] लेकिन बहुमत की दृष्टि में परमशिव तत्त्वरूप नहीं है, फिर भी परम शिव वह "परतत्त्व" है जिसके सारे पदार्थ अभिव्यक्ति, आभास, अंश या पहलू हैं।[40] इस निष्कर्ष के लिए हमारे पास एक ठोस आधार है। परमशिव के साथ इन छत्तीस तत्त्वों के वर्गीकरण के कई प्रयास हुए हैं। आगामों में परशिव को तत्त्वातीत कहा गया है और शेष तत्त्वों को दो शीर्षकों में बाँटा गया है- शुद्ध तत्त्व और अशुद्ध तत्त्व। शिव से लेकर शुद्ध विद्या तक के पाँच तत्त्व शुद्धसृष्टि या शुद्धतत्त्व कहलाते हैं, क्योंकि इस दशा का अनुभव अभेदमूलक होता है। शेष एकत्तीस तत्त्वों में भेदानुभूति की प्रधानता के कारण उन्हें अशुद्धसृष्टि या अशुद्ध तत्त्व माना जाता है। सोमानन्द ने अपनी शिव दृष्टि के प्रारंभ में ही इस आगमिक पद्धति का अनुवर्तन करते हुए तत्त्वों को तीन शीर्षकों में विभाजित किया है- पर, परापर और अपर।[41] परशिव परतत्त्व है (पदार्थ दृष्टि से ही परमशिव को पर "तत्त्व" की आख्या मिली है)- अनुभूति की यह निर्विकल्प सामरस्यमयी स्थिति है। शिव से शुद्धविद्या या शुद्धसृष्टि तक तत्त्वपंचक परापर कोटि में आते हैं- यहाँ अभेदानुभूति की मुख्यता होने पर भी भेद की संभावना बीजरूप से उगती है। परतत्त्व की अपेक्षा से अपर और अपरतत्त्वों की अपेक्षा से पर होने के कारण इन्हें परापर कहते हैं। अपर के अंतर्गत भेदानुभूति-प्रधान वही इकत्तीस तत्त्व (मायातत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त) आते हैं। परन्तु परतत्त्व की दृष्टि से बाद की दोनों कोटियाँ परापर एवं अपरापर रूप रह जाती हैं। स्पन्द कारिका के यशस्वी टीकाकार रामकण्ठ को यही क्रम मान्य है। उन्होंने सामान्य स्पन्द और विशेष स्पन्द नामक दो कोटियाँ मानी है और उन्हें क्रमश: परापर और अपर तत्त्वों से समीकृत किया है।[42] महेश्वरानन्द ने स्पष्टता के आग्रह से और क्रम दर्शन की पंचात्मिका प्रकृति से प्रभावित होकर अपने वर्गीकरण में पाँच कोटियाँ रखी हैं- पर,सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम।[43] परमशिव परतत्त्व है। शुद्धतत्त्व-पंचक सूक्ष्म कोटि में आते हैं। प्रकृति, पुरूष आदि तत्त्वों को स्थूल माना गया है। पृथ्वी आदि पंचभूतों की गिनती स्थूलतर में हुई है। घड़ा, कपड़ा जो विशुद्ध कार्य रूप हैं वे स्थूलतम वर्ग के अंतर्गत हैं। परन्तु अन्तिम कोटि को, जिसमें शुद्ध कार्यों की गणना हुई है, तत्त्वरूप नहीं माना जाता है। अत: महेश्वरानन्द का यह वर्गीकरण चार कोटि वाला ही रह जाता है। हमारे इस विवेचन का एक ही अभिप्राय है कि ऊपर के समस्त वर्गीकरणों में हमने देखा है कि परमशिव का सर्वत्र उल्लेख हुआ है और उस उल्लेख में परमशिव का परतत्त्व के रूप में उन्मेष हुआ है। परमशिव की परतत्त्वरूप सार्वत्रिक मान्यता ऊपर प्रतिपादित इसी निष्कर्ष का पोषण करती है कि इन छत्तीस तत्त्वों में ही सत्य की अभिव्यक्ति पूरी नहीं हो जाती अपितु ये तत्त्व अपने से अतीत, व्यापक और पूर्णतर सत्ता के आभास हैं। इस सन्दर्भ में एक पूर्वोक्त कही हुई बात को दुहराना प्रासंगिक होगा। महेश्वरानन्द के अनुसार तत्त्वों के आपसी संबंध को प्रयोज्य-प्रयोजकभाव की शब्दावली में व्यक्त किया जा सकता है। अर्थात् एक तत्त्व दूसरे को या तो प्रेरित करता है या उससे प्रेरित होता है। परन्तु उन सभी तत्त्वों का पार्यन्तिक प्रयोजक या प्रेरक एक है- वह किसी का भी प्रयोज्य नहीं है, वह प्रेरक है परमशिव का प्रगल्भ स्वातन्त्र्य।[44] वही तत्त्वरूप में उल्लसित होता है। इस संप्रदाय में शक्ति और शक्तिमान्, स्वातन्त्र्य और परमशिव अन्तत: एक ही ठहरते हैं। इस दृष्टि से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की सिद्धि होती है। इसलिए शिवाद्वयवाद के आचार्यों ने इन पदार्थों को परतत्त्व की शक्तियाँ या स्पन्द माना है।[45]

ये शक्तियाँ या तत्त्व परतत्त्व से दो तरह से अनुबद्ध हैं। या तो वे "समीपतर-वर्ग" के अंतर्गत आते हैं या "दूर-दूरतर वर्ग" के। यही दो वर्ग हैं। सरल शब्दों में, वे शक्तियाँ जो परमेश्वर से अपरोक्षत: संबंधित हैं उन्हें पहले और जो परोक्ष ढंग से संबंधित हैं उन्हें दूसरे वर्ग में रखा जाता है। परतत्त्व से पदार्थ-जगत् के सम्बन्ध की यह अपेक्षित धारणा है। परतत्त्व की व्याप्ति या अनुस्यूति सभी तत्त्वों में है,

यह हम देख चुके हैं। यह व्याप्ति जहाँ अपेक्षाकृत अव्यवहित (इमीडिएट) है वे ''समीपतर'' तत्त्व हैं और जहाँ व्यवहित है वे ''दूरतर'' तत्त्व हैं। पहले वर्ग का परतत्त्व से सम्बन्ध न्याय के अपर-सामान्य (जाति और व्यक्ति की तुलना द्वारा) द्वारा समझाया गया है- जैसे घट घटत्व से संबंधित है। घटत्व और घट का निकटतम संबंध है। दूसरे वर्ग के लिए पर-सामान्य (सत्ता) और व्यक्ति के सम्बन्ध के दृष्टान्त का आश्रय लिया गया है। सत्ता का घट से संबंध दूर का और व्यवहित संबंध है। सत्ता घट से द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, घटत्व के माध्यम से संबंधित है। पहले वर्ग में सारी आवश्यक पूर्वावस्थाएँ उसी में निहित रहती हैं जबकि दूसरे में संबंधसूत्र की पूर्ति के लिए मध्यवर्ती अवस्थाओं की अपेक्षा पड़ती है।[४६] ये दोनों वर्ग स्वयं में निरपेक्ष वर्ग नहीं है। उनमें भी तारतम्य है। जिस सीमा तक परतत्त्व से अव्यवहित-व्यवहित संबंधित हैं उसी अंश तक वह समीप या दूर हैं। उदाहरण के लिए परशिव से शिवतत्त्व का सम्बन्ध निकटतम और पृथ्वी से दूरतम है परन्तु उसी परशिव से मायातत्त्व शिवतत्त्व की तुलना में दूर और पृथ्वी या प्रकृति की अपेक्षा निकट है। भास्कर ने बताया है कि तत्त्वों का परतत्त्व से यह अपेक्षा-संबंध उसकी प्राप्ति की सुकरता की दृष्टि से है। जितना निकट तत्त्व होगा मल की उतनी कमी के कारण वह परतत्त्व की प्राप्ति उतनी ही शीघ्रता से कराएगा। सत् वस्तु के अन्वेषण में घट देर से मिलता है जबकि घटत्व-युक्त वस्तु की खोज करते समय घट फौरन ही मिल जाता है।[४७]

पदार्थ परतत्त्व या परमशिव के शक्ति रूप हैं- यह सिद्धान्त त्रिकदार्शनिकों ने व्याकरण-दर्शन से लिया है। व्याकरण-दर्शन में बाहरी जगत् शब्दब्रह्म की विभिन्न शक्तियों का आभास माना गया है। किसी भी विषय का विश्लेषण अनेक शक्तियों के सामाहार रूप में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, घट उन अनेक शक्तियों का समूह है जिसमें से उसकी जल-आहरण की क्षमता भी एक है।[४८] इसलिए भर्तृहरि ने काल, दिक्, क्रिया और साधन या कारक जैसे पदार्थों की कल्पना शक्तियों के रूप में ही की है। पदार्थ शक्तियों से अधिक कुछ भी नहीं हैं।[४९] त्रिक आचार्यों ने इस सिद्धान्त को प्राय: सर्वांश में ग्रहण किया है। शक्ति स्परूपत: भेद रहित है परन्तु व्यापार और फल-भेद से शक्तिभेद की कल्पना होती है। और यह शक्तिभेद ही पदार्थरूप में उल्लसित होता है। जयरथ ने साफ शब्दों में पदार्थ को अनेक शक्तियों का योग माना है।[५०] अन्यत्र भी यही बात दुहराई गयी है।[५१] शक्ति विशेष की पदार्थ विशेष के रूप में कल्पना का आधार है पदार्थों का अपना नियत रूप, जिससे वे कभी च्युत नहीं होते।[५२] इस कथन से संभवत: यह भी ध्वनित होता है कि स्वयं पदार्थ स्वरूपत: प्रकार-वैचित्र्य से परे हैं। पदार्थभेद या विविध पदार्थों की धारणा आरोपित धारणा है जिसका उद्‌गम व्यापार और फल के प्रक्रियागत भेद में छिपा है।[५३]

यहाँ पर यह बताना अप्रांसगिक न होगा कि शैव दार्शनिकों के लिए तत्त्व, पदार्थ या प्रमेय शब्द उपाधि नहीं हैं (यद्यपि इसे वर्गीकरण का निमित्त कहा गया है) अपितु वास्तविक सामान्य है (वस्तुत: यहाँ सामान्य आदि की परतत्त्व से भिन्न कोई सत्ता नहीं है और न सामान्य का कोई स्वतंत्र स्वरूप है।) यह सामान्य उस अर्थ में वास्तविक है जिस अर्थ में यह व्यवहार जगत् या पदार्थजगत्। पदार्थजगत् की कल्पना व्यावहारिक है, उसी प्रकार यह सामान्य की धारणा भी व्यावहारिक है। जो सभी तत्त्वों और पदार्थों में व्याप्त है और उनकी पदार्थ या तत्त्व संज्ञा का कारण बनता है। इससे संभवत: यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रमेय या पदार्थ मौलिक पदार्थ है और छत्तीस तत्त्व उसके अंतर्गत अवान्तर या आश्रित तत्त्वों के रूप में गृहीत होते हैं। ''तत्त्व-परिभाग'' या ''तत्त्व-ग्राम'' जैसे शब्द इसी के सूचक हैं।[५४] काश्मीर शिवाद्वैतवाद के सभी संप्रदायों में जिन छह अध्वों (मार्गों) की गणना हुई है, तत्त्व-मार्ग या तत्त्वाध्वा भी उनमें से एक है। इस तत्त्वाध्वा में ही सारे छत्तीस तत्त्वों का सन्निवेश हुआ है। इस दृष्टि से भी ''तत्त्व'' स्वयं में एक मौलिक पदार्थ (कैटेगॉरी) है। ''तत्त्व'' की अध्वों में यह गिनती यह बताती

है कि शैवों की परमार्थ-विचार की योजना का यह आवश्यक अंग है। भेद दशा से अभेदभाव की प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है और ये षट्त्रिंशतत्त्व मूलतत्त्व की इस योजना में अंतर्भूत और सहायक हैं।[५५]

त्रिकदर्शन की तत्त्वमीमांसा पर सांख्य के पदार्थ विचार का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। शिवाद्वयवाद में कारणतासिद्धान्त का पल्लवन आभासवाद में हुआ है, परन्तु पदार्थ विचार में सत्कार्यवाद की प्रक्रिया स्वीकार की गई है।[५६] सत्यकार्यवाद कार्य में कारण की वासनात्मक अनुवृत्ति मानता है। सत्कार्यवाद की स्वीकृति का अर्थ है सभी तत्त्वों में निखिल तत्त्वराशि की अनुस्यूति मानना। उदाहरण के लिए शिव में अपने अलावा पैंतीस तत्त्वों की संभावना बीजरूप से निहित है। उसी प्रकार मध्यवर्ती प्रकृति-पुरुष आदि में ऊपर-नीचे के सभी तत्त्व रहते हैं। इसीलिए सभी तत्त्व सर्वात्मक माने गए हैं। इसलिए त्रिक दर्शन की रहस्यात्मक धारा में पंचतत्त्व की दीक्षा में अनाश्रित तत्त्वों (शुद्ध तत्त्वपंचक) तक भूत व्याप्ति मानी गयी है।[५७]

***

संदर्भ-सूची

१. *वस्तु, तत्त्वं,प्रमेय इति पर्याया: ॥ (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ.१२८।*

२. *अतएव च तनोति सर्वमिति च ....तत्त्वमित्यर्थ: ।*
तंत्रालोक, भाग ७,पृ.३ (जयरथ कृत विवेक)

३. *एकैकाभासरूपतात्मकं दर्शनान्तरे "सामान्य"इति यद् व्यवहृतम् ॥ (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ.२१४।*
भास्कर की व्याख्या है- "अवभाससामान्यतया व्यवहारविषयीकृतम् ॥"

४. *सामान्यरूपमाभासात्मकमेव वस्तु इति तत्त्वम्। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विवृति- विमर्शिनी, भाग ३, पृ.१६३।*

५. *यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभो: शासने। तंत्रालोक आह्निक ९, श्लोक २। न्याय दर्शन में सामान्य की इस परिभाषा से कितनी समता है देखें-"अनेकानुगतं नित्यमेकं सामान्यम्"तर्कसंग्रह)। नित्यता का अंश भी शैव पदार्थ में निषिद्ध नहीं है। तुलना कीजिए-"आ महाप्रलयस्थायी सर्वप्राप्तुपभोगकृत्, तत्त्वमुच्यते तज्जैर्न शरीरघटाद्यत:। (जयरथ द्वारा नं,९. ५-६ पर अपने विवेक में उद्धृत) यहाँ पर नित्यता का अर्थ है तत्त्व का महा प्रलय तक स्थायी रहना।*

६. *अभिलापसाधारणत्वमेकसामान्यविषयतायां हेतु: । ई-प्र.वि.वि., भाग ३ पृ. ७१ तुलना. "सतो वा वस्तुन: प्रमाणपरिनिश्चितस्वरूपं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तदित्युच्यते। तस्य भावस्तत्त्वम्।" न्यायमंजरी भाग १, पृ. ८।*

७. *'वर्गीकरणनिमित्तम्।' (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ.२१९।*

८. *इह तस्य भावस्तत्त्वमिति वर्गाणां विशेषरूपाणामेकीकरणनिमित्तं सामान्यमुच्यते। ई. प्र. वि.वि.,भाग ३, पृ.२७४।*

९. *वही।*

१०. *"तत्त्वं यद्वस्तुरूपं स्यात् स्वधर्मप्रकटतात्मकम्। तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शने ॥ यदच्युतं स्वकात् वृत्तात् ततं चात्मवशंगतम्।"*
ततमन्येन नो तस्मात् तत्तत्त्वं तत्त्वसन्ततौ ॥ मतंगागम १-५-४। जयरथ द्वारा विवेक (त ९-६) में और अभिनवगुप्त द्वारा ई, प्र. वि.वि., भाग ३, पृ. २६४ पर उद्धृत।

११. *तंत्रालोक ९ ४-५।*

१२. *स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मादौ यद्वापि स्वसदृक्गुणे ॥*
आस्ते सामान्यकल्पेन तस्माद् व्याप्तृ भावत: ।
तत्तत्त्व क्रमश: पृथ्वी प्रधानं पुंशिवादय: ।
देहानां भुवनानांच न प्रसंगस्ततो भवेत्। तंत्रलोक ९. ४-६ और भी देखिए, स्वस्मिन् स्वस्मिन् गुणे भाति यद्यद्रूपं समन्वयि। तदेषु तत्त्वमित्युक्तं--। वही - ९, ५४-५५

१३. *यही बात शिवतत्त्व आदि की ऐसी व्याख्याओं का प्रेरक आधार है- "तस्य चैतन्यधर्मस्य तादृशि भावराशौ तथा प्रथमं नाम यच्चिद्विशेषतत्त्वम्" (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २,पृ. २३०।*

१४. *ततश्च देहभुवनादौ नैवं प्रसंग:, नहि स्वकार्ये चेष्टादौ तत्तद्योगादौ च देहादित्वमनुगामितामियात्। तंत्रालोक, भाग ६, पृ.५ (जयरथ कृत विवेक)।*

१५. *परमशिवादुपरि न कर्त्रन्तरस्फुरणम्। पृथिव्या उपरि न कार्यन्तरोत्पत्तिश्च। तयोर्थ: प्रतिपदार्थमानुपूर्व्येण व्यवहिर्यमाणो...... मध्यवर्तीतत्त्वसंघातरूपोऽर्थ: । महार्थमंजरी परिमल, पृ. ३७।*

१६. ततश्च पृथिव्याम् अनाश्रितप्रभृतीनि पंचत्रिंशदपि तत्त्वानि कारणवासनानुवृत्तिद्वारा परिस्फुरन्ति--। वही, पृ. ६७।
१७. वही पृ. ६७-७०।
१८. कतिपयद्रश्यं सर्वजनद्रश्यं च यदाभासरूपं सामान्यं, तद् यतो विभवात्मना तन्यते, ततस्तत् तत्त्वमुच्यते। घटादि च न अन्येन रूपेणतान्यते। तद्धि पृथिव्यादेर्विमिश्रतया अन्योन्यव्याप्त्या विभागेन च विचित्रेण भवनम्-इति विभवउच्यते इ.प्र.वि.वि., भाग २, पृ. १४८।
१९. तत्त्वानि हि सामान्यवभासरूपाणि गुणगुणिभावेन विचित्रेण सामस्त्येन मिलितानि भोक्तृभोग्यतद्द्वयाधिकरणरूपतया भूतभावभुवनात्मना भाति। वही, पृ. १४९।
२०. तत्सकलोऽयम् तत्त्वभूतभावभुवनसंसार: संविदिविश्रान्त:- (विमर्शिनी), भास्करी, भाग १, पृ. २४६।
२१. अत्र पक्षद्वये वस्तुविभिन्नं भासतेयत:।
अनुगामिन सामान्यमिष्टं नैयायिकादिवत्॥ तं. ११-५।
२२. इयता आभासानामेव वस्तुत्वं दर्शयता आगमसिद्धान्येव वस्तूनीति दर्शितम्। ई.प्र. वि. वि. भाग २, पृ. १५७।
२३. आगमे तु आकारेण ईषदर्थवाचिना प्रमेयताधर्म आभासशब्देन उक्तं इति यावत्। वही पृ. १६३।
२४. अर्थावभासो हि धर्मत्वेन उच्यते, न तु स्वरूपावभास:। वही।
२५. एकाभिधानविषये मितिवस्तुन्यबाधिता.......अभिलापेन साधारणो य एव अभिलापविषय:, स एव अर्थो यस्य तद् भावस्तत्तातया:। वही पृ. ७१।
२६. द्रष्टव्य ई.प्र. वि. वि. भाग २, पृ. १४८।
२७. "वेद्यभावनिष्ठा दशा तत्त्वस्वरूपा"। (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, २२७। यहाँ पर भास्कर का व्याख्यान बड़ा सरगर्भित है। देखिए वहीं पर।
२८. "परो यो विमर्श स एवायं पदार्थ इति एक: प्रत्यवमर्शरन्य:।" (विमर्शिनी) वही, भाग १, पृ. ११७। भास्कर कहते हैं "पर: सामान्यरूप:" वहीं पर।
२९. यहाँ पर एक विप्रतिपत्ति उठती है: आगमाधिकार के तत्त्वनिरूपण नामक अधिकरण के प्रारम्भ में अभिनवगुप्त ने पदार्थ निर्णय का आधार आगमों को माना है क्योंकि प्रत्यक्ष का व्यापार सीमित है और अनुमान के तदाश्रित होने के कारण उसकी भी निश्चित सीमा है। केवल आगम ही अपरिच्छिन्न ज्ञान में समर्थ हैं। अत: पदार्थमीमांसा आगम का आधार लेकर ही चल सकती है। परन्तु अभी-अभी ऊपर कहा गया है कि पदार्थ प्रत्यक्ष आदि के भी विषय हैं। वस्तुत: इन दोनों ही स्थितियों में विरोध नहीं है। पदार्थों के वास्तविक स्वरूप, उनके धर्म और संख्या के निर्धारण में आगम समर्थ हैं। परन्तु व्यवहार जगत् में जहाँ उनमें से प्रत्येक के बोध या अनुभव का प्रश्न उठता है वहाँ व्यावहारिक प्रमाणों के व्यापार-सामर्थ्य के भीतर ही वे रहते हैं। इसलिए वे प्रमेय प्रमाणगम्य हैं।
३०. सर्वे पदार्था: ज्ञेयतयोपक्षिप्यन्ते। न्याय-वार्तिक १-१-, पृ. २३ पृ.१२ भी देखिये।
३१. जात्यभिप्रायमेकवचनं, प्रकृते प्रमेये यथायथं प्रमाणानुपयोगात्। न्यायवार्तिक-तात्पर्य टीका १-१-९, पृ.२०८।
३२. विश्वप्रमेयीकरणप्रतिलब्ध-(विमर्शिनी), भास्कर व्याख्या करते हैं:-
"परमार्थतोऽप्रमेयत्वेऽपि प्रमेयतासंपादनम्"। भास्करी, भा.२, पृ.२१३।
३३. इत्येतावदेव प्रमेयम्। एतान्येव आगमे तत्त्वानि वक्ष्यन्ते। (विमर्शिनी), वही, पृ.१२८।
३४. न च विश्वप्रमेयतापादनं न उपयोगिप्रकृतायामीश्वर प्रत्यभिज्ञापनायाम्। विश्व प्रमेयीकरणे हि तावत्प्रमेयपदोत्तीर्णातावदन्त:करणप्रतिलब्धपूर्णभावा सत्यप्रमातृता हृदयंगमोकृता भवेत्। ई.प्र. वि. वि. भाग ३, पृ. २२५
३५. इति घटे एव यथा भेदाभेदद्रष्टिस्तथा परमेश्वरे प्रकाश इति व्यवहारोऽपि अयं भगवदनुगृहीतानां परमार्थप्रवेशे प्रत्युभ्युपाय: न तु विरोधी। ई.प्र. वि. वि. भाग ३, पृ. १५२।
३६. शिवात्मा खलु प्रकाश: शक्तिसदाशिवपरिपाद्यनुसारेण प्रस्तुतभूतपंचक-पर्यन्तं स्त्यानी भवति...केवल शिवात् स्वच्छभावात् स्त्यानताधिक्यमेतेषां भेद:। महार्थमंजरी-परिमल, पृ.६७।
३७. "संविदेव हि रूपं में स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा।
सापीक्षुरसवद योगात्स्त्यानतां प्रतिपद्यते॥
अतो निरूप्यमाणं तच्चैत्यं चित्वमुपैष्यति। लक्ष्मीतंत्र, वही, उद्धत।"
३८. ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवायवा।
तत्प्रमेयार्महाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम्। न्यायमंजरी, भाग २, पृ.; और भी "न प्रमेयवद् प्रमेयमात्रे वर्तते, किन्तु यत्तत्त्वतो ज्ञायमानमपवर्गसाधनं तस्मिन्" तच्चात्माद्येव नान्यत्...। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १-१-९, पृ. २०८। मल्लिनाथ कहते हैं- "न प्रमेयमपवर्गार्थे ज्ञेयं तत्प्रमेयम्"। वही उपर्युक्त उद्धरण हर्ष नारायण द्वारा

"दी कॉन्सेप्ट ऑफ कैटेगारी इन न्याय ट्रैडीशन" । में उद्धृत । भारती, बुलटिन ऑव दि कालेज ऑव इन्डोलोजी (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) संख्या ४, १९६-६१, पृ. ६४-६८ ।

३९. कुछ लोगों ने अड़तीसवें पदार्थ की सत्ता भी स्वीकार की है । परन्तु उससे कोई सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं खड़ी होती । महेश्वरानन्द स्पष्ट कहते हैं- सोऽयं स्वात्मसात्कृताशेषषद्-त्रिंशत्तत्त्वकलापो महान् परमशिवभट्टारकाहवय: प्रमाता समत्रिंशतया स्वीक्रियते । तस्य ताहृग्रपताऽपि पर्यन्ततो विकल्पकक्ष्यामनुप्रविशति । अविकल्पात्मना च भाव्यं विश्वोत्तरेणेत्यतोऽत्राप्य-विकल्पवृत्तिष्टात्रिंश: कश्चिदागमेष्वंगीक्रियते । महार्थमंजरी, २६वीं कारिका की परिमल टीका; ।

४०. परमशिवभट्टारकस्य शक्ति: स्वातन्त्र्यलक्षणा महती तत्त्वानामन्योन्य प्रयोजकभावे पर्यन्तत: सामान्यप्रयोजकत्वे च प्रगल्भा भवत्युज्जृम्भते पृथिव्यादि भाववर्गमिवानाश्रित शिवभट्टारकमपि क्रोडीकृत्याभिवर्तते तद्रूपतया परिस्फुरतीत्यर्थ: ॥"

४१. शिवदृष्टि १-३-४ और उन पर उत्पल की वृत्ति पृ. ६-७।

४२. गुणादिस्पन्दनिष्यन्दा: सामान्यस्पन्दसंश्रयात् । लब्धात्मलाभा: सततं स्यु: ॥ स्पंद-कारिका १९ ।

४३. व्याख्यातवेषाणां तत्त्वानां मध्ये परमशिवभट्टारक: सर्वोपायप्रतिपाद्य इति परत्वेनावतिष्ठते । अन्येषु च शिवादीनि कानिचित् सूक्ष्माणि, प्रकृतिपुरूष-प्रभृतीनि स्थूलानीति कल्पनायां पृथिव्यादीनामपि प्रतिपन्नम् । यत्यत्कार्यभूता: स्तम्भकुम्भादय: स्थूलतमा इति व्यपदिश्यन्ते । महार्थमंजरी-परिमल, पृ. १४७।

४४. परमशिवभट्टारकस्य स्वातन्त्र्यलक्षणा महती तत्त्वानां अन्योन्यप्रयोजकभावे पर्यन्तत: सामान्यप्रयोजकत्वे च प्रगल्भा-तद्रूपतया परिस्फुरति । महार्थमंजरी-परिमल, पृ. ६४-७० ।

४५. सर्वाणि तत्त्वानि भगवत: शक्तिरूपाणि स्पन्द एव । ई.प्र.वि.,भाग ३, पृ. २६५ । यहाँ पर एक बात और कह दी जाए तो अच्छा रहेगा, इस दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माना गया है । शक्ति का स्वरूपग्रह शक्तिमान् (परतत्त्व) के स्वरूपग्रह में अत्यन्त सहायक है । यही बात पहले भी दूसरे प्रसंग में कही जा चुकी है कि प्रमेय या तत्त्व-बोध स्वरूपबोध का उपाय है ।

४६. परमेश्वरस्य हि परमार्थत: एता: शक्तयो यस्तत्त्वग्राम: काचित्तु शक्तिरन्यबहुतरशक्तिक्रोडीकारं कुर्वती निकटत्वादुपास्या घटस्येव घटात्मिका, काचिदन्यापेक्षिणी स्वरूपमात्रनिष्ठा द्वारा घटस्येव सत्तात्मिका । (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ. २२२ ।

४७. तावन्मलासादनात् सत्वरं शक्तिमत्प्रापकत्वात् वा उपासितुं योग्या । सद्वस्त्वन्वेषणेहि घट:चिरेण प्राप्यते घटत्वयुक्तवस्त्वन्वेषणे तु सद्य एवेति भाव:। भास्कर की वृत्ति, वही ।

४८. घटादयो भावा विश्वशब्दवाच्यास्ते च तत्तदुदकाहरणादिकार्यसाधिकानां शक्तिनां समूहरूप: । अतएव ताश्शक्तयस्तत्रमात्राभागा इति शक्तिसमाहारमात्रं घटादय: ।" वाक्यपदीयम् पर हेलाराज की वृत्ति, पृ.१७४ ।

४९. शक्तिरूपे पदार्थानां अत्यन्तमनवस्थिता: ।
दिक्साधनं क्रियाकाल इति वस्त्वभिधायिन: ॥ वाक्यपदीयम् ३-५-१; और भी नित्याषट्शक्तयोऽन्येषाम् । वही ३-७-३५; ये दोनों उद्धरण डॉ. गौरीनाथ शास्त्री द्वारा "दि फिलासफी ऑव वर्ड एण्ड मीनिंग" पृ.२६-२७ पर उद्धृत । इसी ग्रंथ का पृ. ६४ भी देखिए । डॉ. शास्त्री का मत है कि भर्तृहरि के विवर्त और रिणाम शब्दों का अर्थ त्रिकदर्शन के आभास शब्द से अधिक भिन्न नहीं हैं ।

५०. "यदाहु:" 'फलभेदादारोपितभेद पदार्थात्मा शक्ति:' इति, अतएव चास्या-व्यापारभेदात् भेदो येनानेकशक्तियोगी पदार्थ इत्युच्यते",... स्वत: पुनरेकैकस्या:शक्तेर्भेदो न युक्त: ... । जयरथ की वृत्ति तंत्रालोक, भाग ६,६२-६३

५१. वही, भाग १, पृ. १०९-११० ।

५२. "उक्तञ्च प्रत्यभिज्ञायाम् 'फलभेदादारोपितभेद: पदार्थात्मा शक्ति:' पदार्थानां प्रतिनियतरूपपरित्यागे प्रत्यवाये भीरूत्वात् ।" महार्थमंजरी-परिमल, पृ. ७४ ।

५३. प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान्विरूद्धान् यावत् अंगीकुरूते । (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ.९ ।

५४. सामूह्यं चैवतत्त्वानां ग्रामशब्दे न कीर्तितम् । त.१.८३, द्रष्टव्य टिप्पणी सं. ५३ ।

५५. जयरथ की वृत्ति, तंत्रालोक भाग ४, पृ. ३०-३१ ।

५६. "ततश्च..........पंचत्रिंशादपि तत्त्वानि कारणवासनानुवृत्तिद्वारा परिस्फुरन्ति इति अनया भङ्ग्या तत्र शिवतत्त्वे पृथिव्यादीनि सर्वाण्यपि सत्कार्यवादमर्यादा-वतिष्ठन्ते ।.........इति सर्वे सर्वात्मकम् इत्यर्थनिष्कर्ष: स्यात् ।" महार्थमंजरी-परिमल पृ. ६८ ।

५७. विज्ञानभैरव, पृ. ४७ (शिवोपाध्याय कृत उद्योत टीका) ।

बाह्य पदार्थों की अनुमेयता और अभिनवगुप्त

ईविंग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आइडियलिज्म : ए क्रिटिकल सर्वे' में एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है[1] कि ऐतिहासिक रूप से शायद यह कहना सही होगा कि प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) का पहले पहल विकास प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी[2] (रिप्रेजेन्टेटिव) सिद्धान्त से हुआ है। यह माना जाता था कि हमें भूत पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु उनसे जन्म लेने वाले विज्ञानों या प्रतिबिम्बों का प्रत्यक्ष होता है। तब से यह समस्या उठती रही है कि हमें यदि प्रारंभ से बाह्य पदार्थों का सीधा अनुभव न होकर केवल अपने विचारों या विज्ञानों का ही होता है तो फिर यह बताना कठिन है कि हम कैसे विज्ञान-सामग्री से बाह्य पदार्थों को निगमित कर सकते हैं। बर्कले और ह्यूम के दार्शनिक पल्ल्वन के पीछे संभवत: यही ऐतिहासिक आधार रहा है।

भारतीय दर्शन के विकास में भी ठीक एक ऐसा ही अध्याय हमें देखने को मिलता है। बौद्धों के सौत्रांतिक सम्प्रदाय के लिए बाह्य पदार्थों का अपना अस्तित्त्व है और उन्हें उनके ज्ञानगत प्रतिबिम्बों से जाना जा सकता है। स्वयं योगाचार सम्प्रदाय के विज्ञानवादियों को और काश्मीर दर्शन के आचार्यों को विशुद्ध विज्ञानतत्त्व की स्थापना में इन सौत्रांतिकों से गहरी और कठिन टक्कर लेनी पड़ी है। पदार्थ सत् और अनुमेय है, यह सौत्रांतिक मत है और इस मत को बाह्यार्थानुमेयवाद की संज्ञा दी गई है।

धर्मकीर्ति की 'न्यायबिन्दु' और उस पर धर्मोत्तर की प्रसिद्ध टीका के अतिरिक्त उत्पल की 'प्रत्यभिज्ञा कारिका' और उस पर अभिनवगुप्त की विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों में इस मत का विस्तृत उल्लेख मिलता है।[3] अभिनवगुप्त ने, जिनके विवेचन तक ही यह निबन्ध सीमित है, इस मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखा है। हम देखेंगे कि अभिनव की यह उपस्थापना मूल सौत्रांतिक विचारधारा का कितना सच्चा अनुयायी है, और जिन-जिन युक्तियों से अभिनव ने उनकी परीक्षा की है उनका दार्शनिक आधार क्या है?

सौत्रांतिकों की गिनती सर्वास्तिवादी बौद्धों में होती है। सौत्रांतिक सद्वादी (realist) हैं। बाह्य पदार्थों का अपना अस्तित्त्व है पर वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। इस दृष्टि से वे वैभाषिक बौद्धों से भिन्न हैं जो बाहरी वस्तु को प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं।[4] ज्ञान बाह्य वस्तुओं का कार्य है। ज्ञानकार्य के कारणरूप में बाह्य वस्तुओं का अनुमान होता है। इस प्रकार सौत्रांतिक प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त (रिप्रेजेन्टेटिव थ्योरी) के समर्थक हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बाह्य वस्तुओं को अनुमेय बना कर भी वह विज्ञानवाद में प्रवेश नहीं करता। बाह्यता की अनुभूति अनुमान का विशेष अंग होती है, उसको दूर नहीं किया जा सकता। बाह्यता विज्ञानों में नहीं किन्तु पदार्थों में है।[5]

विज्ञानवाद की आलोचना में मीमांसकों द्वारा प्रयुक्त इस तर्क का उपयोग सौत्रांतिकों ने भी किया है कि बाह्य पदार्थ को माने बिना विज्ञानों की विचित्रता और विविधता की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसके अनुसार बाह्य पदार्थ ज्ञान को जन्म देते हैं और उस पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं। फल यह होता है कि ज्ञान का आकार बाहरी वस्तु के आकार के समान रहता है विषयाकार और ज्ञानाकार के बीच का यह सारूप्य (कारेस्पॉन्डेन्स) ही सत्यता और प्रामाणिकता का नियामक है। इस दृष्टि से सौत्रांतिक की धारणा सत्य के सारूप्यवादी सिद्धान्त (कारेस्पॉन्डेन्स नोशन ऑफ ट्रूथ) के काफी निकट है।

प्रत्यक्ष का प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त प्रत्यक्ष सम्बन्धी कारणात्मक धारणा पर आधारित है। अर्थात् प्रत्यक्ष कार्य है और वस्तु कारण। देकार्त[६] और लॉक दोनों में इस बात को लेकर समानता है कि भूत पदार्थों का साक्षात् अनुभव संभव नहीं है, इनका अनुमान होता है।[७] विचार वस्तुओं के चिन्ह हैं और वे वस्तु का अनुमान कराते हैं।

अभिनवगुप्त ने सौत्रांतिक मत के उपस्थापन के लिए जो स्पष्टीकरण दिया है उसका मूल उनका तत्त्वदर्शन ही है। उनका लक्ष्य है संवित् (इंटेलिजेन्स) के परम सामर्थ्य को स्थापित करना जो समस्त क्रम, अक्रम, कार्यकारणभाव और विचित्र भेद भरी विश्वरूपता के लिए उत्तरदायी है। संवित् का यह वैचित्र्य अपना निजी है, यह बिना संदेह के तभी माना जा सकता है जब संवित् की विविधरूपता में सौत्रांतिकों द्वारा मान्य बाह्य पदार्थ रूप हेतु टूट जाय। इसी दृष्टि से अभिनवगुप्त का सारा विवेचन हुआ है।

सौत्रांतिक भी बोध या संवित् को अपने आप में एकरूप, अभिन्न मानता है। बोध या संवित् विचित्रता से परे है, इसलिए ज्ञान या बोध में होने वाली इस विचित्रता का कारण ढूँढना होगा। यह कारण ज्ञान में वस्तु के प्रतिबिम्ब को देने वाला है और उस प्रतिबिम्ब की ही जाति का है। प्रतिबिम्ब के कारण को बिम्ब कहते हैं और यह बिम्ब 'क' आदि रूप बाह्य वस्तु ही है, चूँकि इस बिम्बभूत कारणरूप बाह्य पदार्थ का ज्ञान प्रतिबिम्बरूप लिंग या हेतु (माइनर टर्म) से होता है इसलिए इसे अनुमेय या अनुमान का विषय कहते हैं। तब भी 'यह क है' यह अध्यवसाय प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। अत: 'यह क है'-ज्ञान को साधारण तौर पर प्रत्यक्ष कहते हैं। कारण यह है कि जो प्रमाण जिस विषय में जिस तरह से अध्यवसाय को जन्म देता है उसको वहाँ पर उसी तरह से ग्रहण करते हैं।[८] अर्थात् 'यह क है' ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से हो रहा है; इस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से हम क वस्तु का अनुमान करते हैं।

बाह्यार्थवादी के लिए पदार्थ संवित् से भिन्न है। 'क' का रूप आदि असंविद्रूप है, ज्ञानबाह्य है, तो फिर उसका ज्ञान नहीं होना चाहिये। पर 'यह क है, ख है' यह ज्ञान होता ही है। यदि क ख ज्ञानरूप हो तो हमें 'यह क है' के स्थान पर 'मैं क हूँ' की प्रतीति होनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि संवित् या ज्ञान में रूपान्तर नहीं होता। और यह अभिन्न बोध या ज्ञान कभी 'क' पदार्थ के ज्ञान के रूप में, कभी 'ख' के रूप में भासित होता है। ज्ञान की इस विविध भासनता में कोई कारण सामने नहीं है, क्योंकि कारणता सिद्धान्त की दृष्टि से कार्य-कारण के अभिन्न होने पर कार्य में भेद असंभव है। हेतु-भेद के आधीन ही कार्य-भेद रहता है, अत: कारण के अभाव में यह विविध ज्ञान आकस्मिक (ऐक्सिडेन्टल), अर्थात् बिना किसी आलम्बन के, उत्पन्न माने जाएँगे। कौन किस से उत्पन्न हुआ है, प्रत्यक्ष से इसका उत्तर मिलेगा नहीं।[१०] अत: यह ज्ञान बाह्य पदार्थ का अनुमान कराता है। बाह्यता पदार्थ के विशिष्ट धर्मों का संकेत करती है। विज्ञान का स्वभाव है ज्ञानाकारतया भासित होने वाली प्रतिबिम्बरूपता, और इस स्वभाव का सम्पादक है यह पदार्थ। प्रतिबिम्ब बिम्ब के सामन होता है, अत: यह ज्ञानाकार के सदृश भी है और साथ ही अत्यन्त भेदों से युक्त भी है।[११]

इससे यह सिद्ध है कि यह बाह्य[१२] चेतना का एक प्रकार (मोड) मात्र नहीं है, यह प्रदत्त है। यह प्रमाता से भिन्न है और अनात्म स्वभाव है। अनुमान के सिवाय इसे और किसी से जानने का उपाय नहीं है। यहाँ अनुमान का रूप है कि विज्ञान के अंदर रहने वाला 'क' आदि ज्ञान अपने जैसे हेतु की अपेक्षा करता है, क्योंकि यह प्रतिबिम्ब है, दर्पणगत प्रतिबिम्ब की भाँति। अत: 'क' ज्ञान के सदृश ही 'क' पदार्थ है, यह अनुमान से सिद्ध होता है। बाह्य अर्थ देश और काल के कारण भिन्न है, इसलिए उससे उत्पन्न आकार वाले संवेदन भी विभिन्न हैं।[१३]

यहाँ पर प्रमाणमीमांसा की तरफ से एक प्रश्न उठाया गया है- अनुमान उसीका होता है जिसकी व्याप्ति का ग्रहण हो चुका है। यहाँ बाह्य पदार्थ को अनुमान का विषय माना गया है। इस बाह्य को कभी

प्रत्यक्ष से तो देखा नहीं गया है, अत: इसकी व्याप्ति का ग्रहण भी नहीं हुआ है, यह मानना होगा। ऐसी स्थिति में इसका अनुमान कहाँ तक संगत है ? सौत्रांतिकों ने समझाया है[14] इन्द्रिय-अनुमान[15] को दृष्टान्त बना कर। पूरे भारतीय दर्शन में इन्द्रिय का ज्ञान अनुमान से माना गया है। क्योंकि ज्ञान के कारण (इन्स्टुमेन्ट) रूप से तो व्याप्ति का ग्रहण हुआ है अत: इन्द्रिय का अनुमान भी कारण मात्र के ही रूप में होता है, परन्तु व्यवहार में हमारा संकेत इन्द्रिय विशेष, आँख, कान आदि की ओर होता है, कारण यह है कि यह कारण तथा अनुमित इन्द्रिय अपने आधार के आग्रह से[16] विशेष का ही सहारा ढूँढती है। रंग के ज्ञान में जो अपने में रहने वाला (आत्मकर्त्ता) नियत कारण है वह आँख[17] है, उसी प्रकार यहाँ पदार्थ ग्रहण में भी आशय है। अर्थात् पदार्थ की व्याप्ति का ग्रहण ज्ञानाकारों के प्रति कारणरूप में होता है।

इस कारणानुमान में एक खास बात छिपी है। इन्द्रिय से जन्मने वाले प्रत्यक्ष संवेदनरूप ज्ञानों का इन्द्रिय सचमुच कारण है, न कि विषय। क्योंकि उन ज्ञानों द्वारा 'इन्द्रिय देखता हूँ' यह अध्यवसाय नहीं देखा जाता। इन्द्रिय अनुमान का ही विषय है क्योंकि उस अध्यवसाय (रूपाध्यवसाय) से ही इसका भी अध्यवसाय होता है।

यदि यह मान भी लिया जाय तो जिसका पहले ग्रहण नहीं हुआ उसका आँखों देखे रूप में अध्यवसाय कैसे होता है ? कहते हैं, यह बात सारूप्य (कारेस्पॉन्डेन्स) के कारण संभव होती है। ज्ञान के अन्दर रहने वाले 'क' आदि का देश-काल के साथ-साथ चलने वाला जितना कुछ भी स्वरूप-वैचित्र्य है उतना ही सारे का सारा उसके समर्पक कारण का भी। इससे ज्ञान का आकार विषयक अध्यवसाय उत्पन्न होता है। 'देखता हूँ' इस प्रकार के अध्यवसाय का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है[18] पर अनुमान का व्यापार मूल कारणभूत, आकारों के अर्पक और उन आकारों के समान वस्तु में होता है। यदि इस अध्यवसाय से बाह्य पदार्थ का अनुमान न हो तो बाह्यता के अध्यवसाय में प्रमाण का कोई फल न होगा और यदि बाह्यवस्तु का ग्रहण न हो तो मृग-मरीचिका की जगह भी जल का अध्यवसाय होगा। किन्तु उसके विषय जल का ग्रहण न होने पर वह अध्यवसाय अप्रामाणिक होगा। यदि अध्यवसाय न हुआ तो प्रतिबिम्ब रूप हेतु बाहरी पदार्थ को सिद्ध न कर सकेगा। फलत: प्रत्यक्ष से देखे गए किसी भी पदार्थ से लौकिक व्यवहार संभव न हो पाएगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसे ज्ञानों में इन्द्रिय के उपयोग के कारण उसका अनुमान होता है वैसे ही बाह्य विषय का अनुमान होता है, और इस बात तक हम अध्यवसाय के द्वारा पहुँचते हैं। इस प्रकार सौत्रांतिक की दृष्टि में विषयता का ज्ञान चेतना के प्रकारों से निगमित नहीं किया जा सकता। संवेदन विषय (कान्टेन्ट) का अनुभव है, इससे विषय और संवेदन की एकात्मता की सिद्धि नहीं होती।

स्वाभाविक है कि अद्वैतवादी अभिनव को यह तर्क रूचिकर नहीं लगते। पदार्थ है पर उसका संवित् से अलग व्यक्तित्व नहीं है। बाह्यता उस संवित् की अभिव्यक्ति की एक विधा मात्र है। इस दृष्टि से अभिनव ने सौत्रांतिक विचारधारा के विरूद्ध जो मुख्य अपत्तियाँ उठाई हैं उन्हें हम क्रम से देखेंगे।

सौत्रांतिक के तर्कों का मूल स्वर है कि बाह्य वस्तु को माने बिना हमारे साधारण व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती। किन्तु देखा जाए तो अनुमान-सिद्ध बाहरी पदार्थों से भी कोई मतलब सिद्ध नहीं होता। सौत्रांतिक द्वारा अर्थप्रतिबिम्बरूप में कल्पित वस्तुओं से ही व्यवहार चल जाता है।[20] हमेशा वस्तु का अनुमान करके व्यवहार नहीं होता, अत: व्यवहार के लिए अनुमेय बाह्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती।[21] प्रमाण का कार्य है वस्तु का प्रकाशन। यदि वस्तु ज्ञान से भिन्न है तो उसकी अनुमेयता का अर्थ है[22] कि उसका प्रकाशन नहीं होता।[23] इसी प्रसंग में एक बात और कही जा सकती है। व्यावहारिक प्रयोजन, जिसे अर्थक्रिया कहते हैं, की सिद्धि की दृष्टि से भी सौत्रांतिक बाह्य पदार्थ की कल्पना करता है, परन्तु स्वयं यह अर्थक्रिया भी व्यवहार के समय प्रतिबिम्ब के रूप में ही जानी जा सकती है। वह अर्थक्रिया भी ज्ञानाकार है, इससे बाह्य सिद्ध नहीं होता है।[24]

अभिनव का दूसरा तर्क करीब-करीब सभी प्रत्ययवादी विचारकों से मिलता है। अन्तर इतना है कि अभिनव संवित् (इन्टेलिजेन्स) को स्वातंत्र्य रूप मानते हैं। यह उस संवित् का स्वातंत्र्य है जो अन्तस्थ भावों को बाहरी रूप से भासित करता है। इसीसे बाहर आभासित होकर भी संवित् से बाहरी पदार्थों की एकता सुरक्षित रहती है क्योंकि बाह्यता का अर्थ पृथक् होना न होकर केवल पृथक् रूप से भासित होना है। हम देखते हैं कि बाह्य विषय में भी चेतना का अंश होता है, वह भी संवित् का अंश है। यह एकात्मता हमारी साक्षात् प्रतीति का अंग भी है। हमारे अनुभव का आकार क्या है, यही तो कि 'क है' या 'क का भाव हो रहा है' ? यहाँ पर 'क', जिसे हम ज्ञान द्वारा विषय कर रहे हैं, उस ज्ञान से अधिक तो कुछ भी नहीं है, अत: प्रत्यक्ष से भी व्यावहारिक विषयों की बाह्यता प्रमाणित नहीं होती।[२५]

सौत्रांतिक के लिए किसी विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति उस प्रमाण से उत्पन्न अध्यवसाय पर निर्भर करती है। 'यह क है' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य अध्यवसाय पर आधारित है, पर यह बात भी कसौटी पर नहीं टिकती। प्रत्यक्ष की अध्यवसाय सापेक्षता का मतलब यह है- क-रूप स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष का व्यवहार होता है और यह व्यवहार विकल्पमूलक है, अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान का अध्यवसाय होता है, प्रत्यक्षविषय का नहीं। विषय का ग्रहण हुआ नहीं है, अत: अगृहीत विषय (क रूप वस्तु) का गृहीत रूप में अध्यवसाय कराने के कारण प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता ढह पड़ती है।[२६]

अभिनव की चौथी और सबसे महत्त्वपूर्ण युक्ति है कि बाह्य पदार्थ की सिद्धि में एक तो अनुमान व्यापार की संभावना नहीं है और अगर किसी तरह अनुमान की प्रवृत्ति हो भी जाय तो वह बाह्य पदार्थ की सिद्धि नहीं करता।[२७] इस प्रकार प्रत्यक्ष या अनुमान किसी से संवित्-भिन्न बाह्य पदार्थ की सिद्धि नहीं होती।[२८] अभिनव का कहना है कि पदार्थ की अनुमेयता का सवाल दर्शन की एक दूसरी अधिक मौलिक समस्या से गुँथा हुआ है। समस्या का रूप है-ज्ञान के सम्बन्ध में वस्तु का स्वरूप और स्थान क्या है ? यह सारी बहस संवित् और पदार्थ-वैचित्र्य के आपसी सम्बन्ध को लेकर हैं। हम दो प्रकार की चीजें देखते हैं-एक तो हम दर्पण में प्रतिबिम्बित घट को देखते हैं, अर्थात् प्रतिबिम्ब किसी सदृशात्मक की छाया है। यही सम्बन्ध संवित् और उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ का है। अर्थात् वस्तु की अपनी सत्ता है और वह ज्ञान के आश्रित नहीं है, और दूसरे कुछ अपनी शक्ति से उल्लसित होता है, जैसे स्वप्न में। स्वप्न और स्वप्नगत पदार्थ की तरह संवित् और उसका विषय एक रूप है। अत: हमें निश्चय करना होगा कि हमारे ज्ञान में आने वाला यह सारा पदार्थ-जगत् अपने से भिन्न किन्तु सदृश पदार्थ के संक्रमण के कारण है या स्वप्न की तरह से अपने बोध स्वातंत्र्य से उल्लसित हुआ है ?[२९]

एतदर्थ हम परीक्षा करेंगे कि अनुमान हमें किस निश्चय पर पहुँचता है। इस बात में सब एकमत हैं कि अनुमान विकल्प रूप होता है और विकल्प वही होता है जिसका अनुभव हो चुका है। प्रश्न है कि क्या इन्द्रिय-अनुमान में पहले अनुभव हो चुका है ? इसे मानना ही होगा, क्योंकि इन्द्रिय का अनुमान हम विशेष रूप से न करके प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण सामान्यरूप से करते हैं। कारणता का सामान्य प्रत्यक्ष हमें बीज से अंकुर और मिट्टी से घट आदि स्थलों में पहले हो चुका है। यहाँ बीज या मिट्टी का ग्रहण विशुद्ध कारणरूप में होता है। अनुमान एक प्रकार का विकल्प व्यापार ही है। वस्तु का अनुमान ठीक वैसा होगा जैसाकि विकल्प से उस वस्तु का सम्बन्ध है, अर्थात् सामान्य या विशेष जिस तरह से उसका अनुभव हुआ है। इन्द्रिय का अनुमान उपलब्धि के कारण रूप में होता है और कारणता का ग्रहण प्रत्यक्ष से हो चुका है, अत: सामान्य तौर पर इन्द्रिय का पूर्व अनुभव हो चुका है, इसलिए सामान्य साधन से ही उसका अनुमान भी होता है। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ (न पाया जाना) से कार्यकारण भाव की सिद्धि करते हैं। 'मिट्टी का घड़ा' प्रत्यय में जो जिसका नियमित रूप से अनुविधान करता है वह उसका कारण है। इस प्रकार कारण सामान्य अवभात ही है। इससे वस्तु के रंग और रूप का ज्ञान जिसका नियम पूर्वक

अनुविधान करता है वह आँख है। इस प्रकार कारण भाव पूर्वक ही प्रमाण का ग्रहण होता है। अत: इसका सामान्यतो दृष्ट (सामान्य रूप से देखा गया) नाम उचित है।[३०]

एक क्षण के लिए हम यहाँ रूकेंगे। इस स्थापना में सौत्रांतिक की एक और आलोचना छिपी है। हर वस्तु का प्रत्यक्ष या अनुभव सामान्य या विशेष ढंग से होता है, दूसरे शब्दों में हर चीज, जिसका कुछ भी नाम है या दिया जा सकता है, प्रत्यक्ष का विषय है। भास्कर ने यहाँ पर संकेत किया है कि स्वलक्षण का, वस्तु के असाधारण स्वभाव का, प्रत्यक्ष तो बौद्ध मानते ही हैं[३१] हाँ, स्फुट बोध में विकल्प अवश्य आते हैं। अत: पदार्थ अनुमेय हैं, यह प्रतिज्ञा खंडित हो जाती है।

इसी प्रसंग में अभिनव ने बौद्धों पर एक कटाक्ष भी किया है। सौत्रांतिक यह मानते हैं कि विकल्प वस्तु के स्वरूप को नहीं छूते।[३२] किन्तु सौत्रांतिक विकल्प से केवल पर बाह्य वस्तु की सिद्धि करना चाहता है। उसके लिए अध्यवसाय का विषय वस्तु का ज्ञान है न कि वस्तु, वस्तु तो अनुमेय है। पर अनुमान विकल्प रूप है अत: बाह्य वस्तु के स्वरूप का बोध अनुमान से हो ही नहीं सकता। सौत्रांतिक का अपना सिद्धान्त ही उसे काट बैठा है।[३३] अभिनव मानते हैं कि अध्यवसाय का विषय केवल ज्ञान ही नहीं अपितु ज्ञान में भासित होने वाला विषय भी है।[३४] अत: उसे अनुमान से जानने की आवश्यकता रह नहीं जाती। सहज ही कहा जा सकता है कि यदि अनुमान-विकल्प बाह्य पदार्थों को छूता भी नहीं तो बाह्य पदार्थ को अनुमानगम्य मान भी लिया जाय तो वह अनुमिति या ज्ञान से एकरूप रहकर ही उभरता है। उस समय अनुमेय होकर भी वह बाह्य नहीं रहता।

अभिनव गुप्त ने बाह्यानुमेयवाद की जड़ पर ही चोट की है। दर्पणगत प्रतिबिम्ब का बाहरी बिम्ब सिद्ध रहता है, क्योंकि उसका सदृश हेतु हमारे अनुभव का विषय है। इस दृष्टांत को लेकर सौत्रांतिक ने ज्ञानों या ज्ञानाकारों के कारणरूप में बाह्य पदार्थ की अनुमानसिद्धि की है, पर यह दृष्टांत ही गलत है। वहाँ कौन क्या अर्पित करता है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; दूसरे, सदृश हेतु के बिना ज्ञानाकार का जन्म नहीं होता, यह सिद्धान्त स्वप्न और द्विचंद्र (आँख के दबाने पर दो चाँदों का दिखाई पड़ना) जैसी घटनाओं की व्याख्या नहीं कर पाता। इसके अलावा, विषय का आकार ज्ञान के आकार का कारण माना जाता है। यदि यह सही है तो यह भी कहना उचित होगा कि गजाकार के कारण दर्पण भी गजाकार हो जाता है।[३५] और चूँकि बौद्ध अपनी जैसी (आत्म सदृश) सन्तान की अनुवृत्ति मानता है इससे गज के हट जाने पर भी दर्पण की गजाकारता बनी रहेगी। इसी से यह कहना अनुचित न होगा कि उस उदाहरण में पारमार्थिक कारणता न होकर बिम्ब-प्रतिबिम्ब का व्यवहार भर है।[३६] यह भ्रम है वस्तु सत्य नहीं, पर सौत्रांतिक के लिए ज्ञानाकार और विषयाकार में कारणता इसी दृष्टांत से सिद्ध की जाती है।

परन्तु दृष्टांत के निर्दोष न होने पर भी बाह्यार्थानुमेयवाद में ज्ञान और विषय में कारणता-सम्बन्ध तो रहता ही है। इसीलिए पदार्थ ज्ञान की अपेक्षा पहले या पूर्वकालिक होता है। जिसे हम पदार्थ की प्रमेयता कहते हैं वह ज्ञानाकार को जन्म देने में समर्थ कारणता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[३७] पर देखा जाए तो यह निर्णय प्रमाणसम्मत नहीं। ज्ञान-विषय और ज्ञान में कालभेद नहीं होता, क्योंकि 'मैं यह जान रहा हूँ' यह अध्यवसाय एक समय में ही हो सकता है। अत: यह कहना निस्सार है कि बाह्य आकार का प्रत्यक्षतया अध्यवसाय होता है और उस अध्यवसाय के आधार पर बाह्य सिद्ध है, क्योंकि इन दो क्षणों (विषय या कारण-क्षण और ज्ञान या कार्य-क्षण) में विषय क्षण, जो हेतु है, उस ज्ञान के सदृश है; यह बात नहीं सधती। दर्पण प्रतिबिम्ब में हमें बिम्ब भी उपलब्ध है- दोनों के सादृश्य से यही निश्चित होता है। पर यहाँ ज्ञानाकार में तो बिम्ब के कुलशील का पता भी नहीं है तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब में सादृश्यता का निर्धारण कैसे होगा। अतएव यदि अनुमान के पहले प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो तो संवेदकता के क्रम में

अनुमान को बाद में रखा जा सकता है। यहाँ ऐसी स्थिति तो है नहीं। अत: बाह्य पदार्थ अनुमेय है, यह चल नहीं पाता।

और यदि बिम्ब-प्रतिबिम्ब या ज्ञानाकार और विषयाकार जैसे एक ही चीज के दो आभास न माने जाएँ तब भी बाह्य प्रत्यक्षगम्य होगा अनुमानगम्य नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है-'देखता हूँ' या 'क' को देखता हूँ-यहाँ एक ही 'क' प्रत्यक्ष का विषय हैं, वही बाह्य है। दूसरे ज्ञान भिन्न क की खोज से कोई लाभदायक फल निकलने का नहीं। दूसरे शब्दों में 'क' रूप एक ही है। यह ज्ञानवर्ती है अत: ज्ञान से अलग रूप में वह भास नहीं सकता। यह ज्ञान से अभिन्न है। इसलिए दर्पणगत आकार की भाँति उसका समर्पक दूसरा आकार आभासिक नहीं होता।[३८]

यद्यपि अनुमान विकल्प रूप है, फिर भी यह एक विशेष प्रकार का विकल्प है। अभिनव ने अनुमान की परिभाषा करते हुए कहा है कि देश और काल से विशिष्ट प्रवृत्तियोग्य अर्थ के सम्बन्ध में प्रमाण का जो अविसंवादी विकल्परूप व्यापार है वही अनुमान है।[३९] इसीलिए 'घड़ा', 'दस अनार', 'वह रस', 'नदी किनारे', 'जहाँ धुआँ है' आदि विकल्प प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे प्रवृत्तियोग्य विषय के सम्बन्ध में नहीं हैं। अनुमान इस तरह के विकल्पों से भिन्न है। इस भेद का कारण है उसका व्याप्ति पर आश्रित होना। व्याप्ति का रूप है "जहाँ धुआँ है वहाँ आग है"। पर्वत में जिस आग की संभावना की गयी है वह उस व्यक्ति के द्वारा स्वीकृत है क्योंकि व्याप्ति का ग्रहण हमेशा सामान्यरूप से होता है। पहाड़ पर इस व्याप्ति से विशिष्ट आग की सिद्धि होती है। सौत्रांतिक को शंका हो सकती है कि इस प्रकार अनुमान का विषय विशेष हो सकता है, सामान्य नहीं। अत: इन्द्रिय का सामान्य रूप से अनुमान संभव नहीं। अभिनव इन्द्रिय का कारण-सामान्य के रूप में अनुमान मानते हैं। इसकी स्थापना में उन्होंने सौत्रांतिकों के ही तर्क का उनके विरूद्ध प्रयोग किया है। इन्द्रिय के सामान्य रूप से अनुमान करने में कोई कठिनाई खड़ी नहीं होती। क्योंकि अन्वय व्यतिरेक के उपरान्त पक्षधर्मता नाम का अनुमान अनुमिति का एक तीसरा अंग भी है। वह वर्तमान प्रत्यक्ष से ज्ञात है। इस प्रत्यक्ष से अनुगृहीत व्याप्ति विशेष को अनुमान का विषय नहीं बनाती क्योंकि यह विशेषांश प्रत्यक्ष से सिद्ध है और व्याप्ति में आधाराधेय भाव का 'जहाँ जहाँ, वहाँ वहाँ' स्फुरण होता है।

इस प्रकार अभिनव के लिए सब कुछ संवित् से एकरूप है। एकरूपता में कार्यकारण भाव नहीं पलता। संवित् और जड़ पदार्थ में यही अन्तर है कि उसके प्रकाश की सीमा नहीं है, वह 'क' के रूप में भी भासित होती है और 'ख' के रूप में भी। पदार्थों में भेद या कारणता उस संवित् की अभिव्यक्ति है।[४०] अत: बाह्य का अर्थ है संवित्-बाह्य, और वह एक असंभावना है। अत: पदार्थ आन्तरिक है। सौत्रांतिक की बाह्य वस्तु का निषेध कर लेने के कारण शैव चिन्तक के लिए बाहरी विषयों की आन्तरिकता और संवित् से अभिन्नता का अभ्युपगम सरल हो जाता है और ज्ञानगत भेद की व्याख्या के लिए हमें संवित् से दूर नहीं जाना पड़ता।

वस्तुत: सौत्रांतिक और शिवाद्वैती का यह विचार-भेद उनके दार्शनिक मूलाधार में ही विभेद का संकेत करता है। शैव मत में एक परम सत्य का ही अस्तित्त्व है, सारा पदार्थ जगत् उसी संवित् से स्फुरित होता है, अत: संवित् से पृथक् उसे स्वीकार करने का अर्थ होगा आत्मघात करना। सौत्रांतिक बाह्यास्तित्त्ववादी हैं। बाह्य जगत् में विश्वास करने का अर्थ है कि बाह्य वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्त्व माना जाए, अन्यथा ज्ञान और वस्तु के विशिष्ट धर्मों का संकेत नहीं किया जा सकता।

और यदि बाह्य वस्तु है तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसका अनुमान करना होगा। इसके दो कारण हैं-

(१) पदार्थों का निर्माण उन अंशों से होता हे जो परिवर्तमान हैं। यदि घटक तत्त्व परिवर्तमान है और

प्रत्यक्ष 'दत्त' है तो वस्तु का पूर्ण प्रत्यक्ष न होकर केवल उसके प्रकार मात्र का या अवस्था विशेष का ही प्रत्यक्ष हो पाएगा। परन्तु हम वस्तु, उदाहरण के लिए पुस्तक, को सत्य मानते हैं। सत्यता का आधार अनुमान है। जब तक आप प्रत्यक्ष करेंगे समय के कारण वस्तु बदल चुकेगी, अत: वस्तु यद्यपि है तब भी उसके अस्तित्त्व की सूचना अनुमान से ही मिलती है।

इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। जब हम एक पदार्थ को देखते हैं तो क्या यह पूर्णत: 'दत्त' है ? निश्चय ही इसकी प्रतिमा (इमेज) भी वहाँ होती है। अतएव जब एक पुस्तक का ज्ञान होता है तो पूर्णत: प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं अपितु अनुमान के द्वारा भी, क्योंकि इसके स्मरणात्मक और प्रतिबिम्बवादी (रिप्रेजेन्टेटिव) पहलू केवल अनुमित ही किए जा सकते हैं। प्रत्यक्ष केवल 'दत्त' हो सकता है, अत: कोई भी प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष में सविकल्पकात्मकता का अंश अनेक परवर्ती तत्त्वों की देन है।

शैव विवेचन में इस मनोवैज्ञानिक कमी को दार्शनिक प्रौढ़ता के द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ प्रश्न का रूप ही बदल जाता है वस्तु का वस्तुत्व प्रकाश से ही संभव हो पाता है। यह प्रकाश संवित् से एक है, अत: वस्तु बाह्य रहते हुए भी अंतस्थ है, संविदाधारित है। अत: प्रत्यक्ष हो या अनुमान कोई भी उसकी बाह्यता का उपपादन नहीं कर पाता। यहाँ मनोवैज्ञानिक कठिनाई खड़ी ही नहीं होती है।

***

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

१. *'आइडियलिज्म एण्ड थ्योरी ऑफ् परसेप्शन' नामक अध्याय; पृ.२६४।*

२. *यहाँ पर 'प्रतिबिम्बवाद'शब्द का प्रयोग 'रिप्रेजेन्टेशनिज्म' के लिए हुआ है। यह शब्द नया नहीं है और स्वयं भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में इसका प्रयोग भिन्न अर्थों में हुआ है। परन्तु सौत्रांतिकों के मत को प्रस्तुत करते समय अभिनवगुप्त ने इसी शब्द का प्रयोग किया है।*

३. *डॉ. जदुनाथ सिन्हा ने अपनी 'इंडियन-रियलिज्म' में सर्वदर्शन संग्रह के तर्कों का संग्रह किया है (देखिए 'सौत्रांतिक रियलिज्म' नामक अध्याय)। इस दृष्टि से अभिनव के उपस्थापन और खंडन का अपना महत्त्व है।*

४. *अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।*
सौत्रांतिक प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्गत:। सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्शन नामक अध्याय, भा.२, पृ.६४६।

५. *देखिए, भरतसिंह उपाध्याय कृत 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन'।*

६. *देकार्त भूत पदार्थ की मन से पृथक् सत्ता को स्वीकार करता है।*

७. *तुलना कीजिए- "एक ओर एक पदार्थ है- मन, और दूसरी ओर दूसरा-भूत द्रव्य। बाद वाला पहले में एक कार्य को जन्म देता है। यही संवेदन है, और चूँकि यह एक कार्य है इसलिए यह निष्कर्ष अनिवार्य रूप से निकलता है कि इसका कारण है। अतएव वस्तु का भाव एक अनुमान है।"-हैसन कृत 'रियलिज्म' पृ.६३, डॉ. सिन्हा द्वारा उद्धृत। और भी मिलाइये। बर्कले भी एक स्थान पर स्वीकार करता है-"यद्यपि मन के बिना विचारों का अस्तित्त्व नहीं होता फिर भी तत्सदृश वस्तुएँ तो होती ही हैं जिनके सदृश वे विचार होते हैं। ये वस्तुएँ वे हैं जो अचेतन द्रव्य में मन के बिना भी वर्तमान हैं।" वर्कले, 'प्रिंसिपल्स ऑफ् ह्यूमन नॉलेज" पृ.३८।*

८. *ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, (काश्मीर संस्करण), भाग १,पृ.१६४।*

९. *भास्करी, (डा. के.सी पांडेय द्वारा संपादित), भाग १,पृ.२१०।*

१०. *ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १,पृ. १६६।*

११. *"बाह्या:... विषय व्यवस्थानियतस्वभावानां बोधानां क्रमेण...एक सामग्रीरूपतानुपातेन हेतवो भविष्यन्ति।... तेन यदाह आचार्य धर्मोत्तर:-अनुभवसिद्धो बाह्यस्य भेद:,यस्तु अभेद: स तत्रानुभवमात्रेणज्ञानस्य सदृशात्मना। भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्म प्रविभज्यते। इति युक्तिबलेन व्यवस्थाप्यमानोऽनानुभविक इति।" ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, भाग २, पृ.८३।*

१२. *बाह्य के अंतर्गत केवल ज्ञानबाह्य नहीं अपितु ज्ञात बाह्य होने पर भी जो अर्थ क्रियाकारी है वह बाह्य है।*

१३. *तुलना कीजिए- "न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता तस्य सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेत्" सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्ध दर्शन नामक अध्याय।*

१४. *ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भाग २, पृ८३।*

१५. ज्ञानेन्द्रिय का अनुमान।

१६. पारिभाषिक शब्दावली में कहेंगे 'पक्षधर्मता के बल पर', देखिए ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिनी, भाग २, ९०। पक्षधर्मता है-हेतु का पक्ष में रहना। पक्ष कहते हैं जहाँ पर साध्य की सिद्धि की जाती है। जैसे 'पर्वत पर धुआँ है, क्योंकि वहाँ आग है' में पर्वत पक्ष है और वहाँ पर आग का होना पक्षधर्मता है। देखिए झलकीकर और अभ्यंकर द्वारा संपादित न्यायकोश, पृ.४५३,४५५।

१७. वस्तु के रूप अर्थात् रंग ज्ञान में आँख, शब्द के सुनने में कान आदि कारण हैं।

१८. 'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणाम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति।' धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु, प्रथमपरिच्छेद। पदार्थ के साथ ज्ञान का सारूप्य प्रमा का साधन या प्रमाण है। जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है उस विषय के सदृश ही वह ज्ञान होता है। सारूप्य को इसलिए प्रमाण माना जाता है क्योंकि उसी के सामर्थ्य से वस्तुबोध संभव हो पाता है। अर्थ प्रतीतिरूप प्रत्यक्षविज्ञान सारूप्य के कारण प्रतीत होता है। देखिए धर्मोत्तर की टीका।

१९. "अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता"
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे सममियम्॥" अभिनव द्वारा उद्धृत।

२०. भास्करी, भाग १,पृ.२२२।

२१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १, पृ. १७८।

२२. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी, भाग २,पृ.१३०।

२३. 'प्रज्ञालंकार के कर्ता शंकरनन्दन से प्रभाव लेकर अभिनव ने अनेक गौण आपत्तियाँ भी उठाई हैं; देखिए ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १,१८१। परन्तु उनके द्वारा मीमांसक, नैय्रायिक आदि बाह्यवादियों का भी खंडन हुआ है। वे तर्क बाह्य पदार्थ की अनुमेयता से अधिक संबंद्ध न होकर उसकी सिद्धि से संबंधित है। विषयान्तर के भय से उनकी ओर संकेत नहीं किया गया है।'

२४. "अर्थक्रियापि च आभासमानतयैव अभिलषणीया इति साऽपि आभास - विश्रान्ता इति ततोऽपि न बाह्यसिद्धिः यथा च भट्टः 'आभासपरम्परामेव व्यवहारोपकरणभूतामवादीत्।"ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १६२।

२५. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग १, पृ. १८७।

२६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १५७।

२७. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भाग १, पृ. १८७।

२८. वही, पृ.१९१।

२९. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १५५।

३०. सौत्रांतिक और अभिनव दोनों ही इन्द्रिय को अनुमान का विषय मानते हैं। पर सौत्रांतिक इस अनुमान को जिस व्याप्ति से गृहीत मानते हैं वह प्रत्यक्षगृहीत नहीं है ; अभिनव के लिए वहाँ व्याप्ति प्रत्यक्षगृहीत है।

३१. भास्करी, भाग १, पृ. २३३।

३२. धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष के द्वारा केवल स्वलक्षण वस्तु को, अर्थात् वस्तु के असाधारण स्वभाव को, जाना जा सकता है। यही वास्तविक रूप में सत् है। इसीलिए बौद्धों के यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही स्वीकार किया गया है, पर उससे व्यवहार संभव नहीं है। अतः दूसरा विषय, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में सामान्यलक्षण कहा गया है, विकल्पज्ञान का विषय है। सामान्यलक्षण का अर्थ है दूसरी वस्तुओं से समान स्वभाव वाला। यह अनुमान से जाना जाता है। तुलना कीजिए-तस्य विषयः स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थ सत्।

३३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १, पृ. १९०-१९१।

३४. उत्पलकृत प्रत्यभिज्ञा कारिका १.३.५.।

३५. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग १, पृ. १९१।

३६. अभिनव का यह तर्क जोरदार नहीं है। सौत्रांतिक के लिए गज का आकार दर्पण के आकार का नहीं, दर्पण में पड़ने वाले गज प्रतिबिम्ब के आकार का नियामक है।

३७. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी, भाग २, पृ. १५८।

३८. 'भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद्ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥' अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत; वही पृ. १५९

३९. वही।

४०. वही, पृ.१६२।

परिच्छेद : नौ

रामजी सिंह

रामजी सिंह

प्रसिद्ध गाँधीवादी विचारक प्रो. रामजी सिंह का जन्म (१९३१) मुंगेर (बिहार) के जमालपुर (इन्दरूख) अंचल में हुआ। इनकी प्रारम्भिक और स्नातक पर्यन्त शिक्षा मुंगेर में ही सम्पन्न हुई। स्नातकोत्तर (दर्शनशास्त्र) एवं पी-एच.डी. की उपाधि इन्होंने पटना विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। इन्हें दर्शनशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र जैसे दो-दो विषयों में डी. लिट् की भी उपाधि प्राप्त करने का श्रेय प्राप्त है। मुंगेर के आंचलिक महाविद्यालयों से अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत करने वाले प्रो. सिंह १९६६ से १९६९ तक लोकसभा के सदस्य; १९८० से १९९३ तक दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष; १९९२ से १९९४ तक जैन विश्वभारती, लाडनू के कुलपति; १९९४ से १९९६ तक गाँधी अध्ययन संस्थान-राजघाट, वाराणसी के निदेशक; इत्यादि महत्त्वपूर्ण दायित्व के पदों पर रहते हुए अपने अकादमिक जीवन को उल्लेखनीय उत्कर्ष प्रदान किया है। इसी अन्तराल में उन्होंने इण्डियन सोसायटी ऑफ गाँधीयन स्टडीज (१९९१-९५), अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (१९८९-९४) तथा फेडरेशन ऑफ बिहार यूनिवर्सिटी टीचर्स एसोसियेशन (१९८९-९४) इत्यादि संगठनों एवं संस्थाओं का अध्यक्षीय कार्यभार भी सम्भाला है। इसके अतिरिक्त प्रो. सिंह भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, रॉयल इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी-लंदन; माइण्ड एसोसियेशन-ऑक्सफोर्ड इत्यादि संस्थाओं के सदस्य भी रहे हैं और अनेकों सरकारी एवं गैरसरकारी समितियों के सदस्य रूप में भी इन्हें नामित किया जाता रहा है। इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण अवसरों पर अमेरिका, जापान, इटली, फ्रांस, आदि देशों की अकादमिक यात्रायें भी किया है और 'वर्ल्ड पार्लियामेन्ट ऑफ रिलिजन्स-शिकागो (१९९३)', 'वर्ल्ड फिलॉसफी काँग्रेस (१९८८ एवं १९९२), ईस्ट-वेस्ट फिलॉसफिकल मीट, हवाई (१९९५) इत्यादि सम्मेलनों में भाग लेकर भारतीय विद्वानों का प्रतिनिधित्व किया है। सम्प्रति प्रो. सिंह एफ्रो एशियन फिलॉसफिकल ऐसोसियेशन के उपाध्यक्ष, बिहार सर्वोदय मण्डल के अध्यक्ष एवं विक्रमशिला हिन्दी विद्यापीठ (भागलपुर) के कुलाधिपति हैं। इन्होंने छोटे-बड़े अनेकों ग्रन्थों की रचना, सम्पादन एवं अनुवाद किया है। उनमें से कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ—गाँधी दर्शन मीमांसा, गाँधी विचार, समाजदर्शन का मूलतत्त्व, भारतीय दर्शन और चिन्तन, जैन कॉन्सेप्ट ऑफ ओमनिसियेन्स, रेलिवेन्स ऑफ गाँधीयन थॉट, डायमेन्शन्स ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड कल्चर इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त भी गाँधी वाङ्मय पर इनकी दर्जनों कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। प्रो. सिंह का अकादमिक जीवन कई मायने में अनुकरणीय है। प्राप्त की सम्यक् रक्षा एवं अप्राप्त की निरन्तर पर्येषणा में प्रगति के उर्ध्वधर पथ पर उद्यम करते हुए इन्होंने अपने को शिखर पर स्थापित किया परन्तु राज वैभव के बीच भी गाँधी जी के सादगी-विलास को कभी नहीं छोड़ा। इसी संकल्प पथ पर उनकी सम्पूर्ण मेधा गाँधी वाङ्मय को आज भी समर्पित है।

※

''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' में 'अथ' शब्द का अर्थ

प्राक्कथन :- 'अथ' शब्द के अनेक अर्थ किये जा सकते हैं : मंगलसूचक, आरम्भ वाचक, प्रश्न बोधक, आनन्त्यार्थक, कात्स्न्र्यबोधक आदि। यहाँ हमें इतना ही विचारना है कि प्रस्तुत सूत्र[१] के संदर्भ में कौनसा अर्थ अभीष्ट होगा और उसका दार्शनिक महत्त्व क्या है ?

१-१- मंगलसूचक अर्थ का विश्लेषण :- सामान्यत: 'अथ' एवं 'ऊँ' शब्द शास्त्रारम्भ में मंगल के लिए प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु इस सूत्र में 'अथ' शब्द का मंगल वाचक अर्थ नहीं लिया जा सकता है, क्योंकि मंगल का कर्तृत्व रूप या अन्य किसी प्रकार से अन्वय नहीं किया जा सकता।[२] वाक्य के अर्थ एवं संदर्भ में शब्द का अर्थ-निरूपण होता है लेकिन यहाँ 'अथ' शब्द का वाचक या लाक्षणिक कोई भी अर्थ मंगलसूचक नहीं लगाया जा सकता है। अत: वाक्यारम्भ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द मंगल-सूचक नहीं होगा। हाँ, यह कहा जाय कि भले ही वाक्य के अर्थ और संदर्भ में अथ शब्द का अर्थ ऐसा नहीं है किन्तु इस शब्द के उच्चारण एवं श्रवणमात्र से मंगल का बोध हो जाता है, क्योंकि अपने शास्त्रकार 'अथ' एवं 'ऊँ' शब्दों को ब्रह्मा जी के कंठ से निकला हुआ मानने से मांगलिक मानते हैं[३]। लेकिन यह तभी होगा जब हम 'अथ' शब्द को आनन्तर्य या अर्थान्तर[४] के अर्थ में लें, जिस प्रकार जलकुंभ के दर्शन मात्र से ही मंगल का बोध होता है। आचार्य बलदेव[५] तो 'अथ' शब्द का विघ्न निवारक एवं मंगलवाचक अर्थ इसलिये भी नहीं मानते कि ब्रह्मसूत्रकार व्यास स्वयं नारायण के रूप हैं, अत: उनकी कृति में विघ्न आदि कहाँ होंगे। खैर, यह बात तार्किक दृष्टि से स्वीकार नहीं की जा सकती।

१-२- आरम्भ वाचक अर्थ :- यदि 'अथ' शब्द मंगलसूचक नहीं है तो इसको आरम्भसूचक मानने के विषय में सोचा जाता है, क्योंकि शास्त्र एवं लोकव्यवहार में ऐसा है - अथ योगानुशासनम्। अथैष ज्योति:।[६] किन्तु यहाँ 'अथ' शब्द का आरम्भ-वाचक अर्थ नहीं है, क्योंकि फिर ''जिज्ञासा'' शब्द से उसका समन्वय नहीं हो पाता। यदि ''अथ'' को आरम्भसूचक मानें तो सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा - ''ब्रह्मज्ञान की इच्छा आरम्भ की जाती है।'' ''जिज्ञासा'' शब्द का अर्थ ''ज्ञान की इच्छा'' करने पर यह अर्थ ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि इच्छा आरम्भ करने योग्य नहीं है। प्रत्येक अधिकरण में इच्छा का आरम्भ नहीं होता, बल्कि इच्छा से विचार किया जाता है। फिर सूत्र में कर्त्तव्य पद के अध्याहार किये बिना यह अर्थ भी नहीं बैठता। अत: ''ब्रह्म विचार करना चाहिये'' का अर्थ ही हो जाता है ''ब्रह्म विचार आरम्भ करना चाहिये'', अत: कर्त्तव्य पद से 'अथ' शब्द का अर्थ निकल जाने से 'अथ' शब्द व्यर्थ हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में ''जिज्ञासा'', ''ब्रह्म'' या ''ब्रह्मज्ञान'' से भी अधिक महत्त्व का प्रतीत होता है, किन्तु इसका विवक्षित अर्थ ''ब्रह्म जिज्ञासा'' ही मानना चाहिये, अन्यथा ''ब्रह्म मीमांसा'' के लिए सुधिजनों के द्वारा इतना घोर प्रयत्न ही क्यों होता ? यह ठीक है कि ''जिज्ञासा'' शब्द के प्रयोग से ''संशय'' एवं ''प्रयोजन'' का भी सूचन हो जाता है। फिर ''जिज्ञासा'' एवं ''मीमांसा'' ''पूजित विचार वचन'' के रूप में प्रयुक्त होता है। हाँ ''मीमांसा'' से ही ''जिज्ञासा'' आरम्भ होती है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों शब्द एक ही हैं। क्योंकि फिर प्रवर्त्यक प्रवर्त्त भेद ही व्यर्थ है। निष्कर्ष यह हुआ कि ''जिज्ञासा''

का अब अपना अर्थ सुस्पष्ट है तो इसको दूसरा अर्थ देना भी ठीक नहीं है। इससे अति प्रसंग का दोष लगेगा।[७] अत: "जिज्ञासा" से ही जब आरम्भ का अर्थ नहीं निकालना चाहिये तो फिर उसके पूर्ववर्त्ती शब्द "अथ" से भी आरम्भवाचक अर्थ निकालना ठीक नहीं।[८]

१-३-प्रश्नबोधक अर्थ : - कभी-कभी "अथ" शब्द प्रश्नार्थक रूप में भी प्रयुक्त होता है। जैसे, अथ भगवान कुशली काश्यप: ? इसमें "अथ" शब्द प्रश्नार्थक है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र में "अथ" प्रश्न का सूचक नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ प्रश्न का संदर्भ नहीं है।

१-४-कात्स्न्र्यवाचक अर्थ :- कभी-कभी "अथ" शब्द पूर्णतावाचक या उपसंहार वाचक रूप में भी व्यवहृत होता है, लेकिन यहाँ यह अर्थ भी समन्विति नहीं रखता है।

१-५-अर्थान्तरवाचक अर्थ :- कभी-कभी "अथ" शब्द का दूसरा अर्थ भी लिया जाता है। जैसे हम दो वाक्यों को लें। एक कहता है "प्रपंच-मिथ्या" तो दूसरा वाक्य है "प्रपंच ही सत्य है।" "अथैतन्मत: प्रपंच: सत्य:" इस वाक्य में "अथ" शब्द दिखलाता है कि "प्रथम अर्थ से पिछला अर्थ भिन्न है।" पहले "प्रपंच-मिथ्यात्व" प्रतिपादित हुआ, उसके बाद "प्रपंच-सत्यता" का सिद्धान्त है - ऐसा अर्थान्तर दिखलाने के लिए "अथ" शब्द का प्रयोग किया गया। किन्तु प्रस्तुत सूत्र (अथातो ब्रह्म जिज्ञासा) में "अथ" शब्द का अर्थ अर्थान्तर नहीं किया जा सकता, क्योंकि ब्रह्म जिज्ञासा के पूर्व कोई भी अर्थ प्रकृत नहीं है। यदि होता तो उससे भिन्न अर्थ "अथ" शब्द का होता। यदि हम यह कहें कि यहाँ "अथ" शब्द किसी से भी भिन्न अर्थ का वाचक है तो इस कथन का कोई महत्त्व नहीं होगा।[९] किन्तु यदि "जिज्ञासा" शब्द का अर्थ विचार मानकर उसको फल मानें तो फल के पूर्व हेतु की अवश्य अपेक्षा रहती है। इसलिये इस अपेक्षा के बल से हेतु का आक्षेप कर इस हेतु से अर्थान्तर आदि शब्द बताता है, ऐसा मानें तो फिर "अर्थान्तर" का "आनन्तर्य" में समावेश हो जाता है। कार्य-कारणभाव या हेतु-फलभाव जानने के लिए आनन्तर्यवाचक अर्थ ही उपयुक्त है। क्योंकि "गाय से घोड़ा भिन्न है" (अर्थान्तर वाचक) कहने से गाय-घोड़ा का कार्यकारण-भाव सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए इस वाक्य में "कि" गाय घोड़े से भिन्न है - अर्थान्तर है, अनन्तर नहीं है। और यदि अनन्तर भी मानें तो फिर गौण अर्थ में,[१०] मुख्य अर्थ में अनन्तर कार्यकरण भाव से होता है, सामग्री एवं फल से होता है। फिर आनन्तर्य के ज्ञान में अर्थान्तर का भी ज्ञान हो ही जाता है। प्रस्तुत सूत्र में "अथ" शब्द का अर्थान्तरवाचक अर्थ लेने से कोई विशेष फल का ज्ञान नहीं होता। असल में साधन-चतुष्टय रूप हेतु का फल ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकार है। इसलिए "अथ" शब्द को अर्थान्तरवाचक नहीं बल्कि आनन्तर्य वाचक मानना चाहिये।

२-१ आनन्तर्यार्थक अर्थ :- किन्तु "अथ" शब्द पूर्व प्रकृतापेक्षा के अर्थ में भी प्रयुक्त होकर आनन्तर्यार्थक वाचक नहीं हो सकता है।[११] जैसे, यदि हम पूछें, क्या यह "अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है या अधिकारार्थक है ?" यहाँ प्रश्न रूप यह 'अथ' शब्द विकल्पबोधक है आनन्तर्यबोधक नहीं, यद्यपि यह भी सही है कि इस वाक्य में एक विकल्प को दूसरे विकल्प की कोई अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से प्रश्नार्थक विकल्पद्वय ही निरर्थक हो जायेंगे। जैसे हम ऐसा प्रश्न नहीं करते - "क्या आत्मा नित्य है या बुद्धि अनित्य है ?" यह हो सकता है कि पूर्व प्रकृतापेक्षा एवं आनन्तर्यवाचकता में फलत: भेद नहीं हो फिर भी आनन्तर्यवाचक अर्थ इसलिये लिया जाता है कि ब्रह्मजिज्ञासा के संदर्भ के साथ इसका समन्वय नहीं बैठता। ब्रह्म-जिज्ञासारूपी फल पूर्ववर्त्ती कारणों पर आधारित है, अत:, "अथ" शब्द का आनन्तर्यार्थक अर्थ परिशेष विधि[१२] से भी सिद्ध होता है।

२.२-आनन्तर्य की अवधि :- "अथ" का यदि आनन्तर्य वाचक अर्थ मान भी लिया जाय, तो प्रश्न उठता है कि आनन्तर्य की अवधि क्या है, या हमें किसकी अपेक्षा से आनन्तर्य लेना चाहिये। जो

नियत पूर्ववर्त्ती है वही अवधि मानी जायगी। अब यदि हम "वेदाध्ययन"[13] को "ब्रह्मजिज्ञासा" की अवधि मानें तो फिर "धर्मजिज्ञासा" एवं "ब्रह्मजिज्ञासा" की अवधि समान हो जायगी क्योंकि दोनों में "वेदाध्ययन" आवश्यक है।[14] यदि हम यह कहें कि "ब्रह्म-जिज्ञासा" के लिए वेदाध्ययन के अतिरिक्त कर्म-ज्ञान का आनन्तर्य विशेष है तो ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिसने वेदान्त का अध्ययन किया है उसे धर्मजिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्मजिज्ञासा प्राप्त हो सकती है। अर्थात् कर्मज्ञान भी ब्रह्मज्ञान की अवधि या असाधारण कारण नहीं है, वह तो अनुष्ठानमात्र का ही कारण है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि धूम एवं वह्नि के समान धर्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान में साधक-साध्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दोनों में व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है। अत: धर्मज्ञान से ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। कर्म से मन की शुद्धि अवश्य होती है और फिर विवेक उत्पन्न होता है। इस प्रकार चित्त-शुद्धि यद्यपि विवेक का कारण है फिर भी वह अधिकारी का विशेषण नहीं है। क्योंकि जन्मान्तर के कर्मों का ज्ञान तो व्यक्ति को नहीं रहता फिर भी उनसे फल उत्पन्न होता है। इसलिए भी धर्मजिज्ञासा से ब्रह्मजिज्ञासा का आनन्तर्य नहीं मानना ही ठीक होगा। अत: "अथ" शब्द का प्रयोग अवदान-क्रम में समझा जाना चाहिये। जैसे, कहा जाता है - "हृदय के अग्र भाग का खंडन करता है, फिर जीभ का, फिर छाती का।"[15] इसलिये "अथ" शब्द धर्म-विचार एवं ब्रह्म-विचार का क्रम दिखाने के लिये किया जा सकता है। किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अवदान-क्रम यहाँ विवक्षित है किन्तु धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा में किसी क्रम की विवक्षा या अपेक्षा नहीं है, क्योंकि दोनों का कर्त्ता एक नहीं है। साथ-साथ दोनों के विषय एवं फल में भेद है। धर्मज्ञान का फल अभ्युदय है और अनुष्ठान की उसे अपेक्षा है किन्तु ब्रह्मज्ञान का फल नि:श्रेयस् है और उसे कर्मानुष्ठान की भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह नित्य, निरपेक्ष है। वास्तव में धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के फलस्वरूप हेतु एवं प्रमाण परस्पर भिन्न हैं। अत: उनका समुच्चय नहीं। धर्मजिज्ञासा का विषय धर्म किसी क्रिया के अधीन है, लेकिन ब्रह्म क्रियाधीन नहीं है। धर्म प्रवर्त्तक प्रमाण से जाना जाता है, ब्रह्म उससे उदासीन स्वविषय-अवबोध होता है, यानी ब्रह्मबोधक प्रमाण पुरुष का बोधमात्र ही कराता है, प्रवृत्तिसहित बोध नहीं कराता। जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वह उस ज्ञान में स्वयं प्रमाण होता है, प्रवर्त्तक नहीं। अत: धर्म एवं ब्रह्मजिज्ञासा में भेद होने के कारण "अथ" शब्द धर्ममीमांसा एवं ब्रह्ममीमांसा के क्रम का वाचक नहीं है[16], अत: अथ का आनन्तर्यरूप ही अर्थ लेना चाहिये।

२-३-साधन-चतुष्टय :- अब "अथ" शब्द के आनन्तर्यार्थकता की पुष्टि हो जाने पर प्रवृत्तिरहित बोधजनकता को ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववर्ती मानना होगा, क्योंकि यदि प्रवृत्ति स्वीकार करेंगे तो प्रवृत्ति से ज्ञान, ज्ञान से इच्छा, इच्छा से प्रयत्न एवं फिर धर्म की उत्पत्ति का विचार होगा, और हम जानते हैं कि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होगा। इसी को वेदान्त-साहित्य में "साधन-चतुष्टय"[17] कहते हैं, इसमें नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, षड्-साधन-सम्पत्ति एवं मुमुक्षत्व रहते हैं। इस क्रम का भी अपना महत्त्व है। यानि विवेक और वैराग्य से शमादिषटक् एवं उससे मुमुक्षा होती है।

२-४-साधन-चतुष्टय:- दोष निवारण :- यहाँ यह कहा जा सकता है कि चूँकि श्रुतियाँ कर्मफल को नित्य मानती हैं अत: स्वर्गादि सुख से वैराग्य सिद्ध नहीं होता,[18] जीव ब्रह्म से भिन्न है अत: जीव को ब्रह्मत्व रूप मोक्षप्राप्ति भी असंगत है। किन्तु अन्य श्रुति[19] का कथन है कि आत्मा से अन्य वस्तुएँ अनित्य हैं, ऐसा विवेक होने पर वैराग्य स्वाभाविक है। फिर ब्रह्मज्ञान में चूँकि शोक-दु:ख समाप्त हो जाता है अत: इससे अपार आनन्द की प्राप्ति भी सिद्ध होती है। जीव ब्रह्म को प्राप्त कर लेने पर इस परमानन्द की[20] स्थिति में स्वयं आ जाता है। जो अल्प है वह नाशवान् है।

२-५-साधन-चतुष्टय की पूर्वपीठिका :- "साधन-चतुष्टय" की साधना सचमुच विकट है, अत: इसकी पूर्व तैयारी भी अपेक्षित है। साधन-चतुष्टय के लिए चारों वेदों, छहों वेदांगों का विधिवत्

अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त कर, जन्म एवं जन्मान्तर में किये गये पापों से मन:शुद्धि करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित् एवं उपासनादि कर्मों का परिपालन करना आवश्यक माना गया है।[२१] इसके पश्चात् ही विवेक एवं वैराग्य की साधना संभव है।

लेकिन यहाँ शंका हो सकती है कि यदि किसी व्यक्ति को वेद-वेदांग की अर्थपूर्ण समझ हो ही जाती है तो फिर वेदान्तसूत्र के अध्ययन की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वेदान्तसूत्र तो वेद-वेदांग का ही निचोड़ है। फिर वेदाध्ययन चित्त एवं मन को ब्रह्मजिज्ञासा की ओर भी स्वाभाविक रूप से अभिमुख करेगा। लेकिन इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वेद का अर्थ हम भले ही समझ लें किन्तु जब मन में शंकाएँ उठेंगी तो बुद्धि भ्रमित होगी एवं आस्था डगमगाएगी। किन्तु यदि "वेदान्तसूत्र" का अध्ययन करेंगे तो न केवल शंकाओं का निवारण होगा बल्कि युक्ति एवं तर्क आस्था और विश्वास को बलवान बनायेंगे।[२२]

२-६-कर्म एवं ज्ञान : ब्रह्मज्ञान के साधन :- यह ठीक है कि श्रुतियों का एक स्वर ब्रह्मज्ञान के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तपस्या आदि को काफी महत्त्व देता है।[२३] लेकिन श्रुतियों की दूसरी प्रखर ध्वनि कर्म की अपेक्षा ज्ञान को ब्रह्मप्राप्ति के लिए अधिक उपयोगी मानती है। इसमें मुख्य तर्क यह है कि काम्यकर्मों का फल पुण्य नाशवान् एवं अस्थायी होता है।[२४] अत: बिना ज्ञान के सब व्यर्थ हैं।[२५] जो नित्य है वह अनित्य के द्वारा प्राप्त हो नहीं सकता। कर्मफल उत्पन्न होने के कारण अनित्य है, अत: उससे नित्य ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं।[२६] कर्मकांड भी ब्रह्म प्राप्ति के लिए उपयोगी है, ऐसा स्मृतिकारों का मत है। महायज्ञ एवं यज्ञों के द्वारा[२७], अड़तालीस संस्कारों द्वारा[२८], ऋणत्रय चुकाने के बाद[२९] आदि विभिन्न कर्मकांड की प्रक्रियाओं से ब्रह्मज्ञान सम्भव हो सकता है। किन्तु फिर अन्य लोगों का कथन है कि वेदाध्ययन एवं यज्ञादि ब्रह्मभावना के लिए मुख्य नहीं बल्कि गौण हैं।[३०] यह ठीक है कि वेदान्त के महावाक्य "तत्त्वमसि" के अंतर्गत निहित अद्वैत भावना की समझ के लिए भी अशुद्धमन बाधक होगा, इसलिये यज्ञ, दान, तपादि द्वारा आन्तरिक अशुद्धियों को दूर कर "महावाक्य" की सत्यता पर अखण्डश्रद्धा रखते हुए ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु वेदान्त का मत है कि यदि वेदान्त का तत्त्व न्याय एवं तर्कबल से ही प्राप्त हो जाय तो फिर कर्मकांड की कोई आवश्यकता नहीं है।[३१] इसके लिए ब्रह्मचर्य, तप एवं श्रद्धादि द्वारा जीव की शुद्धि[३२] ही पर्याप्त है, क्योंकि उसको वेदान्त के ज्ञान का अधिकार तो है ही। इसलिए कहीं-कहीं तो ज्ञान, कर्मादि सबकी आवश्यकता ब्रह्मज्ञान के लिए स्वीकार की गई है।[३३]

३-१ कर्म का खण्डन :- यदि ब्रह्मोपासना या भावना के लिए कर्मकांड की आवश्यकता है तो किस रूप में - फलरूप में या स्वरूप में ? फलरूप में तो यह संभव है ही नहीं, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार रूपी फल की परीक्षा नहीं हो सकती है। फिर ब्रह्म-साक्षात्कार उस रूप में सामान्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न भी है, क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। उसका साक्षात्कार किसी अन्य क्रिया का फल नहीं बल्कि उसके स्वरूप के साक्षात्कार की अनुभूति इन्द्रिय-साक्षात्कार की अनुभूति से भिन्न है। क्योंकि इन्द्रिय साक्षात्कार संशयादि से आक्रांत होता है अत: वह अप्रामाण्य है, इसलिए जो ब्रह्म एक, नित्य, कूटस्थ, सर्वव्यापी है उसमें विकार-संस्कार, उसकी प्राप्ति या उसकी उपासना संभव ही कैसे ? उपासना तो द्वैतभाव में ही संभव है, अत: अद्वैत ब्रह्म में उपासना का क्या स्थान होगा ? जहाँ तक संस्कार शुद्धि का प्रश्न है वह तो द्विविध अनिवर्चनीय अविद्या के नाश हो जाने पर स्वत: संभव है।[३४] अत: इस स्थिति में केवल अविद्या का विनाश होता है, किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

३-२-ब्रह्म-उपासना-समीक्षा :- यदि इस ब्रह्म-उपासना को स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रश्न आता है कि क्या यह शब्द-ज्ञान मात्र संतति से है या शाब्द ज्ञान-संतति है ? यदि हम प्रथम कोटि को स्वीकार करें तो फिर इसके अभ्यास से भी अविद्या दूर नहीं हो सकती है, चूँकि तत्त्व के विनिश्चय

एवं अभ्यास से अविद्या दूर होती है, शब्द-ज्ञान-मात्र-संतति से नहीं। यह तत्त्व और कुछ नहीं तत् एवं त्वम् का तादात्म्यपरक अभिसाक्षात्कार है। इसी एकत्व के दर्शन से जीव का दु:ख एवं शोक भी नष्ट हो सकता है। जहाँ द्वैत है वहीं दु:ख है, अद्वैत तो अनन्त आनन्द है। मण्डन एवं वाचस्पति[३५] भी शब्द-प्रमाण को इस अपरोक्षानुभूति का साधन नहीं मानते। वस्तुत: यह हमारा अंत:करण ही है जो शब्द एवं फिर तर्क के आधार पर ही यह साक्षात्कार करता है, यद्यपि विवरणकार[३६] इसे अस्वीकार करते हैं। यह साक्षात्कार ब्रह्मस्वभाव भी नहीं है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये भी इस साक्षात्कार को अंत:करण की ब्रह्म-विषयक एक वृत्ति ही मानना समीचीन होगा। शब्द-प्रमाण से ब्रह्मज्ञान का प्रश्न गलत है, क्योंकि ब्रह्म तो स्वयं ज्ञानस्वरूप एवं स्वयंप्रकाश है, स्वयं ज्योति, स्वयं चेतन है। अब यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म साक्षात्कार के निमित्त उपासना के लिए, अन्त:करण की उत्पत्ति के लिए कर्मकांड की आवश्यकता है तो यह गलत है, क्योंकि कर्मानुष्ठान जब स्वयं अविद्या से आक्रांत है तो फिर वह अविद्या का निवारण ही कैसे कर सकता है ? यह स्पष्ट है कि कर्मानुष्ठान एवं ब्रह्म साक्षात्कार में सहकारित्व या भावाभाव सम्बन्ध नहीं है। शास्त्रसम्मत अदृष्टार्थ फलयुक्त कर्म अनधिकारी को प्राप्त नहीं होता, अत: उपासना के लिए कर्मकांड की अपेक्षा नहीं है। इसलिए श्रुतियाँ भी कर्मकांड को अनावश्यक मानती हैं।[३७]

४-१ ''अथ'' का विशेष महत्त्व : - ''अथ'' का चूँकि सूत्र में हम लोगों ने अनन्तर अर्थ लिया है इसलिये यह कहा जा सकता है कि यह सूत्र आरम्भ का सूत्र होते हुए भी अपना आरम्भक नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि अपने से अपनी उत्पत्ति मानें तो आत्माश्रय दोष होगा, और यदि अपने से अलग अन्य आरम्भक, जो दिखायी नहीं पड़ता, मानें तो फिर शास्त्र एवं परम्परा से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। इसका समाधान यह कहकर किया जाता है कि श्रवण आदि विधि से आरम्भ किया हुआ यह सूत्र शास्त्र के भीतर रहकर भी शास्त्रारम्भ का प्रतिपादन करता है, जैसे अध्ययन-विधि वेद के भीतर रहकर ही समग्र वेदों के अध्ययन में प्रयोजक है।

४-२ वेदान्त का गौरव :- ''अथ'' शब्द वेदान्त के ज्ञान को एक विशिष्ट गौरव प्रदान करता है, यानी ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मज्ञान के लिए जब अन्य सभी दर्शन परम्पराएँ एवं साधन निष्फल सिद्ध हो चुके हैं तब ''ब्रह्मजिज्ञासा'' प्रारम्भ किया गया है। ''अथ'' के बाद ''अत:'' शब्द से तर्क एवं युक्ति द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा की आवश्यकता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ''अत:'' शब्द हेतुवाचक है ही, अत: ''अथ'' का हेतु ''अत:'' मान लेने पर इस सूत्र की तार्किकता प्रकट होती है।

४-३-कर्ममीमांसा का खंडन :- यों तो वेदान्त अन्य दर्शनों की भी समीक्षा करता है किन्तु यह विशेषकर कर्ममीमांसा का खंडन करता है, क्योंकि कर्म के स्थान पर ज्ञान की अपरोक्षानुभूति या ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग स्वीकार किया गया है। कर्ममीमांसा भी श्रुतियों का व्यामोह प्रस्तुत कर और फिर उसका युक्तिवाद से समर्थन कर कर्मकांड तथा यज्ञादि पर जोर देता है। मुख्य तर्क यह है कि कर्मफल चाहे कितना भी शक्तिशाली हो, चूँकि वह उत्पन्न होता है अत: अनित्य है। इष्ट, पूर्त्त एवं दत्त आदि भोग्य कर्मों के नि:शेष होने पर तो फिर जीव को स्वर्ग से लौटना ही होगा। लेकिन यदि हम यह मान लें कि प्रिय और अप्रिय वस्तुत: शरीररहित आत्मा का संस्पर्श नहीं करते तो फिर कर्मकांड की सम्पूर्ण व्यूह-रचना व्यर्थ हो जायेगी।

४-४ कर्म की जड़ता :- कर्म अपने आप में जड़ है। जिसने कर्म किया वही उसका अधिकारी हो, ऐसा नियम नहीं, क्योंकि जन्मान्तर-कृत कर्मों का ज्ञान न होने पर भी उनसे फल उत्पन्न होता है, लेकिन ब्रह्मज्ञान के विषय में वैसी बात नहीं। जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।[३८] उस ब्रह्म को देखने पर द्रष्टा के प्रारब्धेतर संचित और आगामी सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।[३९] आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को जान लेने पर इसे भय नहीं रहता[४०] क्योंकि इसे ''अहं ब्रह्मास्मि'' का बोध होता है।[४१]

संदर्भ सूची

१. ब्रह्मसूत्र, १-१-१.
२. ब्रह्मसूत्र (शांकर-भाष्य) - १-१-१. मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् ।
३. ओंकाराश्च अथ शब्दस्य द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनियतो तस्मात्मांगलिका विभौ ।
४. शांकरभाष्य रत्नप्रभा - (अच्युत ग्रंथमाला, काशी सं. १९९२), पृ. ६४ ।
५. ब्रह्मसूत्र (बलदेव भाष्य) - १-१-१ ।
६. योगसूत्र - १/१.
७. भामती - पृ. - ६७ ।
८. ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) - १-१-१ जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् ।
९. रत्नप्रभा, पृ. ६४ ।
१०. रत्नप्रभा, पृ. ६५ ।
देशतो कालतो वा व्यवधानेन आनन्तर्यस्य अमुख्यत्वात् ।
११. भामती पृ. ६८, पूर्व प्रकृतापेक्षोऽथ शब्दो भविष्यति विनैवानन्तर्यार्थत्वम् ।
१२. भामती, पृ. ६९ ।
१३. स्वाध्यायेति । शांकरभाष्य, १-१-१ ।
१४. ब्रह्मसूत्र ३-४-२६ यज्ञापि कर्माणि ज्ञानम् विधीयन्ते । देखिये-बृहदारण्यक उपनिषद्-४-४-२२ "यज्ञेन दानेन" ।
१५. तैत्तिरीय संहिता ।
१६. रत्नप्रभा, पृष्ठ ७१.
१७. ब्रह्मसूत्र (शांकर-भाष्य)-१-१-१ नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थ भोग-विरागः शमदमादि-साधन सम्पत् मुमुक्षत्वं च ।
१८. देखें, श्रुति-अक्षयं हवैचातुर्मास्ययाजितः सुकृतम् ॥
१९. बृहदारण्यक उपनिषद् ३।४।२, अतोऽन्यदार्तम् ॥
२०. छान्दोग्य ८-१-६, यदल्पं तन्मर्त्यम् ।
२१. सदानन्द कृत वेदान्तसार ।
२२. ब्रह्मसूत्र (बलदेव भाष्य, गोविन्द भाष्य के साथ) १-१-१.
२३. बृहदारण्यक उपनिषद् - ४-४-२२. मुण्डक - ३-१-५., मनुस्मृति - २।८७., गीता - ४-३४.
२४. ब्रह्मसूत्र (बलदेव भाष्य) - १-१-१.
२५. छान्दोग्य - ८-१-६ : तैत्तिरीयोपनिषद् - २-१-१.
२६. मुण्डक - १।२।१२.
२७. मनुस्मृति - २-२८, "महायज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" ।
२८. गौतम-स्मृति - ८-२८ यस्यैते दुष्टाचत्वारिषद्संस्कारः ।
२९. मनुस्मृति - ६-३५ "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्" ।
३०. भामती, पृ. ७४.
३१. भामती, पृ. ७२.
३२. योगसूत्र-१-१४ "स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कार सेविती दृढ भूमिः "
बृहदारण्यक - ४-४-२१, "ब्रह्मचर्य तपः श्रद्धा यज्ञादयश्च सत्काराः"
३३. वेदान्त-सूत्र- ३-४-३२ । देखिये - ब्रह्मसिद्धि, पृ. २७-३७.
३४. भामती, पृष्ठ - ७६.
३५. भामती पर सम्पादक की टिप्पणी, पृ. २६६-२६७ ।
३६. सिद्धान्तलेश-संग्रह, तृतीय परिच्छेद, पृ. ३५०-३५६ तक ।
३७. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैक अमृतत्त्वमानशुः ।
३८. मुण्डक - ३-२-९ ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति ।
३९. मुण्डक - २-२-८, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन ।
४०. बृहदारण्यक - ४-२-४, अभयं वै ज्ञानं प्राप्तोऽसि । ईशावास्य -७, तत्र को मोहः कः शोकः ।
४१. बृहदारण्यक - १-४-१०, अहं ब्रह्मास्मि ।

जैनदर्शन में अद्वैतवादी प्रवृत्तियाँ

अविद्या-बंध हेतु :-

अध्यात्म भारतीय चिन्तन धारा का मूलतत्त्व रहा है। सत्य का सन्धान एवं अध्यात्म का आलोक प्राप्त करना ही यहाँ की विशेषता रही है। इसीलिये तो वैदिक प्रार्थना है - असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय। जन्म-मरण एवं पुर्नजन्म की प्रक्रिया ही भवबन्धन है। अत: इस प्रक्रिया की परिसमाप्ति ही परिनिर्वाण या मोक्ष है[1]। सत्य-दर्शन ही मोक्ष-दर्शन है। अत: अज्ञान ही बन्धन का कारण है। यही हमारा अवतरण या अपकर्ष है। इसीलिये मोक्ष के लिये ज्ञान अनिवार्य है।

अद्वैत वेदान्त के बीजांकुर उपनिषदों में भी विद्यमान हैं, जहाँ अविद्या को विभ्रम एवं संसारासक्ति कहा गया है। माया ब्रह्मांड-शक्ति है जिससे नानात्व का आविर्भाव होता है। यदि माया संसार का कारण है तो अविद्या ही हमें उससे आसक्त रखती है। गौड़पाद ने भी माया को ब्रह्मांड-विभ्रम तथा अविद्या को तज्जनित जीवगत-भ्रम माना है। शंकराचार्य भी माया को समष्टिगत तथा अविद्या को व्यष्टिगत अज्ञान की व्याख्या के लिये स्वीकार करते हैं। चाहे जो भी हो, मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है जो मात्र ज्ञान से ही अर्जित हो सकता है - यथा, ज्ञानात् एव तु कैवल्यम्[2]। ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:[3]। वादरायण का भी यही सुनिश्चित मत है - "पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति वादरायण:"[4]। उपनिषद् ने भी इसी का समर्थन किया है - "तरतिशोकमात्मवित्।"[5] "ज्ञात्वादेवम्मुच्यते सर्वपाशै:"[6]। "ब्रह्मविदाप्नोति परमरतै"[7]। स्वयं शंकर के शिष्य पद्मपाद ने भी मोक्ष को मिथ्याज्ञान का अभाव ही कहा है। यह अन्तर्दृष्टि तथा जीवन एवं जगत् के प्रति यह अभिनव दृष्टिकोण मोक्ष की साधना नहीं, स्वयं मोक्ष ही है[8]।

दु:ख का कारण केवल विभ्रम एवं मिथ्याज्ञान ही है[9]। जैन दर्शन में भी "अविद्या" को "मिथ्यात्व" कहा गया है। तमिस्रा अंत होने पर ही ज्ञानोदय होता है। अत:, ज्ञान-मार्ग ही निर्वाण मार्ग है। जैन दर्शन ने भी 'त्रिरत्न' में सम्यक् का समावेश किया ही है[10]। जीव या आत्मा स्वभावत: पूर्ण है, जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख विद्यमान है। यह स्वयं-भास्वर है किन्तु कर्म पुद्गलरूपी मेघ एवं कुहासे भी तो लगे हुए हैं। जिस समय मेघ हट जायेंगे, सूर्य का आलोक फैल जायेगा। वस्तुत: आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अनभिज्ञता ही हमें सांसारिक बन्धनों में जकड़ देती है। अत: सम्यक् ज्ञान और तत्त्वज्ञान सब के लिये परमावश्यक है। यहाँ जैनमत एवं वेदान्त की दृष्टि में मूलत: कोई पार्थक्य नहीं है।

मोक्ष का स्वरूप :- मोक्ष ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक मोक्ष को ही परमपुरुषार्थ मानते हैं। किन्तु मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में दो विभिन्न विचार हैं - भावात्मक एवं अभावात्मक।[11] बौद्ध, नैयायिक,[12] सांख्य,[13] योग,[14] और पूर्व मीमांसा[15] के अनुसार यद्यपि मुक्तावस्था आत्यन्तिक दु:खाभाव है, फिर भी इसे भावात्मक नहीं कहा जा सकता। (यह विचार सर्वसम्मतनहीं है) किन्तु जैन[16] एवं वेदान्त के अनुसार मोक्षावस्था द्विविध वरदान हैं। प्रथमत: सारे क्लेशों का क्षय हो जाता है, तत्पश्चात् सक्रिय आनन्द या सुख की प्राप्ति होती है। आत्मा स्वरूपत: अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द स्वरूप है। किन्तु यहाँ एक कठिनाई हैं। यदि मोक्ष अध्यात्म

साधना का फल है तो यह नित्य नहीं हो सकता। और यदि यह इस साधना से प्राप्त नहीं होता तो इसकी प्राप्ति अन्यथा संभव नहीं। वेदान्त इस समस्या का समाधान देता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ अभेद को प्राप्त कर लेता है। यह किसी 'अप्राप्त की प्राप्ति' नहीं बल्कि 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' ही है।

इसीलिये उपनिषदों ने "तत्त्वभवसि" नहीं प्रत्युत् "तत्त्वमसि" का ही उपदेश दिया है। चूँकि ब्रह्म सत् एवं चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप भी है अत: जीव भी तब आनन्दमय हो जाता है, जब वह ज्ञान-प्राप्ति कर लेता है। ज्ञान एवं सुख एक ही है। अत: मुक्ति दुख-निरोध के अतिरिक्त विशुद्ध आनन्द भी है। मण्डन के अनुसार भी "केवल दुखाभाव ही आनन्द नहीं है क्योंकि दुख और सुख की अनुभूति साथ-साथ भी संभव है, जैसे शीतल जलाशय में स्थित लेकिन अपने सिर को बाहर रखने वाला व्यक्ति अग्नि-स्वरूप भगवान भास्कर की तप्त किरणों की दाहकता और जलाशय की शीतलता एक साथ अनुभव कर सकता है।

आत्मा का स्वरूप :- बन्धन एवं मोक्ष का विचार तो आत्म-विचार से ही प्रतिफलित होता है। क्योंकि आत्मा बन्धन और मोक्ष या सत्यासत्य इत्यादि के पहले से ही वर्तमान है। इसका अस्तित्त्व स्वयंसिद्ध है, और यह संशय के परे भी है क्योंकि यह संशयात्मा के संशय में भी अपना अस्तित्त्व दिखलाता है। अपरोक्षानुभूति पर आधारित इसका ज्ञान प्रमाण निरपेक्ष मानना चाहिये। यह आधारभूत मान्यता है। तत्त्वदृष्टि से आत्मा का अस्तित्त्व ही इसकी नित्यता, पूर्णता आदि का प्रमाण है। यहाँ तक तो जैन एवं अद्वैत वेदान्त में साम्य है।

फिर जैन एवं अद्वैत दोनों के अनुसार आत्मा को चैतन्य स्वरूप माना गया है। जबकि अज्ञान के कारण आत्मा की देहासक्ति ही बन्धन है तो आत्मा अवश्यमेव अभौतिक है। आत्मा अबाधित एवं अबाध्य निर्विशेष सत्तामात्र है जो सब स्थितियों में विद्यमान है। जिस क्षण हम आत्मा के निषेध का प्रयास करते हैं, उसी क्षण हम इसका अज्ञात रूपेण भाव कर देते हैं। यह विशुद्ध सत्ता ही विशुद्ध चैतन्य है। अत: यह आत्मा चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हाँ, यह चैतन्य क्षणस्थायी विज्ञान-प्रवाह नहीं है। यह सामान्य और नित्य चैतन्य है। यह "निर्विशेष चैतन्य ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान के अभेद से बिलकुल विशुद्ध अनन्त एवं पूर्ण ज्ञान है।" जैन दृष्टिकोण से जीव भी एक द्रव्य या सत्ता है जो सत्य है और अस्तित्त्ववान है। यही नहीं, वेदान्त की तरह यहाँ भी जीव का सबसे प्रमुख लक्षण चेतना या उपयोग माना गया है। यही नहीं दोनों में आत्मा का वर्णन नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द आदि कह कर किया गया है।

आत्मा और परमात्मा :-

सांसारिक जीव का जो वर्णन शंकर द्वारा किया गया है वह जैन मत के बिलकुल समानान्तर है। जैनमत में आत्मा के द्विविध रूपों का वर्णन है - स्वसमय (परमात्मा) तथा परसमय (जीवात्मा)। स्वसमय ही उपनिषद् के परमात्मा या वेदान्त के ब्रह्म की तरह है। शंकराचार्य परमसत्ता ब्रह्म को परमात्मा कहते हैं। बल्कि उनके लिये तो 'परमात्मा' और 'ब्रह्म' पर्यायवाची शब्द हैं। जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का सिद्धान्त उपनिषद् और जैन दर्शन में समान है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कुन्दकुन्द एवं शंकर दोनों ही जीवात्मा और परमात्मा की एकता प्रकट करने के लिये "अद्वैत" शब्द का व्यवहार करते हैं। जीवात्मा ही कर्त्ता, भोक्ता और दुखभोगी है। उपाधि-युक्त आत्मा ही कर्त्ता, सुख-भोक्ता एवं दुख-भोक्ता हैं, जिससे परमात्मा मुक्त है। श्री योगीन्द्र का "परमात्मा-प्रकाश" सचमुच एक प्रत्ययवादी विचार समुपस्थित करता है, क्योंकि वे कहते हैं - "आत्मा प्रत्यक् है, पराक् नहीं है।" परमात्मा ही शान्ति, सुख और आनन्द है।

त्रिविध आत्मा के सम्बन्ध में योगीन्द्र, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, गुणभद्र, अमृतचन्द्रादि सब एक मत हैं। उसी तरह जैनेतर साहित्य में विशेषकर उपनिषदों के "पंचकोष" के अमूर्त्त सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और परमात्मा भी अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं आनन्द ही है। अत: आत्मा ही परमात्मा है। केवल कर्म बन्धन के कारण ही परमात्मा को आत्मा माना गया है। योगीन्द्र के मत में 'परमात्मा' को आध्यात्मिक विकास में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है, जो कर्त्ता-कर्म से भी परे है। फिर भी यह अस्वीकार नहीं करना होगा कि दोनों में इतना साम्य रहते हुए भी हम उपनिषदों के उदात्त अद्वैती और सर्वेश्वर सर्ववादी भावना के वैभव का जैनमत में अभाव पाते हैं। जैनों में अनेक जीववाद का सिद्धान्त प्रत्यक्ष ही अद्वैत के अनुकूल नहीं दीखता है। यद्यपि यह विचार अन्य जैन मूल ग्रन्थों या जैनमत के अनुसार द्रव्य के सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न पड़ता है। द्रव्य विश्वरूप में शाश्वत भाव एवं अनन्त रूप में विद्यमान है। जातिगत दृष्टि से द्रव्य एक है, जो सभी वस्तुओं के मूल में है। यही विभिन्न पदार्थों में अपने को अभिव्यक्त करता है। जो सत्ता से अभिन्न है, वही द्रव्य है, जो 'द्रु' धातु से निकला है और जिसका अर्थ होता है "द्रवित होना"। यह सत्ता या सत् से अभिन्न है। यही सत्य है। कुन्दकुन्द तो यहाँ तक कहते हैं कि "उत्पाद और व्यय पर्यायों का होता है द्रव्य का नहीं। द्रव्य तो नित्य और अविकृत है।" उमास्वाती ने द्रव्य या सत्ता की परिभाषा सत् से दी है। सत्य ही सत्ता है और सत्ता ही सत्य, या सत्य ही सत् या अस्तित्त्व है। अत: अस्तित्त्व ही सत्ता और सत्ता ही अस्तित्त्व है। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि चूँकि सभी का अस्तित्त्व है अत: सभी एक ही हैं। स्थानांग-सूत्र भी "एगे आये, एगे लोये" कहकर इसका समर्थन करता हैं। अत: हम इस तरह अपने को उपनिषद् या वेदान्त के आध्यात्मिक अद्वैतवाद के बिलकुल समीप पाते हैं।

यद्यपि यह सही है कि उपर्युक्त बातों के बावजूद भी जैनों का द्वैत के प्रति पक्षपात उन्हें सत्ता में भी भौतिक एवं चैतन्य सत्ता का असंगत भेद करने को बाध्य करता है। सत्य सत्य है, यथार्थ यथार्थ है। यह स्वयं पूर्ण है। यहाँ उस स्तर पर कर्त्तां एवं कर्म का कोई भेद नहीं है। किन्तु इस प्रकार के सर्वव्यापी सत्ता का विचार केवल चिदात्मक ही हो सकता है। अत: अप्रौढ़ता के कारण जैन सूत्रों में इस प्रतीयमान द्वैत का निराकरण नहीं हो सका और जीव द्रव्य एवं अजीव द्रव्य का भेद कर दिया गया। यद्यपि कुन्दकुन्द तथा उमास्वाती जैसे उत्तरवर्त्ती विचारकों में इस प्रकार का प्रात्यक्षिक अन्तर नहीं मिलता। अत: अन्त में जैनमत को अद्वैत सिद्धान्त स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि जीव और अजीव का बिलकुल विरोधी स्वभाव है, फिर भी इस विरोध में अन्तर्भूत एक एकता है जिसे हम 'विरोधों का सामंजस्य' कहेंगे। मात्र जीव या अजीव, चेतन या जड़ वस्तु-शून्य विचार है। वस्तुत: ये दोनों एक ही धातु के दो खंड हैं। यह वह 'वास्तविक सामान्य' है जिसमें एक ही सत्ता साथ-साथ संयुक्त और वियुक्त दोनों हैं। यही अनेकता में एकता या भेद में अभेद है।

योगीन्द्र और कुन्दकुन्द आत्मा और परमात्मा का अभिन्नत्व ही बताते हैं। 'द्रव्य-संग्रह' के प्रणेता नेमिचन्द्र का भी यही विचार है कि जीव का भेद या कर्त्तृत्व केवल व्यवहार की दृष्टि से सत्य है। अनेक जीववाद एक सापेक्ष विचार है जो हमें तब प्राप्त होता है जब हम संवेदना, अनुभूति एवं बंधन का विचार करने लग जाते हैं। सचमुच मनोवैज्ञानिक स्तर पर तो जीवों की अनेकता अस्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वयं शंकराचार्य भी जागृतावस्था या व्यवहारिक दृष्टि से उसे अस्वीकार नहीं करते। किन्तु दर्शन में हम केवल मनोवैज्ञानिक या अनुभवगम्य व्यवहारिक जगत् का ही विचार नहीं करते। यहाँ हम तर्क का भी उपयोग करते हैं। और तर्क को असंगतियों से असंतोष है। सामान्य व्यावहारिक अनुभूतियों के विश्लेषण करने में प्रथम हमें अनेकवाद एवं सापेक्षवाद के दर्शन होते हैं, और जैन मत इसके अवश्यम्भावी परिणाम को प्राप्त किये बिना केवल इसी से अपने को संतुष्ट कर लेता है।

अनेकवाद या व्यवहारगत वास्तविकता से किसी को कोई विवाद नहीं, किन्तु यह पारमार्थिक सत्य नहीं हो सकता। जिसतरह ससीम में ही असीम का अर्थ अभिप्रेत है उसी प्रकार हम एक निरपेक्ष चरमतत्त्व के बिना सापेक्षता की मान्यता कदापि स्थिर नहीं रख सकते हैं।

इस तरह हम मूलरूप से जैन एवं अद्वैत दर्शनों में अत्यधिक साम्य पाते हैं। प्रो. चक्रवर्ती ने इसका एक अद्भुत प्रमाण दिया है। उन्होंने कहा कि जिस समय शंकर आत्मा के सम्बन्ध में गलत सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं उस समय वे बौद्ध, सांख्य, योग, वैशेषिक, पाशुपत आदि का नाम लेते हैं, लेकिन आश्चर्य की बात है कि उक्त सूची में वे जैनमत का उल्लेख नहीं करते। शायद यह समझकर कि जैन दर्शन में वेदान्त की तरह ही जीवात्मा परमात्मा का ऐक्य बताया गया है। अत: शंकराचार्य जैनमत के बिलकुल समीप हैं। ब्रह्मसूत्र के अन्य भाष्यकारों की तरह शंकराचार्य यह नहीं मानते कि अविद्या ग्रसित जीव एक ही है। अन्त:कारण से बद्ध प्रत्यगात्मा अथवा कूटस्थ और विशुद्ध चेतना ही ब्रह्म है, जो अनेक जीव सा प्रतीत होता है। यह विचार अन्य वेदान्तियों में प्रचलित एकजीववाद के प्रतिकूल है। अनेक जीववादियों की भी अनेक युक्तियाँ हैं। इनके अनुसार जीव अनेक हैं और जगत्-भ्रम सामान्य रूप में स्थायी नहीं है, किन्तु प्रत्येक जीव अपने लिये स्वयं भ्रम की सृष्टि करता है। इसी से "दृष्टिवाद" का सिद्धान्त प्रस्तुत होता है जिसके अनुसार विज्ञान (चेतना) ही वस्तु की सृष्टि करता है, यही नहीं वरन् विज्ञान के अतिरिक्त वस्तु है ही नहीं। उपनिषदों में भी आत्मा और जीव में भेद किया गया है। अत: एक जीववाद का सिद्धान्त तो स्वयं उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र के विरुद्ध ही पड़ता है।

नय या दृष्टिकोण का सिद्धान्त :- हम देखते हैं कि किसी वस्तु के विषय में एक या अनेक कहना इस पर निर्भर करता हैं कि हम किस दृष्टिकोण से कह रहे हैं। शंकराचार्य भी कहते हैं कि यद्यपि देवदत्त एक ही व्यक्ति है, फिर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से वह एक पुरुष, वेद विशारद ब्राह्मण, उदार, बालक, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, जामाता आदि शब्दों से भी घोषित हो सकता है। यह जैन स्याद्वाद या अस्तिनास्तिवाद से बहुत मिलता है। यहाँ तक कि उपनिषदों में इसकी ओर संकेत मिलता है कि सत्य हमारे ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। यह नयभेद या दृष्टिकोण भेद शंकराचार्य के वेदान्त एवं जैनमत में सामान्य रूप में वर्तमान है। शंकराचार्य स्वयं व्यावहारिक सत्ता से पारमार्थिक सत्ता को अलग करते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण व्यवहार जगत् तक ही उपयोगी एवं अनिवार्य है। जैसे एक अनार्य केवल अनार्य की भाषा के माध्यम से ही समझ सकता है, उसी तरह व्यावहारिक जीवों को पारमार्थिक तत्त्वों का ज्ञान व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही हो सकता है। किन्तु स्पष्टत: अपने में यह अपूर्ण हैं। अत: हमें ऊपर उठना अपेक्षित है। इसीलिये कुन्दकुन्द सभी समस्याओं पर इन दोनों दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। अस्तु, जब वे अनुभव जगत् का विश्लेषण व्यवहार नय से करते हैं तब पारमार्थिक जगत् का विचार निश्चय नय से करते हैं। अत: अपेक्षाकृत अविकसित विचार का विकसित विचार के लिये अतिक्रमण कदाचित् इसकी उपेक्षा नहीं है। इसे अफलातून, स्पीनोजा, हीगेल, जेम्स, बर्गसाँ आदि दार्शनिकों ने पश्चिम में तथा वेद, उपनिषद्, बौद्ध, जैन और वेदान्तियों ने पूर्व में समर्थित किया है। प्रसिद्ध उपनिषद् व्याख्याता डाइसन ने ठीक ही कहा है कि अपराविद्या व्यावहारिक तत्त्वज्ञान हैं, जो अविद्या एवं जीव-जन्य स्वाभाविक वास्तववाद से प्रकट होता है। अत: व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टिकोणों का भेद केवल वेदान्त और जैनमत में ही नहीं उपनिषद् और बौद्धमत में भी एक-सा है।

सर्वज्ञता-विचार :- हमारा प्रातिभासिक ज्ञान ही तात्त्विक की ओर संकेत करता हैं, जो इन्द्रियगम्य प्रमाणों से परे है। अनुभव ज्ञान की स्पष्ट अपूर्णता का विचार करके ही जैन और अद्वैत वेदान्त ने तत्त्वज्ञान प्राप्ति का दूसरा ही साधन ढूँढ़ा है। मति, श्रुति, अवधि और मन:पर्याय से भी संतुष्ट न होकर जैनाचार्यों

ने "केवल ज्ञान" या 'सर्वज्ञता' का सन्धान किया है, जिसे हम अतीन्द्रिय अपरोक्षानुभूति की पराकाष्ठा ही मानेंगे, जहाँ जीव सम्पूर्ण पर्यायों के सहित सभी द्रव्यों को जान लेता है। सर्वज्ञता में अनभिज्ञता का अभाव है। सर्वज्ञ के लिए जीव और ज्ञान समव्यापी हैं। हाँ यह ज्ञान साक्षात् सद्य: एवं संशयहीन होता है। इसी को अद्वैत वेदान्त अनुभूति, अनुभव साक्षात्कार, सम्यक्ज्ञान या सम्यक्दर्शन की संज्ञा देता है। सर्वज्ञता चैतन्यरूप ज्ञानतंत्र का शीर्ष बिन्दु है। यह चैतन्यमय जीव के स्वाभाविक चैतन्य की पूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसका आविर्भाव सम्पूर्ण उपाधियों के आत्यन्तिक क्षय होने पर ही होता है, और जिसे हम विशुद्ध अनुभवातीत उपलब्धि या "तत्" कहेंगे। जैन साहित्य सर्वज्ञता विषयक साहित्य से परिपूर्ण है। सर्वज्ञत्व-सिद्धि के अनेकों प्रमाण हैं। अनुभव एवं व्यवहार भी ज्ञानक्रम और इसके विकास में सर्वज्ञता का संकेत देता है। इसीलिये हेमचन्द्र भी कहते हैं कि सर्वज्ञता का प्रमाण ज्ञान के क्रमिक विकास का अवश्यंभावी अन्तिम परिणाम है। "अनन्तधर्मात्मक-वस्तु" का तत्त्वज्ञान भी किसी असाधारण ज्ञान की ही अपेक्षा रखता है। बुद्धि, प्रतिभा एवं वैयक्तिक मानसिक विषमतायें भी सर्वंज्ञता की ओर संकेत करती हैं। धार्मिक एवं उदात्त रहस्यानुभूति भी सर्वज्ञता को सिद्ध करती हैं। तार्किक दृष्टिकोण भी इसके अनुकूल ही है क्योंकि हेमचन्द्र के अनुसार सर्वज्ञता के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वेदान्त जिसे निषेधात्मक रूप से उपस्थित करता है, उसेही जैन दर्शन भावात्मक रूप से प्रतिपादित करता है। अत: वेदान्त जहाँ अविद्या के साथ दुख को सम्बद्ध करता है, वहाँ जैनमत सर्वज्ञता के साथ सुख प्रतिपादित करता है। वेदान्त जीव को ब्रह्म में विलीन कर अविद्या का अंत करता है वहाँ जैन दर्शन के अनुसार व्यष्टि ही समष्टि बन जाता है। जैनमतानुसार प्रत्येक सत्ता का सम्बन्ध विश्व की समस्त सत्ताओं से है। कोई वस्तु बिल्कुल असम्बद्ध या स्वतंत्र नहीं है। अत: किसी एक वस्तु का सर्वांगीण ज्ञान अखिल वस्तुओं का सम्पूर्ण ज्ञान हैं। जैकोबी ने इसी प्रसंग में एक जैन सूत्र का उद्धरण दिया है, वह है - "जो किसी एक को जान लेता है वह सबको जान लेता है, और जो सबों को जान जाता है वही सबों को पूर्ण रूप से जानता है।" यहाँ अन्तर्ज्ञान या आत्मज्ञान या आत्म साक्षात्कार की पराकाष्ठा है। यह अतीन्द्रिय है, जिसका आविर्भाव सभी उपाधियों के क्षय होने पर ही होता है।

यहाँ तक हमें एक विशिष्ट सापेक्षतावाद का दर्शन होता है। किसी सर्वज्ञ को स्याद्वाद की सीमायें मर्यादित नहीं करतीं। जीव स्वभावत: सर्वंज्ञ हैं। इस में ज्ञानान्ध करने वाला मोह का आवरण उठ जाता है। अत: सापेक्षतावाद के सिद्धान्त में भी निरपेक्ष ब्रह्म की कल्पना निहित है। विभिन्न नयों द्वारा उपलब्ध ज्ञान का योगांक मात्र ही हमें परमसत्य को नहीं बतला सकता है। सत्य इन सब पहलुओं का अव्यवस्थित योग नहीं बल्कि समन्वयशील समूह है। डॉ. राजू महोदय का विचार है कि जैनों का सापेक्षतावाद ज्ञान-सापेक्षतावाद है। जहाँ सत्ता है, उसका स्वभाव भी निश्चित है, हाँ, उसे हम दूसरी तरह से भी समझ सकते हैं। किन्तु सर्वज्ञ के लिये सापेक्ष नहीं बल्कि निरपेक्ष एवं अनौपाधिक ज्ञान होगा। अत: सापेक्षवाद की परिणति निरपेक्षवाद में निश्चित ही है। जिस क्षण हम केवली के अपरोक्षानुभव को स्वीकार कर लेते हैं तो हमारे सामने असीम निरपेक्ष अद्वैत आ ही जाता है।

कारणवाद :- जैन तत्त्वज्ञानानुकूल ही कुन्दकुन्द कारण-कार्य की अभिन्नता का अनुसरण करते हुए 'चेतन से चेतन' और 'अचेतन से अचेतन' की सृष्टि का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं और फिर सर्वसत्ताधिष्ठान ब्रह्म में विश्वास करने वाला अद्वैत वेदान्त भी कारण-कार्य अभिन्नत्व ही मानता है। जैनमत में यद्यपि जीव और अजीव परस्पर विरोधी हैं, फिर भी उच्चतर सत्ता-जगत् में उनके विरोधों का शमन हो जाता है। जिस तरह मछलियों से पूर्ण सरोवर और वृक्षों से पूर्ण उद्यान भी जीवन्त दीखता है,

उसी प्रकार अजीव भी जीवन्त दीखता है। जैन जगत् में कोई भी वस्तु शुष्क, मृत, जीवहीन नहीं है। इस दृष्टि से भी अद्वैत जैन मत के समीप ही पड़ता है।

उपसंहार :- व्यवहार और स्वभाव से भिन्न तत्त्व भी सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध या एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। यहाँ तो समस्त विश्व ही एक सत्ता है जो द्रव्य रूप में गुण एवं पर्यायों को अपने में समवेत करता है। वस्तुत: जैन दर्शन हमें एक अखंड विश्व की ही कल्पना देता है। सभी की सत्ता है, अत: सब एक ही हैं। स्थानांग सूत्र में भी "एगे आये एगे लोये" कहकर इसकी पुष्टि की गयी है। किन्तु अभाग्यवश जैन तत्त्व-ज्ञान को इस दिशा में नहीं बढ़ने दिया गया। राधाकृष्णन ने कहा है कि जैनों का अनेकवादी यथार्थवाद अपने में एक महान असंगति है जिसकी पूर्णता अद्वैत में परिणत होगा ही। खैर, जो भी हो, चाहे जैनमत को अद्वैत में परिणत किया जा सकता है या नहीं किन्तु यह तो निश्चित है कि जैनमत में अद्वैतवादी प्रवृत्तियाँ हैं।

***

संदर्भ सूची

१. *भ.गी. र। प १; क ७-१। ३। ७-८*

२. *Malkani, G.R., Vedantic Epistemology-P-3.*

३. *वेद वचन।*

४. *ब्र. सू.शं.भा. ३। ४। १.*

५. *छान्दो. ३। ४-१.*

६. *मुंड. - ३। २, ९*

७. *तैत्ति. २। ९; छान्दो - ६। १४; ८। ७; बृह - ४। प। ६ से १५. श्वेत. ५। १३*

८. *राधा कृष्णन-इंडियन फिलासफी-भाग-२ पृ. ६३७*

९. *शं.भा. २। ३। ४६; छान्दो ८। ८ और ५; न्या. मं. ४। २। १ प्र. पा. भा. पृ. ५३८. देखें - सां. का. ४४, मा.वृ. ४४. सां. कौन.-४५; ड. स्. - २। ३।५ तं. सं. - ८.१. उ. घ्य. सू. - २९। १९; २३। ४३, २४। २० स्था. सू. - २। २*

१०. *त.सं. १। १; त.अ.सू. १०। १; द्र.सं. - ४०; त.सू.भा. - पृ. ७२; चन्द्र प्रभयरितम्-पृ. ५३९ धर्मशास्त्राभ्युदम् २१। १९१; स.सा. - ९। २९३; पं.का.सा., १। ४७; प्र.सा. ११। ८१ प्र. सा. की भूमिका (संसार और मुक्ति) :*

११. *तुलना - मा. वृ.-पृ. १Ƨ३ (प्रपंच प्रवृत्ति); भावात्मक व्याख्यार्थ देखें - वि.म. (बुद्ध घोष) - ८। २४७ १९। ९४; १९। ३७. १९। ९०; १३.७३, ८० म.नि. - ५७.*

१२. *न्या.भा.सू. १। १। २१, न्या. मु., - पृ. ५०८. (भावात्मक व्याख्यार्थ देखें - न्या. मं. - २००-१)*

१३. *सां. का. - ९७; सा.त. कौ - ९७.*

१४. *यो. भा. ४। ३०*

१५. *श्लो. वा., - १०७ त.लो. - १५९*

१६. *स.सा. - १०। ४*

ज्ञान की सीमायें और सर्वज्ञता की सम्भावना

१. ज्ञान का विस्तार : एक मानवीय आकांक्षा :-

यह ठीक है कि आधुनिक विचारक सर्वज्ञता की मान्यता या संभावनाओं पर विचार करना तो दूर रहा इसे अंधविश्वास पर आधारित अत्यन्त अप्रौढ़ चिंतन से उद्‌भूत उपहास एवं परिहास का विषय मानते हैं, दूसरी ओर इसके समर्थक उन्हीं निर्जीव युक्तियों का नि:सार पुनरावर्तन कर रहे हैं जिनका परम्परागत बुद्धिवाद के इतिहास में चाहे जो भी मूल्य रहा हो आज के वैज्ञानिक जगत् में कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा है, फिर भी यदि सर्वज्ञता का विचार मानवीय आकांक्षाओं पर आधारित है तो यह एक समस्या के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है ही।

संभवत: मानवीय ज्ञान का विकास मानवीय सभ्यता के विकास का भी मापदंड रहा है क्योंकि "हमारे ज्ञानान्तर्गत सत्य का मूल्य न केवल सत्य के हमारे सैद्धान्तिक परिज्ञान के लिये महत्त्वपूर्ण है बल्कि इसका सम्बन्ध विभिन्न क्षेत्रों में हमारे व्यक्तिगत जीवन एवं आचरण से भी रहा है।"[१] इसीलिये मानव सृष्टि के आरम्भ से ही अपने ज्ञान की सीमा के विस्तार के लिये प्रयत्नशील रहा है। इसीलिये तो ज्ञान केवल ज्ञान के लिये ही नहीं बल्कि जीवन और जीवन-संघर्ष के आवश्यक उपकरण के रूप में भी रहा है। भारतीय प्रमाण-शास्त्र के इतिहास में प्रमाण-संख्या की क्रमिक अभिवृद्धि भी ज्ञान विस्तार की इसी मानवीय चेष्टा की ओर एक गर्भित संकेत है। इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विस्तृत अभिक्रम मानवीय अन्तराल की ज्ञान विस्तार की असीम बुभूक्षा एवं पिपासा प्रमाणित करता है। संक्षेप में, हम यह निवेदन कर सकते हैं कि ज्ञान के विस्तार का यह निरन्तर प्रयास एक शाश्वत मानवीय आकांक्षा या एक आधारभूत प्रवृत्ति के रूप में रहा है।

२. व्यवधान और विकार :-

जहाँ एक ओर मानव अपने ज्ञान के विकास के लिये[२] इस प्रकार अबाध गति से अपना उपक्रम कर रहा है, दूसरी ओर अज्ञान और संशय के रूप में कुछ प्रतिगामी वृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर हो रही हैं। अनुभववाद जहाँ इन्द्रिय की सीमा का उल्लंघन नितान्त निषिद्ध मानता है वहाँ बुद्धिवाद मानवीय मस्तिष्क की लक्ष्मण रेखा में ही आबद्ध है, जो नितान्त अविहित तो है ही, साथ-साथ इसमें उच्चतर ज्ञान के गवाक्षों की भी उपेक्षा है। इसीलिये यदि एक संशयवाद और अज्ञेयवाद को जन्म देता है तो दूसरे से ज्ञान में जड़ता एवं अप्रगतिशीलता का दोष उत्पन्न होता है। भारतीय संशयवादी संजय वेलट्ठीपुत्र को इसलिये "कायर बुद्धिवादी" की हीन संज्ञा से विभूषित किया गया है क्योंकि मानवीय चित्त की निर्णय भूमि पर सार्वत्रिक अनिश्चयता के कारण बौद्धिक जड़ता एवं निर्णयहीनता को प्रश्रय मिलता है[३]। अज्ञानवाद हमारे ज्ञान के लिये पूर्वनिश्चित सीमाओं का निर्धारण नहीं करता बल्कि ज्ञान के विषय में मनोविज्ञान की भ्रान्त धारणा के कारण ज्ञान की समस्त संभावनाओं को ही तिलांजलि दे देता है[४]।

३. ज्ञान की सीमायें : समस्यायें और समाधान :-

ज्ञान की सीमा की समस्या भयानक रूप से विवादास्पद है। विज्ञान के चमत्कार से प्रभावित

व्यक्तियों की सीमाओं के निर्धारण की चेष्टा ही एक परम्परागत भ्रामक धर्मसापेक्षी दार्शनिक विचारधारा का परिणाम दीखता है, और आज के वैज्ञानिक युग में जबकि किसी भी तत्त्व को न स्थिर ही माना जा सकता है, न तत्त्वज्ञान को पूर्णतया निश्चित एवं सत्य, तत्त्वज्ञान की सीमाओं का निश्चित निर्धारण ही असंभव लगता है।"[५] 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग मात्र परम्परागत एवं अंधविश्वास पूर्ण कहा जाता है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित विचारक एक ओर यदि 'असीम' या 'अंतिम-ज्ञान' की कल्पना का मिथ्यात्व बताता है तो दूसरी ओर अज्ञान के अंधकार को नष्ट करने के लिये सतत यत्नशील रहने की आशावादी प्रेरणा प्रदान करता है। ज्ञान मानव की प्रवृत्ति एवं समाज के सम्बन्धों के ऐतिहासिक विकास का सतत् उन्मुख सिद्धान्त है। प्रकृति का कोई रहस्य ऐसा नहीं जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती[६]। श्रुतिपरक प्रमाणवादी विचारक मात्रात्मक या प्रकारात्मक दृष्टियों से तो ज्ञान की सीमा स्वीकार करते हैं किन्तु मूल्यात्मक दृष्टि से सर्वज्ञता की संभावना पर जोर देते हैं।[७] उदाहरण स्वरूप, उपनिषदों में "जहाँ सर्वज्ञान की बात कही गयी है वहाँ मात्रा की दृष्टि से नहीं, मूल्य की दृष्टि से कही गयी है। सर्वज्ञान का अर्थ है तत्त्वज्ञान।"[८] अवधारणात्मक विश्लेषणवादी दृष्टिकोण से ज्ञान की सीमा के प्रश्न का अर्थ है कुछ परिभाषया अज्ञेय क्षेत्र को स्वीकार करना। अज्ञेय चिन्त्य एवं अचिन्त्य दोनों हो सकता है। अत: "ज्ञान की सीमा का प्रश्न व्यक्ति या समाज की, अथवा वास्तविक या संभाव्य सीमा का प्रश्न नहीं है, और न ऐतिहासिक विकास क्रम का है, यह अज्ञेयता का प्रश्न है"।[९] जैन दार्शनिक जिस समय आत्मा के अन्तर्गत अनन्त चतुष्टय को स्वीकार कर "अनन्त ज्ञान" को स्वीकार कर लेता है, उसी समय ज्ञान की सीमाओं का निराकरण हो जाता है। ऐन्द्रिक ज्ञान की सीमा अवश्य मानी गयी है किन्तु वह तो परोक्ष ज्ञान माना गया है, प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञान की कोई भी सीमा नहीं है। अत: जैन दर्शन ऐन्द्रिक स्तर पर ज्ञान की सीमा को स्वीकार करता हुआ भी अनुभव से उत्पन्न अवश्यम्भावी संशयवाद एवं अज्ञेयवाद से बचता है। अत: यहाँ वास्तववाद एवं आदर्शवाद दोनों का समन्वय है। ज्ञान का स्तरभेद केवल भारतीय प्रमाणशास्त्र को ही स्वीकार्य नहीं बल्कि अन्य विचारकों को भी है[१०]। ज्ञानात्मक दृष्टिकोण सर्वव्यापक है, इसीलिये हमारे ज्ञान की सीमा वस्तुत: हमारे द्वारा ही निर्धारित होती है[११]। ज्ञानात्मक चेतना तो सीमित है ही क्योंकि हम अपने सामने असंख्य दृश्यमान तत्त्वों में से किसी एक पर ही सोचते हैं[१२]। जो भी हो, ज्ञान तो सापेक्ष एवं सीमित है ही लेकिन ज्ञान की यह सीमा इसके प्रामाण्य एवं प्रकृष्टता, परिधि-चैतन्य एवं इसके अनुमान की सत्यता की अपेक्षा से है। ये सीमायें विगत तीन दशक पूर्व आज की अपेक्षा अत्यन्त संकुचित थीं। संक्षेप में, मानवीय ज्ञान का सत्य के साथ धीरे-धीरे अधिक निकट सम्बन्ध हो रहा है[१३]। इसीलिये सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि सभी संभाव्य ज्ञान मानवीय सीमा एवं शक्ति के अन्तर्गत हैं।[१४]

४. सर्वज्ञत्व का अर्थ :- (क) व्युत्पत्ति :-

पाणिनी 'सर्वज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति "इगुपध-ज्ञा-प्री-किर: क:" [१५] सूत्र से है। "वाचस्पत्यम्"[१६] ने सर्वज्ञता का अर्थ "सर्वे जानाति" से जोड़ते हुए इससे सूचित होने वाले पाँच अर्थों का संकेत किया है। मोनियर एन्ड मोनियर विलियम्स[१७] ने भी प्राचीन साहित्य में सर्वज्ञता सम्बन्धी लगभग तीस अवतरणों को उद्धृत किया है।" शब्द कल्पद्रुम"[१८] में सर्वज्ञता के तीन और अर्थ दिये गये हैं यथा शिवि, बुद्ध और विष्णु। प्रिंसिपल आप्टे कृत "संस्कृत कोष" [१९] का विचार "वाचस्पत्यम्" से ही मिलती है। संस्कृत "सर्वज्ञता" का पाली पर्याय "सव्वराणुता" या "सव्वराणु" है क्योंकि पालि व्याकरण[२०] के अनुसार यदि कर्म से परे "आ" धातु आवे तो "कृ" प्रत्यय होता है, जैसे "जानाति इति सव्वराणु[२१]।" अर्द्ध मागधी कोष[२२] में भी सर्वज्ञता का 'अर्द्धमागधी पर्याय पाली से मिलता जुलता है। प्राकृत-महाकोष "अभिधान राजेन्द्र:" में सर्वज्ञता का प्राकृत पर्याय "सब्बञ" या "सव्वराणु" केवल ज्ञान के अर्थ में

प्रयुक्त है। वहाँ इसके दो अर्थ बताये गये हैं – सामान्य (सर्वज्ञ) और विशेष (सभी द्रव्यों को पर्यायों सहित जानना)।

अर्थ विश्लेषण :-

''सर्वज्ञता'' शब्द का यदि वस्तु वाचकता के अर्थ में व्यवहार हो तो इसका अर्थ है ''संख्यात्मक, परिमाणात्मक दृष्टि से सभी वस्तुओं का ज्ञान।'' गुणवाचकता के अर्थ में 'सर्वज्ञता' का अर्थ सार तत्त्वों का परिज्ञान होगा। किन्तु ''सार तत्त्वों का परिज्ञान'' भी दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है - तत्त्वज्ञान और मार्गज्ञता या धर्मज्ञता। मीमांसक 'सर्वज्ञता' शब्द के पाँच अर्थों को बतलाते हुए इनमें से किसी के साथ भी अपना विरोध नहीं बताते, यथा (क) सर्वज्ञ शब्द का ज्ञान, (ख) इस नश्वर जगत् के समस्त पदार्थों का ज्ञान, (ग) सार तत्त्वों का ज्ञान, (घ) अपने दृष्टिकोण एवं अपनी परम्परा के अनुसार चरम तत्त्वों का परिज्ञान (ङ) सभी ज्ञेय एवं प्रमेयों का ज्ञान। मीमांसक तो केवल धर्मज्ञता के अर्थ में प्रयुक्त दैवी या मानुषी सर्वज्ञता का विरोध करते हैं क्योंकि धर्म के विषय में वेद का ही एकमात्र अधिकार स्वीकार किया गया है।[२४] सर्वज्ञता शब्द का अर्थ तब तक पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होगा जब तक हम यह भी विचार नहीं कर लें कि सर्वज्ञ है कौन ? सर्वज्ञ या तो कोई अलौकिक व्यक्ति या देवता होगा या कोई लौकिक। अलौकिक पुरुष या देवता में भी एक ओर तो परम पुरुष भगवान् की सर्वज्ञता का वर्णन मिलता है दूसरी ओर किसी देव विशेष या पैगम्बर विशेष की चर्चा रहती है। फिर लौकिक सर्वज्ञता की भी मुख्यतया तीन श्रेणियाँ हो सकती हैं - मानवीय, योगी और मानवेतर।

५. भारतीय दर्शन में सर्वज्ञ-विचार की भूमिकायें :-

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वज्ञ-विचार के मुख्यत: तीन विरोधी रहे हैं -वैदिक मीमांसक (जो अन्य सभी अर्थों में सर्वज्ञता को भले ही स्वीकार करें किन्तु धर्मज्ञता के अर्थ में स्वीकार नहीं करते), भौतिकवादी एवं चार्वाक। बाकी सबने सर्वज्ञता के विचार को स्वीकार किया है जिसकी प्राय: छ: भूमिकायें हो सकती हैं :-

(क) वेदों की प्रार्थनात्मक भूमिका -

यहाँ देव-सर्वज्ञत्व का सिद्धान्त स्वीकार कर देवताओं की प्रशंसात्मक प्रार्थनायें प्रस्तुत की गयी हैं। सम्पूर्ण वेदों में 'सर्वज्ञ' या 'सर्वज्ञत्व' शब्द एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं किन्तु इनके अनेक पर्याय, जैसे : विश्ववेदस्[२५], विश्ववित्[२६], विश्वानिविद्वान्[२७], सर्ववित् आदि[२९] आये हैं।

(ख) उपनिषदों की आत्मज्ञता की भूमिका -

उपनिषद्-दर्शन का मूल तत्त्व आत्मा है अत: सर्वज्ञ का अर्थ आत्मज्ञ माना गया है[३०] ''आत्मानं''[३१] ही इसका मूलतंत्र है। १२० उपनिषदों में ३१ बार सर्वज्ञता शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(ग) धर्म शास्त्रान्तर्गत धर्मज्ञता की भूमिका -

स्मृतियों एवं पुराणों में ही नहीं महाभारत एवं रामायण में भी धर्मज्ञता का महत्त्व बताया गया है।[३२] इन शास्त्रों में सर्वज्ञता का अर्थ प्राय: धर्म के सभी सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान है। साथ-साथ यहाँ देव-सर्वज्ञता का भी वर्णन है। जैनागमों[३३] में भी कहीं-कहीं 'सर्वज्ञता' एवं 'धर्मज्ञता' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रज्ञाकर गुप्त[३४] ने भी सुगत को सर्वज्ञ एवं धर्मज्ञ दोनों माना है जिसका शान्तरक्षित[३५] ने भी समर्थन किया है।

(घ) बुद्धिवादी भूमिका -

बौद्धों में शान्तरक्षित एवं प्रज्ञाकर गुप्त तथा जैनों में उमास्वाती, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक देव, अभयदेव सूरि, हरीभद्र, विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचंद्र, हेमचंद्र, वादिदेव सिंह सूरि, मल्लिसेन, धर्मभूषण, यशोविजय आदि अनेक विद्वानों ने सर्वज्ञता की सिद्धि के

लिये प्रमाण दिये हैं। मीमांसकों के द्वारा खंडन एवं जैन-बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा प्रत्युत्तर भारतीय बुद्धिवाद का एक उज्ज्वल अध्याय है। हाँ, इसमें साम्प्रदायिक प्रतियोगिता का भाव भी कम नहीं है।

(च) श्रद्धा एवं बुद्धि की समन्वयवादी भूमिका -

जैनों ने आगम एवं तर्क, हृदय एवं मस्तिष्क दोनों का समन्वय करते हुए सर्वज्ञता की मान्यता को एक धार्मिक एवं तार्किक आवश्यकता के रूप में महसूस किया है। भगवान् महावीर की सर्वज्ञता जैन धर्म के लिये श्रद्धा स्वरूप स्वीकार्य है लेकिन मानवीय सर्वज्ञता की संभावना के लिये विशुद्ध बुद्धिवादी तर्क प्रस्तुत किये गये हैं।

(छ) योग शास्त्र की भूमिका -

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, तंत्र-साहित्य आदि में हम योग-शास्त्र की चर्चा पाते हैं जिसमें यौगिक नियमों से सिद्धियों की प्राप्ति बतायी गयी है। न्याय-वैशेषिक ने तो अलौकिक प्रत्यक्ष[३६] की चर्चा की है लेकिन पतंजलि[३७] ने सर्वज्ञता की स्पष्ट चर्चा की है। आधुनिक परामनोविद्या का भी इस ओर संकेत सारगर्भित है।[३८]

६. शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञ-सिद्धि:-

मीमांसकों ने शास्त्रान्तर्गत षड्प्रमाणों के बल पर सर्वज्ञाभाव की सिद्धि का प्रबल प्रयास किया है किन्तु जैन दार्शनिकों ने भी उसी सूक्ष्मता के साथ खंडन कर सर्वज्ञ सिद्धि की है जिसका विशेष व्यवस्थित एवं विशद विवेचन अष्ट साहस्री, न्याय कुमुदचंद्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक जैन न्याय के ग्रन्थों में हुआ है। अत: मीमांसा का पूर्वपक्ष एवं जैनों का उत्तरपक्ष अवलोकनीय है।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण -

प्रत्यक्ष अतीन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है और वह केवल सम्बद्ध, वर्तमान एवं प्रतिनियत रूपादिगोचर होता है।[३९] जैनों का कहना है कि योगी प्रत्यक्ष सर्वज्ञता का या तो क्वचित्-कदाचित् बाधक होगा या सर्वत्र-सर्वदा बाधक होगा। यदि क्वचित्-कदाचित् बाधक मानें तो इसमें जैनों को कोई आपत्ति नहीं क्योंकि वे भी यह नहीं कहते कि सर्वज्ञता का ज्ञान सदा-सर्वदा रहता है, किन्तु यदि योगी प्रत्यक्ष को सदा-सर्वदा बाधक मान लें तो यह सदा-सर्वदा जानने वाला तो स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। साधारण प्रादेशिक ज्ञान से सफल देशवर्त्ती ज्ञान, यानी सर्वज्ञता का खंडन, नहीं हो सकता।[४०] प्रत्यक्ष की निवृत्ति से यदि उसका अभाव सिद्ध करें[४१] (क्योंकि स्वप्न में भी हम सर्वज्ञ को नहीं देखते) तो यह गलत होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष सर्वज्ञता के ज्ञान का न तो कारण है न व्यापक है। प्रत्यक्ष के अभाव में भी वस्तु रहता है और अप्रत्यक्ष की निवृत्ति से भी वस्तु विद्यमान रहता है। फिर मीमांसकों को यह पूछा जा सकता है कि सर्वज्ञताभाव केवल अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति से सिद्ध करते हैं या सभी के प्रत्यक्ष से ? यदि केवल अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति से ही सिद्ध करते हैं तो यह गलत होगा क्योंकि जिन सूक्ष्म, अन्तरित या दूरस्थ वस्तुओं का भी हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है वे भी चीजें रहती हैं। किन्तु वे यदि सब के प्रत्यक्ष की निवृत्ति से इसको सिद्ध करते हैं तो यह "सब" के प्रत्यक्ष को जानने वाला स्वयं सर्वज्ञ होगा।

(ख) अनुमान -

मीमांसकों के अनुसार सर्वज्ञत्व की सिद्धि अनुमान से भी संभव नहीं क्योंकि लिंग-लिंगी अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञ के साथ स्वभाव या कार्य हेतु, दोनों असिद्ध हैं।[४२] सर्वज्ञ का किसी के साथ कार्य नहीं पड़ता। अत: अनुमान प्रमाण भी लागू नहीं होगा।

जैन दार्शनिक विकल्प-पद्धति से तर्क उठाते हुए पूछते हैं कि मीमांसक सर्वज्ञ की "असत्ता" सिद्ध करना चाहते हैं या उसकी "असर्वज्ञता"। यदि सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध करना चाहते हैं तो वे अनुपलम्भ, विरुद्ध-विधि और वक्तृत्व इन्हीं तीनों को अपना हेतु मानेंगे।[४३] अब यदि अनुपलम्भ हेतु

माना जाय तो यह कार्य व कारण या व्यापक सम्बन्धी होगा। फिर यह अनुपलम्भ या तो स्व-सम्बन्धी होगा या सर्व-सम्बन्धी। माना कि यह स्व-सम्बन्धी है तो वह निर्विशेषण होगा या सविशेषण।[८४] यदि निर्विशेषण माना गया तो सर्वज्ञताभाव सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सामान्य प्रत्यक्ष से पर-चित्त का ज्ञान संभव नहीं, अत: दूसरे के चित्त का अभाव हो जायेगा। यदि सविशेषण माना जाय तो इसमें सर्वत्र-सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध हो जायगा लेकिन इस तरह सर्वज्ञ का सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाला स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। लेकिन यदि अनुपलम्भ स्व-सम्बन्धी न होकर सर्व-सम्बन्धी हो तो भी यही दोष उठेंगे। सबकी सर्वज्ञ सिद्धि का अभाव तो स्वयं सर्वज्ञता है।[८५]

"कार्याभाव" से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि धर्मादि अशेष पदार्थों के प्रतिपादक आगम तो उसके कार्यरूप देखे ही जाते हैं। हाँ, मीमांसक आगम की अपौरुषेयता का सिद्धान्त मानते हैं जिसे जैनों ने खंडन किया है। व्यापकाभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वज्ञ का व्यापक "सर्वसाक्षात्-कारित्वं" है, "सर्वार्थ परिज्ञान" नहीं।[८६] आत्मा का सकल पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव है और प्रतिबन्धक कारणों के क्षय हो जाने से सर्वज्ञता सहज संभव है।

अब विरुद्ध-विधि (साक्षात् या परम्परा विरोध) से भी सर्वज्ञाभाव संभव नहीं।[८७] पहले हम साक्षात् विरोध को लेते हैं तो वह विरोध यदि क्वचित्-कदाचित् है तो इससे सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं होती है और यदि सर्वत्र-सर्वदा विरोध हो तो सर्वज्ञता स्वयं सिद्ध हो जाती है। परम्परा विरोध या तो सर्वज्ञ के व्यापक या कारण या कार्य के साथ होगा। यदि विरोध व्यापक का है तो वह या तो क्वचित्-कदाचित् होगा या सर्वत्र-सर्वदा का विरोध होगा। इसमें भी उपर्युक्त तर्क लागू होंगे। लेकिन विरोध यदि कारण का हो और वह क्वचित्-कदाचित् हो तो उसमें सर्वत्र-सर्वदा का विरोध नहीं किन्तु यदि सर्वज्ञ का सर्वदा विरोध मानें तो यह असंभव है क्योंकि सर्वज्ञता का कारण है ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय और इसका विरोध है इसका क्षय नहीं होना, तो यह किसी आत्मा में तो रह ही सकता है लेकिन सभी में नहीं।

कार्य विरोध भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सर्वज्ञ का कार्य विरोध जानने वाला कोई आत्मज्ञ ही होगा और वह एकाध स्थान पर ही इसके कार्य का विरोध देख सकता है, सर्वत्र नहीं।

वक्तृत्वादि हेतु के कारण भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि वक्ता होने के कारण ही कोई सर्वज्ञ नहीं तो यह स्ववचन विरोध है। जिस तरह सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध करने में स्ववचन विरोध है उसी प्रकार असर्वज्ञता सिद्ध करने में भी है क्योंकि जो यह कहेगा कि सब असर्वज्ञ हैं, वह तो स्वयं सर्वज्ञ सिद्ध हो जायेगा। वक्ता प्रमाण-विरोधी, प्रमाण-संगत या सामान्य तीन प्रकार के माने जाते हैं। यदि प्रमाण विरोधी वक्ता को मानें तो यह असिद्ध होगा क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् असत्य वचन नहीं कर सकते।[८८] यदि प्रमाण-संगत मानें तो सर्वज्ञ भी मानना होगा क्योंकि असर्वज्ञ ही प्रमाण-विरुद्ध बोलेगा। सामान्य-वक्ता मानने से हेतु अनैकान्तिक हो जायगा। यदि कोई कहे कि सभी पुरुष सर्वज्ञ हैं तो फिर कोई असर्वज्ञ बचा ही नहीं। विपक्ष का व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता इसलिये निषेध का प्रश्न ही निरर्थक है। हाँ, रथ्याप्रभ में असर्वज्ञत्व एवं वक्तृत्व दोनों गुणों का समावेश कर व्यतिरेक बना लिया जाय तब पुन: स्ववचन विरोध होगा, क्योंकि सब पुरुषों की असर्वज्ञता में तो रथ्याप्रभ भी शामिल था। संक्षेप में, वक्तृत्वहेतु से सर्वज्ञताभाव सिद्ध होने पर व्यतिरेक सिद्ध होगा और व्यतिरेक सिद्ध होने पर असर्वज्ञत्व की सिद्धि। इस तरह चक्रक दोष होगा।[९०]

यदि हम कहें कि सब को सर्वज्ञ अनुपलम्भ है तो इसमें भी सब के विषय में जो जानेगा वह सर्वज्ञ सिद्ध होगा। जैमिनी कहते हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञान और उसका धारक कोई नहीं है क्योंकि वह आकाश-कुसुम की तरह अनुपलब्ध है। लेकिन यह किसको अनुलब्ध है, लौकिक को या अन्य किसी को ? और

यह अनुपलब्धि किस हेतु से है ? सत्ता से, पुरुषत्व से या वक्तृता से ? लेकिन इन तीनों हेतुओं को हम वेद में भी लगा सकते हैं क्योंकि वेदार्थज्ञ कोई भी उपलब्ध नहीं है। लेकिन यह स्थिति मीमांसकों के लिये अप्रिय होगी। अत: यदि वेदार्थ की सत्ता मानते हैं तो सर्वज्ञ को भी मानना ही पड़ेगा। जिस तरह प्रथम सर्वज्ञ का प्रश्न पूछा जा सकता है उसी प्रकार वेदार्थज्ञ की भी चर्चा उठायी जा सकती है।

(ग) उपमान -

मीमांसकों का कहना है कि उपमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है।[५१] क्योंकि उपमान के लिये सादृश्य चाहिये और सर्वज्ञ के सदृश प्रत्यक्ष में कोई मिलता ही नहीं, और जब उसकी प्रतीति नहीं है तो उसके सादृश्य की प्रतीति कहाँ से होगी ? इसके उत्तर में जैन दार्शनिक इसी तर्क को उलट कर कहते हैं कि उपमान से सर्वज्ञताभाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सर्वज्ञ के सादृश्य का कहीं अभाव दिखायी नहीं पड़ता, अत: उसका अभाव भी असिद्ध ही रहेगा।[५२] ''सर्वज्ञ के सादृश्य'' की बात करने वाले को यह समझना चाहिये कि सर्वज्ञ का वैशिष्टय उसके शरीर[५३] में नहीं बल्कि उसकी आत्मा में है, अत: शारीरिक सादृश्य की बात से सर्वज्ञाभाव को प्रमाणित करना हास्यास्पद है।

(छ) आगम -

मीमांसक आगम प्रमाण से सर्वज्ञत्व की असिद्धि[५४] करते हुए कहते हैं कि आगम या तो नित्य होगा या अनित्य। यदि हम नित्य आगम (वेद) मानें तो उसमें सर्वज्ञत्व-सिद्धि के लिये वचन नहीं।[५५] फिर नित्य आगम को भी अनादि या सादि माना जा सकता है। यदि हम अनादि नित्य आगम को सर्वज्ञ-बुद्धि का हेतु बनावें तो यह गलत होगा, क्योंकि अनादि आगम से आदि सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे होगी क्योंकि सर्वज्ञ तो अनेकों हैं ? और यदि नित्य आगम को सादि माना जाय तो नित्यत्व से सादित्व का आत्म-विरोध है। फिर अनित्य आगम की बात रही, जो या तो सर्वज्ञ-प्रणीत होगा या असर्वज्ञ-प्रणीत। यदि सर्वज्ञ-प्रणीत आगम से सिद्ध करें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा और यदि असर्वज्ञ आगम को ही प्रमाण मान लेते हैं तो फिर मेरे ही वचन को प्रमाण क्यों नहीं मान लेते, क्योंकि अप्रमाणित आगम एवं मेरे वचन में कोई अन्तर नहीं ?[५६]

(च) अर्थापत्ति -

अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती[५७] क्योंकि इसके लिये किसी भी कार्य को सर्वज्ञ के बिना अनुपपन्न दीखना चाहिये, किन्तु ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो सर्वज्ञ के बिना नहीं होता, अत: अन्यथा उपपत्ति से सर्वज्ञ-सिद्धि नहीं होती। हाँ, कोई ऐसा कह सकते हैं कि सर्वज्ञ के बिना धर्मोपदेश संभव नहीं।[५८] लेकिन उपदेश देने का कारण सर्वज्ञता नहीं बल्कि सम्प्रदाय विशेष के विस्तार का व्यामोह है। फिर उपदेश या तो व्यामोह पूर्वक होगा या सम्यक् ज्ञान पूर्वक। यदि प्रथम कोटि का उपदेश रहा तो उसका कोई मूल्य नहीं, जैसे स्वप्रचारी व्यक्ति की वक्तृता का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु यदि उपदेश सम्यक् ज्ञान पूर्वक मानें तो जैसा मनु ने वेदज्ञान के आधार पर दिया है, तो ठीक है लेकिन बुद्धादि वैसा उपदेश नहीं दे सकते क्योंकि वे वेदज्ञानपूर्वक उपदेश नहीं करते। इसका प्रमाण है कि यदि वे वेद-ज्ञान पूर्वक उपदेश करते तो लोग उनके उपदेशों पर उसी प्रकार आचरण करते जिस प्रकार मनु के उपदेशों का करते हैं। अत: उन लोगों का उपदेश व्यामोह पूर्वक ही हुआ।[५९]

मीमांसकों के उपर्युक्त आरोपों के उत्तर में जैन दार्शनिकों का कहना है कि अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता[६०] क्योंकि षड् प्रमाणों के द्वारा जाने गये अर्थों में ही अर्थापत्ति की प्रतीति होती है। वेद की प्रमाणता सर्वज्ञ होने पर ही सिद्ध होगी क्योंकि गुणवान वक्ता के अभाव में वचन में प्रमाणता नहीं देखी जाती।

अभाव -

मीमांसकों का कहना है कि अभाव से तो केवल अभाव ही सिद्ध होगा। फिर भी यदि हम मान लें कि सर्वज्ञ है तो वह समस्त काल की चीजों को अपने-अपने रूप से जानेगा या वर्तमान रूप से ?[६१] यदि अपने-अपने रूप से जानें (भूत को भूत, भविष्यत् को भविष्यत्) तो वर्तमान में प्रत्यक्ष हुआ नहीं कहा जायेगा, क्योंकि वस्तु का विषय वर्तमान नहीं है। जो वस्तु का विषय वर्त्तमान नहीं है वह प्रत्यक्ष नहीं बल्कि स्मरण, कल्पना आदि होगा। यदि वह वर्तमान रूप से सबको जानता है तो उसका ज्ञान भ्रान्ति हो जायेगा क्योंकि अन्यथास्थित रूप से पदार्थ को मानेगा, यानी भूत और भविष्यत् को वर्तमान रूप से जानेगा, जैसे द्विचन्द्रमा का ज्ञान होता है।[६२]

फिर "यहाँ पर सत् है" - इस वस्तु के ज्ञान में वस्तु सत्ता की तरह से प्राग्भाव या प्रध्वंसाभाव प्रतिभासित होते हैं या नहीं ? यदि प्रतिभासित होते हैं तो युगपत्[६३] या क्रम से ? यदि युगपत् माना जाय तो गलत होगा, क्योंकि जन्म-मरण एक साथ असंभव है। जो वस्तु जिस रूप में प्रतिभासित होता है उसका उसी रूप से व्यवहार होता है, जैसा नीली वस्तु का नीलरूप से। अत: सर्वज्ञ यदि प्राग्भाव (अतीत) और प्रध्वंसाभाव (अनागत) दोनों को युगपत् देखता है तो यह गलत है चूँकि दोनों का एकसाथ रहना संभव नहीं। अत: युगपत् अभाव नहीं होगा। फिर दोनों की प्रतीति क्रम से भी नहीं हो सकती क्योंकि अतीत और अनागत कभी परिसमाप्त होगा ही नहीं, अत: उसकी सर्वज्ञता हो ही नहीं सकेगी।[६४]

जैन दार्शनिक उपर्युक्त बातों से सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि अभाव वहीं होता है जहाँ प्रमाण-पंचक की निवृत्ति होती है। फिर यह अभाव दो प्रकार का होगा - प्रसज्य प्रतिषेध या पर्युदास।[६५] प्रथम में आत्यन्तिक निषेध है, दूसरे में सापेक्ष निषेध। अब यदि प्रसज्य-प्रतिषेध अभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना चाहें तो उसमें अत्यन्ताभाव अवस्तु रूप होता है[६६] अत: उससे सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु यदि पर्युदास अभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करें तो एक के निषेध से किसी का सद्भाव करना होगा। इसमें पंच-प्रमाणों के द्वारा अभाव के कथन होने पर भी भाव रूप वस्तु ही वाच्य होती है। फिर इस पर्युदास पक्ष में भी दो हेतु हो सकते हैं - प्रमाण-पंचक-रहित या अन्य। यदि प्रथम स्वीकार करें तो उसमें भी दो विकल्प हो सकते हैं - सर्वथा-प्रमाण पंचक-रहित या निषेध्य-विषय-सम्बन्धी प्रमाण-पंचक-रहित। यदि प्रथम विकल्प मानें तो वह प्रमेय की सिद्धि कहाँ से करेगा क्योंकि प्रमाण के बिना प्रमेय सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा हो तो प्रमाण की कल्पना ही व्यर्थ हो जाय। किन्तु यदि दूसरे विकल्प को लें तो वह आत्मा आपकी है या सबकी ? यदि अपनी मानें तो परचित्त के साथ उसका मेल नहीं, यदि सबकी मानें तो सर्वज्ञ हो जायगा। इस तरह निषेध्य सर्वज्ञ से भिन्न जो अन्य ज्ञान अल्पज्ञ होगा यदि उसको मानेंगे तो फिर इस अन्य ज्ञान के द्वारा क्वचित्-कदाचित् सर्वज्ञ का निषेध करेंगे या सर्वत्र-सर्वदा सर्वज्ञ का निषेध करेंगे ? यदि प्रथम पक्ष मानें तो इसमें किसी का विरोध नहीं; यदि द्वितीय पक्ष मानें तो सर्वज्ञता की स्वत: सिद्धि हो जाती है।[६७]

७. सर्वज्ञत्व विचार पर आरोप एवं उनकी समीक्षा :-

सर्वज्ञता सम्बन्धी ज्ञानयुद्ध बौद्धिक प्रखरता का एक अद्भुत अध्याय है जिसमें मीमांसक, जैन एवं बौद्ध सबका योग रहा है। हम यहाँ पर कुछ मुख्य आरोपों पर ही विचार करेंगे।

(क) सर्वज्ञता की प्रकृति सम्बन्धी आरोप :-

(अ) यदि सर्वज्ञता का अर्थ सभी वस्तुओं का क्रमिक ज्ञान है तो यह असंभव है क्योंकि संसार की समस्त वस्तुओं का काल की अपेक्षा से कभी लोप नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञान सर्वदा अपूर्ण ही रहेगा।[६८]

उत्तर -"केवल-ज्ञान" क्रमिक नहीं युगपत् होता है, अतएव ऐसी कोई कठिनाई नहीं।

(आ) यदि सर्वज्ञ का ज्ञान युगपत् होगा तो निम्नलिखित कठिनाइयाँ होंगी :-

(१). युगपत् ज्ञान होने से सर्वज्ञ विरोधी वस्तुओं की अनुभूति एक ही[६९] ज्ञानानुभूति से करेंगे जो सर्वथा असंगत है। अत: युगपत् भी नहीं होगा।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि तर्कत: चाहे यह कितना ही असंगत दीखता हो किन्तु व्यवहारत: हम एक साथ निबिड़ अंधकार में प्रकाश की किरण देखते हैं। काले बादलों के बीच विद्युत दीखता है। अत: दो विरोधी चीजों का एक साथ दीखना संगत है।[७०]

(२). युगपत् ज्ञान सम्बन्धी दूसरी आपत्ति यह है कि यदि सर्वज्ञ केवल ज्ञान द्वारा एक क्षण में ही समस्त भूत भविष्यत् को देख लेता है तो फिर उसके लिये किसी वस्तु का ज्ञान होना बाकी नहीं रहता, अतएव वह तो अचेतन जैसा हो जायेगा, चूँकि अब उसे कुछ जानना है ही नहीं।[७१]

किन्तु यह आरोप तभी सही होता जब सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष एवं समस्त संसार दोनों का तत्क्षण विनाश हो जाता। वस्तुत: ये दोनों तो चिरस्थायी हैं।

(३). सर्वज्ञ चूँकि रागद्वेषादि का साक्षात्कार करता है अतएव वह स्वयं[७२] रागद्वेष पूर्ण हो जाएगा और उसकी वीतराग की स्थिति समाप्त हो जायगी। किन्तु यह आरोप भी सही नहीं है। रागादि हमारे मनोविकार से उत्पन्न होते हैं, ये आत्मा के गुण नहीं। फिर आसक्ति और आसक्ति का ज्ञान अलग है। जिस प्रकार मद्य के लाभ-हानि आदि को जानने वाला स्वभावत: मद्यपी नहीं हो जाता उसी प्रकार रागादि का ज्ञान हो जाने से कोई रागासक्त नहीं हो जाता।

इसी तरह सर्वज्ञ को सभी अशुचि पदार्थों को जान लेने से ही रसास्वादन का दोष नहीं लगता। फिर सर्वज्ञ का ज्ञान तो अतीन्द्रिय होता है।[७३] इन्द्रिय से जब सम्बन्ध नहीं तो फिर इन्द्रियासक्ति कैसे होगी ? खैर, योगाचार तो बाह्य-संसार का अस्तित्त्व ही समाप्त कर इन सब झंझटों से छुट्टी ले लेते हैं।

(४). यदि सर्वज्ञता का अर्थ अखिल वस्तु पर्यायों का ज्ञान (जो कठिन है) न रख कर केवल प्रधान भूत वस्तुओं का ज्ञान माना जाय तो इसमें भी एक कठिनाई होगी; जैसे किन्हीं प्रधान वस्तुओं से अप्रधान वस्तुओं का भेद तब तक नहीं किया जा सकता जब तक हम संसार की समस्त वस्तुओं का परिज्ञान नहीं कर लें और समस्त वस्तुओं के परिज्ञान की भीषणता से बचने के लिये ही केवल प्रधान वस्तुओं का ज्ञान अपेक्षित समझा गया था। अत: यहाँ भी कठिनाई हो गयी है।[७४]

(५). यदि सर्वज्ञता के ज्ञान में अनादि और अनन्त झलकते हैं तो उनकी अनादिता या अनन्तता नहीं रह पाती।[७५] इसके उत्तर में यह कहा जायेगा कि जो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। किसी के स्वभाव को अन्यथा नहीं किया जा सकता, न अन्य रूप में वह केवल ज्ञान का विषय होगा।

(६). यदि सर्वज्ञता के ज्ञान में अतीत एवं अनागत (जिनकी वर्तमान में सत्ता नहीं) का बोध होता है तो इसका अर्थ हुआ कि केवल ज्ञान में असत् वस्तु का बोध होने से वह विपर्यय एवं विभ्रमपूर्ण है। किन्तु यह आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि अतीत की वस्तुओं की अतीत में वही सत्ता है जो वर्तमान कालिक वस्तुओं की है। इसी तरह भविष्य के विषय में कहा जा सकता है।

(७). किन्तु यदि अतीत और अनागत वर्तमान रूप से अनुभूत होते हैं तो फिर वर्तमान का अनुभव मानना चाहिये। किन्तु इसके विषय में तो पहले ही कहा जा चुका है कि अतीत का वर्तमान में अतीत रूपेण और अनागत रूपेण अनुभव किया जाता है। कर्मादि क्षय होने के कारण केवल ज्ञान को देश काल की बाधा नहीं रहती है।

(ख) वक्तृत्व सम्बन्धी आरोप :-

(१) मीमांसक अर्हत को इसलिये सर्वज्ञ नहीं मानते कि वह वक्ता है[७६] और रथ्यापुत्र की तरह

साधारण व्यक्ति। किन्तु वक्तृत्व एवं सर्वज्ञत्व में कोई विरोध नहीं। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ वक्तृत्व की प्रकर्षता इसको सिद्ध करती है। अत: यह आरोप गलत मानना चाहिये।[७७]

(२) चूँकि वक्तृत्व का सम्बन्ध विवक्षा से है, अत: वीतराग अर्हत में वक्तृत्व नहीं हो सकता। किन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वक्तृत्व एवं विवक्षा में अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सुषुप्त या मूर्च्छित व्यक्ति में विवक्षा का अभाव होने पर भी वचन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और विपरीत, मूर्ख एवं मन्द बुद्धि में कितनी भी विवक्षा रहने पर वक्तृता नहीं आती।[७९]

(३) अर्हत के वचन प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि अर्हत बुद्धादि की तरह एक व्यक्ति है। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वीतराग व्यक्ति के वचन ही यथार्थ माने जाते हैं। दूसरे तो झूठ भी बोल सकते हैं।[८०]

(ग) अन्य यौक्तिक आरोप एवं उत्तर :-

(१) चूँकि हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता अत: अनुपलम्भ होने से उसका अभाव मान लेना चाहिये। इसको तो सब से पहले माना नहीं जा सकता है क्योंकि षट् प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की है। फिर यह अनुपलम्भ किसको माना जाय - अपने को या सब को ? यदि प्रश्नकर्त्ता या संशयकर्त्ता को यह अनुपलम्भ है तो कोई बात नहीं। दुनियाँ में उनके द्वारा अनुपलब्ध असंख्य पदार्थों का अस्तित्त्व है। लेकिन यदि संशयकर्त्ता यह कहते हैं कि "सबको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है" तो यह सब के ज्ञानों को जानने वाला सर्वज्ञ ही होगा, असर्वज्ञ नहीं। अत: सर्वानुपलम्भ असिद्ध है।[८१]

(२) यह कहा जाता है कि समस्त संसार में हम एक भी सर्वज्ञ नहीं देखते। किन्तु हमारा अज्ञान हमारा प्रमाण नहीं बन सकता। यह तो वैसा ही हुआ कि हम कहें कि जैमिनि आदि वेदों का मर्म नहीं जानते थे क्योंकि अभी हम उनके जैसा व्यक्ति नहीं देखते।[८२]

(३) आगम वर्णित साधनों से यदि सर्वज्ञता प्राप्त होती है और फिर सर्वज्ञ के द्वारा आगम कह ाजाता है, तो दोनों परस्पराश्रित होने से असिद्ध हैं। इसका उत्तर होगा-"सर्वज्ञ आगम का कारक है। प्रकृत सर्वज्ञ का कारण पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से उत्पन्न होता है और पूर्व सर्वज्ञ का ज्ञान तत्पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ आचरण से। इस तरह दोनों का बीजांकुर सम्बन्ध है। पुरुष अपना विकास कर जब सर्वज्ञ हो सकता है तो उसी के गुणों से वचनों में प्रमाणता आयेगी।[८३]

(४) यदि सर्वज्ञ को धर्मी बनाकर भावात्मक हेतु दिया जाय तो असिद्ध हो जाते हैं, यदि अभावात्मक हेतु देते हैं तो विरुद्ध हो जायेंगे और यदि दोनों सर्वज्ञ के धर्म हैं तो अनैकान्तिक हो जायेंगे। वस्तुत: यह शंका ही गलत है। हम सर्वज्ञ को नहीं "कश्चिदात्मा" को धर्मी बनाते हैं, अत: ये सारे दोष नहीं लगते। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं - "कोई आत्मा सर्वज्ञ होगा। क्योंकि पूर्ण ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और उसके प्रतिबन्धक कर्मादिक्षय से हट सकते हैं।"[८४]

(५) सर्वज्ञ के साधक एवं बाधक दोनों प्रमाण नहीं मिलते, अत: संशय स्वाभाविक है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह गलत है। सर्वज्ञ का त्रिकाल एवं त्रिलोक में अभाव कौन बता सकता है ? जो स्वयं सर्वज्ञ है। अत: जो यह कहे कि कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, इसका अर्थ है कि कम से कम वह अवश्य सर्वज्ञ है क्योंकि उसने सब को देखा है।[८५]

८. सर्वज्ञता सिद्धि के कुछ प्रमाण : जैन ग्रन्थों पर आधारित :-

शास्त्रीय प्रमाणों के अतिरिक्त विभिन्न जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञ-सिद्धि के कुछ अपने-अपने मौलिक प्रमाण उपस्थित किये हैं, हम उन्हीं का विवेचन करेंगे।

(क) आत्मा का स्वभाव : अनन्त ज्ञान :-

जीव स्वाभाविक अवस्था में अनन्त चतुष्टय को प्राप्त रहता है किन्तु ज्ञानावरणीय कर्मों के कारण कर्म-पुद्गल प्रभाव से इसका अनन्त ज्ञान आवृत्त हो जाता है। किन्तु जिस प्रकार मेघ हटने मात्र से ही सूर्य का अविच्छिन्न प्रकाश मिलता है उसीप्रकार ज्ञानावरणीय कर्मों के प्रक्षय होने से ही जीव को सब वस्तुओं का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। स्वामी विद्यानन्द[८६] ने हरिभद्र कृत योग बिन्दु[८७] से इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण श्लोक ''ज्ञो ज्ञेयेकथमज्ञ:'' उद्धृत कर उसकी तार्किक विवेचना कर सर्वज्ञ सिद्धि की है। अकलंक ने भी न्याय-विनिश्चय[८८] में इसी तरह की अन्य रोचक उपमायें दी हैं। हाँ, बौद्धों का अनात्मवादी पूर्वाग्रह इस तर्क को स्वीकार करने में बाधक होगा। उनके अनुसार सर्वज्ञता के ज्ञान में विश्व का अनात्मरूपज्ञान होना चाहिये क्योंकि सत्ता को तो बौद्ध अनात्म रूप मानते हैं।[८९] कमलशील ने शान्तरक्षित की तत्सम्बन्धी कारिका पर भाष्य करते हुए सर्वज्ञता को प्रमाणित मानकर अनात्मवाद को प्रतिष्ठित करना[९०] चाहा जबकि जैन दार्शनिक आत्मवाद पर ही सर्वज्ञता प्रतिष्ठित करते हैं। अकलंक पूछते हैं कि जब अज्ञानवरण हट जाता है तो फिर जानने को रह ही क्या जाता है ?[९१]

(ख) समन्तभद्र का अनुमेयत्व-प्रमाण :-

स्वामी समन्तभद्र[९२] ने सर्वज्ञता की सिद्धि इस अनुमान से की है - सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं, जैसे अग्नि आदि। न्याय दीपिकाकार धर्मभूषण[९३] इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ ''प्रत्यक्ष'' का अर्थ ''प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय'' विवक्षित है क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में उपचार होता है। सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूँकि हम लोग अनुमान से जानते हैं अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ हैं। कुमारिल प्रत्यक्ष की इन्द्रियजन्यता[९४] पर बल देकर कहते हैं कि उनका जब प्रत्यक्ष ही आवश्यक है तो अनुमेयत्व की पूर्वकल्पना व्यर्थ है। अकलंक इसके उत्तर में कहते हैं कि अनुमान का वही विषय है जो प्रत्यक्ष का विषय हो चुका है। चूँकि ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं हैं इसलिए दूर, अन्तरित पदार्थ अर्हत के परमार्थ प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि प्रमेय है।[९५] इस तरह हम देखते हैं कि अकलंक ने सर्वप्रथम अनुमेयत्व हेतु लाया।

(ग) ज्योतिर्ज्ञान विसंवाद :-

जिस प्रकार ज्योतिष शास्त्र नक्षत्रों एवं सूर्य या चन्द्रग्रहणों के विषय में निश्चित ज्ञान देता है उससे हम अनुमान कर सकते हैं कि बिना इन्द्रिय वस्तु सम्पर्क के भी ज्ञान संभव है।[९६] इसी प्रकार प्रश्न-विद्या या ईक्षणी विद्या से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों का भासक होता है। यह भट्ट अकलंक की प्रमुख युक्ति है।

(घ) सुनिश्चित संभवद् बाधक प्रमाण :-

अकलंक ने इस हेतु का सर्वज्ञ सिद्धि के लिये प्रयोग कर इसे सबसे बड़ा प्रमाण माना है कि इसकी सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इसी को संकेत कर स्वामी विद्यानन्द[९८] ने कहा कि यदि छ: प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध हो तो उसे कौन रोक सकता है? आचार्य हेमचन्द्र[९९] ने भी ''बाधकाभावाच्च'' कह कर इसको समर्थित किया है। प्रभाचन्द्र[१००] छहों प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्धि कर दिखाया है।

(च) प्रज्ञातिशय-प्रमाण :-

ज्ञान का तारतम्य ही सर्वज्ञ के अस्तित्त्व का बीज है।[१०१] ज्ञान का भी मात्रा भेद होता है जिसकी पूर्णाहुति सर्वज्ञता में होगी। सुखलाल जी[१०२] इस प्रमाण का मूल योग सूत्र[१०३] में मानते हैं जिसे फिर न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन आदि ने लिया। किन्तु मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान चाहे जितना भी विकसित हो, उसकी अपनी सीमा तो है ही।[१०४] चाहे हमारा नेत्र कितनी ही प्रकृष्टता क्यों न प्राप्त कर ले लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम उससे शब्द का अनुभव कर सकें।[१०५] बुद्धि, प्रतिभा आदि से जो भी

अतिशयवान् देखे गये हैं वे न्यूनाधिक रूप से अतिशयवान् हैं न कि अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने से।[१०६] एक शास्त्र के ज्ञान में बड़े अतिशय देखे जाते हैं लेकिन दूसरे शास्त्र का ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं होता।[१०७] मीमांसक, पूछते हैं कि जो १५ फीट कूद सकता है उसके विषय में १५ मील कूदने की कल्पना कर लें तो यह तर्क की टांग तोड़ना होगा।[१०८] किन्तु मीमांसक यह भूल जाते हैं कि सर्वज्ञता का ज्ञान इन्द्रियज्ञान की प्रकर्षता नहीं बल्कि अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति में है।[१०९] केवल ज्ञान तो अनन्त होता ही है। जैन परम्परा में इस युक्ति का प्रथम प्रतिपादन मल्लवादी[११०] ने किया, फिर यशोविजय[१११] आदि ने इसका उपयोग किया।

(छ) अंश-अंशी प्रमाण :-

आचार्य वीरसेन[११२] ने "जयधवला" में सर्वज्ञता की सिद्धि अंश-अंशी न्याय से की है। जिस प्रकार पर्वत के एक अंश को देखने से पूर्ण पर्वत का व्यवहारत: प्रत्यक्ष माना जाता है, उसी तरह मति ज्ञानादि अवयवों को देखकर अवयवी रूप केवलज्ञान स्वसंवेदन से होता है। आत्मा का स्वाभाविक केवलज्ञान यहाँ मतिज्ञानादि रूप में प्रकट होता है।[११३]

९. सर्वज्ञता की संभावना : एक प्रयास :-

(क) विज्ञान के आदर्शों में सर्वज्ञता की संभावना :-

विज्ञान विश्व का सुव्यवस्थित क्रमबद्ध ज्ञान है। इसका उद्देश्य अज्ञान और अनिश्चयता को दूर कर सृष्टि की संश्लिष्टताओं को समझना ही है। इसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं। यह ठीक है कि रूढ़िवादी दर्शन-परम्परा की तरह यह सत्य के विषय में अंतिम निर्णय नहीं देना चाहता, किन्तु इसका आदर्श सृष्टि के समस्त रहस्यों का भेदन करना ही है। अत: यह सर्वज्ञता की एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ परिकल्पना पर प्रतिष्ठित है। यह कहा जा सकता है कि आकांक्षा, उद्देश्य या आदर्श का सत्य एवं तथ्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध सामान्यत: नहीं होता है; लेकिन हम इसे चाहे बिल्कुल सत्य भले ही नहीं माने किन्तु इसकी संभावना को तो, चाहे जितने भी अंश में, स्वीकार कर ही सकते हैं। आखिर ज्ञान-विज्ञान का विस्तार भी इसी क्रम से हुआ है।

(ख) परामनोविद्या में सर्वज्ञता की संभावना :-

पातंजल "योग सूत्र" में एवं अन्य योगग्रन्थों में सर्वज्ञता की स्थिति को सत्य माना गया है। योगशास्त्र[११४] के अनुसार सर्वज्ञता संयम, विवेक आदि से प्राप्य है। योगीज्ञान के लिये यह संभव है। खैर, यह तो पुरानी बातें हैं। परामनोविद्या की अद्यतन भूमिका में जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (क्लेयरबोयेंस, टेलीपेथी, क्लेयर आडीयेंस आदि=इन्द्रियेतर ज्ञान तथा प्राग्ज्ञान आदि) सम्बन्धी सहस्त्रों सफल अनुसंधान हो चुके हैं तो इससे सर्वज्ञता की संभावना बहुत हद तक स्वत: सिद्ध हो जाती है।

(ग) धार्मिक अनुभूति में सर्वज्ञता की संभावना :-

"धर्म-मनोविज्ञान" ने भी धार्मिक अनुभूति[११५] को स्वीकार किया है जो निश्चित रूप से इन्द्रिय अनुभूति से बहुत भिन्न है। धार्मिक रहस्यानुभूति की बात तो और ही है जहाँ विचार और वस्तु-जगत् एकाकार होकर ज्ञान-जगत् में एक विलक्षण सृजनात्मक अध्याय प्रारम्भ करते हैं। यह ज्ञान अकाट्य, अखण्डित एवं निर्बाध होता है। इसीलिये तो धार्मिक पैगम्बर सर्वज्ञ माने गये हैं। अत: धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति में सर्वज्ञता का अमिट संकेत है।

(घ) निरपेक्षवाद में सर्वज्ञता की संभावना :-

निरपेक्षवादी दर्शनों में सर्वज्ञता का बीज अन्तर्निहित है। जैसे उपनिषद् में, जहाँ आत्मन् को सर्वोच्च सत्ता माना गया है,[११६] वहाँ उसका ज्ञान ही सबका ज्ञान करा देगा। इसीलिये तो कहा गया है "य: आत्मवित् स सर्ववित्।"[११७] अद्वैत वेदान्त में, जहाँ ब्रह्म को चरम सत्ता स्वीकार किया गया है, उसका ज्ञान ही सर्वज्ञता है; यों सर्वज्ञता तो "प्राज्ञ" स्थिति में ही तो जाती है। सर्वोच्च सत्ता का ज्ञान

सर्वज्ञता से ही संभव है। ज्ञान एवं सत्य साथ-साथ चलते हैं। सर्वोच्च सत्ता के ज्ञान में सर्वज्ञता प्रतिफलित होगी ही। सर्वोच्च सत्ता के बाहर तो कुछ भी नहीं है, अत: इसके ज्ञान में सबका ज्ञान समाहित है।

(च) ज्ञान की सर्व संग्राहकता में सर्वज्ञता की संभावना :-

ज्ञान के अन्तर्गत सब कुछ है क्योंकि इसकी प्रकृति सर्व संग्राहकता है।[११८] अत: ज्ञान की सीमा वस्तुत: हमारी अपनी सीमायें हैं, इसीलिये तो इसका क्रमश: विकास होता ही रहा है। मानवीय ज्ञान से परे पदार्थ अज्ञात रह सकते हैं लेकिन अज्ञेय नहीं क्योंकि अज्ञात को भी अज्ञात रूप से जानना ज्ञान ही है। इसीलिये संशयवाद और अज्ञेयवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं। प्रत्यक्ष की सीमा ज्ञान की सीमा नहीं है, इसीलिये जिसका प्रात्यक्षिक प्रामाण्य नहीं हुआ तो उसका प्रामाण्य होगा ही नहीं, यह भ्रान्त धारणा है।[११९] अपने ज्ञान के विषय में कोई भी सीमा बांधना ज्ञान के उच्चतर गवाक्षों (कल्पना, चिंतन, कर्त्तव्यानुभूति, बौद्धिक एवं सौंदर्यानुभूति आदि) की उपेक्षा कर अपने को ही झुठलाना है।

१०. उपसंहार :-

सर्वज्ञता का विचार हमें अंधविश्वासपूर्ण एवं रूढ़िगत इसलिये दृष्टिगोचर होता है कि हममें ज्ञान की स्वनिर्मित, संकुचित एवं परम्परा से प्रतिष्ठित सीमाओं के उल्लंघन के बौद्धिक साहस का अभाव है। हम ज्ञान के प्रस्तुत एवं प्रचलित गवाक्षों से ही विश्व की समस्त व्यूह रचना देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। स्वभावत: हम सर्वज्ञता के स्वर्ग द्वार तक पहुँचने से वंचित रह जाते हैं। किन्तु हमें मानना चाहिये कि हमारे ज्ञान की मान्य साधनों की सचमुच अपनी निरीह सीमायें हैं। लेकिन अज्ञात अज्ञेय नहीं रह सकता, जब तक हम स्वयं अज्ञान के अनन्त अंधकार में अपनी विवशताओं में ही आबद्ध रहने का निश्चय न कर लें। ज्यों-ज्यों मानव ज्ञान की अपनी शक्ति का विकास करता जायेगा, अज्ञान एवं अज्ञात के आवरण भी स्वयं दूर होते जायेगें। अत: मौलिक रूप से, ज्ञान की सम्पूर्ण संभावनायें, उपलब्ध या अनुपलब्ध मानवीय ज्ञान की शक्ति सीमाओं में ही आबद्ध है।[१२०] आज ज्ञान के नवीन उपकरणों का आविष्करण अत्यन्त अपेक्षित है। इसके लिये नवीन आकांक्षा एवं नयी दिशा चाहिये जिससे ज्ञानमीमांसा की प्रचलित जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं में एक आधारभूत परिवर्तन हो सके।

***

संदर्भ सूची

१. *Gustava Weigel and Arthur G. Madden : "Knowledge : Its Values and Limits." Englewood Cliffs., 1991, Preface.*

२. *चार्वाक-प्रत्यक्ष; वैशेषिक-प्रत्यक्ष तथा अनुमान; सांख्य-बौद्ध-प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द; न्याय-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द; मीमांसा-प्रत्यक्ष; अनुमान; उपमान, शब्द, अर्थापत्ति; वेदान्त-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, एवं अनुपलब्धि: तथा पौराणिक सम्भव ऐतिह्य इत्यादि को भी प्रमाण मानते हैं।*

३. *Barua, B.M. A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy, Cal, Univ. 1921, pp. 330 1.*

४. *Ladd, L.T. : Knowledge, Life and Reality, Yale Uni, 1918, pp. 100-1.*

५. *डॉ. अजित कुमार सिन्हा कृत निबन्ध "ज्ञान की सीमायें" - दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६३, पृ. २३४।*

६. *डॉ. धीरेन्द्र कृत निबन्ध "ज्ञान की मीमांसा की नई व्याख्या"-दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६३, पृ. २२६।*

७. *डॉ. रमाकांत त्रिपाठी कृत निबन्ध "ज्ञान की सीमायें" दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६३-६४, पृ. २२२।*

८. *उपर्युक्त - पृ. २१२।*

९. *यशदेव शल्य कृत आलोचना "ज्ञान की सीमायें", दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल १९९४, पृ. १०-२।*

१०. *Gustava Weigel and Arthur Madden : Knowledge : Its Value and Limits, Cliff, 1961 P. 29. Five levels of knowledge.*

११. A. Sinclair : The conditions of knowing, Routledge and Kegan Paul, Lond. 1951, p. 13.

१२. Saswitha,"Principles of Thinking" in Proceedings of International Philosophical Congress, Brussels Vol. II, 1953 p. 59.

१३. Ladd, G. T. knowledge, Life- Reality, Yale Univ., 1918, p.p. 100.

१४. Searles, H.L. "The Revolt Against Epistemology", in Proceedings of International Philosophical Congress, Brussels, 1953, Vol. 11. p.73. (श्री अरविन्द के लाइफ डिवाइन से उद्धृत)

१५. अष्टाध्यायी, ३-१-१३५ ।

१६. तर्कवाचस्पति तारानाथ भट्टाचार्य कृत, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२, भाग-६, पृ. ५२५८ ।

१७. Sanskrita - English Dictionary, Oxford, 1956 P. 1185.

१८. राजा सर राधाकान्त देव सम्पादित, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६१, भाग ५, पृ. ३०३ ।

१९. P.K. Gode & G.C. Karve (Edited), Prasad Prakashan, Poona, 1959 P - 1656.

२०. (Ed.) Rhys Davids T.W. & Stede William, Pali Text Society, 1921, P-1656.

२१. जगदीश काश्यप कृत पालि महा व्याकरण, सारनाथ, १९४०, पृ. ६२ ।

२२. मुनि रतनलाल (स.) लिंबिड़ी - १९३२, भाग ४, पृ. ६९२ ।

२३. विजय राजेन्द्र सूरि (सं.) - भाग - ६, पृ. ५८५ ।

२४. शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह - कारिका - ३१२८-३१३३ (कुमारिल के वचन)

२५. ऋग्वेद १/२१/१; सामवदे - १/१/३ ।

२६. अथर्ववेद १/१३/४, ऋग्वेद १०/९१/३.

२७. ऋग्वेद - ९/४/८५, १०/११२/२.

२८. अथर्ववेद - ७, १, ११.

२९. जातवदेस् - अथर्व - १ ७/२; १/७/५; १/८२; २/११८; २/२९२ आदि, सहस्राक्ष-अथर्व, २/२८/३; सामवेद ३/१/१, यजुर्वेद - ३९/९
विश्वचक्षु - ऋग्वेद - १०/८१/३.
विश्वद्रष्टा: - अथर्व ९/१०७/४.

३०. वृहदारण्यक - ४/५/६.

३१. छान्दोग्य - ७/१/१; ६/१/१ - ३; वृहद - ३-७-१ ; मुंडक - १ १/३९.

३२. महाभारत - शांतिपर्व ५५/११ से आगे ।

३३. षड्खंडागम् सूत्र - ७८. (अमरावती प्रकाशन)

३४. प्रमाणवार्त्तिकालंकार - पृ. ३२९.

३५. तत्त्वसंग्रह-का. ३३२९.

३६. तर्क कौमुदी - पृ.९; विश्वनाथ का भाषा परिच्छेद-अधिकरण-३; पदार्थधर्म संग्रह पृ. १९५ ।

३७. योग सूत्र - १.२; ३.४९; ४.२९.

३८. जे.बी. राइन, जी.एन.एम.टीरल, एच.एच. प्राइस, चार्ल्स 'रीचेट, टीचनर, वेरट, मेयर आदि के नाम प्रख्यात हैं।

३९. मीमांसाश्लोक वार्त्तिक - सूत्र २ पृ. ८१; तत्त्वसंग्रह - का ३१८६.

४०. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ८९.

४१. तत्त्वसंग्रह-कारिका - ३२७१-३.

४२. तत्त्वसंग्रह - पृ. ८३१ ।

४३. स्याद्वाद रत्नाकर - ३८२ ।

४४. तत्त्वसंग्रह - पृ. ८५०.

४५. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ८१ ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड - पृ. २५३-२५४ ।

४६. प्रमेय रत्नमाला - पृ. ५४ ।
स्याद्वाद रत्नाकर - पृ. ३७० ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड - पृ. ७० ।

४७. तत्त्वसंग्रह - पृ. ८५३ ; स्याद्वाद रत्नाकर - पृ. ३८२ ।
४८. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ९३ ।
४९. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ९३, तुलना प्रमेयकमलमार्तण्ड - पृ. ७३; सन्मति टीका - पृ. ४५, स्याद्वाद रत्नाकर - पृ. ३८४, प्रमेय रत्नमाला - ५७ ।
५०. न्याय कुमुदचन्द-भाग १, पृ. ९३; तुलना-न्याय विनिश्चय - पृ. ५५३ ।
५१. तत्त्वसंग्रह - पृ. ८३१ ।
५२. तत्त्वसंग्रह - पृ. ८३८; तुलना-बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि - पृ. १३६; प्रमेय पृ. २६५ ।
५३. न्याय कुमुदचन्द्र भाग १, पृ. ९४ ।
५४. मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, न्याय रत्नाकर व्याख्या पृ. ८२; तत्त्वसंग्रह कारिका २१८७।
५५. "हिरण्यगर्भ प्रवृत्य स सर्ववित् स लोकवित्" - यह वचन "अर्थवाद" है - न्याय-सूत्र २/१/६४; न्याय-भाष्य पृ. १५६, अर्थ संग्रह - देखिये - तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक पृ. ४५; सन्मति टीका पृ. ९६ ।
स्याद्वाद रत्नाकर - पृ. ३६४, शास्त्रवती समुच्चय टीका पृ. ४९ ।
५६. न्याय कुमुदचन्द-भाग१, पृ. ९५; प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. २६४ ।
५७. तत्त्वसंग्रह-का. ३२१८ ।
५८. तत्त्वसंग्रह-का. ३२२३, ३२२४, ३२२८ ।
५९. प्रमेयकमलमार्तण्ड - पृ. २५० ।
६०. तत्त्वसंग्रह-का. पृ. ८४९; आप्तपरीक्षा - का. १०२;
स्याद्वाद रत्नाकर - पृ. ३८८, प्रमेयकमलमार्तण्ड - २६५ ।
६१. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ८८; प्रमेयकमलमार्तण्ड-पृ. २५० ।
६२. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ८८; प्रमेयकमलमार्तण्ड-पृ. २५० ।
६३. तत्त्वसंग्रह - का. ३२४८, ३२४९, ३२५० ।
६४. न्याय कुमुदचन्द्र-भाग १, पृ. ८९ ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड - पृ. २५० - १ ।
६५. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ९६ ।
६६. तत्त्वसंग्रह - का. ८५०; मीमांसाश्लोक वार्त्तिक - अभाव परिच्छेद श्लोक - १; श्लोक - २७ ।
६७. न्याय कुमुदचन्द्र - भाग १, पृ. ९६-९७ और प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. २६५-२६८ ।
६८. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. २५४ ।
६९. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. २५९ ।
७०. प्रमेयकमलमार्तण्ड २५४ । तत्वसंग्रह कारिका - ३२४७ से ३२६१ तक
७१. आउट लाइन्स आफ जैनिज्म - मोहनलाल मेहता - पृ. १०१; प्रमेय पृ. २५४ ।
७२. प्रमेयकमलमार्तण्ड - २५४, तत्त्वसंग्रह का. ३३१५ ।
७३. तत्त्वसंग्रह - का. ३३१८-९; तत्त्वसंग्रह का. ३३८१-८९ ।
७४. प्रमेयकमलमार्तण्ड - पृ. २५४-२५५ ।
७५. वही - पृ. २५४-२५५ ।
७६. मीमांसाश्लोक वार्तिक - चोदना सूत्र - श्लोक - १५८ ।
७७. स्याद्वाद सिद्धि-सम्पादक - दरबारीलाल, मा.च.दि. ग्रन्थमाला पृ. २९, जैन-दर्शन-पृ. ३०९-३१० ।
७८. मीमांसाश्लोक वार्त्तिक - चो. सूत्र - श्लोक - १६१ ।
७९. वही - पृ. २९-३०; जैन दर्शन पृ. ३१० ।
८०. स्याद्वाद सिद्धि - पृ. ३० ; अर्हत्सर्वज्ञ सिद्धिः श्लोक - १६, १७, १८ ।
८१. जैन दर्शन - पृ. ३१०-३११ ।
८२. वही - पृ. ३१२-३१३ ; स्याद्वाद सिद्धि - पृ. २९ ।
८३. जैन दर्शन - पृ. ३१२, स्याद्वाद सिद्धि - पृ. ३० ।
८४. जैन दर्शन - पृ. ३१३-३१४, न्यायावतारसूत्र वार्त्तिक - पृ. ५१ ।
८५. जैन दर्शन - पृ. ३१४ ।
८६. अष्ट साहस्त्री - पृ. ५० ।

८७. योग बिन्दु श्लोक - ४३१ - ज्ञो ज्ञेय कथमज्ञ: स्यादसति प्रतिबन्धने।

८८. न्याय विनिश्चय विवरणम्-द्वितीय भाग-सम्पा. महेन्द्रकुमार, ज्ञान पीठ भाग-२, पृ. २९४ न्याय वि. ३/७९, मलैरि मणि वित्र: - आदि।

८९. तत्त्वसंग्रह - ३३३७, ३३८८।

९०. तत्त्वसंग्रह - ३३४०।

९१. न्याय विनिश्चय-कारिका ४६५।

९२. आप्तमीमांसा कारिका ५।

९३. न्यायदीपिका - पृ. ४१, ४२।

९४. मीमांसा दर्शन - १.१.४।

९५. आप्त परीक्षा - का. २४६।

९६. न्याय विनिश्चय का. ४१४। सिद्ध विनिश्चय टीका - पृ. ४१३। स्याद्वाद मंजरी-श्लोक-२६। तुलना-तत्त्वसंग्रह-का-३१६६। आप्तपरीक्षा-का. २६३।

९७. न्याय विनिश्चय प्रवचन प्रस्ताव का. १९।

९८. आप्त परीक्षा-कारिका ९३; मीमांसाश्लोक वार्त्तिक ४.५.८४।

९९. प्रमाणमीमांसा - १.१.१७।

१००. प्रमेयकमल मार्त्तण्ड - पृ. २४७ से २६६; न्याय कुमुदचन्द्र-भाग १, पृ. ८६ से ९७।

१०१. प्रमाणमीमांसा - १.१.१६; स्याद्वादमंजरी-(टीका)-श्लोक - १७।

१०२. दर्शन और चिंतन पृ. ४२८।

१०३. पतंजलि का योग सूत्र "तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम्" १/२५।

१०४. तत्त्वसंग्रह - का ३१६०-६१।

१०५. वही - का. ३१६१-६२।

१०६. वही - का. ३१६०।

१०७. वही - का. ३१६५।

१०८. वही - का. ३१६८।

१०९. वही - का. ३३१८-९।

११०. दर्शन और चिंतन - पृ. ४२९।

१११. ज्ञान बिन्दु - प्रकरण पृ. १९।

११२. जैन दर्शन पृ. ३०८-९। जयधवला-आर, पत्र ८६६ए अष्टशती-का. ३; न्याय-विनिश्चय-पृ. ४६५। अष्ट साहस्री पृ. ५०।

११३. तुलना — Our phenomenal knowledge suggests a noumenal as a necessity of thought- राधाकृष्णन्-इंडियन फिलासफी-भाग १, पृ. ५०९।

११४. योग सूत्र - ३ ५०; ३.१४; ३ १६; ३ ४४; ३.४४।

११५. राधाकृष्णन् कृत Idealistic View of Life- पृ. ८४ देखिये Counter attack from the East, by C.E.M. Joad, 79-80 |

११६. कौशीतिकी - ४.१९।

११७. बृहदा. - ३.७.१; ४.५.६; प्रश्न. ४.१०-११।

११८. Angus Sinclair, The Condition of Knowing, Lond, 1957, P. 13.

११९. G.T. Ladd : Knowledge, Life & Reality, New Haven, 1918, P. 98.

१२०. Soli R. abbles, His article "Higher Modes of Congnition of Instrument of Knowledge" in Proceedings of International Philosophical Congress, (Brussels 1953), P. 72.

अवक्तव्य विश्लेषण

१. प्राक्कथन :-

जिस प्रकार अज्ञेय भी इस सीमा तक ज्ञेय है कि "वह अज्ञेय है" उसी प्रकार अवक्तव्य को भी वक्तव्य कहा जा सकता है। किन्तु इस प्रकार की वक्तव्यता साधारण अर्थ की वक्तव्यता से बिल्कुल भिन्न है। समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा है: "अवाच्यतैकान्तेऽपि उक्तिर्नावाच्यं इति युज्यते।"

साधारण अर्थ में वक्तव्य विधि या प्रतिषेध-मूलक होता है लेकिन विधि और प्रतिषेध के संयोग से साधारणरूप से चार कोटियाँ बनती हैं : विधि, प्रतिषेध, विधि-प्रतिषेध और न विधि-न प्रतिषेध। जैनों ने विधि और प्रतिषेध के साथ एक अन्य कोटि "अवक्तव्य" का आविष्करण कर पुन: इन तीनों कोटियों के अप्रनसक्त सात कोटियों का निरूपण किया है। कुछ विद्वान इसलिये इससे भी अधिक कोटियाँ बताते हैं।

वस्तु का स्वरूप कुछ इतना संश्लिष्ट एवं सूक्ष्म होता है कि शब्द उसके अखंड अन्तस्थल तक नहीं पहुँच पाते हैं। फिर भी उसका वर्णन तो किया ही जाता है। पहले अस्तिरूप वर्णन होता है, किन्तु जब वहीं अपर्याप्तता एवं अपूर्णता प्रकट होती है तो उसके नास्तिरूप का वर्णन होता है। किन्तु फिर भी जब वस्तु की वास्तविक एवं अनंत सीमा को वह छू नहीं पाता है तो अस्ति एवं नास्ति के युगपत् उभयरूप में वर्णन करने का प्रयास करता है। लेकिन फिर भी वह वस्तु की समग्र वास्तविकता का जब दर्शन नहीं कर पाता है तो वह वाणी की निरीहता, शब्द की अक्षमता एवं असमर्थता पर खीझ कर उसे "अवक्तव्य", "अनिर्वचनीय", "अव्याकृत", "अगोचर", "वचनातीत" आदि कह देता है, या मौन धारण कर लेता है।

'अवक्तव्य' का दूसरा अर्थ अस्ति एवं नास्ति का युगपत् वर्णन करने की शाब्दिक अक्षमता है। दोनों अर्थों में वस्तु-तत्त्व के स्वरूप-प्रकाशन में वाणी की असमर्थता को ही "अवक्तव्य" कहा जायेगा, लेकिन पहले अर्थ में "अवक्तव्य" वाणी की सामान्य एवं व्यापक असमर्थता है, अंतिम अर्थ में 'अवक्तव्य' दो धर्मों को युगपत् नहीं कह सकने की दृष्टि। वह वस्तु के एक धर्म के रूप में ही आता है। इस तरह 'अवक्तव्य' भी 'वक्तव्य' हो जाता है। जो भी हो, 'अवक्तव्य' को स्वीकार करने के कितने ही दार्शनिक प्रयोजन एवं परिणाम होते हैं।

२. संशयवाद और अवक्तव्य :-

संशयवाद के अनुसार "अवक्तव्यता" अनिश्चता एवं अज्ञानता का परिचायक है क्योंकि किसी समस्या पर चाहे विधिमूलक प्रश्न हों या प्रतिषेधमूलक, वे प्रतिषेधात्मक ही उत्तर देते हैं और अंत में अपना निर्णय ही स्थगित कर देते हैं। जैसे वे किसी भी प्रश्न के विषय में कहेंगे -

१. मैं ऐसा भी नहीं कहता।

२. मैं वैसा भी नहीं कहता।

३. मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता, या मैं कोई विकल्प भी नहीं प्रस्तुत करता हूँ।

४. मैं आपके कथन को अस्वीकार भी नहीं करता।

५. मैं यह नहीं कहता कि आपका कथन ठीक ही है या गलत ही है।

सारांश यह है कि संशयवाद निम्नलिखित चतुष्कोटियों में सभी का प्रतिषेध करते हैं -

१. विधि - अस्तित्त्वत: लोक शाश्वत है।

२. प्रतिषेध - अनस्तित्त्वत: लोक शाश्वत नहीं है।

३. विधि -प्रतिषेध-अनस्तित्त्वत: लोक शाश्वत है और नहीं भी है।

४. न विधि न प्रतिषेध-न अस्तित्त्वत: न नास्तित्त्वत: लोक न शाश्वत है न नहीं है।

प्राचीन यूनान में संशयवाद के चूड़ामणि प्रोटागोरस के अनुसार सम्बन्ध ही सत्य है, अत: सत्यासत्य का अन्तर ही समाप्त हो जाता है, और इस प्रकार ज्ञान की सम्पूर्ण संभावना ही समाप्त हो जाती है। जार्जिया ने तो यहाँ तक कह डाला कि किसी तत्त्व का अस्तित्त्व नहीं है और यदि हो भी तो वह अज्ञेय है और ज्ञेय भी हो तो वह दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकता है। पीरो ने तो यह कहा ''मुझे केवल किसी चीज की सत्ता के विषय में ही संशय नहीं है बल्कि इसमें भी संशय है कि मुझे उपर्युक्त कथन में भी संशय है।'' संक्षेप में, वे किसी भी प्रश्न पर हाँ या नहीं कहना अस्वीकार करते थे और हर कथन के पूर्व ''शायद'' शब्द का व्यवहार उचित समझते थे। न्यू एकेडेमी के मुख्य प्रवर्तक एर्सेलिपस ने तो स्पष्ट कह दिया : ''मैं किसी भी तत्त्व के विषय में निश्चित नहीं हूँ ; यही नहीं, मैं तो इस विषय में भी निश्चित नहीं हूँ कि मैं किसी चीज के विषय में भी निश्चित नहीं हूँ।''

इन सब बातों का निष्कर्ष यह हुआ कि संशयवादी प्रतिषेध को कोई ''प्रतिषेधात्मक वक्तव्य'' नहीं मानते। वह प्रतिषेध किसी विधि का ही अवबोधक होता है। जैसे, जब हम यह कहते हैं कि अभी दिन नहीं है, इनसे यह बोध नहीं होता है कि अभी रात है। यानी प्रतिषेध का प्रतिषेध विधि का द्योतक नहीं है।

३. अवक्तव्य एवं अज्ञेयवाद :-

संशयवाद की तरह अज्ञेयवाद में संसार की सत्ता को अस्वीकार तो नहीं किया जाता किन्तु उनका केवल यही कहना है कि संसार का ज्ञान संभव नहीं। वह अज्ञेय है। इसका कारण यह है कि हम जब कभी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो वह किसी निश्चित एवं निर्धारित विधेय के माध्यम से ही करते हैं। किन्तु ऐसा संभव नहीं है अत: संसार का ज्ञान भी संभव नहीं है। अज्ञेयवादी कहेगा - ''संसार तो है, लेकिन यह क्या है यह पता नहीं है और न इसका पता हो ही सकता है।'' उदाहरणत:, संसार के सम्बन्ध में यदि हम एक विधेय ''शाश्वतता'' को लें तो इसके लिए निम्न वाक्य-निरूपण होंगे-

१. संसार न शाश्वत है

२. संसार न अशाश्वत है

३. संसार न दोनों, यानी शाश्वत और अशाश्वत है।

४. संसार न दोनों में से कोई, यानी न शाश्वत न अशाश्वत नहीं है।

यहाँ चतुष्कोटि का निषेध किसी निश्चित वक्तव्य का द्योतक नहीं और न निषेध किसी निश्चित विधि के ही द्योतक हैं, यानी निषेध किसी विधि की ओर नहीं बल्कि अज्ञेयता की ओर इंगित करता है।

४. बुद्ध का अव्याकृतवाद :-

बुद्ध ने (मज्झिम निकाय-२१२३) तत्त्वमीमांसा के दस प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहने का कारण यह बताया कि ''इनके बारे में कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्या के लिए उपयोगी नहीं और न यह निर्वेद, निरोध, शांति, परमज्ञान या निर्वाण के लिए आवश्यक है।'' इसके कारण तो और भी कहे जाते हैं कि जब मतों का जंजाल फैला हो तो मौनावलम्बन ही ठीक होगा। फिर बुद्ध तो ''अप्पदीपा भव'' में विश्वास

करते थे, अत: वे चाहते थे कि हर व्यक्ति परम सत्य का स्वयं दर्शन करे। फिर परम सत्य का विधिमूलक वर्णन भी तो उसकी संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध कर संकुचित करता है। इसीलिए उपनिषदों ने नेति-नेति आदि कहा है। अंतिम बात यह है कि परमतत्त्व कुछ इतना गुह्य है कि उसका वर्णन इन अशक्त शब्दों से संभव नहीं और यही कारण है कि इन प्रश्नों पर अपने यहाँ मौनावलम्बन की भी एक परम्परा है तथा प्रश्नों के उत्तर देने के लिए "स्थापत्य" भी एक विधि है।

भगवान् बुद्ध के बाद नागार्जुन ने "अव्याकृतवाद" के क्रम में सत्य के प्रतिपादन में इसलिए चतुष्कोटि-वक्तव्य का केवल निषेध ही नहीं किया बल्कि उसके आगे जाकर एक विधिमूलक सत्ता का भी प्रतिपादन किया जिसे वे "शून्य" कहते हैं। किन्तु उनका यह शून्य न यथार्थ है न अयथार्थ, न दोनों और न दोनों में कोई नहीं। वह तो आगे जाकर यह भी कहता है कि "शून्य" का प्रत्यय भी परमसत्य को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है जो कि अवर्णनीय है। तथागत सत्य है, वह न शून्य है न अशून्य, न उभय न अनुभय। वह तो सभी अपेक्षाओं एवं सापेक्षताओं, संज्ञाओं एवं विशेषणों से परे है। वह अवक्तव्य है।

अत: नागार्जुन के अनुसार चतुष्कोटि का निषेध वास्तव में चरम सत्य के विषय में कथन का एक प्रयास है। यह केवल निषेध नहीं है, बल्कि निषेध किसी विधि का द्योतन करता है। विधि और निषेध विरोधी सत्तात्मक कोटियाँ हैं जिनमें एक का निषेध दूसरे का भाव प्रकट करता है। "शून्य" का अर्थ "रिक्तता" या "निषेध" भी किया जा सकता है, लेकिन वह गलत है। शून्यता का वास्तविक अर्थ "मध्यमप्रतिपदा" है जिसके अनुसार चरम तत्त्व न तो सत् है न असत्, न दोनों, न दोनों में कोई नहीं। वह सत् एवं असत् के निषेध का निषेध है।

५. अद्वैत और अवक्तव्य :-

नागार्जुन की भाँति शंकर ने भी अपने तत्त्वज्ञान में संशयवाद एवं अज्ञेयवाद को प्रविष्ट नहीं होने दिया और चरम सत्य के विषय में सुनिश्चित एवं असंदिग्ध विचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। किन्तु जहाँ नागार्जुन केवल चतुष्कोटि-निषेध की बात करते हैं वहाँ शंकराचार्य चतुष्कोटि-निषेध के भी निषेध की स्थापना कर चरम तत्त्व को वाणी एवं विचार से परे घोषित करते हैं। उपनिषदों में भी इसको कई तरह से कहा गया है -"यतो वाचो निवर्तन्ते"......"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति" .... आदि।

शंकर के अनुसार निषेध अपने आप में सत्य नहीं हो सकता, अत: उसका कोई भावात्मक अधिष्ठान अपेक्षित है। केवल नेति-नेति द्वारा हम चरम सत्य की अपेक्षित अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। जो भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि वास्तव में निरपेक्ष सत्य या सत्तास्वरूप एकमात्र ब्रह्म ही है जो अखंडित एवं अखंडनीय, अनिषेधमूलक एवं अनिषेध्यवान् है। इस दृश्य जगत् का भी वही आधार है, यानी यह मायामूलक प्रपंच जगत् भी निराधार नहीं है। अत: वह भले ही सत् नहीं हो लेकिन बन्ध्यापुत्रादि की तरह बिल्कुल असत् भी नहीं है, क्योंकि वह भावरूप जो है। फिर उसको एकसाथ सत्-असत् मानना आत्मविरोध पूर्ण होगा और सत्-असत् दोनों को एकसाथ उसके सम्बन्ध में अस्वीकार करना भी असंगत होगा, क्योंकि व्याघातक के विकल्प परस्पर बहिष्कारक होते हैं। अब यदि इस दृश्य जगत् के साथ चतुष्कोटि का निषेध हुआ तो तात्त्विक-जगत् के साथ इसका भाव स्वाभाविक है, जिसका अर्थ यह हुआ कि चरम-तत्त्व न तो सत् नहीं है, न असत् नहीं है, न सत्-असत् दोनों नहीं है, न दोनों में से कोई नहीं है। किन्तु चरमसत् असत् हो नहीं सकता क्योंकि भावरूप है, फिर यह एकसाथ न सत्-असत् होगा न दोनों में कोई नहीं। तो इतना ही निष्कर्ष हुआ कि चरम तत्त्व के विषय में ये कथन प्रयुक्त नहीं हो सकते लेकिन उसकी सत्ता अवश्य है। यानी चतुष्कोटि-निषेध भी एक विधि या भावात्मक कथन को प्रकट करता है। अद्वैत वेदान्त में "केवल निषेध" या "निषेध का निषेध" या

''निषेधद्वय'' ही नहीं है बल्कि इसके पीछे एक भावात्मक तत्त्व का संकेत है। असत् एक सापेक्ष प्रत्यय है जिसकी अवधारणा सत्य प्रत्यय से ही संभव है। इसलिए शंकर ने सत् और असत् को ''मिथुनीकृत्य'' (सत्यानृते मिथुनीकृत्य---- लोकव्यवहार:) कहा है। हाँ, इस चरम सत्य को मानसिक प्रत्ययों में बाँधा नहीं जा सकता और इसीलिए वाणी में उसकी अभिव्यक्ति भी संभव नहीं है। अत: ''अनिर्वचनीय'' कहा गया है।

६. अवक्तव्य एवं जैनदर्शन :-

जहाँ अद्वैत का ''अनिर्वचनीय'' केवल तात्त्विक है, जैनों ने इसको तात्त्विक और वास्तविक दोनों माना है। इसलिए यदि एक ओर संशयवाद एवं अज्ञेयवाद को जैन अस्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर प्रत्ययवाद एवं वस्तुवाद का भी समन्वय कर लेते हैं। यहाँ तात्त्विक जगत् एवं व्यवहार जगत् में भेद नहीं। हाँ, यह जगत् न तो ऐकान्तिक रूप से सत् है न असत्, न उभय न अनुभय। अत: यहाँ पर निषेध वास्तविक हैं या वस्तुस्थिति के विषय में वक्तव्य हैं। सत् एवं असत् एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं, अत: इन दोनों का भी निषेध संभव है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ निषेध का कोई भावात्मक अधिष्ठान आवश्यक नहीं है। दो निषेध मिलकर एक विधि-प्रत्यय की सृष्टि करते हैं, क्योंकि जब सत् एवं असत् किसी एक ही उद्देश्य के विधेय होते हैं तब उद्देश्य के विषय में कोई निश्चयात्मक वक्तव्य संभव नहीं है।

जैन दर्शन में ''अवक्तव्य'' का दार्शनिक आधार यह है कि एक ओर तो वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, दूसरी ओर मानव का ज्ञान सीमित है और तीसरी ओर वाणी की अपनी मर्यादा है। अत: जब हम उसके अखंड का वर्णन करते हैं तो उसका अस्तित्त्व प्रकट तो होता है लेकिन इसी के साथ उसका नास्ति-रूप भी तुरन्त प्रकट होता है। फिर भी वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का वर्णन नहीं हो पाता है। तब वह कालक्रम से ''उभय'' रूप में वर्णन करता है। किन्तु फिर भी जब मानवोचित अपूर्णता के कारण वर्णन वस्तु की पूर्णता तक नहीं पहुँचता है तो शब्द-सामर्थ्य के अभाव में उसे अगोचर, अनिर्वचनीय या 'अवक्तव्य' आदि कह दिया जाता है।

अत: 'अवक्तव्य' के जैन दर्शन में मुख्य दो अर्थ हुए - शब्द-सामर्थ्य के अभाव में अनन्तधर्मात्मक वस्तु को निरुपाधिक रूपेण वचनागोचर कह कर 'अवक्तव्य' मानना एवं दूसरा अर्थ यह कि ''सप्तभंगी'' में अस्ति-नास्ति दोनों के युगपत् कथन के सामर्थ्य के कारण अवक्तव्य कहना। इन दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। यदि हम एक प्रश्न करें कि ''क्या लोक शाश्वत एवं अशाश्वत दोनों रूप नहीं है, बल्कि अनुभय रूप है तो जैन दार्शनिक कहेंगे कि ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोक के परिपूर्ण स्वरूप को एकसाथ समग्रभाव से कह सके। अत: यह पूर्णरूप से अनुभय है, अवक्तव्य है।''

जैनों के 'अवक्तव्य' पर शंकराचार्य का यह आक्षेप है कि ''एक तरफ जैन दार्शनिक अवक्तव्य भी कहते हैं और फिर उसे अवक्तव्य शब्द के माध्यम से कहते भी जाते हैं - यह स्पष्ट विरोध है।'' किन्तु जैनों के अनुसार ''अवक्तव्य'' भी वस्तु का एक धर्म है जो वस्तु के समग्ररूप की अपेक्षा से है। ऐसा कोई शब्द नहीं जो वस्तु के अनन्तधर्मात्मक अखंडरूप का वर्णन कर सके। अत: यह अवक्तव्य होकर भी उन धर्मों की अपेक्षा से वक्तव्य है। चूँकि ''अवक्तव्य'' भी अपेक्षाकृत है इसलिए उस ''अवक्तव्य'' के पूर्व भी ''स्यात्'' शब्द जोड़ दिया गया है। यही नहीं, उनका मूल सिद्धान्त अनेकांत भी नय का विषय होने से अनेकांत रूप एवं प्रमाण का विषय होने के कारण एकान्त है, यानी अनेकांत भी कथंचित् अनेकांत (सम्यक् एकान्त) एवं कथंचित् एकांत (मिथ्या एकांत) होते हैं। जब तक किसी वस्तु का विवक्षित संदर्भ या दृष्टि प्रस्तुत न हो तो उसका सामान्य रूप से भी वर्णन दुस्तर हो जाता है। किसी एक संदर्भ की अपेक्षा किसी की स्वीकृति या अस्वीकृति तो संभव है या क्रमिक रूप से उसी की स्वीकृति एवं अस्वीकृति दोनों का कथन करना रहता है तो बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम उसे ''अवक्तव्य'' या

"अनिर्वचनीय" कह कर टालें। लेकिन टालने का अर्थ यह नहीं कि हम सत्ता को संशयवाद के किसी महान् गर्त्त में ढकेल देते हैं। 'अवक्तव्य' का अर्थ यह नहीं होता है कि किसी भी सत्ता का कथन संभव नहीं है बल्कि इसका केवल इतना ही अर्थ होता है कि किसी अपेक्षा से किसी वस्तु का अस्तित्त्व है, किन्तु वह अवक्तव्य है। यानी "अस्तित्त्व" एवं "अवक्तव्यता" का विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों के संदर्भ अलग-अलग हैं, दोनों की अपेक्षा एवं विवक्षा अलग-अलग हैं। सत्ता के अर्थ में "अस्तित्त्व" सही है, वर्णन के अर्थ में "अवक्तव्य" सही है।

शब्द के द्वारा पदार्थ के दो धर्मों का एकसाथ कथन संभव नहीं है क्योंकि शब्द धातुओं से बनते हैं एवं धातु क्रिया के वाचक हैं और क्रिया एक समय में एक ही होती है, दो नहीं। इसलिए जब दो धर्मों के एकसाथ प्रतिपादन करने का समय उपस्थित होता है तब यह कहा जाता है कि पदार्थ अवक्तव्य है।

उच्छेदवादी बौद्धों की मान्यता रही है कि शब्द किसी प्रत्यय को व्यक्त करते हैं और प्रत्यय सामान्य होते हैं। किन्तु वस्तु-स्वरूप तो विशेषात्मक होता है, इसलिए प्रत्यय वस्तु-स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते। इसी को लेकर संजय ने सर्वात्मक संशयवाद प्रतिपादित करते हुए कथन को स्थगित रक्खा। किन्तु मानवीय जिज्ञासा ने अज्ञेयवाद के इस प्रतिबंध के विरुद्ध विद्रोह किया जिसके अनुसार बिना अभिव्यक्ति के विचार को भी संभव नहीं माना गया है। और जब विचार ही नहीं तो फिर ज्ञेय एवं अज्ञेय के ऊपर विचार-विमर्श ही कहाँ संभव है ? यदि अभिव्यक्ति का वस्तु-स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है तो फिर सभी वक्तव्य केवल निरर्थक ही नहीं मिथ्यात्मक भी होंगे एवं सत्य एवं असत्य कथनों के बीच कोई भेद नहीं रहेगा। वास्तव में बौद्धों ने इस बात पर काफी प्रकाश डाला है कि भाषा का सम्बन्ध प्रत्ययों से एवं तार्किक विचारणा से है और इस प्रकार वस्तु-विशेष से उसका सम्बन्ध नहीं रह पाता है। किन्तु उन्होंने यह भुला दिया कि भाषा एवं तार्किक प्रत्यय वस्तु के सामान्य धर्म को प्रकट करते हैं जो वस्तु का आवश्यक एवं अविभाज्य अंग है।

इसीलिए इसके विपरीत, भारतीय वैयाकरणवादी भर्तृहरि ने शब्द को ही सृष्टि का सारभूत तत्त्व मानते हुए संसार को शब्द से उद्भूत बताया। कोई भी ज्ञान नहीं जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति नहीं है, या कोई भी विचार नहीं है जिसका प्राण शब्द रूपी शरीर में नहीं है। अभिव्यक्ति ही चेतना या सत्ता का भी सारभूत तत्त्व है। अत: जो ज्ञेय है वह स्वभावत: एवं अनिवार्यत: अभिधेय होगा। या यों कहें कि अभिव्यक्ति एवं ज्ञान पर्यायवाची हैं। किन्तु भर्तृहरि ने बौद्धों की एकांगिता का निराकरण करने के अतिरेक में स्वयं भी एकांगी होकर मानसिक प्रत्यय एवं प्रात्यक्षिक प्रत्यय के भेद को भी भुला दिया। यह ठीक है कि मानसिक प्रत्यय बिना शब्द के संभव नहीं है और न शाब्दिक ज्ञान ही बिना शब्द के संभव है किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान तो इन्द्रियों के द्वारा होता है। वहाँ शब्द की आवश्यकता नहीं है और न वह शब्दों में ठीक-ठीक वर्णित ही हो सकता है। इसीलिए प्रत्यक्ष की परिभाषा में उसे "अव्यपदेश्यम्" भी कहा गया है। फिर भर्तृहरि शायद यह नहीं समझते कि यदि शब्द ही ज्ञान एवं ज्ञान ही शब्द है तो एक ज्ञान और दूसरे ज्ञान में अंतर किस प्रकार होगा ? इस प्रकार प्रात्यक्षिक ज्ञान एवं प्रत्ययगत ज्ञान में भी भेद मिट जायेगा और फिर वस्तु विशेष या व्यक्ति विशेष का भी ज्ञान नहीं होगा।

इसीलिए जैन दार्शनिकों ने बौद्धों एवं व्याकरणवादियों दोनों को एकांगी मानते हुए "अवक्तव्य" के विषय में मध्यम मार्ग अपनाया। इसका यह भी कारण है कि जैनों ने वस्तु-स्वरूप को न केवल सामान्य-धर्मी या केवल विशेष-धर्मी नहीं माना बल्कि सामान्य-विशेषात्मक माना। सामान्य एवं विशेष दोनों का समग्र एवं सगुण समन्वय है। किन्तु यह समन्वय दोनों का केवल निर्जीव योग नहीं, उससे कुछ अधिक है, जिसमें दोनों की एकता, समग्रता एवं समन्वयता सुरक्षित है। वस्तु-स्वरूप अस्ति-नास्ति रूप है। किन्तु वह अस्ति-नास्ति युगपत् स्वरूप में किसी एक एवं अखंड शब्द प्रत्यय

से वर्णित नहीं हो सकता। कालक्रम से अस्ति एवं नास्ति भले ही किसी वाक्य में किसी उद्देश्य के विषय या विधेय बन सकते हैं किन्तु युगपत् रूप से यह असंभव है। यह शब्द की असमर्थता और वाणी की निरीहता है। वस्तु-स्वरूप अपनी अनन्त अपेक्षाओं से अखंड रूप से वर्णित नहीं हो सकता किन्तु यह अखंड रूप से अवक्तव्य भी नहीं है। इसीलिये वैविध्यपूर्ण वस्तु-स्वरूप न तो पूर्ण रूप से वाच्य है न अवाच्य, बल्कि अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि अपेक्षाओं से इसकी वक्तव्यता एवं अवक्तव्यता भी है। जैन दर्शन वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में अस्ति एवं नास्ति को केवल तार्किक विरोध की ही कोटियाँ नहीं मानता बल्कि उसको धर्मगत तार्किक विरोधी कोटियाँ स्वीकार करता है। यह ठीक है कि आकारिक एवं विशुद्ध दार्शनिक तर्कजाल भले ही इस प्रकार के विरोधों के परिहार में तादात्म्य एवं विरोध के सिद्धान्तों के मायामोह में पड़कर अक्षम हो जाय किन्तु अपने अनुभव एवं व्यवहार में हम हमेशा इन विरोधों का सामंजस्य करते रहते हैं। वस्तु के धर्मों का विरोध वस्तु की एकता को नष्ट नहीं करता। एक शब्द तो एक समय ही प्रत्यय को अभिव्यक्ति देगा, अत: एक साथ अस्ति एवं नास्ति को अभिव्यक्त करने के लिए एक अखंड शब्द का जब निर्माण नहीं हुआ है तो फिर हम उसे 'अवक्तव्य' शब्द से ही क्यों नहीं बोधित करें। वस्तुत: "अवक्तव्य भंग" एक वाक्य नहीं बल्कि दो वाक्यों का योग है। "अवक्तव्य" पद भी प्रतिषेधात्मक पद है और इसमें विधिमूलक अर्थ भी नहीं है। यह केवल इतना ही कहता है कि मूल सत्ता के विषय में एक समय में अस्तित्त्व एवं नास्तित्त्व जो सत्ता के दोनों समान धर्म हैं किसी एक शब्द प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकते, क्योंकि एक शब्द का एक समय में एवं एक संदर्भ में एक ही अर्थ होता है और जब सत्ता के विषय में किसी प्रतिषेधात्मक धर्म का वक्तव्य होता है तो फिर यह "अवक्तव्य" भी नहीं रह जाता।

***

परिच्छेद : दस

रेवतीरमण पाण्डेय

रेवतीरमण पाण्डेय

महिमा योगी, अन्तेवासियों के उन्नायक, शुभानुध्यानी आचार्य प्रवर गुरूवर प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय का जन्म (१९४२) उत्तरप्रदेश के जौनपुर अंचल में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने ही कुल-परम्परा के नैष्ठिक वातावरण एवं आंचलिक परिवेश में हुई। स्नातक, स्नातकोत्तर एवं डी.फिल. की उपाधियाँ इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त किया था। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से इन्हें दर्शनाचार्य की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। तदनन्तर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं गोरखपुर विश्वविद्यालय में कुछ दिनों तक लेक्चरर के रूप मे अध्यापन कार्य करने के पश्चात् १९७२ में वे "डाड फैलोशिप" के अन्तर्गत उच्च अध्ययन के लिए पश्चिमी जर्मनी गये। वहाँ गोयथे इन्स्टीट्यूट में इन्होंने अपने को जर्मन भाषा में प्रशिक्षित किया और 'म्युन्सटर' तथा "हाम्बुर्ग" विश्वविद्यालय में प्रो.लै. श्मिटहाउजेन के साथ 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' का भाषा वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया। इनका यह महत्त्वपूर्ण अध्ययन WZKS नामक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की मानक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। प्रो. पाण्डेय के कई महत्त्वपूर्ण शोध-पत्र "EAST & WEST" तथा "WAVES" इत्यादि पत्रिकाओं के माध्यम से भी प्रकाश में आये हैं। अपने अकादमिक जीवन में प्रो. पाण्डेय आद्यन्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन एवं धर्म विभाग से सम्बद्ध रहे। वहीं रीडर, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष तथा यू.जी.सी. एस.ए.पी. के समन्वयक रूप में पदस्थ रहते हुए इन्होंने कई एक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर विश्व के प्रसिद्ध विद्या संस्थानों की अकादमिक यात्राओं पर भी गये और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिया। १९९५ से १९९७ तक महात्मागाँधी संस्थान, मारीशस में जवाहरलाल नेहरू चेयर पर प्रोफेसर रहे। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के विकास और उसके माध्यम से राष्ट्रभाषीय शास्त्रीय दार्शनिक चिन्तन को बढ़ावा देने में इनका उल्लेखनीय योगदान रहा है। लम्बे समय तक इन्होंने दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका के प्रबन्ध सम्पादक एवं सम्पादक का दायित्व भी संभाला। इसके लिए इन्हें १९९१ में प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। प्रो. पाण्डेय दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद के गवर्निंग बॉडी के सदस्य एवं दार्शनिक त्रैमासिक के प्रधान सम्पादक भी रहे। इन्होंने 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दुइज्म' (प्रकाश्य) के फिलॉसफी सेक्शन के 'एशोसियेट एडिटर' के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ - मैन एण्ड दि युनिवर्स, साइन्टिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैतवेदान्त, अमृतस्य पुत्राः (एन अद्वैतिक एनकॉन्टर विथ ग्लोब्लिज्म एण्ड पोस्ट मॉडर्निज्म) एवं समग्रयोग इत्यादि हैं। इनका महाप्रयाण २७ जुलाई २००४ को हुआ।

*

वेदान्त एवं भारतीय संस्कृति : वासुदेवः सर्वमिति

सागर की प्रशान्त गहराईयों में, गिरि-गह्वरों में, विश्व के गहन कन्दराओं में माया, अन्टेक, अजटेक आदि अनेक संस्कृतियाँ इतिहास के गर्भ में सोयी पड़ीं हैं। कभी ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिणी-अमेरिका एवं भारतीय प्रायद्वीप परस्पर सन्नद्ध थे। प्राचीन संस्कृतियों में अब कुछ ही का बोध है, वह भी उनके भग्नावशेषों तथा इतिहास के पन्नों के माध्यम से। किन्तु भारतीय संस्कृति आज भी जीवन्त एवं सार्थक है। क्यों ? भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृति जिसे हिन्दू संस्कृति भी कहते हैं, में कौन सा तत्त्व है जो इसे आज भी जीवन्त एवं सार्थक बनाये हुये है ? इस संस्कृति के संस्कार का रहस्य क्या है जो इसे चिरन्तन एवं सनातन बनाये हुये है ? हिमालय की विशाल उपत्यका में, सिन्धु घाटी के प्रशस्त मैदानों में विहार करने वाली आर्यजाति, जिसका उत्स वैदिक संस्कृति रही, हिन्दुत्व (सिन्धु के कारण) शब्द से अभिहित की गयी। वही मूलत: वैदिक संस्कृति आर्य-अनार्य, आर्येतर-आर्यपूर्व संस्कृतियों का समग्र एवं समंजित मूल्यबोध और जीवन-दृष्टि भारतीय संस्कृति अथवा हिन्दू संस्कृति है। इस प्रकार इस संस्कृति में आर्य, आर्येतर-शक, हूण, द्रविड़, चीनी, तिब्बती, पारसी, अरबी, यहूदी एवं ईसाई सभी संस्कृतियों का कमनीय संगम है। एतावता रवीन्द्र बाबू का उद्गार कितना सार्थक है-

एई भारतेर महामानवेर
सागर तीरे .....
... एक देहे हल लीन

इसप्रकार भारतीयता भले ही एक भौगोलिक ईकाई हो किन्तु यह समग्र एवं पूर्ण जीवन-दृष्टि है। इसकी समग्रता एवं पूर्णता का क्या रहस्य है ? 'आमार-मध्ये तोमार प्रकाश ताई एत मधुर।'

भारतीय संस्कृति का मूल उत्स अद्वैत तत्त्व है जिसे उपनिषदों में 'तदेकम्' एकं सत्', 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है। वेदान्त का यही एकम्' 'अद्वितीयम्' 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है, यही 'वासुदेव: सर्वमिति' है। यही 'सर्वं खलुमिदं ब्रह्म' है। इसी का साक्षात्कार अमरत्व है, 'को शोक: क: मोह: एकत्वमनुपश्यत:' 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' यह एकानुपश्यत् ही अद्वैत-साक्षात्कार है, यही अपरोक्षानुभूति है, यही परम नि:श्रेयस् है, यही 'तदेकम्' 'एकं सत्' ब्रह्म है, सत्य है, 'रसो वै स:' है, यही 'सच्चिदानन्द' है। यही ब्रह्म अपनी अव्यक्त शक्ति, माया-शक्ति से सम्पन्न हो इस जगत्-प्रपंच के रूप में विवर्त होता है। यही सत्यम् एवं ऋतम् का मिथुनीभाव है। सत्य अधिष्ठान है और ऋत उसकी प्रक्रिया है। समस्त जागतिक प्रपंच नामरूपात्मक जगत् जिसमें अनन्तानन्त कर्ता एवं भोक्ता हैं जिनका देश-काल-कर्म सभी कुछ प्रतिनियत है, जिसका कण-कण, सूर्य, चन्द्र एवं समस्त नक्षत्र मण्डल ऋत से सुव्यवस्थित एवं परिचालित है, मनसाऽपिचिन्त्य यह विश्व उसी सत्यम् का ऋतम् के माध्यम से आभास है।

वही ब्रह्म=रस=आनन्द=आत्मा अर्थात् मानव-मन जब रसोन्मुख होता है उसके अन्तस् की अनन्त सम्भावनायें ही अनेकानेक रस-पेशल स्रोत के रूप में फूट पड़ती हैं, इन्हीं रस-पेशल स्रोतों की

समवेत संज्ञा संस्कृति है। संस्कृति मानव की अपनी ही दिव्यता का, दैवी सम्पत्तियों का साक्षात्कार है, यही उसकी पूर्णता है। पूर्ण ही सुन्दर है। पूर्ण, समग्र, संतुलित एवं समंजित रूप में ही लय, लोच, संगीतात्मक, अनुरंजन एवं अनुरणन् होता है।

हमारे ऋषियों एवं मनीषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होकर सत्य का साक्षात्कार किया। इसमें उस सत्य का ऋतम्=लय पाया तभी तो इतना मधुर है। सारा जगत् प्रकाश्य है, प्रकाशक वही चिरन्तन सत्य है। 'जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामू।' यह जगत् नटराज का नर्तन है। इस प्रकार ऋतम्=नर्तनम्=लय विधान है। यह परमशिव का स्पन्द है, विमर्श है, स्फुरण है। 'सा स्फुरत्ता महासत्ता।' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरः' यह जगत् प्रकृति मायी महेश्वर की माया=कृति है। भारतीय दृष्टि कृति, प्रकृति एवं संस्कृति के प्रति सुस्पष्ट है। तत्त्वतः समस्त इन्द्रियगोचर प्रपंच जिसे देश-काल एवं कारणता से नियमित एवं व्यवस्थित पाते हैं, उसे हम प्रकृति की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार यह समस्त नामरूपात्मक जगत् जो देश-काल एवं कारणता से प्रतिनियत है, उसी की संज्ञा प्रकृति है।[१] प्रकृति या जगत् प्रत्यक्ष से निर्धारित है। अपरिवर्तनीय कार्य-कारण-भाव से परिगृहीत जड़ वस्तुओं का विश्व है।[२] संस्कृति वस्तुतः मूल्यबोध है। मानवीय संस्कारों, सम्पदाओं का वृहत् कोष ही संस्कृति है।[३] अपनी दैवी सम्पदाओं का साक्षात्कार संस्कृति है। मनुष्य के भीतर महानट शिव बैठा हुआ है, वही सारी कलाओं का सर्जक है-'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' संस्कृति मानव के अपने ही सद्गुणों का, दैवी सम्पत्तियों का संस्कार है जिनसे वह व्यष्टि से समष्टि का, अपूर्ण से पूर्ण का, लघु से विराट का साक्षात्कार करता है। सांस्कृतिक जगत् अर्थगवेषणा एवं आत्मपर्येषणा के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है।[४]

प्रकृति के प्रति पाश्चात्य दृष्टि सर्वथा भिन्न है। पाश्चात्य दृष्टि में प्रकृति मात्र अन्न है, भोग्या है, साधन है; अतः प्रकृतिजय, प्रकृति-दोहन वहाँ के मनुष्य का अधिकार है। प्रकृति-जय एवं प्रकृति-दोहन की दृष्टि ने ही उसे प्राकृतिक विज्ञानों में विकास एवं समुन्नति का अवसर दिया। पश्चिम का सारा विज्ञान, उसकी सारी तकनीकी, उसकी सारी संस्कृति विशेषतः मसीही धार्मिक दृष्टि, उपभोक्तावादी संस्कृति है। इस संस्कृति ने प्रकृति का इस सीमा तक दोहन किया है, उसमें विकृति इस सीमा तक आ गयी है कि आज सारा पर्यावरण दूषित हो गया है। आज की यह वैज्ञानिक उन्नति तकनीकी सुविधाएँ समझ में नहीं आता कि इन्हें वरदान माना जाय अथवा अभिशाप। न तो शुद्ध जल, न शुद्ध वायु, सारी वनस्पति, पर्यावरण सब कुछ दूषित (polluted) हो गया है। न तो शुद्ध जल पीने को है; वायु लेने को और न ही शुद्ध अन्न खाने को। आज तो आकाश युद्ध की भीषण तैयारी हो रही है। अभी रूसी आणविक भट्टी में जो आग लगी वह कैसे बुझी सारी दुनिया जानती है। अग्नि-शमन तो किसी न किसी प्रकार हो गया किन्तु उससे उत्पन्न रेडियोधर्मिता ने समूचे उत्तरी यूरोप पर कहर ढा दिया है, वह सहस्राब्दियों तक ढाता रहेगा। इसने मुझे सुख एवं सुविधा तो प्रदान की किन्तु हमारी शान्ति छीन ली। इसने हमारे पशु को बढ़ाकर महादानव में बदल दिया किन्तु हमारे महाविराट विष्णु को जो करूणावरुणालय है, हमसे छीन लिया। इसके ठीक विपरीत हमारी भारतीय संस्कृति है। प्रकृति से इसका आत्मीय सम्बन्ध है। यह प्रकृति की स्वच्छन्द गोद में विकसित, पल्लवित एवं पुष्पित हुई, अतः इसका उसके भिन्न-भिन्न रूपों से आन्तरिक एवं शाश्वत् सम्बन्ध है। वेद की ऋचाओं के पाठ की प्रथम अनुगूंज प्रकृति की कन्दराओं एवं वनों से निस्सृत हुई। हमारे ऋषियों-मनीषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा का साक्षात्कार प्रकृति की नीरव गुफाओं एवं वनदेवी के शान्त कुंजों में किया। सारा रामायण एवं महाभारत वन्य जीवन के विभिन्न जीवन्त एवं मनोहारी दृश्यों से परिपूर्ण है। कालिदास की बनलता शकुन्तला के 'मधुरभासां दर्शनम्' पर दुष्यन्त विमुग्ध है। भवभूति की सीता की सारी करुणा वनदेवता के लताओं एवं पुष्पों में छायी है।[५]

भारतीय दृष्टि तत्त्वत: 'एकं सत्' की दृष्टि है, अद्वैती दृष्टि है, 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की दृष्टि है, फलस्वरूप प्रकृति के पोर-पोर में उसे 'तस्य भासा' का ही प्रकाश दिखायी पड़ता है। वैदिक ऋषि किसी भी अनुष्ठान के पहले शान्तिपाठ करता है। यह शान्तिपाठ कितना मङ्गलमय है-

द्यौ: शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति:
पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति: ।
वनस्पतय: शान्तिर्विश्वेदेवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति
सर्व शान्तिरेवशान्ति: सामाशान्तिरेधि ।।

-शुक्लयजुर्वेदसंहिता, ३६। १७ ॥

ऋत समस्त ब्रह्माण्ड की नियामिका शक्ति है, जो बाह्य प्रकृति के कण-कण को व्यवस्थित कर रही है। वही शक्ति मेरी इच्छा, संकल्प एवं विचार में भी व्याप्त है। बाह्य प्रकृति एवं आभ्यन्तर प्रकृति में अनूठा तादात्म्य है। गायत्री का यही रहस्य है। वह सविता जो समस्त लोकों को प्रेरित एवं प्रकाशित कर रहा है वही मेरी बुद्धि को भी प्रेरित एवं प्रकाशित करे। यही वेदान्त दर्शन का भी रहस्य है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' 'प्रतिबोधविदितम्' तभी 'तत्त्वमसि' का 'त्वम्' 'तद्' से एकाकार होता है। यही रहस्य वैदिक ज्ञान-विज्ञान के प्रथम केन्द्र यज्ञ-संस्था का भी है। यज्ञ के माध्यम से बाह्य-आभ्यन्तर का, धरती एवं स्वर्ग का, व्यक्त एवं अव्यक्त का, मनुष्य एवं देवता का और अन्तत: 'त्वम्' एवं 'तद्' का तादात्म्य होता है, तभी तो भगवद्गीता का कितना समीचीन उद्घोष है-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना: ॥

भगवद्गीता, ३।२४

इसप्रकार यज्ञ अर्पण है, आहूति है, ब्रह्म होने की, पूर्ण बनने की, किन्तु यह पूर्णता अनेकश: सोपानों के अनन्तर ही प्राप्त होती है। यज्ञ संस्था के विकास के साथ-साथ यज्ञ-विज्ञान भी विस्तृत एवं जटिल होते गये। नित्य किया जाने वाला अग्निहोम नित्य यज्ञ है एवं ऋतुचक्र के साथ विशेष प्रयोजन हेतु किया जाने वाला यज्ञ नैमित्तिक यज्ञ कहा गया। नित्य यज्ञ हिन्दू गृहस्थ का अपरिहार्य कर्तव्य है ताकि उसे अपनी देवार्पण बुद्धि का सतत् बोध होता रहे। हिन्दू गृहस्थ का प्रत्येक दिन एक आहुति है (आत्मन्येव हिता भवन्ति)। नित्य यज्ञ सन्ध्यावंदन के पंचमहायज्ञों के रूप में विकसित हुये। सन्ध्या-वन्दन के माध्यम से व्यक्ति कारण ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। उसी प्रकार पंचमहायज्ञों द्वारा कार्यब्रह्म के समस्त अंगों के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। यज्ञ का विस्तार इस सीमा तक हुआ कि वह धर्म का पर्याय बन गया। 'यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्मात् यज्ञं परमं वदन्ति'। पंचमहायज्ञ-ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं मनुष्ययज्ञ है। ये पंचमहायंज्ञ हिन्दू धर्म एवं दर्शन को शीर्ष पीठिका प्रदान करते हैं। व्यवहारत: इतना उदार, मंगलमय एवं सार्वभौम दृष्टिकोण विश्व के किसी भी मसीही धर्म में देखने को नहीं मिलता।

ब्रह्मयज्ञ या ऋषि क्रृण से उऋण हुआ जाता है एवं इससे आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है। इसी प्रकार पितृऋण से भी उऋण होने की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। देवयज्ञ से होता एक ओर देवताओं से उऋण होता है वहीं 'इदं देवाय नम: कहकर अपनी अहंता एवं ममता का भी त्याग करता है। भूतयज्ञ का बड़ा माहात्म्य है। देवयज्ञ से बचे हुये अन्नादिक से भूतयज्ञ का अनुष्ठान होता है। उद्भिज जातीय औषधि, लता, गुल्मों से लेकर स्वेदज, अण्डज, जरायुज जाति पर्यन्त सकल प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित करना एक ढोंग नहीं है। आज प्राकृतिक सम्पदा जल, वायु, वनस्पति को प्रदूषित कर तथाकथित विकसित मानव ने अपने अस्तित्त्व पर एक प्रश्नचिन्ह लगा लिया है। विश्व का कोई भी

पदार्थ उपेक्षणीय नहीं है एवं मेरे में सबका अपना-अपना अंश है। मनुष्य यज्ञ का नाम अतिथियज्ञ है। जो भी अभ्यागत दरवाजे पर आ जाये वह नारायण है, वैश्वानर है। अतिथि को आदर पूर्वक खिलाकर भोजन ग्रहण करना ही अतिथि यज्ञ है। इस प्रकार वैदिक धर्म में पंचमहायज्ञ पूर्णता के मुख्य सोपान हैं। सम्पूर्ण पुरुष सूक्त में यज्ञ का माहात्म्य है, पुरुष अपने निक्षेप से महाविराट् बन जाता है। सारी सृष्टि ही स्रष्ट्य के यज्ञ का फल है। पुरुष सूक्त किसी भी शक्ति के षोडशोपचार उपासना का अंग है। इस प्रकार यज्ञ एवं उपासना का सशक्त सेतु पुरुषसूक्त है। कोई भी उपासना बिना ध्यान के, भावना के, सम्पन्न नहीं होती। सतत् ध्यान अथवा भावना से योग की निष्पत्ति होती है। मनुष्य के सारे धार्मिक कृत्य, अनुष्ठान, यज्ञ, उपासना एवं योग अहंता, ममता के त्याग के माध्यम से ब्रह्म का, पूर्णता का साक्षात्कार होता है-

तमेतमात्मानं ब्रह्मणा यज्ञेन, दानेन,
तपसा नाशकेन विविदिषन्ति ॥

अहंता, ममता के त्याग से अणु विराट बन जाता है, विराट अणु बन जाता है, भगवान् भक्त बन जाता है। मीरा गोविन्द को मोल ले लेती है, रसखान की अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर सार्वभौम विश्वसत्ता को जो सच्चिदानन्द है, आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम परम निष्काम है, नाचने के लिये विवश करती हैं। कितनी समीचीन उक्ति है-

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीड़ामृगी कृतम्॥[६]

भारतीय संस्कृति में ज्ञान की सर्वाधिक महत्ता है। नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते'-ज्ञान सर्वथा पवित्र है। अतः निस्संकोच इसने इसका ग्रहण किया। ज्ञान, सद्विचार, भद्र बातें सर्वथा ग्रहणीय हैं, 'आनो भद्राः कतवो यन्तु विश्वतः'। भारतीय मनीषा ने भारतीय इतर मनीषियों को भी अपने ऋषियों जैसा श्रद्धेय एवं पूज्य माना। 'ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्तः' अतः भारत को शिल्प, कला, ज्ञान, विज्ञान एवं तकनीकी न तो बाहर से लेने में हिचक है और दूसरों को देने में ही। हाँ, देते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखा कि जिसे दिया जाय उसकी अस्मिता को बिना चोट पहुँचाये। इसीलिए हमारी स्मृतियों का यह उद्घोष है-

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।

आर्य राजा यदि अन्य देश पर शासन करे तो उसकी परम्परा, उसके धर्म पर हमला न करे। जहाँ जैसा धर्म हो वहाँ के धर्मग्रन्थों के अनुसार, धर्मगुरुओं के अनुसार उस धर्म का पालन करे। इसीलिए शुक्रनीति में कहा गया है कि जहाँ जिस धर्म के लोग हों वहाँ वैसा ही मन्दिर बने। आज हमारे यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, सौभाग्यवश एक साथ रहते हैं; इस स्थिति में परस्पर संघर्ष के लिये कोई स्थान नहीं। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में पंचशील के आधार पर एक समझौता हुआ है, कोई किसी की प्रभुसत्ता पर हस्तक्षेप न करे। इसी प्रकार धर्मों में भी यह व्यवस्था होनी चाहिए कि एक धर्म दूसरे धर्म की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप न करे। इसीलिए तो हमारा कहना कि अपने-अपने धर्म का, अपनी-अपनी संस्कृति का, अपने-अपने विश्वास के साथ पालन करना चाहिए। दूसरे के धर्म पर, दूसरे की सभ्यता पर, दूसरे की संस्कृति पर हमला नहीं करना चाहिए। इस सन्दर्भ में गीता का उद्घोष कितना समीचीन है-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

श्री मद्भगवद्गीता, ६।३२

हमें यदि स्वतंत्रता है तो दूसरे को भी वही स्वतंत्रता है। हमारी स्वतंत्रता वहीं से आरम्भ होती है जहाँ से दूसरे की स्वतंत्रता समाप्त होती है। इसीलिए तो हमारा शास्त्र भी यही कहता है-[७]

स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।

श्री मद्भगवद्गीता, ३।३५

भारतीय संस्कृति पर संस्कृत काव्यों के परिप्रेक्ष्य में राजसी वैभव, घोर श्रृंगार एवं ऐन्द्रिय विलासिता पर बल देने का आरोप लगाया जाता है। भारतीय मनीषा ने इन्हें ओछा नहीं माना है। भारतीय मनीषा ने ही कामसूत्र का सृजन कर 'त्रिवर्ग सेवेत' का उद्घोष किया। हाँ, इन सबके पीछे किसी न किसी महाभाव की प्रतिष्ठा की जाती है। हमारे संस्कृत के काव्यों में चाहे वह रामायण हो या महाभारत, अभिज्ञानशाकुन्तल हो या उत्तररामचरित इन सभी में राजसीवैभव एवं ऐन्द्रिय विलास की एक से एक कमनीय झांकी देखने का मिलती है किन्तु राजवैभव का सारा ऐश्वर्य वशिष्ठ आश्रम की कामधेनु नन्दिनी के समक्ष तुच्छ लगता है। इसीलिये विश्वामित्र नन्दिनी के लिये पागल हो जाते हैं। वल्कलधारिणी बनश्री शकुन्तला के अनिन्द्य सौन्दर्य पर दुष्यन्त सा चक्रवर्ती सम्राट् भी विमुग्ध है, 'हतोऽस्मि', 'लब्ध नेत्र निर्वाणम्।' किशोरी सीता के सौन्दर्य की उपमा के लिये कुछ बचता ही नहीं। राजराजेश्वरी राधा की एक बांकी चितवन पर कोटि कन्दर्भ लज्जित होते हैं।

सीता भारतीय मनीषा के लिए इसलिये आराध्या हैं कि वह सीता धरती की पुत्री हैं। रावण का त्रैलोक्य का ऐश्वर्य एवं वैभव सीता को अपने संकल्प, संयम एवं व्रत से डिगा नहीं पाता। राम हमारे लिये इसलिये आराध्य हैं कि वह मर्यादापुरुषोत्तम हैं। राम हों या कृष्ण; महावीर हों या बुद्ध-हमारे सभी महापुरुष अवतार पुरुष एवं लीला पुरुष हैं न कि इतिहासपुरुष। आज पश्चिम में वैदिक-गणित की धूम मची है। वैदिक ऋचाओं में सारे ज्ञान-विज्ञान का रहस्य छिपा है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही उनके रहस्यों का उद्घाटन सम्भव है। पुराणों का सृष्टि विज्ञान एवं उनकी कालगणना में आज भी भौतिकी के अनेक रहस्य छिपे हैं।

हिन्दू धर्म मसीही धर्मों सा संस्थागत न होकर मात्र शास्त्रगत है। धर्म के विषय में शास्त्र ही प्रमाण हैं, 'तस्माद् शास्त्रं प्रमाणम्।' शास्त्र के सब चार अंग हैं - वेद, स्मृति, सदाचार एवं आत्मानुकूलत। इसप्रकार शास्त्रीय ज्ञान स्थिर अथवा ठहरा हुआ न होकर वेद से परिभाषित,स्मृति एवं सदाचार से समर्थित एवं पुष्ट तथा उसे आत्मानुकूल होना चाहिए। इसप्रकार शास्त्र कोई जड़ वस्तु न होकर वह निरन्तर जीवन की व्याख्या में उतरते रहने वाले मनुष्य का अपना अन्तरंग अनुभव है। अत: हिन्दू धर्म ज्ञान से, आचरण से, क्रिया से, व्यवहार से जोड़ते रहने की प्रक्रिया है। यही उसे निरन्तरता, सनातनता एवं अखण्डता प्रदान करता है।[८]

हिन्दू धर्म शास्त्र धर्म है का क्या आशय है ? क्या यह मात्र पोथी धर्म है ? जीवन धर्म नहीं ? आचार्य शंकर का उद्घोष है कि सहस्रश्रुतियाँ आग को शीतल नहीं सिद्ध कर सकतीं, क्योंकि यह हमारे लोकानुभव की वस्तु है। शास्त्र यदि लोक का नहीं, तो वह किस काम का ? आकाश हमारा पिता है पृथ्वी हमारी माँ है। हम इस धरती के पुत्र हैं। आकाश एवं पृथ्वी की भाँति शास्त्र एवं लोक दोनों का ही सामरस्य है, हिन्दू धर्म लोक संग्रही धर्म है, उसका लोक बहुत विशाल है। वह किसी जाति, किसी चेहरे, किसी नस्ल का हो सकता है, परन्तु उसे लोक होना चाहिये। लोक के तीन अर्थ हैं, एक अर्थ हैं प्रकाश, प्रकाश का स्वभाव है प्रसरण, सब तरफ फैलना, दूसरा अर्थ चौदह भुवन (ऊपर के सात, भू-लोक, स्वलोक, तपोलोक, लोक, जनलोक, महालोक, सत्यलोक और नीचे के सात, तल, अतल, सुतल, पाताल, रसातल आदि), तीसरा अर्थ है प्रकाश और भुवन जैसी फैली हुई प्रकृति का मनुष्य, सामान्य जन (आज के मुहावरे का आम आदमी) जो देखता है पर अपने लिए और केवल अपनी आँख

से नहीं देखता है' वह आँख खोलकर देखता है और सब को देखता है, सबमें एक को देखता है।... मैं हिन्दू धर्म को लोक और शास्त्र कहता हूँ तो मेरा अभिप्राय इतना ही है कि वह कोरा ज्ञान नहीं, कोरा भाव नहीं, वह केवल मनु, पतंजलि या व्यास नहीं, वह केवल कबीर, रैदास या गाँधी नहीं, वह विचारक, भावक और भक्ति सबको मिलाकर है। इस समग्रता में उसका अनुशीलन और अनुभावन हो तभी वह अपने लिए और विश्व के लिए स्वस्तिकर होगा।[९]

हम ऊपर बता चुके हैं कि हिन्दू दर्शन के अनुसार ऋत समस्त ब्रह्माण्ड की नियामिका शक्ति है, वही बाह्य प्रकृति का अर्थात् भौतिक जगत् को व्यवस्थित एवं नियमित करती है। वही मनुष्य की आभ्यन्तर प्रकृति की भी नियामिका एवं व्यवस्थापिका है। यही हिन्दूकर्मवाद का उत्स है। कर्म एवं उसके फल की शृंखला है। वह अपनी इच्छा से कर्म कर उसके फल से बंधता है। यदि कर्म करेगा तो फल भी भोगना है, यदि फल चाहिये तो कर्म करना ही है। कर्म-फल की इस शृंखला को मानना भाग्यवाद नहीं। भाग्यवाद परतन्त्रता है, हमारे भाग्य का नियामक कोई अन्य है, हम भोगने के लिए विवश हैं। कर्मवाद स्वतन्त्रता है, यही मानव की चरम उपलब्धि है। सार्त्र भी मनुष्य को स्वतन्त्रता से परिभाषित करता है किन्तु उसके यहाँ स्वतन्त्रता दायित्वबोध है, जिसे वह परिताप एवं अभिशाप मानता है। भारतीय जीवन दृष्टि के अनुसार हम करके भी उसके फल से अनासक्त रह सकते हैं। अथवा सभी कर्मों का समर्पण उस महाविराट में कर सकते हैं अथवा कर्म तो शरीर का धर्म है, वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति का धर्म है, हम एवं हमारी आत्मा अनासक्त एवं असंग है। इस कर्मवाद के दो अनिवार्य अभ्युपगम हैं, जन्मान्तरवाद एवं आत्मा की अमरता। परमार्थतः वही 'एक सत्' जब व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाता है जो आत्मा की अमरता, जन्मान्तरवाद एवं कर्मवाद उसके मौलिक अभ्युपगम हैं जो उसे मसीही धर्मों से अलग करते हैं।

हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का एक मुख्य वैशिष्ट्य है, उसकी पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा। पुरुषार्थ आज मूल्य का पर्याय है, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों ही मूल्य हैं। मोक्ष तो परम पुरुषार्थ है। धर्मानुकूल अर्थ एवं काम स्वीकार्य है। 'धर्मादर्थश्च कामश्च'। मोक्ष तो उसका स्वरूप साक्षात्कार है। यही पूर्णता एवं अखण्डता है। पुरुषार्थ चतुष्टय में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का उद्भूत सामंजस्य है।

यदि संस्कृति मूल्यबोध है तो सभ्यता भौतिक सुख-सुविधाओं का संयोजन है। तथाकथित सभ्यता प्रकृति का दोहन एवं अनुकूलन है। सभ्यता वस्तुतः प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसे साधन बनाकर उपभोक्ता वादी दृष्टि है। संस्कृति से भारतीयता परिभाषित है न कि भारतीयता से संस्कृति। धर्म का मूल मानव प्रकृति की दैवी सम्पत्ति है मात्र उच्चारणया जनाचार नहीं। भारतवासी जनसमुदायों का प्रचलित शील और रूचि भारती संस्कृति नहीं है बल्कि उनकी शिष्ट चेतना के द्वारा स्वीकृत मर्यादाएँ और आदर्श को ही उनकी संस्कृति कहना चाहिए जिसका पता प्रत्यक्ष से नहीं लग सकता।[१०]

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा का मूलाधार परा विद्या है सनातन विद्या है। यही सनातनी संस्कृति जब भी अत्यन्त विकृति को प्राप्त होती है तब कोई न कोई 'लीला पुरुष' अवतरित होकर उस विकृति को दूर करता है। यही तो कृष्ण का आश्वासन है संभवामि युगे-युगे। यदि विद्या सनातन रूप में परावाक् से अभिन्न है और पश्यन्ती में उसकी साक्षात्कारात्मक अभिव्यक्ति होती है तो मध्यमा और वैखरी के स्तर पर उसकी बौद्धिक व्याख्या और लौकिक अभिव्यक्ति माननी चाहिए-[११]

चत्वारि वाक्पारमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणाः ये मनीषिनः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या ब्रवन्ति॥

ऋक संहिता १।१६४।४५

यही परावाक् ओंकार है, प्रणव है, ब्रह्म है, चिति है, परम शिव है, यही एकोऽहं बहुस्याम की इच्छा से लीला पुरुष होकर ब्रह्म-माया, शिव-शक्ति, राम-सीता एवं कृष्ण-राधा, साधक-उपासक की भावना से भावित होकर अन्यान्य रूप धारण करता है। ये हमारे उपास्य वाक् एवं अर्थ की तरह संपृक्त हैं, एवं सभी त्रैलोक्य-सुन्दर हैं। हमारे राम कोटि मनोज लजावन हारे हैं। हमारे कृष्ण समस्त गोपियों के पुंजीभूत प्रेम के साकार रूप हैं, परमानन्द सार सर्वस्व हैं। विष्णु की कान्ति पर लक्ष्मी मुग्ध हैं। भारतीय संस्कृति के विविध आयामों में 'रसोवैस:' की सारी कमनीयता एवं वैभव की एक से एक चित्ताकर्षक छवि सब निहारते ही बनती है, मूर्ति की रेखा-वंक उभार, मुद्रा-भंगिमाओं में चित्र के रंग एवं रेखाओं के उभारों में, नृत्य की लय-ताल-युक्त तरंगों में, संगीत के श्रवण-पुटपेय मधु निर्झरों में, साहित्य की मनोहारी शब्दार्थ बीथियों में सर्वत्र साक्षान्मन्मथ-मन्मथ का स्फुरण है।

यह अकारण नहीं कि भरत का नाम भारत और नाट्यशास्त्र से जुड़ा है। जिस प्रकार नाट्य में सारी कलाएँ सिमटकर एक हो गयी हैं, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र में-जो विशुद्धरूप में आर्यकृति नहीं है-समूचा 'लोक समाया हुआ है। नाट्यशास्त्र की लोकात्मकता अभी भी शोध के योग्य विषय है। अनेक संस्कृतियों का यह कलात्मक संगम है, मानो रंगमंच पर आकर काव्य-संगीत-नृत्य-वाद्य-वास्तुचित्र-मूर्ति-वृत्त-अभिनय-साज-श्रृंगार-वेशभूषा आदि अनेक धाराएँ एक हो सौन्दर्य धारा में मिल गई हैं। लगता है भारत का सम्बन्ध नाट्याचार्य भरत से अपेक्षया अधिक है, क्योंकि इसमें भारतीय सौन्दर्य-दर्शन की समग्रता, अखण्डता और लोकात्मकता अक्षुण्ण बनी हुयी है। भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि वस्तुत: भारतीय जीवन दृष्टि का पर्याय है।

युगों पूर्व हमारे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने देखा था कि आत्मा से बढ़कर और आत्मा के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी प्रिय नहीं। पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं होता। वह भी आत्मा के लिए प्रिय होता है। जो प्रिय है वह सुन्दर है, आनन्द है, रस है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने व्याख्या की : प्रेम से अधिक सुन्दर यहाँ कुछ भी नहीं। कला का प्रारम्भ 'करना-कहना-बनाना' से हुआ और मनुष्य ने जो सर्जनाएँ की वे कृति-भणिति-निर्मित' उसके लिए प्रिय थी अर्थात् सुन्दर और मनोरम अप्रिय की सर्जना वह क्यों करे। किसके लिये करे। प्रिय की सर्जना कलात्मक सर्जना है।

मनुष्य की 'कृति-भणिति-निर्मित' सुन्दर और प्रिय होती है, होनी चाहिये, उसमें आत्मा=चैतन्य= अपनापन की झाँकी मिलती है। अचेतन, स्थूल माध्यम में, चेतना का चमत्कार-यही तो कला का कृतित्व है। अतएव सुन्दर की अनुभूति में आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। आत्मा=रस=आनन्द=प्रिय है। कला इसीकी सर्जना करके कृतार्थ होती है... ।

कला जो भी हो, जहाँ काव्यार्थ रूपित होता है, चाहे रेखा हो, स्वर हो, शब्द हो शिला हो, वर्ण हों, वहाँ सुन्दर और प्रिय का आविर्भाव हो जाता है। रूप की शक्ति और सम्पदा से पुष्ट होकर अप्रिय भी प्रिय, असुन्दर भी सुन्दर हो उठता है। भारतीय विचारणा के अनुसार यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं-भय, शोक, क्रोध, काम, कुस्मित, घृणित, जघन्य जो रूप के रसायन न हो सकता हो।

हम चमत्कार को रस का सार मानते हैं। चमत्कार नहीं तो कला भी नहीं। भय को शृङ्गार रस में, क्रोध को वीर, शोक को करुणा और अन्तत: अप्रिय को प्रिय में बदल देना क्या कम चमत्कार है ? परन्तु यह तब होता है जब शोक-मन का भाव-श्लोक-रूप के गठन में स्वत: स्फूर्त होता हैं। देखे वाल्मीकि का क्रौंच-सूत्र।

क्या अशिव और अशुभ भी प्रिय हो सकता है ? जो प्रिय नहीं, अपना नहीं, सुन्दर नहीं, और जिसमें आत्म-प्रत्यक्ष अथवा आत्म-प्रतीति नहीं उसमें सत्य का प्रत्यक्ष और प्रतीति संभव नहीं। इस मान्यता को लेकर चलने वाला भारतीय कला दर्शन मंगल और शिव-शुभ को छोड़कर केवल पाप-

पतन-पीड़ा के सूत्र पर खड़ी की गई त्रासदी-कला से एकदम भिन्न हो तो आश्चर्य क्या ? माना त्रासदी में पाप-पतन-पीड़ा से मन राल-पिघल जाता है और गलकर मनोभावों का रेचन होने से अन्त: प्रसाद की अनुभूति होती है। यह पश्चिमी कला है, जिसका मन्तव्य 'शक्ति' है। भारतीय दृष्टि में गम्भीर वेदनाओं को महत्त्व दिया गया है क्योंकि इनके द्वारा मन अन्तर्मुखी होकर अपनी गहराईयों में अपने आप को खोजता है, और वहाँ सत्य-आत्म-प्रत्यक्ष से अद्‌भुत 'शान्ति' का अनुभव करता है। मानना होगा कि मन का यह महामंगल शिव, सत्य और सुन्दर है। भरत ने भी इस वैदिक परम्परा को माना है। उनके लिए सारे रसों का उत्स शान्त रस है। शान्ति यही आत्मा का स्वरूप भी है। यह भारतीय मनीषा की चरम निष्पत्ति है।[१२]

***

संदर्भ-सूची

१. *जी. सी. पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३ दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८१, पृ.५।*

२. *वही।*

३. *हरद्वारी लाल शर्मा, पृ. २०४।*

४. *जी.सी. पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर पृ. ५।*

५. *रेवतीरमण पाण्डेय, समकालीन भारतीय दर्शन (स. लक्ष्मी सक्सेना), उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण १९८३, पृ. १३०*

६. *रेवतीरमण पाण्डेय, समग्र योग, 'सुरेशोऽस्मेष प्रकाशन, वाराणसी, १९८५, पृ.११।*

७. *वही, पृ, १५५।*

८. *विद्यासिवास मिश्र, हिन्दूधर्म जीवन में सनातन की खोज, राधाकृष्णन, १९७१, पृ, २०।*

९. *वही, पृ. ९०।*

१०. *जी.सी. पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर,पृ. १३।*

११. *वही, पृ. २३।*

१२. *डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा, दार्शनिक त्रैमासिक, १९८८ अंक १, डा, शर्मा की 'सुन्दरम्' पुस्तक जो उ.प्र.शासन से १९७५ में प्रकाशित है, भारतीय संस्कृति में रुचि रखने वालों के लिए सर्वथा पठनीय।*

तत्त्वमीमांसा क्यों ?

वसन्त इन्नु रन्त्य: ग्रीष्म इन्नु रन्त्य: ।
वर्षाण्यनु हेमन्तो शरद् शिशिरा: रन्त्या: ॥

सामवेद, ६.४.२

"ग्रीष्म की धारा यंत्र-मुखरित सन्ध्या में चन्द्रकिरण अपना स्वर मिलाती है। वर्षा ऋतु में नवजल-सिंचित बनान्त में, हवा में झूमती हुई कदम्ब शाखाएँ भी इसी छन्द से आन्दोलित हैं। इसी ताल पर शरद्-लक्ष्मी अपने हंस-रूत-नूपुर की ध्वनि को मन्द्रित करती है, वसन्त के दक्षिण समीरण से चंचल कुसुमों से आम्र शाखाओं का कल-मर्मर इसी की तान-तान में प्रसारित होता है" (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)।

कितने उज्ज्वल धवल हंस, तो कितने हरे सुग्गे, फिर मयूरपिच्छों के चित्र-विचित्र रंग-सज्जा, पुन: मेघ गर्जन पर उनका उन्मत्त नृत्य किसे आह्लादित नहीं करता। अनन्त तारों से खचित तारामण्डल विभावरों की सघनता में उस रचना की (कृति) स्निग्ध कान्ति उड़ेलते हैं, शरद्पूर्णिमा की चन्द्रज्योज्स्ना अपनी अनन्त किरणों से उसी कृति की बाँकी झाँकी प्रस्तुत करती है।[1] आचार्य शंकर का उद्घोष है कि यह संसार इतना मनोरम एवं मनोज्ञ है कि इसका रूप-विन्यास मनसाप्यचिन्त्य है-मनसाप्यचिन्त्य-रचना-रूपस्य।[2] तुलसी-सा संत इसकी सुरम्यता पर मुग्ध है :

केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि
समुझि मनहिं मन रहिये।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहि
तनु बिनु लिखत चितेरे।
...सो आपन पहिचाने।[3]

स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया 'पराँचि खानि'[4] ताकि वे भगवद् छवि का रसास्वादन करें। "जिन नयनन सों यह रूप लख्यो उन नययन सों अब देखिये कहा।" रागात्मकता के अतिरेक में भक्त स्वयं उस राग से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, कबीर की उक्ति कितनी सशक्त है :

लाली मेरे लाल की जित देखहुँ तित लाल
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।

भावुक भक्त माधुर्य-पारावार में गोता लगा रहा है-

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरं
....
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।[5]

'रसो वै स: जो ठहरा।' तभी तो उद्धव जैसा ज्ञानी भी वृन्दावन में गुल्म-लता-औषधि होकर

श्रीव्रजाङ्गनाओं के पाद-पंकज-रज सेवन के लिए विह्वल हैं। यह एक कृति का चित्र है। कृति कल्पना भावना प्रधान होता है। वेद का तत्त्वान्वेषी मनीषी भी आत्मविभोर है, वह अपना कुतूहल छिपा नहीं पाता-

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषणो मनसा पृच्छतेदु-
तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥[६]

वह कौन-सा वन था, जिससे विश्वकर्मा ने आकाश एवं पृथ्वी का निर्माण किया। मनीषीगण मन से पूछें कि उसने जब भुवनों को धारण किया, तो उसका आधार क्या था? हमारे ऋषियों, मनीषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा का साक्षात्कार प्रकृति की नीरव गुफाओं एवं वनदेवी के शान्त कुंजों में किया। उस प्रकृति के पीछे सत्य का, ऋतम्-लय (ऋतस्य गोपा) का साक्षात्कार किया। इस प्रकार ऋतम्=नर्तनम्=लय विधान है। मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरः- यह जगत् मायी महेश्वर की माया-कृति है। भारतीय दृष्टि कृति, प्रकृति एवं संस्कृति के प्रति सुस्पष्ट है। तत्त्वतः समस्त इन्द्रियगोचर प्रपंच, जिसे देश-काल एवं कारणता से नियमित एवं व्यवस्थित पाते हैं, उसे हम प्रकृति की संज्ञा देते हैं। यह समस्त नाम रूपात्मक जगत् जो देशकाल-कारणता से प्रतिनियत है, उसे हम प्रकृति की संज्ञा देते हैं।[७] प्रकृति या जगत् प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित है। यह अपरिवर्तनीय कार्य-कारण-भाव से परिगृहीत जड़ वस्तुओं का विश्व है।[८] संस्कृति वस्तुतः मूल्यबोध है।[९] मानवीय सम्पदाओं का बृहत् कोष ही संस्कृति है।[१०] मनुष्य के भीतर अपनी दैवी सम्पदाओं का साक्षात्कार संस्कृति है। मनुष्य के भीतर महान शिव बैठा है। वही सारी कलाओं का सर्जक है-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, संस्कृति मानव के अपनी ही सद्गुणों का, दैवी सम्पत्तियों का संस्कार है, जिनसे वह व्यष्टि से समाष्टि का, अपूर्ण से पूर्ण का, लघु से विराट् का साक्षात्कार है।[११] सांस्कृतिक जगत् अर्थ-गवेषणा एवं आत्मपर्येषण्य के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है।[१२] इस प्रकार संस्कृतियों का शिल्पी ही अन्ततः तत्त्वान्वेषी होता है।

ऋग्वेद में यह जगत् एक शिल्प के रूप में वर्णित है। इसका शिल्पी कभी विश्वकर्मा है, तो कभी हिरण्यगर्भ। पुरुषसूक्त में महाविराट् पुरुष की चर्चा है। सम्पूर्ण पुरुषसूक्त में यज्ञ का माहात्म्य है। पुरुष अपने निक्षेप से महाविराट् बन जाता है, सारी सृष्टि ही स्रष्टा के यज्ञ का फल है। वैदिक संस्कृति को जिन लोगों ने कर्मकाण्ड-प्रधान या बहिर्मुख देखा है, उन्होंने अधूरा देखा है। 'परोक्षप्रियाः देवाः का सिद्धान्त यह अपेक्षा रखता है कि बहुत कुछ आँखों से ओझल है, मन की आँखों से ओझल है, उसके लिए आवश्यक है कि इन्द्रिय का मन में लय हो, मन का बुद्धि में, बुद्धि का अंहकार में और अहंकार का भी लय हो जाय, तो वह दीखेगा, और वह दीखेगा नहीं, देखने वाला हो जायेगा। यज्ञ के माध्यम से बाह्य आभ्यन्तर का, पृथ्वी एवं स्वर्ग का, व्यक्त एवं अव्यक्त का, मनुष्य एवं देवता का, अन्ततः त्वम् एवं तद् का तादात्म्य होता है। भगवद्गीता का कितना समीचीन उद्घोष है[१३]

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

वैदिक वाङ्मय में 'एकं सद्' ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ सूक्त और, पुरुषसूक्त तथा नासदीय सूक्त में बड़े समारोह के साथ हुई है-पुरुषमेवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। उपनिषदों में 'किं कारणं ब्रह्म यतो वा इमानि-ब्रह्म। माण्डूक्यकारिकाकार गौडपादाचार्य का उद्घोष है: 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' अद्वैतं परमार्थोहिद्वैतं तद्भेद उच्यते।[१४]

सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार संग्रह के अनुसार ब्रह्मवादियों का ब्रह्म, शून्यवादियों का शून्य, विज्ञानवादियों का विज्ञान, मीमांसकों का कर्म, सांख्यों का पुरुष, योगवादियों का ईश्वर, शैवों का शिव तथा कालवादियों का काल वस्तुत: एक ही तत्त्व है। यही तत्त्व प्रत्येक दर्शन का मूल तत्त्व है :

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत्
विज्ञानं विज्ञानविदां मलानां च मलात्मकम्
पुरुष सांख्यदृष्टीनां ईश्वरो योगवादिनाम्
शिव: शैवगमस्थानां काल: कालैक वादिनाम्
यत् सर्वशास्त्रसिद्धांत यत् सवहृदयानुमम्
यत् सर्वसर्वं वस्तु तत्त्वं तदऽसौ स्थित: ।[१५]

पुष्पदंत ने लिखा है कि वेद, सांख्य, पाशुपत मत, वैष्णव मत आदि एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के लिये भिन्न-भिन्न प्रस्थान हैं, जो मनुष्यों के रूचि-वैचित्र्य के कारण है :

त्रयी सांख्यं योग: पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद: पथ्यमिति च
रूचिनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिन नानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥[१६]

उनके इस वाक्य पर मधूसुदन सरस्वती ने जो भाष्य लिखा है, वह प्रस्थान-भेद नामक ग्रन्थ बन गया है। इस ग्रन्थ का तात्पर्य है कि सभी दर्शन और शास्त्र वेदान्त से सोपान-परम्परा द्वारा सम्बन्धित हैं। उनके अनुसार मुख्य रूप से तीन प्रस्थान हैं- (१) आरम्भवाद, (२) परिणामवाद और (३) विवर्तवाद। पहला प्रस्थान न्याय वैशेषिक का है। दूसरा प्रस्थान सांख्य, योग, शैव और वैष्णव दर्शनों का है और तीसरा प्रस्थान वेदांत का है। इसी मत को सदानन्द यति ने भी माना है।[१६]

कुमारिल भट्ट, मीमांसा वार्त्तिककार स्वयं कहते हैं कि शबर ने आत्मवाद का जो विवेचन किया है, उसका दृढ़तर भान वेदान्त के अभ्यास से होता है- इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां-भाष्यकृदत्रयुक्त्या। दृढ़त्वमेतद्विषयश्च बोध: प्रायेति वेदान्तनिषेवणेन ॥[१६]

उदयनाचार्य ने न्याय चर्चा से वस्तुत: वेदान्त का मनन स्वीकारा है, जो श्रवण के अनन्तर होता है-

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैवक्रियते श्रवणाननन्तरागता ॥[१९]

आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया, अर्थात् वेदान्त में बौद्ध मत का भी समन्वय सम्भव है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में इसे स्वीकार किया है कि वेदान्त का स्वल्प अपराध यह है कि वह ज्ञान को नित्य मानता है।

तेषामल्पराधे तु दर्शनम्
नित्यतोक्तित:।
रूपशब्दादिभिर्ज्ञानं व्यक्तम्
भदोपलक्षणात् ॥[२०]

कहने का आशय यह है कि भारतीय दर्शन की चरम की निष्पत्ति अद्वैत वेदान्त में होती है-

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावत् वेदान्तकेसरी ॥

वैदिक वाङ्मय में दार्शनिक जिज्ञासा के प्रति दो सामान्तर एवं स्पष्ट विधियों का प्रयोग हुआ

है। वे हैं, 'तत्पदार्थ शोधनविधि', जिसे हम विषयनिष्ठविधि कहते हैं एवं 'त्वंपदार्थशोधनविधि', जिसे हम विषयितानिष्ठ विधि कह सकते हैं। यदि प्रथम के माध्यम से हम जगत् के उत्स को जानने का प्रयास करते हैं कि 'किं कारणं ब्रह्म' तो द्वितीय माध्यम से हम अपने उत्स की तलाश करते हैं- आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य।[21] इन दोनों विधियों की चरम निष्पत्ति 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' आदि महाकाव्यों में होती हैं, जिनमें 'तत्' एवं 'त्वम्' का तादात्म्य स्थापित होता है।

तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन, दानेन तपसा नाशकेन विविदिषन्ति।

मनुष्य के सारे धार्मिक कृत्य, अनुष्ठान, यज्ञ, उपासना एवं योग अहंता, ममता के त्याग के माध्यम से ब्रह्म का, पूर्णता का साक्षात्कार है-

अहंता, ममता के त्याग से अणु विराट् बन जाता है, विराट् अणु बन जाता है, भगवान् भक्त बन जाता है, भक्त भगवान् बन जाता है, मीरा गोविन्द को मोल ले लेती है। रसखान की अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर सार्वभौम विश्वसत्ता को, जो सच्चिदानन्द है, आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम परम निष्काम है, नाचने के लिए विवश करती हैं। कितनी समीचीन उक्ति है-

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धंमुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीड़ा मृगीकृतम्॥[22]

निर्गुण, निराकार, अचिन्त्य, अनन्त, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य, अवेध ब्रह्म सर्वथा अपरोक्ष है, क्योंकि वह प्रत्यगात्मा है, अत: प्रेमास्पद है। दृश्यजगत् तो उसी का प्रकाश है। 'तस्य भासा' इतना ही नहीं 'प्रतिबोध विदितम्' 'तत्र कोशोक: क: मोह: एकत्वमनुपश्यत:'। 'शांते द्वैतं न विद्यते' इत्यादि।

तमसो मा ज्योतिर्गमय। अज्ञानान्धकार के तिरोहित होते ही सत् का साक्षात्कार होता है, असतो मा सद्गमय से अमृतत्व का आनन्द बोध होता है। मृत्यो: माममृतं गमय। भारतीय तत्त्वमीमांसा का यही रहस्य है-

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्था:
संन्यास योगाद्यतय: शुद्ध सत्वा:।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले
परामृतास्परिमुच्यन्ति सर्वे॥[23]

पाश्चात्य दर्शन में वहाँ की दार्शनिक जिज्ञासा का उदय 'तत्पदार्थशोधनविधि' से होता है। थैलीज को पाश्चात्य दर्शन का प्रथम दार्शनिक माना जाता है। उसके अनुसार जगत् का उत्स जल है। उसके बाद यदि अनैकजीमैण्डर असीमित को मूल का उत्स बताता है, तो अनैक्जीसिनीज अग्नि को। किन्तु यूनानी दार्शनिक भूमि पर सुकरात का ज्यों ही उदय होता है, त्यों ही 'त्वंपदार्थशोधनविधि' की प्रतिष्ठा होती है, आत्मानं-विद्धि। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक देकार्त के दर्शन में अस्मद् पद की प्रतिष्ठा होती है- Cogito Ergo sum। पश्चिम का महान् दार्शनिक काण्ट इसी क्रम में आकर Transcedented Unity of Apperception अहं-विमर्श की पुष्टि करता है। अस्तित्त्ववाद तो विषयिता प्रधान दर्शन है।भले ही स्वतंत्रता अभिशप्त हो, भले ही विषयिता के स्वरूप के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हों, किन्तु इस दर्शन ने मानव का तादात्म्य स्वतंत्रता से किया, क्योंकि वह चेतना है। इसी प्रकार हुसर्ल का स्थगन का सिद्धान्त भले ही बड़ा स्थूल है, किन्तु उसमें भी दर्शन का मुख्य विषय 'अहं विमर्श' ही है। पश्चिम की दार्शनिक जिज्ञासा की यही सबसे बड़ी त्रासदी है कि आज तक यह दर्शन 'तत्' एवं 'त्वम्' का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका। अत: मृत्यु की विभीषिका, संत्रास,

कुंठा से वह किसी को भी मुक्ति का मार्ग न दिखा सका। वहीं पर भारतीय दर्शन 'मृत्यु इन्नु रन्त्य:' का मान करता है। भले ही ह्यूम एवं एअर तत्त्वमीमांसा के निराकरण करने में सफलीभूत न हो पाये हों, किन्तु तत्त्वमीमांसा उनके लिए उतनी सार्थक नहीं, जितनी हमारी लिए है।

***

संदर्भ-सूची

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७० द्वितीय संस्करण, पृ. १२५।
२. ब्रह्मसूत्र, शारीरिक भाष्य, १.१.२।
३. तुलसीदास, विनयपत्रिका, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं, २०३१ चौबीसवाँ संस्करण, पदसंख्या १११.
४. कठोपनिषद् २.१.१.
५. वल्लभाचार्य, मधुराष्टक।
६. ऋग्वेद,१०.८१.४।
७. रेवतीरमण पाण्डेय, दार्शनिक त्रैमासिक, वेदान्त एवं भारतीय संस्कृति : वासुदेव सर्वामिति, १९८८, २, पृ.५१।
८. जी.सी.पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८१, पृ.५।
९. वही।
१०. रेवतीरमण पाण्डेय, दार्शनिक त्रैमासिक, वेदान्त एवं भारतीय संस्कृति: वासुदेव सर्वमिति: १९८८,३४.२ पृ. ५१।
११. जी.सी. पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर. पृ. ५।
१२. रेवतीरमण पाण्डेय, समग्र योग, सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी, १९८५, पृ. ९।
१३. भगवद्गीता, ४.२४।
१४. गौडपादाचार्य, माण्डूक्यकारिका, ३.१८।
१५. सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार-संग्रह,९८०-८२।
१६. महिम्नस्तोत्र, ७।
१७. संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९८७, द्वितीय संस्करण, पृ. ३८८।
१८. मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद-१४८।
१९. उदयनाचार्य, न्यायकुसुमांजलि, १.३।
२०. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, ३०३.३०।
२१. बृहदारण्यकोपनिषद् ४.५।
२२. रेवतीरमण पाण्डेय, समग्र योग, पृ. ११।
२३. श्वेताश्तरोपनिषद् ३.२.५-६।

स्वामी करपात्री जी के अनुसार धार्मिक स्वतन्त्रता का स्वरूप*

भारतीय धर्मशास्त्रों ने हिन्दू धर्म का प्रयोग न कर मात्र धर्म शब्द का प्रयोग किया है। गीता ने इस प्रकार धर्म का लक्षण बताया है-

य:शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत: ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

- गीता, १६।२३-२४

जो शास्त्र का मार्ग छोड़कर मनमाने ढंग से बरतता है वह न तो सिद्धि पाता है, न सुख और न परमगति। इसलिए क्या कर्तव्य है एवं क्या अकर्तव्य है, इसका निश्चय शास्त्र की कर सकता है, वही प्रमाण है, उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए।

एतावता शास्त्रविहित कर्म ही करणीय है। शास्त्रविहितत्वं कर्मत्वम्। इसी को महर्षि कणाद ने 'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धि: स धर्म:।' जिससे अभ्युदय एवं नि:श्रेयस् सिद्ध हो वह धर्म है, एवं धर्म की साधना से अभ्युदय एवं नि:श्रेयस् की सिद्धि-इस प्रकार यह परिभाषा धर्म की सापेक्ष परिभाषा है, तटस्थ लक्षण है। अत: महर्षि जैमिनि ने धर्म का स्वरूप लक्षण इस प्रकार किया है-'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्म: (१.१.२)' वेदविहित कर्म धर्म है, वेदनिषिद्ध कर्म अधर्म है। अग्निहोत्रं जुह्यात्-अग्निहोत्र करना चाहिए, वेद-विहित कर्म है, अत: धर्म है। इस प्रकार वेद ही कर्म का प्रवर्तक एवं निवर्तक है।

अब प्रश्न उठता है कि शास्त्र क्या है ? जैमिनि एवं कृष्ण के लिए शास्त्र पद का आशय वेद है, अनादि, अपौरुषेय, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद। गीता में कृष्ण ने स्पष्ट कहा है- ऋक्साम यजुरेव च- ९.१७, वेदानां सामवेदोऽस्मि- १०.२२। इस प्रकार वेदों के विधिवाक्य से बोधित जो अर्थ है उसका नाम धर्म है, वेदों के निषेध-वाक्यों से बोधित जो अर्थ है उसका नाम अधर्म है। एतावता शास्त्रवहित कर्म धर्म है, शास्त्रनिषिद्ध कर्म अधर्म है। इन्हीं में आर्ष-धर्मग्रंथ और जोड़े जाते हैं। इस प्रकार यदि मनु की व्याख्या ले लें तो श्रुति: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन:। इस प्रकार धर्म में प्रमाण चार हैं:-

१. श्रुति- अनादि अपौरुषेय मंत्रब्राह्मणात्मक वेद है।

२. स्मृति- श्रुति अविरुद्ध स्मृति ही धर्म में प्रमाण है। मन्वादि स्मृतियाँ स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। श्रुतिमूलक स्मृति ही धर्म में प्रमाण है॥

---

* १९८० अक्टूबर में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. हरीनारायण द्वारा आयोजित 'धार्मिक स्वतंत्रता' संगोष्ठी में स्वामी करपात्री जी के सम्भाषण को 'टेप' से संग्रहीत एवं सम्पादित कर इस रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय सुधी पाठकों के धन्यवादार्ह हैं।

३. सदाचार- शिष्ट जनों का आचार भी धर्म में प्रमाण है।

४. स्वस्य च प्रियमात्मन:- आत्मा को जो प्रिय हो।

इस प्रकार श्रुति अविरुद्ध स्मृति धर्म में प्रमाण है। पूर्वमीमांसा में एकवचन है 'औदम्बरी सर्वा वेष्टैतव्या' गूलर की शाखा को वस्त्र से लपेट देना चाहिए-इस वाक्य का श्रुतिवाक्य से विरोध है। श्रुतिवाक्य है- औदम्बरी स्पृष्ट्वा उद्गायतो' गूलर की शाखा का स्पर्श कर उद्गाता सामगान करे। यदि सारी गूलर को वस्त्र से लपेट दिया जायेगा तो उसका स्पर्श कैसे होगा ? उसका स्पर्श करके ही सामगान का विधान है। इस पर जैमिनि का सूत्र है- विरोधे तु अनपेक्षं स्यात्। जहाँ पर श्रुति से विरोध हो वहाँ स्मृति आदरणीय नहीं है किन्तु जहाँ विरोध न भी हो, वहाँ भी स्मृति स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। वहाँ भी श्रुति का स्मृति में अनुवाद कर लेना चाहिए। इयं स्मृति: श्रुतिमूलिका, स्मृतित्वात् मन्वादिस्मृतिवत्। मन्वादि स्मृति का वेद ने समर्थन किया है- यद्वै मनुरवदत् तद्भेषजम्। शतपथब्राह्मण ने मनुस्मृति को परम प्रमाण माना है। इस प्रकार आर्ष ग्रन्थों में सब कुछ आ गया-पुराण, रामायण, महाभारत, भागवत् एवं सभी स्मृतियाँ। इस प्रकार, अनादि अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद एवं वेदानुसार सभी आर्ष ग्रन्थों द्वारा विहित कर्म धर्म है। उनसे निषिद्ध कर्म अधर्म है। धर्म एवं शास्त्र का सर्वथा अनिवार्य सम्बन्ध है। जैसे-चाक्षुषं रूपम्। चक्षुषा एव रूपं उपलभ्यते- मात्र चक्षु से ही रूप का बोध होता है अन्य किसी प्रमाण से नहीं। अन्ययोगव्यवच्छेद। साथ ही अयोगव्यवच्छेद भी कर लेना चाहिए। चक्षुषां रूपं उपलभ्यते एव- सहकारी कारणों के रहने पर निर्दोष चक्षु से रूप का बोध होता ही है। इस प्रकार चक्षु एवं रूप का असाधारण सम्बन्ध है उसी प्रकार इन दोनों व्यवच्छेदों से शास्त्र एवं धर्म का भी असाधारण सम्बन्ध है। चोदनालक्षणोऽर्थों धर्म:' वैदिक वाक्य से ही धर्म का बोध होता है। साथ ही वैदिक वाक्य से धर्म का बोध होता ही है। इस प्रकार वेदादि शास्त्रों से विहित आचरण-देह, मन, इन्द्रिय का हलचल धर्म है। वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध देह, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार का हलचल अधर्म है। एतावता शास्त्र नियन्त्रण के लिए है। कान्स्टीच्यूशन (संविधान) का क्या उद्देश्य है ? राष्ट्र में उच्छृंखलता रोकना। हमारे यहाँ यह माना गया है- अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। शुक्ल यजुर्वेद के दसवें अध्याय का मन्त्र है विद्या-अविद्या दोनों का ही समाश्रयण करना चाहिए। यहाँ विद्या का आशय उपासना से है एवं अविद्या का आशय कर्मकाण्ड से है। अविद्या विद्या का अभाव नहीं है, विद्या भिन्न विद्या सदृश पर्युदास अर्थ करना चाहिए। वेद विहित उपासना एवं कर्मकाण्ड-देह, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार की हल चलें। वेदविहित कर्मकाण्ड से व्यक्ति मृत्यु को पार कर जाता है। यहाँ मृत्यु का आशय मनमानी हलचल है, मनमानी हलचलों का नियंत्रण करना ही शास्त्र का लक्ष्य है। कान्स्टीच्यूशन राष्ट्र में अव्यवस्था को रोकता है ताकि सभी एक दूसरे के पोषक हों, शोषक न बनें। सभी एक दूसरे का रक्षक बनें, भक्षक न बनें। यह तो लौकिक कान्स्टीच्यूशन है। इसी प्रकार ईश्वरीय जो कान्स्टीच्यूशन है वही हमारा वेदादिशास्त्र है। कोई भी व्यवस्था बिना कान्स्टीच्यूशन के नहीं चल सकती। एक म्युनिस्पेलिटी के शासन के लिए भी विधान चाहिए। इसी प्रकार प्रान्त एवं राष्ट्र के लिए विधान की आवश्यकता होती है। फिर जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करता है, इस प्रकार विश्वहित की दृष्टि से ईश्वर ने जो कान्स्टीच्यूशन (विधान) बनाया वही शास्त्र है। शास्त्र का सीधा अर्थ है-शास्तु: वचनं शास्त्रम्। लौकिक कान्स्टीच्यूशन में रद्दोबदल होता रहता है, क्योंकि एक देश-काल में बना हुआ कान्स्टीच्यूशन दूसरे देश-काल में निरर्थक हो जायेगा, क्योंकि कान्स्टीच्यूशन बनाने वाले सर्वज्ञ नहीं होते। उनकी दृष्टि में सर्वकाल, सर्वदेश, सर्वपरिस्थिति नहीं होती। किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, अत: उसकी दृष्टि में सर्वकाल, सर्वदेश सर्वपरिस्थिति है, अत: वह अपने कान्स्टीच्यूशन में सर्वकाल, सर्वदेश, सर्वपरिस्थिति का ध्यान रखता है। इसलिए ईश्वरीय कान्स्टीच्यूशन ही वेद है। अत: उसके अनुसार देह-मन-इन्द्रिय-

अहंकार एवं बुद्धि की जो भी हलचल है, जो भी व्यापार है, वह धर्म है ; उससे निषिद्ध कर्म अधर्म है। यहाँ पर कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता यह कहती है- पूर्वे-पूर्वे वचस्तदूचु:। ईश्वर ने भी वेद को बनाया नहीं। ईश्वर के नि:श्वास से वेद का प्राकट्य हुआ। नि:श्वास में व्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं होती। इस प्रकार जो बुद्धि प्रयत्नसापेक्ष नहीं है, अकृत्रिम है ; वेद ईश्वर के नि:श्वासतुल्य है, वह अपनी बुद्धि नहीं खर्च करता। इस प्रकार वेदों का ईश्वर से आविर्भाव स्वाभाविक होता है। वेद शास्ता का वचन होता हुआ भी नि:श्वास न्याय से वचन है। नैयायिक लोग कहते हैं कि ईश्वर वेदों का उत्पादक है। ईश्वर वेदों का कर्त्ता है। यों इसे मानने में कोई खास हर्ज नहीं है, किन्तु किसी पुरुष द्वारा सृष्ट वस्तु में पौरुषेय दोष होता है। हर पुरुष में, भ्रम, प्रमाद लिप्सादि दोष सम्भावित है। इस प्रकार पुरुष द्वारा सृष्ट वस्तु में भ्रम, प्रमाद, लिप्सा, कर्णपाटवादि दोष हुआ करते हैं। ईश्वर में यद्यपि ये दोष नहीं है, अत: ईश्वर द्वारा वेद को निर्मित मानने में यों कोई हर्ज नहीं है तो भी उसमें एक दोष की सम्भावना रहती है। ईश्वर कभी छल कर सकता है। तुलसीदास कहते हैं-छल कर तारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह। भगवान् विष्णु ने छल कर एक कार्य किया। प्रसिद्ध है कि समुद्र मन्थन में अमृत-विभाजन के विवाद में साक्षात् विष्णु ने ही मोहिनीरूप धारण कर असुरों के साथ छल किया। यद्यपि यह लोककल्याण की भावना से ईश्वर ने प्रवंचना की। बिच्छू को, साँप को दूध पिलाना कोई अच्छी बात नहीं, असुर यों ही बड़े उग्र होते हैं फिर उन्हें अमृत पिलाना कोई अच्छी बात नहीं। इसलिए ईश्वर ने मोहिनीरूप धारण कर असुरों के साथ छल किया। किन्तु ईश्वर छल कर सकता है। भले ही लोककल्याण की भावना से वह छल करें। इसलिये पूर्वमीमांसक एवं उत्तरमीमांसक बड़ी ही दृढ़ता के साथ वेद को अपौरुषेय मानते हैं। इस प्रकार वेद न तो ईश्वर द्वारा और न तो जीव द्वारा ही निर्मित है। वेद अपौरुषेय होने के नाते अपास्तसमस्तशंका-कलंक-पंक है, परम प्रमाण है, अत: धर्म- अधर्म का ज्ञान मात्र उन्हीं से हो सकता है। इस प्रकार अग्निहोत्र से स्वर्ग होगा कि नहीं, इसे न तो आँख से देख सकते हैं, न तो तर्क, युक्ति, अनुमान से ही जान सकते हैं, इसी प्रकार ज्योतिष्टोम, बाजपेय अन्य बहुत सारे कर्म हैं जिनके फल का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। इसीलिए यह खास बात है-अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रमाणानां प्रामाण्यम्। जो अज्ञात ज्ञापकता है वही प्रमाणों का प्रामाण्य है, जो ज्ञात का ज्ञापक है वह प्रमाण ही नहीं। रूप का ज्ञान आँख से अतिरिक्त अन्य किस भी प्रमाण से सम्भव नहीं। उसका ज्ञापक होने के नाते वह रूप का प्रमाण है। इस प्रकार प्रत्यक्ष से ज्ञात, अनुमान से ज्ञात के बारे में यदि वेद बताता है तो वेद का वेदत्व ही भंग हो जाता है। इसीलिए सायण का उद्घोष है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा वस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण से जिसको नहीं जान सकते, अनुमान प्रमाण से भी जिसको नहीं जान सकते उसी को बताने के लिए वेद है। कुछ लोग कह सकते हैं कि भले ही साधारण प्रत्यक्ष से धर्म का ज्ञान न हो, अलौकिक प्रत्यक्ष से तो धर्म का ज्ञान हो ही सकता है। भट्टपाद कुमारिल ने इस पर खूब विचार किया। योगी में योगज सामर्थ्य होता है। योगज सामर्थ्य से धर्म का प्रत्यक्ष हो सकता है। भट्टपाद का कहना है कि योगज सामर्थ्य होने पर भी आँख से रूप को ही देखेगा, आँख से गन्ध नहीं जानेगा, आँख से शब्द नहीं जानेगा। योगज सामर्थ्य से मात्र अतिशयता की प्राप्ति होती है। योगज सामर्थ्य से दूर की वस्तु देख लेगा, अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु को देख लेगा, किन्तु चक्षु से जब भी देखेगा रूप ही देखेगा। इस प्रकार वेद, प्रत्यक्ष, अनुमान से अविज्ञात तत्त्व को बताने के लिए है। हमारे यहाँ कोई ६ प्रमाण मानता है, कोई ७ प्रमाण मानता है तो कोई ८ प्रमाण मानता है। कुछ लोगों की अवधारणा है कि ऋषियों ने तो धर्म का साक्षात्कार किया ही है- साक्षात् कृतधर्माणो ऋषयो वभूवु:। धर्म का साक्षात्कार ऋषियों को

भी नहीं होता। ऋषियों को भी वेदों के द्वारा ही धर्म का साक्षात्कार होता है। ऋषियों को भी वेदों के द्वारा धर्म का तात्त्विक निर्णय होता है। वहाँ पर साक्षात्कार का अर्थ निर्णय के अर्थ में है। 'स्वस्य च प्रियमात्मन:' का आशय श्रुतिस्मृतिसदाचार-अविरुद्ध अपने को जो प्रिय हो वह भी धर्म है। स्वतंत्र आत्मप्रिय मान्य नहीं है। फिर कालिदास तो 'प्रमाणमन्त: करणप्रवृत्तय:' की बात करते हैं। दुष्यन्त का अन्त:करण संस्कृत अन्त:करण है, उसमें धर्मप्रतिकूल कोई विचार आ ही नहीं सकता। उनकी प्रवृत्ति श्रुति, स्मृति सदाचार से सर्वथा अविरुद्ध थी। इस धर्म में तीनों ही चीजें आ जाती हैं, ज्ञान, उपासना एवं कर्मकाण्ड। एष तु परमो धर्म: यद्योगेनात्मदर्शनम्। योग के द्वारा आत्मदर्शन परब्रह्मसाक्षात्कार होता है। इस प्रकार धर्म से नि:श्रेयस मिलता है, उसी से भगवत्पद प्राप्ति भी। धर्म से पूर्ण कृतार्थता प्राप्त होती है। पुरुषार्थ किसे कहते हैं ? पुरुष जिसे चाहे वह पुरुषार्थ। पुरुषार्थ सब चार हैं।

अर्थ भोग का साधन है। कौटिल्य के अनुसार मनुष्यवती भूमि: अर्थ:। मनुष्योपेता धरती ही अर्थ है। इसी में सब कुछ आ गया। पेट्रोल, डीजल, कोयला, हीरा, पन्ना, गेहूँ, धान,चीनी,सन्तरा, लौकिक, पारलौकिक साधनों से जिस संभोग की आनन्द की प्राप्ति होती है, विषय इन्द्रिय संप्रयोगजनित आनन्द का नाम काम है। अभीष्ट रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादि की रसानुभूति ही काम है। अभीष्ट रसानुभूति, अभीष्ट गन्धानुभूति, अभीष्ट स्पर्शानुभूति आदि। इन दोनों का ही साधन धर्म है। भगवान् व्यास कहते हैं-धर्मादर्थश्च कामश्च। धर्म से अर्थ एवं काम दोनों को प्राप्ति होती है। समय पर ठीक-ठीक वृष्टि हो, समय पर ठीक-ठीक गेहूँ, चीनी, अन्नादि मिले। रहने पर भी कभी-कभी ये वस्तुएँ समय पर नहीं मिलतीं, न होने पर तो मिलती ही नहीं। इस प्रकार सभी प्रकार की बाधाएँ धर्म से दूर हो जाती हैं। इसीलिए हमारे यहाँ माना गया है- 'चाहिए धर्मशील नारनाहू।' राज्य धर्मनिष्ठ होना चाहिए। बहुत सी विपत्तियाँ हम पुलिस से नहीं दूर कर सकते, पलटन से उन विपत्तियों को नहीं दूर कर सकते। जैसे महाराज दिलीप के वन में प्रवेश करते ही-

शशाम वृष्ट्या पिविना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धि:।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वने गोप्तरि गाहमाने॥

-रघुवंश, २।१४

समय पर आम के पेड़ में आम का फल लगे, महुआ समय पर चूए, यह सब समय से कहाँ होता है ? सामान्यत: दावाग्नि वर्षा होने पर शान्त होती है, किन्तु महाराज दिलीप के प्रवेश करते ही उनकी धार्मिकता के प्रभाव के बाह्य साधन निरपेक्ष दावाग्नि शान्त हो जाती है, बिना समय के वृक्षों में पुष्प आ जाते हैं। यह कार्य न तो पुलिस से बन सकता था न पलटन से और न किसी भी लौकिक साधन से। यह धार्मिक राजा का प्रभाव था। सबसे बड़ी समस्या है कि प्रबल लोग निर्बल के भक्षक बन जाते हैं, वर्गवाद का यही मूल है। उत्पीड़क-उत्पीड़ित, शोषक-शोषित का यही मूल है जो, शक्ति सम्पन्न हैं वे शक्तिहीनों को सर्वथा दबाते हैं। चूहा के पीछे बिल्ला दौड़ता है, बिल्ला को खाने कुत्ता दौड़ता है, कुत्ता को खाने बघेर्रा दौड़ता है, बघेर्रा का पीछा सिंह करता है, सिंह को शार्दूल उठाकर चम्पत हो जाता है। इसी प्रकार पानी में छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है, बड़ी मछली को उससे भी बड़ी मछली खा जाती है यही मत्स्य न्याय है। मत्स्य न्याय में ही एक दूसरे के शोषक एवं भक्षक होते हैं। वर्गसंघर्ष, वर्गविद्वेष, क्रान्ति के द्वारा वर्गविध्वंस की अवस्था लाओ। वर्गवाद, वर्गसंघर्ष की समाप्ति हेतु ही हमारे यहाँ धर्म का विधान है। एक वर्ग दूसरे वर्ग को पोषक हो शोषक न हो, एक वर्ग दूसरे वर्ग का रक्षक हो भक्षक न हो। एक वर्ग दूसरे का पूरक हो। इसी बात के लिये धार्मिक राज्य की आवश्यकता होती है। बिना धार्मिक राज्य के ऐसी बात बन ही नहीं सकती। राजा की धार्मिकता के प्रभाव से बाघ-बकरी एकघाट पर पानी पीते रहे, आज की सबसे बड़ी समस्या वर्गवाद, वर्गसंघर्ष, वर्गविध्वंस, वर्गविद्वेष है एवं इनके

कारण संसार में हाहाकार मचा हुआ है, इनको दूर करने के लिए धर्मशील नरनाहु की आवश्यकता होती है। दूसरी बात- धर्म के ही प्रभाव से हम उपासना भी कर सकते हैं। धर्म से बुद्धि एकाग्र होती है। एकाग्रता से ही उपासना होती है। बुद्धि बड़ी चञ्चल है, मन बड़ा चञ्चल है। एक मिनट में एक सौ विषयों का चिन्तन कर डालता है। एकाग्रता कैसे बने 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते।'

कोई काम करो विचार करके करो अर्थात् कर्तव्य के औचित्यानौचित्य का निर्णय करके करो। धर्म एक प्रकार की रुकावट है। न सहसा विदधीत क्रियाम् अविवेक: परमापदां पदम्। अत: नियन्त्रित देह, मन, इन्द्रिय, अहंकार की चेष्टा ही धर्म है। यही देश के कान्स्टीच्यूशन का लक्ष्य है कि देश के प्रत्येक व्यक्ति का देह, इन्द्रिय, अहंकार नियन्त्रित हो, उच्छृंखल न हो। मैं तो यह कहता हूँ कि नियन्त्रण ही सभ्यता है, जो जितना नियन्त्रित है वह उतना सभ्य है। इस प्रकार सभ्यता के आविर्भाव का मूल नियन्त्रण है। उपासना के लिए जो भी आपको जँचे उसी का ध्यान रखिए- योगसूत्र ऐसा कहता है। इससे मन में एकाग्रता हो जायेगी। यदेव अभिमतं तदेव ध्यायेत। तथापि ईश्वर का ध्यान ज्यादा लाभदायक होता है। ईश्वर तो निरंकार, निर्विकार, अद्वैत, अखण्ड है, उसका रूप नहीं, गन्ध नहीं, शब्द नहीं। ईश्वर बुद्धि में आये कैसे ? ईश्वर के तीन रूप होते हैं- (१) निर्गुण-निराकार रूप, (२) सगुण-निराकार रूप, (३) सगुण-साकार रूप। निर्गुण-निराकार तो वेदान्त की बात है। सगुण-निराकार-जैसे आकाश। वह निराकार है तथापि सगुण है। ईश्वर जगत् का उत्पादक होने के नाते वह ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् है, जैसे कुम्भकार। किसी कार्य को वही कर सकता है जो ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् हो। अत: इस विश्व प्रपंच का रचयिता भी कोई ज्ञानवान्, इच्छावान् एवं क्रियावान् ही हो सकता है। ऐसा ईश्वर सगुण तो है, किन्तु उसका कोई आकार नहीं- वह पीला, नीला, गोरा नहीं है। इस प्रकार तीन प्रकार की उपासना हुई। निर्गुण-निराकार की उपासना, सगुण-निराकार की उपासना एवं सगुण-साकार की उपासना। उपासना वेदादि शास्त्र सम्मत है। योग क्या है ? पानी बरस कर बह न जाए- इसीलिए हम बाँध बनाते हैं। इसी प्रकार मन की प्रवृत्ति, इन्द्रिय की प्रवृत्ति को बिखरने से रोकना ही योग है। श्वास को बिखरने से रोकने के लिए प्राणायाम से हम नियन्त्रण करते हैं। इसके अद्भुत चमत्कार हैं। उसी वेदादि शास्त्र के अनुसार एक अद्वैत, अनन्त, अखण्ड, निर्विकार, शुद्धब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार हो सकता है, जिससे प्राणी परम कृतार्थ, धन्य-धन्य हो जाता है एवं सारा विश्व ही परम मंगलमय हो जाता है।

अब रही धार्मिक स्वतन्त्रता की बात। धर्म जो अभ्युदय का नि:श्रेयस् का साधन है उसके अनुष्ठान में हमें स्वतंत्रता होनी चाहिए। यों स्वतन्त्रता की बात लोग खूब करते हैं। किन्तु कैसी स्वतन्त्रता ? क्या हम देह से मुक्त होते हैं ? वर्तमान परिवेश में हमारे लिए तीन प्रकार की स्वतन्त्रता बहुत उपयोगी है- (१) शैक्षणिक स्वतंत्रता (२) आर्थिक स्वतन्त्रता (३) धार्मिक स्वतन्त्रता।

१. शैक्षणिक स्वतन्त्रता- यह मानी हुई बात है कि जैसी शिक्षा वैसी बुद्धि, जैसी बुद्धि वैसी इच्छा, जैसी इच्छा वैसा कर्म, जैसा कर्म वैसा फल। यदि अच्छी शिक्षा है तो बुद्धि भी अच्छी होगी, अच्छी बुद्धि होगी तो इच्छा भी अच्छी होगी, यदि अच्छी इच्छा है तो कर्म भी अच्छा होगा, यदि अच्छा कर्म है तो फल अच्छा होगा। शिक्षा सरकार के हाथ में न हो। महर्षि वशिष्ठ के यहाँ राम अध्ययन हेतु भेजे गये। चक्रवर्ती नरेन्द्र दशरथ की अलग से पाठशाला नहीं थी। ऐसे ही कृष्ण महर्षि संदीपनी के यहाँ पढ़ने गये। शिक्षा देश-काल-परम्परा-परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में होनी चाहिए। यदि शिक्षा सरकार के हाथ में है, यदि सरकार हार गयी तो उत्तराधिकारी सरकार शिक्षापद्धति को भी बदल देगी। यहीं पर एक बात यह भी अवधेय है कि जिस प्रकार के राष्ट्र का निर्माण करना हो वैसी शिक्षा होनी चाहिए। यदि देश में मार्क्सवादी शासन पद्धति चालू करनी है तो हमारी शिक्षा भी मार्क्सवादी, भौतिकवादी होनी

चाहिए। यहाँ अध्यात्मवाद पढ़ाने का कोई तुक नहीं। आधा तीतर आधा बटेर ठीक नहीं। यदि राष्ट्र में रामराज्य के लाने का स्वप्न है तो हमें अध्यात्मवादी शिक्षाविधि अपनानी होगी।

२. आर्थिक स्वतन्त्रता - बाप-दादा की कमाई में, पैतृक सम्पत्ति की रक्षा में, उनकी गाढ़ी कमाई की रक्षा में स्वतन्त्रता होनी चाहिए। हमारे गाढ़े पसीने से कमाई हुई सम्पत्ति की सुरक्षा हो। उसे कोई हड़प न ले। हाँ, यदि मार्क्सवादी शासनपद्धति है तो व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए कोई स्थान नहीं होगा। व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति, कल-कारखानों, उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीकरण। रामराज्य की शासन विधि में इसे शास्त्र अवैध बताता है। किसी व्यक्ति को दिन दहाड़े पुलिस हथकड़ी लगा देती है। पूछने पर बताती है कि यह तो चोर है, भाई चोर का क्या लक्षण है ? दिनदहाड़े किसी की वैध सम्पत्ति को उनकी मर्जी के खिलाफ आँख के सामने हड़पना डाका है, आँख बचाकर उठाना चोरी है। ऐसे व्यक्ति को कोर्ट में सजा होती है। इस प्रकार कानून-बनाकर सबकी सम्पत्ति, सबका कारखाना हड़पना कहाँ तक वैध है ? हमारे बाप-दादों की मिल्कियत, हमारी वैध सम्पत्ति हमारी मर्जी के खिलाफ बिना उचित दाम का मुआबजा दिये हड़पना अवैध है।

३. धार्मिक स्वतन्त्रता- हमारी धर्म की जो भी अवधारणा हो, हमारा चातुर्मास, हमारा ज्योतिष्टोम, हमारा रहन-सहन, चाल-चलन-हमारी संस्कृति के जीने की हमें स्वतन्त्रता होनी चाहिए। संस्कृति के ५ अंग है- (१) धर्म, (२) दर्शन, (३) भाषा, (४) इतिहास, एवं (५) कला। सबमें शास्त्र का नियन्त्रण होना चाहिए। यहाँ बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनके बारे में बोलना कानून के खिलाफ होगा और जिसका परिणाम बुरा होगा। शिखा का, सूत्र का, आचमन का क्या महत्त्व है, सब जानने योग्य है। हमारे भोजन पर सबकी दृष्टि न पड़े, कुत्ता की दृष्टि न पड़े, पिल्ला की दृष्टि न पड़े, इन सबकी दृष्टियों का प्रभाव पड़ता है। एक परम्परा के अनुसार विद्यार्थी पढ़ता है ब्रह्मचारी बनकर, सन्ध्यावन्दन करता हुआ, अग्न्याधान करता हुआ, गुरु की सेवा करता हुआ तो दूसरा जूता पहने हुए, अण्डा खाता हुआ, अपने प्रोफेसर एवं कुलपति को गाली देता हुआ पढ़ता है। विद्या तो दोनों को आयेगी किन्तु दोनों की विद्या में भेद होगा, जैसे अग्निहोत्र की अग्नि एवं श्मशान की अग्नि। यों तो दोनों ही अग्नि हैं किन्तु अभी भी हमारे यहाँ के लोग श्मशान की अग्नि पर पके भोजन को क्या खाना पसन्द करेंगे ? हमारी पारम्परिक शिक्षा का आदर्श ओम् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषाव है। हमारी विद्या यातयाम न हो जाय, बासी न हो जाय, निस्सार वीर्य न हो जाय, तभी सार्थक शिक्षा होगी और तभी शोषण, वर्गसंघर्ष रुकेगा। धर्म की भूमिका आज तो पहले से भी अधिक हो गई। धार्मिक स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं होनी चाहिए। शास्त्र के अनुसार कन्या की शादी रजस्वला होने के पूर्व करनी चाहिए किन्तु कानून इसके विरुद्ध है। लड़की की आयु कम से कम १८ वर्ष होनी चाहिए। यह कानून हमारे धर्म में हस्तक्षेप कर रहा है। इसके लाभ को हम युक्तियों से खण्डित कर सकते हैं। इसी प्रकार हमारी मन्दिरों की भी मर्यादाएँ है, मस्जिदों की मर्यादाएँ हैं। कोई कहे कि मस्जिद में शूकर ले जाऐंगे। यह पागलपन है- ऐसे व्यक्ति को थप्पड़ लगा कर बाहर कर देना चाहिए। इसी प्रकार राजस्वला स्त्री को मन्दिर में नहीं जाना चाहिए, इसी प्रकार हम किसके साथ शादी न करें- इन सबके लिए हमारे धर्मशास्त्र हैं, सबके नियम हैं। इन नियमों में बड़ी वैज्ञानिकता है। कोई भी कानून बनाने के पहले उस विषय के शीर्षस्थ विद्वानों से विचार-विश्लेषण कर लो। परिवार नियोजन सप्ताह हम मनाते हैं किन्तु परिवार नियोजन सप्ताह मनाने के पहले उसके गुण-दोष एवं विधि-निषेध आदि पर पहले विचार-विश्लेषण होना चाहिए। धर्म की नियामकता अपनी जगह है किन्तु वहीं पर यह भी सर्वथा विचारणीय है कि सूत न कपास जुलाहों से मटकउअल। बेमतलब विवाद नहीं खड़ा करना चाहिए। आज यह नहीं सम्भव है कि सबको हिन्दू धर्म मनवा दें। मुसलमान भी इसे

सम्भव नहीं मानते कि सब इस्लाम को स्वीकार कर लें। इसी प्रकार ईसाई भी नहीं समझता कि सब ईसाई हो जाँय। इसीलिए हमारी स्मृतियाँ कहती है-

यस्मिन् देशे य आचार: पारम्पर्यक्रमागत:।

-याज्ञवल्क्य-स्मृति।

आर्य राजा यदि दूसरे देश पर शासन करे तो उसकी परम्परा, उसके धर्म पर हमला न करे। जहाँ जैसा धर्म हो वहाँ के धर्मग्रन्थों के अनुसार, धर्मगुरुओं के अनुसार उस धर्म का पालन करें। इसीलिए शुक्रनीति में कहा गया है कि जहाँ जिस धर्म के लोग हों वहाँ वैसा ही मन्दिर बने। आज हमारे यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश एक साथ रहते हैं। इस स्थिति में परस्पर संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में पंचशील के आधार पर एक समझौता हुआ है, कोई किसी की प्रभुसत्ता पर हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसी प्रकार धर्मो में भी यह व्यवस्था होनी चाहिए कि एक धर्म दूसरे के धर्म की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप न करे। इसलिए हमारा तो कहना है कि अपने-अपने धर्म का, अपनी संस्कृति का, अपने-अपने विश्वास के साथ पालन करना चाहिए। दूसरे धर्म पर, दूसरे की सभ्यता पर, दूसरे की संस्कृति पर हमला नहीं करना चाहिए। इस संदर्भ में गीता का आदर्श अत्यन्त समीचीन है-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत:॥

-श्रीभगवद्गीता, ६।३२

अर्जुन, अपनी तरह जो सर्वत्र समदृष्टि रखता है उसे चाहे सुख हो या दु:ख हो, वही उत्तम योगी है। हमारे पैर में काँटा चुभने पर जैसा दर्द होता है वैसा ही दूसरों के भी पैर में चुभने पर दर्द होता है। यदि हमारे धर्म के खण्डन एवं निन्दा से हमें कष्ट होता है तो दूसरों के धर्म के खण्डन एवं निन्दा से दूसरों को भी वैसा ही कष्ट होगा। इसी प्रकार हमारे धर्मग्रन्थ का, हमारे धर्मस्थान का कोई अपमान करता है तो जैसा कष्ट हमें होता है, दूसरों के धर्मग्रंथ को, धर्मसंस्थान के अपमान से उन्हें भी वैसा ही कष्ट होगा। इसलिए हमें परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य के साथ जीना है। हमें मालूम होना चाहिये कि हमें यदि स्वतन्त्रता है तो दूसरे को भी वही स्वतन्त्रता है। हमारी स्वन्तत्रता वहीं से आरम्भ होती है जहाँ से दूसरे की स्वन्तत्रता समाप्त होती है। इसीलिए तो हमारा शास्त्र भी यही कहता है-

स्व धर्मे निधनं श्रेय: परमधर्मो भयावह:।

- श्री भगवद्गीता, ३।३४

स्वधर्म में मृत्यु भी अच्छी होगी। पराया धर्म भय का कारण होता है। हाँ, यहीं पर इतना जरूर कहेंगे कि किसी समूह की गरीबी एवं अज्ञान का नाजायज फायदा नहीं उठाना चाहिये। लोभ देकर, प्रलोभन देकर, धन देकर, औरत देकर, नौकरी देकर अपने धर्म में दीक्षित करना ठीक नहीं। हम इस पक्ष में हैं कि किसी समाज के धर्मस्थान को किसी दूसरे समाज ने हड़प लिया है तो समन्वय के लिए यह कर्त्तव्य है कि उस धर्मस्थान को ससम्मान उस समाज को लौटा दे। यदि किसी मुसलमान की मस्जिद पर हिन्दुओं ने जबदस्ती कब्जा कर लिया है तो उनका कर्तव्य है कि उनकी मस्जिद ससम्मान सादर उन्हें लौटा दें। मुसलमानों से भी हमें यही अपेक्षा है। इससे सम्प्रदायों में परस्पर समन्वय की भावना दृढ होगी। इससे निकटता बढ़ेगी। साथ रोटी खाने से उतनी निकटता नहीं होती। यदि हम ईमानदार हैं, यदि मुसलमान भी ईमानदार, दीनदार हैं तो हम दोनों का मेलजोल ज्यादा होगा। यदि हम बेदीन एवं बेईमान

हो जायें एवं मुसलमान भी बेदीन एवं बेईमान हो जायें तो भले ही रोटी साथ खायें- वास्तविक एकता नहीं होगी-वैसे कुत्ते भी साथ खाते हैं किन्तु सबसे अधिक लड़ते हैं। मुसलमान अपने धर्म का ठीक पालन करें, हिन्दू अपने धर्म का ठीक पालन करें। एक कठिनाई आ सकती है ? धर्म कभी-कभी आपस में टकरा सकते हैं। इस कठिनाई से बचने के लिये कुछ सीमा बनानी होगी। दो प्रकार के कर्मों का धर्मों में विधान है- १. नित्यकर्म, २. काम्यकर्म। नित्यकर्म ऐसे नहीं होते जिनसे धर्मों में टकराव हो सकती है, जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इन्हें सभी धर्मों में न्यूनाधिक मान्यता मिली है। इन्हीं में सन्ध्या वन्दन, सूर्यार्घ्य, सूर्योपस्थान आदि। इनका लक्षण यह है कि जिनके न करने में प्रत्यवाय हो एवं किसी फल के लिये श्रुत न हो। काम्यकर्म वे कर्म हैं जो भिन्न-भिन्न फलों के लिये विहित हैं। कोई कहे कि हमारे यहाँ मनुष्य का बलिदान होना लिखा है, गाय का बलिदान लिखा है। हमारे यहाँ भी लिखा है कि जो गाय को मारे उसे गोली मार दो। ऐसी परिस्थिति में परस्पर टक्कर होगी। इस परस्पर टक्कर का क्या समाधान है ? काम्य कर्मों का लोभ संवरण करना पड़ेगा। यदि काम्य कर्म से राष्ट्र में अव्यवस्था, रागद्वेष फैलता है, ऐसे काम्य कर्मों का लोभ संवरण ही करना होगा, भले हमारे शास्त्र में विहित हो। गोवध को लेकर आपस में टकराहट होती है। गाय हमारा राष्ट्रीय पशु है। मुहम्मद साहब ने भी इसे मुख्य बात नहीं माना है। उन्होंने अपनी उँगली में ७ पर्त तंजेब का कपड़ा लपेटकर ही गाय को छुआ।

सामान्यत: राज्य का धर्म में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। उस धर्म विशेष के प्रतिनिधियों का संगठन बना देना चाहिए। उसी संगठन के माध्यम से उस धर्म विशेष की समस्याओं का समाधान होना चाहिए, जैसे गुरुद्वारों का नियन्त्रण अकालतख्त करता है। जिस प्रकार मनुष्य-वध रोकने के लिये कानून है उसी प्रकार गो-वध को भी कानून द्वारा रोका जा सकता है। शराब पीना बुरा है, आत्महत्या करना पाप है तथापि यदि लोग कोरे उपदेश से नहीं मानते तो कानून द्वारा उन्हें मानने के लिय विवश किया जा सकता है। धर्म के परिप्रेक्ष्य में व्यष्टि-समष्टि का कैसा सम्बन्ध है ? व्यष्टि को अपने अभ्युदय हेतु सब कुछ करने की छूट है किन्तु वह समष्टि के विपरीत न हो। व्यक्ति की उन्नति यदि समाज की उन्नति में बाधक नहीं तो व्यक्ति को अपनी उन्नति की पूरी छूट है। व्यक्ति को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जो समाज के विघटनन में हेतु हो। इस प्रकार समष्टि के हित का ध्यान रखता हुआ, व्यष्टि अपनी पूरी उन्नति करे। हम जहाँ ब्रह्माण हैं वहीं हिन्दू भी हैं। ब्राह्मणोचित कर्म के साथ हमें ध्यान रखना होगा कि वह हिन्दुत्व के विरुद्ध न हो। जहाँ हम ब्राह्मण हैं, हिन्दू हैं वहीं मानव भी हैं, हमें सारी मानवता को ध्यान में रखना होगा। इसीलिये ऋग्वेद का मन्त्र है- अमृतस्य पुत्रा:। अमृतस्य का अर्थ है परमात्मा। हम सभी परमात्मा के पुत्र हैं। हम मात्र हाड़-मांस, देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार नहीं हैं बल्कि हम अजर, अमर, अनन्त, अखण्ड आत्मा हैं। इस प्रकार परस्पर समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृता के साथ रहें। यहीं पर यह भी अवधेय है कि कभी का डाकू महर्षि वाल्मीकि बन सकता है। निराश होने की आवश्यकता नहीं। आज जो शोषक है कल वही पोषक बन सकता है। अत: किसी से भी रागद्वेष न रखकर 'अमृतस्य पुत्रा:' की भावना के साथ सबके साथ समन्वयपूर्वक रहना चाहिये। खाली समष्टि-समष्टि न चिल्लायें। यदि प्रत्येक व्यक्ति दीनदान, ईमानदार, सदाचारी एवं सच्चरित्र है तो पूरा समाज ही दीनदार, ईमानदार, सदाचारी एवं सच्चरित्र होगा। समष्टि, व्यष्टि की उन्नति हेतु सब प्रकार की सुविधा देता है। व्यक्ति के द्वारा समाज का निर्माण होता है। हम मानव के साथ-साथ प्राणी भी हैं। मानवता के साथ-साथ दूसरे भी प्राणी -हमारे देश के हाथी, घोड़े बैल इतना ही नहीं, समस्त चेतना चेतनात्मक समष्टि के साथ अपना तादात्म्य बनाना चाहिये।

धर्मनिरपेक्षवाद की समस्या जहाँ तक है- सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्षवाद शब्द गलत है। अपेक्षा शब्द का अर्थ है जरूरत। अमुक को अमुक की अपेक्षा है। बाबाजी नंगे रहते हैं तो बाबाजी को वस्त्र की अपेक्षा नहीं है। वह वस्त्रनिरपेक्ष है। कोई बाबा रोटी नहीं खाता, मात्र दूध पीकर रहता है। वह अन्ननिरपेक्ष है। जिसे धर्म की जरूरत न हो वह धर्मनिरपेक्ष हो। राजा हरिशचन्द्र से पूछा गया कि तुम धर्मनिरपेक्ष हो कि धर्म-सापेक्ष ? यदि तुम धर्मज्ञ-सापेक्ष हो तो तुम्हारा राज्य, तुम्हारी रानी, तुम्हारा राजकुमार बिक जायेगा। हम धर्मनिरपेक्ष नहीं है। यदि हम वस्त्र सापेक्ष हैं, अन्नसापेक्ष हैं, राज्य सापेक्ष हैं, तो कैसे धर्मनिरपेक्ष हो सकते हैं ? भले राज्य बिक जाय, भले रानी चली जाय, भले राजकुमार चला जाय, भले डोम का गुलाम बनूं, किन्तु धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। हम तो धर्म सापेक्ष हैं। यह जो सेक्यूलर शब्द है जिसे लेटिन भाषा का शब्द बताया जाता है, सैनिक पत्र में आगरे की जेल में एक बार 'सेक्यूलर' शब्द का अर्थ अधार्मिक राज्य निकला। फिर तीसरे चौथे दिन उसका अर्थ निकला धर्महीन राज्य। बाद में किसी ने इसकी व्याख्या यों की- अर्थनीतिपर अवलम्बित धर्मनिरपेक्ष भौतिक राज्य। पहले 'सेक्यूलर' शब्द नास्तिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ। बाद में अर्थ का जो प्रतियोगी, विरोधी हो उस अर्थ में सेक्यूलर शब्द का प्रयोग हुआ। हम उसके मन्तव्य से सहमत हैं। जो राज्य किसी धर्म का पक्षपात नहीं करेंगे, क्या जाति का पक्षपात करेंगे ? ज्यादा अच्छा होगा कहना- पक्षपातविहीन राज्य। न जाति का पक्षपात, न सम्प्रदाय का पक्षपात, न धर्म का पक्षपात। यदि हमारे देश का राष्ट्रपति बनता है तो वह वेद की शपथ ले कि हम ईमानदारी से राष्ट्र की सेवा करेंगे। हम धर्मसापेक्ष होते हुए भी सर्वपक्षपातविहीन हो सकते हैं। अपने धर्म में विश्वास निष्ठा रखते हुए, दूसरे के धर्म में बिना हस्तक्षेप किये पक्षपातविहीन राज्य सर्वथा सम्भव है। यह हमारे धर्म की अपेक्षा है कि हम पक्षपातविहीन हों, दूसरे के धर्म में, दूसरे की संस्कृति में, दूसरे की आस्थाओं में दखल न दें।

अब प्रश्न उठता है कि आज के वैज्ञानिक एवं प्रोद्योगिकी के युग में धर्म की क्या भूमिका है ? धर्म का विज्ञान से कहाँ विरोध है ? विज्ञान क्या है ? यथार्थ ज्ञान, अनुभूत ज्ञान, सुपरीक्षित ज्ञान ही विज्ञान है। विज्ञान का वास्तविक अर्थ है- प्रत्यक्ष प्रमाण से, अनुमान से, आगम प्रमाण से, वैज्ञानिक साधनों से उसकी यथार्थता का ठीक-ठीक ज्ञान। विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी से हम आज परमाणुबम, हाइड्रोजनबम, राकेट आदि से अपने को शक्तिशाली बना रहे हैं किन्तु कितने भी हम शक्तिशाली हों, यदि हमारा मस्तिष्क हमारे काबू में नहीं है तो ऐसी शक्तिशालिता किस काम की ? ऐसी शक्तिशलिता हमारे लिये अभिशाप है, वरदान नहीं। अर्जुन का दृष्टान्त है। अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र से सुसज्जित होने पर भी, भयंकर से भयंकर परिस्थिति के आने पर भी, नारायण अस्त्र के प्रयोग होने पर भी पाशुपात अस्त्र का प्रयोग नहीं किया। ऐसा दृढ़ नियन्त्रण होना चाहिए। वहाँ दूसरा दृष्टान्त कर्ण का है। कर्ण का विरोध अर्जुन से था। कर्ण इन्द्र की शक्ति से सम्पन्न था। वह अर्जुन को मारना चाहता था, कृष्ण अर्जुन को बचाना चाहते थे। कर्ण प्रत्येक दिन निश्चय करके जाता था कि आज तो अर्जुन पर इन्द्रशक्ति का प्रयोग करूँगा ही किन्तु अर्जुन की धर्मशीलता इतनी उत्कृष्ट थी कि अर्जुन के सामने आते ही कर्ण उस शक्ति का प्रयोग भूल जाता था। यदि धर्म में इतना चमत्कार है कि बाघ एवं बकरे को एक घाट पर पानी पिला सकता है तो कोई भी शक्ति धर्मनिष्ठ व्यक्ति का क्या बिगाड़ सकती है ? विज्ञान तो अध्ययन की एक विधि है, उससे भला किसी सिद्धान्त से कैसे नुकसान ?

अब रही सर्वधर्म-समभाव की समस्या। मानवाधिकार के घोषणापत्र में यह उल्लिखित है कि हर राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को अपने विश्वास के अनुसार अपने धर्मपालन की पूर्ण आजादी होनी

चाहिए। इस प्रकार के मात्र घोषणापत्र से काम नहीं होता। उसे कार्यान्वित भी करना चाहिए। आज के अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सुलझे हुए मस्तिष्क के लोग क्या सोच रहे हैं, समझ रहे हैं कि हमारे विभिन्न राष्ट्रों के जो कान्स्टीच्यूशन हैं, इनके ऊपर भी एक कान्स्टीच्यूशन की, सुपर कान्स्टीच्यूशन की आवश्यकता है, एवं राष्ट्रों के अपने-अपने कान्स्टीच्यूशन इस सुपर कान्स्टीच्यूशन के विरुद्ध न हो। हमारे यहाँ यह विधान है- तदेतद् क्षत्रस्य क्षत्रम्। धर्म शासक का भी शासक है। क्षत्र का क्षत्र है किन्तु विचार स्वातन्त्र्य के लिए स्थान तो होना चाहिए। हमारे यहाँ चार्वाक को अपनी बात कहने की छूट है, जैन ईश्वरवादी नहीं हैं, बौद्ध ईश्वरवादी नहीं हैं तथापि उन्हें अपनी बात कहने की पूरी छूट है। विशिष्टाद्वैत को अद्वैत के विरुद्ध बोलने की छूट है, उसी प्रकार अद्वैत का विशिष्टाद्वैत के विरुद्ध बोलने की छूट है। इस प्रकार विचारों पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। विचारविनिमय से यदि किसी का विवेक धर्म-परिवर्तन करना चाहता है तो प्रत्येक व्यक्ति को धर्म-परिवर्तन की छूट होनी चाहिए, किन्तु किसी की गरीबी, किसी के अज्ञान का नाजायज फायदा धर्मपरिवर्तन में नहीं होना चाहिए।

***

परिच्छेद : ग्यारह

श्रीप्रकाश दुबे

श्रीप्रकाश दुबे

प्रो. श्रीप्रकाश दुबे का जन्म (१९४४) उत्तरप्रदेश के देवरिया अंचल में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा काशी में ही हुई और तदनन्तर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की धार्मिक शिक्षा पाठ्यक्रम से प्रथमा (१९५४), मध्यमा (१९६०) एवं उत्तमा (१९६२) इत्यादि परीक्षाओं को उत्तीर्ण किया। वहीं से दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि (१९६३) स्वर्ण पदक सम्मान के साथ प्राप्त कर प्रो. दुबे उच्चतर अध्ययन के लिए मैकमास्टर विश्वविद्यालय हैमिल्टन, कैनाडा (१९६६-१९६८) चले गये जहाँ इन्होंने धार्मिक विज्ञान पद्धति से रुडोल्फ आटो का अध्ययन किया और इसी विषय पर उन्हें पी-एच.डी. (१९६७) की उपाधि इन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। स्वदेश लौटने के पश्चात् प्रो. दुबे ने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत लेक्चरर (१९६९-१९८३) के रूप में दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.) से किया और वहीं क्रमश: रीडर (१९८३-१९९०), प्रोफेसर (१९९०-अद्यतन) आदि पदों पर आसीन होते हुए विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष इत्यादि पदों को भी सुशोभित कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने समय-समय पर प्रोफेसर इन चार्ज-ओशोपीठ, प्रोफेसर इन चार्ज-योग सेन्टर, नोडल ऑफिसर-यू.जी.सी. मूल्य शिक्षा, प्रधान-सम्पादक-'विश्लेषण', अध्यक्ष- मध्यप्रदेश विश्वविद्यालय शिक्षक संघ इत्यादि दायित्वों को भी संभाला है। प्रो. दुबे अपने रचनात्मक अकादमिक जीवन का विस्तार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर करने में सफल रहे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर प्रोफेसर दुबे प्राय: भारत के सभी विश्वविद्यालयों में संगोष्ठियों, परिचर्चाओं, विशिष्ट व्याख्यानों एवं विशेषज्ञ के रूप में बहुधा आमंत्रित किये जाते रहे हैं। भारत के दर्शन-जगत् से इन्होंने हर एक स्तर पर अधिकाधिक संवाद स्थापित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रो. दुबे ने कैनाडा, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, इटली, जापान, रूस एवं हाँगकाँग इत्यादि देशों की अकादमिक यात्रा कर भारतीय दर्शन एवं भारतीय धर्म विज्ञान को गुंजायमान किया है। भारत में दर्शन शास्त्र के संस्थागत एवं संगठनात्मक विकास के प्रति इनका योगदान भारतीय दार्शनिक महासभा (संयुक्त सचिव-१० वर्ष) एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (संयुक्त सचिव, महामंत्री, अध्यक्ष-२० वर्ष) के माध्यम से बहुत ही उल्लेखनीय रहा है। अपने इस महत्त्वपूर्ण प्रयास से प्रो. दुबे ने दर्शन से जुड़े बहुसंख्यकों को भारत में दर्शनशास्त्र की मुख्यधारा से जोड़ा है। देश–विदेश की अनेकों प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छोटे-बड़े सैकड़ों शोध-निबन्धों के अतिरिक्त-रूडोल्फ आटो एण्ड हिन्दुइज्म, आइडियलिज्म ईस्ट एण्ड वेस्ट, ग्रीक फिलॉसफी (बर्नेट कृत का हिन्दी अनु.), फैसेट्स ऑफ रिसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी, (४ भाग सम्पा.) इत्यादि इनकी बहुमान्य कृतियाँ हैं। आज भी प्रो. दुबे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन को अकादमिक स्वरूप प्रदान करने के लिए तन, मन और धन से संकल्पकृत हो कर कार्य कर रहे हैं।

*

आचार्य शंकर

वाराणसी के मणिकर्णिका-तीर्थ पर गंगा की ओर जाते हुए बाल-संन्यासी से चाण्डाल ने अकड़कर पूछा-"तुम किसे हटने को कह रहे हो, आत्मा को या शरीर को ! अपने शिष्यों को अद्वैत की शिक्षा देते हो और मुझसे रास्ता छोड़ने को कह रहे हो ! जब सारा जगत् एक ही ब्रह्म से व्याप्त है तब कौन किसे छोड़कर कहाँ जाय ?" बलिष्ठ श्वपच के हाथ से रस्सियाँ खींचते हुए चारों कुत्ते शिष्य-मण्डली पर भौंकने लगे, मानो वे भी ब्रह्मचारियों से अद्वैत की व्याख्या पूछ रहे हों। मध्याह्न के प्रचण्ड सूर्य की तप्त-किरणों से दीप्त शंकर के भाल से स्वेदकण छलक पड़े और सनन्दनादि शिष्य सहमे से आचार्य की ओर देखने लगे। जाह्नवी की चपल तरंगों ने तट के समीप आकर परस्पर चुप रहने का इशारा किया और दिशायें द्वादश-वर्षीय दण्डी का उत्तर सुनने को थम गयीं। आत्म-ग्लानि को दबाते हुए काषायवेशधारी ने कहा-"जो चैतन्य सभी दिव्य शक्तियों में स्पंदित होता है वही क्षुद्र जीव जन्तुओं में भी। उसी चैतन्य को जो अपना स्वरूप समझता हो ऐसा दृढ़-बुद्धि वाला चाहे ब्राह्मण हो या चाण्डाल, मेरा गुरु है।"

परीक्षा समाप्त हुई। भूतभावन विश्वनाथ अपना दिव्य रूप धारण का बोले "वत्स ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम्हें पूर्णत्व प्राप्ति का वर देता हूँ। मेरी इच्छा है कि तुम व्यासकृत वेदान्तसूत्र पर भाष्य लिखकर जीव और ब्रह्म के अद्वैत का प्रतिपादन करो।" शंकर ने सिर नवाया और शिव अन्तर्ध्यान हुए। विस्मित शिष्यमण्डली यह देखकर आनंदित हो उठी। उनके मन में आचार्य के प्रति और भी अधिक श्रद्धा उमड़ पड़ी। आचार्य की शक्ति को तो वे ओंकारेश्वर में ही देख चुके थे, जब अल्पकालिक-साधना के बाद ही शंकर ने अपने ध्यानस्थ गुरू गोविन्दपाद की मणिद्वीप स्थित गुफा में नर्मदा की बाढ़ का पानी जाता हुआ देख सारे जल को एक घड़े में भर लिया था। अब वे सब ज्ञानगंगा को ब्रह्मसूत्रभाष्य में समाहित देखने के लिए शंकरपाद के साथ आत्मबोधरूपा काशीपुरी से गंगातट के सहारे बदरिकाश्रम के पास व्यासधाम के लिए प्रस्थित हुए।

हरिद्वार और ऋषिकेश होता हुआ मुण्डीदल देवप्रयाग पहुँचा, जहाँ भागीरथी तथा अलकनंदा की धारायें मिलती हैं। गत-श्रम हो आचार्यकुल श्रीनगर होते हुए ज्योतिर्धाम पहुँचा। ज्योतिर्लिंग की अर्चना करते हुए आचार्य ने कुछ दिनों वहाँ साधना की क्योंकि आगे का मार्ग हिमाच्छादित था। कल्पवृक्ष (शहतूत) के नीचे छोटी-सी गुफा में ध्यानस्थ शंकर को ब्रह्मात्मैक्य बोध हुआ। आस-पास के अनेक साधु-सन्यासी आचार्य की शिष्य-मण्डली के साथ बैठकर उपदेश सुनते थे। दृश्य अत्यन्त मनोहर था। वट-वृक्ष के नीचे बैठे शिष्य वृद्ध हैं तथा युवागुरु का मौन व्याख्यान सुनकर सभी छिन्न-संशय हो जाते हैं।

गिरि-कान्तार और नद-नादियों से वेष्ठित उस मृत्यु-संकुल पथ को पार करता परिव्राजक-दल १०२४४ फीट की ऊँचाई पर तुषाराच्छन्न हिमवाहिनी अलकनंदा के तट पर स्थित बदरीनाथ के मंदिर पर पहुँचा। नर-नारायण पर्वतों के बीच हिमराशि का भेदन करता हुआ तप्त कुण्ड यात्री-दल को सहज ही मन्दिर के द्वार तक ला देता है। शिष्यों सहित आचार्य ने तप्त-कुण्ड में स्नान कर बदरीविशाल के मंदिर

में अर्चना की। मन्दिर में ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठित विष्णु की चतुर्भुजी के स्थान पर शालिग्राम देखकर शंकर ने पुजारियों से इसका कारण पूछा। अर्चक-वृंद ने बताया कि चनिक दस्युओं के आतंक के कारण किसी पूर्व-पुरुष ने विष्णु-विग्रह को नारद-कुण्ड में छिपा दिया। निविष्ट-चित्त शंकर ने भयावह नारद-कुण्ड में डुबकी लगाकर पद्मासन-विष्णु के विग्रह को निकाल लिया। परन्तु चतुर्भुजी-मूर्त्ति के दाहिनें हाथ की कुछ उँगलियाँ खण्डित थीं। आकाशवाणी हुई कि यही मूल-विग्रह है और इस युग में इसी की अर्चना अभीष्ट है। यह सुनकर आचार्य ने भग्न-विग्रह को मन्दिर में पुन: प्रतिष्ठित कर इस परमपुण्य-धाम का उद्धार किया।

बादरीविशाल के मन्दिर से लगभग तीन किलोमीटर उत्तर (आज के माना-गाँव के पास) नर-नारायण पर्वतों के संगम पर त्रिकोण के पास की व्यास-गुफा दर्शनीय हैं। यहाँ से आगे का क्षेत्र अभी भी दुर्गम है। शंकर इस व्यास-तीर्थ में आये जहाँ रहकर कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत और वेदान्त-सूत्रों की रचना की थी। पास ही गणेश-गुफा और सरस्वती की गुफायें भी हैं। आचार्य ने इस व्यासाश्रम में लगभग ४ वर्षों तक निवास किया और अपनी सोलह वर्ष की आयु पूरी होते-होते १६ ग्रन्थों की रचना की। ब्रह्म-सूत्र पर शरीरिक-भाष्य के अतिरिक्त गीता-भाष्य, द्वादश-उपनिषद्-भाष्य, विष्णुसहस्रनाम तथा सनत्सुजातीय यहीं पर लिखे गये।

अपनी आयु पूरी होते देख आचार्य ने उत्तराधिकार सौंपने के प्रयोजन से अपने प्रिय शिष्य सनन्दन की परीक्षा करनी चाही। एक दिन चोल-देशीय शिष्य सनन्दन अलकनंदा का पुल पार कर दूसरे तट पर गये थे। आचार्य ने अचानक कातर स्वर में उनको पुकारा। गुरु पर कोई भयंकर आपत्ति आयी जानकर वहाँ शीघ्र पहुँचने के लिए सनन्दन पुल तक न जाकर अलकनंदा की धारा में कूद पड़े जिसके गरजते हिमजल में कुंजर भी पांव नहीं रख सकते। कुछ ही क्षणों में सनन्दन आचार्य के समक्ष आज्ञार्थ खड़े हो गये। अन्य शिष्यों ने देखा कि अलकनन्दा की धारा में, जहाँ से गुरु-भक्त आये थे, उनके पैरों के स्थान पर कमल-पुष्प लगे थे। आचार्य ने सनन्दन को 'पद्मपाद' नाम से अभिहित किया।

शिष्य की परीक्षा के बाद आचार्य का भी परीक्षित होने का प्रसंग उपस्थित हो गया। ब्रह्मसूत्र भाष्यकार के तत्त्वार्थ-बोध को परखने के लिए बादरायण व्यास ने स्वयं श्यामल वर्ण के वृद्ध ब्राह्मण का वेश धारण कर उपदेशरत शंकर से पूछा-"तुम्हें लोग वेदान्तसूत्र का भाष्यकार बताते हैं। मुझे उस सूत्र (३-१-१) का अर्थ बताओ जिसमें जल के पुरुष-संज्ञक होने का उल्लेख है।" आचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् (५-३-३) के जैवलि-गौतम संवाद का सन्दर्भ देते हुए बताया कि देह के उत्पादक पंचभूतों के सूक्ष्म अवयवों के रूप में जल को पुरूष कहा गया है। सूत्रकार यह भाष्य सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुग्ध होकर शंकर को आर्शीवाद दिये कि मृत्यु-योग टल जायेगा एवं पुन: सोलह वर्ष की आयु प्राप्त होगी। उन्होंने यह भी सुझाया कि यदि मीमांसा शिरोमणि कुमारिल भट्ट को शिष्य बनाकर आचार्य उनसे सूत्रभाष्य पर वार्त्तिक लिखा लें तो ब्रह्मात्मविज्ञान की चतुर्दिक प्रतिष्ठा हो जायेगी।

रेवा-तट पर माहिष्मती पुरी (मांधाता या मण्डला) के अपने भव्य प्रासाद के प्रांगण में पितृ-श्राद्ध करते मण्डन (विश्वरूप) आकाश-पथ से उतरे सन्यासी (अशुभ-सूचक) को देखकर विस्मित हो बोले, 'यह मुण्डी कहाँ से ?' अष्टांगयोग-निष्णात् दण्डी ने परिहासात्मक ढंग से बताया, "गले से मुण्डित हूँ।" याज्ञिक ने झुँझलाकर कहा, "मैं आपसे पथ के बारे में पूछ रहा हूँ।" यतिवर ने प्रतिप्रश्न किया, "क्या पथ ने आपसे कुछ पूछा है ?" पति को क्रुद्ध होते और विवाद बढ़ते देख मिश्र-पत्नी भारती ने मण्डन से अतिथि सत्कार का निवेदन किया। कुछ लज्जित से हो गये मण्डन ने परिव्राजक से भिक्षाग्रहण का अनुरोध किया। ब्रह्मवादी शंकर ने तत्काल प्रतिरोध-भाव प्रदर्शित करते हुए कहा-"मैं भिक्षार्थी नहीं, विचारार्थी हूँ। व्यास-देव की इच्छा थी कि मीमांसा-मूर्धन्य कुमारिल भट्ट से मैं शास्त्रार्थ

करता और भट्टपाद मेरे सूत्र-भाष्य पर वार्त्तिक लिखते। परन्तु मेरे प्रयाग पहुँचने तक वार्त्तिककार प्रायश्चित् हेतु तुषानल में प्रवेश कर चुके थे। आपाद-भस्म भट्टपाद के निर्देश पर ही मैं उनके शिष्य (और बहनोई) से विचारार्थ माहिष्मती आया हूँ।''

गुरु की मृत्यु का संवाद सुनकर मण्डन क्षुब्ध हो बोले, '' मैं मण्डनमिश्र हूँ, यम-विनाशी ईश्वर का भी खण्डनकर्त्ता। कर्म की प्रधानता तथा अनीश्वरवादिता मैं प्रमाणित कर चुका हूँ। आप यदि मुझसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं तो कल प्रात:काल से करें ; तब तक मैं श्राद्ध क्रिया सामाप्त कर लूँ।'' मण्डन द्वारा कुशलक्षेम पूछने पर आचार्य ने बताया कि कैसे तुषानल में प्रविष्ट भट्टपाद ने अंतरात्मा की शुद्धि के तर्क से सहमत होते हुए भी शास्त्रमर्यादा और लोकशिक्षण के लिए नालंदा में बौद्धगुरु धर्मपाल के वध तथा ईश्वर-खण्डन के पातकों का प्रायश्चित् करने के संकल्प से अडिग रहने का निश्चय किया तथा आत्मस्वरूप-शिष्य मण्डन के साथ शास्त्रार्थ करने का निर्देश किया। शिष्य की पराजय में गुरु ने भी अपनी पराजय मानी। भगवत्पाद ने यह भी बताया कि कैसे माहिष्मती नगरी में मिश्र पण्डित का घर पूछने पर नर्मदा में -जल भरने जाती महिलाओं ने भी उनसे व्यंग्य में कहा-''आप बड़े अनाड़ी लग रहे हैं।'' ऐसा कौन व्यक्ति है जो यहाँ मण्डन पण्डित का घर नहीं जानता ? मण्डन मिश्र का वही घर है जिसके दरवाजे पर पिंजड़ों में बैठी सारिकायें जगत् की नित्यता-अनित्यता तथा वेद की स्वत:, परत:, प्रामाण्यता विषयक चर्चा में सन्नद्ध हों।'' आचार्य ने आगे यह भी बताया कि इस पते पर पहुँचने पर घर का द्वार बंद देखकर और द्वारपालों से समयसाध्य श्राद्धयज्ञ में प्रवेश निषिद्ध जानकर उत्कट विचारार्थी कैसे योगबल से इस आँगन में पहुँच गया।

माहिष्मती में सूर्य की प्रथम किरण के साथ ही पण्डित समुदाय में कोलाहल प्रारम्भ हो गया। नर्मदा और माहिष्मती की धाराओं के संगम पर बसी इस नगरी में मीमांसाद्वय के श्रेष्ठतम आचार्यों द्वारा आम्नाय (वेद) के गूढ़ तात्पर्यों का उद्घाटन सुनने को पुरवासी उत्कण्ठित थे। मण्डन के भव्य सभागार के अन्दर पण्डितजन आसीन हो गये। अपनी-अपनी शिष्य मण्डलियों के साथ आचार्यद्वय ने भी अपने-अपने आसन ग्रहण किये। पास में नर्मदा की कल-कल ध्वनि जगत् की परिवर्तनशीलता के पीछे शाश्वत नाद का संदेश दे रही थी। शास्त्रमीमांसा का उपक्रम करते हुए आचार्य शंकर ने निर्णायक पीठ पर शारदा का नाम प्रस्तावित किया क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे स्वयं शप्ता सरस्वती ही हैं। धर्ममीमांसाचार्य मण्डन इससे सहमत हुए और उभय-भारती ने मध्यस्थ होकर दोनों आचार्यों से अपने-अपने पक्षों को प्रस्तुत करने का अनुरोध किया। मण्डन मिश्र ने पहले शंकर से अपना पक्ष प्रस्तुत करने का निवेदन किया क्योंकि वे ही विचारार्थी होकर माहिष्मती पधारे थे।

भाष्यकार ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया-''अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान ही वेद का एकमात्र प्रयोजन है। कर्म तथा उपासना केवल चित्त शुद्धि के उपाय हैं जिनका विधान साधन-चतुष्टय में होता है। ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होने से मुक्ति हो जाती है। इस सिद्धान्त से पराजित होने पर मैं परिव्राजक वेश त्याग कर गृहस्थोपयुक्त श्वेतवस्त्र धारण कर लूंगा।'' कर्ममीमांसक ने प्रतिपक्ष में अपना सिद्धान्त निरूपित करते हुए कहा, ''कर्म ही आम्नाय का तात्पर्य है ; अन्य कथन निरर्थक हैं। स्वर्ग की प्राप्ति कर्म से होती है। इस मत से पराजित होने पर मैं गृहस्थधर्म छोड़कर कषायवस्त्र धारण कर आपका शिष्य बन जाऊँगा।'' विचारणा प्रारम्भ हुई और विस्तरित होती गयी। मध्याह्न होता देख भारती ने कहा-''पति के भोजनार्थ गृहकार्य में मुझे विलम्ब हो रहा है। मैं आप दोनों के गले में दो पुष्पमालायें डाल देती हूँ। आप लोग शास्त्र चर्चा करते रहें, जिसके गले की माला पहले मुरझायेगी वही पराजित माना जायेगा।'' शास्त्रार्थ कई दिनों तक चलता रहा। प्रतिदिन प्रात: नयी पुष्पमालायें डाली जातीं और संध्या तक वे अमलिन रहतीं। अठारहवें दिन 'तत्त्वमसि' कथन को लेकर शंकर ने जब अद्वैतार्थक श्रुति की प्रबलता सिद्ध कर दी तो मण्डन के

गले में पड़ी माला के पुष्प मुरझाने लगे। मीमांसक का मुखमण्डल भी मलिन हो गया और अध्वर्यु ने अपना सिर मुण्डी के चरणों पर रख दिया।

पति के सद्यः संन्यास की सम्भावना से अम्बा क्षुब्ध होकर बोल पड़ी, "आर्यमिश्र अभी पराजित नहीं हुए हैं। शास्त्र के अनुसार 'आत्मनोऽर्ध' होती है। इस अर्धांगिनी को पराजित किये बिना कोई मेरे पति को संन्यासी नहीं बना सकता।" असमंजस में पड़े शंकर की प्रत्युत्पन्न मति ने कहा, "यशस्वी पुरुष महिलाओं से विवाद नहीं करते।" इस पर शारदा दीप्तकण्ठ होकर बोली, "अपने मत के मण्डन के लिए क्या महर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी से और राजर्षि जनक ने सुलभा से शास्त्रार्थ नहीं किया! इस विचार-प्रार्थिनी से शास्त्रचर्चा में यह विमुखता आपकी पराजय होगी।"

भारती की स्पर्धायुक्त वाणी को सुनकर आचार्य शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हो गये। वेद-वेदांगों के अनेक पक्षों पर कई दिनों तक विचारणा हुई। सरस्वती ने जगत् की यथार्थता को प्रतिपादित किया। शंकर ने सृष्टि को रज्जु-सर्प की भाँति मिथ्या, मायिक तथा अनिर्वचनीय बताया क्योंकि यह नश्वर होने के कारण सत् नहीं और भासित होने के कारण असत् नहीं। सत् को तीनों कालों में अबाधित होना चाहिए और इस दृष्टि से केवल ब्रह्म ही सत् है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य प्रतिपादित करते हुए शंकर ने यह भी बताया कि शुक्तिरजत् की भाँति यह संसार तभी तक सत्य प्रतीत होता है जब तक सर्वाधिष्ठानब्रह्म का ज्ञान न हुआ हो। सकल शास्त्र पारंगत यतिश्रेष्ठ से वेद-विज्ञान में अपने को पार न पाती देख रेवातट वासिनी ने गोविन्दपाद के शिष्य से प्रतिदान भाव से प्रेरित होकर काम-शास्त्र पर प्रश्न करने का निश्चय किया।

"पुष्पधन्वा काम की कितनी कलायें होती हैं; इन कलाओं का क्या स्वरूप है ? इनका निवास कहाँ होता है; कृष्ण तथा शुक्ल पक्षों में इनकी क्या स्थिति होती है ; पुरुष तथा युवतियों में इनका विस्तार कैसे होता है ?" भारती के ये प्रश्न सुनकर शंकर अवाक् रह गये। कामकला में सर्वथा अनभिज्ञ युवा परिव्राजक ने प्रतिवादिनी से संन्यासी के समक्ष ऐसे निषिद्ध प्रश्नों के स्थान पर केवल शास्त्रीय शंकाओं को ही उपस्थित करने का अनुरोध किया। भारती ने उग्र होकर पूछा, "क्या कामशास्त्र शास्त्र नहीं ? यदि आप संन्यासी होते हुए भी शास्त्रार्थ में विजयी होने की कामना करते हैं तो कामकला की चर्चा में अनासक्ति क्यों ? जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के चित्त में कन्दर्प-शास्त्र की मीमांसा से विकारोत्पत्ति कहाँ ?" पत्नी की उग्रता को देखकर गृहपति ने उससे परिव्राजक के सक्षम ऐसे अशोभन प्रश्न उपस्थित न करने का अनुरोध किया। सरस्वती ने दृढ़तापूर्वक अपना मन्तव्य कहा, "आर्य ! यतिश्रेष्ठ यदि कामशास्त्र की समालोचना से विचलित होते हैं तो क्या आपके गुरू बनने योग्य हैं ?" स्थिति की गम्भीरता से अवगत होकर स्मितवदन शंकर ने निवेदन किया, " अम्बे ! इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए आप मुझे शास्त्रार्थ परम्परानुसार एक मास का समय दें। मैं परकाय-प्रवेश कर इन सबका लिखित समाधान प्रस्तुत करूँगा क्योंकि संन्यासी के मुख से कामशास्त्र पर चर्चा अविहित है।"

आचार्य के परदेह-प्रवेश के निश्चय पर पद्मपाद ने आपत्ति प्रस्तुत किया। शंकर ने ऋग्वेद (१०-८-८०) का वह दृष्टान्त देकर आपत्ति का परिहार किया जिसमें ब्रह्मज्ञानी इन्द्र ने संकल्परहित होकर त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला था। योग-बल से आचार्य को ज्ञात हुआ कि जंगल में मृगया के लिए आये राजा अमरूक (अमरक) का मृगी रोग से देहान्त हो गया है। सद्यःमृत राजा के शरीर में प्रवेश का निश्चय हुआ। यतिदेह को शिष्यों को सुपुर्द कर शंकर ने वज्रोलिमुद्रा (पैर के अँगूठे से प्राणवायु को ब्रह्मरंध्र के द्वारा बाहर निकालना) से लिंग शरीर (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण, मन तथा बुद्धि) द्वारा पर देह प्रवेश कर रमणियों के साथ विलास किया तथा राजपण्डितों की सहायता से भारती के प्रश्नों की पृष्ठभूमि में कामशास्त्र पर एक प्रबन्ध लिखा। भोग-विलास में अनुरक्त आचार्य के वापस

आगमन में विलम्ब होता देखकर पद्मपाद ने गायक का छद्मवेश धारण कर राजसभा में अपनी कविता में तण्डुल-तुष की उपमा द्वारा उन्हें तत्त्वबोध कराया। परिव्राजकप्रवर के पुनः माहिष्मती आगमन का संवाद पाकर छिन्नसंशया भारती ने देह त्यागने का निश्चय किया। शंकर ने उनसे अनुरोध किया कि दिव्य शरीर से सरस्वती शृंगेरी में स्थापित होने वाले श्रीयन्त्र में निवास करें। सरस्वती ने इसकी स्वीकृति दे दी। पत्नी की दाहक्रियादि से निवृत्त होकर मण्डन ने संन्यास-दीक्षा ली और परम्परा के अनुसार सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए।

शृंगेरी के पथ में आचार्य को तृतीय शिष्य हस्तामलक प्राप्त हुए। दिवाकर नामक एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण ने अपने विचारमग्न पुत्र पृथ्वीधर (प्रमाकर) की जड़ता दूर करने के लिए आचार्य से निवेदन किया। सहजस्नेहवश आचार्य ने जब उससे नाम पूछा तो उसने उत्तर दिया, "भगवन्! न मैं मनुष्य हूँ, न देव, न यक्ष; अपने वर्ण तथा आश्रम को भी मैं नहीं जानता। मैं तो केवल चैतन्यानन्द रूप हूँ। यह कथन सुनकर भगवत्पाद आनंदित होकर बोले, "इसे तो तत्त्वज्ञान हस्तामलकवत् है।" बालक दीक्षित होकर हस्तामलक नाम से ही विख्यात हुआ।

इस मार्ग में शंकर को कापालिक के जाल में अपने प्राण गँवाने तक की स्थिति देखनी पड़ी। श्रीशैल में कापालिकों के राजा क्रकच ने आचार्य की दिग्दिगन्तों में व्याप्त होती ख्याति के बारे में सुना। उसने इनकी हत्या का भार प्रधान कापालिक उग्र-भैरव को सौंपा। उग्र-भैरव आचार्य का शिष्य बना और एक दिन बलि के लिए भिक्षा में आचार्य-मुण्ड मांगा। शंकर सहमत होकर तदर्थ एकान्त में गये। कापालिक द्वारा आचार्य के शिरच्छेदन की योजना का आभास पद्मपाद को हो गया और अन्तिम क्षण में वध स्थल पर पहुँचकर उन्होंने गुरु की रक्षा तथा उग्र-भैरव का संहार किया।

शृंगी ऋषि की तपोभूमि (कर्णाटक के कंडूर जिला में) पर आचार्य ने उसी समय आश्रम बनाने का निश्चय किया था जब वे दीक्षा-गुरु की खोज में ओंकारेश्वर की ओर प्रस्थित हुए थे। तुंगा नदी के जल में गर्मी से त्रस्त मेढ़कों के छोटे बच्चों को किनारे आकर कृष्ण-सर्प के फण की छाया में शांति पाता देख शंकर रोमांचित हो उठे थे। वह अविस्मरणीय दृश्य भगवत्पाद के हृदय में स्पष्ट रूप से अंकित था। गोकर्ण होते हुए आचार्य ने शृंगेरी पहुँच कर पूर्व संकल्प के अनुसार तुंगा नदी के बाँयें तट पर श्रीयन्त्र की स्थापना कर इसको आदि-पीठ घोषित किया। सुरेश्वर यहाँ के प्रथम पीठाधीश्वर बनाये गये। तुंगा के दाहिने तट पर भगवान चन्द्रमौलीश्वर की स्थापना कर महाम्नाय बनाया गया।

आदिपीठ में आदिशंकर ने भाष्यचर्चा तथा साहित्यसर्जन की ओर विशेष ध्यान दिया। ब्रह्मसिद्धिकार सुरेश्वर ने सूत्रभाष्य पर वार्त्तिक लिखने के बजाय नैष्कर्म्यसिद्धि पर अधिक बल दिया और आचार्य की तैत्तिरीय शाखा को ध्यान में रखकर तैत्तिरीयभाष्य वार्त्तिक लिखा। अपनी काण्वशाखा से सम्बन्धित बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य पर भी इन्होंने वार्त्तिक की रचना की। सूत्रभाष्य पर वार्त्तिक लिखने का भार पद्मपाद को दिया गया। 'विजय-डिण्डिम' नाम से लिखे वार्त्तिक को सनन्दन के कर्मकाण्डी मामा ने द्वेषवश जला डाला तथा पद्मपाद को विषाक्त भोजन देकर उन्मत्त बना दिया। आचार्य की कृपा से ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों पर लिखा वार्त्तिक स्मरणशक्ति के आधार पर पुनः लेखनीबद्ध हुआ जो 'पंचपादिका' कहलाता है।

आचार्य के चतुर्थ शिष्य तोटक शृंगेरी में ही उद्घाटित हुए। आनन्दगिरि नामक एक आत्मरथ नामक शिष्य आचार्य की शास्त्रचर्चा सुना करता था। उसकी अनुपस्थिति में आचार्य उपदेश नहीं करना चाहते थे। अन्य शिष्य इस कारण 'गिरि' से द्वेष वश उसे 'जड़' (पत्थर) कहा करते थे। एक दिन वह तुंगा के तट पर आचार्य की कौपीन धो रहा था और उपदेश का समय हो गया था। शिष्यों ने आचार्य से कहा कि उस जड़बुद्धि के लिए शास्त्रोपदेश को विलम्बित करना आवश्यक नहीं। आचार्य ने शिष्य

की प्रतीक्षा की और उसके आने पर मंगलोच्चार करने को कहा। तोटक छन्दों में आनन्दगिरि की वाणी फूट पड़ी। इस अध्यात्मज्ञानी शिष्य का नाम 'तोटकाचार्य' पड़ गया। इसने ब्रह्मज्ञान में अधिक प्रवृत्त होने से ग्रन्थ-रचना नहीं की; परन्तु आचार्य को यह अत्यन्त प्रिय था।

शृंगेरी में प्रवचन करते समय आचार्य का मन एक दिन अकस्मात् उचट गया। ध्यान कर देखा तो माँ विशिष्टा मृत्यु शय्या पर पड़ी हुई पुत्र का स्मरण कर रही है। परिव्राजक को याद आया कि नारियल और केलों से भरे धान के खेतों के बीच से बहती पूर्णा नदी के तट पर स्थित अपनी गृहपुरी कालड़ी (केरल में, कोचीन के समीप) छोड़ते समय उन्होंने माँ को वचन दिया था कि मृत्यु के समय उपस्थित होकर मुखाग्नि देंगे। माँ से सुनी वे बातें भी ताजी हो उठी जब तपोरत ब्राह्मण शिवगुरु को भगवान शंकर ने यशस्वी किन्तु अल्पायु पुत्र होने का आशीर्वाद दिया था। विक्रम संवत् ८४५ की वैशाख शुक्ल द्वादशी को विशिष्टा की गोद में जन्मे इस बालक की राशि देखकर ज्योतिषियों ने जब तीन वर्ष में पिता की तथा आठ या सोलह वर्ष में पुत्र की मृत्यु के योगों को बताया था तब नम्बूदरी-दम्पति कम्पित हो उठे थे। माँ से अल्पायु की बात जानकर पुत्र ने बाल सन्यासी होने का संकल्प किया था, परन्तु विशिष्टा से इसकी अनुमति न मिलने पर उदास बालक प्राय: पूर्णा नदी के जल में क्रीड़ा करता हुआ समय बिताता। शंकर को यह भी याद आया कि कैसे एक दिन नदी में ग्राह द्वारा ग्रसित होने पर उन्होंने चिल्लाकर माँ से सन्यास की पुन: अनुमति मांगी और विवश हो विशिष्टा ने अनुमति दे दी। मृत्यु-योग टला और ग्राह के मुख से छूटकर शंकर जब आत्मदीक्षा लेकर कालड़ी से प्रस्थान करने लगे तब माँ ने द्रवित होकर कहा था, 'इस एकाकी वृद्धा को मृत्यु के समय अपना मुँह दिखा देना और मुखाग्नि दे देना।'

शिष्यों को विराम का संकेत देकर शंकर योगबल से अविलम्ब माँ के समीप खड़े हो गये। विशिष्टा पुत्र को देखकर आनन्दविभोर हो गयी और कुछ ही क्षणों में विष्णुधामवासिनी भी हो गयी। माँ की दाह-क्रिया के लिए सन्यासी को कृतसंकल्प देखकर कुटम्बी और पुरजन शंकर की भर्त्सना करते आग न देने की धौंस देते हुए शव को छोड़कर चले गये। एकाकी शंकर शव को निकट बहती हुई पूर्णा के तट पर भी नहीं ले जा सके जिसकी धारा को वृद्धा माँ के नित्य-स्नान हेतु उन्होंने घर के समीप से प्रवाहित कराया था। आसपास की सूखी लकड़ियाँ इकट्ठा कर दण्डी ने घर के दरवाजे पर ही माँ की चिता सजायी और लकड़ी तथा हड्डी को घिसकर अग्नि प्रज्वलित की। विशिष्टा की इस समाधि के कारण ही आज शंकर की जन्मभूमि का निश्चय हो पाया। उन्होंने मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मणों को शाप भी दिया कि वे सभी अपने शवदाह गृहोपकण्ठ में ही करेंगे और यह प्रथा वहाँ आज भी प्रचलित है। कुलदेवता केशव को प्रणाम कर शंकर जब शृंगेरी की ओर चले तो केरल नरेश राजशेखर को कालड़ी-वासियों के दुर्व्यव्हार का संवाद मिला। उन्होंने नम्बूदरी पण्डितों पर रोष प्रकट किया और आचार्य को ससम्मान बुलाकर समाज सुधारक नियमावली बनवाया। 'शंकरस्मृति' के अनुसार आचरण करना मलाबार पण्डितों के लिए उन्होंने अनिवार्य घोषित किया।

मातृऋण से मुक्त हो आचार्य ने शृंगेरी पहुँच कर दिग्विजय करने का संकल्प किया। कर्नाट-उज्जयिनी के राजा सुधन्वा की वाहिनी तथा सनन्दनादि शिष्यों की मण्डली साथ लेकर जगद्गुरु ने अपनी दिग्विजय यात्रा प्रारम्भ की। अनेक विघ्न-बाधाओं तथा उपलब्धियों से पूर्ण यह शंकर-दिग्विजय भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवत्पाद जहाँ भी जाते थे, वहाँ के स्थानीय आचार-विचारों की ससम्मान शुद्धि करते तथा अधिष्ठातृ देवी-देवताओं की अर्चना कर उनकी विधिवत् प्रतिष्ठा करते थे। इस यात्रा का वर्णन अनेक ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न क्रमों में मिलता है। अधिक संगत पथ का क्रम यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है।

तिरूवनन्तपुरम् में पद्मनाभ का दर्शन कर मध्यार्जुन में आचार्य ने शिवार्चन किया तथा तुला-

भवानी में वामाचारी ब्राह्मणों का संस्कार किया। रामेश्वरम् में तीन मास का प्रवास कर श्रीरंगम् में पाञ्चरात्रों एवं भागवतों को शंकर ने अद्वैत-मतावलम्बी बनाया। मथुरा में मीनाक्षी का दर्शन कर शंकर काञ्चीपुरी आये और शिव तथा विष्णु के मन्दिरों का पुनरूद्धार किये। यहीं पर काम कोटिपीठ की भी स्थापना हुई। तिरुपति में श्री वेंकटेश्वर का पूजन कर आचार्य कलिंगप्रदेश के पुरी-धाम में पहुँचे। जगन्नाथ के विशाल मन्दिर में बदरिकाश्रम की ही भाँति नारायण-विग्रह के स्थान पर शालिग्राम की अर्चना होती थी। विधर्मियों के लुण्ठनभय से चित्काहद में फेंकी रत्नजटित पेटिका को ढूँढकर आचार्य ने कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा के काष्ठमय विग्रहों को मन्दिर में पुन: प्रतिष्ठित कराया। पास ही गोवर्धन-पीठ की स्थापना हुई जो पूर्वी भारत का धर्मपीठ है। कुछ दिनों बाद पद्मपाद यहाँ के पीठाधीश्वर बने।

मगध में प्रवेश कर आचार्य ने गया में पितरों की श्राद्धभूमि का अवलोकन किया तथा गौतमबुद्ध को दशम अवतार घोषित किया। प्रयाग की ओर बढ़ते परिव्राजक के साथ इस समय तीन हजार शिष्य एवं भक्तगण चल रहे थे। काशी में आचार्यप्रवर का विशेष अभिनन्दन हुआ। शास्त्रार्थ में शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध तथा अर्हत (जैन) मतावलम्बी पण्डितों को निग्रहस्थान पर पहुँचाकर आचार्य तीर्थराज प्रयाग आये। यहाँ पर भी अनेक धर्मावलम्बियों से उनका शास्त्रार्थ हुआ। आनन्दगिरि ने सांख्याचार्यों से प्रकृति-परिणामवाद पर विचारणा कर बताया कि सृष्टि का कर्ता जड़ प्रकृति न होकर चेतन ब्रह्म ही है। सृष्टि में व्याप्त प्रयोजन का कर्त्ता एवं लक्ष्य दोनों ही चैतन्यधन है। उज्जयिनी में क्षिप्रा-स्नान तथा महाकाल-दर्शन के पश्चात् आचार्य ने पद्मपाद को भेदाभेदवादी विद्वान भास्कराचार्य के पास शास्त्रार्थ के लिए भेजा। उन्मत्त-भैरव नामक कापालिक को भी आचार्य ने यहाँ वशीकृत किया। सोमनाथ और प्रभास क्षेत्र होते हुए भगवत्पाद द्वारकाधाम पहुँचे। भगवान कृष्ण की अर्चना कर वहाँ शारदापीठ स्थापित किया और हस्तामलक को इसका प्रथम पीठाधीश्वर नियुक्त किया। पुष्कर-तीर्थ होते हुए आचार्य गांधार जाकर पुरुषपुर (पेशावर) में बौद्धाचार्यों से शास्त्रार्थ करके तथा बाह्लीक में जैन मतावलम्बियों से स्याद्वाद पर शास्त्रार्थ कर कश्मीर लौटे।

महाकवि बिल्हण की गर्वोक्ति है कि कविता और केसर के अंकुर कश्मीर के शारदीय क्षेत्र में ही उगते हैं; अन्यत्र नहीं। श्रीनगर के निकट शारदा-मन्दिर का सर्वज्ञपीठ उस युग में देश का सर्वाधिक प्रतिष्ठित ज्ञानपीठ था जहाँ दाक्षिणात्य पण्डितों को छोड़कर सभी प्रदेशों के आचार्य विद्यमान थे। मन्दिरों के प्रवेशद्वारों पर पण्डित समूह नवागन्तुकों से शास्त्रार्थ करता था। सर्वज्ञपीठ पर आरोहण का वही पात्र होता था जो सभी पंडितों को परास्त कर पण्डित मण्डली की सहमति से मन्दिर में प्रविष्ट हो। शारदाकुण्ड के जल का आचमन कर आचार्य शंकर जब एक द्वार पर गये तो कणादमतावलम्बी वैशेषिक विद्वान् ने उनसे परमाणुवाद सम्बन्धी प्रश्न किया। "दो परमाणुओं के मिलने का क्या कारण है?" इस जिज्ञासा का सामधान करते हुए भाष्यकार ने बताया कि द्वित्व संख्या ही द्वयणुक का कारण है। गौतम मतावलम्बी पण्डित द्वारा न्याय तथा वैशेषिक मतों में मुक्तावस्था में भेदनिरूपण सम्बन्धी प्रश्न पर आचार्य ने स्पष्ट किया कि काणादीय मुक्तात्मा को असंग एवं निष्क्रिय मानते हैं जबकि नैयायिक इसे आनन्दमय। बौद्ध विज्ञानवादियों के साथ बाह्यानुमेयवाद पर शास्त्रार्थ में आचार्य ने विज्ञानों की बाह्यात्मकता तथा आलयविज्ञान की अपरिवर्तनशीलता सिद्ध कर उन्हें वेदान्तमतावलम्बी बनाया। माध्यमिकों की स्वभावशून्यता का भी आचार्य ने खण्डन कर यह सिद्ध किया कि यदि शून्य को सत् माना जाय तो वह निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं।

सांख्य-योग, मीमांसा और आर्हतादि दर्शनों के अन्य पण्डितों को भी पराभूत कर आचार्य शंकर जब मन्दिर के दक्षिण द्वार से प्रवेश कर सर्वज्ञपीठ की ओर बढ़े तब आकाशवाणी हुई, "इस पीठ पर अधिरोहण के लिए सर्वज्ञता ही नहीं, सच्चरित्रता भी आवश्यक है। मृतक शरीर में प्रवेश कर

कामिनियों के संग रमण करने वाले ब्रह्मचारी को इसकी पात्रता कैसे ?'' आचार्य स्तंभित होकर बोले, ''मैंने इस शरीर से कोई पातक कर्म नहीं किया है। देहान्तर से कामकला सीखी थी, वह भी शास्त्रार्थ के लिए, ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादन के लिए। फिर अनासक्तभाव से यदि इसी यतिदेह से भोग-विलास किया होता तो भी दोषी नहीं रहता, जैसे अमनाकृष्ण का गोपियों के साथ रास।'' सरस्वती ने शंकर की युक्ति स्वीकार कर सर्वज्ञपीठ पर आरोहण की अनुज्ञा प्रदान की।

श्रीनगर से तक्षशिला, हरिद्वार, नैमिषारण्य, अयोध्या, नालंदा और राजगृह होते हुए शंकर प्राग्ज्योतिषपुर पहुँचे तथा कामाख्या देवी का दर्शन किये। कामरूप के तान्त्रिकों को पराजित कर आचार्य ने बंगदेशीय शाक्तों को अनुयायी बनाया। यहीं पर आचार्य को उनके परमगुरु गौड़पाद ने दर्शन दिया तथा माण्डूक्य उपनिषद् की कारिकाओं पर शांकरभाष्य सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो आशीर्वाद दिया कि यह भाष्य सर्वत्र प्रसिद्ध होगा क्योंकि इसमें अद्वैत तत्त्व का परिचय इस सम्प्रदाय के अनुकूल दिया गया है। तारकेश्वर महादेव का पूजन कर भगवत्पाद नेपाल में पशुपतिनाथ का दर्शन करने चले। बौद्धधर्म के प्राबल्य से यहाँ के मन्दिरों में अर्चाशैथिल्य देखकर आचार्य ने वहाँ के राजा वरदेव से विमर्श कर वहाँ वैदिकविधि सम्मत अर्चना के लिए नम्बूदरी ब्राह्मणों को नियुक्त कराया। अपनी आयु पूरी होती हुई देख परिव्राजकाचार्य बदरी क्षेत्र पधारे। तोटकाचार्य को ज्योतिष्पीठ का अधीश्वर नियुक्त कर सभी पीठाधीश्वरों के लिए महानुशासन देकर राष्ट्र की प्रतिष्ठा तथा सनातनधर्म के प्रचार के लिए निर्देश दिये कि पीठाधीश्वरों को सदा अपने-अपने क्षेत्रों में भ्रमण करने, पराम्नाय में अतिक्रमण न करने इत्यादि का विधान किया। अन्यथा आचरण करने वाले पीठाधीश्वरों को गद्दी से उतारने का भी प्रावधान बनाया गया। प्रधान पीठों के अन्तर्गत उपपीठों के कार्यक्षेत्र तथा मुद्राओं का विधान भी द्रष्टव्य है।

मनुष्यदेह से अपना कार्य सम्पादित मानकर आचार्य शंकर ने केदारेश्वर होते हुए कैलाश का आरोहण किया। कैलास क्षेत्र में ही वैशाखी पूर्णिमा को अनन्तश्रीविभूषित आदिशंकर अनादिअनन्त शिवतत्त्व में विलीन हो गये, ऐसी धारणा शृंगेरी=परम्परा की है। केरल की परम्परा के अनुसार आचार्य कांचीस्थित सर्वज्ञपीठ पर आरोहण के बाद त्रिचूर के निकट वृषाचल (दक्षिण कैलास) में रहे और मन्दिर के विशाल प्रांगण में समाधिस्थ हुए। कामकोटिपीठ की मान्यता है कि भगवत्पाद का शरीरपात कांचीपुरी में ही हुआ। आदिशंकर के शरीरान्त की अनेक सम्भावनायें! अनिर्वचनीयता के प्रतिपादक की अन्तिम स्थिति के बारे में निश्चित कथन सम्भव ही क्यों हो!

***

भारतीय दर्शन के पाँच दशक

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सभी क्षेत्रों में एक नवीन उत्साह दिखाई पड़ा। विदेशी शासनतंत्र से मुक्ति के बाद स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग होने लगा। भाषा एवं चिन्तन के क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय सम्मान के अनुरूप देशी भाषाओं के माध्यम से भारतीय विचारकों का पुनर्मूल्यांकन एवं उपस्थापन प्रारम्भ हुआ। चूँकि हिन्दी अधिकांश भारतीयों की भाषा रही है अत: इसको अंग्रेजी के स्थान पर राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ। इसे राजभाषा बनाया भी गया। आज के प्रसंग में भाषा एवं दर्शन दोनों ही दृष्टियों से १९५४ का वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा जब अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् की संकल्पना हुई। सत्यकाम जाबाल की ही भाँति इसके जन्म का प्रमाण पत्र नहीं मिलता। परंतु दार्शनिक त्रैमासिक का एक अंक (निरंक ?) इस वर्ष निकला। जनवरी १९५५ में दार्शनिक त्रैमासिक का व्यवस्थित अंक (प्रथम अंक के रूप में) छपा और परषिद् का प्रथम अधिवेशन प्रयाग विश्वविद्यालय में इसी वर्ष आयोजित करने की घोषणा हुई। कुछ कारणों से यह स्थगित हुआ और फिर १९५६ की फरवरी के सप्ताहान्त में यह आयोजित हुआ। सन् १९२५ में भारतीय दार्शनिक कांग्रेस (महासभा) की स्थापना के उपरान्त यह तिथि भारतीय दर्शन के क्षितिज का प्रमुख संकेतक है। हिन्दी के माध्यम से दर्शन को विकसित करने तथा दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस भाषा को पुष्ट एवं समृद्ध बनाने का लक्ष्य रखकर इस दर्शन-परिषद् ने पिछले ४८-४९ वर्षों में जो कार्य किया वह श्लाघ्य है। अपने प्रकाशनों, अधिवेशनों एवं गोष्ठियों के माध्यम से भाषा एवं चिन्तन दोनों को ही परिष्कृत करने का उद्यम स्वयं में स्पृहणीय है। दर्शन-परिषद् के परिवेश के भीतर तथा बाहर दर्शन के क्षेत्र में क्या हुआ, क्या नहीं हुआ, इसका आकलन एकाधिक ग्रन्थ-रचना के द्वारा ही संभव है। यह कार्य होना प्रारंभ हो गया है। परन्तु अत्यल्प ढंग से इस अवधि की उपलब्धियों की ओर अपनी दृष्टि से संकेत करने का हम यहाँ प्रयास करेंगे।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में अँग्रेजी शासन के कारण अंग्रेजी माध्यम से पाश्चात्य एवं कुछ भारतीय विचारकों के संबंध में हमारे विश्वविद्यालयों के दर्शन-विभाग कुछ चर्चा किया करते थे। राधाकृष्णन् एवं म्योरहेड द्वारा सम्पादित 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी'[1] ने पहली बार समसामयिक भारतीय दर्शन को प्रकाश में लाया। परन्तु विश्वविद्यालयों में दर्शन-शास्त्र के पाठ्यक्रमों में समसामयिक भारतीय विचारकों का समावेश इस शताब्दी के छठे दशक से पूर्व नहीं हो पाया था। दुर्भाग्य से उस समय तक समकालीन कहे जाने वाले प्राय: सभी भारतीय दार्शनिक [डॉ. राधाकृष्णन् (१८८८-१९७४) को छोड़कर] दिवंगत हो चुके थे। स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थी गाँधी, टैगोर, अरविन्द, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, इकबाल इत्यादि के विचारों से परिचित होने लगे थे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी विचारक प्राय: आदर्शवादी परम्परा के थे और राधाकृष्णन्-म्योरहेड के संस्करण में २५ लोग आदर्शवादी रहे। पिछली पीढ़ी के इन विचारकों की अपेक्षा परवर्ती पीढ़ी के लोगों में यथार्थवादी विचारधारा भी मिलती है तथा स्वतंत्रता के उपरान्त के भारतीय दर्शन में इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता

है। दर्शन-परिषद् द्वारा १९६४ में प्रकाशित तथा डॉ. के. सच्चिदानंद मूर्ति द्वारा सम्पादित समकालीन भारतीय दर्शन में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने समकालीन भारतीय वस्तुवादी विचारकों में मानवेन्द्र नाथ राय तथा जी.सी. चटर्जी प्रभृति नामों का उल्लेख करते हुए उनके विचारों का विश्लेषण किया है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक नये विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्रारम्भ होने पर उनमें दर्शनशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन होने के कारण दर्शन-शास्त्र को समझने वाले लोगों की कमी नहीं रही। गुणात्मक विकास की दृष्टि से दर्शन-शास्त्र की प्रगति हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने १९६४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, विश्वभारती तथा मद्रास विश्वविद्यालय में दर्शन के उच्चाध्ययन केन्द्रों की स्थापना की। इन केन्द्रों ने कलकत्ता, इलाहाबाद तथा अमलनेर में हुए दर्शन के ह्रास की पूर्ति प्रारम्भ की। पूना में इण्डियन फिलासफिकल क्वार्टर्ली तथा परामर्श का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। अनेक पत्र-पत्रिकाओं, गोष्ठियों इत्यादि के माध्यमों से दर्शन शास्त्र का प्रचार-प्रसार होने लगा। परन्तु इन सबके बीच दर्शन और चिन्तन सम्बन्धी कोई मौलिक योगदान हो पाया या नहीं यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण बनता गया। सन् १९५० में प्रोफेसर धीरेन्द्रमोहन दत्त ने एक टिप्पणी की थी कि समकालीन भारतीय दर्शन या तो विशुद्ध पाश्चात्य प्रभाव से उत्पन्न है अथवा भारत भूमि पर यूरोपीय दर्शन का एक विचित्र विस्तार है।[1] लगभग यह धारणा १९६३ तक भी बनी रही जब पणिक्कर ने यह कटु सत्य उद्घोषित किया कि भारतीय विश्वविद्यालयों में से किसी एक ने भी कोई ऐसा दार्शनिक उत्पन्न नहीं किया जिसने परम्परागत चिन्तन-पद्धति अथवा आधुनिक विचार में कोई विशिष्ट योगदान किया हो।[2]

यहाँ हम कह सकते हैं कि संस्थायें दार्शनिकों को उत्पन्न करने की उद्यम नहीं। विश्वविद्यालयों या दर्शन केन्द्रों में दर्शन का अध्ययन 'शास्त्र' के रूप में होता है, जैसे अन्य शास्त्रों का। और संस्थाओं में भी प्राय: आर्थिक एवं प्रशासनिक सुविधाओं का अभाव सा होता है। उच्चाध्ययन के दो केन्द्र तो १९७४ में ही बंद कर दिये गये। वर्तमान में यादवपुर (कलकत्ता) में ऐसा एकमात्र केन्द्र कार्यरत है। फिर भी इस बात को पूर्णत: नकारा नहीं जा सकता कि ह्रासोन्मुखी स्थिति के निर्माण का आंशिक दायित्व हम दर्शन के अध्यपकों पर भी है। प्राय: विश्वविद्यालयों के दर्शन-विभाग के अध्यक्षों एवं दर्शन-केन्द्रों के निदेशकों ने यह मान लिया था कि उनकी सीमाओं के अन्तर्गत ही दर्शन की आत्मा पलती है।

विश्वविद्यालयीन दर्शन विभागों एवं अध्ययन केन्द्रों में कुछ परम्परागत विद्वान् ऐसे भी रहे हैं जिनकी यह मान्यता रही कि जो कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तन सम्भव है वह सभी प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों में मिलता है। उनके अनुसार आधुनिक भारतीय विचारकों के चिन्तन महत्त्वपूर्ण नहीं और सम्भवत: दर्शन कहलाने योग्य भी नहीं है। इन परम्परावादियों की इस धारणा के विपरीत आधुनिकवादी लोगों का यह कथन है कि भारत के प्राचीन अथवा नवीन दोनों ही चिन्तनों में 'दर्शन' नहीं है। जिसे हम 'दर्शन' कहते हैं वह पश्चिम में मिलता है और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन को पढ़ना-समझना ही परम-पुरूषार्थ है। इन दो परस्पर विपरीत मतावलम्बियों के मध्य एक तीसरा वर्ग ऐसा भी है जो 'पुराणामित्येव न साधु सर्वम्' की धारणा के अनुरूप यह स्वीकार करता है कि भारतीय दर्शन की सामग्री को पाश्चात्य दृष्टि से विवेचित किया जाना उपयोगी है और पाश्चात्य दृष्टि भी परम्परागत दृष्टियों से बहुत भिन्न नहीं। ऐसे सभी विचारकों के चिन्तन का विश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं परन्तु इनमें से कुछ की ओर हम संकेत अवश्य करेंगे।

ऐसे कौन-कौन से नाम हैं जिन्हें आधुनिक भारतीय विचारकों की श्रेणी में रखा जाय, इस प्रश्न पर, जैसा कि पहले कहा गया, पर्याप्त मतभेद है। यों तो विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों के प्राय: सभी अध्यक्ष एवं आचार्य अपने को इस श्रेणी में मानते हैं परन्तु कुछ वस्तुनिष्ठ आधारों पर कुछ नाम छाँटे जा सकते हैं। कुछ सर्वेक्षणों से पता चलता है कि जिद्दू कृष्णमूर्ति, विनोबा भावे, पूला तिरूपति राजू,

तिरूपत्तूर रामवेष वेंकटाचल मूर्त्ति तथा कालिदास भट्टाचार्य जैसे नामों पर आम सहमति है। समकालीन (अथवा आधुनिक) भारतीय दर्शन पर अनेक ग्रन्थों[4] में जिनके विचार संग्रहीत किये गये हैं उनका सर्वेक्षण करने से ज्ञात होगा कि उपरोक्त नामों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे नाम हैं जिन्हें चिन्तक-मण्डल में रखा जा सकता है। डॉ. तेल्लियवरम् पोन्नम्बलम् महादेवन्, डॉ. नन्दकिशोर देवराज, डॉ. गणेश्वर मिश्र, डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी, डॉ. याकूब मसीह, डॉ. कोत्ता सच्चिदानंद मूर्त्ति, डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय, डॉ. (श्रीमति) मार्गरेट चटर्जी, डॉ. जितेन्द्रनाथ मोहन्ती जैसे नामों पर भी अधिकांश लोगों की सहमति है।

यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पुरानी पीढ़ी के द्वारा राहुल सांकृत्यायन, सुखलाल संघवी एवं डॉ. सम्पूर्णानन्द के चिन्तन की उपेक्षा की गई उसी प्रकार आज की पीढ़ी अनेक ऐसे विचारकों की उपेक्षा कर रही है जो इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं या किये हैं। श्री यशदेव शल्य एवं रामशंकर भट्टाचार्य जैसे लोग सम्भवत: इसीलिए पर्याप्त समादृत नहीं हो सके क्योंकि इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम अंग्रेजी को नहीं बनाया। और तथ्य वस्तुत: यह है कि मौलिक चिन्तन करने के लिए अपनी भाषा और अपना परिवेश आवश्यक है। दर्शन के क्षेत्र में भी यह बात पूर्णरूपेण लागू होती है। यद्यपि ऐसे विद्वानों की कमी नहीं जो दर्शनशास्त्र को देशकालातीत चिन्तन के धरातल पर रखना चाहते हैं, परन्तु सामान्यतया दर्शन को संस्कृति से पृथक् नहीं किया जा सकता। डॉ. देवराज, श्री यशदेव शल्य एवं डॉ. बसंतकुमार लाल की यह स्पष्ट धारणा है कि दर्शन संस्कृति से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। यदि दर्शन पूर्णतया अमूर्त एवं सार्वभौम होता तो भारतीय, यूरोपीय, अमरीकी इत्यादि विशेषण निरर्थक होते।

भारतीय दर्शन सदा की भाँति आज भी अपनी संस्कृति से आबद्ध होकर विकसित हो रहा है। संस्कृति के साथ ही साथ धर्म से भी इसका घनिष्ठ संबंध दीखता है। अनेक दृष्टियों से भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदाय धर्म के ही दार्शनिक विवेचन हैं। धर्म उन्हें अनुभूति की सामग्री प्रदान कराता है एवं दर्शन उसका बौद्धिक विश्लेषण करता है। यों भी एक-दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त प्राय: सभी दर्शनों (आस्तिक, नास्तिक) के अनुयायी आज भी हमें न्यूनाधिक संख्या में मिल जायेंगे। वेदान्त के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक प्रतीत होती है। नव्य-वेदान्त के अतिरिक्त नव्य-न्याय, योग एवं भाषा-विश्लेषण की परम्पराओं का पर्याप्त प्रचलन है। गाँधी एवं श्री अरविन्द जैसे आधुनिक विचारकों के दर्शन के भी सम्प्रदाय धर्म जैसे बन गये हैं।

नवीन दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में आधुनिक भारत की पृष्ठभूमि में तुलनात्मक दर्शन का उदय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि प्राचीन काल में अशोक तथा मध्ययुग के कबीर, नानक एवं दारा शिकोह ने तुलनात्मक दर्शन की आधारशिला रख दी थी परन्तु वर्तमान युग में इसे स्थापित करने का कार्य डॉ. राधाकृष्णन् का है। राधाकृष्णन् (एवं अन्य) द्वारा सम्पादित ग्रन्थ[5] से इसका प्रारम्भ होता है तथा डॉ. पी.टी. राजू के द्वारा यह सम्पुष्ट होता है। आज अनेक ऐसे विद्वान मिलेंगे जो इस धारा के पोषक हैं, भले ही वे स्पष्टता से इसे स्वीकार न करें। यहाँ तुलनात्मक दर्शन का लक्ष्य रहा है विश्व में चर्चित दर्शन की समस्याओं का भारतीय समाधान प्रस्तुत करना। पश्चिम के लोगों में सारी समस्याओं के समाधान का स्रोत पश्चिम को ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति समाप्त होकर जब भारतीय एवं पाश्चात्य योगदानों को समान रूप से ग्रहण करने की भावना विकसित हो जायेगी तब सम्भवत: इसका भारतीय पक्ष कमजोर पड़ जाय। परन्तु अभी तो तुलनात्मक दर्शन के विकास की प्रचुर आवश्यकता है। प्रो. पी.टी. राजू ने वेदान्त दर्शन को आधार मानकर तुलनात्मक दर्शन की पद्धति एवं इसके लक्ष्य का निर्धारण किया है।[6] प्रो. एन.एस.एस. रमण ने इसकी पद्धति को और भी अधिक स्पष्ट बनाने पर बल देते

हुए स्वीकार किया है कि इससे विभिन्न संस्कृतियों एवं परम्पराओं के लोग परस्पर निकट आते हैं।[७] तुलनात्मक दर्शन के आधार पर ही प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने 'संदर्शन' की स्थापना का दावा किया है जिससे हमें एक ऐसी दृष्टि मिलती है कि तत्त्व को पूर्णरूपेण देखा जा सके। इसमें पाश्चात्य भाषा-विश्लेषण एवं भारतीय अद्वैतवाद का रोचक समन्वय मिलता है।

अब हम तीन ऐसे नामों की चर्चा करेंगे जिन्होंने तुलनात्मक दर्शन एवं वेदान्त मे आधार पर आधुनिक भारतीय दर्शन को नई दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया है। ये नाम हैं- डॉ. टी.आर. व्ही.मूर्ति, डॉ. नन्दकिशोर देवराज एवं डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी। तत्काल प्रश्न उपस्थित होता है कि ये तीन ही नाम क्यों ? इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि चूँकि सभी या बहुत से नामों की चर्चा यहाँ सम्भव नहीं, अत: ये ही नाम।[८] वैयक्तिक कारणों से इन तीनों का विवेचन समीचीन है। तीनों आज दिवंगत हो चुके हैं। तीनों ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे शिक्षा-गुरू रहे हैं। तीनों ने स्वयं भी वहीं शिक्षा पायी। तीनों दर्शन के उच्चाध्ययन केन्द्र के निदेशक रहे हैं। तीनों दर्शन-परिषद् से भी संबद्ध रहे हैं, इसके वार्षिक अधिवेशनों के प्रमुख अध्यक्ष के रूप में। प्रोफेसर मूर्त्ति ने भारतीय भाषा-दर्शन की ओर संकेत किया है तो डॉ. देवराज ने सृजनात्मक मानवतावाद की सृष्टि की है और डॉ. त्रिपाठी ने अद्वैत के आत्मदर्शन की संगत व्याख्या कर उसे पूर्ण माना है।

प्रोफेसर मूर्त्ति (१९०२-८६) के बौद्ध दर्शन संबंधी ग्रंथ से हम सभी सुपरिचित हैं। यहाँ हम उनके परवर्ती चिंतन की चर्चा करेंगे जिसका संकेत हमें भारतीय दार्शनिक काँग्रेस के १९६३ में सम्पन्न चण्डीगढ़ अधिवेशन में मिला था। अपने अध्यक्षीय भाषण[९] में डॉ. मूर्त्ति ने भारतीय भाषा दर्शन पर अपने कुछ विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार भाषा-दर्शन भाषा का प्रतिवर्ती चिन्तन (रिफ्लेक्टिव अवेयरनेस) है, इसके कार्यों की समालोचना है। भाषा दर्शन स्वयं में एक लक्ष्य भी है, भाषा के प्रयोग में अधिक दक्षता प्राप्त करने का माध्यम नहीं/दर्शन के माध्यम से वाणी में स्वयं के प्रति चेतना उत्पन्न होती है एवं शब्दों तथा अर्थों के धातु एवं सृजक के रूप में इसकी भूमिका के प्रति दर्शन इसे उदबुद्ध करता है, ताकि भाषा विश्व के समस्त पदार्थों को अपने में सामविष्ट कर सके। आधुनिक भाषा-विश्लेषण-वादियों (जैसे - विट्गेन्सटीन) की भाँति यह 'भाषायी खेल' नहीं, जिसे हम तात्कालिक रूप से खेला करें। यह एक शाश्वत प्रश्न का स्थायी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास है।

डॉ. मूर्त्ति के अनुसार मीमांसा एवं व्याकरण दर्शनों ने भाषा दर्शन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वाणी के बाह्यार्थ को स्पष्ट करने में न्याय दर्शन ने भी श्रेष्ठ भूमिका निभाई है। वेदों में भाषा को दैवी वाक् के रूप में ग्रहण किया गया है। पतंजलि इसे महान् देवता स्वीकार करते हैं। भाषा एवं शब्दों का गूढ़ार्थ सामान्य जन को ज्ञात नहीं हो पाता। जिस प्रकार प्रेयसी अपने प्रेम को पति के सम्मुख ही व्यक्त करती है उसी प्रकार भाषा भी सारे अर्थ को प्रबुद्ध लोगों के समक्ष ही अभिव्यक्त कराती है। ऋग्वेद कहता है :

उत त्व: पश्यन् न ददर्श वाच-
मुत त्व: शृण्वन् शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासा:॥ ऋग्वेद, १०-७१-४

डॉ. मूर्त्ति की यह धारणा है कि शब्द एवं ध्वनि के मध्य का भेद समझाना भारतीय भाषा दर्शन के लिए अनिवार्य है। बाह्य ध्वनि को शब्द मान लेना दो पदार्थों को संपृक्त करना है। वस्तुत: ये आत्मा एवं शरीर की भाँति संबद्ध हैं, ध्वनि इसे मात्र आवाहित करती है। शब्द को डॉ. मूर्त्ति ने प्लेटों के विज्ञानों की भाँति शाश्वत व्यापक एवं अमूर्त्त माना है। इनके अनुसार मीमांसा एवं व्याकरण दर्शन का शब्द-

सिद्धान्त प्लेटों के विज्ञानवाद का भारतीय प्रतिरूप है। मीमांसा शब्द-नित्यत्ववाद का पोषक है। वैयाकरणों के स्फोटवाद के अनुसार वाक्य अपने अखण्ड एवं अविभाज्य रूप में अर्थ-बोध कराता है (अखण्ड वाक्य स्फोट)। डॉ. मूर्त्ति ने स्फोट वाद को काण्ट की शब्दावली में समझने का प्रयास किया है। जिस प्रकार काण्ट के अनुसार ज्ञान विभिन्न इन्द्रियानुभवों का संश्लेषण है उसी प्रकार स्फोट भी विभिन्न शब्दार्थों के लिए इन्द्रियातीत कोटि का कार्य करता है।

डॉ. नन्दकिशोर देवराज (१९१७-९९) भारतीय संस्कृति एवं अद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि में सृजनात्मक मानवतावाद की स्थापना करते हैं। इनके अनुसार दर्शन का कार्य मात्र निषेधात्मक नहीं है। दर्शन मनुष्य की मूल्य-चेतना के सामान्य स्वरूप की व्याख्या कर उसको विशद बनाता है। यह मानव-संस्कृति की व्याख्या है। इसकी व्याख्या के द्वारा मनुष्य अपना गुणात्मक विकास करता है, सृजनात्मक परिष्कार करता है।

डॉ. देवराज के अनुसार संस्कृति-दर्शन[१०] अथवा सृजनात्मक-मानवतावाद का केन्द्र मनुष्य है, न कि ईश्वर। मनुष्य की सृजनात्मक प्रक्रिया का दर्शन हमें प्राकृतिक व्यवस्था को बदलने में तथा उसकी सौन्दर्यात्मक अभिरूचि में होता है। मनुष्य बाह्य घटनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया विभिन्न तरीके से व्यक्त करता है। उसकी सृजनात्मकता का यह भी एक लक्षण है। पुनश्च, उसकी प्रतिक्रिया का दायरा सदा विस्तृत होता जाता है। हम मनुष्य के सृजनात्मक इतिहास में सदा स्पष्ट विकास एवं प्रगति देखते हैं।

डॉ. देवराज का सृजनात्मक मानवतावाद पूर्णत: नवीन न होकर पाश्चात्य मानवतावाद एवं भारतीय आदर्शवाद का समन्वय है। एक ओर डॉ. देवराज लेमाण्ट एवं शिलर के चिन्तन का विवेचन कर अधिक संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर वे कोरे आदर्शवाद का भी विरोध करते हैं। उनका संस्कृति-दर्शन प्रकृतिवाद एवं आदर्शवाद के मध्य एक नवीन दर्शन की स्थापना करता है। प्रकृतिवाद के स्थूल एवं सीमित दृष्टिकोण का खण्डन कर वे मनुष्य की धार्मिक अनुभूति के कारण उसे विश्व-मानव के स्तर पर ला खड़ा करते हैं। मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों का त्याग कर मानवता के विस्तृत आयाम को अपनाया है क्योंकि उसे यह अनुभूति हो चुकी है कि वह भूमा है, अमृत है। इनकी प्रमुख चिन्तन-परक रचनाओं में प्रामाणिक मूल्यबोध और जीवन-विवेक को पाने या विकसित करने का प्रयत्न मिलता है।

डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी (१९१८-८१) राधाकृष्णन् और मूर्त्ति की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अद्वैत-दर्शन को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इनके अनुसार आत्मान्वेषण ही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है।[११] जिस प्रकार डॉ. देवराज मनुष्य को जगत् का केन्द्र मानते हैं उसी प्रकार डॉ. त्रिपाठी आत्मा को व्यक्ति के संसार का केन्द्र मानते हैं। दर्शन का एकमात्र सर्वनिष्ठ पक्ष सम्भवत: प्रतिवर्ती चिन्तन ही है। यह एक ऐसी चेतना है जो स्वयं के बारे में चिन्तन कर सके। वस्तुनिष्ठ चेतना का अनुवर्ती अभिज्ञान ही दार्शनिक चेतना है।

डॉ. त्रिपाठी के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति अध्यास के निराकरण में होती है। अध्यास-निषेध के बाद व्यक्ति शाश्वत-सनातन का चिन्तन करने लगता है। इनके मत से दर्शन का कोई अन्य विकल्प नहीं, यह एक अनिवार्यता है। प्रारम्भ में यह एक आलोचनात्मक विधा के रूप में दीखता है। परन्तु निषेधात्मक स्तर से आगे जाकर यह पूर्ण सत्य का अनुसंधान करता है। यह तर्क से श्रुति की ओर तथा श्रुति से अनुभूति की ओर अग्रसर होता है।

तत्त्वज्ञान को समझने के लिए प्रो. त्रिपाठी सुषुप्ति, समाधि एवं मृत्यु की व्याख्या को आवश्यक मानते हैं। सुषुप्ति में हम अपने अस्तित्त्व-बोध के बिना ही स्थित रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शुद्ध चेतन स्वयंप्रकाश एवं उपाधिशून्य हो सकता है। इस स्थिति में हमें आनंद की अनुभूति होती है। समाधि में भी हमें ऐसी ही आनन्दानुभूति होती है। इन दोनों स्थितियों के आधार पर हम मृत्यु के उपरान्त की संभावना को स्पष्ट कर सकते हैं। सुषुप्ति एवं समाधि की अवस्थाओं के उपरान्त आत्मा का अस्तित्त्व होने के कारण मृत्यु के उपरान्त भी इसके अस्तित्त्व का अनुमान होता है। आत्मा की अमरता एवं शाश्वत स्थिति का यह बोध हमें अज्ञान से मुक्त करता है। जीवन एवं मृत्यु के प्रति व्यक्ति का ऐसा दृष्टिकोण चूँकि अद्वैत दर्शन में अधिक संतोषजनक रूप से विवेचित है अत: त्रिपाठी के अनुसार यह अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्ण दर्शन है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि यदि स्थिति का वस्तुनिष्ठ विवेचन किया जाए तो हम पायेंगे कि पिछले पाँच दशकों में भारतीय दर्शन में जो कुछ हुआ है वह न तो बहुत अधिक निराशापूर्ण है और न ही पर्याप्त उत्साहवर्धक। आवश्यकता है हमें और अधिक काम करने की। हमारे भीतर मौलिक चिन्तन का उत्साह और साहस होना चाहिए, प्रामाणिक विश्व-बोध की लालसा होनी चाहिए। हमारे मध्य आज ऐसे अनेक विद्वान् एवं विचारक विद्यमान हैं जो अपनी लेखनी से भावी पीढ़ी को बहुत कुछ दे सकते हैं और नयी पीढ़ी को प्रोत्साहित भी कर सकते हैं। इस बीच जो कुछ लिखा जा रहा है उसका भी समुचित आकंलन करना आवश्यक है।

भारतीय दार्शनिक महासभा के सभी प्रमुख अध्यक्षों के अध्यक्षीय भाषणों का संग्रह-संपादन कर वर्त्तमान लेखक ने इस दिशा में अपना योगदान दिया है। ये भाषण भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, द्वारा चार खण्डों में 'फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी' शीर्षक से प्रकाशित हो चुके हैं। अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों के अध्यक्षीय भाषणों का संग्रह भी प्रकाशित करने की योजना बनी है। 'भारतीय दार्शनिक चिन्तन' शीर्षक से इसका प्रथम खण्ड सन् २००० में प्रकाशित हो चुका है। इसमें २० अध्यक्षीय भाषणों का संग्रह किया गया है। अन्य दो-तीन खण्ड (कुछ विभागाध्यक्षीय भाषणों को समाहित कर) अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् के स्वर्ण-जयंती कार्यक्रम के अंतर्गत इस वर्ष शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले हैं।

***

संदर्भ-सूची

१. *प्रकाशक: जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, लंदन, 1936*

२. *दत्त, धीरेन्द्र मोहन, चीफ करेन्ट्स ऑफ कन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1950 पृष्ठ 123-24*

३. *पणिक्कर, के.एम. दी फाउण्डेसन्स आफ न्यू इण्डिया, लंदन, 1963, पृष्ठ 135.*

४. *(i) नरवणे, विश्वनाथ, आधुनिक भारतीय चिन्तन, मुंम्बई, 1964*

(ii) श्रीवास्तव, रमाशंकर, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, दिल्ली, 1965

(iii) मिश्र, हृदयनारायण, समकालीन दार्शनिक चिन्तन, कानपुर, 1966

(iv) राव, नागराज, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, मुंम्बई, 1970

(v) मूर्त्ति, के. तथा राव, रामकृष्ण (संपादक), रीसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इण्डियन फिलॉसफी, मुंम्बई, 1972

(vi) लाल, बसन्तकुमार, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, दिल्ली, 1973

(vii) सक्सेना, लक्ष्मी, समकालीन भारतीय चिन्तन, लखनऊ, 1974

(viii) चटर्जी, मार्गरिट, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, (द्वितीय शृंखला), लंदन, 1974

(ix) देवराज, नन्दकिशोर,इण्डियन फिलॉसफी, टुडे, दिल्ली, 1975

(x) रीप, डेल, इण्डियन फिलॉसफी, सिन्स इण्डिपेन्डेन्स, कलकत्ता, 1978

५. राधाकृष्णन् हिस्ट्री आफ फिलॉसफी, : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, 1952

६. राजू पी.टी. इन्ट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलॉसफी, 1978

७. रमण, एन.एस.एस. 'इज कम्पेरेटिव फिलॉसफी पासीबिल' ? डॉ. देवराज द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'इण्डियन फिलॉसफी टुडे में।

८. दि इण्डियन जर्नल ऑफ थियोलॉजी, कलकत्ता अंक 27-1-2, 1978 में समकालीन दर्शन एवं विचारकों पर लेखक ने विस्तार से चर्चा की है।

९. मूर्त्ति, 'सम थाट्स ऑन दि इण्डियन फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, 1963 पृ. 31.

१०. देवराज, फिलॉसफी ऑफ कल्चर, इलाहाबाद 1963

११. त्रिपाठी, रामकान्त, माई क्वेस्ट फार द सेल्फ, डॉ. देवराज द्वारा सम्पादित इण्डियन फिलॉसफी टुडे में, पृ.253-66

धर्म एवं समाज का अन्योन्याश्रयत्व

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणाति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

(महाभारत, १८-५-४९)

इस ऊर्ध्वबाहु के रूप में प्रसिद्ध श्लोक में व्यास धर्म को पुरुषार्थ-त्रयी का आधार मानकर के पालन का आग्रह करते हैं। अर्थ और काम को यहाँ समाज का पर्याय माना जा सकता है। धर्म और समाज दोनों परस्पर संबद्ध हैं, इसमें शायद ही किसी को संदेह हो। परंतु यह संबंध कैसा है, कैसा होना चाहिये अथवा कैसा हो सकता है, इस पर पर्याप्त मतभेद की संभावना है। हमारे वर्तमान विवेचन में दोनों ही घटाकों के परस्पर संबंध में अन्योन्याश्रयत्व ध्वनित होगा।

आज हम जिस समाज में रह रहे हैं, उनमें विज्ञान, तकनीक, विश्वयुद्ध और विश्वशांति, औद्योगिक आक्रमण, धार्मिक उन्माद, सामाजिक असमानताएँ, संचार माध्यमों से सूचनाओं का त्वरित आदान-प्रदान और मानवीय चेतना की वस्तुनिष्ठता इत्यादि स्पष्ट है। आज न्यूयार्क के बाजार-भाव से यदि भारत का किसान प्रभावित होता है, तो गांधीनगर के अक्षर-धाम में विस्फोट से आस्ट्रेलिया का व्यवसायी भी चिंतित होता है एवं मास्को की सड़क पर निकले जुलूस से दक्षिण अफ्रीका का नीग्रो। हमारे धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन के विभिन्न आयाम परस्पर इस प्रकार गुंथे हुये हैं कि उन्हें अलग करना सरल और वांछित नहीं है। इससे पूर्व और पश्चिम के गोलार्द्धों का भेद कम हो गया है। ये शब्द सापेक्ष तो हैं ही और हमें अब यह बोध कराने लगे हैं कि पूर्व और पश्चिम एक ही वसुंधरा के दो जुड़े अंग हैं और उनमें एक ही मानवजाति रहती है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की धारणा शब्दमात्र या कोरी कल्पना नहीं है। आज यह एक ऐतिहासिक तथ्य बन चुकी है। अब हम एक ऐसे नए समाज की दहलीज पर खड़े हैं, जो संसार को एक बना सकता है और संसार के अंदर के मानव-समाज को भी एक इकाई के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। जो लोग भविष्य की समस्याओं के प्रति सजग हैं, वे मनुष्य मात्र की एकता के आदर्श को अपने चिंतन और क्रिया का आधारभूत सिद्धान्त समझते हैं।

भारतीय समाज और संस्कृति की प्राचीनता सर्वविदित है। विश्व में यही एक ऐसा समाज है, जो प्रागैतिहासिक युग से आज तक लगभग समान रूप से व्यवस्थित और विकसित होता आ रहा है। यह अपने आप में एक आश्चर्य की बात है। परंतु वर्णाश्रम धर्मों और पुरुषार्थों से नियंत्रित वैदिक संस्कृति शताब्दियों के थपेड़ों को सहती हुई जीवंत बनी हुई है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि हमारी संस्कृति में मनुष्य को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[१] आज भारतीय समाज की संरचना में धर्म-बाहुल्य पाया जाता है। इसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिख, जैन, बौद्ध, पारसी जैसे अनेक धार्मिक संप्रदायों के लोग एक साथ रहते हैं। देश के बड़े शहरों में हर चौथे या पाँचवें घर में एक ऐसा परिवार अवश्य मिलेगा जो हमसे भिन्न संप्रदाय का अनुयायी है। विश्व के प्राय: सभी बड़े नगरों की यही स्थिति

है।[१] अत: हमें अपने पड़ोसी के धर्म को सहानुभूतिपूर्वक समझने की आवश्यकता है, वरना साम्प्रदायिक दंगों के समय सभी का जीवन खतरे में पड़ सकता है या तनावयुक्त तो हो ही सकता है।

भारतीय संविधान को यदि हम राष्ट्रीय धर्मग्रंथ कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। संविधान में विभिन्न धर्मों के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसे धर्म-निरपेक्ष अथवा संप्रदाय-निरपेक्ष कहा गया है। ऐसी स्थिति में धर्मबहुल समाज में अतिरिक्त समस्याओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जिन देशों में एक ही धर्म के अनुयायी रहते हैं, वहाँ समस्याएँ कुछ भिन्न होती हैं। यहाँ हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि किसी व्यक्ति का धर्म उससे संबंधित उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है और किसी व्यक्ति या समाज के धार्मिक संवेगों की भावात्मक अथवा निषेधात्मक अभिव्यक्ति संभव है। धार्मिक वृत्तियाँ समाज का निर्माण भी कर सकती हैं और उसे पतन के रास्ते पर भी ले जा सकती हैं। अधिकांशत: यह पाया जाता है कि संरचनात्मक पक्ष, विध्वंसात्मक पक्ष से अधिक प्रबल और प्रभावी होता है। धर्म मूलत: और अंतत: समाज में संगठन और समन्वय का ही कार्य करता है, परन्तु समाज में समन्वय स्थापित करना धर्म का प्रयोजन या लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। इसका लक्ष्य या गंतव्य तो अध्यात्म और परमार्थ ही है। इस लक्ष्य से जब वह विरत होता है, तब विसंगतियाँ उत्पन्न होती है।

मनु ने धर्म की जो परिभाषा दी है[३] उसके अनुसार तो वैदिक धर्म मानव-धर्म है। मनुस्मृति को इसीलिए मानव-धर्म-शास्त्र कहा जाता है। इनकी धर्म की अवधारणा के सैद्धान्तिक पक्ष को वाल्मीकि ने देवर्षि नारद की सलाह से राम के रूप में रामायण में व्यावहारिक रूप प्रदान किया है।

यद्यपि 'समाज शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय ग्रंथों में हुआ अवश्य है, परन्तु इसका अर्थ 'सभा' रहा न कि एक विशाल मानव-समूह जिसमें विभिन्न प्रकार के लोगों का समावेश हो। भर्तृहरि (छठवीं शताब्दी) के नीतिशतक में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है जहाँ कहा गया है कि विद्वानों के समाज में अपण्डित का मौन रहना ही उसका भूषण है : विशेषत: सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।

कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय विद्वानों ने बहुधा धर्म और समाज के परस्पर संबंधों और प्रभावों का पूर्वकाल में और आज के परिप्रेक्ष्य में विवेचन उपेक्षित रखा। धर्म और समाज के बीच के ऐतिहासिक संबंधों का अनवेषण अत्यंत रोचक है। अधिकांश धर्मों की उत्पत्ति सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के अग्रदूत (Harbinger) के रूप में हुई। धर्म-प्रवर्तकों ने अपने अनुयायियों को एक ऐसी श्रेष्ठ वैश्विक दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया, जो उसके पूर्व न थी। नए धर्म का जन्म उसके भावी अनुयायियों की कुछ अनुभूत आवश्यकताओं के उत्तर के रूप में होता है। ये आवश्वकताएँ मनुष्य और जगत् की उत्पत्ति-संबंधी व्याख्या भी हो सकती हैं या नैतिक विधि-निषेधों से संबंधित भी हो सकती हैं अथवा सामाजिक सिद्धान्तों से संबद्ध। चूँकि धर्म मूलत: एक सामाजिक प्रक्रिया है, क्योंकि यह केवल व्यवस्थित मानवीय समूहों में ही पाया जाता है, अत: हमें अपने जीवन के अच्छे स्वरूप को भोगने के लिए सामाजिक संस्थाओं का सहारा लेना पड़ता है।

धर्म और समाज के परस्पर संबंधों को समझने के लिये आवश्यक है कि हम धर्म और समाज के स्वरूपों को पहले अलग-अलग जान लें। धर्म मनुष्य के स्वभाव में ही अनुस्यूत है। 'स्वभाव' धर्म का पर्यायवाची भी माना जाता है। मनुष्य पशुओं से भिन्न अपने धर्म के कारण ही माना गया है और धर्महीन मनुष्य पशुवत् है।[४] मनुष्य के अंदर जो असीम छिपा हुआ है, उसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब धर्म की प्राप्ति का प्रयास है। जब मनुष्य समाज तक ही सीमित रहता है, तब वह नैतिकता के क्षेत्र का प्राणी होता है परंतु जब उसमें दृश्य-जगत् से परे भूमा या अमृतत्त्व-प्राप्ति की लालसा प्रधान होती है, तब वह धर्म के क्षेत्र का पथिक बन जाता है। अत: धर्म व्यक्ति, समाज और परमार्थ इन तीनों आयामों को अपने में समाहित करता है।

प्राय: यह माना जाता है कि धर्म धर्मग्रन्थों या शास्त्रों पर आधारित होता है। ये ग्रंथ ऋषियों या धर्म-प्रवर्तकों की गंभीरतम अनुभूति के संग्रह हैं। इन्हें अपौरुषेय एवं बुद्धि से परे भी माना जाता है। इनके पारमार्थिक कथनों पर बौद्धिक प्रश्न चिन्ह नहीं लगते और व्यक्ति इन्हें आप्त मानकर अपने धार्मिक कार्यकलापों को संचालित करता है। परंतु जो लोग यह मानते हैं कि धर्म बौद्धिक और वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय हो सकता है, वे उसकी अपौरुषेयता और दिव्यता पर संदेह प्रकट करते हैं। उनमें से अधिकांश धर्म को नैतिक मूल्यों से संबद्ध मानते हैं। जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कांट इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। उसने ईसाई परंपरा को पूर्णतया नैतिक शब्दावली में समझने का प्रयास किया है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक Religion within the limits of reason alone[५] में मनुष्य के नैतिक जीवन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है। यदि जगत् से परे किसी सत्ता के आधार पर हमें अपने जीवन और समाज की व्याख्या नहीं करनी है, तो कांट हमारे लिये आज भी सामयिक है। वे धर्म को श्रुति से तर्क की ओर क्रमिक विकास मानते हैं, जिसमें क्रमश: आस्था और दैवी कृपा निरसित हो जाती है। कांट ने इस ग्रन्थ में अंकित अपने धार्मिक विचारों को परिपक्व रूप अपने तीन प्रमुख समालोचनाओं (Critiques) के दर्शन से दिया।

जूलियन हक्सले ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Religion without revelation[६] में वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकाश में परंपरागत धर्मों को समझने का प्रयास किया। उनकी यह मान्यता है कि आज के विश्व में हमें एक धार्मिक प्रत्यय-विन्यास (Idea-system)की आवश्यकता है जो द्वंद्वात्मक न होकर एकीभूत (Unitary) हो, जिसमें पुरातन और नवीनतम गत्यात्मक ज्ञान का समन्वय हो, जिसमें वस्तुनिष्ठता और आत्मिकता दोनों हो तथा जिसमें आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक अनुभूतियों का समन्वय भी हो। यह न केवल वांछित है, वरन् अत्यावश्यक भी। इसकी अपरिहार्यता न केवल व्यक्ति और राष्ट्र के लिए है, वरन् सारे मानव-समाज के लिये है। धर्म पर वैज्ञानिक प्रयोग से तुलनात्मक धर्म का विकास हुआ है और धार्मिक मनोविज्ञान की उत्पत्ति भी। यदि हम धर्म से श्रुति को अलग कर उसका वैज्ञानिक अध्ययन करें, तो अपने व्यक्तिगत अनुभवों की अधिक सटीक व्याख्या कर सकेंगे। धर्म के भावी विकास के लिये यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण होगा। यदि धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए तो केवल सर्वश्रेष्ठ धर्म ही प्राप्त होगा। संकीर्ण मनोवृत्तियाँ उस विवेचन के समक्ष ठहर नहीं सकतीं।

हक्सले के अनुसार धर्म यदि कोई विधा है तो इसे प्रेम की ही भाँति एक स्वाभाविक तथा आवयविक प्रक्रिया होना चाहिए। प्रेम की भाँति धर्म हमारे अनूठे और दुर्दान्त संवेगों का विकास और समन्वय करता है। यह हमें अपने दैनंदिन जीवन से ऊपर उठाकर जगत् से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। परंतु प्रेम की ही भाँति जो लोग इसकी अनुभूति नहीं किए रहते हैं, उन्हें यह विचित्र प्रतीत होता है, और चूँकि बहुत से लोग इसकी अनूभूति के बिना ही जीवन-यापन कर सकते हैं और कर रहे हैं, अत: हमें उनका आभारी होना चाहिये कि उनके कारण हम एक विशिष्ट स्थिति में हैं।

कुछ विचाकर धर्म के सामाजिक आयाम को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार धर्म का प्रारंभ मूलत: सामाजिक आधारों पर होता है,[७] यद्यपि इसका स्वरूप दैवी अथवा आध्यात्मिक है। दैवी और आध्यात्मिक स्वरूप भी समाज से घनिष्ट रूप से संबद्ध है। मनुष्य का अधिकांश चिंतन धार्मिक ही होता है। धर्म को परिभाषित करते हुए एक प्रमुख समाज वैज्ञानिक ने लिखा कि धर्म पारलौकिक वस्तुओं से संबद्ध विश्वास एवं व्यवहार की समन्वित व्यवस्था है।[८] हमारे विश्वास और व्यवहार हमें एक नैतिक समूह में बांध देते हैं जिसका हम अनुगमन करते हैं। जब समाज में संक्रमण होता है, तब उसमें नैतिकता की समस्या प्रमुख होती है और नैतिकता भी धर्म का ही एक अंग है। वस्तुत: धर्म समाज का गंभीरतम और गहनतम स्तर है, जिसकी अभिव्यक्ति विविध माध्यमों से होती है।

समाज हमारे बीच एक ऐसा अदृश्य ढाँचा है जो मानवीय संबंधों पर निर्मित और पालित होता है तथा मनुष्यों द्वारा ही परिवर्तित भी होता है। इस प्रकार समाज एक गतिशील और बहुआयामी प्रत्यय है। वन-वृक्ष न्याय की भाँति व्यक्ति और समाज के बीच का संबंध अन्योन्याश्रित है। समाज-दर्शन में व्यक्ति और समाज के मूल्यों का तथा आदर्शों का विवेचन मिलता है। धर्म का सामाजिक अध्ययन धर्म और समाज के बीच के संबंधों का विवेचन करता है।

यह स्पष्ट है कि धार्मिक भावनाएँ, प्रत्यय और संस्थाएँ समाज को प्रभावित करती हैं तथा सामाजिक व्यवस्था धर्म को। मानव-सभ्यता के इतिहास में सभी जगह धर्म ने निश्चित और स्पष्ट रूप से समाज को प्रभावित किया है। धार्मिक प्रवृत्तियाँ और आकांक्षाएँ समाज में स्वाभाविक वर्गों का समन्वय करती हैं। साथ ही साथ समाज में पाए जाने वाले पेशे, पद स्थिति इत्यादि धार्मिक प्रवृत्तियों और संस्थाओं को प्रभावित करती हैं। भारत में वर्ण-व्यवस्था ने धर्म को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। आज के युग में यह वर्ण-व्यवस्था वर्गों में परिवर्तित हो गयी है जिनमें विचलन (Fluctuation) समयानुसार होता रहता है। किसी विशेष पुरुष के मानसिक परिवेश का भी धर्म पर प्रभाव पड़ता है। कलिंग के युद्ध में हिंसा को देखकर चंडाशोक बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हुए और धर्माशोक बन गए तथा अपने साम्राज्य में अहिंसा और करुणा का प्रचार करने के साथ-साथ सीमांत क्षेत्रों और सुदूर देशों में भी बुद्ध का संदेश प्रसारित-प्रचारित करते रहे। आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोग भी अपने व्यवहार को नैतिक बनाने के लिए धर्म का सहारा लेते हैं। यों सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव वस्तुनिष्ठ धर्म पर भी पड़ता है। ये धर्म के आत्मनिष्ठ रूप को तत्काल प्रभावित नहीं कर पाते। दो ऐसे व्यक्ति जो एक ही कालखंड और सभ्य समाज में रहते हुए एक ही धार्मिक संप्रदाय के अनुयायी होते हुए भी यदि अपने पेशे, पद या वैभव से भिन्न हों और यदि उन्हें अध्यात्म की एक जैसी ही अनुभूति हो, तो भी आस्था को भिन्न प्रकार से व्यक्त करेंगे, उनकी उपासना-पद्धति भिन्न होगी और अपने संप्रदाय के अंतर्गत उपलब्ध विभिन्न संघों के सदस्य होंगे।

पाश्चात्य जगत् में धर्म को जब चर्च से जोड़ दिया गया और धर्माचार्यों के कथन शास्त्रों से भी श्रेष्ठ माने जाने लगे, तब शास्त्र-मूलक (Pro-testant) आंदोलन प्रारंभ हुआ और धर्महीन ईसाईयत की भी बात उठी। अंग्रेजी में 'धर्म' शब्द के संदर्भ में विवेचन करते हुये वरिष्ठ विद्वान विल्फ्रेड कैन्टवेल स्मिथ यह प्रस्तावित करते हैं कि 'धर्म' शब्द भ्रामक और हानिकारक है। इसका प्रयोग समाप्त कर देना चाहिये और इसके स्थान पर 'आस्था' और 'संचयी-परंपरा' इन दो शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। आस्था हमारी आंतरिक और व्यक्तिगत संपत्ति है जो अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती है। यह आस्था इतिहास के क्रम में गद्य-पद्य, कर्मकांडों, कला, संस्कृति, आचरण, विधि संस्थाओं इत्यादि के माध्यम से व्यक्त होती है। परंपरा में जो निरर्थक और निर्जीव हो चुका है, उसका त्याग और नवीन एवं सार्थक को अपनाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए, तभी यह संचयी एवं संचीयमान हो सकती है। इसप्रकार धर्म के आंतरिक और बाह्य दोनों पक्षों का समुचित अध्ययन एवं विवेचन आवश्यक है।[९]

समाज पर धर्म का कितना प्रभाव पड़ता है, इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण ईसाई परंपरा के प्रोटेस्टेंट संप्रदाय की पश्चिम के पूँजीवाद पर छाप है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर (१८६४-१९२०) का मत है कि जॉन काल्विन (१५०९-६४) और मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६) के सुधारवादी आंदोलन तथा धार्मिक सिद्धान्तों के परिष्कार उत्तरी अटलांटिक के दोनों तटों पर पूँजीवादी समाज को विकसित किए हैं।[१०] ये सुधारवादी ईश्वर के साम्राज्य को पृथ्वी पर स्थापित करने के लिये अनन्य निष्ठा एवं सन्यस्त व निष्काम भाव से समाज में पूँजी-संग्रह तथा उसका विनियोजन करते रहे हैं। फलस्वरूप उनका श्रम, उनकी कर्तव्यनिष्ठा और उनका विशिष्ट अर्थ में अपरिग्रह समाज में निष्ठा, वाणिज्य एवं

स्वातंत्र्य के विकास का आधार बने। भारत में जैन धर्म के अनुयायियों ने भी कुछ इसी प्रकार के अपरिग्रह की भावना से संपत्ति का संचय और पूँजीवाद का विकास किया है। परंतु इनका धार्मिक सिद्धान्त किसी स्वर्ग के साम्राज्य की स्थापना से प्रेरित नहीं रहा तथा इसमें वैज्ञानिक प्रयोगों का भी अभाव रहा है। फिर भी काल्विन के अनुयायियों और जैन धर्म के अनुयायियों में मनोवैज्ञानिक स्तर पर पर्याप्त समानताएँ हैं और इसमें संदेह नहीं कि आर्थिक और सामाजिक जीवन पर धर्म के प्रभाव को ये दोनों ही परंपराएँ स्पष्ट रूप से रेखांकित करती हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है, धर्म मनुष्य को बंधनों से मुक्त कर असीम को समझने और उससे तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता प्रदान करता है। यह उसे स्वतंत्रता का बोध कराता है। पश्चिम के समाज और इतिहासक्रम का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध विचारक कार्ल पॉपर यह मानते हैं कि पाश्चात्य इतिहासबोध मानव-इतिहास को बस की यात्रा न मानकर ट्राम की यात्रा मानता है। इस इतिहासवाद ने मनुष्य की मौलिक स्वतंत्रता का हनन किया है। इसी प्रकार यह धारणा कि समाज को ऐसे विधानों से नियमित करना चाहिये जो आलोचना से परे हों या जिनकी आलोचना न की जाए, समाज को जकड़ देती हैं। मनुष्य को ऐसे जकड़नों से मुक्त होना चाहिए। प्लेटो, हेगल तथा मार्क्स के समाज दर्शनों के कारण नियमित समाज को वे 'बद्ध-समाज' मानते हैं, जो जनजाति और समूह के सिद्धातों से बहुत भिन्न नहीं।[११] बद्ध समाज अधिक से अधिक आवयविक हो सकता है, परंतु हमें अपने व्यक्तिक निर्णयों के लिये स्वतंत्र होना चाहिए। जहाँ व्यक्ति स्वयं अपने निर्णय से समाज की संरचना और विकास में योगदान करते हैं, वहाँ का समाज मुक्त (Open) होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्लेटो के जनतंत्र का ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आते-आते विसर्जन हो गया। हेगेल द्वारा स्थापित नव-जनजातिवाद का भी समापन हो गया। उनका फासीवाद बहुत समय तक टिक नहीं पाया। लोगों ने हेगेल के प्रवंचनापूर्ण सिद्धान्तों को समझ लिया और मानव-जाति विनाश के कगार से किनारे हो गई। इसी प्रकार मार्क्स के सामाजिक नियतिवाद की भी नियति रही। हाल ही में सोवियत रूस में घटी घटनाएँ इसके प्रमाण हैं। गोर्बाच्येव के समाजवादी आंदोलन ने सोवियत संघ को विखंडित अवश्य कर दिया, परंतु वहाँ के नागरिकों को वाणी की स्वतंत्रता दी। जो लोग विवेकपूर्ण निर्णय ले सकते हैं, वही यदि चुप रहें तो फिर कौन बोलेगा ?

किसी भी समाज की प्रगति का मापदंड स्वतंत्रता को ही माना जाता है।[१२] हर समाज की प्रगति में और उसके विकास के प्रत्येक चरण में किसी न किसी रूप में स्वतंत्रता की अवधारणा अवश्य रहती है। समाज के प्रत्यय में ही स्वतंत्रता का भाव निहित है। स्वतंत्रता समाज का सनातन और प्रबल धर्म है। धर्म के महत्त्व को प्राय: समाज के विकास अथवा प्रगति के संदर्भ में आंका जाता है। प्राय: निम्न से उच्च और सरल से व्यामिश्रित गति को सामाजिक प्रगति समझा जाता है। परंतु किसी समाज-व्यवस्था की दुरूहता अनिवार्यत: 'विकास नहीं हो सकती। सरल सामाजिक व्यवस्था भी प्रगति की सूचक हो सकती है। सामाजिक प्रगति के अंतर्गत समन्वय के स्तर, नियामक तत्त्वों की अभिव्यक्ति, उनकी प्रभावशीलता,व्यवस्था की स्वायत्तता एवं व्यवस्था का उन्नयन, विकास की संभावनाओं का संधारण और भावी विकास की क्षमता के लिये स्थान बनाना सम्मिलित है। समाजिक प्रगति में गुणात्मक और संख्यात्मक दोनों ही प्रकार के विकास समाहित हैं। इसमें भौतिक विकास के साथ-साथ मानवीय मूल्यों का विकास भी सन्निहित है। इन द्रष्टियों से यदि हम देखें तो हमारे सभी नैतिक और सांस्कृतिक मूल्य प्रगति की सीमा में आते हैं। यदि प्रगति का मापदंड ढूँढने का प्रयास किया जाए, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यक्ति की सामाजिक सफलता ही उसका आधार होगी और यह

सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब व्यक्ति और समाज का उन्मुक्त विकास हो, जहाँ व्यक्ति अपनी क्षमताओं की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति कर सके।

बहुत से समाजशास्त्री प्रगति को आधुनिकता से अभिन्न मानते हैं। परंतु सभी नवीन वस्तुएँ आधुनिक नहीं हैं और न ही वांछित। सभी आधुनिक विचार या वस्तुएँ स्पृहणीय भी नहीं। आधुनिक शस्त्रास्त्र हमारे लिये खतरनाक भी हैं, यद्यपि इनका उत्पादन सुरक्षा के नाम पर होता है। आधुनिकता को हम पश्चिमी देशों से भी नहीं जोड़ सकते। अमेरिका के बड़े प्रदेशों में भी झुग्गी-झोपड़ी और नंगे-भूखे लोग मिल जाते हैं। हमारी जागरूकता और उससे जुड़ी तकनीक ही आधुनिकता का आधार बनाती है। प्रभावकारी होने का हमारा ज्ञान और शक्ति, परिणामों को नियंत्रित करने की हमारी क्षमता और परिवर्तनो को संचालित करने की हमारी तकनीक को जागरूकता (Awareness) कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जो संभावित है, उसका हमें ज्ञान (सदैव नयी संभावनाओं का सतत् परिवर्धित हमारा ज्ञान) तथा उन्हें क्रियान्वित करने की हमारी तकनीक को हम आधुनिकता कह सकते हैं।[१३]

भारतीय समाज कई अर्थों में आधुनिक हुआ है, परंतु इसकी यह आधुनिकता भी भारतीय है, क्योंकि भारतीय समाज अन्य समाजों से भिन्न है। जहाँ पश्चिम के अनेक देश आज भी संघर्षरत हैं, अथवा भटके हुए हैं (अफ्रीका में ईसाई और मुसलमानों का धर्म-परिवर्तन को लेकर संघर्ष), वहीं भारतीय समाज पश्चिम को आवृत्त करते हुये मानव-मात्र का आलिंगन करता है।

विज्ञान और तकनीक के प्रमुख लक्षणों से युक्त आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में अनेक समाजशास्त्रियों की भविष्यवाणी अथवा आशंका थी कि उद्योगों व तकनीकों के प्रहार से भारतीय समाज में, और विशेष रूप से हिंदू समाज में, दरार पड़ेगी अथवा समाज टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाएगा।[१४] लोगों ने हिन्दू समाज को एक ऐसे चौराहे पर पाया, जहाँ से वह किधर जाएगा, किसी को पता नहीं। परंतु कुछ ही दिनों बाद यह एहसास होने लगा कि इस समाज ने एक स्वस्थ और सुदृढ़ मार्ग का अनुसरण कर लिया है, जिसमें वैश्विक संस्कृति और प्रगति समाहित है।[१५] संभवत: यह क्षमता भी इसी समाज में उपलब्ध है क्योंकि प्रारंभ से ही इसे यह बोध था कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं - 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।'

हिंदू और बौद्ध जैसे पूर्वी धर्मों के विश्वास अधिकांशत: दृश्य-सामग्री पर आधारित हैं। यहाँ मोटे तौर पर यह माना जाता है कि मनुष्य की प्रकृति के दो प्रमुख पक्ष है - बौद्धिक तथा आध्यात्मिक। इन दोनों का ही हमारे जीवन में समन्वय आवश्यक है। पाश्चात्य परंपरा में धर्म बौद्धिक होने के लिये सतत् संघर्षरत रहा है। यूनानी चिंतन-परंपरा तर्क में ही आस्था रखती थी और उसका जागतिक बौद्धिकता में विश्वास था। गैलेलियों के दूरबीन के आविष्कार ने विश्व के प्रति हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन किया एवं कोपरनिकस के सिद्धान्त ने धर्म एवं विज्ञान के बीच प्रमुख संघर्ष पैदा किया। कभी-कभी हमारे कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त धर्म को पुरातन सा बना देते हैं, परंतु धर्मों के इतिहास का अध्ययन तथा विश्व के अनेक धर्मों का ज्ञान हमें इस बात की ओर आकृष्ट करता है कि विज्ञान और धर्म मूलत: मानव-जीवन की ही मौलिक विधाएँ हैं।

धर्म और विज्ञान सभी संस्कृतियों में अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। आध्यात्मिक और बौद्धिक पक्ष मनुष्य की प्रकृति के ताने-बाने हैं। भिन्न-भिन्न कालों और स्थानों पर इनके अनुपात में अंतर मिल सकता है, परंतु इनमें से किसी एक का सर्वथा लोप होना संभव नहीं। मानव-जाति मूलत: एक ही है और सभी मनुष्यों में एक जैसे ही मूल्य मिलते हैं। जो अंतर प्राप्त होता है, वह आकस्मिक, बाह्य और परिवर्तनीय है। कुछ अंतर मनुष्य के मन में तनाव उत्पन्न करते हैं, जिनके कारण अधिकांश व्यक्ति उद्विग्न

रहते हैं। केवल दो ही प्रकार के लोग ऐसे तनावों से मुक्त तथा सुखी हैं। एक वे जो अत्यंत मूढ़ हैं और दूसरे वे जो बुद्धि के स्तर से ऊपर उठकर प्रज्ञावान् हो गए हैं। भागवत पुराण में कहा गया हैं -

यश्च मूढतमो लोके, यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते, क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥[१६]

आज के युग में और आनेवाली दशाब्दियों में विभिन्न धर्मों केबीच निरंतर संवाद की महती आवश्यकता है, जिससे हम एक दूसरे के धार्मिक प्रत्ययों और जीवन-मूल्यों को समझ सकें। धार्मिक संवाद हमें सर्व-धर्म-समभाव की ओर प्रेरित करेंगे। यद्यपि किसी एक धर्म के विश्वधर्म बनने की संभावना क्षीण है, जैसे किसी एक भाषा के वैश्विक भाषा बनने की संभावना। परंतु हम विश्व के धर्मों और लोगों को जब समझने का प्रयास करेंगे, तो सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर मानव-धर्म के विशाल क्षेत्र का अवगाहन अवश्य कर सकते हैं। 'तिरुक्कुरल' जैसे ग्रंथ हमारे ऐसे प्रयासों में सहायक हो सकते है। अंहिसा के प्रतिपादन के कारण इसे जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव सभी स्वीकार करते हैं। इसके व्यापक प्रभाव के कारण इसे 'पोदुमुरै' अथवा ''बहुमान्यशास्त्र'' भी कहा जाता है। यहाँ पर हम चीन में पाई जाने वाली एक प्रथा का उल्लेख आवश्यक मानते हैं, जिसके अनुसार कंफ्यूशियस, ताओ तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी जब आपस में मिलते हैं, तो अपना समूह-गान इस कथन से समाप्त करते हैं कि धर्म अनेक हैं, तर्क एक है और हम सब भाई हैं।[१७]

संवाद में यदि केवल विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों और विचारों की सहभागिता होगी, तब वह थियोसॉफी (Theosophy) जैसी नई संस्था को जन्म दे सकता है। संवाद समग्र होना चाहिए। धर्म गुरुओं तथा धर्मशास्त्रियों का संवाद समाजशास्त्रियों विधिवेत्ताओं, वैज्ञानिकों राजनयिकों, उद्योगपतियों इत्यादि से हर स्तर पर होना चाहिए। जब ऐसे संवाद व्यापक स्तर पर होने लगेंगे, तब हम सभी संकीर्णताओं से ऊपर उठकर विश्व-मानव के स्तर के निकट होंगे और मानव-धर्म का अनुसरण करेंगे।

अंत में हम कह सकते हैं कि धर्म को यदि संप्रदाय के अर्थ में न लेकर उसके सही स्वरूप को समझें, जिसके कारण मनुष्य अपने हृदय से कुछ कार्य करता है और उन कार्यों को वह विशाल ब्रह्माण्ड से जोड़ता है और उसके अनुसार अपने कर्तव्य और नियति को फलीभूत करते हुये जीवन के अन्य आयामों को सृजनात्मक रूप से निर्धारित करता है, तो इससे कदापि किसी को आपत्ति नहीं होगी। मनुष्य के ये कार्य चूँकि समाज के माध्यम से ही हो सकते हैं, और समाज का स्वरूप उसके इन कार्यों को काफी हद तक प्रभावित करता है, अतः धर्म और समाज का अन्योन्याश्रयत्व स्पष्ट है।

***

संदर्भ-सूची

१. *'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ' (महाभारत, 12, 288/20)*

२. *Cox, Harvey, The Secular City (Rev.Ed.), Macmillan, New York, 66.*

३. *(अ) वेदः स्मृतिः सदाचारःस्वस्य च प्रियमात्मनः*
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनुस्मृति, 2-12 ॥

४. *आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम् ।*
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

५. *Eng.tr. Greene &Hudson, Harper Torchbooks, New York, 1960*

६. *Huxley,Julian, Religion Without Revelation,The New American Library, New York, 1961*

७. *Cf. Durkheim, Emile, The Elementary Forms of Religious Life. Tr, from French by J.W. Swain George Allen & Unwin, London, 1964.*

८. Durkheim,E., Suicide, tr, by J.A. Spalding Routeledge and Kegan paul.1975, P, 312.

९. Smith, W.C., The Meaning and End of Religion, Macmillan Company, New York, 1962

१०. Weber, Max, The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism, Eng. tr. by T Parsons, Charles Scribner's Sons, NewYork, 58

११. Popper,Karl,R,. The Open Society and its Enemies, 2 Vols,. Harper & Row, New York, 1963

१२. Pavlov, Yuri, "Social Progerss and its Criteria" in the book Freedom, Progress & Society, Essays in Honour of Prof, K.S. Murty Ed. By Balasubramanian and Sibajiban Bhattacharyya, Motilal Banarsidass, Dehli, 1986,pp, 180-89

१३. Smith, W.C. Modernisation of a Traditional Society, Asia Pub. House, Bombay, 1965

१४. Panikkar, K.M. Hindu Society at Cross Roads, Asia Publishing House, Bombay,1961.

१५. Ibid., p. 61., and Panikkar, K.M. Hinduism and the Modern World, Kitabistan Allahabad, 1938.

१६. Bhagavat Purana, III,VII.17.

१७. Radhakrishnan,S. Religion and Culture,Orient Paperabacks, Hind Pocket Books, Delhi, 1968, pp. 28,33

परिच्छेद : बारह

सिद्धेश्वर भट्ट

सिद्धेश्वर भट्ट

प्रो. एस.आर. भट्ट का जन्म (१९३९) मध्यप्रदेश के मंदसौर अंचलान्तर्गत सीतामऊ कस्बे में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा आंचलिक परिवेश से और स्नातक स्तर की शिक्षा क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर से सम्पन्न हुई। बाद के वर्षों में ये उच्च शिक्षा के लिए बड़ौदा गये और एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा से इन्होंने ससम्मान पी-एच.डी. (१९६६) की उपाधि प्राप्त किया। प्रो. भट्ट १९६९ से १९७९ तक दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रह कर अपने शोधोत्तर अध्ययन एवं अध्यापन क्रम को जारी रखा। किन्हीं कारणों से इन्हें कुछ समय के लिए (१९७९-१९८०) महाराजा शिवाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा जाना पड़ा जहाँ इन्होंने दर्शन विभाग के प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। पुन: ये दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में पदस्थ (१९८०) हुए और क्रमश: रीडर, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष होकर २००४ में अन्तिम रूप से सेवानिवृत्त हुए। प्रो. भट्ट अनेकों बार अकादमिक आमंत्रण पर विदेश गये और स्वयं भी अपने देश में पचास से अधिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों एवं दार्शनिक सम्मेलनों का आयोजन किया। लम्बे समय तक भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, भारतीय दार्शनिक महासभा एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से सम्बद्ध रहकर भारत में भारतीय दार्शनिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया। आज भी पूरे मनोयोग से ऐसे ही कार्यों में संलग्न हैं। भारतीय दार्शनिक महासभा एवं अखिल भारतीय परिषद् ने इन्हें अपना अध्यक्ष मनोनीत कर अपने को सम्मानित किया है। प्रो. भट्ट की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ पांचरात्र दर्शन, रामानुज वेदान्त, बुद्धिस्ट एपिस्टेमोलॉजी इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त कई एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनेकों शोध निबन्धों का प्रकाशन इन्होंने किया है। भारतीय विद्याओं के अकादमिक एवं संस्थागत विकास के प्रति इनकी निष्ठा अनुकरणीय है।

*

निषेध का स्वरूप

"निषेध" प्रत्यय के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है कि इससे मिलते-जुलते नकारात्मक प्रत्ययों से इसका अर्थ-भेद किया जाय। विद्वानों ने "निषेध" और 'अभाव' को समानार्थक मानकर काफी घपला किया है। अभाव सत्ता विषयक प्रत्यय है जबकि निषेध तर्क विषयक है। एक पदार्थ में (या. उसके द्वारा) दूसरे पदार्थ के अभाव की चर्चा हो सकती है पर इसे एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का निषेध नहीं कहा जा सकता। 'घट' में पट का अभाव है' या 'इस समय यहाँ घट नहीं है' सार्थक प्रतिज्ञप्तियाँ हैं। पर यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि 'घट' में पट का निषेध है', हम एक पदार्थ द्वारा दूसरे पदार्थ के निषेध की बात नहीं करते। निषेध पदों के बारे में ही लागू होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह अभाव पदार्थों के बारे में लागू होता है। "निषेध" पद का प्रयोग उन्हीं संदर्भों में सार्थक होता है जहाँ दो पदों में भेद, विरोध या व्याघात दर्शाया जाता है। अत: यह कहना अर्थपूर्ण हैं कि 'कृष्ण' 'शुभ्र' का निषेधक है।' एक पद दूसरे पद का निषेध कर सकता है, या यदि वह संयुक्त पद हो तो आत्म-निषेध कर सकता है। यथा, 'शुभ्रत्व' 'कृष्णत्व' का निषेधक है और 'बन्ध्यापुत्र' आत्मनिषेधक है। स्पष्ट है कि निषेध सर्वदा एक पद के दूसरे पद से विरोध या एक ही पद के अन्तर्विरोध को सूचित करता है। इससे भिन्न, अभाव किसी वस्तु या स्थान में किसी समय पर किसी अन्य वस्तु की अनुपस्थिति को सूचित करता है। इसमें दिशा, स्थान और काल का बोध विद्यमान रहता है। निषेध में इन तत्त्वों के लिए कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि ये तत्त्व तर्क-बाह्य होते हैं।

यद्यपि 'निषेध' और 'अनुपलब्धि' में भ्रम पैदा होने की गुंजाइश बहुत कम है फिर भी इन दोनों शब्दों में अर्थ-भेद करना अनावश्यक नहीं होगा। निषेध, जैसाकि हमने ऊपर स्पष्ट किया, तर्क विषयक प्रत्यय है, अनुपलब्धि ज्ञान विषयक प्रत्यय है। 'अभाव' के ज्ञान के साधन को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पृथक् मानकर कुछ दार्शनिक अनुपलब्धि को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि 'अभाव का ज्ञान' 'ज्ञान का अभाव' नहीं वरन् ज्ञान का एक प्रकार है। यह भाव पदार्थों के ज्ञान से भिन्न उनके अभाव का ज्ञान है। अभाव का ज्ञान देने में वे प्रमाण समर्थ नहीं जो भाव पदार्थों का ज्ञान देते हैं। अत: अनुपलब्धि को ऐसे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो अभाव विषयक ज्ञान देता है। इसे अभाव के ज्ञान के एक पृथक् एवं स्वतन्त्र साधन के रूप में स्वीकार किया जाय या नहीं, यह अभाव के स्वरूप की मान्यता पर आधारित है। परन्तु इस प्रश्न की यहाँ चर्चा करना, अप्रांसगिक होगा। हमारे लिए मात्र यह जानना पर्याप्त होगा कि अनुपलब्धि की चर्चा अभाव के ज्ञान के संदर्भ में ही सार्थक है और निषेध की क्रिया के सम्पादन अथवा उसके ज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई एक पद दूसरे पद का निषेध करता है या नहीं, इसका ज्ञान तो उस प्रतिज्ञप्ति में निषेधक चिन्ह की उपस्थिति या अनुपस्थिति से हो जाता है और 'निषेधक चिन्ह की उपस्थिति या अनुपस्थिति' से हमारा क्या तात्पर्य है, यह हम आगे स्पष्ट करेंगे। परन्तु दो पदों में निषेध है (या हुआ है) या नहीं, यदि इसके तार्किक निर्धारण की कसौटी की मांग की जाय तो इसका उत्तर यह होगा कि यह सम्बन्धित पदों के स्वरूप के ऊपर निर्भर

है। यथा 'घट' और 'अघट' में निषेध है या नहीं, इसकी कसौटी प्राग्नुभविक है। परन्तु 'घट' और 'अघट' में निषेध है या नहीं, इसका आधार आनुभविक ही होगा। अर्थात्, जिन पदों का पारस्परिक सम्बन्ध विश्लेषण से जाना जाता है उनके निषेध-सम्बन्ध का ज्ञान प्राग्नुभविक होता है। परन्तु जिन पदों का सम्बन्ध अनुभव पर आधारित है उनके निषेध-सम्बन्ध के ज्ञान का आधार भी अनुभव ही होगा।

निषेध के प्रत्यय को उस प्रत्यय से भी पृथक् करना चाहिये जिसे आधुनिक प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में 'सत्यताफलनात्मक निषेध' (ट्रूथ फंक्शनल निगेशन) कहा जाता है। मेरी यह धारणा है कि 'सत्यताफलनात्मक निषेध' न तो निषेध है और न उसका कोई प्रकार है। अत: उसे निषेध की संज्ञा देना भ्रामक होगा। (यद्यपि मैं उसे 'खण्डन' या अन्य कोई समानार्थक संज्ञा से अभिहित करना चाहूँगा तथापि वर्तमान विवेचन में मैं उसे सुविधा की दृष्टि से 'सत्यताफलनात्मक निषेध' के ही नाम से सम्बोधित करूंगा क्योंकि अभी तक व्यापक रूप से इसी अभिधा का प्रयोग होता आया है।) 'चीनी कड़वी नहीं होती है, एक निषेध सूचक वाक्य है जबकि 'यह सत्य नहीं कि चीनी कड़वी होती है' सत्य-फलनीय निषेध की अभिव्यक्ति है। निषेध दो पदों के बीच भेद या विरोध दर्शाता है जबकि सत्यताफलनात्मक निषेध दो प्रतिज्ञप्तियों के बीच सत्यासत्यपरक सम्बन्ध बताता है। चीनी कड़वी नहीं होती है' एक प्रतिज्ञप्ति है जिसमें 'चीनी' पद 'कड़वाहट' पद का निषेध करता है। यह 'चीनी' पद के लिये 'कड़वाहट' पद के विधान की सम्भावना को अस्वीकार करता है। परन्तु 'यह सत्य नहीं कि चीनी कड़वी होती है' एक प्रतिज्ञप्ति न होकर अधिप्रज्ञप्ति है। यह एक प्रतिज्ञप्ति के बारे में कथन है। इसमें कोई एक पद दूसरे पद का निषेध नहीं करता वरन् इसमें 'चीनी कड़वी होती है' इस प्रतिज्ञप्ति का खण्डन होता है। भले ही इसकी भाषीय अभिव्यक्ति इस प्रकार हो कि यह निषेध वाक्य की प्रतीति दे, यथार्थ में यह निषेध-वाक्य नहीं है, क्योंकि इसमें खण्डन (कन्फ्यूटेशन) की क्रिया होती है निषेध की नहीं। इसमें कोई एक पद दूसरे पद से भेद या विरोध प्रकट नहीं करता है वरन् इसमें एक प्रतिज्ञप्ति से सत्यफलनात्मक संबंध व्यक्त किया गया है। चूँकि प्रतिज्ञप्ति का निषेध होना उसमें स्थित पदों का पारस्परिक सम्बन्ध बताता है। 'यह सत्य नहीं कि चीनी कड़वी होती है' इस वाक्य को निषेधक प्रतिज्ञप्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसी तरह किसी प्रतिज्ञप्ति का खण्डन या मण्डन (कन्फर्मेशन) उस प्रतिज्ञप्ति में प्रयुक्त पदों के सम्बन्ध को सूचित नहीं करता वरन् उसका किसी अन्य प्रतिज्ञप्ति से सम्बन्ध दर्शाता है। जब यह कहा जाता है कि 'यह सत्य नहीं है कि चीनी कड़वी होती है' तो इसमें 'चीनी कड़वी होती है' और 'चीनी कड़वी नहीं होती है' इन दो प्रतिज्ञप्तियों के सत्यमूल्यों (ट्रूथ- वेल्यूज) के पारस्परिक सम्बन्ध को बताया गया है। इसमें प्रथम प्रतिज्ञप्ति का खण्डन और दूसरी का मण्डन होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि –

(अ) किसी प्रतिज्ञप्ति का विधायक या निषेधक होना उसका किसी अन्य प्रतिज्ञप्ति से सम्बन्ध नहीं बताता वरन् उसमें स्थित पदों का अन्तर्सम्बन्ध सूचित करता है।

(आ) जबकि निषेध पदों का और पदों में परस्पर होता है, खण्डन या मण्डन सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति का होता है, और खण्डन या मण्डन के ही आधार पर उसके सत्यासत्य का निर्धारण होता है। यह सत्यासत्य का निर्धारण विधि-निषेध पर आधारित नहीं होता।

(इ) किसी प्रतिज्ञप्ति का खण्डन या मण्डन होता है, विधि या निषेध नहीं। विधि या निषेध प्रतिज्ञप्ति का नहीं वरन् प्रतिज्ञप्ति में होता है।

अत: निषेध को सत्यफलनात्मक अर्थ में लेना निषेध और खण्डन के बीच विद्यमान भेद को ध्यान में नहीं रखना है।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि निषेध की क्रिया सदा पदों से सम्बन्धित होती है। यह एक

सापेक्ष तथ्य है जो दो पदों के बीच भिन्नता, विरोध या बाधकता को सूचित करता है। जिस प्रत्यय का निषेध होता है उसे प्रतियोगी और जिसके लिए निषेध होता है उसे अनुयोगी की संज्ञा दी जा सकती है। इस तरह प्रत्येक निषेध में एक अनुयोगी और प्रतियोगी अवश्य होता है।

किसी प्रतिज्ञप्ति में निषेध की अभिव्यक्ति दो तरह से सम्भव हो सकती है। पहली निषेधक क्रिया का प्रयोग कर-यथा, 'राम ईमानदार नहीं हैं'। दूसरी, निषेधित पद का प्रयोग कर-यथा, राम बेईमान है। पहली में निषेध का तत्त्व प्रतियोगी से पृथक् एवं क्रिया से जुड़ा हुआ है। दूसरी में निषेध का तत्त्व प्रतियोगी से ही जुड़ा हुआ है। यद्यपि दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति का स्वरूप विधायक प्रतीत होता है, इसका अर्थघटन निषेधक ही है। निषेधक चिन्ह दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों में विद्यमान है। अत: किसी प्रतिज्ञप्ति में निषेध हुआ है या नहीं, यह निषेधक चिन्ह की उपस्थिति मात्र पर ही निर्भर है, भले ही वह उपस्थिति क्रिया के साथ हो या किसी पद के साथ।

निषेध की अभिव्यक्ति के उपर्युक्त दो रूप एक-जैसे नहीं है। यह कहना कि 'क ख नहीं है' इस कथन के तुल्य नहीं कि 'क अ-ख है।' क्योंकि पहले में मात्र क के ख नहीं होने की अभिव्यक्ति है जबकि दूसरे में क के ख नहीं होने का उल्लेख तो है परन्तु साथ ही इसके ग या ध आदि होने की सम्भावना भी अन्तर्निहित है। पहले रूप में किसी प्रकार की आकाँक्षा नहीं है, परंतु दूसरा रूप निषेधित पद के स्थानापन्न की आकाँक्षा को समाविष्ट करता है।

किसी प्रतिज्ञप्ति में निषेध तभी सार्थक होता है जब उसके माध्यम से किसी एक पद का दूसरे पद से विभेद हो। पुन: यह तभी सम्भव हो सकता है जब वे एक-दूसरे से भिन्न या अन्य हों। इस कथन के कि 'क ख से भिन्न या अन्य है' तीन विकल्प हो सकते हैं :-

(अ) जिन दो पदों में भिन्नता दर्शायी जा रही हो उनमें तादात्म्य निषेध होता है। तादात्म्य-निषेध का तात्पर्य दो पदों में अस्तित्त्व की एकता का निषेध है। दो पदों में अस्तित्त्वैक्य स्वीकार करने का अर्थ है उनके द्वित्व को अस्वीकार करना। इसकी अभिव्यक्ति 'क क ही है' या 'क ख ही है' के रूप में हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वह जो क है वही है जो ख है। यह उनके पृथक् द्वैतरूप अस्तित्त्व का निषेध है। इसके ठीक विपरीत यह कहना कि क ख नहीं है इन दोनों के अस्तित्त्व की एकता या एकरूपता (सेमनेस) का निषेध करना है।

चूँकि तादात्म्य पूर्ण या आंशिक दो प्रकार का हो सकता है, तादात्म्य-निषेध के भी पूर्ण और आंशिक ये दो रूप ही सकते हैं। यथा, 'पानी' या 'कनक' आदि द्व्यर्थक या बह्वर्थक पदों के बारे में यदि यह कहा जाय कि विशिष्ट संदर्भ में 'पानी' पानी नहीं है' अथवा 'कनक कनक नहीं है' तो इसमें जिस तादात्म्य का निषेध है वह पूर्ण तादात्म्य है। परन्तु जब यह कहा जाय कि 'स्याही काली नहीं है' तो इसमें आंशिक निषेध है, क्योंकि यहाँ 'काली' पद के साथ 'स्याही' पद के विशेषण सम्बन्ध का निषेध किया गया है। विशेषण विशेष्य का एक अंश रूप होता है। विशेषण-विशेष्य में अंश-अंशी भाव होता है। अत: किसी एक पद के दूसरे पद का विशेषण होने का अर्थ है उसका अंश रूप होना और विशेषण होने का निषेध करने का अर्थ होगा उसके आंशिक तादात्म्य का निषेध करना।

(आ) दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि जिन दो पदों में भिन्नता दर्शायी जा रही है उनमें साम्य का निषेध हो। दो पदों में साम्य होता है यदि उनके अर्थ समान हों। क और ख में साम्य होगा यदि क वही और केवल वही अर्थ सूचित करे जो ख करता है। दूसरे शब्दों में, क और ख समानार्थक हैं। समानार्थक होने के फलस्वरूप वे दो पद परस्पर स्थानापन्न हो सकते हैं। साम्य का निषेध दो पदों की समानार्थकता और फलत: स्थानापन्नता का निषेध है। यथा 'पट' और 'वस्त्र' में साम्य है परन्तु 'घट' और 'पट' में वैषम्य या साम्य-निषेध है। अत: पट और वस्त्र में साम्य-निषेध नहीं कहा जा सकता जबकि घट और पट में साम्य-निषेध कहना सार्थक है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या साम्यपूर्ण होता है या आंशिक, या दोनों प्रकार का ? इसी का दूसरा रूप यह प्रश्न है कि क्या समानार्थकता पूर्ण होती है या आंशिक होती है या दोनों प्रकार की होती है। समानार्थकता के बारे में जो अनेकविध विवाद हैं उनमें पड़ना हमारे लिए अनावश्यक विस्खलन होगा। समानार्थकता से हमारा तात्पर्य गुणार्थ साम्य (कोनोटेटिव सिमिलेरिटी) है। यह आंशिक हो सकता है—जिसे विट्गेंन्स्टाइन ने फैमिली रिजेम्ब्लेन्स कहा है, या जिसे जैन तर्क-प्रणाली में 'शब्दनय' कहा गया है—या पूर्ण हो सकता, है जिसके रूप या तो विश्लेषणात्मक समानार्थकता हो सकती है या एकभाषागत अथवा अन्तर्भाषागत समानार्थकता हो सकती है। समानार्थकता के इन प्रभेदों की विशेष चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी।

(इ) तीसरे विकल्प मे दो पदों के सामंजस्य का निषेध हो सकता है। दो पदों में तादात्म्य या साम्य का निषेध होने पर भी उनकी समकालिकता या सहवर्तिता (साइमुल्टेनाइट आर टूगेदरनेस) सम्भव हो सकता है। परन्तु यदि उनमें सहवर्तन ही सम्भव न हो तो वह एक तीसरे प्रकार का निषेध होगा। यदि दो पद परस्पर इस तरह विरोधार्थक हों कि उनके संयुक्त प्रयोग की सम्भावना ही न रहे तो उनमें सामंजस्य निषेध होगा, यथा बन्ध्या पुत्र। 'बन्ध्या' और 'पुत्र' इन दो पदों में अन्तर्निष्ठ विरोध है, अत: इनका संयुक्त प्रयोग अर्थहीन हो जाता है। कुछ ऐसे पद होते हैं जिनमें अन्तर्निष्ठ विरोध तो नहीं होता परन्तु विश्व की वर्तमान संघटना में उनका संयुक्त प्रयोग अर्थहीन हो जाता है। ये पद परस्पर व्याघातक तो नहीं होते अत: इनके संयुक्त प्रयोग में तार्किक असम्भावना नहीं रहती, पर इनका समुच्चय किसी सम्भावित या विद्यमान पदार्थ को सूचित नहीं करता। यथा, 'गन्धर्व नगर' 'आकाश कुसुम' आदि ऐसे भिन्न पद हैं जो अधिकरण के अभाव में अर्थहीन हो जाते हैं। जिन पदों में तार्किक असम्भावना होती है वे तो अचिन्तनीय होते हैं परन्तु जिनमें व्यावहारिक असम्भावना होती है वे कल्पना में स्थान पा सकते हैं, भले ही वस्तु-जगत् में उनके लिए कोई स्थान न हो।

निषेध के उपर्युक्त तीन विकल्पों का पारस्परिक भेद दर्शाकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा। ऐसा प्रतीत होता है कि दो पदों में तादात्म्य का निषेध करके भी साम्य का स्वीकार सम्भव हो सकता है परन्तु साम्य का निषेध करके दो पदों में तादात्म्य की स्वीकृति सम्भव नहीं है। इसका कारण सम्भवत: यह है कि तादात्म्य साम्य की अपेक्षा अधिक संकुचित सम्बन्ध है। तादात्म्य का निषेध साम्य होने की संभावना को खुली रखता है जबकि साम्य का निषेध न केवल साम्य की संभावना समाप्त कर देता है वरन् तादात्म्य की संभावना को भी खत्म कर देता है। तादात्म्य-निषेध में मात्र अस्तित्त्व की एकता का निषेध है पर साम्य-निषेध में इसके साथ-साथ अर्थ की एकता का निषेध भी रहता है।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य लगती है वह यह कि जबकि साम्य-निषेध में अनुयोगी और प्रतियोगी मात्र परस्पर विरही होते हैं, तादात्म्य-निषेध और सामंजस्य-निषेध में परस्पर विरही होने के साथ-साथ वे परस्पर व्याधातक भी होते है। इनमें दोनों पद परस्पर व्यावर्त्तक होते हैं अत: एक का स्वीकार उसके व्यावर्त्तक का अस्वीकार और व्यावर्त्तक का स्वीकार उसके अस्वीकार को फलित करता है। उदाहरणार्थ 'क ख नहीं है' कहने का अर्थ है, यदि कोई पद 'क' है तो वह 'ख' नहीं और यदि वह 'ख' है तो वह 'क' नहीं हो सकता। इससे भिन्न साम्य-निषेध में अनुयोगी और प्रतियोगी परस्पर विरही तो हैं पर व्याधातक नहीं। अत: एक का स्वीकार दूसरे का निषेध तो करता है परन्तु एक का निषेध दूसरे के स्वीकार को फलित नहीं करता। अर्थात् इसमें उभय-निषेध का स्थान रहता है जो उभयेतर पद को स्वीकार करने की सम्भावना रखता है।

***

बहुकोटिक आकारिक तर्क

इस लेख का उद्देश्य[1] एक ऐसे बहु कोटिक तर्क के मॉडल को प्रस्तुत करना है जिसके आधार पर सत्तामीमांसा की स्थापना की जा सके। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैतवादियों ने एक चार कोटियों वाली तर्क-पद्धति का उपयोग किया है।[2] परन्तु उसकी व्यवस्थित अभिव्यक्ति का कोई प्रयास नहीं हुआ दिखाई देता है। पुनश्च, तार्किक दृष्टि से यह न तो सुस्पष्ट प्रतीत होती है और न सुसंवादित ही। इसीलिए अद्वैत-विरोधी विचारकों में इसकी तार्किकता के बारे में संदेह एवं भ्रान्तियाँ बनी रहीं हैं।[3] एक मॉडल के रूप में इस तर्क-पद्धति को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है-

१.	सत्	क
२.	असत्	~क
३.	सदसत्	क ~क
४.	सदसद्विलक्षण	~(क V~क)

इस मॉडल में निम्नलिखित तीन मुख्य दोष व कमियाँ हैं जिनके कारण यह स्वीकार्य नहीं हो सकता-

(१) इसमें सत् और असत् का स्वरूप और उनका पारस्परिक संबंध स्पष्ट नहीं किया गया लगता है। द्विकोटिक तर्कपद्धति में तो सत् और असत् अनिवार्यत: परस्पर व्याघातक (कंट्रेडिक्ट्री) होते हैं। अत: वहाँ ये दो कोटियाँ ही पर्याप्त एवं सभव होती हैं। परन्तु बहुकोटिक तर्क-पद्धति में उन्हें परस्पर (कंट्रेरी) ही मानना पड़ता है। अद्वैत की चतुष्कोटि में एक स्पष्ट व्याख्या के अभाव में कभी-कभी सत् और असत् को परस्पर व्याघातक माना हुआ लगता है जिसके परिणामस्वरूप अद्वैत-विरोधी विचारकों ने अद्वैतवादियों द्वारा अन्तिम दो कोटियाँ स्वीकार करने में व्याघात तथा मध्यम दशा परिहार के नियमों का उल्लंघन करने का आरोप लगाया है। तार्किक दृष्टि से न्यायसंगत होते हुए भी सदसद्विलक्षण (मिथ्यात्व या अनिर्वचनीयत्व) की कोटि को अमान्य ठहराने का प्रयास हुआ है। यथार्थ में बहुकोटिक तर्क-पद्धति में सत् और असत् परस्पर बहिष्कारक मात्र हैं, संयुक्त रूप से निश्शेषक (कलेक्टिवली एग्ज्हास्टिव) नहीं। अत: वे स्वेतर कोटियों की संभावना को स्थान देते हैं।

(२) इस मॉडल में प्रतिपादित 'सदसत्' की कोटि न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती है। सत् और असत् को इसमें परस्पर व्याघातक माना नहीं जा सकता पर इन्हें परस्पर मानने पर भी ये दोनों एकसाथ असत्य तो हो सकते हैं किन्तु एक साथ दोनों कदापि सत्य नहीं हो सकते। इससे स्पष्टत: सदसत् की संभावना का ही निराकरण हो जाता है। दूसरे शब्दों, किसी तथ्य के बारे में यह पूछने पर कि 'क्या यह सत् है ?' यदि उत्तर 'हाँ' है तो यह सत् है और यदि 'ना' है तो यह 'सत्त्वाभाव' है (असत् नहीं)। इसी तरह यह पूछे जाने पर कि 'क्या यह असत् है ?' यदि उत्तर 'हाँ' है तो यह असत् है और यदि 'ना' है तो यह असत्त्वाभाव है (सत् नहीं)। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि सत् और असत् के अलावा मात्र दो अन्य कोटियाँ हैं-सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव-तथा अधिकरण (रेफरेंट) के अभाव में सदसत् के लिए कोई

अवकाश नहीं। इस तर्क को इस प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि सत् का तार्किक गुण (Logical Property) अबाधितता है और असत् का स्वरूपहीनता है। अत: सदसत् का अर्थ होगा अबाधित स्वरूपहीनता, जोकि स्पष्टत: निरर्थक है। इन तर्कों के उपरांत भी यदि कोई सदसत् की कोटि को मान्य रखता है तो उससे यह पूछा जा सकता है कि उसका अधिकरण क्या है। यदि किसी तथ्य 'अ' को इसका अधिकरण बताया गया तो इसका तात्पर्य यह होगा कि सत् और असत् दोनों ही इससे अभिहित किये जा सकते हैं। अर्थात् 'अ' सत् और असत् दोनों ही इसे अभिहित किये जा सकते हैं। अर्थात् 'अ' सत् और असत् दोनों है।' यह इस कथन के तुल्य होगा कि 'अ एक मिश्र तथ्य है जिसका एक अंश सत् और दूसरा अंश असत् है।' पर ऐसी स्थिति में वहाँ एक अधिकरण न होकर दो अधिकरण होंगे तथा सत् एक को और असत् दूसरे को लागू होगा। तो फिर सदसत् एक पृथक् कोटि न होकर सत् और असत् में घटित हो जाएगा। यदि कोई अध्यास को सदसत् का अधिकरण बताए तो वह भी सही नहीं, क्योंकि यह तो सदसद्विलक्षण का अधिकरण है।

(३) इस मॉडल मे सदसद्विलक्षण को एक सत्य (ट्रूथ-वेल्यू) के रूप में माना गया है परन्तु वास्तव में यह सद्विलक्षण और असद्विलक्षण के दो सत्यमानों का सत्यफल (truth-function) है। पुनश्च, सद्विलक्षण और असद्विलक्षण पद अस्पष्ट हैं और किसी विशिष्ट अधिकरण या तार्किक गुण को निर्दिष्ट नहीं करते। उनका तात्पर्य क्रमश: 'सत् से भिन्न' और 'असत् से भिन्न' होता है परन्तु यह भिन्नता किस प्रकार की है यह स्पष्ट नहीं होता है। यदि इसका तात्पर्य 'अभाव से है' (जो होना भी चाहिए) तो ऐसी स्थिति में अधिक स्पष्ट पद 'सत्त्वाभाव' और 'असत्त्वाभाव' का प्रयोग होना चाहिए।

II

उपर्युक्त दोषों के कारण इस मॉडल की एक नये निम्नलिखित मॉडल से स्थानापन्न किया जा सकता है,

१.	सत्	क
२.	शून्य	ख {(अथवा ~ (क, ख)}
३.	सत्त्वाभाव	~ क
४.	शून्यत्त्वाभाव	~ ख
५.	सत्त्वाभाव-शून्यत्त्वाभाव	~ (क V ख)

इस मॉडल की प्रथम चा कोटियाँ सत्यमान और अन्तिम सत्यफलन हैं जिनका क्रमिक विश्लेषण किया जा सकता है।

III

यह पूछना कि 'सत् क्या है ?' सत् की परिभाषा की मांग करना है। इसकी यह परिभाषा दी जा सकती है कि,

'जो कभी बाधित नहीं होता हो' (अबाधित)। यह इन कथनों के तुल्य होगा कि,

'जो सर्वदा अनुभव का विषय रहता हो।' (अक्षर)

'जिसका सर्वदा कथन किया जा सके।' (अभावरहित)

'जो प्रागनुभविक हो।' (अनधिगत)

'जो स्वत:प्रामाण्य हो।' (स्वप्रकाश)

'जो स्व-रूपवान् हो।'(स्वभावरूप)

'जो एकमात्र हो।' (एकमेवाद्वितीय) आदि।

इस विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष फलित किये जा सकते हैं-

(१) सत् का तार्किक गुण 'अबाधितता है।'

(२) सत् या उसके समानार्थक पद के बारे में किया गया कोई भी कथन अखंडार्थ या विश्लेषणात्मक वाक्य (tautology) कहा जा सकता है।

(३) सत् या तत्परक कोई कथन अनुभव-जन्य नहीं होता। अत: उसका सत्यापन भी आनुभविक नहीं होता है, यद्यपि अनुभव से उसकी पुष्टि हो सकती है।

(४) लक्षण वाक्य अखंडार्थ होते हैं। उपनिषदों के सत् की व्याख्या-परक समस्त लक्षण वाक्य (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मम् आदि) अखंडार्थ वाक्य हैं और उनकी सत्यता 'सत्' की सत्यता से फलित होती है।

IV

'शून्य' की यह परिभाषा दी जा सकती कि,

'जो सर्वथा अस्तित्त्वहीन हो (स्वरूपहीन)। इसका समतुल्य कथन यह होगा कि,

'जो अनुभूति का विषय नहीं है।' (अननुभूतिविषयक)

'जिसका कोई अधिकरण नहीं।' (अनधिकरणक)

'जो सर्वथा अभावरूप है।' (अभावरूप)

'जो सभी कालों में असंभव है।' (कालत्रय बाधित)

'जिसके बारे में कोई कथन नहीं किया जा सके।' (निरूपाख्य)

उपर्युक्त विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष फलित होते हैं-

(१) शून्य का तार्किक गुण 'स्वरूपहीनता' है।

(२) शून्य या उसके समानार्थक किसी पद के बारे में किया गया कोई भी कथन आत्म-विरोधी है।

(३) शून्य एक रिक्त जाति (नल क्लास) है।

V

सुगमता की दृष्टि से शेष दो सत्यमानों का एकसाथ विश्लेषण किया जा सकता है।

सत् अखंडार्थ वाक्य है अत: अनिवार्य सत्य है (ने)। शून्य आत्मविरोधी है अत: सत् का पूर्णविरोधी शून्य नहीं बल्कि सत्त्वाभाव है तथा शून्य का पूर्णविरोधी सत् नहीं बल्कि शून्यत्वाभाव है। यह कि सत् और शून्यत्वाभाव तथा शून्य और सत्त्वाभाव समानार्थक नहीं, इससे सिद्ध होता है कि यदि वे ऐसे होते तो दोनों का एक ही अधिकरण होता। ऐसी स्थिति में सभी शून्यत्वाभाव/सत्त्वाभाव के दृष्टान्त सत्/शून्य के दृष्टान्त होते। परन्तु यह सत्य नहीं। सभी सत् शून्यत्वाभाव तथा सभी शून्य सत्त्वाभाव हैं पर इनका विपरीत सत्य नहीं। अर्थात् सत् और शून्यत्वाभाव में तथा शून्य और सत्त्वाभाव में समव्याप्ति न होकर विषमव्याप्ति संबंध है।

उदाहरणार्थ 'अध्यास' में सत् और शून्य की अनुपस्थिति में भी शून्यत्वाभाव और सत्त्वाभाव की उपस्थिति है :

इस विवेचन से तीन निष्कर्ष फलित होते हैं :

(१) सत् का पूर्ण विरोधी सत्त्वाभाव है, शून्य नहीं, व शून्य का शून्यत्वाभाव है, सत् नहीं।

(२) सत् और शून्यत्वाभाव में तथा शून्य और सत्त्वाभाव में व्याप्य-व्यापक संबंध है।

(३) सत् औ शून्य के तार्किक गुणों से सत्त्वाभाव और शून्यत्वाभाव के तर्किक गुणों की निष्पति की जा सकती है। सत् और शून्य के गुण क्रमश: अवाधित और स्वरूपहीन होने से सत्त्वाभाव और शून्यत्वाभाव के तार्किक गुण क्रमश: बाधित और स्वरूपवान् होंगे।

VI

सत्त्वाभाव और शून्यत्वाभाव के सत्यमानों से उनके सत्यफल की निष्पति की जा सकती है जिसे सत्वाभाव-शून्यत्वाभाव कहा जा सकता है। इस सत्यफलन की तार्किकता को निम्नलिखित प्रकार से दर्शाया जा सकता है- सत्, शून्य और शून्यत्वाभाव। सत्त्वाभाव में व्याप्य-व्यापक भाव होने से 'व्यापकाभावे व्याप्याभाव:' नियम के आधार पर शून्यत्वाभाव, सत्त्वाभाव के अभाव में सत्, शून्य की उपस्थिति नहीं हो सकने पर सत्/शून्य की अनुपस्थिति से शून्यत्वाभाव। सत्त्वाभाव की उपस्थिति में कोई बाधा नहीं पहुँचती। केवल इतना ही नहीं, जबकि सत् और शून्य की सहोपस्थिति असंभव है, शून्यत्वाभाव और सत्त्वाभाव की सहोपस्थिति संभव है। उदाहरणार्थ, जहाँ 'गोत्व' की उपस्थिति है वहाँ 'अश्वत्व' की नहीं और जहाँ 'अश्वत्व' की उपस्थिति है वहाँ 'गोत्व' की नहीं। परन्तु 'अनश्वत्व' और 'अगोत्व' की सहोपस्थिति 'उष्ट्रत्व' में होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी कथन 'सत्' और 'शून्य' की दो कोटियों में घटाये नहीं जा सकते क्योंकि ये कोटियाँ सकलत: निश्शेष नहीं होने से सत्त्वाभाव-शून्यत्वाभाव की संभावना को स्वीकार करते हैं। सभी आनुभविक कथन इसी प्रकार के हैं। ये सखंड या विश्लेषणात्मक वाक्य होते हैं। इसका सत्यापन आनुभविक ही होता है। इसी कारण इनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि ये पूर्णत: सत्य हैं या पूर्णत:असत्य। क्योंकि अबाधित नहीं होने से ये सत् नहीं और अनुभव-प्रदत्त होने से शून्य नहीं। अत ये सत् और शून्य दोनों से व्यतिरिक्त हैं। इनके सत्यासत्य के बारे में कोई निश्चयात्मक कथन नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से ये अनिवर्चनीय हैं।

उपसंहार करते हुए सत्यमानों और सत्यफलन को उनके तार्किक गुणों के साथ एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

१. सत् २. शून्य ३. सत्त्वाभाव ४. शून्यत्त्वाभाव	अबाधित स्वरूपहीन बाधित स्वरूपवान्
५. सत्त्वाभाव-शून्यत्त्वाभाव	बाधित स्वरूपवान्

***

संदर्भ-सूची

१. *प्रस्तुत लेखक की यह मान्यता है कि किसी भी सत्तामीमांसीय दर्शन की स्थापना एक द्विकोटिक तर्क-पद्धति पर नहीं की जा सकती क्योंकि सत्ता का स्वरूप इतना जटिल और व्यापक है कि उसे सत् और असत् के संकुचित दायरे में सीमित नहीं किया जा सकता।*

२. *यह सत्तामीमांसा के निराकरण के लिए प्रयुक्त बौद्ध चतुष्कोटि से भिन्न है। एक प्रकार की बहुकोटिक तर्क-पद्धति जैन सप्तभंगी नय है, परन्तु इसे वेदान्त की चतुष्कोटि में घटाया जा सकता है।*

३. *इसकी आलोचना करते हुए कुमारिल लिखते हैं-*
तस्माद्यन्नास्ति नास्त्येव यत्त्वस्ति परमार्थत: ।
तत्सत्यमन्यन्मिथ्येति न सत्यद्वय कल्पना ॥
मीमांसा श्लोकवर्त्तिक, निरालम्बनवाद कारिका-१०
व्यासतीर्थ भी अपने ग्रन्थ न्यायामृत (पृ. २२) में कहते हैं-
निषेधस्यान्यतर विधिनान्तरीकत्वात्सत्वात्यन्ताभावे साध्ये व्याहति:। एवमसत्वात्यन्ताभावे साध्ये सत्वस्यैव प्राप्त्या पुन: तदत्यन्ताभाव साधने व्याहतिरित्यर्थ:।

परिच्छेद : तेरह

सागरमल जैन

सागरमल जैन

प्रो. सागरमल जैन का जन्म (१९३२) शाजापुर, मध्यप्रदेश में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा आंचलिक पाठशालाओं में हुई और हाईस्कूल तथा प्री. यूनिवर्सिटी कोर्स इन्होंने स्वाध्यायी विद्यार्थी के रूप में पूरा किया। तदनन्तर स्नातक एवं स्नातकोत्तर (दर्शनशास्त्र) स्तर की शिक्षा नियमित रूप से विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से सम्पन्न कर पी-एच.डी. की उपाधि (१९६१) इन्होंने जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर से प्राप्त किया। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत में प्रो. जैन सहायक प्राध्यापक के रूप में रीवा, ग्वालियर, इन्दौर तथा भोपाल के शासकीय महाविद्यालयों में अध्यापन कार्य करते रहे और पुन: ग्वालियर के म.ल.बा. महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इन्हीं दिनों में प्रो. जैन की दार्शनिक प्रतिभा महाविद्यालयों की सीमायें पार कर दर्शन जगत् के राष्ट्रीय क्षितिज को स्पर्श कर रही थी। इनकी प्रतिभा और प्रबन्धन सामर्थ्य को देखते हुए इन्हें 'पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी' का निदेशक बनाया गया, और १८ वर्षों तक लगातार निदेशक के रूप में कार्य करते हुए अपने अकादमिक व्यक्तित्व एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संस्थागत स्वरूप को इन्होंने अखिल भारतीय स्तर पर स्थापित किया। आज पार्श्वनाथ विद्यापीठ का वर्तमान स्वरूप, उसकी एक-एक ईंट प्रो. जैन की निष्ठा और उनकी सृजनात्मकता का फल है। दर्शन के क्षेत्र में इन्हें प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार (१९८८) एवं जैन दर्शन में विशेष योगदान के लिए 'आचार्य हस्ती पुरस्कार' तथा प्रदीप कुमार रामपुरिया पुरस्कार से सम्मानित भी किया जा चुका है। प्रो. जैन ने असेम्बली ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स-१९८५ (न्यूजरसी), १९९३ (शिकागो) में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व भी किया है और अमेरिका, कनाडा, इग्लैंड आदि देशों में कई बार व्याख्यान देने के लिए भी आमंत्रित हुए हैं। इन्होंने जैन दर्शन, जैन आचार शास्त्र, जैन समाज एवं संस्कृति आदि विषयों पर लगभग पच्चीस ग्रन्थों का प्रणयन किया है और लगभग सौ से अधिक ग्रन्थों का सम्पादन तथा दो सौ के लगभग शोध निबन्धों का प्रकाशन किया है। आज भी प्रो. जैन अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और अपने स्वार्जित सामर्थ्य के साथ जैन वाङ्मय के विग्रह एवं प्राकट्य के लिए समर्पित हैं।

*

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना

(१)

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उपस्थित सामाजिक सन्दर्भों को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि केवल कुछ दार्शनिक प्रस्थान ही सम्पूर्ण भारतीय प्रज्ञा एवं भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। इन दार्शनिक प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उसमें अनेकानेक सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं। दूसरे यह कि भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक एवं सैद्धान्तिक ही नहीं है, वह अनुमूल्यात्मक एवं व्यावहारिक भी है। कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं है जो मात्र तत्त्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञानमीमांसीय (Epistemological) चिन्तन से ही सन्तोष धारण कर लेता है। उसमें ज्ञान केवल ज्ञान के लिए नहीं, अपितु जीवन के सफल संचालन के लिए है। उसका मूल दु:ख की समस्या में है। दु:ख और दु:ख-मुक्ति में ही भारतीय दर्शन का 'अथ' और 'इति' है। यद्यपि तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा प्रत्येक भारतीय दार्शनिक प्रस्थान के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं, किन्तु वे सम्यक् जीवनदृष्टि के निर्माण और सामाजिक व्यवहार की शुद्धि के लिए हैं। भारतीय चिन्तन में दर्शन की धर्म और नीति से अवियोज्यता उसके सामाजिक सन्दर्भ को और भी स्पष्ट कर देती है। यहाँ दर्शन जानने की नहीं, अपितु जीने की वस्तु रहा है। वह ज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) नहीं, अनुभूति और इसीलिए वह फिलासफी नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्यक् दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य तो यह रहा कि दर्शन मध्ययुग में साधकों और ऋषि-मुनियों के हाथों से निकलकर तथाकथित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलत: उसमें तार्किक पक्ष प्रधान तथा अनुभूतिपरक साधना पक्ष एवं आचारपक्ष गौण हो गया और हमारी जीवनशैली से उसका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया। सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं-

१- वैदिक युग

२- औपनिषदिक युग

३- जैन-बौद्ध युग

वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जागृत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण किया गया और जैन-बौद्ध युग में सामाजिक सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर बल दिया गया।

(२)

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक धारा में सामाजिकता का तत्त्व उसके प्रारम्भिक काल से ही उपस्थित रहे हैं। वेदों में सामाजिक जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (ऋग्वेद १०/१९१/२) तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ साथ

विचार करें अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और विचारों में समानता हो। आगे पुनः वह कहता है -

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ॥
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ (ऋग्वेद १०/१९१/३-४)

आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक रूप हो ताकि आप मिलजुलकर अच्छी तरह से कार्य कर सकें। सम्भवतः सामाजिक जीवन एवं समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तक के ये महत्त्वपूर्ण उद्गार हैं। वैदिक ऋषियों को 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था जबकि वे जन-जन में समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवनशैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में सामाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे -

ॐ सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहै,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। (तैत्तिरीय आरण्यक ८।२)

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें। वैदिक समाज दर्शन का आदर्श था - 'शत-हस्तः समाहर, सहस्त्र-हस्तः सीकर' सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बाँटो। किन्तु यह बाँटने की बात दया या कृपा नहीं है अपितु सामाजिक दायित्व का बोध है। क्योंकि भारतीय चिन्तन में दान के लिए संविभाग शब्द का प्रयोग होता रहा है, इसमें सम वितरण या सामाजिक दायित्व का बोध ही प्रमुख है, कृपा, दया, करुणा ये सब गौण हैं। आचार्य शंकर ने दान की व्याख्या की है 'दानं संविभागः'। जैन दर्शन में तो अतिथि-संविभाग के रूप में एक स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था की गई है। संविभाग शब्द करुणा का प्रतीक न होकर सामाजिक अधिकार का प्रतीक है। वैदिक ऋषियों का निष्कर्ष था कि जो अकेला खाता है वह पापी है (केवलाघो भवति केवलादी) जैन दार्शनिक भी कहते थे' असंविभागी न हु तस्स मौक्खो' जो संविभागी नहीं है उसकी मुक्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम वैदिग युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाते हैं। किन्तु उसके लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण औपनिषदिक चिन्तन में ही हुआ है। औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिक चिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्त्विक आधार प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार जहाँ वेदों की समाज-निष्ठा बर्हिमुखी थी, वहीं उपनिषदों में आकर अन्तर्मुखी हो गयी। भारतीय दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था -

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकात्मा की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मा की अनुभूति है और जब एकात्मा की दृष्टि का विकास हो जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः

समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मा की चेतना को जागृत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरीय सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा: मा गृधःकस्यस्विद्धनम्॥ - ईश. १।१

अर्थात् इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक आधार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया है कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अत: उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवत: सामाजिकता की चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि गाँधी जी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि यदि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये किन्तु यह श्लोक बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। तेन त्यक्तेन भुंजीथा: में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

यदि हम उपनिषदों से महाभारत और उसके ही एक अंश गीता की ओर आते हैं तो यहाँ भी हमें सामाजिक चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज-दर्शन पर एक स्वतन्त्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में और उसके पश्चात् आचार्य शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में हमें समाज की आंगिक संकल्पना का वह सिद्धान्त परिलक्षित होता है, जिस पर पाश्चात्य चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं-

'कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादय:।
जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिन: ॥' (बोधिचर्यावतार ८।११४)

जिस प्रकार हाथ आदि शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं वैसे ही सब प्राणी जगत् के अवयव होने के कारण क्यों प्रिय नहीं होंगे। गीता भी एकात्मता की अनुभूति पर बल देती है। श्रीकृष्ण कहते है कि -

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमोमत: ॥' (गीता ६।३२)

अर्थात् जो सुख-दु:ख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है वही सच्चा योगी है। मात्र इतना ही नहीं, वह तो इससे आगे यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन या ज्ञान वही है जो हमें एकात्मा की अनुभूति कराता है 'अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्'। वैयक्तिक विभिन्नताओं में भी एकता की अनुभूति ही ज्ञान की सात्विकता और हमारी समाज-निष्ठा का एक मात्र आधार है। सामाजिक दृष्टि से गीता 'सर्वभूत-हिते रता:' का सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनासक्त भाव से युक्त होकर लोककल्याण के लिए कार्य करते रहना ही, गीता के समाज-दर्शन का मूल मन्तव्य है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं -

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हिते रता:' (गीता १२।४)

मात्र इतना ही नहीं, गीता में सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है जो अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण किये बिना भोग करता है वह गीताकार की दृष्टि में चोर (स्तेन एवस:

३।१२) है। साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है वह पाप का ही अर्जन करता है। (भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ३।१३)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है इसलिए उसने सन्यास की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि -

'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्नयासं कवयो विदु:' (गीता १८।२)

काम्य अर्थात् स्वार्थ युक्त कर्मों का त्याग ही सन्यास है, केवल निरग्नि और निष्क्रिय हो जाना सन्यास नहीं है। सच्चे सन्यासी का लक्षण है समाज में रहकर लोक कल्याण के लिए अनासक्त भाव से कर्म करते रहना।

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय:॥ (गीता ६।१)

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक-संग्रह को चाहते हुए कर्म करता रहे कुर्याद्विद्वांस्तथा-सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ३।२५)। गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया था वह भी सामाजिक दृष्टि से कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का यह विभाजन किन्हीं निहित स्वार्थों के कारण जन्मना बना दिया गया। गीता वर्णव्यवस्था को तो स्वीकार करती है किन्तु जन्म के आधार पर नहीं, गुण एवं कर्म के आधार पर (चातुर्वर्ण्य मयासृष्ट गुण-कर्म-विभागश: - गीता ४।१३)। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि -

ब्राह्मणक्षत्रियविंशा शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै:॥ (गीता १८।४१)

हे अर्जुन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का विभाजन उनके स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर किया गया है। सामाजिक जीवन में विषमता एवं संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्रीमद्भागवत् भी ईशावास्योपनिषद् के समान ही सम्पत्ति पर व्यक्ति अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है -

यावत् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वंहि देहिनाम्।
अधिको योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ - श्रीमद्भागवत ७।१४।८

अर्थात् अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वत्व मानना सामाजिक दृष्टि से चोरी है, अनधिकृत चेष्टा है। आज का समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी आदर्श पर खड़ा है, योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन' की उसकी धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है। भारतीय चिन्तन में पुण्य और पाप का जो वर्गीकरण है, उसमें भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है, उनका सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है। पुण्य और पाप की एक मात्र कसौटी है, किसी कर्म का लोक-मंगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना। कहा भी गया है -

'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्'

जो लोक के लिए हितकर है कल्याण कर है, पुण्य है और इसके विपरीत जो भी दूसरों के लिए पीड़ाजनक है, अमंगलकर है, वह पाप है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्यायें भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित हैं।

(३)

यदि हम निवर्तक धारा के समर्थक जैन, बौद्ध, सांख्य, योग एवं शांकर वेदान्त की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया यह

माना जाता है कि निवृत्ति-प्रधान दर्शन व्यक्ति-परक और प्रवृत्ति-प्रधान दर्शन समाज-परक होते हैं। पं. सुखलाल जी के शब्दों में प्रवर्तक धर्म का संक्षेप सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था है, उसे इस तरह नियमवद्ध करना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा के अनुरूप सुख लाभ करे। प्रवर्तक धर्म समाजगामी था इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर (उन) सामाजिक कर्तव्यों का पालन करे जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। (जबकि) निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी हैं, (वह) समस्त सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं कहते हैं। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है, वह यह कि जिस तरह भी हो आत्म-साक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे (दर्शन और चिन्तन)। किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निवर्तक धारा के समर्थक अर्थात् जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, शांकर वेदान्त आदि दर्शन असामाजिक हैं या इन दर्शनों में सामाजिक सन्दर्भ का अभाव है, नितान्त भ्रम होगा। इनमें भी सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहें वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकांकी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपभोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए। महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे। यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलत: सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज-रचना एवं सामाजिक दायित्वों की निवर्हन की अपेक्षा समाज-जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। जैन दर्शन के पँच महाव्रत, बौद्ध दर्शन के पँचशील और योग दर्शन के पँचयमों का सम्बन्ध अनिवार्यतया हमारे सामाजिक जीवन से ही है। प्रश्न व्याकरण सूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि 'तीर्थंकर' का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए हैं। पाँचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए ही हैं - (प्रश्न व्याकरण १/१/२१-२२')। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से सम्बन्धित है। हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या सन्दर्भ रह जाता है ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादायें इन दर्शनों ने दीं वे हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही है।

इसी प्रकार इन दर्शनों की साधना पद्धति में समान रूप से प्रस्तुत मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ की भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य अमितगति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं -

> सत्त्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम्।
> मध्यस्थ-भावं विपरीत वृत्तौ सदाममात्मा विदधातु देव:॥ - सामायिक पाठ

हे प्रभु हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दु:खियों के प्रति करुणा तथा दुष्ट जनों के प्रति मध्यस्थ भाव विद्यमान रहें। इस प्रकार इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों यही स्पष्ट किया गया है। समाज में दूसरे

लोगों के साथ हम किस प्रकार जियें यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है और इन दर्शनों में इस प्रकार से व्यक्ति को समाज-जीवन से जोड़ने का ही प्रयास किया गया है। इन दर्शनों का हृदय रिक्त नहीं है। इनमें प्रेम और करुणा की अटूट धारा बह रही है। तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोये खेयन्ने पण्बइये)। इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव' 'हे प्रभु आपका अनुशासन सभी दु:खों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण, सर्वोदय करने वाला है।' जैन आगमों में प्रस्तुत कुल-धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म एवं गण-धर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं। त्रिपिटिक में भी अनेक सन्दर्भों में व्यक्ति के विविध सामाजिक सम्बन्धों के आदर्शों का चित्रण किया गया है। जिस सब पर लघु निबन्ध में प्रकाश डाल पाना सम्भव नहीं है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वस्तुत: इन दर्शनों ने आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके चरित्र के निर्माण पर बल दिया। वस्तुत: इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था अत: इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराईयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया।

(४)

सम्भवत: भारतीय दर्शन को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है उनमें प्रमुख हैं राग या आसक्ति का प्रहाण, सन्यास या निवृत्ति मार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यक्ष। ये ही ऐसे तत्त्व हैं जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं। अत: भारतीय सन्दर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग के ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध हैं और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से सम्बन्ध टूट जाते हैं, वास्तविकता तो यह है, कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं बन पाते। सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं तो इन सम्बन्धों से टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दु:खानि भयानि चैव।
सर्वाणि तान्यात्म परिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रह॥
आत्मानं परित्यज्य दु:ख त्यक्तुं न शक्यते।
यथाग्निं परित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते॥ - बोधिचर्यावतार ८।१३४-१३५

संसार के सभी दु:ख और भय एवं तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता तब तक इन दु:खों की समाप्ति सम्भव नहीं है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तज्जन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है,

अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं और उसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होता है वह सब नहीं हो सकता है। अत: राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप हममें राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकता, उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति भी ममत्व सच्ची मानवीय एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई एवं प्रामाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्यनिष्ठ और प्रामाणिक नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है, अत: वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव-जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। भारतीय दर्शन में राग के साथ-साथ अहं के प्रत्यय के विसर्जन पर भी समाज रूप से बल दिया गया है। अहं भाव भी हमारे सामाजिक सम्बन्धों में बाधा ही उत्पन्न करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं और इनके कारण सामाजिक जीवन में विषमता एवं टकराहट उत्पन्न होती है। भारतीय दर्शन अहं के प्रत्यय के विसर्जन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतन्त्रता को समाप्त करता है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति, रागात्मकता या अहं ही प्रमुख है। आसक्ति ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में संग्रह, आवेश और कपटाधार के तत्त्व जन्म लेते हैं। संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रमाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार एवं विश्वासघात के तत्त्व विकसित होते हैं। इसी प्रकार आवेश की मनोवृत्ति के कारण क्रूर व्यवहार, संघर्ष, युद्ध एवं हत्याएँ होती हैं। और कपट की मनोवृत्ति अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार को जन्म देती है। अत: यह कहना उचित ही होगा कि भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक समत्व की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है, यह भारतीय चिन्तन का महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुत: आसक्ति या राग तत्त्व की उपस्थिति में सच्चा, लोकहित भी फलित नहीं होता है। आसक्ति या कर्म-फल की आकांक्षा के साथ किया गया

कोई भी लोक-हित का कार्य स्वार्थपरता से शून्य नहीं होता है। जिस प्रकार शासन की ओर से नियुक्त समाज-कल्याण-अधिकारी लोकहित को करते हुए भी सच्चे अर्थों में लोक-हित का कर्ता नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ करता है वह केवल अपने वेतन के लिए करता है इसी प्रकार आसक्ति या राग-भावना से युक्त व्यक्ति चाहे बाहर से लोकहित का कर्त्ता दिखाई दे किन्तु वह सच्चे अर्थ में लोकहित का कर्त्ता नहीं है। अत: भारतीय दर्शन में आसक्ति से या राग से ऊपर उठकर लोक हित करने के लिए एक यथार्थ भूमिका प्रदान की गई है। सराग लोकहित या फलासक्ति से युक्त लोकहित छद्म स्वार्थ ही है। अत: भारतीय दर्शन अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ बल दिया है वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

(५)

सामान्यतया भारतीय दर्शन के सन्यास के प्रत्यय को समाज निरपेक्ष माना जाता है किन्तु क्या सन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष है ? निश्चय ही सन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है किन्तु इससे क्या वह असामाजिक हो जाता है ? सन्यास के संकल्प में वह कहता है कि 'वित्तेषणा पुत्रेषणा लोकेषणा मया परित्यक्ता' अर्थात् मैं धन-कामना, सन्तान-कामना और यश-कामना का परित्याग करता हूँ किन्तु क्या धन-सम्पदा, सन्तान तथा यश-कीर्ति की कामना का परित्याग समाज का परित्याग है ? वस्तुत: समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है, सन्यास का यह संकल्प उसे समाज-विमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज-कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है क्योंकि सच्चा लोकहित नि:स्वार्थता एवं वितराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन सन्यास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। भगवान बुद्ध का यह आदेश 'चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुम्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानां (विनय पिटक-महावग्ग)। इस बात का प्रमाण है कि सन्यास लोकमंगल के लिए होता है। सच्चा सन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अल्पतम लेकर उसे अधिकतम देता है। वस्तुत: कुटुम्ब, परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि वह समष्टि का होकर रहे क्योंकि जो किसी का है वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है वह किसी का नहीं। सन्यासी नि:स्वार्थ और निष्काम रूप से लोक मंगल-साधक होता है। सन्यास शब्द समपूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का एक अर्थ देखरेख करना भी है। सन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है। सन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न करे तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार यदि सन्यासी लोकेषणा से युक्त है, ममत्व-बुद्धि या स्वार्थ बुद्धि से काम करता है तो सन्यासी नहीं है और यदि लोक की उपेक्षा करता है, लोकमंगल के लिए प्रयास नहीं करता है तो वह भी सन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मिशन तो 'सर्वभूत-हिते रत:' का है।

सन्यास में राग से ऊपर उठना आवश्यक है। किन्तु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। सन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है। फिर भी वह पलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का परित्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। सन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। यह अपने और पराये के विचार से ऊपर हो जाना समाज विमुखता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है।

इसलिए भारतीय चिन्तकों ने कहा है -

अयं निज: परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुवैध कुटुम्बकम् ॥

सन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की । उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' (नर्स) के समान ममत्व रहित कर्तव्य भाव की होती है । कहा भी गया है -

सम दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर सूं न्यारा रहे जूं धाय खिलावे बाल ॥

वस्तुत: निर्ममत्व एवं नि:स्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही सन्यास की सच्ची भूमिका है । सन्यासी वह व्यक्ति है जो लोक मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है । वह जो कुछ भी त्याग करता है वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है । समाज में नैतिक चेतना को जाग्रत करना तथा सामाजिक जीवन में आने वाली दुष्प्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचाकर लोक मंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना सन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है । अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में सन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है । सन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता जो आदर्श समाज रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है । अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे ।

(६)

भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है । यदि हम सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन पर विचार करते हैं तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है । सामाजिक जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि सम्भव है । अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ ही होता है । किन्तु भारतीय चिन्तन में धर्म भी सामाजिक व्यवस्था और शान्ति के लिए ही है क्योंकि धर्म को 'धर्मोधारयते प्रजा:' के रूप में परिभाषित कर उसका सम्बन्ध भी हमारे सामाजिक जीवन से जोड़ा गया है । वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है । अत: पुरुषार्थ-चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सामाजिक सार्थकता विचारणीय है । प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष की धारणा सामाजिक दृष्टि से उपादेय हो सकती है ? जहाँ तक मोक्ष को मरणोत्तर अवस्था या तत्त्वमीमांसीय धारणा का प्रश्न है उस सम्बन्ध में न तो भारतीय दर्शनों में ही एक-रूपता है और न उसकी कोई सामाजिक सार्थकता ही खोजी जा सकती है । किन्तु इसी आधार पर मोक्ष को अनुपादेय मान लेना उचित नहीं है । लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में एकमत है कि मोक्ष का सम्बन्ध मुख्यत: मनुष्य की मनोवृत्ति से है । बन्धन और मुक्ति दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से सम्बन्धित है । राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहं आदि की मनोवृत्तियाँ ही बन्धन है और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति । इसकी व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है । आचार्य शंकर कहते हैं -

'वासनाप्रक्षयो मोक्ष:' (विवेक चूड़ामणि ३१८)

वस्तुत: मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का सम्बन्ध भी हमारे जीवन से ही है । मेरी दृष्टि से मोक्ष मानसिक तनावों से मुक्ति है । यदि हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सम्बन्ध से विचार करना चाहते है तो हमें इन्हीं मनोवृत्तियों एवं मानसिक विक्षोभों के सन्दर्भ में उस पर विचार करना होगा । सम्भवत: इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं रखेगा कि राग,

द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक बाधक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्तव्य है, जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं-

देहस्य मोक्षो न मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्या हृदय ग्रन्थि मोक्षो मोक्षो यतस्ततः॥ - विवेक चूडामणि ५५९

मरणोत्तर मोक्ष या विदेह-मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है उसी प्रकार विदेह-मुक्ति तो जीवन-मुक्ति का अनिवार्य परिणाम है। अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है वह तो जीवन-मुक्ति ही है। जीवन मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता से हम इन्कार भी नहीं कर सकते क्योंकि जीवन-मुक्ति एक ऐसा व्यक्तित्व है जो सदैव लोक कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध दर्शन में अहर्त् एवं बोधिसत्त्व और वैदिक दर्शन में स्थितप्रज्ञ की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्त्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोकमंगल और मानव कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, मात्र इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध दर्शन में बोधिसत्त्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्त्व तो लोकमंगल के लिये अपने बन्धन और दुःख का कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है-

बहुनामेक दुःखेन यदि दुखं विगच्छति। उत्पाद्यमेब तद् दुःखं सदयेन परात्मनो॥
मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रमोद्य सागराः। तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षरसिकेन किम्॥
- बोधिचर्यावतार ८।१०५, १०८

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर अपने मोक्ष प्राप्त करने इच्छा की आवश्यकता है ? वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रहलाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि -

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः॥
नैतान् विहाय कृपणम् विमुमुक्षुरेकः॥

हे प्रभु अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता। यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्‌गार हैं। इसी

प्रकार बोधिसत्त्व भी सदैव ही दीन और दु:खीजनों को दु:ख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

मवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृत्ता:। (बोधिचर्यावतार ३।२१)

वस्तुत: मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे के उद्‌गार विचारणीय हैं-

जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है,
वह उसके हाथ से निकल आता है, 'मैं' के आते
ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य
ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।

(आत्म ज्ञान और विज्ञान, पृ. ७१)

इसी प्रकार वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। 'मैं' अथवा अहं भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मन:।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वर सत्त्वेषु दीयतां॥ - बोधिचर्यावतार ३।११

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुत: दु:खों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दु:ख, मानवीय संवर्गों के कारण ही है। अत: मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवर्गों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दु:ख, अहंकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्ति रूप में मोक्ष उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोक मंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है-

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे संतु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु:खभागवेत्॥

लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय नामक ग्रंथ में मिलता है। अत: मैं उसका हिन्दी में अनुदित निम्न पंक्तियों से अपने इस लेख का समापन करना चाहूँगा -

इस दु:खमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित पीड़ित विपत्ति विलीन हैं;
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदी हैं,
वे मुक्त हों निजबन्ध से, स्वच्छन्द हों सब द्वन्द से,
छूटें दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दु:ख से विचले न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका ही परम कल्याण,
सबका ही परम कल्याण।

***

जैन दर्शन में तर्क प्रमाण

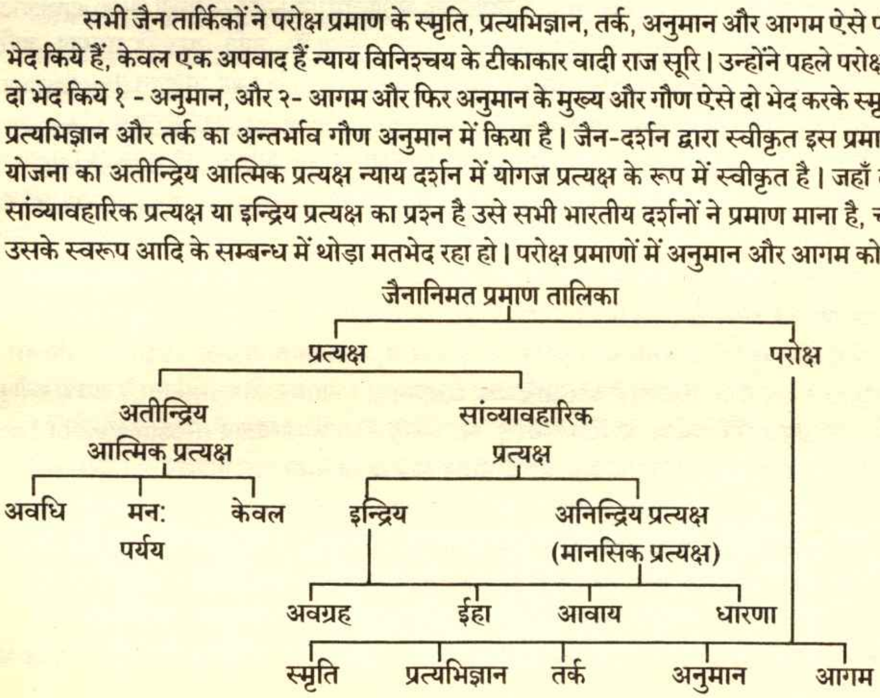
तर्क की प्रमाण के रूप में प्रतिस्थापना का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

भारतीय दर्शनों में केवल जैन दर्शन की ही यह विशेषता है कि वह प्रमाण विवेचन में तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है फिर भी हमें इतना ध्यान अवश्य रखना होगा कि प्रमाण के रूप में तर्क की प्रतिस्थापना जैन न्याय की विकास यात्रा का एक परवर्ती चरण है। तत्त्वार्थसूत्र और श्वे. आगम नन्दिसूत्र में तो हमें ज्ञान और प्रमाण के बीच भी कोई विभाजक रेखा ही नहीं मिलती है, उनमें पाँचों ज्ञानों को ही प्रमाण मान लिया गया है (मति श्रुतावधि: पर्यायकेवलानि ज्ञानम्। तत् प्रमाणे-तत्त्वार्थ १/९-१०) किन्तु श्वे. आगम भगवती, स्थानांग और अनुयोग द्वार में प्रमाणों का स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध है। उनमें कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम इन तीन प्रमाणों की और कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। सम्भवत: प्रमाणों का यह स्वतन्त्र विवेचन आगम साहित्य में सर्वप्रथम अनुयोग द्वार में किया गया हो, क्योंकि भगवती सूत्र में केवल उनका नाम निर्देश करके यह कह दिया गया है कि 'जहा अणुओगद्धारे' अर्थात् अनुयोग द्वार सूत्र के समान ही इन्हें यहाँ भी समझ लेना चाहिए।[१] यद्यपि इन आधारों पर नन्दिसूत्र, अणुयोगद्धार, स्थानांग और भगवती के वर्तमान पाठों की पूर्वापरता के प्रश्न को एक नये सन्दर्भ में विचारा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत चर्चा के लिए यह आवश्यक नहीं है। एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि स्थानांग सूत्र में इनके लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग न होकर हेतु और व्यवसाय शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ 'हेतु' का तात्पर्य प्रमाणिक ज्ञान के साधनों से और 'व्यवसाय' का तात्पर्य ज्ञानात्मक व्यापार के स्वरूप से है। जो कि अपने लाक्षणिक अर्थ में प्रमाण चर्चा से भिन्न नहीं है। ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि स्थानांग सूत्र में व्यवसाय के अन्तर्गत केवल तीन प्रमाणों[२] की और हेतु के अन्तर्गत चार प्रमाणों[३] की चर्चा उपलब्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन न्याय में प्रमाण चर्चा के प्रसंग में भी आगम युग तक 'तर्क' को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। यद्यपि इसकी सम्भावना के बीज आगम साहित्य में तथा तत्त्वार्थसूत्र में अवश्य ही उपस्थित थे। क्योंकि नन्दीसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, स्मृति, संज्ञा, प्रज्ञा और मति को पर्यायवाची मान लिया गया था। इसी प्रकार उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य में भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को एक ही अर्थ का वाचक माना था[४]। मेरी दृष्टि में यहाँ इन्हें पर्यायवाची या एकार्थवाचक कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि ये सब मतिज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। उमास्वाति के तत्त्वार्थ भाष्य में ईहा के पर्याय के रूप में भी तर्क और ऊह इन दोनों शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है[५]। क्योंकि ईहा अवग्रहीत अर्थ (पदार्थ) के विशेष स्वरूपको जानने की आकांक्षा के रूप में गुण-दोष विचारात्मक ज्ञान-व्यवहार ही है, अत: उसका पर्याय तर्क या ऊह हो सकता है। फिर भी यहाँ तर्क को ईहा से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है। साथ ही 'तर्क प्रमाण' में 'तर्क' शब्द का जो अर्थ गृहीत है वह भी यहाँ अनुपस्थित ही है। इससे प्रमाण चर्चा के प्रसंग में तर्क शब्द का जो अर्थ

विकसित हुआ है वह एक परवर्ती घटना ही सिद्ध होता है। फिर भी ये सब बातें एक ऐसी आधार भूमि तो अवश्य प्रस्तुत कर रही थीं जिसके सहारे अकलंक के द्वारा ७ वीं शती में तर्क को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सका। वस्तुत: तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानना इसलिए आवश्यक हो गया कि उसके बिना व्याप्तिग्रहण की समस्या का सही हल प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं था क्योंकि प्रत्यक्ष चाहे वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो या अनिन्द्रिय मानस प्रत्यक्ष हो, त्रैकालिक एवं सार्वलौकिक व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता था। दूसरी ओर अनुमान तो स्वयं व्याप्ति पर निर्भर था अत: प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच एक सेतु की आवश्यकता थी जिसे तर्क को प्रमाण मानकर पूरा किया गया। 'तर्क' को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित करने के साथ ही अकलंक के सामने दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी कि उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में से किस प्रमाण के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाये ? चूँकि तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य में ईहा का अन्तर्भाव सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में होता था अत: सूत्रकार के मत की रक्षा करने हेतु उसका समावेश सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में ही होना था किन्तु प्रत्यक्ष का ही एक भेद होने की स्थिति में तर्क व्याप्ति का ग्राहक नहीं बन सकता था - इस हेतु उसके बौद्धिक, विमर्शात्मक एवं सामान्य ज्ञानात्मक स्वरूप पर बल देना भी जरूरी था और यह तभी सम्भव था जबकि उसे शब्द संसर्ग युक्त एवं ऐन्द्रिक तथा मानसिक प्रत्यक्ष ने भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण माना जाये किन्तु ऐसी स्थिति में उसे परोक्ष प्रमाण में वर्गीकृत करना जरूरी था। अकलंक ने दोनों ही दृष्टिकोणों की रक्षा हेतु यह माना कि 'तर्क' आदि जब शब्द संसर्ग से रहित हो तो उनका समावेश सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में और शब्द संसर्ग से युक्त हो तो उनका समावेश परोक्ष श्रुतज्ञान में करना चाहिए। लेकिन परम्परा की रक्षा करने का उनका यह प्रयास सफल नहीं हुआ और उत्तरकालीन अनन्तवीर्य, विद्यानन्द आदि सभी जैन तार्किकों ने तर्क का समावेश परोक्ष प्रमाण में ही किया। जैन तार्किकों का प्रमाणों का सर्वमान्य वर्गीकरण तर्क का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में ही करता है।

सभी जैन तार्किकों ने परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाँच भेद किये हैं, केवल एक अपवाद हैं न्याय विनिश्चय के टीकाकार वादी राज सूरि। उन्होंने पहले परोक्ष के दो भेद किये १ - अनुमान, और २- आगम और फिर अनुमान के मुख्य और गौण ऐसे दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का अन्तर्भाव गौण अनुमान में किया है। जैन-दर्शन द्वारा स्वीकृत इस प्रमाण-योजना का अतीन्द्रिय आत्मिक प्रत्यक्ष न्याय दर्शन में योगज प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृत है। जहाँ तक सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष या इन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रश्न है उसे सभी भारतीय दर्शनों ने प्रमाण माना है, चाहे उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद रहा हो। परोक्ष प्रमाणों में अनुमान और आगम को भी

जैनानिमत प्रमाण तालिका



अधिकांश भारतीय दर्शनों ने प्रमाण की कोटि में माना है। प्रत्यभिज्ञा को भी न्याय दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण के एक भेद के रूप में स्वीकार करता है, मात्र अन्तर यही है कि जहाँ जैन दार्शनिक उसे परोक्ष प्रमाण का भेद मानते हैं, वहाँ न्याय दर्शन उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का एक भेद मानता है। यद्यपि यह अन्तर अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि अकलंक ने तो उसे शब्द संसर्ग से रहित होने पर सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मान ही लिया था। अपने स्वरूप की दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञान में ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का योग होता है अत: वह आंशिक रूप से परोक्ष सिद्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में केवल स्मृति और तर्क ही ऐसे हैं जिन्हें अन्य दर्शनों में प्रमाण की कोटि में वर्गीकृत नहीं किया गया है। न्याय दर्शन प्रमा और अप्रमा के वर्गीकरण में स्मृति और तर्क दोनों को ही अप्रमा अथवा अयथार्थ ज्ञान मानता हैं। यद्यपि अन्नभट्ट का वर्गीकरण थोड़ा भिन्न है। वे पहले ज्ञान को स्मृति और अनुभव इन दो भागों में वर्गीकृत करते हैं और बाद में अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ इन दो भागों में बाँट देते हैं। इस प्रकार वे स्पष्ट रूप से स्मृति को अयथार्थ ज्ञान नहीं मानते हैं, तथापि जहाँ तक तर्क का प्रश्न है वे भी उसे अयथार्थ ज्ञान में ही वर्गीकृत करते हैं। यद्यपि वे उसे संशय और विपर्यय से भिन्न अवश्य मानते हैं। उन्होंने अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद किये हैं : १- संशय, २-विपर्यय, और ३-तर्क। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय दर्शन तर्क को प्रमाण की कोटि में नहीं रखता है। यद्यपि यह स्वतन्त्र प्रश्न है, कि क्या संशय, विपर्यय और तर्क एक ही स्तर के ज्ञान हैं या भिन्न-भिन्न स्तर के ज्ञान हैं ? क्या अयथार्थ ज्ञान का अर्थ भ्रमयुक्त या मिथ्याज्ञान है ? जिन पर आगे विचार करेंगे। चाहे न्याय दर्शन ने तर्क को प्रमाण नहीं माना हो फिर भी वह अपने षोडश पदार्थों में तर्क को एक स्वतन्त्र स्थान तो देता ही है तथा व्याप्ति स्थापना में तर्क की उपयोगिता को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में सांख्य-योग तथा मीमांसा दर्शन तर्क को 'प्रमाण' मानते हैं किन्तु उनके तर्क को प्रमाण मानने के सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। वह सन्दर्भ ज्ञानमीमांसा के न होकर भाषा शास्त्रीय तर्क, अतीन्द्रिय (Non-empirical) और अति-बौद्धिक (Super rational) हैं क्योंकि वह अतीन्द्रिय एवं अमूर्त सम्बन्धों (Non-empirical Reiations) को अपने ज्ञान का विषय बनाता है। उसके विषय हैं - जाति-उपजाति सम्बन्ध, जाति-व्यक्ति सम्बन्ध, सामान्य-विशेष सम्बन्ध, कार्यकारण सम्बन्ध आदि। वह आपादन (Implication), अनुवर्तिता (Entailment), वर्ग सदस्यता (Class membership), कार्यकारणता (Causality) और सामान्यता (Universality) का ज्ञान है। वह वस्तुओं को नहीं, अपितु उनके तात्त्विक स्वरूप एवं सम्बन्धों को भी जानता है इसलिए उसे आपादान का ज्ञान (Knowledge of implication) भी कहा जा सकता है। तर्क उन नियमों का द्रष्टा (यहाँ मैं द्रष्टा शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहा हूँ) है, जिनके द्वारा विश्व की वस्तुयें परस्पर सम्बन्धित या असम्बन्धित हैं, जिनके आधार पर सामान्य वाक्यों की स्थापना कर उनसे अनुमान निकाले जाते हैं और जिन्हें पाश्चात्य आगमनात्मक तर्कशास्त्र में कार्य-कारण और प्रकृति की समरूपता के नियमों के रूप में, तथा निगमनात्मक तर्कशास्त्र में विचार के नियमों के रूप में जाना जाता है और जो क्रमश: आगमन और निगमन की पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकृत है। इस प्रकार तर्क प्रमाण की विषय-वस्तु तर्क शास्त्र की अधिमान्यतायें (Postulates of Logic and Reasoning) हैं वह प्रत्यक्ष और अनुमान से तथा आगमन और निगमन से विलक्षण है। वह सम्पूर्ण तर्क शास्त्र का आधार है क्योंकि वह उस आपादन (implication) या व्याप्ति के ज्ञान को प्रदान करता है जिस पर निगमनात्मक तर्क शास्त्र टिका हुआ है और जो आगमनात्मक तर्कशास्त्र का साध्य है। तर्क का यही विलक्षण स्वरूप एक ओर उसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करता है तो दूसरी ओर उसे आगमन और निगमन के बीच एक योजक कड़ी के रूप में प्रस्तुत करता है। सम्भवत: यह न्याय शास्त्र के इतिहास में जैन तार्किकों का स्याद्वाद और

सप्तभंगी के सिद्धान्तों के बाद एक और मौलिक योगदान है। जैन दार्शनिकों के इस योगदान का सम्यक् प्रकार से मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रस्तुत तर्क के स्वरूप की समीक्षा करके यह देखें कि जैन दर्शन के द्वारा प्रस्तुत तर्क के स्वरूप की उनसे किस अर्थ में विशिष्टता है।

जैनेतर भारतीय दर्शनों में तर्क का स्वरूप :

भारतीय दर्शनों में 'तर्क' की प्रामाणिकता को स्वीकार करने वालों में जैन दर्शन के साथ-साथ सांख्य, योग एवं मीमांसा दर्शन का भी नाम आता है किन्तु इन दर्शनों ने जिन प्रसंगों में तर्क की प्रमाणिकता को स्वीकार किया वे प्रसंग बिल्कुल भिन्न हैं। सांख्य दर्शन के लिए ऊह या तर्क, वाक्यों के अर्थ निर्धारण में भाषागत नियमों की उपयोग की प्रक्रिया है। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता लिखते हैं - 'सांख्य के लिए ऊह शब्दों अथवा वाक्यों के अर्थ को निर्धारित करने के लिए मान्य भाषागत नियमों के प्रयोग की प्रक्रिया है (युक्त्या प्रयोग निरूपणमूह: - न्यायमंजरी, पृ. ५८८)[६] पतंजलि ने भी व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन हेतु ऊह की प्रमाणिकता को स्वीकार किया है क्योंकि वेदादि में सभी लिंगों और विभक्तियों में मंत्रों का कथन हुआ है अत: देवता द्रव्य का ध्यान रखकर उनमें परिणमन कर लेना चाहिए (महाभाष्य १/१११) यहाँ ऊह भाषायी विवेक और भाषायी नियमों के पालन से अधिक कुछ नहीं है। भाषायी नियमों के आधार पर स्वरूप एवं अर्थ को निर्धारित करने की प्रक्रिया वस्तुत: अनुमान का ही एक रूप है। अत: तर्क अनुमान के ही अन्तर्गत है उसका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। इस प्रकार इन दोनों दर्शनों में ही तर्क का प्रसंग ज्ञानमीमांसीय न होकर भाषाशास्त्रीय ही है। मीमांसा दर्शन में भी तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है किन्तु उसका सन्दर्भ भी प्रमाण-मीमांसा का न होकर विशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड सम्बन्धी भाषा का ही है। मीमांसा कोष में ऊह के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है - अन्यथा श्रुतस्य शब्दस्य अन्यथा लिंग वचनादिभेदेन विपरिणमनं ऊह: अर्थात् मंत्र आदि में दिये गये मूल पाठ में विनियोग के अनुसार लिंग वचन आदि में परिवर्तन करना ऊह कहा जाता है। मीमांसा शास्त्र के सम्पूर्ण नवम अध्याय के चार पादों के २२४ सूत्रों में ऊह पर विस्तार से विचार किया गया है किन्तु सारा प्रसंग कर्मकाण्डीय भाषाशास्त्र का ही है। उनमें तीन प्रकार के ऊह माने गये हैं : १- मंत्र विषयक ऊह, २- साम विषयक ऊह, और ३- संस्कार विषयक ऊह। किन्तु तीनों के सन्दर्भ कर्मकाण्डीय भाषा से सम्बन्धित हैं। भाट्ट दीपिकाकार का कथन है कि प्रकृति योग (अर्थात् जिसके लिए वह मंत्र रचा गया है) में पठित मंत्र का विकृति योग में उसके अनुरूप परिवर्तन कर लेना ही ऊह है।[८] उदाहरण के लिए यज्ञ कर्म में जहाँ ब्रीहि (चावल) द्रव्य है वहाँ अवहनन ब्रीहि में किया जाता है। यही यज्ञ कर्म अगर नीवार (जंगली चावल) से किया जावे तो अवहनन नीवार में सम्पन्न होगा। यह द्रव्य विषयक ऊह है। इसी प्रकार अग्नि देवता के लिए चरु निर्वपन करते समय 'आग्नेयत्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र का प्रयोग प्रकृत है किन्तु जब अग्नि के स्थान पर सूर्य देवता के लिए चरु निर्वपन करना हो तो चतुर्थी विभक्त्यन्त सूर्य शब्द का प्रयोग करते हुए 'सूर्यामत्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र का प्रयोग होता है। यह मंत्र श्रुति में पठित नहीं है किन्तु ऊह सिद्ध है[९]। संक्षेप में यज्ञ एवं संस्कार आदि को सम्पन्न करते समय देवता, द्रव्य, यजमान आदि का ध्यान रखते हुए परिस्थिति के अनुरूप मंत्रों के शब्दों तथा लिंग, वचन एवं विभक्ति आदि में परिवर्तन कर लेना ऊह या तर्क है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन में ऊह या तर्क का अर्थ कर्मकाण्डीय भाषा के विवेक से अधिक कुछ नहीं है।

संक्षेप में उपरोक्त तीनों दर्शनों में तर्क का कार्य या तो व्याकरण सम्बन्धी नियमों का ध्यान रखते हुए शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण करना है या यज्ञ-योग आदि कर्मों को सम्पन्न करते समय भाषायी-विवेक का उपयोग है। चाहे इन दर्शनों ने तर्क की प्रमाणिकता को स्वीकार किया हो किन्तु न तो वे उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं और न व्याप्ति ग्रहण में उसके योगदान को ही स्वीकार करते हैं।

न्याय दर्शन में तर्क का स्वरूप : तुलनात्मक विवेचन :

न्याय दर्शन यद्यपि तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं मानता है फिर भी वह उसे प्रमाण ज्ञान एवं व्याप्ति ग्रहण में सहयोगी अवश्य मानता है। वात्स्यायन कहते हैं कि-

तर्को न प्रमाण संग्रहितो न प्रमाणन्तरम् ।
प्रमाणानामनुग्राहक स्तावज्ज्ञानाय परिकल्प्यते ॥[१०]

अर्थात् तर्क न तो स्वीकृत प्रमाणों में समाविष्ट किया जाता है और न वह पृथक् प्रमाण ही है किन्तु वह एक ऐसा व्यापार है जो प्रमाणों के सत्य ज्ञान को निर्धारित करने में सहायता देता है। विश्वनाथ कहते हैं[११] कि तर्क हेतु के व्यभिचार में सम्भाव्य उदाहरणों के सम्बन्ध में संशय का निवारण करता है और इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान को अचूक बना देता है अर्थात् परोक्ष रूप से व्याप्ति ग्रहण में सहायक होता है। इस प्रकार लगभग सभी न्याय-दार्शनिक व्याप्ति ग्रहण में तर्क की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं ।

न्याय सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं[१२] कि 'जिस वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं है उस विषय को यथार्थत: जानने के लिए स्वाभाविक रूप से जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे जिज्ञासा कहा जाता है, जिज्ञासा के पश्चात् यह विचार उठता है कि इसका कारण यह है या वह ? इस प्रकार यहाँ परस्पर भिन्न दो कोटियाँ उपस्थित हो जाती हैं, इन दो कोटियों में कौन-सी ठीक है यह संशय या विमर्श ? दोनों कोटियों में से यथार्थ कोटि को जानने के लिए एवं उक्त संशय से मुक्ति पाने के लिए उन संदिग्ध पक्षों में जिस ओर भी कारण की उपपत्ति दृष्टिगोचर होती है, उसी सम्भावना को तर्क कहा जाता है। अत: तार्किक ज्ञान निर्णयात्मक 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का न होकर इसे ऐसा होना चाहिए या यह ऐसा हो सकता है' इस प्रकार का होता है। अत: तर्क एक सम्भावना मूलक ज्ञान है। उदयन का कथन है कि 'एव' शब्दार्थ अर्थात् 'यह ऐसा ही है' को विषय करती हुई किन्तु एव शब्द से विहित कारण की उत्पत्ति द्वारा एक पक्ष का बोधन करती हुई संशय तथा निर्णय के मध्य में होने वाली सम्भावना मूलक प्रतीति तर्क कहलाती है। न्याय दर्शन में तर्क संशय और निर्णय के बीच दोलन की अवस्था है। यद्यपि वह निर्णयाभिमुख अवश्य होती है। संशय में प्रतीति उभय पक्ष अवगाहिनी होती है जैसे 'यह स्तम्भ है या पुरुष'। जबकि निर्णय में वह निश्चित रूप से एक ही पक्ष को ग्रहण करती है। जैसे यह पुरुष ही है। तर्क में वह निर्णयोन्मुखी तो होती है किन्तु निश्चयात्मक नहीं जैसे 'यह पुरुष होगा या यह पुरुष हो सकता है'। इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क शब्द को न्याय दर्शन जिस अर्थ में ग्रहण करता है वह उसके जैन दर्शन में गृहीत अर्थ से भिन्न है। वस्तुत: न्याय दर्शन के तर्क का स्वरूप जैन दर्शन के 'ईहा' शब्द के समान है। जैन दार्शनिकों ने ईहा शब्द की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह भी ठीक ऐसी ही है। प्रमाण नयतत्त्वालोक में ईहा की परिभाषा निम्न प्रकार दी गई है -

'अवग्रहीतार्थ विशेषाकांक्षणमीहा' (२/८) अर्थात् अवग्रह में जिस विषय का ज्ञान होता है उसका ही विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना ईहा है। मान लीजिये कि मुझे कोई शब्द सुनाई दिया है - वह अवग्रह है किन्तु शब्द सुनने पर हम यह सोचते हैं कि वह किसका शब्द है, पुरुष का या स्त्री का ? यह संशय है- इस संशय से हम उस स्वर की विभिन्न स्वरों से तुलना करते हैं और यह पाते हैं कि यह स्वर पुरुष का नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें माधुर्य है अत: इसे स्त्री का स्वर होना चाहिए। संशय में दोनों पलड़े बराबर रहते हैं किन्तु ईहा में अन्य साधक प्रमाणों के कारण ज्ञान का झुकाव उस ओर हो जाता है, जिसका निश्चय हम आवाय (निर्णय) में करते हैं, अत: यदि हम आवाय को निर्णय कहें तो ईहा निर्णय की पूर्वावस्था होगी। चूँकि जैन दर्शन ईहा और न्याय दर्शन का तर्क दोनों निर्णय के पूर्व की अवस्था है अत: दोनों समान हैं। दोनों में ही ज्ञान का स्वरूप निर्णायक न होकर निर्णयोन्मुख ही होता है। ऐसा लगता है कि प्रमाण युग के पूर्व तक जैन दार्शनिक भी तर्क के निश्चयात्मक स्वरूप की स्थापना नहीं कर पाये

थे। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ भाष्य में ईहा के पर्यायवाची शब्दों में ईहा और तर्क दोनों का प्रयोग किया है। इससे हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रमाण युग के पूर्व तक न्याय दर्शन के तर्क और जैन दर्शन के ईहा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं था। सम्भवत: यह प्रश्न तब उपस्थित हुआ होगा जबकि व्याप्ति के ग्रहण की समस्या उपस्थित हुई होगी। व्याप्ति का ग्रहण केवल निश्चयात्मक ज्ञान से ही सम्भव था। और इसलिए जहाँ जैन दार्शनिकों को ईहा से स्वतन्त्र तर्क की प्रमाण के रूप में स्थापना करनी पड़ी, वहीं न्याय दार्शनिकों को सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के रूप में प्रत्यक्ष के ही एक नवीन प्रकार की कल्पना करनी पड़ी। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे। वात्स्यायन ने तर्क की जो परिभाषा प्रस्तुत की थी और जैन दार्शनिकों ने ईहा का जो स्वरूप स्पष्ट किया था, वह पाश्चात्य आगमनात्मक तर्क शास्त्र में स्वीकृत परिकल्पना (Hypothesis) के समान है।

जैन दर्शन की ईहा, न्याय दर्शन का तर्क और पाश्चात्य आगमनात्मक तर्कशास्त्र की प्राक्कल्पना- तीनों ही निर्णयाभिमुख एवं निर्णय के सम्बन्ध में सुझाव देने वाली निर्णय के पूर्व की अवस्था में है और इस रूप में तीनों में समानता परिलक्षित होती हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों ने वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की व्याख्या भी इसी रूप में की है। प्राक्कल्पना वह कल्पना है जिसके सत्य होने की सर्वाधिक सम्भावना होती है। यह बात प्राक्कल्पना के एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। मान लीजिए हम किसी जिले में अधिक चोरियाँ होने की घटना की व्याख्या करना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि यदि इस जिले में अधिक चोरियाँ होती हैं तो या तो यहाँ के निवासी आपराधिक प्रवृत्ति के हैं या यहाँ की पुलिस सजग नहीं है या लोगों में गरीबी बढ़ गई है। हम यह पाते हैं कि यहाँ के लोग आपराधिक प्रवृत्ति के नहीं हैं अन्यथा पूर्व वर्षों में भी चोरियाँ अधिक होनी थीं किन्तु ऐसी बात नहीं है। अत: यह विकल्प निरस्त हो जाता है, किन्तु दूसरा विकल्प पुलिस सजग नहीं है इसलिए निरस्त हो जाता है कि चोरी के लगभग सभी केस पकड़े जा रहे हैं अत: हम इस निश्चय की ओर अभिमुख होते हैं कि सम्भावना यही हो सकती है कि यहाँ के लोगों में गरीबी बढ़ गयी है। यही सम्भावित कारण है कि कल्पना प्राक्कल्पना है। प्रतीकात्मक दृष्टि से इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है -

$\text{त}_1 \supset \text{सं} (\text{क}_1 \vee \text{क}_2 \vee \text{क}_3)$ ..... विकल्प

$(\sim \text{क}_1 \,.\, \sim \text{क}_2)$ ..... विकल्प निषेध

$\text{त}_1 \supset \text{सं} (\text{क}_3)$ ..... सम्भावित निर्णय (प्राक्कल्पना)

जबकि -

त = तथ्य, कार्य या घटना (परवर्ती)

सं = सम्भावना

क = कारण या पूर्ववर्ती

$\supset$ = कारण सम्बन्ध-आपादन

$\vee$ = विकल्प

$\sim$ = निषेध

इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी - किसी तथ्य, कार्य अथवा घटना के सम्बन्ध में कुछ सम्भावित विकल्प परिलक्षित होते हैं, एक को छोड़कर शेष सम्भावित विकल्प आनुभविक या तार्किक आधार पर निरस्त हो जाते हैं अत: इस निर्णय की ओर अभिमुख होते हैं कि वह तथ्य, कार्य या घटना, उस अवशिष्ट विकल्प से सम्बन्धित हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईहा, तर्क (न्याय-दर्शन) और प्राक्कल्पना तीनों ही हमें संशय के

विभिन्न विकल्पों का निरसन करते हुए किसी सर्वाधिक सम्भावित सत्यता की ओर पहुँचाने का प्रयास करती हैं। तीनों का निर्णय सम्भावित और सुझावात्मक होता है। उसका भाषायी रूप होता है 'इसे ऐसा होना चाहिए' या 'यह ऐसा हो सकता है'। किन्तु निष्कर्ष के इस भाषायी स्वरूप की एकरूपता के आधार पर हमें इन्हें एक मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। गम्भीरता से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये तीनों एक नहीं है। प्रथम तो यह कि इनके विचार की विषय वस्तु भिन्न-भिन्न हैं और दूसरे यह कि ईहा, प्राक्कल्पना और तर्क का प्रतीकात्मक स्वरूप भी एक नहीं है। सम्भवत: न्याय दार्शनिक इसी भ्रान्ति के कारण तर्क को सीधे-सीधे व्याप्ति ग्राहक नहीं मानकर मात्र सहयोगी मानते रहे। यदि 'तर्क' का भी वास्तविक रूप सम्भावनामूलक ही है तो निश्चय ही न्याय दार्शनिकों की यह धारणा सत्य होती कि इस पद्धति से व्याप्ति ग्रहण नहीं हो सकता है। प्रथम तो यह कि सम्भावित विकल्पों का निरसन करते हुए हमारे पास जो अवशिष्ट विकल्प रह जायेगा वह भी सम्भावित ही होगा, निर्णय नहीं। दूसरे यह कि सम्भावित विकल्पों के निरसन की इस पद्धति के द्वारा अविनाभाव या व्याप्ति ग्रहण कभी भी सम्भव नहीं है। क्योंकि इस बात की क्या गारण्टी है कि सभी सम्भावित विकल्पों को जान लिया गया है और उसकी तथा व्याख्या के सम्बन्ध में जितने भी विकल्प हो सकते हैं उनमें एक को छोड़कर शेष सभी निरस्त हो गये। जब तक हम इस सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं हो जाते (जो कि सम्भव नहीं है) व्याप्ति या अविनाभाव को नहीं जान सकते। तीसरे यदि यह विधि ऐन्द्रिक अनुभव पर आधारित है तो केवल जो कारण नहीं है उनके निरसन में ही सहायक हो सकती है, व्याप्ति ग्राहक नहीं। जैन दार्शनिकों का यह मानना कि चाहे ईहात्मक ज्ञान प्रमाणिक हो किन्तु उससे व्याप्ति ग्रहण नहीं, उचित ही है। पाश्चात्य तार्किकों के द्वारा कारण सम्बन्ध की खोज में प्राक्कल्पना की सुझावात्मक भूमिका मानना भी सही है और यदि तर्क का यही स्वरूप होता तो नैयायिकों का यह मानना भी सही होता कि तर्क व्याप्ति ग्रहण मात्र में मात्र सहयोगी है। किन्तु मेरी दृष्टि में तर्क का वास्तविक स्वरूप ऐसा नहीं है जैसा कि वात्स्यायन एवं जयन्त आदि टीकाकारों ने मान लिया है। स्वयं डॉ. बारलिंगे ने भी तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके इस दृष्टिकोण को समुचित नहीं माना है। वे लिखते हैं - It appears to me that this particular function of Tarka has been overlooked by commentators of Nyaya Sutra and by many other Logicians (A modern Introduction to Indian Logic p. 123) सर्वप्रथम तो हमें यह जान लेना चाहिए कि तर्क का विषय वस्तु के गुणों का ज्ञान या विधेय ज्ञान नहीं है। अपितु कार्य-कारण सम्बन्ध, अविनाभाव सम्बन्ध या आपादान सम्बन्ध का ज्ञान है। "यह पुरुष हो सकता" इस प्रकार के ज्ञान का तर्क से कोई लेना-देना नहीं है। यह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। इस समस्त भ्रान्ति के पीछे न्याय सूत्र में दी गई तर्क की परिभाषा की गलत व्याख्या है। न्याय सूत्र में तर्क की निम्न परिभाषा दी गई है -

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क: । न्याय सूत्र १/४०

वस्तुत: यहाँ तर्क का तात्पर्य मात्र अविज्ञात वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के लिए की गई ऊहा (बौद्धिक) से नहीं है। अपितु इसमें महत्त्वपूर्ण शब्द है - 'कारणोपपत्तित:' वह कारण सम्बन्ध की युक्ति द्वारा होने वाला तत्त्वज्ञान है या तो तथ्यों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान है। जब तर्क कार्य-कारण सम्बन्ध सूचित करता है तो फिर तर्क सम्भावना मूलक एवं अनिश्चित ज्ञान है, यह कहने का क्या आधार है ? उपपत्तित: शब्द सिद्ध होने (To be proved) का सूचक है और जब कार्य-कारण भाव सिद्ध हो गया तो फिर वह सम्भावना मूलक एवं अनिश्चित ज्ञान कैसे कहा जा सकता है। दूसरे मूल सूत्र में कहीं ऐसा संकेत नहीं कि जिससे यह कहा जा सके कि तर्क सम्भावनात्मक या अनिश्चित ज्ञान है। अत: नैयायिकों की यह धारणा कि तर्क सम्भावना मूलक ज्ञान है, स्वत: खण्डित हो जाती है। साथ

ही सूत्र में रखा गया 'तत्त्वज्ञानार्थम्' शब्द भी इसी बात को सिद्ध करता है कि तर्क वस्तु के मूर्त या बाह्य स्वरूप का ज्ञान ही नहीं अपितु अमूर्त (Non-empirical) स्वरूप का ज्ञान है, वह वस्तु ज्ञान (Material Knowledge) नहीं, तत्त्व ज्ञान (Metaphysical knowledge) है।

जैसा कि हमने पूर्व में बताया तर्क का विषय अविनाभाव सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, जाति-जाति सम्बन्ध, वर्ग सदस्यता सम्बन्ध आदि है। तर्क किसी धूम विशेष या अग्नि विशेष को नहीं अपितु धूम जाति और अग्नि जाति को अपना विषय बनाता है। क्योंकि धूम विशेष या अग्नि विशेष से हजारों उदाहरण भी व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं दे सकते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इसके लिए विशेष का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार सामान्य विशेष से पृथक् नहीं पाया जाता है। फिर व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध की सिद्धि सामान्य के ज्ञान से होगी विशेष के ज्ञान से नहीं। तर्क सामान्य का ज्ञान है। न्याय दार्शनिक तर्क की इस प्रकृति को स्पष्ट नहीं कर सके। अत: व्याप्ति ग्रहण की इस समस्या को सुलझाने हेतु उन्हें सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के नाम से एक नये प्रकार के प्रत्यक्ष की कल्पना करनी पड़ी। तुलनात्मक दृष्टि से जैन दर्शन का तर्क न्याय दर्शन के तर्क और सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के योग के बराबर है। मात्र यही नहीं जैन दार्शनिकों ने तर्क की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह इतनी व्यापक है कि उसमें व्याप्ति ग्रहण के इतर साधनों का भी समावेश हो जाता है। स्याद्वाद मंजरी में तर्क की निम्न परिभाषा दी गई है -

> उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलित साध्य साधन सम्बन्धाद्या
> लम्बनमिदस्मिन सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्का-
> परपर्याय यथा यावत् कश्चिद् धूम: स सर्वा वह्नौ सत्येव
> भवतीति तस्मिन्नसति अहौ न भवत्येवेतिवा ।
>
> - स्याद्वाद मंजरी २८

उपलम्भ अर्थात् सहचार दर्शन और अनुपलम्भ अर्थात् व्यभिचार अदर्शन से फलित साध्यसाधन के त्रैकालिक सम्बन्ध आदि के ज्ञान का आधार तथा 'इसके होने पर ही यह होना' जैसे यदि कोई धुआँ है तो वह सब अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है' इस आकार वाला जो (मानसिक) संवेदन है वह ऊह है उसका ही दूसरा नाम तर्क है। लगभग सभी जैन दार्शनिकों ने तर्क की अपनी व्याख्या में उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्दों का प्रयोग किया है। सामान्यतया उपलम्भ का अर्थ उपलब्धि होता है। लाक्षणिक दृष्टि से उपलम्भ का अर्थ है एक की उपलब्धि पर दूसरे की उपलब्धि अर्थात् अन्वय या सहचार और अनुपलम्भ का अर्थ है एक की अनुपलब्धि (अभाव) पर दूसरे की अनुपलब्धि (अभाव) अर्थात् व्यतिरेक। किन्तु अनुपलम्भ का एक दूसरा भी अर्थ है, वह है व्याघात के उदाहरण की अनुपलब्धि अर्थात् व्यभिचार अदर्शन। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार अन्वय, व्यतिरेक रूप सहचार दर्शन और व्यभिचार अदर्शन के निमित्त से तर्क के द्वारा व्याप्ति ज्ञान होता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अन्वय और व्यतिरेक दोनों सहचार के ही रूप है। एक उपस्थिति में सहचार है और दूसरा अनुपस्थिति में सहचार है। फिर भी ये तीनों सीधे व्याप्ति के ग्राहक नहीं हैं क्योंकि आनुभविक तथ्य प्रत्यक्ष के ही रूप हैं (जैन दार्शनिक अनुपलब्धि या अभाव का समावेश भी प्रत्यक्ष में ही करते हैं)। अत: इनसे व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं है। कोई भी आनुभविक पद्धति चाहे वह अन्वय-व्यतिरेक हो या उनका ही मिलाजुला कोई अन्य रूप हो, व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं करा सकती। पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम ने भी इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अनुभववाद या प्रत्यक्ष के माध्यम से कार्य-कारण ज्ञान अर्थात् व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रत्यक्षाधारित आगमन कभी भी सार्वकालिक और सार्वदैशिक सामान्य वाक्य की स्थापना नहीं कर सकती है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने तर्क की

परिभाषा में अन्वय व्यतिरेक एवं व्यभिचार अदर्शन रूप प्रत्यक्ष के तथ्यों को केवल व्याप्ति का निमित्त या सहयोगी मात्र माना। उनके अनुसार वस्तुत: व्याप्ति का ग्रहण उस आकारिक (मानसिक) संवेदन से होता है जो त्रैकालिक साध्य-साधन सम्बन्ध को अपना विषय बनाकर यह निर्णय देता है कि 'इसके होने पर यह होगा'। तर्क की उपरोक्त परिभाषा में महत्त्वपूर्ण शब्द है - इति आकारं संवेदनं ऊह: तर्का पर पर्याय।

इस प्रकार व्याप्ति के ज्ञान ग्राहक तर्क में एक अन्त: प्रज्ञात्मक तत्त्व होता है जो प्रत्यक्ष के अनुभवों को अपना आधार बनाकर अपना त्रैकालिक निर्णय देता है या सामान्य वाक्य की स्थापना करता है।

तर्क तथा आगमन की प्रकृति को लेकर अभी काफी विवाद चल रहा है। डॉ. बारलिंगे तर्क को आपादन (Implication) या निगमनात्मक मानते हैं। उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ इस मत का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ A Modern Introduction to Indian Logic में किया है। इसके विपरीत डॉ. भारद्वाज ने विश्व दर्शन कांग्रेस के देहली अधिवेशन में पठित अपने निबन्ध में न्याय सूत्र के टीकाकारों के मत की रक्षा करते हुए तर्क को व्यभिचार शंका प्रतिबन्धक (Tarka as Contrafactual condition) माना है जो कि उसके आगमनात्मक पक्ष पर बल देता है। किन्तु ऐसा तर्क व्याप्ति ग्राहक नहीं बन सकता, केवल सहयोगी बन सकता है। अत: उसमें अन्त:प्रज्ञात्मक पक्ष को स्वीकार करना आवश्यक है। स्वयं डॉ. बारलिंगे ने तर्क को अनानुभविक (Non-empirical) माना है। वस्तुत: व्याप्ति ग्रहण के लिए एक अनानुभविक पद्धति चाहिए। इसीलिए न्याय दार्शनिकों ने व्याप्ति ग्रहण का अन्तिम एवं सीधा उपाय सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति को माना जो कि अनानुभविक एवं अन्त:प्रज्ञात्मक है। डॉ. बारलिंगे ने भी स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं - It is not also ordinary perception because there is no Indriya Sanni karsha with smoke in all the cases, उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि अमूर्त जाति सम्बन्ध के ज्ञान के लिए ऐसी ही अनानुभाविक पद्धति आवश्यक है। जैन दार्शनिकों ने तर्क को एक अतीन्द्रिय अर्थात् ऐन्द्रिक अनुभवों पर आधारित किन्तु उनसे पार जाने वाला, उनका अतिक्रमण करने वाला मानकर इस आवश्यकता की पूर्ति कर ली है। डॉ. प्रणव कुमार सेन ने विश्व दर्शन परिषद् के देहली अधिवेशन में प्रस्तुत अपने लेख में इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि समस्या चाहे आगमन की हो या निगमन की, उन्हें बिना अन्त: प्रज्ञात्मक आधार के सुलझाया नहीं जा सकता है (देखिए Knowledge, Culture and Value, p. 41-50) जैन दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति और जाति में कथंचित् अभेद है, अत: तर्क अपनी अन्त:प्रज्ञात्मक शक्ति के द्वारा विशेष के प्रत्यक्षीकरण के समय ही सामान्य को भी जान लेता है और इस प्रकार विशेषों के प्रत्यक्ष के आधार पर सामान्य वाक्य की स्थापना की जा सकती है। यह कार्य अन्त: प्रज्ञा या तर्क के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी अन्य प्रमाण के द्वारा सम्भव नहीं है।

ईहा का स्वरूप और तर्क से उसकी भिन्नता :

यह सत्य है कि जैन दार्शनिकों ने प्रारम्भ में ईहा और तर्क को पर्यायवाची माना था किन्तु प्रमाण युग में ईहा और तर्क दोनों स्वतन्त्र मान लिये गये थे। यद्यपि यह प्रश्न स्वतन्त्र रूप से विचारणीय अवश्य है कि जैन दार्शनिकों ने ईहा के स्वरूप को, जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उस रूप में क्या उसे प्रमाण माना जा सकता है ? क्योंकि ईहा निर्णयात्मक ज्ञान नहीं होकर यह तो मात्र ज्ञान प्रक्रिया (Process of knowledge) है। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष से अनुमान तक की ज्ञान प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है -

ऐन्द्रिक संवेदन ··· अवग्रह ··· संशय ··· ईहा ··· अवाय

धारणा ··· स्मृति ··· प्रत्यभिज्ञा ··· तर्क ··· अनुमान

इसमें संशय और धारणा को छोड़कर शेष सभी को प्रमाण माना है - यद्यपि ये किस अर्थ में प्रमाण हैं यह एक अलग प्रश्न है - जिस पर किसी स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जा सकता है, किन्तु मैं अभी इस प्रश्न को हाथ में लेना नहीं चाहूँगा। यहाँ मूल प्रश्न यह है कि ईहा से स्वतन्त्र तर्क को प्रमाण क्यों मानना पड़ा। मेरी दृष्टि में इसका मूल आधार व्याप्ति ग्रहण की समस्या ही रही होगी। अनुमान के लिए व्याप्ति ग्रहण एक अनिवार्य पूर्व शर्त (Pre-condition) है और ईहा से व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं था। प्रमाणमीमांसा में ईहा की चर्चा के प्रसंग में यह प्रश्न उठाया गया था कि यदि ईहा और तर्क एक ही अर्थ के द्योतक हैं तो फिर ईहा से पृथक् तर्क को पृथक् प्रमाण क्यों माना गया ? उसके उत्तर में कहा गया कि ईहा वर्तमान में उपस्थित अर्थ को ही अपना विषय बनाती है। अत: उसके आधार पर त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव नहीं है। पुन: ईहा प्रत्यक्ष के विषय को अर्थात् मूर्त वस्तु के ज्ञान को विषय बनाती है किन्तु व्याप्ति ज्ञान या कार्य-कारण भाव या जाति के प्रत्यय अमूर्त हैं, अत: वे ऐन्द्रिक ज्ञान के विषय नहीं बनते। तर्क एवं ईहा के स्वरूप में अन्तर है - (१) सर्वप्रथम ईहा विशेष का ज्ञान है जबकि तर्क सामान्य का ज्ञान है, (२) दूसरे ईहा वस्तु के गुण-धर्मों का ज्ञान है जबकि तर्क सम्बन्धों का ज्ञान है, (३) तीसरे ईहा के निर्णय के पूर्व की या संशय और निर्णय के मध्य निर्णयोन्मुख दोलन की अवस्था है जबकि तर्क निर्णयात्मक है, (४) चौथे ईहा ऐन्द्रिक और बौद्धिक ज्ञान है जबकि तर्क में अन्त:प्रज्ञा का तत्त्व होता है, (५) पाचवाँ ईहा वर्तमान कालिक ज्ञान है जबकि तर्क त्रैकालिक ज्ञान है। अत: ईहा और तर्क में पर्याप्त अन्तर है क्योंकि तर्क व्याप्ति-ग्राहक नहीं है। अत: तर्क को ईहा से स्वतन्त्र प्रमाण इसलिए मानना पड़ा कि ईहा का अन्तर्भाव तो लौकिक प्रत्यक्ष में होता है जबकि तर्क का अन्तर्भाव परोक्ष ज्ञान में किया गया है। अत: दोनों को अलग-अलग प्रमाण मानना आवश्यक है।

ईहा का प्रतीकात्मक स्वरूप भी तर्क से भिन्न है। ईहा के पूर्व जो संशय होता है वह कार्य-कारण, अविनाभाव या आपादान के सम्बन्ध में नहीं होकर केवल विधेय के सम्बन्ध में होता है। यह स्वर स्त्री का है या पुरुष का ? तथा यह स्तम्भ है या पुरुष ऐसे वाक्यों में संशय इस बारे में भी होता है कि विधेय के इन वैकल्पिक वर्गों में उद्देश्य किस वर्ग का सदस्य है। अत: ईहा का जो सुझावात्मक निर्णय होता है वह आपादान के बारे में न होकर वर्ग सदस्यता के बारे में होता है। उसका प्रतीकात्मक रूप होता है -

$उ_1 \quad सं\,(वि_1 \vee वि_2)$ .... संशय

$\sim \quad वि_2$ .... विकल्प निषेध

$\therefore उ \subset सं\,(वि_1)$ .... सम्भावित निर्णय (ईहा)

जबकि -

उ = उद्देश्य

वि = विधेय

सं = सम्भावना

$\subset$ = विधेय सम्बन्ध या सदस्यता

$\sim$ = निषेध

इस प्रकार प्रतीकात्मक दृष्टि से विचार करने पर तीनों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

तर्क का संशय निवर्तक स्वरूप :

न्याय दार्शनिक तर्क को संशय निवर्तक मानते हैं, किन्तु जैन दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से तर्क के इस स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। इसका कारण यह हो सकता है कि उनके अनुसार तर्क व्याप्ति ग्राहक है, अत: संशय का निवर्तन उसकी पूर्व अवस्था ही हो सकती है, स्वरूप नहीं। उन्होंने इस प्रक्रिया का अन्तर्भाव अनुपलम्भ में कर लिया है। सहचार दर्शन के पश्चात् जो विकल्प या संशय बनते

हैं उनका निरसन व्यभिचार अदर्शन में हो जाता है। जहाँ तक न्याय दार्शनिकों का प्रश्न है वे स्पष्ट रूप से तर्क को 'क्वचिच्छिकानिवर्तक' कहते हैं। अत: इस सम्बन्ध में विचार करना अपेक्षित है कि तर्क किस प्रकार के संशय को छिन्न करता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तर्क विधेय सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है अत: उसके द्वारा जिन संशयों को छिन्न किया जाता है वे इस रूप में नहीं होते कि यह स्तम्भ है या पुरुष ? अथवा यह स्वर स्त्री का है या पुरुष का ? अत: तर्क में संशय का प्रतीकात्मक स्वरूप त$_1$ ⊂ क$_1$ ∨ क$_2$ ऐसा नहीं है। यहाँ संशय वस्तु के स्वरूप के बारे में न होकर आपादन, अविनाभाव और कार्य-कारण आदि के सम्बन्धों के बारे में होते हैं। जब संशय सम्बन्ध के बारे में ही होता है तो उसका प्रतीकात्मक स्वरूप निम्न होगा (हे ⊃ सा) ∨ ∼ (हे ⊃ सा)। यहाँ विकल्प व्याप्ति के होने या नहीं होने के बारे में ही होता है। इस संशय का निवर्तन तभी हो सकता है जब हेतु (धूम) साध्य (अग्नि) के अभाव में भी कहीं उपलब्ध हो, ऐसा प्रत्यक्ष में उदाहरण नहीं मिलने से अर्थात् व्यभिचार के अदर्शन से संशय छिन्न हो जाता है। क्योंकि यदि धूम और अग्नि में अविनाभाव नहीं होता तो अग्नि के अभाव में भी कहीं धूम उपलब्ध होता अर्थात् 'हे ⊂ सा' अथवा ∼ सा . हे' का उदाहरण मिलना था, चूँकि ऐसा उदाहरण नहीं मिला है अत: उनमें व्याप्ति है। न्याय दर्शन तर्क को केवल संशय छेदक मानता है किन्तु जैन दर्शन व्याप्ति ग्राहक के रूप में उसके निश्चयात्मक एवं विधायक कार्य को भी स्पष्ट कर देता है। जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि अनुपलब्धि अर्थात् व्यभिचार अदर्शन से सन्देह का निवर्तन हो जाने पर जो ज्ञान होगा वह निश्चयात्मक ही होगा। अत: यह तर्क संशय निवर्तक है तो वह उसी समय व्याप्ति ग्राहक भी है।

तर्क का प्रतीकात्मक स्वरूप :

तर्क का कोई प्रतीकात्मक स्वरूप निश्चित कर पाना इसलिए कठिन है कि वह एक छलाँग (Leap) की अवस्था है। विशेषों के ज्ञान के आधार पर हम सामान्य की स्थापना अवश्य करते हैं किन्तु इसका कोई नियम नहीं बताया जा सकता है, यह अन्त:प्रज्ञा की आश्वस्ति है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में जिस कार्य-कारण सम्बन्ध के ज्ञान पर या प्रकृति की समरूपता के नियम के आधार पर सामान्य ज्ञान का दावा किया जाता है, वह भी आधुनिक आधार पर तो सिद्ध नहीं होता है। ह्यूम ने इसीलिए उसे एक विश्वास (Belief) मात्र कहा था। फिर भी यह न तो अन्धविश्वास है और न साधारण विश्वास ही, अपितु वह हमारी अन्त:प्रज्ञा की आश्वस्ति है, एक विवेक पूर्ण बौद्धिक आस्था है जिसकी सत्यता के बारे में हमें कोई अनिश्चय नहीं है। यदि हम तर्क के इस स्वरूप को मान्य करते हैं तो उसे कोई प्रतीकात्मक रूप देना कठिन है। किन्तु जैन दार्शनिकों ने 'व्याप्तिज्ञानसमूह:' कहकर प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद मानते हुए तर्क का तादात्म्य व्याप्ति ज्ञान से किया है। अत: व्याप्ति ज्ञान की जो प्रक्रिया है उसी आधार पर तर्क के प्रतीकात्मक स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है -

(१) हे . सा - सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय दृष्टान्त - भावात्मक उपलम्भ

(२) ∼ सा . ∼ हे - सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त - अभावात्मक उपलम्भ

(३) ∼ (हे . ∼ सा)
 ∼ (∼ सा . हे) | व्यभिचार अदर्शन-अनुपलम्भ

(४) ∴ स (हे ⊃ सा) — व्याप्ति सुझाव

(५) (हे ⊃ सा) ∨ ∼ (हे ⊃ सा) — संशय

(६) ∼ (∼ सा . हे) — संशय निरसन - व्यभिचार अदर्शन के आधार पर

(७) ∼ सा ⊃ ∼ हे — व्याप्ति (अभावात्मक)

(८) हे ⊃ सा — व्याप्ति (भावात्मक)

जबकि -

हे = हेतु

सा = साध्य

• = सहभाव

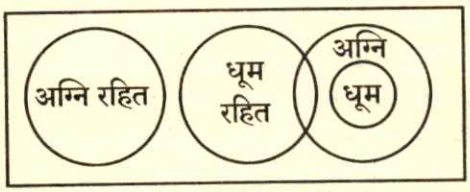
⊃ = आपादन

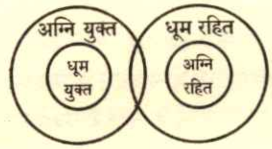
∽ = निषेध

⊃ ∽ = आपादन निषेध

इसे निम्न ठोस उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है - यदि हम वह परम्परागत उदाहरण लें जिसमें धुआँ हेतु है और अग्नि साध्य है तो सर्वप्रथम (१) धुआँ के साथ अग्नि का सहचार देखा जाता है (यद्सत्वेयद्सत्वं)। (२) अग्नि के अभाव में धुएँ का भी अभाव देखा जाता है (यद्भावे यद्भाव:)। इसप्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों में सहचार देखा जाता है। पुन: (३) ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं देखा जाता है कि धुआँ है किन्तु अग्नि नहीं है अथवा अग्नि नहीं है और धुआँ है। (४) इसलिए सम्भावना यह प्रतीत होती है कि धूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध या अबिनाभाव सम्बन्ध होना चाहिए। (५) पुन: यह संशय हो सकता है कि धुएँ और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध होगा या नहीं होगा। (६) किन्तु यह दूसरा विकल्प सत्य नहीं है क्योंकि अग्नि के अभाव में धूम की उपस्थिति का एक भी व्यभिचारी उदाहरण नहीं मिला है। (७) अत: निष्कर्ष यह है कि अग्नि के अभाव में धुएँ के अभाव का व्याप्ति सम्बन्ध या अविनाभाव सम्बन्ध है। (८) इसी आधार पर धूम के सद्भाव और अग्नि के सद्भाव में भी व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा। यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ न्याय दर्शन केवल सा∽⊃∽हे को तर्क का प्रतीक मानता है वहाँ जैन दर्शन ⊃ सा ⊃ हे और ⊃ हे ⊃ सा दोनों को ही स्वीकार करता है। डॉ. बारलिंगे ने भी माना है कि ∽ सा ⊃∽ हे से हम हे ⊃ सा के निष्कर्ष पर निर्दोष रूप से पहुँच सकते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन न्याय दर्शन से एक कदम आगे बढ़कर यह निर्णय देता है कि हे ⊃ सा अर्थात् धूम का सद्भाव अग्नि के सद्भाव का सूचक है। धूम के सद्भाव और अग्नि सद्भाव में भी व्याप्ति सम्बन्ध हैं। जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन नव्य न्याय में भी हमें मिलता है। यह तर्क के व्याप्ति परिशोधक तर्क और व्याप्ति ग्राहक तर्क ऐसे दो विभाग करता है। उपरोक्त उदाहरण में छठ्ठा चरण व्याप्ति परिशोधक तर्क का और सातवाँ तथा आठवाँ चरण व्याप्ति ग्राहक तर्क का है। यद्यपि इस सबमें तर्क का मुख्य कार्य तो वहाँ है जब हम सद्भाव एवं क्रमभाव के अन्वय और व्यतिरेक के साधक दृष्टान्तों तथा व्यभिचार दर्शन रूप बाधक दृष्टान्त के अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध का निश्चय करते हैं। यह विशेष के दृष्टान्तों से सामान्य नियम की ओर अथवा सहभाव एवं क्रमभाव से आपादन (Implication) का कार्य-कारण सम्बन्ध की ओर जो छलाँग है तर्क उसी का प्रतीक है। यद्यपि तर्क के इस प्रतीकात्मक स्वरूप के बारे में अभी काफी विचार और संशोधन की आवश्यकता है किन्तु फिर भी इसे मान्य करना इसलिए आवश्यक है कि हम भाषा सम्बन्धी कुछ सम्भावित भ्रान्तियों से बच सकें। उदाहरण के लिए जैन न्याय के अद्वितीय विद्वान पं. कैलाशचन्द जी जैन न्याय नामक ग्रन्थ में तर्क की परिभाषा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, उपलम्भ-साध्य के होने पर ही साधन का होना और अनुपलम्भ-साध्य के अभाव में साधन का न होना के निमित्त से होने वाले व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं। (जैन न्याय पृ. २०९) किन्तु क्या साध्य (अग्नि) के सद्भाव से साधन या हेतु (धुएँ) का सद्भाव सिद्ध हो सकता है ? कदापि नहीं, वस्तुत: यहाँ साध्य के होने पर ही साधन का होना इस कथन का अर्थ भावात्मक न होकर अभावात्मक ही है अर्थात् यह साध्य के अभाव में साधन के अभाव का द्योतक है न कि साध्य के सद्भाव में साधन के सद्भाव का। क्योंकि धूम ही अग्नि से नियत है, अग्नि धूम से नियत नहीं है। इसका नियम है साधन (हेतु) का सद्भाव साध्य के सद्भाव का और साध्य का अभाव साधन या हेतु के अभाव का सूचक है,

जिसका प्रतीकात्मक रूप होगा हे ⊃ सा तथा ∽सा.∽हे। अत: इस नियम का कोई भी व्यतिक्रम असत्य निष्कर्ष की ओर जायेगा। हम साध्य की उपस्थिति से हेतु की उपस्थिति या अनुपस्थिति के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नहीं ले सकते हैं। भावात्मक दृष्टान्तों में व्याप्ति हेतु और साध्य अर्थात् धूम के सद्भाव और अग्नि के सद्भाव के बीच होती है किन्तु अभावात्मक दृष्टान्त में वह साध्य और हेतु अर्थात् अग्नि के अभाव और धूम के अभाव के बीच होती है। इसका निर्देश हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी व्याप्य-व्यापक भाव या गम्य-गमक भाव के रूप में किया है, उन्होंने यह बताया कि धूम की उपस्थिति से अग्नि की उपस्थिति का और अग्नि की अनुपस्थिति से धूम की अनुपस्थिति का निश्चय किया जा सकता है किन्तु इस नियम का कोई भी व्यतिक्रम सत्य नहीं होगा। क्योंकि धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। प्रतीकात्मकता से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। वर्ग सदस्यता का निम्न चित्र रेखांकन भी इसे स्पष्ट कर देता है।





वर्ग सदस्य सम्बन्ध के इस चित्र से निम्न फलित निकलते हैं -

(१) सब धूमयुक्त वस्तुयें अग्नियुक्त वस्तुयें हैं, क्योंकि धूमयुक्त वस्तुओं के वर्ग का प्रत्येक सदस्य अग्नियुक्त वस्तुओं के वर्ग का सदस्य है, धूमयुक्त वस्तुओं का वर्तुल अग्नियुक्त वस्तुओं में वर्तुल में समाविष्ट है। अर्थात् धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है। अत: धूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध है किन्तु इसके विपरीत अग्नि और धूम में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है क्योंकि अग्नियुक्त वस्तुओं की जाति (वर्ग) के सभी सदस्य धूमयुक्त वस्तुओं की जाति (वर्ग) के सदस्य नहीं हैं।

हे (धू) ⊃ सा (अ) ... सत्य

सा (अ) ⊃ हे (धू) ... असत्य

(२) अब अग्नि रहित वस्तुयें धूम रहित वस्तुयें हैं क्योंकि अग्नि रहित वस्तुओं के वर्ग का प्रत्येक सदस्य धूम रहित वस्तुओं के वर्ग का सदस्य है अर्थात् अग्नि रहित वस्तुओं का वर्तुल धूम रहित वस्तुओं के वर्तुल में समाविष्ट है अर्थात् अग्नि रहित वस्तुयें व्याप्य हैं और धूमरहित वस्तुयें व्यापक हैं। अत: अग्नि रहित वस्तु और धूमरहित वस्तु में व्याप्ति सम्बन्ध है किन्तु इसके विपरीत धूमरहित और अग्निरहित वस्तु में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है, इसमें व्यभिचार हो सकता है क्योंकि धूमरहित वस्तुओं की जाति के सभी सदस्य अग्निरहित वस्तुओं की जाति के सदस्य नहीं हैं।

हे (∽अ) ⊃ सा (∽धू) ... सत्य

सा (∽धू) ⊃ हे (∽अ) ... असत्य

प्रथम उदाहरण में धूम हेतु है और अग्नि साध्य है जबकि दूसरे उदाहरण अग्निरहित हेतु है और धूमरहित साध्य है।

(३) कोई भी धूमयुक्त वस्तु अग्निरहित नहीं है क्योंकि धूमयुक्त वस्तुओं का वर्तुल अग्नि रहित वस्तुओं के वर्तुल से पृथक् है, अत: धूमयुक्त और अग्नि रहित में निषेधात्मक व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा नहीं है, जो धूमयुक्त है वह अग्नि रहित नहीं हो सकता और जो अग्नि रहित है वह धूमयुक्त नहीं हो सकता।

हे (धू) ∽ ⊃ सा (∽अ) ... सत्य
सा (∽अ) ∽ ⊃ हे (धू) ... सत्य
हे (∽अ) ∽ ⊃ सा (धू) ... सत्य
सा (धू) ∽ ⊃ हे (∽अ) ... सत्य

अर्थात् निषेधात्मक व्याप्ति में दोनों ही सत्य हैं।

तर्क को व्याप्ति ग्रहण का साधन और स्वतन्त्र प्रमाण क्यों मानें :

जैन तार्किकों ने तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण इसीलिए माना था कि तर्क प्रमाण माने बिना व्याप्ति ज्ञान तथा अनुमान की प्रामाणिकता सम्भव नहीं है ? यदि हम अनुमान को प्रमाण मानते हैं तो हमें तर्क को भी प्रमाण मानना होगा क्योंकि अनुमान की प्रामाणिकता व्याप्ति ज्ञान की प्रामाणिकता पर निर्भर है और व्याप्ति ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं उसके ग्राहक साधन तर्क की प्रामाणिकता पर निर्भर होगी। यदि व्याप्ति का निश्चय करने वाला साधन तर्क ही प्रमाण नहीं है तो व्याप्ति ज्ञान भी प्रामाणिक नहीं होगा और फिर उसी व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान पर आश्रित अनुमान प्रमाण कैसे होगा ? अत: तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

पुनश्च यदि हम तर्क को प्रमाण नहीं मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि व्याप्ति-ग्रहण तर्क से इतर अन्य किसी प्रमाण से होता है, किन्तु तर्क पर अन्य प्रमाण व्याप्ति ज्ञान के ग्राहक नहीं हो सकते। सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की समीक्षा करके देखें कि क्या उनसे व्याप्ति-ग्रहण सम्भव है। इस सम्बन्ध में जैन तार्किकों का उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं है।

लौकिक प्रत्यक्ष अर्थात् ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष से व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय इसीलिए नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम तो प्रत्यक्ष का विषय विशेष होता है और विशेषों के कितने ही उदाहरण से ऐसा सामान्य ज्ञान सम्भव नहीं है। हम मोहन, सोहन आदि हजारों या लाखों मनुष्यों को मरता हुआ देखकर भी उसके आधार पर यह दावा नहीं कर सकते कि सब मनुष्य मरणशील हैं। दूसरे विशेषों के सभी उदाहरणों को जान पाना भी सम्भव नहीं है। पुन: प्रत्यक्ष वर्तमान काल को ही विषय बनाता है जबकि व्याप्ति का निश्चय तो त्रैकालिक ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। भूतकाल के अनेकों उदाहरणों का प्रत्यक्ष यह भी गारण्टी नहीं देता है कि भविष्य में भी ऐसा होगा। भूतकाल के अनेकानेक (लगभग सभी) मनुष्य मर गये और वर्तमान में अनेक मर रहे हैं किन्तु इससे हम यह कैसे कह सकते हैं कि भविष्यकाल के सभी मनुष्य मरेंगे ही। हो सकता है कि भविष्य में कोई ऐसी औषधि निकल आये कि मनुष्य अमर हो जाये। प्रत्यक्ष के विषय सदैव ही दैशिक और कालिक तथ्य होते हैं, अत: उससे सार्वभौमिक और सार्वकालिक व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता।

प्रत्यक्ष अथवा प्रेक्षण पर आधारित व्याप्ति स्थापन की कई विधियाँ हैं जैसे अन्वय, व्यतिरेक, भूयो दर्शन, नियत सहचार दर्शन, व्यभिचार अदर्शन और सामान्य- लक्षणा प्रत्यासत्ति आदि। इनमें से सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी विधि त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। जहाँ तक सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति का प्रश्न है उसे प्रत्यक्षात्मक कहना भी कठिन है, वह मूलत: जैन दर्शन के 'तर्क' के प्रत्यय से भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों की मूल प्रकृति अन्त:प्रज्ञात्मक है, वह इन्द्रिय ज्ञान नहीं अपितु प्रातिभ ज्ञान है। यह सुनिश्चित सत्य है कि मात्र प्रत्यक्ष पर आधारित कोई भी विधि त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध या अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं दे सकती है जब तक कि वह तर्क या प्रातिभ ज्ञान का सहारा नहीं लेती है।

सामान्यत: व्याप्ति स्थापन में अन्वय और व्यतिरेक को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अन्वय का अर्थ है हेतु और साध्य का सभी उदाहरणों में साथ पाया जाना। उदाहरणार्थ: जहाँ-जहाँ धुआँ देखा गया उसके साथ आग भी देखी गई है तो हम धुएँ और आग में व्याप्ति मान लेते हैं किन्तु अन्वय के आधार पर व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। यदि दो चीजें सदैव एक दूसरे के साथ देखी जायें तो उनमें व्याप्ति हो ही यह आवश्यक नहीं है। अन्वय के आधार पर व्याप्ति मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अन्वय के सभी दृष्टान्त नहीं देखे जा सकते हैं और केवल इन कुछ दृष्टान्तों के आधार व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। केवल व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती है। अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति संयुक्त रूप से भी व्याप्ति स्थापन नहीं कर सकते हैं। यहाँ ठीक है कि अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों के प्रेक्षण से व्याप्ति की धारणा पुष्ट होती है किन्तु ये केवल इतना सुझाव देते हैं कि इन दो तथ्यों के बीच व्याप्ति सम्बन्ध हो सकता है। इनसे व्याप्ति का निश्चय या सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि अन्वय, व्यतिरेक और अन्वय-व्यतिरेक की संयुक्त विधि तीनों ही में सीमित उदाहरणों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है। अत: इनके आधार पर त्रैकालिक व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। तीनों कालों में और तीनों लोकों में जो कुछ धूम है वह सब अग्नियुक्त है, इतना व्यापार प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है फिर वह प्रत्यक्ष चाहे अन्वय रूप हो या व्यतिरेक रूप। नैयायिकों ने इस कठिनाई से बचने के लिए अन्वय-व्यतिरेक के भूयो दर्शन को ही व्याप्ति निश्चय के प्रति कारण भूत उपाय माना गया है। भूयो दर्शन का अर्थ है अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों का बार-बार अवलोकन करना। यह ठीक है कि अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों के बार-बार अवलोकन से व्याप्ति की धारणा की पुष्टि होती है। किन्तु यह भूयो दर्शन या बार-बार अवलोकन प्रथमत: त्रैकालिक नहीं हो सकता है, अत: इससे त्रैकालिक व्याप्ति ज्ञान की सम्भावना नहीं है। दूसरे भूयो दर्शन से भी उपाधि के अनुभव का निश्चय नहीं हो सकता। 'जहाँ-जहाँ आग होती है वहाँ-वहाँ धूम होती है' इस प्रकार अन्वय के सैकड़ों उदाहरण तथा 'जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ-वहाँ घूम नहीं है' इस प्रकार व्यतिरेक के सैकड़ों उदाहरण अग्नि का धूम के साथ स्वाभाविक व त्रैकालिक सम्बन्ध सूचित नहीं कर सकते। ईंधन के गीलेपन की उपाधि से दूषित होने के कारण यह औपाधिक सम्बन्ध है, स्वाभाविक नहीं। सहचार दर्शन औपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का चाहे निश्चय कर भी ले किन्तु अनौपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का निश्चय उसके द्वारा सम्भव नहीं है। गंगेश ने इसकी आलोचना में लिखा है कि साध्य और साधन के सहचार का भूयो दर्शन क्रमिक अथवा सामूहिक रूप से व्याप्ति ज्ञान का कारण नहीं है। रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर भट्टाचार्य, विश्वनाथ, अन्नभट्ट तथा नीलकण्ठ ने एक मत से भूयो दर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण नहीं माना है। श्रीधर के अनुसार व्याप्ति का निश्चय प्रतिपक्ष शंका रहित अन्तिम प्रत्यक्ष से होता है, जिसमें उसे सहभाव विषयक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाले संस्कार की सहायता भी अपेक्षित रहती है किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा व्यभिचार शंकाओं का पूर्णत: निर्मूलन न होने के कारण यह मत भी युक्ति संगत नहीं है।

जयन्त भट्ट ने नियमित सहचार दर्शन को ही व्याप्ति निश्चय का कारणीभूत उपाय माना है किन्तु यह मत इसलिए समीचीन नहीं है कि नियत सहचार दर्शन केवल अतीत और वर्तमान पर आधारित है किन्तु उसकी क्या गारण्टी है कि यह सम्बन्ध भविष्य के लिए भी तथा देशान्तर और कालान्तर में भी कार्यकारी सिद्ध होगा। इस शंका का निरसन करने के लिए सहचार नियम क्षमताशील नहीं है।

इस प्रकार प्रेक्षण या इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित कोई भी विधि व्याप्ति स्थापन में समर्थ नहीं है। अनुमान से भी व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि प्रथम तो अनुमान की वैधता तो स्वयं ही व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान की वैधता पर निर्भर है। यदि हमारा व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान प्रामाणिक नहीं है तो अनुमान तो प्रामाणिक हो ही नहीं सकता।

अनुमान को व्याप्ति ज्ञान का आधार मानने में मुख्य कठिनाई यह है कि जब तक व्याप्ति ज्ञान न हो जाय, अनुमान की कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि अनुमान स्वयं ही अपनी व्याप्ति का ग्राहक है तो हम आत्माश्रय दोष से बच नहीं सकते। इससे भिन्न यदि हम यह मानें कि एक अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण दूसरे अनुमान से होगा तो ऐसी स्थिति में एक अनुमान की व्याप्ति के ग्रहण के लिए दूसरे अनुमान की और दूसरे अनुमान की व्याप्ति के लिए तीसरे अनुमान की और तीसरे अनुमान की व्याप्ति के लिए चौथे अनुमान की आवश्यकता होगी और इस शृंखला का कहीं अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था दोष का प्रसंग उत्पन्न होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो प्रत्यक्ष से, न अनुमान से ही व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। यद्यपि कुछ विचारकों ने इन कठिनाइयों को जानकर व्याप्ति ग्रहण के अन्य उपाय भी सुझाए हैं। इन उपायों में एक अन्य उपाय निर्विकल्प प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाले विकल्प ज्ञान को व्याप्ति ग्रहण का आधार मानता है। यह सही है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष निष्प्रकारक होने से व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु उस पर आधारित विकल्प व्याप्ति का ग्रहण करता है। किन्तु यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहीत विषय तक ही विकल्प की प्रवृत्ति है तो भी उसमें व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है। यदि वह विकल्प निर्विकल्प प्रत्यक्ष को अवैध नहीं करता है और उसका विषय उससे व्यापक हो सकता है तो निश्चय ही उसमें व्याप्ति ग्रहण माना जा सकता है।

यदि हम उस विकल्प को प्रमाण मानते हैं तो हमें उसे प्रत्यक्ष और अनुमान से अलग ही प्रमाण मानना होगा और ऐसी स्थिति में उसका स्वरूप वही होगा जिसे जैन दार्शनिक तर्क प्रमाण कहते हैं। यदि हम उस विकल्प ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं तो व्याप्ति प्रामाणिक नहीं होगी। अप्रामाणिक ज्ञान से चाहे यथार्थ व्याप्ति प्राप्त भी हो जाये किन्तु उसे प्रमाण नहीं मान सकते। यह ठीक ऐसा ही होगा जैसे कि असत्य आधार वाक्य से सत्य निष्कर्ष प्राप्त करना।

वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष के फलस्वरूप होने वाले ऊहापोह को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना है। यदि इस ऊहापोह का विषय मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा स्मृति रहती है तो फिर उसमें भी कोई विशिष्टता नहीं है क्योंकि उसका विषय प्रत्यक्ष जितना सीमित ही रहता है। यदि इस ऊहापोह का विषय प्रत्यक्ष से व्यापक है, तो उसे अपनी इस विशिष्टता के कारण एक अन्य प्रमाण ही मानना होगा और यहाँ वह जैन दर्शन के तर्क प्रमाण से भिन्न नहीं कहा जा सकेगा।

न्याय दार्शनिकों ने तर्क सहकृत भूयो दर्शन को व्याप्ति ग्राहक साधन माना है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका में इसे स्पष्ट किया है कि अकेले प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता अपितु तर्क सहित प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है क्योंकि व्याप्ति उपाधिविहीन स्वाभाविक सम्बन्ध है। चूँकि भूयो दर्शन या प्रत्यक्ष से सकल उपाधियों का उन्मूलन सम्भव नहीं है, अत: इस हेतु एक नवीन उपकरण की आवश्यकता होगी और वह उपकरण तर्क है। किन्तु यह अकेला प्रत्यक्ष व्याप्ति ग्रहण में समर्थ नहीं है तो ऐसी स्थिति में व्याप्ति का ग्राहक अन्तिम साधन तर्क को ही मानना होगा। यद्यपि यह सही है कि तर्क प्रत्यक्ष के अनुभवों को साधक अवश्य बनाता है किन्तु व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं होकर तर्क से ही होता है। इसलिए तर्क के महत्त्व को स्वीकार करना होगा, तर्क को प्रमाण की कोटि में स्वीकार न कर, उसकी महत्ता को अस्वीकार करना कृतघ्नता ही होगी। इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि यह तो तपस्वी के यश को समाप्त करने जैसा ही है।

जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि तर्क प्रत्यक्ष की सहायता से ही व्याप्ति का ग्रहण करता है तो जैन दार्शनिकों का इससे कोई विरोध नहीं है। उन्होंने तर्क की परिभाषा में ही इस बात को स्वीकार कर लिया है कि प्रत्यक्ष आदि के निमित्त से तर्क की प्रवृत्ति होती है। यह भी सही है कि प्रत्येक परवर्ती प्रमाण

को अपने पूर्ववर्ती प्रमाण से सहायता प्राप्त होती है किन्तु इससे उस प्रमाण की स्वतन्त्रता पर कोई बाधा नहीं होती। अनुमान के लिए भी प्रत्यक्ष और व्याप्ति सम्बन्ध की अपेक्षा होती है, किन्तु इससे उसके स्वतन्त्र प्रमाण होने में कोई बाधा नहीं आती। जैन दार्शनिकों की विशेषता यह है कि वे तर्क को केवल शंका का निवर्तक ही नहीं, अपितु ज्ञान प्रदान करने वाला भी मानते हैं। अत: वह स्वतन्त्र प्रमाण है। जैन दर्शन और न्याय दर्शन में तर्क की महत्ता को लेकर मात्र विवाद इतना ही है कि जहाँ न्याय दर्शन तर्क का कार्य निषेधात्मक मानता है वहाँ जैन दर्शन में तर्क का विधायक कार्य भी स्वीकार किया है।

पाश्चात्य निगमनात्मक न्याय युक्ति में निष्कर्ष की प्राप्ति के लिए कम से कम एक आधार वाक्य का सामान्य होना आवश्यक है, किन्तु ऐसे सामान्य वाक्य की, जो कि दो तथ्यों के बीच स्थित कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित होता है, स्थापना कौन करे ? इसके लिए उस आगमनात्मक तर्कशास्त्र का विकास हुआ जो कि ऐन्द्रिक अनुभवों पर आधारित था किन्तु ऐन्द्रिक अनुभववाद (प्रत्यक्षवाद) और उसी भित्ति पर स्थित मिल की अन्वय-व्यतिरेक आदि की पाँचों आगमनिक विधियाँ भी निर्विवाद रूप से कार्य-करण सम्बन्ध पर आधारित सामान्य वाक्य की स्थापना में असफल ही रही हैं। श्री कोहेन एवं श्री नेगेल अपनी पुस्तक Logical and Scientific Method में मिल की आगमनात्मक युक्तियों की अक्षमता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - The cannons of experimental inquiry are not therefore capable of demonstrating any casual laws. The experimental methods are neither methods of proof nor methods of discovery (p. 266-67) वस्तुत: कोई भी अनुभवात्मक पद्धति जो निरीक्षण या प्रयोग पर आधारित होगी एक अधिक युक्तिसंगत प्राक्कल्पना से अधिक कुछ नहीं प्रदान कर सकती है। ह्यूम तो अनुभववाद की इस अक्षमता को बहुत पहले ही प्रकट कर चुका था। अत: पाश्चात्य तर्कशास्त्र में आगमनात्मक छलाँग (Inductive Leap) की जो समस्या अभी भी बनी हुई है उसे भी जैन दर्शन के इस तर्क प्रमाण की अन्त:प्रज्ञात्मक पद्धति के आलोक में सुलझाने का एक प्रयास अवश्य किया जा सकता है। वस्तुत: आगमन के क्षेत्र में विशेष से सामान्य की ओर जाने के लिए जिस आगमनात्मक छलाँग की आवश्यकता होती है - तर्क उसी का प्रतीक है। वह विशेष और सामान्य के बीच की खाई के लिए एक पुल का काम करता है, जिसके माध्यम से हम प्रत्यक्ष से व्याप्ति ज्ञान की ओर तथा विशेष से सामान्य की ओर बढ़ सकते हैं।

***

संदर्भ सूची

१. *से किं तं प्रमाण ? प्रमाणे चउव्विहे पण्णते तं जहाँ पच्चवक्खे, अणुमाणे ओवम्मे, आगमे, जहा अणुओगद्वारे। भगवती ५/४/१९१-१९२*

२. *तिविहे व्यवसाए पण्णते तं जहाँ-पच्चक्खे, पच्चइए, अनुगामिए। - स्थानांग १८५*

३. *अहवा हेउ चउव्विहे पण्णते तं जहाँ पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे अ-स्थानांग ३३८*

४. *मति: स्मृति: संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् - तत्त्वार्थ १/१*

५. *तत्त्वार्थ भाष्य १/१५*

६. *भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ४ पृ. १९०-१९१*

७. *मीमांसा कोष, पृ. १६३८*

८. *तत्रोहो नाम प्रकृतावन्यथा दृष्टस्य विकृतावन्यथा भाव:।*

९. *मीमांसा दर्शन ९-२, १-१*

१०. *न्याय सूत्र पर वात्स्यायन भाष्य १/१/१, पृ. ५३*

११. *न्याय सूत्र पर विश्वनाथ वृत्ति १/१/४०*

१२. *न्याय सूत्र पर वात्स्यायन, पृ. ३२०-२१*

जैन-बौद्ध प्रमाणमीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन

जैन एवं बौद्ध प्रमाणशास्त्र का ऐतिहासिक विकासक्रम :-

जैन और बौद्ध दर्शन भारतीय श्रमण संस्कृति के दर्शन हैं। आचारशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष की अपेक्षा से दोनों में बहुत कुछ समानताएँ हैं। किन्तु जहाँ तक तत्त्वमीमांसीय और प्रमाणशास्त्रीय विवेचनों का प्रश्न है, दोनों में कुछ समानताएँ और कुछ अन्तर परिलक्षित होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन एकान्तवाद के विरोधी हैं। दोनों के दार्शनिक विवेचन के मूल में विभज्यवादी दृष्टिकोण समाहित है। तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में बौद्ध दर्शन जहाँ एकान्तवाद का निषेध करके मध्यमप्रतिपदा की बात करता है, वहीं जैन दर्शन एकान्तवाद का निषेध कर अनेकान्तवाद की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दोनों दर्शनों की मूलभूत दृष्टि में अर्थात् एकान्तवाद के निषेध में समानता है। किन्तु अपनी दार्शनिक विवेचनाओं के अग्रिम चरणों में दोनों दर्शनों की मान्यताओं में अन्तर देखा जाता है। उसका कारण यह है कि जहाँ एकान्तवाद से बचने के लिए बौद्ध-दर्शन निषेधपरक रहा, वहीं जैन दर्शन ने विधिमुख से अपनी बात कही। जैन दर्शन का चरम विकास उसके अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के सिद्धांत के रूप में हुआ, वहीं बौद्ध दर्शन का चरम विकास अपनी मध्यमप्रतिपदा पर आधारित होते हुए भी अंततः विज्ञानवाद और शून्यवाद के रूप में हुआ।

जहाँ तक जैन और बौद्ध प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है, प्राचीन जैन आगमसाहित्य में और बौद्ध त्रिपिटक में हमें प्रमाणशास्त्र सम्बन्धी विशेष विवेचनाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं। परवर्तीकालीन जैन आगमों में समवायाँग, अनुयोगद्वारसूत्र और नन्दीसूत्र में ज्ञानमीमांसा की तो विस्तृत चर्चा है, किन्तु प्रमाणशास्त्र सम्बन्धी चर्चा का उनमें भी कुछ शब्द संकेतों के अतिरिक्त प्रायः अभाव ही है। इसी प्रकार पालित्रिपिटक और अर्द्धमागधी आगमों में प्रमाणशास्त्र सम्बन्धी छुटपुट शब्दों यथा तक्क, विमंसी, पमाण, हेतु, व्यवसाय आदि के प्रयोग तो मिल जाते हैं, किन्तु एक सुव्यवस्थित प्रमाणशास्त्र की उपलब्धि नहीं होती है। बौद्ध परम्परा में सर्वप्रथम नागार्जुन ने लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी में शून्यवाद की स्थापना के साथ-साथ विग्रहव्यावर्त्तनी और वैदल्यसूत्र में प्रमाणों का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणशास्त्र के विकास का मुख्य श्रेय विज्ञानवादी योगाचार दर्शन को जाता है। बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग (चौथी-पाँचवी शती) को बौद्ध प्रमाणशास्त्र का प्रथम प्रस्तोता माना जा सकता है।

मल्लवादी (चौथी-पाँचवी शती) आदि प्राचीन जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में पूर्वपक्ष के रूप में दिङ्नाग के ग्रंथों को ही आधार बनाया है। मल्लवादी की कृति द्वादशारनयचक्र में दिङ्नाग की अवधारणाओं को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की गई है।

दिङ्नाग के गुरु बौद्ध विज्ञानवादी असंग के लघुभ्राता वसुबन्धु रहे हैं। यद्यपि वसुबन्धु के ग्रंथों में भी न्यायशास्त्र सम्बन्धी कुछ विवेचन उपलब्ध होते हैं, फिर भी प्रमाणशास्त्र की विवेचना की दृष्टि से दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय ही बौद्ध परम्परा का प्रथम स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। परवर्ती जैन

और जैनेतर दार्शनिकों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में इसे ही आधार बनाया है। दिङ्नाग के पश्चात् बौद्ध न्याय के प्रस्तोताओं में धर्मकीर्ति ही प्रमुख माने जाते हैं। धर्मकीर्ति के सत्ताकाल को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद देखा जाता है, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि वे ईसा की सातवीं शताब्दी के बौद्ध विद्वान हैं। जैन विद्वान महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने उनका काल ६२० ईस्वी से ६९० ईस्वी माना है, जो समुचित ही प्रतीत होता है। यद्यपि धर्मकीर्ति के पश्चात् भी धर्मोत्तर, अर्चट, शान्तरक्षित, कमलशील, देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, प्रज्ञाकरगुप्त, रविगुप्त, कर्णगोमी आदि अनेक बौद्ध आचार्य हुए हैं, जिन्होंने बौद्ध प्रमाणमीमांसा पर ग्रंन्थ लिखे हैं, किन्तु प्रस्तुत विवेचना में हम अपने को धर्मकीर्ति तक ही सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे। इसका कारण यह है कि जैन आचार्यों ने दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति की स्थापनाओं को ही पूर्वपक्ष बनाया है।

जहाँ तक जैन प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है, उसका प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर के 'न्यायावतार' से होता है, सिद्धसेन दिवाकर को लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी का विद्वान माना जाता है। सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार जैन प्रमाणशास्त्र का प्रथम ग्रंथ है, इसमें प्रमाण की परिभाषा के साथ-साथ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) प्रमाणों का उल्लेख हुआ है, यद्यपि इस ग्रंथ की मूल कारिकाओं में बौद्ध प्रमाणशास्त्र के खण्डन का स्पष्ट रूप से कोई निर्देश नहीं है। फिर भी "स्वपराभासिज्ञानं प्रमाणम्" कहकर प्रमाण को मात्र स्वप्रकाशक मानने वाली बौद्ध परम्परा के खण्डन का संकेत अवश्य मिलता है, किन्तु बौद्ध प्रमाणशास्त्र की स्पष्ट समीक्षा का इस ग्रंथ में प्राय: अभाव ही है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर बौद्ध प्रमाणशास्त्र से परिचित अवश्य थे, क्योंकि इस ग्रन्थ में कहीं बौद्धमत से समरूपता और कहीं विरोध परिलक्षित होता हैं। यद्यपि जैन परम्परा में सिद्धसेन के पूर्व उमास्वाति (तीसरी शती) ने तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान के आगमिक पाँच प्रकारों का उल्लेख करके अगले सूत्र में उन्हें प्रमाण के रूप में उल्लेखित किया है, साथ ही प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों का भी उल्लेख किया है फिर भी उमास्वाति को जैन न्याय के आद्यप्रणेता के रूप में स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि उनके तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य में इन दो सूत्रों के अतिरिक्त प्रमाण सम्बन्धी कोई विशेष चर्चा उपलब्ध नहीं है। उनके पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर ने यद्यपि जैन प्रमाणव्यवस्था के सम्बन्ध में एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना तो की, किन्तु उन्होंने प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी बौद्ध एवं अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की समीक्षा यदि सर्वप्रथम किसी ने की है, तो वे द्वादशारनयचक्र के प्रणेता मल्लवादी (लगभग पाँचवीं शती) हैं। मल्लवादी ने दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय से अनेक संदर्भों को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की है। मल्लवादी दिङ्नाग से परवर्ती और धर्मकीर्ति से पूर्ववर्ती हैं। बौद्ध विद्वानों ने दिङ्नाग का काल ईसा की पाँचवी शती माना है। किन्तु द्वादशारनयचक्र की प्रशस्ति से मल्लवादी का काल विक्रम सं. ४१४ तदनुसार ई. सन् ३५६ माना है। इस दृष्टि से दिङ्नाग को भी ईसा की चौथी शती के उत्तरार्द्ध से पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध का मानना होगा।

जैन परम्परा, बौद्ध प्रमाणशास्त्र से यदि परिचित हुई है तो वह प्रथमत: दिङ्नाग और फिर धर्मकीर्ति से ही विशेष रूप से परिचित प्रतीत होती है, क्योंकि जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाणशास्त्र की समीक्षा में इन्हीं के ग्रंथों को मुख्य आधार बनाया हैं, यद्यपि धर्मोत्तर, अर्चट, शान्तरक्षित और कमलशील के भी संदर्भ जैन ग्रंथों में मिलते हैं। तिब्बती परम्परा के अनुसार दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के अतिरिक्त प्रमाणशास्त्र पर उनकी जो दूसरी प्रमुख कृति है, वह न्यायप्रवेश है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसके कर्ता दिङनाग के शिष्य शंकरस्वामी को माना है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में न्यायप्रवेश ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिस पर जैन आचार्यों ने टीकाएँ लिखी। आचार्य हरिभद्रसूरि ने (लगभग आठवी शताब्दी में)

दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर वृत्ति लिखी, जो उपलब्ध हैं। आगे चलकर हरिभद्र की इस न्यायप्रवेशवृत्ति पर पार्श्वदेवगणि ने पंजिका की रचना की। यद्यपि ये दोनों टीका ग्रंथ जैन परम्परा के आचार्यों के द्वारा लिखे गए, किन्तु ये समीक्षात्मक न होकर विवेचनात्मक ही हैं। समीक्षा की दृष्टि से दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के पश्चात् जैन आचार्यों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक को ही अधिक उद्धृत किया है। ज्ञातव्य है कि प्रमाणवार्त्तिक दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय की ही टीका है। फिर भी जैन आचार्यों ने अपनी बौद्ध प्रमाणशास्त्र की समीक्षा में इसको ही प्रमुख आधार बनाया है। धर्मकीर्ति के दूसरे दो ग्रंथ जो जैन आचार्यों की समीक्षा के विषय रहे हैं उनमें "प्रमाण- विनिश्चय" और "सम्बन्धपरीक्षा" है। प्रमाणविनिश्चय वस्तुतः उनके प्रमाणवार्त्तिक का ही संक्षिप्त रूप है और इसके आधे से अधिक श्लोक प्रमाणवार्त्तिक से ही ग्रहण किए गए है। धर्मकीर्ति की दूसरी कृति सम्बन्धपरीक्षा वर्तमान में अनुपलब्ध है। किन्तु इसका कुछ अंश, जो आज सुरक्षित है उसका श्रेय जैनाचार्यों को ही है, दिगम्बर जैनाचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड (१० वीं शती) में न केवल इसकी बाईस कारिकायें उपलब्ध हैं, अपितु उन्होंने उन पर व्याख्या भी लिखी है। इसी प्रकार श्वेताम्बर विद्वान वादिदेवसूरी (१० वीं शती) ने भी स्याद्वादरत्नाकर में इसकी कुछ कारिकायें उद्धृत किया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ जैन ग्रन्थ द्वादशारनयचक्र की मूलकारिकाओं की पुनर्रचना का आधार धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के तिब्बती स्रोत रहे हैं, वहीं धर्मकीर्ति की सम्बन्धपरीक्षा के कुछ अंशों के संरक्षण का आधार प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड है। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जो समीक्षा उपलब्ध होती हैं, उसमें सिद्धसेन के न्यायावतार और मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र के बाद उनके टीकाकार सिंहसूरि का क्रम आता है। किन्तु सिंहसूरि की द्वादशारनयचक्र पर लिखी गई टीका में भी बौद्ध परंपरा का जो खण्डन हुआ है, वह वसुबन्धु और दिङ् नाग के दार्शनिक मंतव्यों को ही पूर्वपक्ष के रूप में रखकर ही किया गया है। उन्होंने बौद्धों के प्रमाणलक्षण की एवं उनकी प्रत्यक्ष प्रमाण की अवधारणा की समीक्षा विभिन्न दृष्टिकोणों से की, किन्तु सिंहसूरि ने कहीं भी धर्मकीर्ति को उद्धृत नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतया वसुबन्धु और दिङ्नाग के मंतव्यों को ही अपनी समीक्षा का विषय बनाया, इससे सिद्ध होता है कि सिंहसूरि वसुबन्धु एवं दिङ्नाग के परवर्ती किन्तु धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती रहे हैं। इनका काल छट्टी शताब्दी का उत्तरार्ध या सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। जैन प्रमाणशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से सिद्धसेन और मल्लवादी के पश्चात् इन्हीं का क्रम आता हैं, क्योंकि ये मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र के टीकाकार भी हैं।

पाँचवी - छट्टी शताब्दी पश्चात् से जैन आचार्यों ने बौद्ध तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की समीक्षा की, इस क्रम में यहाँ हम प्रमुख रूप से उन्हीं आचार्यों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने न केवल जैन प्रमाणशास्त्र के विकास में अपना अवदान दिया अपितु प्रमाणशास्त्रीय बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा भी की है अथवा उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा बौद्ध आचार्यों ने की। सिद्धसेन, मल्लवादी और सिंहसूरि के पश्चात् आचार्य सुमति (लगभग ७ वीं शती) हुए हैं, ये जैनधर्म की यापनीयपरम्परा के आचार्य रहे हैं। दुर्भाग्य से आज उनकी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (आठवीं शती) ने अपने ग्रंथ तत्त्वसंग्रह में समुति के नामोल्लेखपूर्वक उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा की है। ज्ञातव्य है कि आचार्य सुमति ने श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर एक विवृत्ति भी लिखी थी जो आज अनुपलब्ध है, इससे लगता है कि आचार्य सुमति उस उदारयापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं, जो आज लुप्त हो चुकी है। इसी काल के अर्थात् साँतवीं-आठवीं शती के अन्य जैन नैयायिक पात्रकेसरी हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना त्रिलक्षणकदर्शन हैं, इसमें बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु का विस्तार से खण्डन किया गया है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह (१३६८) में इनके ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है, वही अकलंक आदि जैन दार्शनिकों ने भी पात्रकेसरी के त्रिलक्षणक

दर्शन के श्लोकों को उद्धृत करके बौद्धों के त्रिरूपहेतु का खण्डन किया हैं। लगभग इसी काल में श्वेताम्बर जैन परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि (आठवीं शती) हुए हैं। हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्तासमुच्चय और षट्दर्शनसमुच्चय जैसे ग्रन्थों में बौद्ध परम्परा के मंतव्यों का निर्देश किया है। किन्तु आचार्य हरिभद्र एक समन्वयवादी आचार्य रहे हैं। अत: उन्होंने अन्य दर्शनों के खण्डन की अपेक्षा उनकी दार्शनिक अवधारणाओं की जैन दर्शन के साथ संगति कैसे संभव है, यही दिखाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बौद्धप्रमाणमीमांसा की समीक्षा नहीं की, किन्तु जैसा हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, उन्होंने दिङ्नाग के "न्यायप्रवेश" की टीका अवश्य लिखी है। जैन प्रमाणशास्त्र के व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणशास्त्र की तार्किक समीक्षा करने वाले आचार्यों में भट्ट अकलंक (इस्वी ७२० से ७८०) का स्थान प्रथम है।

उन्होंने तत्त्वार्थवार्त्तिक के अतिरिक्त लघीयस्त्रयी, न्यायविनिश्चय, सिद्धि-विनिश्चय, प्रमाण संग्रह आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें जहाँ एक ओर जैन प्रमाणमीमांसा का सुव्यवस्थित प्रस्तुतिकरण है, वहीं दूसरी ओर अन्य दर्शनों के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणमीमांसा के प्रमाणलक्षण, प्रत्यक्षलक्षण, निर्विकल्पप्रत्यक्ष, अपोहवाद, शब्दार्थ-सम्बन्ध, हेतु की त्रिरूपता आदि का खण्डन तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा एवं तर्क के प्रामाण्य का स्थापन तथा उनको प्रमाण नहीं मानने सम्बन्धी बौद्धों के तर्कों का निरसन किया गया है। अकलंक के पश्चात् विद्यानन्द (९ वीं शती) के श्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थों में भी प्रमाण सम्बन्धी बौद्ध मंतव्यों की स्पष्ट समीक्षा की गई है। जहाँ अकलंक के ग्रंथों में बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा हेतु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रंथ ही आधार रहे हैं, वहाँ विद्यानन्द ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अतिरिक्त प्रज्ञाकरगुप्त के मंतव्यों का भी युक्तिसंगत खण्डन किया है। विद्यानन्द के पश्चात् जैन प्रमाणशास्त्र के एक प्रमुख आचार्य अनन्तवीर्य हुए हैं, इनका काल दसवीं शती हैं। इन्होंने अकलंक के दो ग्रंथों सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह पर व्याख्या लिखी है। अनन्तवीर्य की इन व्याख्याओं में दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के अतिरिक्त धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित और कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिकों को न केवल उद्धृत किया गया है, अपितु उनके मंतव्यों की समीक्षा भी की गई है। अनन्तवीर्य के पश्चात् जैन न्याय के क्षेत्र में तत्त्वबोधविधायिनी नामक सन्मतितर्क की टीका के कर्ता अभयदेवसूरि (११ वीं शती), प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचनाकार प्रभाचन्द्र (११ वीं शती), प्रमाणनयतत्त्वालोक और उसकी स्वोपज्ञ टीका स्याद्वादरत्नाकर के कर्ता वादीदेवसूरि (१२ वीं शती) तथा उसी ग्रन्थ की रत्नाकरावतारिका नामक टीका के लेखक आचार्य रत्नप्रभ और प्रमाणमीमांसा के लेखक आचार्य हेमचन्द्र (१२ वीं शती) जैनप्रमाणशास्त्र के प्रबुद्ध आचार्य हुए हैं। इन सभी ने दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध आचार्यों और उनके ग्रन्थों का न केवल उल्लेख किया है अपितु उनके ग्रन्थों से उनके मंतव्यों की उद्धृत कर उनकी समीक्षा भी की है। इनके पश्चात् भी जैन न्याय की यह परम्परा यशोविजय, विमलदास आदि के काल अर्थात् लगभग १८ वीं शती तक चलती रही और जैन आचार्य बौद्ध मन्तव्यों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उनकी समीक्षा करते रहे। यही नहीं, बीसवीं शती में भी पं. सुखलालजी, पं. दलसुख भाई, डॉ. नथमलजी टाटिया, मुनि जम्बूविजयजी आदि जैन विद्वान बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता रहे हैं। मुनि जम्बूविजयजी ने तो तिब्बती सीखकर द्वादशारनयचक्र जैसे प्राचीन त्रुटितग्रंथ का पुन: संरक्षण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ५ वीं शती से लेकर २० वीं शती तक अनेक जैन आचार्य बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता और समीक्षक रहे हैं, किन्तु बौद्ध न्याय का विकास भारत में लगभग ११ वीं १२ वीं शती के बाद अवरुद्ध हो गया।

प्रमाणलक्षण :-

बौद्धदर्शन में प्रमाणलक्षण के निरूपण के सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं - सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय में स्मृति, इच्छा, द्वेष आदि को पूर्व अधिगत विषय का ज्ञान कराने वाले होने से प्रमाण का विषय नहीं माना है, इसी आधार पर दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने प्रमाणसमुच्चय की टीका में प्रमाण को अज्ञात अर्थ का ज्ञापक कहा है। उनके पश्चात् आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए "प्रमाणं अविसंवादिज्ञानम्" कहकर प्रमाण को अविसंवादि ज्ञान कहा है। यद्यपि उन्होंने प्रमाण की यह स्वतंत्र परिभाषा दी है, किन्तु उन्होंने "अज्ञातार्थ -प्रकाशको वा" कहकर दिङ्नाग की प्रमाण की पूर्व परिभाषा को भी स्वीकार किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणलक्षण के सम्बन्ध में तीसरा दृष्टिकोण 'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विवेचन धर्मकीर्ति तक सीमित है अत: हम प्रथम एवं द्वितीय प्रमाणलक्षण की ही जैन दृष्टि से समीक्षा करेंगे, क्योंकि ये दोनों लक्षण धर्मकीर्ति को भी मान्य हैं। उनके द्वारा तृतीय लक्षण वस्तुत: प्रमाणफल के रूप में विवेचित है। धर्मकीर्ति का कथन है कि ज्ञान का अर्थ के साथ जो सारूप्य या सादृश्य है वही प्रमाण है। जहाँ तक अनधिगत या अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण मानने का प्रश्न है, मीमांसक और बौद्ध दोनों ही इस सम्बन्ध में एकमत प्रतीत होते हैं। जैन आचार्यों में अकलंक, माणिक्यनंदी आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी प्रमाण को अपूर्व अर्थ का ज्ञापक माना था, किन्तु असंगति प्रतीत हुई, क्योंकि स्वयं अकलंक ने स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष प्रमाण के भेद के रूप में स्वीकार किया है और ये दोनों ही अधिगत ज्ञान है, अपूर्व ज्ञान नहीं हैं, इसलिए आगे चलकर विद्यानन्द ने श्लोकवार्त्तिक में, वादीदेवसूरि ने, स्याद्वाद रत्नाकर में तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में प्रमाणलक्षण का निरूपण करते हुए उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना आवश्यक नहीं माना। मात्र यही नहीं, इन आचार्यों ने अपनी कृतियों में इसकी विस्तृत समीक्षा भी की है। प्रमाणमीमांसा में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि गृह्यमानज्ञान की भाँति ग्रहीतग्राही ज्ञान भी प्रमाण है। (१/१/४)

जहाँ तक धर्मकीर्ति के द्वारा अविसंवादि ज्ञान को ही प्रमाण लक्षण स्वीकार करने का प्रश्न है, जैन दार्शनिकों का इससे सांव्यावहारिक स्तर पर कोई विशेष विरोध नहीं रहा हैं, क्योंकि अकलंक आदि ने तो इसे प्रमाणलक्षण के रूप में स्वीकार किया भी है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में धर्मकीर्ति का यह प्रमाणलक्षण ही सर्वाधिक मान्य रहा है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति ने अविसंवादिता का तात्पर्य, अर्थ और ज्ञान में सारूप्य या अभ्रान्तता न मानकर अर्थक्रियास्थिति को स्वीकार किया। प्रमाणवार्त्तिक (१/३) में वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि "अर्थक्रिया की स्थिति ही अविसंवादिता" है। पुन: अर्थक्रिया की स्थिति का भी अर्थप्रापण की योग्यता के रूप में प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्ति के टीकाकार धर्मोत्तर ने इसकी विस्तृत विवेचना भी की है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाण लक्षण की विवेचना में जैन दृष्टिकोण को न तो पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और न ही उसकी समीक्षा की है। जबकि जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों की ही प्रमाण सम्बन्धी अवधारणा को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी ने प्रमाणलक्षण की चर्चा में दिङ्नाग की मान्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट नामोल्लेख पूर्वक दिङ्नाग के प्रमाणलक्षण की समीक्षा नहीं करते है। अपने प्रमाणलक्षण की चर्चा में उन्होंने उसे स्व और पर का आभासक तथा बाधविवर्जित ज्ञान कहा है (प्रमाणंस्व-पराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्-न्यायावतार १)।

सिद्धसेन द्वारा प्रतिपादित इस प्रमाण लक्षण में नैयायिकों के समान ज्ञान के कारण (हेतुओं) को प्रमाण न कहकर ज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। ज्ञान को ही प्रमाण मानने के सम्बन्ध में जैन और बौद्ध दार्शनिकों में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट रूप से तो अपने ग्रंथ में बौद्धों का नाम लेकर उनका खण्डन नहीं करते हैं, किन्तु प्रमाणलक्षण की उनकी यह परिभाषा एक ओर विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद (योगाचार) का तथा दूसरी ओर बाह्यार्थवादी मीमांसकों और नैयायिकों की ऐकान्तिक मान्यताओं का खण्डन कर उनमें समन्वय करती है। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद अर्थात् योगाचारदर्शन बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है, इसलिए उनके अनुसार प्रमाण (ज्ञान) स्वप्रकाशक है। दूसरे शब्दों में ज्ञान अपने को ही जानता है। जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन के पश्चात् अकलंक, विद्यानन्दी, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि सभी अपने प्रमाण सम्बन्धी ग्रन्थों में बाह्यार्थ का निषेध करने वाले या यह मानने वाले कि ज्ञान केवल स्वप्रकाशक है, विज्ञानवादी बौद्धों का विस्तार से खण्डन करते हैं। उनकी समीक्षा का सार यह है कि ज्ञान से भिन्न ज्ञेय रूप बाह्यार्थ का अभाव मानने पर स्वयं ज्ञान के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के अभाव में संभव नहीं है, इसके विरोध में बौद्धों का उत्तर यह है कि स्वप्न आदि में अर्थ के अभाव में ज्ञान होता है। किन्तु उनका यह कथन सार्थक नहीं है। प्रथम तो यह कि सभी ज्ञान अर्थ के बिना होते हैं, यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। दूसरे यह कि स्वप्न में जिन वस्तुओं का अनुभव होता है, वे उसके पूर्व यथार्थ रूप से अनुभूत होती हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी प्रमाणलक्षण की चर्चा में उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक अथवा अनधिगतज्ञान नहीं माना है।

जहाँ तक धर्मकीर्ति के द्वारा प्रमाण को अविसंवादि मानने का प्रश्न है, जैन परंपरा में सिद्धसेन दिवाकर ने भी न्यायावतार में प्रमाण को बाधविवर्जित कहा है। यद्यपि बाधविवर्जित और अविसंवादि में आंशिक समानता और आंशिक अन्तर है, इसकी चर्चा आगे की गई है। जैन दर्शन में अकलंक एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने अष्टशती में प्रमाणलक्षण का निरूपण करते हुए प्रमाण को अविसंवादि एवं अनधिगत अर्थ का ज्ञान माना है (प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्-अष्टशती, अष्टसाहस्त्री पृ. १७५)। यहाँ हम देखते हैं कि अकलंक ने बौद्ध दार्शनिकों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों के प्रमाणलक्षण को समन्वित कर अपना प्रमालक्षण बनाया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयं धर्मकीर्ति ने भी प्रमाण लक्षण में अविसंवादिता के साथ-साथ अनधिगतता को स्वीकार किया था। इस प्रकार प्रमाणलक्षण के निरूपण में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति और जैनाचार्य अकलंक दोनों का मन्तव्य समान है। यही कारण है कि कुछ विद्वान स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि अकलंक ने जो प्रमालक्षण निरूपित किया है, वह बौद्धों से और विशेष रूप से धर्मकीर्ति से प्रभावित है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अकलंक (८ वीं शती) और धर्मकीर्ति (७ वीं शती) में लगभग एक शती का अंतर है। अत: उनके चिन्तन पर धर्मकीर्ति का प्रभाव परिलक्षित होना अस्वाभिक नहीं है, किन्तु आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि जैनन्याय के प्रमुख विद्वान अकलंक जहाँ एक ओर तत्त्वार्थवार्त्तिक में प्रमाण को अनधिगत ज्ञान मानने का खण्डन करते हैं, वहीं अष्टशती में वे उसका समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। इस संदर्भ में जैन और बौद्ध न्याय के युवा विद्वान डॉ. धर्मचन्द्र जैन का यह कथन युक्ति संगत है कि क्षणिकवादी एवं प्रमाण-विप्लववादी बौद्धों की तत्त्वमीमांसा व प्रमाणमीमांसा में अनधिगत अर्थ के ग्राहक ज्ञान का प्रमाण होना उपयुक्त हो सकता है, किन्तु नित्यानित्यवादी एवं प्रमाण- संप्लववादी जैन दार्शनिकों के मत में नहीं (बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा पृ. ७९)।

जैनन्याय में अनधिगत अर्थात् अगृहीतग्राही ज्ञान या अपूर्वज्ञान को प्रमाण- लक्षण में सर्वप्रथम

स्थान अकलंक ने ही दिया था, उसके पश्चात् माणिक्यनंदी आदि अनेक दिगम्बर जैन दार्शनिक प्रमाणलक्षण में अपूर्व या अनधिगत शब्द का प्रयोग करते रहे हैं, किन्तु अकलंक के निकटपरवर्ती विद्यानन्द (लगभग 9 वीं शती) ने तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिक में अपूर्व या अनधिगत विशेषण को प्रमाणलक्षण में व्यर्थ माना (तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक १/१०/७७) है। उनके पश्चात् प्रभाचन्द्र (दसवीं शती) ने अपूर्व या अनधिगत अर्थ के ग्राही ज्ञान को प्रमाणलक्षण निरूपण में एकांतरूप से व्यर्थ तो नहीं कहा, लेकिन इतना अवश्य कहा है कि प्रमाण कथंचित् ही अपूर्व अर्थ का ग्राही होता है, किन्तु सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राही नहीं होता है।

जहाँ तक धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक लक्षण का प्रश्न है, यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर ने बाधविवर्जित कहकर किसी अर्थ में उसे स्वीकार किया है, किन्तु बाधविवर्जित एवं अविसंवादकता दोनों एक नहीं है। बाधविवर्जित होने का अर्थ है, स्वत: एवं अन्य किसी प्रमाण का विरोधी या अविसंवादि नहीं होना है, जबकि अविसंवादिता का सामान्य अर्थ है ज्ञान और ज्ञेय में सारूप्य या संगति। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि जैन दार्शनिक अकलंक ने धर्मकीर्ति के इस अविसंवादकता नामक प्रमाण लक्षण को स्वीकार किया है। उनके परवर्ती माणिक्यनन्दी आदि अन्य दिगम्बर जैन आचार्यों ने भी उसका समर्थन किया, किन्तु दिगम्बर विद्वान विद्यानंद तथा श्वेताम्बर विद्वान सिद्धर्षि (9 वीं शती) ने प्रमाण के अविसंवादिता नामक लक्षण का खण्डन किया है। विद्यानन्द का कहना है कि बौद्धों ने स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस एवं योगज ऐसे चार प्रकार के प्रत्यक्ष माने हैं, किन्तु बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के अनुसार ये प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होते हैं। निर्विकल्पक होने से व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं हो सकते हैं और जो व्यवसायात्मक नहीं है, वह स्वविषय का उपदर्शक भी नहीं हो सकता है और जो स्वविषय का उपदर्शक नहीं हो सकता है, वह अर्थ का प्रापक भी नहीं हो सकता है और जो अर्थ का प्रापक ही नहीं है, वह अर्थ से अविसंवादक कैसे हो सकता है? इस प्रकार विद्यानन्द धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष-प्रमाण की अविसंवादकता का खण्डन कर देते हैं।

अनुमान के संदर्भ में भी विद्यानन्द लिखते हैं कि बौद्धों के अनुसार अनुमान भ्रान्त है और यदि अनुमान भ्रान्त है तो फिर वह अविसंवादक कैसे हो सकता है? दूसरे अनुमान का आलम्बन सामान्य है और बौद्ध परम्परा के अनुसार सामान्य, मिथ्या या अवास्तविक है। सामान्य के आलम्बन के बिना अनुमान संभव ही नहीं है, अत: उसके अविसंवादक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार विद्यानन्द धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक नामक लक्षण का उन्हें मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों का खण्डन कर देते हैं। विद्यानन्द का कहना है कि बौद्ध प्रमाणव्यवस्था में प्रमाण का अविसंवादक नामक लक्षण घटित नहीं हो सकता है। धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक लक्षण का खण्डन जैन विद्यानन्द के अतिरिक्त अभयदेवसूरि ने अपनी सन्मतितर्कप्रकरण की तत्त्वबोधविधायिनीटीका में, सिद्धर्षि ने न्यायावतार की विवृत्ति में, प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में, वादिदेवसूरि ने प्रमाणनय-तत्त्वालोक की स्वपोज्ञवृत्ति स्याद्वादरत्नाकर में तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा की स्वोपज्ञटीका में इसका खण्डन किया है। विस्तार भय से यहाँ उस समस्त चर्चा में जाना संभव नहीं है। ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणलक्षण में अविसंवादकता का जो खण्डन किया है वह बौद्धों की पारमार्थिक दृष्टि के आधार पर ही किया है। जैनों का कथन है कि अविसंवादिता नामक प्रमाणलक्षण पारमार्थिकदृष्टि से घटित होना चाहिए, तभी अविसंवादक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य लक्षण स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यह भी सत्य है कि धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिक प्रमाण के अविसंवादिता नामक लक्षण को सांव्यावहारिक दृष्टि से ही घटित करते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि बौद्ध दार्शनिक प्रमाणव्यवस्था को सांव्यावहारिक आधार पर ही मान्य करते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से तो उनके यहाँ प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था बनती ही नहीं है।

प्रमाणों के प्रकार :-

जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या में कालक्रम में परिवर्तन होता रहा है। अर्धमागधी जैन आगमों में भगवतीसूत्र एवं अनुयोगद्वारसूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम ऐसे चार प्रमाण प्रतिपादित किये गए हैं। स्थानांगसूत्र में इन्हीं चार प्रमाणों को हेतु शब्द से अभिहित किया गया है। इसी सूत्र में अन्यत्र व्यवसाय शब्द से अभिहित करते हुए प्रमाणों के तीन भेद बताए गए हैं - १ प्रत्यक्ष, २ प्रात्ययिक और ३ अनुगामी। इस प्रकार जैन आगमों में कहीं चार और कहीं तीन प्रमाणों के उल्लेख मिलते हैं। आगमों में जिन चार या तीन प्रमाणों का उल्लेख हुआ है, वे क्रमशः न्यायदर्शन एवं सांख्यदर्शन को भी मान्य रहे हैं। चाहे इन प्रमाणों के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद विवेचनाओं में अंतर हो, किन्तु नामों के संदर्भ में कोई मतभेद नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण के भेदों के सम्बन्ध में जैनों ने न्यायदर्शन का अनुकरण न करके अपनी ही दृष्टि से चर्चा की हैं और वहाँ प्रत्यक्ष के "केवल" और "नो केवल" ऐसे दो विभाग किए गए हैं। यही दोनों विभाग परवर्ती जैन न्याय के ग्रंथों में भी सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष के रूप में उपलब्ध होते हैं। अनुयोगद्वारसूत्र में इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर उसके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् मानस प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद किए हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का उल्लेख होते हुए भी उसके भेद-प्रभेद की अपेक्षा से जैन दर्शन और न्याय दर्शन में मतभेद है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन आगमों में प्रमाण के जो चार भेद किए गए हैं, वे ही चार भेद बौद्ध ग्रंथ उपायहृदय में भी मिलते हैं। (अथ कतिविधं, चतुर्विधं प्रमाणम्। प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति- उपायहृदय पृ. १३)

उपायहृदय को यद्यपि चीनी स्रोत नागार्जुन की रचना मानते हैं, किन्तु जहाँ नागार्जुन वैदल्यसूत्र में एवं विग्रहव्यावर्त्तनी में प्रमाण एवं प्रमेय का खण्डन करते हैं, वहाँ उपायहृदय में वे उनका मण्डन करें, यह संभव प्रतीत नहीं होता, फिर भी यह ग्रंथ बौद्ध न्याय का प्राचीन ग्रंथ होने के साथ-साथ न्यायदर्शन और जैनों की आगमिक प्रमाण व्यवस्था का अनुसरण करता प्रतीत होता है। यहाँ एक विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जैनग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र, बौद्धग्रन्थ उपायहृदय, न्यायदर्शन और सांख्यदर्शन में अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत्-ऐसे तीन भेद भी समान रूप से उपलब्ध होते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि, बौद्धग्रन्थ उपायहृदय, न्यायसूत्र और सांख्यदर्शन में दृष्टसाधर्म्यवत् के स्थान पर सामान्यतोदृष्ट शब्द का उल्लेख हुआ है। ऐसा लगता हैं कि, भारतीय न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक विकास के काल में जैन, बौद्ध, न्याय एवं सांख्य दर्शन में कुछ एकरूपता थी, जो कालांतर में नहीं रही। प्रमाण संख्या को लेकर जहाँ जैन परम्परा में कालक्रम में अनेक परिवर्तन हुए हैं वहाँ परम्परा में उपायहृदय के पश्चात् एक स्थिरता परिलक्षित होती है। उपायहृदय के पश्चात् दिङ्नाग से लेकर परवर्ती सभी बौद्ध आचार्यों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रमाण माने हैं।

प्रमाणों की संख्या को लेकर जैन परम्परा में हमें तीन प्रकार की अवधारणाएँ मिलती है। सर्वप्रथम आगम युग में जैन परम्परा में चार प्रमाण स्वीकार किए गए थे। उसके पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र (२ री-३ री शती) में प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ऐसे दो भेद किये गये। सिद्धसेन दिवाकर (चौथी शती) ने अपने "न्यायावतार" में आगमिक युग के औपम्य को अलग करके तीन प्रमाण ही स्वीकार किए। तत्त्वार्थसूत्र में पाँच ज्ञानों को प्रमाण कहकर मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष प्रमाण के रूप में तथा अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया था। उमास्वाति का प्रमाणवाद वस्तुतः आगमिक पँच ज्ञानवाद से प्रभावित हैं। जबकि सिद्धसेन की प्रमाण व्यवस्था आगमिक एवं अन्य दर्शनों के प्रमाणवाद से प्रभावित हैं। सिद्धसेन के पश्चात् और अकलंक के पूर्व तक हरिभद्र आदि जैन आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण ही मानते रहे, किन्तु लगभग आठवीं शताब्दी

में अकलंक ने सर्वप्रथम स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण मानकर जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या छः निर्धारित की। अकलंक ने अपने ग्रंथों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण मानकर जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या छः निर्धारित की। अकलंक ने अपने ग्रंथों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। उनके पश्चात् सिद्धर्षि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि सभी जैन आचार्यों ने अपनी-अपनी कृतियों में विस्तार से स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क का स्वतंत्र प्रमाण्य स्थापित किया है। विस्तारभय से यहाँ उन तर्कों को प्रस्तुत करना संभव नहीं हैं। फिर भी यह ज्ञातव्य है कि, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि ने बौद्धाचार्यों के द्वारा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण नहीं मानने का अनेक युक्तियों से खण्डन किया हैं।

जहाँ तक आगम प्रमाण का प्रश्न हैं, बौद्ध वैशेषिकों के समान ही इसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करते हैं। जबकि जैन उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों के समान ही धर्मकीर्ति भी शब्द को पौरुषेय मानते हैं। फिर भी वे उसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते। जबकि जैन दार्शनिक अकलंक, प्रभाचन्द, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि ने आगम को स्वतंत्र प्रमाण मानने के संदर्भ में अनेक युक्तियाँ दी हैं, साथ ही बौद्धों के द्वारा आगम को अनुमान में समाहित करने के दृष्टिकोण की विस्तृत समीक्षा भी की है। जैन दार्शनिकों का यह वैशिष्ट्य है कि उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क (ऊह), अनुमान और आगम का परोक्षप्रमाण में अन्तर्भाव करके भी प्रत्येक को स्वतंत्र रूप से प्रमाण माना है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में स्मृति प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र रूप से प्रमाण का स्थान देना केवल जैनदर्शन का ही वैशिष्ट्य हैं। अन्य दर्शनों ने इनकी उपयोगिता को तो स्वीकार किया गया, किन्तु उन्हें स्वतंत्र प्रमाण होने का गौरव नहीं दिया।

प्रमेय का स्वरूप एवं समीक्षा :-

जहाँ तक प्रमेय का प्रश्न है जैन दर्शन में उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणयुक्त सामान्य विशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुतत्त्व या अर्थ को ही समस्त प्रमाणों का विषय माना है। जैन दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों के समान अलग-अलग प्रमाणों के लिए अलग-अलग प्रमेयों की व्यवस्था नहीं करते हैं। वस्तुतः जहाँ बौद्ध प्रमाणव्यवस्थावादी हैं वहाँ जैन प्रमाणसंप्लववादी हैं। बौद्ध दर्शन में प्रमेय दो हैं - १. स्वलक्षण और २. सामान्यलक्षण। पुनः उनके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण अर्थ अर्थात् परमार्थसत् है और अनुमानप्रमाण का विषय सामान्यलक्षण या संवृत्तिसत् है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति स्वलक्षण को ही एक मात्र प्रमेय मानते हैं, क्योंकि उसी में अर्थक्रियासामर्थ्य हैं। जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के दर्शन को विज्ञानाद्वैतवाद माना है, विज्ञानद्वैतवादी होने के कारण धर्मकीर्ति के मत में परमार्थसत् तो एक ही हैं, अतः प्रमेय भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते, यदि सामान्यलक्षण को प्रमेय कहा जायेगा तो वह तो काल्पनिक और अवस्तु रूप हैं, वह प्रमेय नहीं हो सकता है। पुनः जैन दार्शनिकों का कहना है कि प्रमेय या अर्थ जब भी प्रतिभासित होता हैं, वह सामान्य विशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक ही होता हैं। द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य की अनुभूति नहीं हैं, उसी प्रकार सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य की भी कहीं अनुभूति नहीं हैं। व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि अनुस्यूत हैं, अतः बौद्ध दार्शनिकों का सामान्यलक्षण प्रमेय नहीं हो सकता हैं, क्योंकि वह वस्तुसत् या स्वलक्षण नहीं है। पुनः अकलंक का कहना है कि मात्र स्वलक्षण भी प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका भी अलग से कहीं बोध नहीं होता है और न वह अभिधेय होता है। अतः प्रमाण का विषय या प्रमेय तो सामान्यविशेषात्मक या द्रव्य- पर्यायात्मक वस्तु ही हैं। पुनः बौद्धों ने जिसे स्वलक्षण कहा उसे या तो क्षणिक मानना होगा या नित्य मानना होगा, किन्तु एकांत क्षणिक और एकांत नित्य में भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं हैं, जबकि स्वलक्षण को अर्थक्रिया में समर्थ होना चाहिए, अतः जैन दार्शनिकों का कथन

है कि नित्यानित्य या उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु ही प्रमेय हो सकती है। यहाँ ज्ञातव्य है कि बौद्ध दार्शनिक भी परमतत्त्व, परमार्थ या स्वलक्षण को न तो नित्य मानते हैं और न अनित्य मानते हैं। जैन और बौद्ध दर्शन में मात्र अन्तर यह है कि जहाँ जैन दर्शन विधिमुख से उसे नित्यानित्य, सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक कहता है, वहाँ बौद्ध दर्शन उसके सम्बन्ध में निषेधमुख से यह कहते हैं कि वह सामान्य भी नहीं हैं, विशेष भी नहीं हैं, शाश्वत भी नहीं हैं, विनाशशील भी नहीं हैं आदि आदि। प्रमेय के स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों में जो अन्तर है वह प्रतिपादन की विधिमुख और निषेधमुख शैली का है। इसप्रकार दोनों दर्शनों में प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप के सम्बन्ध में क्वचित् समानताएँ और क्वचित् भिन्नता लिए हुए हैं।

उपसंहार :-

बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा में जो समानताएँ और असमानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है -[1]

१. जैन और बौद्ध दर्शन दोनों ही दो प्रमाण मानते हैं, किन्तु जहाँ जैनदर्शन प्रमाण के इस द्वैविध्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों का उल्लेख करता हैं, वहाँ बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रमाण के द्विविध वर्गीकरण के सम्बन्ध में एकमत होते हुए भी उनके नाम और स्वरूप को लेकर दोनों में मतभेद है। दोनों दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण तो समान रूप से स्वीकृत हैं, किन्तु दूसरे प्रमाण के रूप में जहाँ बौद्ध अनुमान प्रमाण का उल्लेख करते हैं, वहाँ जैन परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करते हैं और परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में एक भेद अनुमान प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष प्रमाण में वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम को भी प्रमाण मानते हैं।

२. बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक दो प्रमेयों के लिए दो अलग-अलग प्रमाणों की व्यवस्था की गई है, क्योंकि उनके अनुसार स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है और सामान्यलक्षण का ग्रहण अनुमान प्रमाण से होता है। किन्तु जैन दर्शन वस्तुतत्त्व को सामान्यविशेषात्मक मानकर यह मानता है कि जिस प्रमेय को किस एक प्रमाण से जाना जाता है उसे ही अन्य-अन्य प्रमाणों से भी जाना जा सकता है, अर्थात् सभी प्रमेय सभी प्रमाणों के विषय हो सकते हैं, जैसे अग्नि को प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से जाना जा सकता है। इस आधार पर विद्वानों ने बौद्धदर्शन को प्रमाणव्यवस्थावादी और जैनदर्शन को प्रमाणसंप्लववादी कहा है।

३. प्रमाणलक्षण के सम्बन्ध में भी दोनों में कुछ असमानताएँ और कुछ मतभेद हैं, प्रमाण की अविसंवादकता दोनों को मान्य हैं, किन्तु अविसंवादकता के तात्पर्य को लेकर दोनों में मतभेद हैं। जहाँ जैनदर्शन अविसंवादकता का अर्थ ज्ञान में आत्मगत संगति और ज्ञान और उसके विषय (अर्थ) में वस्तुगत संगति और उसका अन्य प्रमाणों से अबाधित होना मानता है, वहीं बौद्धदर्शन अविसंवादकता का सम्बन्ध अर्थक्रिया से जोड़ता है। बौद्ध दर्शन में अविसंवादकता का अर्थ है अर्थक्रियास्थिति, अवंचकता और अर्थप्रापकता। इस प्रकार दोनों दर्शनों में अविसंवादिता का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। दूसरे बौद्धदर्शन में अविसंवादिता को सांव्यावहारिक स्तर पर माना गया है जबकि जैन दर्शन का कहना है कि अविसंवादिता पारमार्थिक स्तर पर होना चाहिए। प्रमाण के दूसरे लक्षण अनधिगत अर्थ का ग्राहक होना, अकलंक आदि कुछ दार्शनिकों तो मान्य है, किन्तु विद्यानन्द जैसे कुछ जैन दार्शनिक इसे प्रमाण का आवश्यक लक्षण नहीं मानते हैं।

४. जैन और बौद्ध दोनों दर्शन इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि प्रमाण ज्ञानात्मक है। वे ज्ञान के करण या हेतु (साधन) को प्रमाण नहीं मानते हैं, फिर भी जहाँ जैन दार्शनिक प्रमाण को व्यवसायात्मक मानते हैं वहाँ बौद्ध दार्शनिक कम से कम प्रत्यक्ष प्रमाण को तो निर्विकल्पक मानकर व्यवसायात्मक नहीं मानते हैं।

५. बौद्धदर्शन में जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक या कल्पनापोढ और अनुमान प्रमाण को सविकल्पक माना गया है वहाँ जैन दर्शन दोनों ही प्रमाणों को सविकल्पक मानता हैं, क्योंकि उनके अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक ही होता है। उनका कहना है कि प्रमाण ज्ञान है और ज्ञान सदैव सामान्यविशेषात्मक और सविकल्पक ही होता है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में दर्शन और ज्ञान में भेद किया है और दर्शन को सामान्य एवं निर्विकल्पक और ज्ञान को विशेष और सविकल्पक कहा गया है। बौद्धों को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुत: जैनों का 'दर्शन' है।

६. जैनदर्शन में सिद्धसेन दिवाकर ने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को ही अभ्रान्त माना हैं, जबकि बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष को अभ्रान्त तथा अनुमान को भ्रान्त कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की अभ्रान्तता तो दोनों को स्वीकार्य है, किन्तु अनुमान की अभ्रान्तता के सम्बन्ध में दोनों में वैमत्य (मतभेद) है। जैन दार्शनिकों का कहना है जो भ्रान्त हो, उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

७. बौद्धदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को अभ्रान्त कहकर उसे प्रमाण के रूप में स्वीकार करता हैं, जबकि जैनदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को, जिसे वे अपनी पारिभाषिक शैली में "दर्शन" कहते हैं, प्रमाण की कोटि में स्वीकार नहीं करते हैं। जैनों के यहाँ दर्शन प्रमाण नहीं है क्योंकि वह मात्र अनुभूति है, निर्णीत नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण व्यवसयात्मक होने से सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक दर्शन अर्थात् बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है।

८. प्रमाण की परिभाषा को लेकर भी दोनों में कथंचित् मतभेद देखा जाता है। बौद्ध दर्शन में प्रमाण को स्व का प्रकाशक माना गया है, पर का प्रकाशक नहीं। क्योंकि उनके यहाँ योगाचार दर्शन में अर्थ अर्थात् प्रमाण का विषय (प्रमेय) भी वस्तुरूप न होकर ज्ञानरूप ही है। जबकि जैन दर्शन में प्रमाण को स्वपर अर्थात् अपना और अपने अर्थ का प्रकाशक माना गया है (स्वपरव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्)। जैनों के अनुसार प्रमाण स्वयं अपने को और अपने विषय को दोनों को ही जानता है। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन "प्रत्यक्ष" को कल्पनाजन्य तो नहीं मानते हैं, किन्तु कल्पना के अर्थ (तात्पर्य) को लेकर दोनों में मतभेद है। जैन दर्शन में कल्पना रहित होने का तात्पर्य वस्तुसत् अर्थात वस्तुगतसत्ता Objective Reality होना है, जबकि बौद्ध दर्शन में कल्पना रहित होने का अर्थ अनुभूत सत् या Subjective Reality है।

९. बौद्ध दार्शनिक अनुमान के दो भेद करते हैं, स्वार्थ और परार्थ। जैन दार्शनिक भी अनुमान के इन दोनों भेदों को स्वीकार करते हैं, किन्तु जैनदार्शनिक सिद्धसेन "न्यायावतार" में प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ दो भेद करते हैं। सिद्धसेन दिवाकर के अतिरिक्त कुछ अन्य जैन आचार्यों जैसे शान्तिसूरि एवं वादिदेवसूरि ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है।

१०. प्रत्यक्षप्रमाण के स्वरूप एवं भेदों को लेकर भी दोनों में मतभेद देखा जा सकता है। प्रथम तो जैसाकि पूर्व में उल्लेख किया है जहाँ बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित और निर्विकल्पक मानते हैं वहाँ जैन दार्शनिक उसे सविकल्पक कहते हैं। पुन: बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को जैनों के समान सांव्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो भेद नहीं करते हैं। उनके यहाँ प्रत्यक्ष के चार भेद हैं - १. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष २. इन्द्रिय प्रत्यक्ष ३. मानस प्रत्यक्ष ४. योगज प्रत्यक्ष। प्रथम तो जहाँ

जैन इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, वहाँ बौद्ध प्रत्यक्ष में ऐसा कोई विभाजन नहीं करते। पुन: जहाँ जैन दर्शन में इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ऐसे चार भेद किए गए हैं वहाँ बौद्ध दर्शन में ऐसा कोई उल्लेख मिलता नहीं है। बौद्ध दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में योगज प्रत्यक्ष को रखा गया है जबकि जैनदर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान या पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान को रखा गया है। जहाँ तक बौद्धों के स्वसंवेदन का प्रश्न है, जैनों ने उसे दर्शन कहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के स्वरूप और प्रकारों को लेकर दोनों में मतभेद है।

११. पुन: प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जहाँ बौद्ध दार्शनिक श्रोतेन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय दोनों को अप्राप्यकारी मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक केवल चक्षु-इन्द्रिय को ही अप्राप्यकारी मानते हैं। जैनों के अनुसार श्रोतेन्द्रिय शब्द का ग्रहण इन्द्रिय सम्पर्क होने के आधार पर ही करती हैं, दूर से नहीं करती है। इस प्रकार श्रोतेन्द्रिय की प्राप्यकारिता को लेकर दोनों में मतभेद है। रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका में अनेक तर्कों के आधार पर श्रोतेन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। किन्तु चक्षु-इन्द्रिय को दोनों ही अप्राप्यकारी मानते हैं।

१२. हेतु के लक्षण को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद देखा जा सकता है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक त्रैरूप्य हेतु अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष-असत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक साध्यसाधन अविनाभाव अर्थात् अन्यथानुपलब्धि को ही हेतु का एकमात्र लक्षण बताते हैं। जैन दार्शनिक पात्रकेसरी ने तो एतदर्थ "त्रिलक्षणकदर्शन" नामक स्वतंत्र ग्रंथ की ही रचना की थी।

१३. अनुपलब्धि को जहाँ बौद्ध दार्शनिक मात्र निषेधात्मक या अभाव रूप मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक उसे विधि-निषेध रूप मानते हैं।

१४. बौद्ध दर्शन में आगम, उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों को अनुमान प्रमाण का ही एक अंग माना गया है। जबकि जैन दार्शनिक आगम को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं; साथ ही वे स्मृति प्रत्यभिज्ञा, तर्क को भी स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। वे उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञा में और अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में करते है। जैनों ने अपने प्रमाण सम्बन्धी ग्रन्थों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और ऊह या तर्कप्रमाण के स्वतंत्र प्रमाण होने का प्रतिपादन अनेक युक्तियों के सहारे किया है फिर भी यह ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में इन तीनों प्रमाणों की चर्चा अकलंक के काल अर्थात् ८ वीं शती से ही मिलती है। पुन: यह भी ज्ञातव्य है जिस प्रकार बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में करता है उसी प्रकार जैन अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव परोक्षप्रमाण में करता है।

१५. शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर भी दोनों में क्वचित् मतभेद है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों के समान ही शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध और तदुत्पत्ति सम्बन्ध तो नहीं मानते हैं, किन्तु वाच्य-वाचक सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार से शब्द अर्थ के सम्बन्ध को लेकर दोनों में आंशिक समानता एवं आंशिक मतभेद है। इस मतभेद की समीक्षा जैन आचार्यों ने अपने ग्रंथों में की है। इसी क्रम में जैनों ने बौद्धों के अपोहवाद की भी समीक्षा भी अपने प्रमाण सम्बन्धी ग्रन्थों में की है। बौद्धों के अन्यापोह का अर्थ है अतद्व्यावृत्ति अर्थात् शब्द अन्य की व्यावृत्ति करके अपने अर्थ को बताता हैं। जैन दार्शनिकों में अकलंक, विद्यानन्द, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि ने इस अपोहवाद का निरसन किया है।

***

परिच्छेद : चौदह

उमेशचन्द्र दुबे

उमेश चन्द्र दुबे

प्रो. उमेश चन्द्र दुबे का जन्म (१९५१) उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद (छितौनी) में हुआ था। इनकी प्रारंम्भिक शिक्षा बलिया में ही सम्पन्न हुई और स्नातक (१९७०) एवं स्नातकोत्तर (१९७२) स्तर तक की शिक्षा इन्होंने महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ-वाराणसी से ग्रहण किया। महर्षि अरविन्द एवं ब्रैडले के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन पर केन्द्रित इनके शोध-कार्य के लिए इन्हें पी-एच.डी. (१९७७) की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। प्रो. दुबे ने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ही लेक्चर (१९७७) पद पर नियुक्ति के साथ किया और क्रमश: यहीं सोपानक्रम में रीडर एवं प्रोफेसर पद पर आसीन हुए। सम्प्रति विभागाध्यक्ष एवं यू.जी.सी.स्पेशल असिस्टेंस प्रोगाम के समन्वयक का दायित्व संभाले हुए हैं। प्रो. दुबे की विशेषज्ञता महर्षि अरविन्द के दार्शनिक चिन्तन में है। बहुविध व्याख्यानों एवं गवेषणात्मक शोध-निबन्धों के द्वारा इन्होंने अपनी विशेषज्ञता को अभिव्यक्ति देने का भरसक प्रयास किया है। 'श्री अरविन्द एवं ब्रैडले का परमतत्त्ववाद' एवं 'श्री अरविन्द का संस्कृति दर्शन' इनकी बहुमान्य कृतियाँ हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार (१९९३) द्वारा इन्हें सम्मानित भी किया जा चुका है।

*

अरविन्द का समग्र अद्वैतवाद एवं अनन्त का तर्क

श्री अरविन्द ने मुख्यत: उपनिषद्, गीता एवं तन्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर अपने दर्शन को विकसित किया है। वेदान्त की जिस गम्भीर तथा बलवती विचारधारा का वेद और उपनिषद्-काल में आरम्भ हुआ था, उसका श्री अरविन्द में अत्युज्जवल रूप प्रदर्शित होता है। वस्तुत: श्री अरविन्द-दर्शन के मूल बीज वेदों एवं उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। अत: कुछ लोग यह कहते हैं कि इनका दर्शन वैदिक एवं उपनिषदीय चिन्तनधारा की पुर्नस्थापना करता है। उपनिषद्, गीता एवं तन्त्र की मूलभूत शिक्षाओं के आधार पर श्री अरविन्द समग्र अद्वैतवाद (Integral advaitism) के सिद्धान्त को विकसित करते हैं एवं वे इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि यह समग्र अद्वैतवाद ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है, परन्तु आचार्य शंकर ने जगत् की वास्तविकता का निषेध करके चरम सत्ता अथवा एकमात्र ब्रह्म की स्थापना की है। आचार्य शंकर एवं उनके मतावलम्बी व्यावहारिक द्दष्टि से जगत् की सत्ता को सत्य तो मानते हैं, परन्तु पारमार्थिक द्रृष्टि से वे जगत् को नितान्त मिथ्या घोषित करते हैं और इस प्रकार जगत् के मिथ्यात्व की घोषणा करके अद्वैतवाद की स्थापना करते हैं। परन्तु श्री अरविन्द जगत् के मिथ्यात्व की घोषणा करके अद्वैतवाद की स्थापना नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि यदि एकमात्र ब्रह्म ही अस्तित्त्व रखता है और यह सब ब्रह्म है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" तो जगत् भी उस यथार्थ तत्त्व से कथमपि बाहर नहीं किया जा सकता है, एतदर्थ जगत् यथार्थ है। इस प्रकार श्री अरविन्द जगत् की यथार्थता को स्वीकार करते हुए अद्वैतवाद की स्थापना करते हैं। जगत् की यथार्थता की स्वीकृति से यह स्पष्ट है कि वे सत्ता या अस्तित्त्व के किसी भी पक्ष को अस्वीकार नहीं करते हैं, अपितु वे उन्हें परम सत् का ही एक रूप मानते हैं। अत: श्री अरविन्द का अद्वैतवाद 'अनंत के तर्क'[१] पर आधारित है परन्तु जगत् एवं व्यक्ति की यथार्थता का निषेध नहीं करता। अपितु यह अनन्त एवं सान्त, एक एवं अनेक, सत् एवं संभूति, निर्गुण एवं सगुण के बीच सभी विरोधों का समन्वय करता है। इस प्रकार श्री अरविन्द का अद्वैतवाद आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से भिन्न है। चूँकि श्री अरविन्द सत्ता या अस्तित्त्व के सभी पक्षों को अंगीकार करते हैं, अत: उनके दर्शन के कुछ सुधी समीक्षकों ने जैसे रामशंकर मिश्र ने उनके दर्शन को समग्र अद्वैतवाद (Integral Advaitism) की संज्ञा दी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ शंकर का अद्वैतवाद जगत् की यथार्थता के निषेध पर आधृत है, वहाँ श्री अरविन्द का अद्वैतवाद न तो जगत् की यथार्थता का निषेध करता है और न तो व्यक्ति की यथार्थता का ही। एतदर्थ श्री अरविन्द का अद्वैतवाद समग्रता का प्रतिपादक है जो सत्ता के समस्त पक्षों को अपनी सर्वग्राही एकता में समाविष्ट करता है। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं, "सच्चा अद्वैत वह है जो समस्त पदार्थों को एकतम ब्रह्म (सर्व खल्विदं ब्रह्म) मानता हैं, और उसकी सत्ता को दो असम्बद्ध तत्त्वों में - नित्य सत्य और मिथ्यात्व, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, यथार्थ आत्मा और अयथार्थ किन्तु माया के रूप में - विभक्त करने का प्रयत्न नहीं करता। यदि यह सत्य है कि केवल आत्मा ही अस्तित्त्व रखता है तो यह भी सत्य होना चाहिए कि सब आत्मा है।"[२]

परमसत् (Being) भी है और संभूति (Becoming), भी है एवं इन दोनों का अतिक्रमण भी करता है। हम उसका निर्वचन उसे सत् या संभूति या दोनों का योग कहकर नहीं कर सकते हैं। वह हमारे सम्पूर्ण बुद्धि-विकल्पों का अतिक्रमण करता है। परन्तु हम सत् का बुद्धि-विकल्पों के सहारे एक या अनेक, सत् या संभूति के रूप में निर्धारण करने के लिए बाध्य हैं, क्योंकि हमारी बुद्धि देश, काल एवं कारणता की सीमाओं में ही विचरण करती है। परन्तु श्री अरविन्द का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक एवं समग्रतावादी है। वे परमसत् के सर्वग्राही स्वरूप में इन समस्त भेदों, विभिन्नताओं एवं खण्डों का अनन्त के तर्क के आधार पर समन्वय करते हैं, इनके दर्शन में सत् एवं सम्भूति, सगुण एवं निर्गुण एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, अपितु ये सत् के पूरक पक्ष हैं। इस प्रकार यहाँ शुद्ध सत् एवं संभूति इन दोनों की ही यथार्थता स्वीकृत है। श्री अरविन्द के अनुसार यदि हम परमसत् के निष्क्रिय स्वरूप पर एकाग्र हो जाते हैं, तो हम अनन्त के क्रियात्मक सत्य से वंचित हो जायेंगे एवं यदि हम उसके केवल क्रियात्मक सत्य को ही ग्रहण करते हैं, तो हम उसकी स्वरूप-स्थिति और शान्त-निश्चलता को खो देंगे। ऐसी स्थिति में हम केवल क्रियात्मक सत्ता, क्रियात्मक चेतना और क्रियात्मक आनन्द का ही अनुभव कर सकेंगे, परन्तु शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना एवं शुद्ध आनन्द को खो देंगे। अत: "हमें सत्य की केवल एक दिशा पर बल देना और अनन्त की दूसरी समस्त दिशाओं और पक्षों का बहिष्कार करके केवल उस एक दिशा से निष्कर्ष निकाल लेने या उसके आधार पर क्रिया करने की भूल नहीं करनी चाहिए।"[३] श्री अरविन्द के अनुसार यदि हम सत् के केवल किसी एक पक्ष पर ही एकाग्रता करते हैं और उसे सम्पूर्ण मानकर व्यवहार करते हैं तो हम अन्धे मनुष्यों और हाथी की कहानी का उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिसके अनुसार अन्धे अनुसन्धाताओं में से प्रत्येक ने हाथी के किसी एक अंग को ही स्पर्श किया और यह परिणाम निकाला कि हाथी उस अंग की तरह ही है जो उसने स्पर्श किया है।[४] अत: श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि, "अनन्त के किसी एक पक्ष का अनुभव अपना प्रामाण्य रखता है, परन्तु इससे हम यह सामान्य सिद्धान्त नहीं बना सकते कि अनन्त केवल वही है, ... अनन्त एक साथ एक सारतत्त्व, एक असीम समग्रता और एक बहुत्व है; अनन्त को सच्चे रूप में जानने के लिए सबको जानना होगा।"[५] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द परमसत् की समग्रता प्रतिपादित करते हैं। श्री अरविन्द परमसत् के सर्वग्राही स्वरूप में 'एकत्व एवं बहुत्व', 'शांति एवं क्रियात्मक शक्ति' तथा 'अनन्त एवं सान्त' का अनन्त के तर्क (Logic of the Infinite) के द्वारा समन्वय करते हैं। यह देखने के पूर्व कि अनन्त के तर्क के द्वारा श्री अरविन्द इन विरोधों का समन्वय परमसत् में कैसे करते हैं, हम 'अनन्त के तर्क' के स्वरूप पर विचार करेंगे।

अनन्त का तर्क

श्री अरविन्द परमसत् के लिए अनन्त के तर्क का विधान करते हैं। वे कहते हैं कि सत् अनन्त है, अत: उसकी सत्ता एवं क्रिया की विधि भी अनन्त होगी। 'यह सत् अनन्त है और उसकी सत्ता और कर्म की विधि भी अनन्त की होनी चाहिए, परन्तु हमारी चेतना सीमित है और हमारी युक्ति बुद्धि पदार्थों के आधार पर बनी है। अत: यह मानना युक्तिविरुद्ध है कि सान्त चेतना और युक्ति बुद्धि अनन्त के मापक हो सकते हैं, ये लघु वस्तुएँ उस अतिविशाल पदार्थ का निर्णय नहीं कर सकतीं, ये दरिद्र वस्तुएँ जो कि अपने स्वरूप साधनों के कारण सीमित उपयोग में ही लाई जा सकती हैं, उन समृद्धियों की वैभवशाली व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकतीं, अज्ञानयुक्त अर्द्धज्ञान सर्वज्ञानमय की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता।"[६] हमारी युक्ति भौतिक प्रकृति की सान्त क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाले हमारे अनुभव पर आधारित है। (यह अपूर्ण प्रेक्षण (Observation) और अनिश्चित बोध के आधार पर कुछ ऐसी अवधारणाओं को संगठित करती है जिन्हें सर्वसामान्य एवं विश्वव्यापी बनाने की चेष्टा

करती है और इन अवधारणाओं से जो विरुद्ध या भिन्न है उसे वह युक्ति-विरुद्ध एवं मिथ्या मानती है।) परन्तु श्री अरविन्द कहते हैं कि "यथार्थता के अनेक स्तर हैं और जो अवधारण, माप, मापक एक स्तर के लिए उपयुक्त हैं, वे दूसरे स्तर के लिए भी उपयुक्त हों, यह आवश्यक नहीं है। हमारी दैहिक सत्ता पहले अत्यणुओं से, अर्थात् इलेक्ट्रोनों, अणुओं, मौलीक्यूलों से बनी है, परन्तु इन अत्यणुओं के कर्म का नियम मानव-देह की भी समस्त क्रियाओं की व्याख्या नहीं करता; तब फिर वे अत्यणु मनुष्य के अतिभौतिक अंगों के कर्म के समस्त नियम और प्रक्रिया को, अर्थात् उसकी प्राणिक गतियों, मानसिक गतियों और आन्तरात्मिक गतियों की व्याख्या तो और भी कम कर सकते हैं।"[७] ठीक इसी तरह प्राण और मन के नियम भी भिन्न हैं। प्राण के नियम मन के व्यापार एवं क्रियाविधि को व्याख्यायित नहीं कर सकते हैं। मन के नियम जो मन से ऊपर है उसकी व्याख्या नहीं कर सकते हैं। इतना ही नहीं, मन का नियम जो मन से नीचे है उसकी व्याख्या करने में कठिनाई का अनुभव करता है; फिर उसका तो कहना ही नहीं है जो इसके ऊपर है। "प्राण अवयौक्तिक (Infrarational) है और हम देखते हैं कि हमारी बौद्धिक युक्ति जब प्राण पर अपना प्रयोग करती है तो वह निरन्तर उस पर एक ऐसे नियंत्रण, माप, कृत्रिम, हिंसक नियम को लादती है जो प्राण को या तो मृत या स्तब्ध कर देता है या उसे ऐसे कठोर रूपों और रूढ़ियों में जकड़ देता है जो उसकी सामर्थ्य को पंगु और बन्दी बना देते हैं, अथवा ऐसे नियंत्रण आदि का परिणाम यह होता है कि एक संभ्रम उत्पन्न होता है, प्राण विद्रोह करता है, हमारी बुद्धि ने जो उसके ऊपर संस्थाओं और अधिरचनाओं का निर्माण किया है, वे क्षीण या चकनाचूर हो जाते हैं। एक ऐसी सहज बुद्धि की एक ऐसे अन्तर्भास की आवश्यकता है जो कि बुद्धि के अधिकार में नहीं है और जब वे मानसिक क्रिया में सहायता देने के लिए स्वयं आते हैं तो बुद्धि सर्वदा उनकी बातों को नहीं सुनती।"[८] श्री अरविन्द पुन: कहते हैं कि "और इससे भी अधिक कठिनाई हमारी बुद्धि के लिए अतियौक्तिक को समझने और उसके साथ व्यवहार करने में उपस्थित होती है। अतियौक्तिक आत्मा का प्रदेश है और उसकी गति की विशालता, सूक्ष्मता-गम्भीरता और जटिलता में बुद्धि खो जाती है। यहाँ पर केवल अन्तर्भास और आन्तरिक अनुभव ही पथ-प्रदर्शक होते हैं; अथवा यदि कोई दूसरा पथप्रदर्शक होता है, वह वही होता है जिसका कि अन्तर्भास एक तीक्ष्ण धार है, जिससे निर्गत हुई एक प्रखर किरण है; अन्तिम प्रकाश केवल अतियौक्तिक ऋतचित् के, अतिमानस अन्तर्दर्शन और ज्ञान से ही आना चाहिए।"[९]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यथार्थता के अनेक स्तर हैं और इन स्तरों के अपने अलग-अलग नियम हैं। जैसे दैहिक, प्राणिक एवं मानसिक नियम हैं ठीक वैसे ही परमसत् का भी नियम है जिसे श्री अरविन्द अनन्त का तर्क कहते हैं। इनके अनुसार परमसत् के निश्चित एवं स्थापित नियम हैं जिसके अनुसार यह कार्य करता है। परमसत् मनमाने ढंग से कार्य नहीं करता है, अपितु वह अपनी समस्त क्रिया विधि में एक युक्ति का उपयोग करता है जो सामान्य युक्ति से कहीं ज्यादा उच्चतर एवं महानतर होता है। यह युक्ति मानसिक नहीं है, अपितु वह आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक है। 'अनन्त का तर्क' जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है दिव्य का तर्क (Logic of the Divine) है। यह एक ऐसा तर्क है जो दिव्य जीव की चेतना में अन्तर्निहित रहता है। दिव्य अपने विधान या तर्क के अनुसार कार्य करता है, जिसे अनन्त का तर्क का कहा जाता है। इस उच्चतर तर्क के स्वरूप एवं इसकी क्रिया विधि को मनुष्य द्वारा तभी अनुभूत किया जा सकता है जब कि वह अतिमानसिक चेतना को प्राप्त कर ले।[१०] मानव-बुद्धि को सामान्यत: अनन्त का तर्क एवं इसके कार्य जादू की तरह प्रतीत होते हैं। अत: इस कारण अनन्त के स्वरूप और कर्म के विषय में यह नहीं मान लेना चाहिए कि वह कोई ऐसा जादू है जिसमें कोई युक्ति नहीं है। "इसके विपरीत, अनन्त की सम्पूर्ण क्रियाओं में एक महत्तर युक्ति है, परन्तु वह मानसिक या बौद्धिक नहीं है, वह आध्यात्मिक और अतिमानसिक युक्ति है। ..... हमारी सान्त बुद्धि

को जो जादू प्रतीत होता है वह अनन्त का न्याय है, वह एक महत्तर युक्ति है, एक महत्तर न्याय है, कारण वह अपनी क्रियाओं में अधिक विशाल, सूक्ष्म और जटिल है। हमारा प्रेक्षण जिन विषयों को ग्रहण नहीं कर पाती, उन सबको अनन्त का न्याय ग्रहण कर लेता है, वह उनमें ऐसे परिणामों को निकालता है जिनकी हमारे निगमन और आगमन प्रत्याशा नहीं कर सकते, कारण हमारे निष्कर्षों और अनुमानों का आधार दुर्बल होता है और इसीलिए वे त्रुटियुक्त और शीघ्र टूट जाने वाले होते हैं।"[११]

श्री अरविन्द के अनुसार अनन्त का तर्क परमसत् का तर्क है। यह सत् पर आधारित है। यह सत् के स्वरूप को व्यक्त करता है। परन्तु जगत् का कोई भी नियम चाहे वह भौतिक हो, प्राणिक हो या मानसिक हो उसे निरपेक्षत: एवं बिना शर्त के वैध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ये सत् के समग्र एवं वास्तविक स्वरूप को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. रामशंकर मिश्र के प्रश्न अत्यन्त समीचीन हैं जब वे यह पूछते हैं कि वे लोग जो परमसत् को मन द्वारा अज्ञेय मानते हैं कैसे यह कहते हैं कि वह एक साथ सगुण और निर्गुण नहीं हो सकता है; क्योंकि इसमें आत्मव्याघात है जबकि इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानने की घोषणा करते हैं। क्या हम यहाँ पर तादात्म्य एवं विरोध के मानसिक नियमों को निरपेक्ष के ऊपर आरोपित नहीं करते हैं ? यह कहना कि निरपेक्ष मन या युक्ति द्वारा ग्राह्य नहीं है और उसी समय उसे तादात्म्य एवं विरोध के मानसिक नियमों के पैमाने से निर्धारित करना क्या अपने आप व्याघाती नहीं है ? यदि निरपेक्ष प्रकृति का अतिक्रमण करता है तो इसका स्वरूप प्राकृतिक नियमों द्वारा कैसे निर्धारित हो सकता है ?[१२] परन्तु "हम यदि अनन्त के विषय में सान्त न्याय का प्रयोग करने का आग्रह करते रहेंगे तो सर्वव्यापी परमार्थ तत्त्व हमारे हाथ से निकल जायेगा और हम उसके बजाय एक विविक्त छाया को, एक ऐसे मृत रूप को जो भाषा में पथरा गया है, अथवा ऐसे कठोर तीखे रेखा-चित्रों को जो परमार्थ तत्त्व का कथन तो करता है किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं करता, पकड़ पायेंगे। हमारी जानने की विधि ज्ञेय के अनुरूप होनी चाहिए, अन्यथा हम ज्ञेय पदार्थ की केवल दूरवर्ती परिकल्पना को, ज्ञान के एक बाहरी आकार को प्राप्त कर पायेंगे और यथार्थ ज्ञान से वञ्चित रह जायेंगे।"[१३] इस प्रकार हमारा मन सीमित है और अपनी प्रकृति के अनुकूल सत् के विषय में कुछ कहने के लिए उपयुक्त नहीं है।

इस स्थल पर एक बात बहुत महत्त्व की है। यद्यपि श्री अरविन्द युक्ति को ज्ञान का परमसाधन नहीं मानते हैं तथापि वे कहते हैं कि जब तक हम मन के अधिकार क्षेत्र में केन्द्रित हैं तब तक युक्ति के स्थान पर ज्ञान के अन्य साधन जैसे अविकसित एवं अस्पष्ट अन्तर्भास को किसी भी प्रकार प्रश्रय देना उचित नहीं है। "जब तक हम अपने मुख्य आधार के रूप में बुद्धि का उपयोग करने के लिए विवश हैं तब तक मानस चेतना के लिए नि:सन्देह यह सम्भव नहीं है कि वह अविकसित या अर्धगठित अन्तर्भास के लिए सर्वथा आत्मत्याग कर दे; परन्तु अनन्त और उसकी सत्ता और उसके कर्म के विषय में विचार करते समय हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपनी बुद्धि को अधिक से अधिक लचीला होने के लिए विवश करें और उसे, जिसका हम विचार करने का प्रयास कर रहे हैं, उसकी विशालतर अवस्थाओं और सम्भावनाओं के ज्ञान के प्रति खोल दें। अपने सीमित और सीमाकारी निष्कर्षों का प्रयोग उस सत् के विषय में करने से काम नहीं चलेगा जो असीम है।"[१४]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द परमसत् के स्वरूप को समझने के लिए युक्ति के इस रूप में प्रयोग के प्रतिकूल नहीं हैं, अपितु वे अमूर्त्त (Abstract) एवं आकारगत (Formal) युक्ति के प्रयोग के आग्रह के प्रतिकूल हैं। वे आकारगत एवं अमूर्त्त युक्ति को जो समग्र सत् को खण्डों में बांटता है, उसके प्रतिकूल हैं। वे परमसत् के ज्ञान के लिए हमारी युक्ति को अधिक व्यापक, सुगम्य एवं समन्वयशील बनाने के लिए कहते हैं। इस प्रकार वे युक्ति के प्रतिकूल नहीं हैं। अपितु उसकी अमूर्त्त अभिवृत्ति के

प्रतिकूल हैं। परन्तु यह कहना कि मानव युक्ति को सत् के स्वरूप के बौद्धिक परीक्षण का प्रयास ही नहीं करना चाहिए, दार्शनिक चिन्तन की उपयोगिता एवं वैधता का ही निषेध करना है। इसका स्पष्ट तात्पर्य होगा सम्पूर्ण दर्शन का निषेध।"[१५]

अनन्त का तर्क एवं विरोधों का समन्वय

"यदि हम अनन्त के न्याय को ध्यान में रखते हुए एक विशालतर अधिक नमनशील युक्ति के दृष्टिकोण से उन कठिनाइयों पर दृष्टिपात करें जो हमारी बुद्धि के सम्मुख निरपेक्ष और सर्वव्यापी परमार्थ तत्त्व की अवधारणा करने के प्रयत्न में उपस्थित होती हैं, तो हम देखेंगे कि सम्पूर्ण कठिनाई शाब्दिक और अवधारणात्मक है, यथार्थ नहीं।"[१६] हमारी बुद्धि के अनुसार निरपेक्ष सत् अनिर्धार्य होना चाहिए, इसके अनुसार निर्धारणों का जगत् माया का सृजन है। अत: इसे भ्रमपूर्ण होना चाहिए। इस प्रकार निरपेक्ष सम्पूर्ण निर्धारणों से रहित है एवं अनिर्धार्य तथा निर्धारणों के जगत् के बीच विरोध है। हमारी बुद्धि इस बात को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट करती है कि समस्त निर्धारण इस अनिर्धार्य परमसत् के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु हम अनन्त के तर्क द्वारा सत् के अनिर्धार्य पक्ष एवं निर्धारणों के जगत् के बीच जो बाह्य विरोध प्रतीत होता है, उसका समन्वय कर सकते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार यह विरोध तब दूर हो जाता है जब हम यह समझ जाते हैं कि अनिर्धार्यता अभावात्मक नहीं है, अपितु भावात्मक है। यह अनिर्धार्यता ऐसी है जो अपने भीतर अपने निर्धारणों से किसी भी प्रकार सीमा को नहीं स्वीकार करती है। सत् असीम रूप से स्वतन्त्र है। यह अपने आपको अनन्त प्रकार से निर्धारित करने में स्वतन्त्र है। यह अपनी सृष्टि के सीमा और बन्धनकारी प्रभाव से स्वतन्त्र है। सत् वस्तुत: सृष्टि नहीं करता है, अपितु जो कुछ उसकी यथार्थता के सारतत्त्व में विद्यमान है उसे वह व्यक्त करता है। हम इसी अर्थ में सृष्टि कह सकते हैं कि जो कुछ सत् में पहले से ही विद्यमान है वह रूप और गति का रूप धारण करता है तथापि श्री अरविन्द परमसत् की अनिर्धार्यता पर बल देते हैं, क्योंकि "उस प्रकार की अनिर्धार्यता के बिना परमार्थ तत्त्व एक स्थिर, नित्य निर्धारित होगा, अथवा एक ऐसा अनिर्धारित होगा जो कि स्थिर है और अपने भीतर निहित निर्धारण की सम्भावनाओं के एक विशेष समूह से बँधा हुआ है। समस्त सीमाबन्धों से उसकी स्वतन्त्रता को, स्वयं अपनी सृष्टि के किसी भी बन्धन से स्वतन्त्रता को ही सीमाबन्ध नहीं बनाया जा सकता; अर्थात् यह नहीं कहा सकता कि चूँकि वह समस्त सीमबन्धों से मुक्त है अत: वह अपने आपको निर्धारित बनाने में सर्वथा असमर्थ है या स्वतन्त्र नहीं है। ऐसा करना एक विरोध होगा, अनन्त और असीम को निषेध के द्वारा निर्धारित और सीमित करना होगा। निरपेक्ष के स्वभाव के जो पक्ष हैं जिनमें एक है उसका आत्मभाव, स्वरूप-स्थिति, सारतत्त्व-भाव और दूसरा है आत्म सृजनात्मक या क्रियात्मक - इस केन्द्रीभूत तथ्य में कुछ भी यथार्थ विरोध प्रवेश नहीं करता। वह केवल शुद्ध अनन्त आत्मभाव, सारतत्त्व भाव ही है जो अपने-आपको अनन्त प्रकारों से रूपवान कर सकता है। एक कथन दूसरे का पूरक है, एक दूसरे का निरास नहीं करता और न उसमें कोई परस्पर असंगति है। यह एक ही अपरिहार्य तथ्य का मानव बुद्धि के द्वारा मानव भाषा में दो रूपों में कथन है।"[१७] अत: श्री अरविन्द के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता है कि चूँकि निरपेक्ष समस्त सीमाबन्धों से मुक्त है, अत: वह अपने को निर्धारित नहीं कर सकता है। उनके अनुसार ऐसा करना विरोध होगा और अनन्त सत् को निषेध के द्वारा निर्धारित करना होगा। इस प्रकार निषेध भी निर्धारण की तरह सीमा का कारण बन जाता है। हम परमसत् को न तो स्वीकारोक्तियों, न निर्धारणों अथवा न तो निषेधों के द्वारा सीमित कर सकते हैं। हमें परमसत् के निषेध एवं स्वतंत्रता का अर्थ व्यापक दृष्टिकोण से समझना चाहिए। सच तो यह है कि यदि स्वतंत्रता समस्त सीमाओं, बन्धनों से स्वतंत्र

रहने में है तो अनन्त जागतिक क्रीड़ा में किसी भी प्रकार इसमें बिना आसक्त हुए, बिना बँधे हुए लग जाना भी समान ढंग से स्वतन्त्रता ही है। एतदर्थ अनिर्धार्य एवं निर्धारित में वस्तुत: विरोध नहीं है। ये परमसत् के पूरक पक्ष हैं।

इस अनन्त के तर्क की सहायता से हम आपाततः विरोधी प्रतीत होने वाली समस्याओं, जैसे एक और अनेक, शान्ति और क्रियात्मक शक्ति और अनन्त एवं सान्त का भी समाधान कर सकते हैं। अब हम इन विरोधों की परीक्षा करेंगे। सर्वप्रथम हम एक और अनेक को लेंगे।

एक और अनेक

उपनिषदों में कहा गया है कि परमसत् एक है। यह समस्त अस्तित्त्व का आधार है। यही अपने को अनेक के रूप में अभिव्यक्त करता है। वह अपने एक रूप को विविध करता है। परन्तु प्रश्न यह है कि जो सीमित और सापेक्ष है, वह निरपेक्ष कैसे हो सकता है ? मनुष्य या पशु-पक्षी कैसे ब्रह्म हो सकता है ? परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार यह विरोध सीमित बुद्धि के द्वारा एक और अनेक के सही अर्थ को न समझने के कारण है। इस प्रतीयमान विरोध का अनन्त-तर्क द्वारा समाधान करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि यह मन (Mind) की भ्रमयुक्त धारणा है। 'वह गणितीय सान्त एकक की भाषा में विचार करता है जो कि परिसीमन में एकाकी है, ऐसा एक है जो दो से कम है और जो केवल विभाग और खण्डकरण के द्वारा अथवा योग एवं गुणन के द्वारा दो हो सकता है। परन्तु निरपेक्ष का एकत्व अनन्त एकत्व है, वह ऐसा सारतत्त्वात्मक और अनन्त एकत्व है जो सैकड़ों, सहस्त्रों, लाखों, करोड़ों और अरबों को धारण कर सकता है। ज्योतिषीय अथवा ज्योतिषीय से अधिक संख्याओं का चाहे जितना भी ढेर क्यों न लगाओ और उन्हें गुणित करो, वे उस एकत्व का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। कारण उपनिषद् की भाषा में वह गति नहीं करता, परन्तु जब तुम उसके पीछे चलना और उसे पकड़ना चाहोगे तो वह सदा दूर हो आगे ही रहेगा। उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह अनन्त एकत्व नहीं होगा, यदि वह अनन्त बहुत्व में समर्थ न हो।''[१८] परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि एकतम बहु है अथवा बहु के योगफल के रूप में वह सीमित हो सकता है। इसके प्रतिकूल वह एकतम अनन्त-बहुत्व को धारण कर सकता है, क्योंकि बहुत्व के द्वारा होनेवाले परिसीमन से अतीत है। साथ ही वह सान्त (Finite) एकत्व द्वारा होनेवाले परिसीमन से भी अतीत है। बहुत्व मिथ्या नहीं है, क्योंकि एकत्व व्यक्तित्वभाव को धारण करके बहुत्व में निवास करता है। परन्तु मानसिक युक्ति के लिए वह जानना दुष्कर है। वह अनन्त एवं सान्त में विरोध करती है। वह सान्तता को बहुत्व के साथ और अनन्तता को एकत्व के साथ संयुक्त करती है। ''परन्तु अनन्त के न्याय में कोई विरोध नहीं है और एकतम में बहु की नित्य विद्यमानता ऐसी वस्तु है जो कि पूर्णतया स्वाभाविक और सम्भव है।''[१९]

शान्ति एवं क्रियात्मक शक्ति[२०]

कुछ लोग सत् को शान्त-निश्चल मानते हैं। कुछ लोग इसमें अनन्त गति पाते हैं एवं इसके गतिशील पक्ष पर बल देते हैं। इस प्रकार ये दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरोधी के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु अनन्त के तर्क के आधार पर हम ब्रह्म की शान्त निश्चलता और उसकी क्रियात्मक शक्ति या गति में समन्वय स्थापित कर सकते हैं। अनन्त-तर्क के लिए शान्त-निश्चलता और क्रियात्मकता या गति के बीच में कोई विरोध नहीं हो सकता है ''केवल शान्त-निश्चल और निष्क्रिय अनन्त, ऐसा अनन्त जो अनन्तशक्ति, अनन्त क्रियात्मक शक्ति और ऊर्जा से रहित हो माना नहीं जा सकता, सिवाय इसके कि वह किसी एक पक्ष का प्रत्यक्ष हो। शक्तिहीन निरपेक्ष, अशक्त-ब्रह्म कल्पना में नहीं आ सकता। अनन्त ऊर्जा अनन्त की क्रियात्मक शक्ति होनी चाहिए, सर्व सामर्थ्य निरपेक्ष की सामर्थ्य होनी चाहिए।''[२१] श्री अरविन्द कहते हैं कि यह शान्त-निश्चलता ही गति का आधार है। ब्रह्म की शान्त

निश्चलता ही सृष्टि की ऊर्जा एवं गति को धारण करने में समर्थ है। एतदर्थ हम इनमें जिस विरोध को खड़ा कर देते हैं वह मानसिक एवं अवधारणात्मक है। वस्तुतः ब्रह्म की शांत निश्चलता एवं क्रियात्मकता परस्पर पूरक एवं अपृथक्करणीय है। "अक्षर शान्त-निश्चल ब्रह्म अपनी अनन्त ऊर्जा को अपने भीतर शान्त और अचल अवस्था में धारण किये रह सकता है; कारण वह अपनी शक्तियों से बँधा हुआ नहीं है, उनके अधीन या उनका उपकरण नहीं है, वह उन पर अधिकार करता है, उन्हें मुक्त करता है, नित्य और अनन्त कर्म में समर्थ है, थकता नहीं है और न उसे रुकने की आवश्यकता है; परन्तु फिर भी उसके कर्म और गति में सर्वदा अन्तर्निहित उसकी शान्त अचलता उसके कर्म और गति के कारण क्षण भर के लिए भी विचलित, विकृत या परिवर्तित नहीं होती। ब्रह्म की उपद्रष्टी (witness) शान्त-निश्चल नीरवता प्रकृति की सम्पूर्ण ध्वनियों और क्रियाओं के कण-कण में विद्यमान है।"[२२] अतः ब्रह्म के शान्त-निश्चल और गतिशील पक्ष में कोई विरोध नहीं है, अपितु यह शान्त निश्चलता ही है जो विश्व में होनेवाली क्रिया को सम्भव बनाती है। शान्त-निश्चल और सक्रिय ब्रह्म ऐसे दो विरोधी और असंधेय (Irreconcilable) तत्त्व नहीं हैं जिनमें से एक विश्व भ्रम को मानता है और दूसरा नहीं मानता है। ये एक ही ब्रह्म के भावात्मक और निषेधात्मक दो पक्ष हैं जो अपृथक्करणीय हैं। सत् अपनी शक्ति से पृथक नहीं किया जा सकता है। सत्ता एवं संभूति परमसत् की स्थिति एवं गति को अभिव्यक्त करते हैं। अतः अनन्त का तर्क इनमें कोई विरोध नहीं पाता है। "अब तो यह स्पष्ट हो गया कि अनन्त चेतना के लिए निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही स्थितियाँ सम्भव हैं। ये उसकी दो अवस्थाएँ हैं और विश्वात्मिका संवित् (Universal Awareness) में ये दोनों एक काल में विद्यमान हो सकती हैं, इनमें से एक दूसरे को साक्षी रूप से देखती हुई उसका अवलम्ब बनी होती है, अथवा उसकी ओर न देखती हुई और फिर भी निश्चेष्ट तथा उसका अवलम्ब बनी होती है, अथवा शान्त-निश्चलता और निष्क्रियता-सक्रियता के भीतर प्रविष्ट रह सकती है अथवा सक्रियता को इस प्रकार बाहर फेंक सकती है जैसे समुद्र नीचे अचल रहता है और अपने उत्तल पर तरंगों की सचलता को फेंकता है।"[२३]

अनन्त और शान्त

श्री अरविन्द के अनुसार अनन्त और सान्त में कोई विरोध नहीं है। अनन्त एवं सान्त का ऐसा स्वाभाविक एवं अनिवार्य सम्बन्ध है जैसा सूर्य के साथ प्रकाशत्व एवं उष्णता का है। सान्त देश एवं काल में अनंत का आत्म-निर्धारण है। सान्त अनंत की अभिव्यक्ति है। सान्त के पीछे अनंत आधार के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। "सान्त अनंत का सामने का पक्ष और आत्म-निर्धारण है; कोई भी सान्त स्वयं अपने द्वारा अपने में अपना अस्तित्व नहीं रख सकता; वह अनन्त से सत्ता धारण करता है और यह इस कारण कि वह अनंत के साथ सारात्मना एक है। कारण, अनंत से हमारा अभिप्राय केवल कोई ऐसा तत्त्व नहीं जो कि देश और काल में असीम्य आत्म-विस्तार रखता हो, अपितु ऐसा तत्त्व है जो देश-रहित और काल-रहित भी है, एक स्वयं सत् अनिर्देश्य और असीम्य है जो अपने-आपको अत्यणु (अणोरणीयान्) और अतिमहान् (महतो-महीयान्) में, काल के सूक्ष्मतम क्षण में, देश के सूक्ष्मतम बिन्दु में, क्षणिक घटना में व्यक्त कर सकता है।"[२४] साधारणतः सान्त के विषय में माना जाता है कि वह अविभक्त का विभाग है, परन्तु यथार्थतः पार्थक्य सम्भव नहीं है। कोई पदार्थ परमार्थ तत्त्व से पृथक् नहीं है। गीता कहती है कि "वह भूतों में अविभक्त है और फिर भी विभक्त जैसा स्थित है।"[२५] "इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ वही अनन्त है और दूसरे समस्त पदार्थों के साथ भी जो कि उस अनंत के ही नाम, रूप और शक्तियाँ हैं, सारतत्त्व में एक हैं। सम्पूर्ण विभागों और विभिन्नताओं में यह अदम्य ऐक्य अनंत का गणित है जिसका संकेत उपनिषद के इस वचन में किया गया है - यह पूर्ण है, वह पूर्ण है; पूर्ण में से पूर्ण

घटाने से पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।"[२६] सान्त के प्रकट होने से एकतम विभक्त नहीं हो जाता है, क्योंकि एकतम अनंत ही बहु और सान्त के रूप में दिखाई देता है।

सामान्यत: हमारे विचारों के अनुसार एकसम (Identical) अपरिवर्तनीय है। यदि यह परिवर्तन को स्वीकारता है तो वह एकसम नहीं रहता है। परन्तु श्री अरविन्द कहते हैं कि "हमें जो सर्वत्र दिखाई देता है वह है अनंत प्रकार से विभिन्न होने वाला मूलभूत एकत्व और यही प्रकृति का सारतत्त्व जान पड़ता है।"[२७] वे कहते हैं कि आधारभूत शक्ति एक है जो अपने से असंख्य शक्तियों को व्यक्त करती है। आधारभूत द्रव्य एक है, परन्तु वह अपने से अनेक पदार्थों को विकसित करता है। मन एक है, परन्तु वह असंख्य मानसिक अवस्थाओं, विचारों का रूप धारण करता है जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्राण एक है, परन्तु उसके रूप विविध हैं। मनुष्य प्रकृत्या एक है तथापि प्रत्येक मनुष्य दूसरों से अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व रखता है और वह दूसरों से भिन्न है। परन्तु इसके बावजूद मनुष्यों में तात्त्विक भेद नहीं है। संक्षेप में, परमार्थ तत्त्व अनंत भेदों को धारण कर सकता है तथापि इसके मूल में विद्यमान नित्य एकसम (Identical) की अक्षरता पर प्रभाव नहीं पड़ती है। अत: "एकसम की अक्षरता परिवर्तनरहित एकरूपता की कोई ऐसी एकस्वरता नहीं है कि जिसमें विभिन्नता की सामर्थ्य न हो। यह सत् की एक ऐसी अपरिवर्तनीयता है कि जो सत् का अनंत रूप प्रदान करने में समर्थ है, किन्तु जिसे कोई भी भेदकरण नष्ट, विकृत या न्यून नहीं करता। आत्मा कीट, पक्षी, पशु और मनुष्य हो जाता है। परन्तु इन सब उत्परिवर्तनों में वह सर्वदा वही आत्मा रहता है, कारण यह कि वह एकतम तत्त्व है जो कि अपने-आपको अनंत प्रकार से अन्तरहित भेदों में व्यक्त करता है।"[२८] अत: अनन्त और सांत या एक और अनेक का यह विरोध सीमित बुद्धि द्वारा उत्पन्न किया गया है। अनंत का तर्क इसे उत्थापित नहीं करता है, जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं "हमारी उत्तलीय बुद्धि यह निष्कर्ष निकालने के लिए उन्मुख रहती है कि विभिन्नता मिथ्या, केवल प्रतीति मात्र हो सकती है, परंतु यदि हम कुछ अधिक गहराई में दृष्टि डालें तो देखेंगे कि यथार्थ विभिन्नता यथार्थ ऐक्य को व्यक्त करती है, उसे उसकी अत्यधिक क्षमता में प्रदर्शित करती है, जो कुछ वह अपने स्वरूप में हो सकती है और है उसे प्रकाशित करती है ...... एकत्व अपने आपको अनंत प्रकार से उसमें पाता है जो अपने एकत्व से भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है, परंतु यथार्थ में वह एकत्व से भ्रष्ट नहीं है, अपितु एकत्व का अक्षय विविध प्रदर्शन है। यह चमत्कार है, विश्व की माया है, परन्तु अनंत की आत्म-दृष्टि और स्वानुभूति के लिए पूर्णतया न्यायसंगत, स्वाभाविक और साधारण बात है।"[२९]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द अनंत में तर्क के द्वारा सत् की विभिन्न समस्याओं का संतोषजनक समाधान एवं समन्वय करते हैं एवं समग्र अद्वैतवाद की स्थापना करते हैं। हमें निर्गुण एवं सगुण, एक एवं अनेक, अनंत एवं सांत तथा सत् एवं संभूति के बीच में विरोध प्रतीत होता है। परंतु अनंत के तर्क के आधार पर इन समस्त भेदों, खण्डों एवं विभिन्नताओं का समन्वय परमसत् की समग्रता में श्री अरविन्द अत्यन्त सफलता के साथ करने में समर्थ होते हैं। निर्गुण एवं सगुण, एक एवं अनेक, अनंत एवं सांत तथा सत् एवं संभूति के बीच में हमें जो विरोध प्रतीत होता है वह हमारी सीमित या आकारगत (Formal) युक्ति को असमाधेय प्रतीत होता है। परंतु इन विरोधों का उच्चतर तर्क के आधार पर अर्थात् अनंत के तर्क के आधार पर समाधान हो जाता है जैसा कि हमने ऊपर विचार किया है। शंकर परमसत् एवं जगत् का स्वरूप तथा परमसत् का जगत् के साथ सम्बन्ध सीमित बुद्धि या अमूर्त्त तर्क (Abstract Reason) के आधार पर निर्धारित करने का प्रयास करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उन्हें विभिन्न प्रकार के विरोधों का सामना करना पड़ता है। आकारगत तर्क के कारण ही वे निर्गुण एवं सगुण, एक एवं अनेक, सत् एवं संभूति तथा ज्ञान एवं अज्ञान को एक-दूसरे के विरोधी के रूप में स्वीकार करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार यह विरोध अमूर्त्त एवं आकारगत

युक्ति के प्रयोग के आग्रह के कारण ही है। जैसा कि हमने ऊपर निर्देश किया है, श्री अरविन्द के अनुसार मन का नियम जो मन से नीचे है उसकी व्याख्या भी ठीक से नहीं कर पाता है। अत: जो अतिमानसिक है उसके सन्दर्भ में मानसिक स्तर के नियमों के प्रयोग का आग्रह उचित नहीं है। चूँकि परमसत् अनंत है, एतदर्थ उसकी सत्ता तथा क्रिया की विधि भी अनंत होनी चाहिए। संक्षेप में श्री अरविन्द अनन्त के विषय में सीमित बुद्धि या आकारगत तर्क के आग्रह के प्रतिकूल हैं।

शंकर एवं उनके मतानुयायी परमसत् एवं जगत् का स्वरूप तथा इनके सम्बन्ध का निर्धारण अमूर्त्त या आकारगत तर्क के आधार पर करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु आकारगत तर्क के आधार पर परमसत् एवं जगत् का स्वरूप तथा इनके सम्बन्ध का यथातथ्य निर्धारण सम्भव नहीं है। शंकर का अद्वैतमत परमसत् एवं जगत् के बीच सम्बन्ध आकारगत तर्क के आधार पर वस्तुत: व्याघात के नियम (Law of contradiction) के आधार पर निर्धारित करने का प्रयास करता है। परंतु व्याघात का नियम अनुभव के क्षेत्र में निरुपाधिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता है। वस्तुत: व्याघात नियम का अमूर्त्त एवं अनुभव निरपेक्ष प्रयोग परमसत् एवं जगत् का स्वरूप तथा उनके सम्बन्ध को निर्धारित नहीं कर सकता है। जगत् की यथार्थता का निषेध इस आधार पर कथमपि नहीं किया जा सकता है कि यह हमारी तार्किक बुद्धि को अबुद्धिगम्य एवं असंगत प्रतीत होता है। अद्वैत वेदांत की तर्कणापद्धति (Dialectical Method) इस प्रकार कार्य करती है कि व्याघात का नियम न केवल ज्यामित एवं आकारगत तर्कशास्त्र के क्षेत्र में ही, अपितु अनुभव के क्षेत्र में भी निरुपाधिक रूप से लागू किया जा सकता है। परन्तु यथार्थत: यह एक मान्यता मात्र है। अद्वैत वेदान्तियों ने व्याघात नियम के स्वरूप तथा उसके प्रयोगों को आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषित करने का प्रयत्न नहीं किया है। अद्वैतमतानुयायी मध्यदशा परिहार (Law of Excluded Middle) की सीमाओं से पूर्णत: सचेत प्रतीत होते हैं। इनके अनुसार यह नियम अनुभव के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए निरुपाधिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता है। परन्तु अद्वैत वेदांती व्याघात-नियम की सीमाओं को नहीं समझ सके हैं। अद्वैतमत अवधारणाओं के स्वरूप को व्याघात-नियम के आधार पर निर्धारित एवं विश्लेषित करता है। इसी नियम के आधार पर वह अवधारणाओं में आत्मसंगति के अभाव की घोषणा करता है। तथापि वह व्याघात-नियम के स्वरूप एवं इससे क्रिया-व्यापार के क्षेत्र की व्याख्या नहीं करता है। इस नियम का निरुपाधिक रूप से प्रयोग आकारगत तर्कशास्त्र एवं ज्यामिति में वैध है। परन्तु न केवल आकारगत तर्कशास्त्र एवं ज्यामिति में ही, अपितु अद्वैतवेदान्तियों ने अनुभव के क्षेत्र में भी इस नियम के निरुपाधिक प्रयोग को स्वीकार किया है और इस आतार्किक स्वीकृत के आधार पर ही वे सम्पूर्ण जागतिक प्रक्रिया का विवेचन करते हैं एवं जगत् की अयथार्थता का प्रतिपादन करते हैं। एतदर्थ इनकी तर्कणापद्धति विश्लेषण एवं समीक्षा की प्रौढ़ पृष्ठभूमि पर आधृत न होकर आग्रही मान्यता पर आधृत है, जबकि यह स्थिति दार्शनिक चिन्तन के प्रतिकूल है। वस्तुत: व्याघात-नियम को अनुभव के क्षेत्र में निरुपाधिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता है। तर्कशील बुद्धि मानव-अनुभव के विभिन्न स्तरों की पर्याप्त निर्णायिका नहीं है। श्री अरविन्द का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि "तर्कशील बुद्धि मूलभूत या आध्यात्मिक सत्यों की पर्याप्त निर्णायिका नहीं है; इसके अतिरिक्त, अनेक बार ऐसा होता है कि चूँकि उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति शब्दों और विविक्त (Abstract) विचारों के साथ ऐसा मानकर व्यवहार करने की है मानों वे ऐसी यथार्थताएँ हों कि जिनको स्वीकार करना अनिवार्य हो, इसलिए वह उन्हें शृंखलाओं के रूप में अपने ऊपर लाद लेती है और उनसे परे जाकर हमारी सत्ता के मूलभूत और समग्र तथ्यों का स्वतंत्रतापूर्वक अवलोकन नहीं करती।"[३०] वस्तुत: श्री अरविन्द के अनुसार "तर्कशील बुद्धि का वहीं तक उपयोग किया जाना चाहिए

जहाँ तक कि वह हमारे अन्तर्दर्शन और ज्ञान की व्यवस्था को स्पष्ट करने में और उस दर्शन (Vision) और ज्ञान की अभिव्यक्ति को न्याय-संगत ठहराने में सहायता करती है; परन्तु उसे हमारी अवधारणाओं पर शासन करने और जो सत्य उसके तर्क के कठोर ढाँचे के भीतर नहीं आता उसका बहिष्कार करने नहीं दिया जा सकता।''[३१]

व्याघात-नियम के अनुसार किसी वस्तु में एक ही साथ और एक ही समय में विरोधी गुण नहीं हो सकते हैं। अ एक ही साथ और अ-ब दोनों नहीं हो सकता है। इस प्रकार व्याघात का नियम बताता है कि दो विरोधी गुण एक ही वस्तु के विषय में एक ही साथ सत्य नहीं हो सकते हैं। परन्तु यह नियम यह स्पष्ट नहीं करता है कि वस्तुत: कौन से गुण विरोधी हैं। यह केवल अनुभव के आधार पर ही जाना जा सकता है। प्रो. रामशंकर मिश्र के अनुसार केवल अनुभव ही हमें यह बताने में समर्थ है कि एक वस्तु के लिए जिन दो गुणों का विधेयन हुआ है वे विरोधी हैं अथवा नहीं। इस सन्दर्भ में हमें सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप जानना होता है यह निश्चित करने के लिए कि जिन दो गुणों का विधेयन इसके लिए किया गया है वे विरोधी हैं अथवा नहीं। पहले किसी व्यक्ति को यह जानना है कि अ विषय क्या है तभी कोई ब और अ-ब के तथाकथित विरोधों के विषय में सत्य को निश्चित कर सकता है। यह विधान एक विशेष वस्तु (Individual Thing) के ऊपर लागू होता है। परन्तु एक जाति (Class) के ऊपर नहीं लागू होता है। यदि कोई मनुष्य सभ्य है तब वह उसी समय असभ्य नहीं हो सकता है। परन्तु यदि मनुष्य पद को 'मनुष्य जाति' के अर्थ में ग्रहण किया जाय तब उस स्थिति में ये दोनों ही गुण 'सभ्य' एवं 'असभ्य' युगपत स्वीकार किये जा सकते हैं। इसका अर्थ है कि 'सभ्य' एवं 'असभ्य' पद विरोधी के रूप में तभी कार्य करते हैं जब वे विशेष व्यक्ति के लिए स्वीकार किये जाते हैं, परन्तु ये एक जाति के लिए स्वीकार किये जाते हैं तब उस स्थिति में ये विरोधी के रूप में कार्य नहीं करते हैं।[३२] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जितने ही संकीर्ण अर्थ में हम किसी विषय को स्वीकार करते हैं, वह विरोधों में उलझने के लिए उतना ही अधिक उत्तरदायी है। जैसा कि ब्रैडले का वक्तव्य है ''स्थायी अन्तर्विरोध (Standing contradiction) वहाँ प्रतीत होते हैं जहाँ विषय को कृत्रिम रूप से संकीर्ण कर दिया जाता है, और जहाँ तादात्म्य के अन्तर्गत विविधता को निर्वासित मान लिया जाता है। ..... सामान्यत: हम विषय को जितना अधिक संकीर्ण बनायेंगे, और उसकी विविधता के लिए जितना ही कम आन्तरिक आधार होगा, उतना ही अधिक, वह हमारे लिए स्थायी अथवा अपरिहार्य अन्तर्विरोधों की आशंका उपस्थित करेगा।''[३३]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी विषय में विरोध (Contradiction) है या नहीं इसका निश्चय अनुभव के आधार पर ही सम्भव है। इस सन्दर्भ में पहले हमें विषय का स्वरूप जानना होता है; तत्पश्चात् ही हम तथ्य की स्थापना कर सकते हैं कि इस विषय के लिए जिन दो गुणों का विधेयन हुआ है वे विरोधी हैं अथवा नहीं हैं। वस्तुत: जब विषय का स्वरूप ज्ञात रहता है तभी व्याघात का नियम लागू हो सकता है और विषय का स्वरूप केवल अनुभव के आधार पर ही जाना जा सकता है। इसका यह स्पष्ट तात्पर्य है कि व्याघात का नियम केवल अनुभव के प्रकाश में ही लागू किया जा सकता है। बौद्ध दार्शनिक एवं वेदान्ती मध्यदशापरिहार के नियम की सीमाओं से परिचित हैं। परन्तु व्याघात के नियम को ये निरुपाधिक रूप से सत्य मानते हैं। मध्यदशा-परिहार नियम के अनुसार एक ही वस्तु के विषय में एक ही समय दो विरोधी पद मिथ्या नहीं हो सकते है। दो विरोधी गुण ब और अ-ब ही वस्तु अ के विषय में मिथ्या नहीं हो सकते हैं। अ या तो ब है अथवा अ-ब है। ब और अ-ब दोनों का ही अ के लिए निषेध किया जा सकता है। यदि अ के बारे में ब सत्य नहीं है तो अ-ब को सत्य होना चाहिए और यदि अ-ब सत्य नहीं है तो ब को सत्य होना चाहिए। परन्तु बौद्ध दार्शनिकों तथा शंकरमतानुयायियों की तर्कणा-पद्धति के अनुसार मध्यदशा-परिहार का नियम अनुभव के तथ्यों पर निरुपाधिक रूप से लागू नहीं किया जा

सकता है; जैसा कि अद्वैत वेदान्तियों की माया की अवधारणा से यह स्पष्ट है। माया न तो सत् है और न तो असत् है, अपितु यह अनिर्वचनीया है। वस्तुत: मध्यदशा-परिहार के नियम का प्रयोग विषय के स्वरूप पर आधारित है। यदि विषय अथवा अ भ्रमपूर्ण या अयथार्थ है, तो दोनों ही विकल्पों का इसके लिए निषेध हो जाता है। इसी तरह यदि विषय अस्तित्त्ववान भी हो तब भी कभी-कभी मध्यदशा परिहार का नियम इस पर लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि एक श्वान न तो सभ्य है, न असभ्य। जब कि एक मनुष्य के सन्दर्भ में इन दो विकल्पों का निरसन नहीं किया जा सकता है।[३४] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्यदशा-परिहार के नियम का प्रयोग विषय के स्वरूप पर आधृत है। व्याघात-नियम के साथ भी ठीक यही स्थिति है। संक्षेप में व्याघात एवं मध्यदशा-परिहार के नियम विचार के अमूर्त्त सिद्धान्त के रूप में सत्य हैं। परन्तु ये अनुभव के क्षेत्र में निरुपाधिक रूप से लागू नहीं किये जा सकते हैं। इनका प्रयोग विषय के स्वरूप पर निर्भर करता है। अब प्रश्न यह है कि क्या व्याघात का नियम स्वतन्त्रतापूर्वक और निरुपाधिक रूप से परमसत् पर लागू किया जा सकता है ? परन्तु जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, व्याघात एवं मध्यदशा-परिहार के ये दोनों ही नियम वहीं लागू किये जा सकते हैं जहाँ कि विषय का स्वरूप ज्ञात रहता है। परन्तु परमसत् का स्वरूप ज्ञात नहीं है। एतदर्थ परमसत् पर व्याघात-नियम का प्रयोग उचित नहीं है। वस्तुत: व्याघात एवं मध्यदशा-परिहार के ये नियम शुद्ध विचार के क्षेत्र में ही निरुपाधिक रूप से लागू किये जा सकते हैं। अनुभव के क्षेत्र में ये निरुपाधिक रूप से कभी भी लागू नहीं किये जा सकते हैं। अत: व्याघात के नियम के आधार पर परमसत् एवं जगत् के स्वरूप का निर्धारण अनुचित है। परन्तु बौद्ध दार्शनिकों एवं अद्वैत-वेदान्तियों ने इस व्याघात-नियम को ही निरुपाधिक रूप से सत्य माना है और इस आग्रही मान्यता के आधार पर परमसत् के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया है। परन्तु श्री अरविन्द परमसत् के लिए अनन्त के तर्क का प्रयोग करते हैं। इस अनन्त के तर्क के आधार पर ही वे परमसत् से सम्बन्धित निर्गुण एवं सगुण, एक एवं अनेक, सत् एवं संभूति आदि की अत्यन्त विस्मयकारी समस्याओं का समाधान कर सके हैं। इस प्रकार परमसत् के लिए अनन्त के तर्क का विधान इनका मौलिक योगदान है। वस्तुत: श्री अरविन्द युक्ति के प्रयोग के प्रतिकूल नहीं हैं, अपितु वे अमूर्त्त एवं आकारगत युक्ति के प्रयोग के आग्रह के प्रतिकूल हैं। उनके अनुसार शुष्क तर्क (Abstract Reason) के आधार पर परमसत् का विवेचन तथा व्याख्यान सम्भव नहीं है। शुष्क तर्क के आधार पर सत्य असत्य का निर्णय नहीं किया जा सकता है। इस शुष्क तर्क के आधार पर विभिन्न अनुभवों को ठीक से ग्रहण नहीं किया जा सकता है तथा विभिन्न अनुभवों में समन्वय की स्थापना सम्भव नहीं है। अत: शुष्क तर्क के स्थान पर ऐसे तर्क की आवश्यकता है जो अनुभवों को ठीक से ग्रहण कर सके और उनका ठीक-ठाक समन्वय कर सके। श्री अरविन्द इसीलिए एक अधिक नमनशील (Plastic) तर्क को प्रस्तावित करते हैं जो विभिन्न अनुभवों के सत्य स्वरूप की व्याख्या तथा उनके सम्बन्धों की विवेचना एक उच्चतर अनुभव के प्रकाश में करता है।

***

संदर्भ सूची

१. *Logic of the Infinite.*
२. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. ७० (केशवदेव आचार्य द्वारा अनूदित)*
३. *दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ५०*
४. *वही, पृ. ४९*
५. *वही*
६. *वही, पृ. ४४*
७. *वही, पृ. ४५*

८. वही, पृ. ४६
९. वही, पृ. ४६
१०. डॉ. आर.एस. मिश्र - दी इंटिग्रल अद्वैतिज्म ऑफ श्री अरविन्द, पृ. ५७
११. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ४६-४७
१२. दी इंटिग्रल अद्वैतिज्म ऑफ श्री अरविन्द, पृ. ७९-८०
१३. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ४०
१४. वही, पृ. ४८-४९
१५. डॉ. आर.एस. मिश्र-दी इंटिग्रल अद्वैतिज्म ऑफ श्री अरविन्द, पृ. ८५
१६. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ५०
१७. वही, पृ. ५१-५२
१८. वही, पृ. ५४
१९. वही, पृ. ५४
२०. *Silence and Dynamics.*
२१. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ५५
२२. वही, पृ. ५५
२३. वही, पृ. ६४
२४. वही, पृ. ५७
२५. श्रीमद्भगवत्गीता, १३।१७
२६. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ५७
२७. वही, पृ. ५८
२८. वही, पृ. ५९
२९. वही, पृ. ५९
३०. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. २३८
३१. वही, पृ. २३९
३२. दी इंटिग्रल अद्वैतिज्म ऑफ श्री अरविन्द, पृ. ३७६
३३. आभास और सत्, पृ. ५०४
३४. दि इंटिग्रल अद्वैतिज्म ऑफ श्री अरविन्द, पृ. ३७८

अरविन्द की अज्ञान विषयक अवधारणा

श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान ज्ञान का विरोधी नहीं है अपितु यह ज्ञान या चेतना का आत्मपरिसीमन या आत्मसंकेन्द्रण है। परम चेतना जो एक अवस्था में अपने को ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त करती है वही दूसरी अवस्था में अज्ञान के रूप में प्रतीत होती है। एतदर्थ यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान एवं ज्ञान तत्त्वत: एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं अपितु ये एक ही सत् के पूरक पक्ष हैं। अज्ञान की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यदि हम इसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं तब द्वैतवाद में हमारी परिणति अपरिहार्य है। परन्तु यदि हम अज्ञान को ज्ञान के एक रूप (form) के अर्थ में स्वीकार करते हैं तब द्वैत सम्बन्धी यह समस्या उत्थापित ही नहीं होती है।

श्री अरविन्द के अनुसार ज्ञान एवं अज्ञान की यह धारणा मूल रूप से वेद में स्वीकृत है। ज्ञान एवं अज्ञान का भेद ऋग्वेद की ऋचाओं से प्रारम्भ होता है। वहाँ ज्ञान एवं अज्ञान को क्रमश: चिति और अचिति कहा गया है। वहाँ ज्ञान का तात्पर्य है सत्य और उस सबकी चेतना जो सत्य और ऋत् की श्रेणी के अन्तर्गत है और अज्ञान से तात्पर्य है सत्य एवं ऋत की अचेतना। "अज्ञान उस प्रत्यक्ष देखनेवाले दिव्य चक्षु का अभाव है जो हमें अतिमानस सत्य का दर्शन कराता है; यह हमारी चेतना में वह अप्रत्यक्षकारी तत्त्व है जो सत्य को प्रत्यक्ष देखने वाले सचेतन अन्तरदर्शन और ज्ञान का प्रतिकूल तत्त्व है।"[1] परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैदिक ऋषियों के अनुसार अज्ञान ज्ञान का पूर्ण अभाव है। अपितु इनके अनुसार अज्ञान या तो सीमित ज्ञान है या मिथ्या ज्ञान है। यह ऐसा ज्ञान है जो अविभक्त सत्ता के विभाग पर आधृत है। यह ऐसा ज्ञान है जो अपनी परिसीमाओं के कारण मिथ्यात्व में परिणत हो गया है। ऋग्वेद में अज्ञान को अदैवी माया एवं ज्ञान को दैवी माया भी कहा गया है। अदैवी माया मिथ्या मानस रूपों और प्रतीतियों की सृष्टि करती है परन्तु फिर भी यह "ज्ञान की रचना-कारिणी शक्ति परम जादूगर, दिव्य जादूगर (ईश्वर) का सच्चा जादू"[2] है, और इस प्रकार यह दिव्य ज्ञान या दैवी माया का सर्वथा विरोधी नहीं है। दैवी माया पदार्थों के सत्य का, उनके ऐक्य का, उनके सारतत्त्व का, उनके विधान का, उनके क्रिया का ज्ञान है जिसे "देवता रखते हैं और जिसे आधार बनाकर अपने समस्त कर्म और सृष्टि को और मनुष्य में अपनी शक्तियों के अपने निर्माण को प्रतिष्ठित करते हैं।"[3] वस्तुत: अज्ञान अपने मूल स्वरूप में एक ऐसा विभाजक मानस ज्ञान है जो पदार्थों के ऐक्य, सारतत्त्व को इस रूप में ग्रहण नहीं करता कि वे एकतम मूल कारण से उद्भूत हैं और वे सब उस एकतम के ही विश्वात्मक रूप हैं अपितु इसके बजाय वह पृथक् प्रपंचों, विभक्त विशिष्टों को इस प्रकार मानकर क्रिया करता है जैसे वह ही सत्य हों, जिसे हमें ग्रहण करना है। दूसरी ओर ज्ञान वह है जिसकी प्रवृत्ति एकीकरण की होती है और अतिमानस शक्ति को प्राप्त करके सत्ता के एकत्व को, सारतत्त्व को ग्रहण करता है। परन्तु यहाँ अज्ञान ज्ञान के विरोधी के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता है। अपितु अज्ञान अभी भी ज्ञान ही है परन्तु यह सीमित एवं खंडित ज्ञान है जो पदार्थों के तात्त्विक सत्य को उद्घाटित करने के स्थान पर हमें उनकी

मिथ्या एवं विकृत दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार वैदिक ऋषि ज्ञान एवं अज्ञान में भेद तो अवश्य स्वीकार करते हैं परन्तु इनके अनुसार ये एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

उपनिषदों में वैदिक चिति और अचिति शब्दों के स्थान पर विद्या और अविद्या शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ज्ञान का स्वभाव सत्य को प्राप्त करना है और यह मूलभूत सत्य एकतम तत्त्व है जिसे वेद ''तत्सत्यम'', ''तदेकम्'' शब्दों से अभिहित करता है, इसलिये विद्या (ज्ञान) शब्द का अर्थ शुद्ध और तीक्ष्ण रूप में एकतम के ज्ञान के रूप में किया जाने लगा। इसी प्रकार अविद्या अर्थात् अज्ञान का अर्थ किया जाने लगा शुद्ध और तीक्ष्य रूप में विभक्त बहु का वह ज्ञान जो कि एकतम परमार्थ तत्त्व की एकत्वमयी चेतना से विच्छिन्न है। तथापि यहाँ ज्ञान एवं अज्ञान में वास्तविक विरोध नहीं है जैसा कि पीछे के वेदान्तियों ने माना है।

उपनिषदों में अविद्या आद्यभ्रम के रूप में नहीं स्वीकृत है। उनके अनुसार यह ऐसी चेतना नहीं है जो स्वप्न या अपभ्रम के साथ समीकृत की जा सकती है जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं - ''उपनिषदों की वेदान्ती विचारधारा में अविद्या या अज्ञान शब्द में वह अतिरंजित भाव नहीं आया था जो कि पीछे के वेदान्तियों के अनुसार इस रूप में आ गया कि अज्ञान या अविद्या आत्मा और ब्रह्म के सच्चे सत्य से सर्वथा पृथक् है वह आद्यभ्रम है, ऐसी चेतना है जो स्वप्न या अपभ्रम के साथ समीकृत की जा सकती है।''[४] श्री अरविन्द के अनुसार उपनिषदों में केवल विद्या पर ही जोर नहीं दिया गया है अपितु एक ओर उपनिषद् में यह कहा गया है कि जो मनुष्य अविद्या के भीतर रहता है और कर्म करता है वह अन्धे से ले जाये जाते हुए अन्धे के समान ठोकरें खाता हुआ इधर-उधर भटकता रहता है[५] और वह सदा मृत्यु के ऐसे जाल में जाता है जो उसके लिये विस्तृत फैला हुआ है,[६] तो उपनिषदों में दूसरी जगह पर यह भी कहा गया है कि जो मनुष्य केवल विद्या का अनुसरण करता है वह उसकी अपेक्षा जो अविद्या का अनुसरण करता है अधिक अन्धे अन्धकार में प्रवेश करता है[७] एवं जो मनुष्य ब्रह्म को विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान), एक एवं बहु, संभूति एवं असंभूति इन दोनों रूपों में जानता है वह अविद्या के द्वारा अर्थात् बहुत्व के अनुभव के द्वारा मृत्यु को पार कर जाता है और विद्या के द्वारा अमृतत्त्व को प्राप्त करता है[८]। वस्तुत: संभूति की अवस्था अज्ञान का क्षेत्र है परन्तु सत् की ही अभिव्यक्ति है। श्री अरविन्द कहते हैं कि ''नि:सन्देह संभूति की अवस्था सदात्मा की अवस्था की अपेक्षा निम्नकोटि की है परन्तु फिर भी वह सदात्मा ही है जिसने उन सबका रूप धारण किया है जो कि विश्व में है''[९]। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि उपनिषद् ज्ञान एवं अज्ञान के क्षेत्र में स्पष्ट भेद तो करते हैं तथापि वे इनमें कोई तीक्ष्ण विभाग या विरोध नहीं मानते हैं। इनके अनुसार ज्ञान एवं अज्ञान एक दूसरे से पूर्णत: पृथक् नहीं हैं। उपनिषदों के अनुसार अज्ञान ज्ञान का पूर्णत: विरोधी नहीं है अपितु यह निम्नकोटि का ज्ञान है। अत: ज्ञान एवं अज्ञान में कोई तात्त्विक या वास्तविक विरोध नहीं है।

अज्ञान का मूल

परमसत् अनन्त-चित् है। जगत् की सभी वस्तुयें उसी की सृष्टि हैं। परन्तु यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है यदि परमसत् चित् है तब यह बहुविध अज्ञान कैसे उत्पन्न होता है एवं सक्रिय बना रहता है? अविभक्त परमसत् में यह विभाग चाहे प्रतीयमान ही क्यों न हो कैसे उत्पन्न होता है? श्री अरविन्द इस समस्या का बड़ा सुन्दर समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि परमसत् केवल चित् ही नहीं है अपितु यह शक्ति भी है। परमसत् की चित्-शक्ति आत्म-वैविध्य, आत्म-परिसीमन एवं आत्म तल्लीनता (Self-absorption) की शक्ति से सम्पन्न है। परमसत् जगत् को अभिव्यक्त करने के लिए अपनी चित्-शक्ति के द्वारा अपने को सीमित करता है। चित्-शक्ति जगत् की सृष्टि करने के लिए ''तप'' करती है। ''तप का शाब्दिक अर्थ है ताप या उष्णता, तदनन्तर इसका अर्थ है चेतन शक्ति की स्वयं

अपने ऊपर या अपने विषय पर हर प्रकार की क्रिया रूप तपस्या। प्राचीन ऋषियों ने रूपकमयी भाषा में कहा है कि तप के द्वारा जगत् अण्डे के रूप में सृष्ट हुआ; इसके अनन्तर तप के द्वारा अर्थात् चेतन शक्ति के अण्डे सेने जैसी क्रियाजन्य ऊष्णता के द्वारा अण्डा फूटा जिससे पुरुष अर्थात् प्रकृतिस्थ आत्मा इस प्रकार प्रकट हुई जिस प्रकार अण्डे से पक्षी प्रकट होता है।"[१०] तैत्तिरियोपनिषद् में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "उसने कामना की कि 'मैं बहु हो जाऊँ उसने तप किया अर्थात् चेतना की शक्ति में अपने-आपको संकेन्द्रित किया; तप के द्वारा उसने जगत् को सृष्ट किया; जगत् को सृष्ट करके वह उसके भीतर प्रविष्ट हो गया; उसके भीतर प्रविष्ट होने पर वह सत् और सत् से अतीत व्यक्त और अव्यक्त, ज्ञान और अज्ञान, सत्य और अनृत हो गया।"[११] एक दूसरे उपनिषद् के अनुसार "ब्रह्म अपनी चेतना की शक्ति की क्रिया के द्वारा घनीभूत होता है; ब्रह्म की घनीभूत अवस्था से भौतिक तत्त्व उत्पन्न होता है और भौतिक तत्त्व से प्राण और मन और लोक उत्पन्न होते है।"[१२] इन उपनिषद् वाक्यों द्वारा सृष्टि प्रक्रिया का स्पष्ट संकेत मिलता है। उपनिषद् के इन वक्तव्यों से यह स्पष्ट है कि परमसत् ने अपनी चित्-शक्ति की आत्मसंकेन्द्रण की प्रक्रिया से जगत् की सृष्टि की है। परमसत् की यह चित्-शक्ति अपने को आपातत: विरोधी पक्षों—सत्य एवं अनृत, ज्ञान एवं अज्ञान में अभिव्यक्त करती है। परमसत् की चित्-शक्ति को जगत् की सृष्टि करने के लिये अज्ञान का रूप धारण करना होता है। इस प्रकार अज्ञान चित् शक्ति के आत्म-संकेन्द्रण का परिणाम है। श्री अरविन्द कहते हैं कि "अज्ञान एकतम ब्रह्म की गति का एक अंश, उसकी चेतना का एक परिणाम ही हो सकता है, उसे उसने ज्ञानपूर्वक ग्रहण किया है, वह विवश होकर उसके आधीन नहीं है अपितु उसका वह अपने विश्व-प्रयोजन के लिए उपयोग करता है।"[१३] अब हमें परमसत् के गतिशील पक्ष अथवा चित्-शक्ति में अज्ञान के मूल को खोजना है। अज्ञान का अस्तित्त्व न तो परमसत् में हो सकता है और न अतिमन में। एतदर्थ यह मौलिक नहीं है। श्री अरविन्द कहते हैं कि चूँकि अज्ञान चेतना की शक्ति की क्रिया का परिणाम है अत: अज्ञान को जानने के लिए चेतना के शक्ति पक्ष पर विचार करना उचित होगा। वस्तुत: अज्ञान चित्-शक्ति की गति की एक उत्तरकालीन अवस्था में प्रकट होता है। यह तभी आ सकता है जबकि चेतना सत्ता के किसी आंशिक ज्ञान या आंशिक कर्म में अपने-आपको संकेन्द्रित करके उसमें तल्लीन (Absorbed) हो जाती है और शेष ज्ञान या कर्म का अपने से अपवर्जन (Exclusion) कर देती है अर्थात् चेतना के सभी दूसरे स्तर इस संकेन्द्रित रूप से पीछे रख दिये जाते हैं। ऐसा संकेन्द्रित रूप सत्ता के दूसरे स्तरों से अनभिज्ञ हो जाता है। चेतना का यह रूप मन की अवस्था में प्रकट होता है। मन चित्-शक्ति के आत्मसंकेन्द्रण के कारण अपने आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक आधार से पृथक् हो जाता है एवं एतदर्थ यह परमसत् से अनभिज्ञ है। "इसलिये अज्ञान का मूल" जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं, "तप: शक्ति के, अर्थात् सक्रिय चेतन शक्ति के, शक्ति की एक पृथक् गति पर आत्म-समाहित संकेन्द्रण में खोजना होगा।"[१४] इस प्रकार अज्ञान शक्ति की एक पृथक गति में चित्-शक्ति के अन्यापवर्जी संकेन्द्रण का परिणाम है। इसका उद्भव तब होता है जब आत्मा (Spirit) का अतिमन से मन में अवतरण होता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि "यह मन का स्तर है जहाँ यथार्थ आत्मचेतना का पीछे रखना सम्भव होता है।"[१५] मन चेतना सत्ता की वह शक्ति है जो भेद की सृष्टि करता है और विभिन्नता की भावना को प्रधान बनाकर एवं ऐक्य की भावना को उसके पीछे रखकर विभेदीकरण का अनुसरण करता है। मन ऐक्य की भावना को इस रूप में नहीं रखता कि उसे रखना उसका अपना अधिकार हो अपितु उसे इस कारण रखता है क्योंकि अतिमन उसके पीछे है। परन्तु यदि आधारभूत ऐक्य की भावना पीछे हट जाय और यदि मन और अतिमन के बीच में कोई पर्दा आ जाय जो सत्य के प्रकाश को रोक दे अथवा उसे केवल ऐसी किरणों के रूप में आने दे जो विकृत और विभक्त होकर प्रतिबिम्बित हों तो ऐसी दशा में अज्ञान रूप प्रपंच उत्पन्न होता है।

"ईशोपनिषद् में कहा गया है कि ऐसा पर्दा विद्यमान है, वह स्वयं मन की क्रिया के द्वारा ही घटित हुआ है; वह पर्दा अधिमन में एक स्वर्णमय ढक्कन रूप है जो अतिमानस सत्य के मुख को छिपाता है किन्तु उसके प्रतिरूप को प्रतिबिम्बित करता है; मन में वह स्वर्णिम ढक्कन रूप पर्दा अधिक अपारदर्शी, धूम्राच्छन्न प्रकाशवाला आवरण बन जाता है।"[१६] श्री अरविन्द कहते हैं कि इसी पर्दे के कारण मानसिक चेतना विभिन्नता में परिरूद्ध (Confined) है एवं यह ऐक्य की चेतना से पृथक् हो जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परमसत् का जैसे जैसे अवतरण होता है वैसे ही वैसे उसकी चित्-शक्ति में ह्रास होता जाता है एवं अन्ततः मन की अवस्था में चित्-शक्ति अज्ञान का रूप धारण कर लेती है। परन्तु मन की अवस्था में चित्-शक्ति का अन्यापवर्जी संकेन्द्रण रुक नहीं जाता है। इसका प्राणिक स्तर में अवतरण होता है और इस प्रकार चेतना में और भी ह्रास होता है। अन्ततः आत्मा का भौतिक तत्त्व में अवतरण होता है और यह चेतना के अवतरण की अन्तिम भूमिका है। यह चेतना की अगाध निद्रा, अथाह समाधि है और यह भौतिक प्रकृति की क्रिया का अत्यन्त गहरा आधार है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मन, प्राण एवं तत्त्व का जगत् परमसत् के द्वारा अज्ञान से सृष्ट है और जहाँ तक अज्ञान का प्रश्न है यह परमसत् की चित्-शक्ति का आत्म-संकेन्द्रित या आत्म-परिसीमित रूप है। अतः अज्ञान किसी द्वैत की सृष्टि नहीं करता है। "यह अज्ञान यथार्थ में ज्ञान की एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह अपने-आपको परिसीमित करता है, अपने हाथों में जो कार्य होता है उस पर अपने-आप को संकेन्द्रित करता है; यह संकेन्द्रण यद्यपि व्यवहारतः अन्यापवर्जी है किन्तु यह अपने पीछे समग्र पुरुष की पूरी सत्ता और क्रिया को नहीं रोकता; समग्र पुरुष की यह क्रिया ऐसी अवस्था में है जिन्हें उसने स्वयं चुना है और प्रकृति पर आरोपित किया है ...... एक विशिष्ट क्रिया के लिए आत्म-परिसीमन की यह सामर्थ्य उस पुरुष की परा चेतना की शक्ति के साथ विसंगत होने के बजाय, अनन्त की बहुविध ऊर्जाओं में अन्यतम शक्ति है ऐसी हमें आशा करनी चाहिए।"[१७]

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि चूँकि सत् में निष्क्रियता और सक्रियता दोनों ही विद्यमान हैं तब फिर जिस अवस्था में ऊर्जा की कोई क्रीड़ा नहीं होती है और जहाँ सब अचल है वहाँ इस तपःशक्ति और इसके संकेन्द्रण का क्या अर्थ है ? श्री अरविन्द कहते हैं कि परमसत् की निष्क्रिय और सक्रिय दोनों चेतनायें तप हैं। "ब्रह्म की निष्क्रियता वह तप या उसकी सत्ता का ऐसा संकेन्द्रण है जब कि वह (ब्रह्म) स्वयं अपने ऊपर स्थित होता है और उसकी अचल ऊर्जा आत्म-समाहित (Self-Absorbed) होती हुई संकेन्द्रित होती है; ब्रह्म की सक्रियता उसकी सत्ता का वह तप है जबकि उसने अपने गर्भ में जिसे धारण किये हुए था उसे सचलता में उन्मुक्त करता है, लाखों कर्मतरंगों में यात्रा करता है और यात्रा करता हुआ भी प्रत्येक कर्मतरंग पर स्थित होता है।"[१८] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि तप अर्थात् चेतना की शक्ति का संकेन्द्रण ब्रह्म की निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही चेतनाओं का धर्म है। वस्तुतः ब्रह्म की निष्क्रिय और सक्रिय चेतनायें ये दो भिन्न, विरोधी और विसंगत वस्तुएँ नहीं हैं। "यह एक ही चेतना, एक ही ऊर्जा है ; इसका एक सिरा आत्म आरक्षण (Self-Reservation) की अवस्था में है और दूसरा सिरा आत्मप्रदान और आत्म-विस्तरण की अवस्था में है; यह ऐसा है कि जैसे जलागार का एक सिरा निश्चल अवस्था में होता है और दूसरा उससे प्रवाहित होनेवाली धाराओं की गति की अवस्था में होता है। वस्तुतः प्रत्येक क्रिया के पीछे सत्ता की ऐसी निष्क्रिय शक्ति रहती है और रहनी चाहिए जिससे कि वह क्रिया उत्पन्न होती है और जिसके आधार बनी रहती है।"[१९] इस प्रकार निष्क्रिय और सक्रिय दो ब्रह्म नहीं हैं अपितु जब वह अपने तप को सुरक्षित रखता है तब हम उसे निष्क्रिय कहते हैं और जब इसका तप इसकी क्रिया में अभिव्यक्त होता है तब हम इसे सक्रिय कहते हैं। परन्तु जैसे हम निद्रा एवं जागृत

अवस्था को बारी-बारी से धारण करते हैं ब्रह्म उस तरह निष्क्रियता और सक्रियता को नहीं धारण करता है। वस्तुतः समग्र ब्रह्म निष्क्रियता एवं सक्रियता को युगपत् धारण करता है।

हमारा मन चित्-शक्ति की अन्यापवर्जी एवं विभाजक गति के कारण बहुविध अज्ञान से ग्रस्त है। इसे हमारी सत्ता के बहुत ही स्वल्प अंश का ज्ञान है। "हमारे अविच्छिन्न धारावाले वर्तमान के अन्तर्गत हमारी उत्तल चेतना में जो आत्मा और पदार्थों सम्बन्धी मानव संवेदन और प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं उनकी केवल बहुत सीमित संख्या की ओर ही हमारा ध्यान जाता है और इनके भी केवल स्वल्प अंश को ही हमारी स्मृति अतीत की विस्मृति-रूप खाड़ी में डूबने से बचाती है; स्मृति के द्वारा संचित संवेदनों और प्रत्यक्षों के एक अल्प अंश का बुद्धि सहसंयोजित ज्ञान के लिये उपयोग करती है और उसके भी स्वल्प शतांश का इच्छा, कर्म के लिये उपयोग करती है।"[20] हमारी व्यक्तिगत सत्ता का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसके विषय में हम सर्वथा अज्ञान में हैं। श्री अरविन्द कहते हैं कि 'जितना कुछ हम अपने-आपको जानते हैं केवल उतना ही हम नहीं हैं अपितु उससे अत्यन्त अधिक हैं जिसे हम नहीं जानते हैं; हमारा क्षणिक व्यक्तित्व हमारी सत्ता-रूप समुद्र के ऊपर एक बुलबुले के समान है।"[21] इस प्रकार अब यह स्पष्ट है कि मनुष्य की उत्तलीय चेतना बहुविध अज्ञान से ग्रस्त है।

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य सप्तांग अर्थात् सात रूप वाले अज्ञान से ग्रस्त है। वे मौलिक (Original), विश्वात्मक (Cosmic), अहंभावात्मक (Egoistic), कालिक (Temporal), मनोवैज्ञानिक (Psychological), संघटनात्मक (Constitutional), व्यावहारिक (Practical), अज्ञान है। मौलिक अज्ञान आधारभूत है। इसके कारण हम निरपेक्ष के वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं और या तो सत् को या संभूति को ही पूर्ण सद्वस्तु मानने लगते हैं। दूसरा है विश्वात्मक अज्ञान जिसके कारण हम संभूति को ही विश्व का वास्तविक रूप मान लेते हैं और उसकी पृष्ठभूमि में कार्य करनेवाले सत् को भूल जाते हैं। तीसरा है, अहंभावात्मक अज्ञान जिसके कारण हम अहंकार का आत्मा (Self) से तादात्म्य करते हैं एवं अपनी सार्वभौम प्रकृति को भूल जाते हैं। चौथा है, कालिक अज्ञान जिसके कारण हम आत्मा (Self) के अमर स्वरूप को भुलाकर वर्तमान छोटे से जीवन को ही सर्वस्व मान लेते हैं। यह दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक अज्ञान के कारण और भी संकुचित हो जाता है। इसमें हम उत्तलीय चेतना पर एकाग्र होकर चेतना के ऊपर और नीचे के स्तरों को भूल जाते हैं। छठवाँ है, संघटनात्मक अज्ञान जिसके कारण हम मन प्राण अथवा शरीर अथवा इनमें से किन्हीं दो को अथवा इन तीनों को हम अपनी सत्ता का मूलभूत सत्य मानते हैं और इस प्रकार हम अपनी समग्र सत्ता को भूल जाते हैं।

ये उपर्युक्त बहुविध अज्ञान हमें व्यावहारिक अज्ञान की ओर ले जाते हैं। इसके कारण हम जीवों के साथ सामंजस्यपूर्वक रहने में असफल हो जाते हैं। यह संसार में हमारे समस्त भूल, पाप, मिथ्यात्व के लिये उत्तरदायी है। परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य का बहुविध अज्ञान की परिधि के भीतर परिसीमित रहना उसकी नियति नहीं है। वे कहते हैं कि विकास क्रम में यह बहुविध अज्ञान समग्र ज्ञान में अवश्य ही परिवर्तित होगा। उनका वक्तव्य है कि बहुमुखी अज्ञान सर्वग्राही ज्ञान होने के लिए प्रयास कर रहा है। यह मनुष्य की चेतना का लक्षण है। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार समस्त सीमित भेदात्मक ज्ञान समग्र ज्ञान होने के लिए प्रयत्नशील है।[22]

इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वस्तुतः यह अज्ञान रूप क्रिया होती क्यों है ? अज्ञान का क्या कोई उद्देश्य है ? श्री अरविन्द इसका स्वीकारक उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि अज्ञान के बिना हमारे इस जगत् की अभिव्यक्ति असम्भव होगी। बहुविध अज्ञान का प्रत्येक पक्ष अपना औचित्य रखता है क्योंकि वह विश्व सृष्टि की समग्र सामान्य आवश्यकता का कोई न कोई अंश है। श्री अरविन्द कहते हैं कि मनुष्य अपनी वर्तमान सत्ता में काल की धारा में रहता है। परन्तु मनुष्य अपनी कालरहित सत्ता में

रहता हुआ अपने आपको काल की उस धारा में न फेंक सका होता जैसाकि उसका वर्तमान जीवन है। यदि मनुष्य अपनी अतिचेतन सत्ता में रहता होता तो वह उत्तलीय मानसिकता की सामर्थ्य के अनुकूल कार्य ही नहीं कर पाता। यदि वह पृथक्कारी चेतना मे रहकर वैश्व सत्ता में रहता होता तो वह अपने से पृथक् कर्म, पृथक् व्यक्तिगत एवं पृथक् द्रष्टिकोण विकसित ही न कर पाता। ऐसी स्थिति में उसकी व्यक्तिगत कालिक सत्ता ही नहीं होती। अत: जैसाकि श्री अरविन्द कहते हैं 'मनुष्य का अनन्त के अनन्त प्रकाश और वैश्व की विशालता के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिये कालिक, मानसिक, आहंकारिक अज्ञान को धारण करना, इसे एक प्रतिरक्षा दीवार के रूप में खड़ा करना होता है जिससे कि वह इसके पीछे विश्व में अपने कालिक व्यक्तित्व को विकसित कर सके''।[१३] परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि परिवर्तनशील एवं नश्वर विश्व की तथा दु:ख, कष्ट एवं सभी प्रकार की सीमाओं से युक्त व्यक्तिगत जीवन की सृष्टि ही नहीं होती तो इसमें हानि ही क्या है ? श्री अरविन्द कहते हैं कि सृष्टि करना सच्चिदानन्द का स्वभाव है। ऐसा करने में वह आनन्द लेता है। परमसत् आत्म-आविर्ज्ञान (Self-Discovery) का आनन्द प्राप्त करने के लिये अज्ञान का आवरण धारण करता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि ''अपने स्वरूप और स्वभाव के आपातत: विरोधी भावों में अपने-आपको पाने के लिये सच्चिदानन्द भौतिक निर्ज्ञान में अवतरण करता है और उसके प्रपंचात्मक (व्यावहारिक) अज्ञान को बाहरी पर्दे या छद्मवेश के रूप में धारण करता है; इस अज्ञान-रूप पर्दें या छद्मवेश में वह स्वयं अपनी सचेतन ऊर्जा से अपने-आपकों छिपा लेता है, उसे स्वयं अपने-आपको भुलाकर अपनी क्रियाओं और रूपों में तल्लीन बने रहने के लिये छोड़ देता है''।[१४] अत: परमसत् जो अज्ञान का छद्मवेश धारण करता है वह आत्म-आविर्ज्ञान का आनन्द प्राप्त करने के लिये है। एतदर्थ अज्ञान ''कोई भयंकर प्रसाद और पतन नहीं है अपितु सप्रयोजन अवतरण है, अभिशाप नहीं अपितु एक दिव्य सुअवसर है''।[१५]

इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान चेतना की स्थायी अवस्था नहीं हो सकता है। यह चित्-शक्ति की गति की एक विशेष अवस्था में उत्पन्न होता है एवं विकास क्रम में यह समग्र ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। एतदर्थ अज्ञान ज्ञान का विरोधी नहीं है एवं इससे परमसत् की निरपेक्षता बाधित नहीं होती है।

***

संदर्भ-सूची

१. *दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. २३४।*

२. *वही।*

३. *वही, पृ. २३५।*

४. *दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड पृ. २३६।*

५. *कठोपनिषद्, १।२।५।*

६. *वही, १।२।२।*

७. *ईशावास्योनिषद्, ९।*

८. *ईशावास्योपनिषद्, ११।*

९. *दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड २३६।*

१०. *वही पृ. ३३६ (फुटनोट)।*

११. *वही. पृ. ३३० पर तैत्तिरीयोपनिषद, २।६ से उद्धृत।*

१२. *मुण्डकोपनिषद्, १।१।८, दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड पृ. ३३० से उद्धृत।*

१३. *दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड ३३१।*

१४. *वही, ३४८।*

१५. *वही, ३६१।*

१६. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड ३६३।
१७. वही, ३६५।
१८. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड ३४०-३४१।
१९. वही, पृ. ३३९-३४०।
२०. वही, पृ. ३१५-३१६।
२१. वही, पृ. ३१७।
२२. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड ३२९।
२३. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड ३६०।
२४. वही, पृ. ३६१।
२५. वही, पृ. ३६२।

अरविन्द के दर्शन में अशुभ की समस्या

श्री अरविन्द के अनुसार आनन्द ही जगत्-सृष्टि का प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त सृष्टि का कोई अन्यान्य प्रयोजन नहीं हो सकता है। जगत् ब्रह्म की लीला का विलास है। यह आनन्द से उत्पन्न होता है और आनन्द के लिए उत्पन्न होता है। इस लीला में ब्रह्म की स्वंत्रता अपरिहार्य है। इसमें कहीं भी कोई बाध्यता नहीं है। परन्तु इस स्थल पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। यदि जगत् ब्रह्म की लीला है और यदि यह ब्रह्म के आनन्द से अभिव्यक्त होता है तो दु:ख, कष्ट एवं अशुभादि कहाँ से आते हैं ? यदि सृष्टि आनन्द का परिणाम है और यह आनन्द सत् एवं संभूति में व्याप्त है तो जगत् में व्याप्त दु:ख, कष्ट, अशुभादि को हम व्याख्यायित कैसे करें ? चूँकि यह जगत् ब्रह्म के आनन्द से अभिव्यक्त है अत: इसे आनन्द से पूर्ण होना चाहिए। परन्तु यह सर्वथा प्रतिकूल दृश्य उपस्थित करता है। जगत् में चारों ओर दु:ख एवं अशुभ का साम्राज्य है। दु:ख एवं अशुभ की यह उपस्थिति अद्वैतवाद के लिए एक गम्भीर समस्या है। इसीलिये विलियम जेम्स कहते हैं कि अशुभ की उपस्थिति एक चट्टान है, जिससे सभी प्रकार के अद्वैतवाद नष्ट हो जाते हैं। अशुभ ब्रह्म के आनन्द के प्रतिकूल है एवं अशुभ की उपस्थिति से द्वैतवाद अपरिहार्य है जो अद्वैवाद के लिए एक गम्भीर समस्या है।

परन्तु जीवन एवं जगत् के सम्बन्ध में श्री अरविन्द की दृष्टि निराशावादी नहीं हैं। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जगत् दु:ख एवं अशुभादि से युक्त है जिसमें आनन्द के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। लेकिन श्री अरविन्द इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार निराशावादी का ऐसा वक्तव्य अतिशयोक्तिपूर्ण है, भ्रान्त दृष्टिकोण का परिचायक है। वे कहते है कि यदि हम जीवन और जगत् के सम्बन्ध में नि:संग होकर आवेगरहित मूल्यांकन की दृष्टि से देखें तो हम पायेंगे कि जीवन में सुख का कुल परिमाण दु:ख के कुल परिमाण से बहुत अधिक है। परन्तु दु:ख का न्यून परिमाण भी हमें सुख के अधिक परिमाण की अपेक्षा अधिक प्रभावित करता है। इसका यथार्थ कारण यह है कि सुख हमारी सामान्य अवस्था है "इसलिये जब तक वह अपना कोई ऐसा रूप न धारण कर ले जो सामान्य अवस्था से तीव्र, प्रगाढ़ हो, सुख की कोई उठी हुई तरंग हो, हर्ष या उल्लास का ऊँचा उठा हुआ शिखर हो, तब तक हम उसे महत्त्व नहीं देते।"[1] परन्तु दु:ख की मात्रा अधिक हों या न्यून, इसका परिमाण इस समस्या को खड़ा कर देता है। यदि सब कुछ सच्चिदान्द ही है तो दु:ख अशुभादि का अस्तित्त्व ही कैसे हो सकता है ? वस्तुत: शुभ और अशुभ की यह कठिनाई इतने उग्र रूप में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, मंगलमय ईश्वर को जगत् के सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार करने पर उत्थापित होती है।

यदि ईश्वर मंगलमय है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह जगत् की सृष्टि करके उसमें अपने जीवों को दु:ख देता है एवं उनके लिए कष्ट अशुभादि का विधान करता है। वस्तुत: यदि ईश्वर मंगलमय है तो दु:ख एवं अशुभ को कौन उत्पन्न करता है ? यदि इस समस्या के समाधान में यह कहा जाय कि दु:ख परीक्षा या अग्नि परीक्षा है तब भी इस नैतिक समस्या का समाधान नहीं है। ऐसी स्थिति में ईश्वर अनैतिक हो जाता है। ऐसा ईश्वर इस जगत् यंत्र का एक कुशल यांत्रिक एवं मनोवैज्ञानिक तो

हो सकेगा पर उसे ऐसा ईश्वर कथमपि नहीं कहा जा सकता है जो मंगलमय और प्रेममय हो और जिसकी हम उपासना कर सकें। "वह केवल एक महाबली ईश्वर है जिसके विधान की अधीनता हमें स्वीकार करनी होगी नहीं तो उसकी सनक का शिकार होना पड़ेगा। कारण, जो व्यक्ति परीक्षा या अग्नि परीक्षा के साधन के रूप में यंत्रणा का आविष्कार करता है वह जानबूझकर क्रूर होने या नैतिक संवेदना से शून्य होने का अपराधी है, और यदि वह नैतिक संवेदनाएँ रखता भी है तो उसकी नैतिक संवेदना स्वयं अपने द्वारा सृष्ट जीवों की उच्चतम सहज संवेदना की अपेक्षा निकृष्ट कोटि की है"[१]। इस नैतिक कठिनाई के समाधान के लिए कुछ लोग दु:ख अशुभादि को कर्म के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यायित करते हैं। वे कहते है कि दु:ख एवं अशुभादि भूतकाल में किये हुए अशुभ कर्मो के अनिवार्य परिणाम या स्वाभाविक दण्ड हैं। परन्तु इसे स्वीकार कर लेने पर भी हम नैतिक समस्या की इस मूल कठिनाई से नहीं बच सकते है कि "उस नैतिक पाप को जो कष्ट और दु:ख रूप दण्ड को लाता है किसने, क्यों और कहाँ से उत्पन्न किया ? और यदि हमें यह दिखाई दे जाय कि नैतिक पाप वास्तव में एक मानसिक रोग या अज्ञान है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसे नियम या अनिवार्य सम्बन्ध को किसने बनाया जो मानसिक रोग और अज्ञान की अवस्था में हुए कर्म के लिए इतनी भयंकर चोट पहुँचाता है, बहुधा अत्यन्त उग्र और दानवी यंत्रणा देता है ? कर्म का निष्ठुर विधान उच्चतम कोटि की नैतिकता रखने-वाले परमदेव के साथ असंगत है।"[२]

वस्तुत: दु:ख अशुभादि की यह समस्या किसी विश्व-बाह्य पुरुषविशेष ईश्वर के अस्तित्त्व को मानने से ही उठती है। यदि ईश्वर ऐसा है जिसने शुभ-अशुभ, दु:ख-कष्ट को अपने जीवों के लिए सृष्ट किया है परन्तु स्वयं उनसे ऊपर और अप्रभावित रहता हुआ जगत् को दु:ख-कष्ट भोगते हुए देखता हैं, उस पर शासन करता है, अपनी इच्छा के अनुसार मनमाना कार्य करता है या ऐसा कहें कि वह किसी निष्ठुर विधान के द्वारा उसे चालित होने देता है, स्वयं उसमें कोई सहायता नहीं करता है तो ऐसा व्यक्ति सर्वशक्तिमान, मंगलमय, प्रेममय ईश्वर नहीं हो सकता है। संक्षेप में, विश्व बाह्य नैतिक ईश्वर को मानने वाला कोई भी सिद्धान्त अशुभ और दु:ख की सृष्टि की व्याख्या नहीं कर सकता है परन्तु ऐसा ईश्वर वेदान्त का सच्चिदानन्द नहीं है। वेदान्त सच्चिदानन्द को विश्व-बाह्य पुरुष-विशेष ईश्वर के रूप में नहीं ग्रहण करता है। सच्चिदानन्द स्वयं अपने को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। वह जगत् में व्याप्त भी है और उससे परे भी है। वही अपने को प्रत्येक जीव में अभिव्यक्त कर रहा है। वेदान्त का सच्चिदानन्द एकमेवाद्वितीय सत् है। जो कुछ अस्तित्त्व रखता है वह सब वही है। तब यदि दु:ख अशुभादि का अस्तित्त्व है तो स्वयं सच्चिदानन्द ही जीव रूप में व्यक्त होकर दु:ख अशुभादि का भोग करता है। ऐसी स्थिति में समस्या का स्वरूप सर्वथा बदल जाता है। अब ईश्वर द्वारा दु:ख अशुभादि की उत्पत्ति बताकर उस पर क्रूरता का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। अब तो प्रश्न यह है कि आनन्द स्वरूप ब्रह्म में दु:ख एवं अशुभादि का अस्तित्त्व ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् समस्या यह है कि सच्चिदानन्द ने जो सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है "उस तत्त्व को अपने में कैसे अंगीकार किया जो आनन्द से भिन्न है, जो कि उसका निश्चय ही निषेध प्रतीत होता है।" इस प्रकार हम ईश्वर पर क्रूरता का आरोप नहीं लगा सकते हैं क्योंकि वह स्वयं दु:ख अशुभादि का भोग करता है परन्तु यह प्रश्न तो नि:संदेह पूछा जा सकता है कि जब सच्चिदानन्द सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ है तो उसने कैसे दु:ख अशुभादि को सृष्ट किया है ? यदि उसने स्वयं दु:ख अशुभादि को सृष्ट किया है तो इसका तात्पर्य है कि वह सर्वशक्तिमान् नहीं है और यदि उसने दु:ख अशुभादि के परिणामों को जाने बिना इन्हें सृष्ट किया है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह सर्वज्ञ नहीं है। इस प्रकार दु:ख, अशुभादि की यह समस्या अद्वैतवादी अवधारणा के लिए भी एक गम्भीर प्रश्न है।

अशुभ की समस्या का श्री अरविन्द द्वारा समाधान

श्री अरविन्द इस समस्या का एक अद्‌भुत समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार इस समस्या को हमें सार्वभौम दृष्टिकोण से देखना चाहिये जब कि हम इसे मानवीय या व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखते हैं। सार्वभौम दृष्टिकोण से देखने पर यह समस्या हमें सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। संक्षेप में, यह समस्या दृष्टिकोण को लेकर ही है। हमारे सीमित दृष्टिकोण का परिणाम यह होता है कि हम सम्पूर्ण अस्तित्त्व पर अपनी नैतिक अवधारणाओं को थोपना चाहते हैं। हम ऐसा सोचते हैं कि समग्र रूप में सत् के लिए नैतिक अवधारणायें सत्य हैं। इसका तात्पर्य यह होगा कि नैतिकता सत् का परम लक्षण है। परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार "मानव-विचार जो सम्पूर्ण प्रकृति पर नैतिक अर्थ लादने का प्रयत्न करता है वह उसके स्वेच्छाचारी हठीले और अपने-आपको संभ्रम में डालने वाले कर्मों में अन्यतम कर्म है, यह मनुष्य को अपने आपको, अपने सीमित चिर अभ्यस्त मानवरूप को समस्त पदार्थों में देखने और उसने जो अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण बनाया हुआ है उससे उनका निर्णय करने का उसका एक दयनीय प्रयास है। ये कर्म और प्रयास उसे यथार्थ ज्ञान और पूर्ण दृष्टि को प्राप्त करने से अत्यन्त प्रबलता के साथ रोकते हैं।"[४] कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण समकालीन अध्यात्मवादी दार्शनिकों जैसे ब्रैडले और बोसांके का है। इनके तर्क श्री अरविन्द से बहुत साम्य रखते हैं। ये श्री अरविन्द की तरह यह मानते हैं कि नैतिकता मानव जीवन का एक विलक्षण वैशिष्टय है और यह परमसत् का परम लक्षण नहीं माना जा सकता है। निरपेक्षसत् अतिनैतिक है और यह नैतिक नियमों का अतिक्रमण करता है। ब्रैडले नैतिकता को आभास कहते हैं। उनके अनुसार "सामान्य रूप में, शिवत्व को हम ऐसा तत्त्व मान सकते हैं जो हमारी इच्छा को पूर्ण करता है। यह वह वस्तु है जिसका हम समर्थन करते हैं, जिसमें हम एक संतुष्टि की भावना के साथ आश्रय ले सकते हैं, अथवा यदि हम चाहें तो पुन: उसे मूल्य कह सकते हैं।"[५] अब प्रश्न यह है कि शिवत्व या नैतिकता आभास क्यों है ? ब्रैडले का उत्तर है कि शिवत्व में प्रत्यय (Idea) और अस्तित्त्व का पार्थक्य समाहित है। अत: यह आभास है। "शिवत्व, एक वांछनीय प्रत्ययात्मक इयत्ता (Content) का अस्तित्त्व में परीक्षण है, अत: एक प्रस्तावित प्रत्यय (Suggested idea) के द्वारा तथ्य का मापन सूचित करता है। अत:शिवत्व और सत्य दोनों में ही प्रत्यय और अस्तित्त्व का पार्थक्य होता है, और कालगत प्रक्रिया रहती है। इसलिए प्रत्येक एक आभास है, और सत् का केवल एक एकांकी पक्ष है।"[६] इसके अतिरिक्त ब्रैडले कहते हैं कि शिवत्व का आभास होना किसी अन्य वस्तु के विशेषण के रूप में मिलने से भी स्पष्ट होता है। "यदि हम यह जानना चाहें कि शिवत्व क्या है, तो वह सदैव हमें किसी अन्य वस्तु के विशेषण के रूप में मिलेगा। सौन्दर्य, सुख, सत्य और आवेश (Sensation) ये सब वस्तुएँ हैं, जो शिव हैं। हम इनमें से सभी को चाहते हैं, और सभी ऐसे मानदंडों के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जिनसे हमारे समर्थन का निर्देश हो सकें।"[७] इन्हीं तर्कों के आधार पर ब्रैडले नैतिकता को आभास कहते हैं और यह स्वीकारते हैं कि नैतिकता या शिवत्व परमसत् नहीं हो सकता है। "भूल और बुराई (Evil) दोनों ही तथ्य है और नि:संदेह प्रत्येक की मात्राएँ हैं, और कोई वस्तु शुभतर है अथवा अशुभतर, इसका नि:संदेह चरमतत्त्व पर प्रभाव पड़ता है और नि:संदेह जो वस्तु जितनी ही अधिक शुभतर होगी, अन्ततोगत्वा उसकी सत्ता उतनी ही कम पूर्णतया अभिभूत (Overruled) होगी। परन्तु कोई भी वस्तु कितनी भी शुभ क्यों न हो, अन्त में ठीक वैसे ही सत् नहीं हो सकती, जैसे कि वह आभासित होती है।" संक्षेप में, शुभ और अशुभ चरमतत्त्व नहीं है, वे सापेक्षिक तत्त्व हैं, जो पूर्ण के भीतर अपने-अपने विशिष्ट स्वभाव को सुरक्षित नहीं रख सकते।"[८] इस प्रकार परमसत् शुभ और अशुभ से परे है।

श्री अरविन्द के अनुसार नैतिकता विकास के एक निश्चित स्तर से सम्बद्ध है जिसका उदय मानव जीवन में होता है। भौतिक प्रकृति नैतिक नहीं है। इसके भीतर जो यान्त्रिक नियम क्रिया करते हैं

वे शुभ-अशुभ की ओर ध्यान नहीं देते हैं। पशु-प्रकृति या प्राण-प्रकृति भी निर्नैतिक (Non-ethical) है। हम व्याघ्र को अपने आखेट की हत्या करने के कारण दोषी नहीं ठहराते हैं जैसे कि हम तूफान को इस कारण दोषी नहीं ठहराते क्योंकि वह विनाशलीला उपस्थित करता है या अग्नि को पीड़ा पहुँचाने या मृत्यु प्रदान करने के कारण ही दोष नहीं देते हैं एवं न व्याघ्र, न अग्नि और न तूफान में निवास करने वाली चेतन-शक्ति अपने आपको धिक्कारती है और न दोषी ठहराती है। पशु-जीवन में हम अशुभ की उपस्थिति दु:ख के रूप में पाते हैं। पशुओं को केवल दु:ख की चेतना होती है न कि अशुभ की। ये नैतिक अशुभ से पीड़ित नहीं हैं। अत: पशु-जीवन नैतिक नहीं कहा जा सकता है। परन्तु मनुष्य भौतिक एवं मानसिक दोनों ही अशुभ से पीड़ित हैं। वह इस अर्थ में नैतिक है कि उसे शुभ एवं अशुभ की चेतना है। दूषण और धिक्कार अथवा आत्म-दूषण और आत्मधिक्करण सच्ची नैतिकता के आरम्भ हैं। परन्तु "जब हम दूसरों को दोष देते हैं और उसी नियम को अपने ऊपर लागू नहीं करते तो हम सच्चे नैतिक निर्णय के अनुसार नहीं बोलते; उस समय हम, जो कुछ हमें अप्रिय लगता या हानि पहुँचाता है उसके प्रति हमारे भीतर उत्पन्न होने वाले जुगुप्सा या ग्लानि के अन्तर्वेग को प्रकट करने के लिए, ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसका विकास हमारे लिए नैतिकता ने किया है।"[९] यह जुगुप्सा या ग्लानि ही नैतिकता का मूल है परन्तु यह स्वयं नैतिक नहीं हैं। जब मन विकसित अवस्था में पहुँचता है तब यही भावना परिष्कृत होकर घृणा, विरुचि, अस्वीकृति का रूप धारण कर लेती है। जो हमें हानि पहुँचता है या हम पर संकट लाता है उसके प्रति अस्वीकृति और जो प्रसन्नता प्रदान करता है उसके प्रति स्वीकृति परिष्कृत होकर अशुभ एवं शुभ भावना का रूप धारण कर लेती है एवं अन्त में शुभ के प्रति सामान्य स्वीकृति और अशुभ के प्रति सामान्य अस्वीकृति का रूप धारण कर लेती है। संक्षेप में जो कुछ भी मनुष्य के स्व की तृप्ति में हानि पहुँचाता है वह उसके लिये अशुभ है तथा जो उसमें सहयता देता है एवं जो उसे दृढ़ तथा विवर्धित करता है वह उसके लिये शुभ है। इस प्रकार नैतिकता का उदय मानव जीवन में होता है अर्थात् मन के स्तर पर ही अशुभ का अभ्युदय होता है। अत: श्री अरविन्द नैतिकता को विकास की एक अवस्था कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में "नैतिकता क्रम विकास में एक भूमिका है। जो तत्त्व समस्त भूमिकाओं में समान रूप से विद्यमान है वह है सच्चिदानन्द की आत्माभिव्यक्ति के लिये प्रेरणा। यह प्रेरणा आरम्भ में निर्नैतिक होती है; पशु में अवनैतिक (Infraethical) हो जाती है, फिर बुद्धिधारी जीव (मनुष्य) में नैतिकता विरोधी भी हो जाती है, कारण अपने प्रति की गई जिस हानि को हम अस्वीकृत करते हैं उसे ही दूसरों के प्रति किये जाने पर हम उसका समर्थन करते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य अभी भी केवल अर्द्धनैतिक ही है और जैसे हमसे नीचे की समस्त भूमिकायें अवनैतिक हैं, ठीक इसी प्रकार हमसे ऊपर भी एक ऐसी भूमिका हो सकती है-जहाँ हम अन्त में अवश्य पहुँचते- जो अतिनैतिक हो, जिसे नैतिकता की आवश्यकता न हो।"[१०] नैतिकता मानव जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करती है। यह मनुष्य को धीरे-धीरे अज्ञान से त्राण दिलाने के लिये समर्थ बनाती है और उसे दिव्य ज्योति प्राप्त करने के लिये तैयार करती है। "नैतिक अन्तर्वेग (Impulse) और नैतिक अभिवृत्ति (Attitude) जो कि मानवता के लिये इतना अधिक महत्त्व रखते हैं, एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह (मानवता) निश्चेतना पर आधारित और प्राणतत्त्व के द्वारा व्यक्तिगत असंगतियों में खण्ड-विखण्डित निम्न कोटि की समंजसता और विश्वात्मकता से बाहर निकलकर समस्त जीवों के साथ सचेतन एकत्व के ऊपर आधारित उच्च समंजसता और विश्वात्मकता की ओर जाने की चेष्टा करती है। इस लक्ष्य पर पहुँच जाने पर इस साधन की आवश्यकता नहीं रह जायेगी और न इसका वहाँ उपयोग ही सम्भव होगा, कारण, जिन गुणों और विरोधों पर यह (नैतिक अन्तर्वेग और अभिवृत्ति रूप साधन) आश्रित है वे अन्तिम संगति में स्वभावत: ही विलीन और लुप्त हो जायेंगे।"[११]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिकता अस्तित्त्व की स्वल्पकालीन अवस्था से ही सम्बद्ध है और इसे सम्पूर्ण अस्तित्त्व पर लागू नहीं किया जा सकता है। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं "नैतिक दृष्टिकोण एक विश्वात्मकता से दूसरी विश्वात्मकता में जाते समय एक स्वप्नकालीन किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मार्ग में ही उपयोगी होता है, अत: हम विश्व की समस्या के सम्पूर्ण समाधान करने में इसका उपयोग नहीं कर सकते अपितु उस समाधान के केवल एक अंश के रूप में उसे स्वीकार कर सकते हैं। यदि हम समस्या के सम्पूर्ण समाधान करने में इसका उपयोग करेंगे तो हम एक स्वल्पकालीन दृष्टिकोण और पदार्थों की उपयोगिता सम्बन्धी एक अर्द्धविकसित दृष्टि के अनुकूल बनाने के लिए विश्व के समस्त तथ्यों को, भूतकाल में हुए और आगे होने वाले विकास के सम्पूर्ण अर्थ को मिथ्या करने के संकट मे गिर पड़ेंगे। जगत् के तीन स्तर हैं, अवनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक। हमें उस तत्त्व को खोज निकालना है जो इन तीनों स्तरों में हो; ऐसा करने पर ही हम समस्या का समाधान कर सकेंगे।"[१२] और यह तत्त्व जो सभी स्तरों में वर्तमान है वह है सच्चिदानन्द की आत्म-अभिव्यक्ति की प्रेरणा। सत् की चित्-शक्ति विभिन्न रूपों में अपने को विकसित कर रही है और इस विकास-क्रम में अपने आनन्द को खोज रही है। सच्चिदानन्द ही अपने को अवनैतिक, नैतिक एवं अतिनैतिक स्तरों में अभिव्यक्त कर रहा है। भौतिक तत्त्व, प्राण एवं मन सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ठीक इसी तरह सुख, दु:ख एवं अशुभ अज्ञान जगत् में सच्चिदानन्द की आत्माभिव्यक्ति के परिणाम है। एतदर्थ ये दु:ख, अशुभादि सच्चिदानन्द के आनन्द के विरोधी नहीं है। वस्तुत: आनन्द मानसिक धरातल पर अपने ही में से सुख, दु:ख एवं अशुभ को अभिव्यक्त करता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि "सत्ता (सत्) का आनन्द जब अपने सम्भवन् के आनन्द का अनुभव करना चाहता है तो वह स्वयं ही शक्ति की गति बन जाता है और स्वयं ही गति के ऐसे रूप धारण कर लेता है जिनकी सुख और दु:ख भावात्मक और निषेधात्मक दो धातुएँ है।"[१३] एतदर्थ यह स्पष्ट है कि दु:ख, अशुभादि परमसत् के विपरीत नहीं है अपितु ये परमसत् की अभिव्यक्ति के ही रूप हैं। इन्हें परमसत् के विपरीत नहीं कहा जा सकता है क्योंकि निरपेक्ष दु:ख एवं अशुभ नाम की कोई चीज संसार में नहीं हैं। इन्हें परमसत् से विपरीत तभी कहा जा सकता है जब ये सत् से स्वतन्त्र हों या इनका कोई स्वतन्त्र उद्भव हो। दु:ख एवं अशुभ परमसत् की अपूर्ण अभिव्यक्ति के परिणाम हैं। चूँकि परमसत् ने जगत् में अभी तक अपने को पूर्णत: अभिव्यक्त नहीं किया है इसीलिये जगत् एवं मानव जीवन के सम्बन्ध में यह विरोध है। अशुभ जगत् का स्थायी लक्षण नहीं है। यह विकास की एक निश्चित भूमिका से सम्बद्ध है और विकास की उच्चतर अवस्था में 'शुभत्व' के रूप में इसका परिवर्तन अपरिहार्य है। श्री अरविन्द की यह निश्चित धारणा है कि जब अतिमानसिक चेतना का अवतरण हो जायेगा तब दु:ख एवं अशुभ आनन्द में परिवर्तित हो जायेंगे। अत: श्री अरविन्द कहते हैं कि "विश्वसत्ता शिव का ऐसा आनन्द नृत्य है जो ईश्वर के देह को दृष्टि के सामने असंख्य गुणा बढ़ा देता है। इस नृत्य के होते हुए भी वह श्वेत (शुद्ध) सत् जहाँ था वहीं और जैसा था वैसा ही, जो कुछ सदा से है और सदा रहेगा, ठीक वही बना रहता है, यह नृत्य उसमें कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं करता, इसका एकमात्र परम उद्देश्य है नृत्य का आनन्द"[१४]। इस प्रकार हम देखते हैं कि दु:ख एवं अशुभ ब्रह्म के आनन्द के विरोधी कथमपि नहीं हो सकते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द विकास-सिद्धान्त के आधार पर अशुभ की समस्या का समाधान करते हैं। परमसत् आत्म-आविर्ज्ञान (Self-discovery) का आनन्द प्राप्त करने के लिए अपने को अतिमन के माध्यम से मन, प्राण एवं भौतिक तत्त्व के जगत् में अन्तर्लीन (Involve) करता है। इस अन्तर्लयन की प्रक्रिया में वही अपने को अज्ञान, अशुभ आदि में अभिव्यक्त करता है। श्री अरविन्द के अनुसार अशुभ परमसत् की अपूर्ण अभिव्यक्ति का परिणाम है। विकास की उच्चतर

भूमिका में शुभत्व के रूप में इसका परिवर्तन हो जायेगा। श्री अरविन्द का यह अदम्य विश्वास है कि जो अन्तर्लीन तत्त्व है वह अवश्य ही विकास की प्रक्रिया में चेतना के उच्चतर स्तरों को प्राप्त करेगा एवं अन्तत: वैकासिकी प्रक्रिया सच्चिदानन्द के साथ ऐक्य स्थापित करेगी। यह विकास का परम उत्कर्ष होगा। यदि ब्रह्म ने जगत् में अपने को अन्तर्लीन किया है अर्थात् यदि ब्रह्म का जगत् में अवतरण हुआ है एवं यदि जगत् विकास प्रक्रिया में ब्रह्म की चेतना को अधिकाधिक अभिव्यक्त कर रहा है तब हम जगत् में ब्रह्म की अभिव्यक्ति को सीमित नहीं कर सकते हैं। यदि जगत् भौतिक तत्त्व की अवस्था से मनुष्य की अवस्था तक विकसित हुआ है एवं यदि विकास का तात्त्विक उद्देश्य चेतना की अभिव्यक्ति है तब इस बात का कोई कारण नहीं प्रतीत होता है कि वैकासिकी प्रक्रिया को क्यों मनुष्य के स्तर पर रूक जाना चाहिए एवं उसे ब्रह्म की अवस्था की ओर और गतिशील नहीं होना चाहिए। अत: श्री अरविन्द की मन से अतिमन के आविर्भाव की जो अवधारणा है वह उनके अन्तर्लयन एवं विकास की अवधारणाओं के प्रकाश में पूर्णत: समझी जा सकती है। परन्तु जहाँ तक अन्तर्लयन एवं विकास की अवधारणाओं का प्रश्न है, इन्हें श्री अरविन्द दर्शन की मान्यताओं के रूप में स्वीकार करना चााहिए, प्रत्येक दर्शन कुछ निश्चित पूर्वमान्यताओं के आधार पर विचार प्रारम्भ करता है। श्री अरविन्द ब्रह्म की यथार्थता में परम विश्वास करते हैं एवं ब्रह्म के जगत् में अन्तर्लयन तथा जगत् के परमसत् तक विकास में अदम्य विश्वास के साथ अपने दार्शनिक प्रसाद को निर्मित करते हैं। वस्तुत: यदि इन मान्यताओं को स्वीकार कर लिया जाता है तब अशुभ का शुभ में परिवर्तन एवं मनुष्य तथा जगत् का दिव्यीकरण एक अनिवार्य तार्किक परिणाम होगा।

***

संदर्भ ग्रंथ

१. *श्री अरविन्द, दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १५६।*
२. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १५७।*
३. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १५८।*
४. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १६०।*
५. *आभास और सत्, पृ. ३५०।*
६. *अपियरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृ. ३५६ (भावानुवाद)।*
७. *आभास और सत्, पृ. ३५७।*
८. *आभास और सत्, पृ. ३७५।*
९. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १६१।*
१०. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १६१-१६२।*
११. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १६२।*
१२. *वही : पृ. १६२।*
१३. *दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १६४।*
१४. *वही, पृ. १३६।*

अरविन्द का सामाजिक विकास एवं परिवर्तन की अवधारणा

श्री अरविन्द ने 'ह्यू मन साइकिल' में सामाजिक विकास का अत्यन्त सजीव एवं सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार मानव समाज कुछ विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं से होता हुआ प्रगति करता है। जिन्हें उन्होंने क्रमश: प्रतीकात्मक (Symbolic), आदर्श-प्रधान (Typal), परम्परा प्रधान (Conventional), व्यक्ति प्रधान (Individualistic)तथा अनुभवप्रधान (Subjective) नाम दिये हैं। यह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक क्रम है जिसमें से प्रत्येक राष्ट्र और संस्कृति को गुजरना होता है। यह सम्भव है, कि इस प्रकार के वर्गीकरण समाज को कठोर नियम की श्रृंखला में जकड़ देने की गलती कर सकते हैं तथा प्रकृति के घुमाव-फिराव वाले टेढ़े-मेढ़े मार्गों के स्थान पर एक सीधे, मानसिक मार्ग की स्थापना कर सकते हैं। मनुष्य तथा उसके सामाजिक संगठन का मनोविज्ञान अत्यन्त जटिल है। यह परस्पर मिश्रित तथा बहुमुखी प्रतृत्तियों का इतना विकट समन्वय है कि सन्तोषप्रद रीति से कोई भी ऐसा नियमबद्ध तथा कठोर विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। तथापि श्री अरविन्द के अनुसार ये अवधारणाएँ पर्याप्त अर्थसूचक हैं और यदि हम उनके आन्तरिक भाव तथा मूल्य की परीक्षा करें तो वे परदे के पीछे छिपे हुए ऐतिहासिक विकास (evolution) के रहस्य पर कुछ प्रकाश अवश्य ही डालेंगे और यही वह दिशा है जिस पर उनका अनुसन्धान आधृत है।

श्री अरविन्द के अनुसार कोई भी मानव समाज अपनी आद्यावस्था में चाहे वह सभ्य हो अथवा असभ्य, आर्थिक दृष्टि से समुन्नत हो अथवा पिछड़ा हुआ- वहाँ हमें एक ऐसी प्रतीकात्मक मनोवृत्ति दृष्टिगोचर होती है जो उसके विचार तथा उसकी प्रथाओं और संस्थाओं पर शासन करती है। यह सामाजिक अवस्था सदा धार्मिक होती है तथा धर्म के विषय में सक्रिय रूप से कल्पनाशील होती है। यह प्रतीकवाद सामाजिक विकास की प्राथमिक अवस्था में केन्द्रीय स्थान पर होता है। मनुष्य प्रत्येक घटना के पीछे इसकी उपस्थिति अनुभव करता है।

उसके जीवन के सभी क्षण तथा अवस्थाएँ प्रतीकों से भरी होती हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि ये प्रतीक किस वस्तु के होते हैं ? ये प्रतीक किसी ऐसी वस्तु के होते हैं जिसे मनुष्य अपने पीछे, अपने जीवन तथा उसकी गतिविधियों की पृष्ठभूमि में विद्यमान अनुभव करता है जैसे भगवान, देवता इत्यादि। मनुष्य की सभी धार्मिक और सामाजिक संस्थाएँ उसके लिए प्रतीक हैं। इस अवस्था में मनुष्य को उसकी गतिविधि का निर्णय तथा नियन्त्रण करने वाले अथवा इनमें हस्तक्षेप करने वाले जो गुह्य प्रभाव हैं उनके विषय में वह जो कुछ जानता है अथवा अनुमान करता हैं, उस सबको वह प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

पुरुष और स्त्री के आपसी सम्बन्ध के विषय में भारतीय आदर्श सदा ही पुरुष तथा प्रकृति के सम्बन्ध के प्रतीक द्वारा अधिशासित रहा है। पुरुष और प्रकृति जगत् में पुल्लिगी तथा स्त्रीलिंगी भागवत तत्त्व हैं। प्रारम्भिक वैदिक युग की प्रतीकात्मक संस्कृति में स्त्री और पुरुष की स्थिति एक प्रकार की समानता की थी, यद्यपि पुरुष को कुछ आधिपत्य भी प्राप्त था परन्तु उस समय स्त्री जितना

पुरुष का अंग थी उतनी ही सहचरी भी थी। उसके पश्चात् प्रकृति को पुरुष के अधीन समझा जाने लगा। तब स्त्री भी पुरुष पर निर्भर हो गयी और उसका जीवन केवल पुरुष के लिए ही हो गया तथा उसका पृथक् आध्यात्मिक अस्तित्त्व भी नहीं के बराबर हो गया। तान्त्रिक शाक्त धर्म में स्त्री को उच्चतम स्थान प्रदान किया गया। वस्तुत: श्री अरविन्द के अनुसार यह एक ऐसे प्रयास का सूत्रपात था जो समाज में कभी चरितार्थ नहीं हो सका, ठीक वैसे ही जैसे तान्त्रिक संस्कृति वेदान्ती विचारधारा के व्यापक सामाजिक प्रभाव को कभी उतार कर नहीं फेंक सकी।

इसी प्रकार वैदिक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को लिया जा सकता है, क्योंकि यह उदाहरण हमारे उद्देश्य को स्फुट रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है। आज हम उन चार वर्णों को भ्रमवशात् या परम्परागत संस्कारवशात् जाति के रूप में स्वीकार करने लग गये हैं। किन्तु जाति परम्परागत वस्तु है और वर्ण एक प्रतीकात्मक तथा आदर्श प्रधान संस्था है। वेद के पुरुषसूक्त में जहाँ चतुवर्ण का वर्णन है वहाँ वे चारों विभाग स्रष्टा देव के शरीर से-उसके सिर, बाहुओं, जंघाओं तथा पाँवों से प्रकट हुए बताये गये हैं। आज हम इसे कवि की कोरी कल्पना समझते हैं और इसका भाव यह लिया जाता है कि ब्राह्मण ज्ञानी होता था, क्षत्रिय शक्ति सम्पन्न, वैश्य उपज करने वाला एवं समाज को आर्थिक अवलम्ब देने वाला तथा शूद्र समाज की सेवा करने वाला होता था। किन्तु यह भाव पूर्वजों की मनोवृत्ति में अपनी मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब देखने की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। क्योंकि हमारे लिए कविता बुद्धि तथा भावना का विलास मात्र है जो हमारे आमोद-प्रमोद की वस्तु है। किन्तु प्राचीन लोगों के लिए कवि द्रष्टा होता था जो अन्तर्निहित गूढ़ तत्त्वों का उद्‌घाटन करने में सक्षम था (ऋषय: मन्त्रद्रष्टार:)। उन पूर्वजों के लिए स्रष्टा के शरीर का प्रतीक किसी भी उपमा की अपेक्षा अधिक अर्थपूर्ण था, वह एक दिव्य सत्य को प्रकट करता था। उनके विचार में मानव समाज उस विराट पुरुष की जीवन में अभिव्यक्त करने का एक प्रयत्न था जो .. ने आपको अन्य प्रकार से भौतिक तथा अतिभौतिक विश्व के रूप में अभिव्यक्त किये हुए है। मनुष्य तथा विश्व दोनों एक ही अदृश्य सत्य के प्रतीक तथा अभिव्यंजन हैं।

सामाजिक विकास क्रम की यह अवस्था मुख्य रूप से धार्मिक तथा आध्यात्मिक होती है। मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आर्थिक तथा भौतिक तत्त्व भी वहाँ रहते हैं परन्तु धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों की अपेक्षा इनका स्थान गौण है।

सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था आदर्श प्रधान है जो मुख्यतया मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक तत्त्व भी मनोवैज्ञानिक विचार तथा नैतिक आदर्श के अधीन होते हैं। इस अवस्था में धर्म की स्थिति गौण हो जाती है, वह अधिकाधिक पारलौकिक स्वरूप ग्रहण करने लगता है। मनुष्य अपने जीवन और विश्व में भागवत सत्ता की सीधी अभिव्यक्ति के भाव को प्रधानतया अब अनुभव नहीं करता और शनै:-शनै: यह भाव अभ्यास क्षेत्र से विलुप्त होकर जीवन सिद्धान्तों से भी बाहर निकल जाता है।

यह अवस्था कुछ बड़े सामाजिक आदर्शों की सृष्टि करती है जिनका प्रभाव इस अवस्था से पार हो जाने पर भी मानव मन पर रहता है। यह अवस्था अपनी समाप्ति के बाद सामाजिक मान-मर्यादा का भाव पीछे छोड़ जाती है। ब्राह्मण की मानमर्यादा पवित्रता में, मन तथा आत्मा-सम्बन्धी बातों के लिए आदर में एवं ज्ञान की निष्काम प्राप्ति में तथा इनकी खोज में लगे रहने में निहित है। क्षत्रिय की मान-मर्यादा साहस, वीरता, शक्ति, स्वाभिमानपूर्ण आत्मसंयम, आत्मप्रभुत्व, आचार की उच्चता तथा उस उच्चता को बनाये रखने के लिए उसके कर्त्तव्य में रहती है। वैश्य की मान-मर्यादा शुद्ध और खरे व्यवहार, व्यापार विषयक सहायता, उत्पादन, व्यवस्था तथा परोपकार पर निर्भर करती है। शूद्र की मान-मर्यादा आज्ञापालन, अधीनता, सेवा तथा अपने को समर्पण करने पर निर्भर करती है। परन्तु धीरे-

धीरे इन विचारधारओं में से इन भावों की नीवन्त जड़ उखड़ने लगती है अर्थात् मनुष्य के आन्तरिक जीवन में से इनका स्वाभाविक प्रवाह परिरुद्ध होने लगता है। ये उच्चभाव परम्पराओं का रूप धारण कर लेते हैं, यद्यपि ये परम्पराएँ उच्चकोटि की होती हैं। इस प्रकार अन्तत: ये भाव जीवन की यथार्थता की अपेक्षा विचार तथा शब्द की परम्परा बन जाते हैं।

यह आदर्श प्रधान अवस्था परम्परा की अवस्था में तिरोहित हो जाती है। इस अवस्था की उत्पत्ति तब होती है जब बाह्य उपकरण आन्तरिक तत्त्व से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् जब शरीर अथवा वस्त्र व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। अथवा बाह्य उपकरण जो आत्मा एवं आदर्श की बाह्य अभिव्यक्ति के साधन हैं, जब आदर्श से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते हैं तब मानव समाज में परम्परा प्रधान भूमिका का श्रीगणेश होता है। वस्तुत: जाति-पाँति के विकास में चतुर्वर्ण के बाह्य भौतिक अवलम्बों यथा- जन्म, आर्थिक कर्म, धार्मिक कर्मकाण्ड (Religious ritual) पवित्र संस्कार और पारिवारिक रीति-नीति में से प्रत्येक को योजना में आवश्यकता से अधिक अतिरंजित स्वरूप प्राप्त होने लगता है। वस्तुत: प्रारम्भ में सामाजिक व्यवस्था में जन्म को प्रधान पद प्राप्त नहीं था अपितु गुण तथा योग्यता का ही महत्त्व था। परन्तु बाद में धीरे-धीर, जैसे-जैसे उस प्रतिरूप को स्थायित्व प्राप्त होता गया वैसे-वैसे शिक्षा और परम्परा के द्वारा उसकी रक्षा भी आवश्यक होती गयी तथा शिक्षा और परम्परा स्वाभाविक रूप से आनुवंशिक श्रेणियों को स्थायित्व प्रदान करती गयी। इस योजना के अन्तर्गत ब्राह्मण-पुत्र परम्परया ब्राह्मण समझा जाने लगा। जब परम्परा सर्वाधिक दृढ़ तथा विशुद्ध अवस्था में थी तब जन्म तथा कर्म दोनों संयुक्त होकर आनुवांशिक परम्परा के द्विविध बन्धन थे। परन्तु एक बार परम्परा के इस कठोर रूप में स्थापित हो जाने के पश्चात् नैतिक भूमिका का बनाये रखना अब गौण हो गया है यद्यपि विचारक का आग्रह अभी भी इस पर था, परन्तु समाज के क्रियाचार या वास्तविक विधान में इसका कोई महत्त्व नहीं था।

इस प्रकार परम्परा युग की प्रवृत्ति और सामाजिक मर्यादाओं को स्थिर तथा सुव्यवस्थित करने की होती है। इसमें वंश परम्पराओं की रूढ़ पद्धतियाँ जड़ पकड़ लेती हैं, धर्म को रूढ़ स्वरूप प्राप्त हो जाता है और सामाजिक क्रियाचार परम्परा या रूढ़िवादिता की जकड़ में मजबूती से आबद्ध हो जाते हैं।

इस परम्परावादी युग का एक आकर्षक पक्ष भी है जहाँ वह परवर्तीयुगों के लिए सीमित ही सही किन्तु प्रेरणा देने वाले भावों से युक्त होता है। "जब आने वाली संततियाँ दूर से इस युग पर दृष्टि डालती हैं तब अपनी यथार्थ सुव्यवस्था, सुन्दर तथा सूक्ष्म सामाजिक रचना और एक व्यापक तथा उच्च कोटि की आयोजना में इसके अंगों की सराहनीय अधीनता के कारण यह स्वर्ण युग उन्हें प्राय: बड़ा सुन्दर तथा आकर्षक प्रतीत होता है।"[1] परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस युग में उस सत्य की जिसे हम पाने के लिए यत्न करते हैं न तो अनुभूति ही कर पाते हैं और न उसकी सिद्धि ही क्योंकि इस युग में सत्य के किसी क्षुद्रांश को ही विस्तारित किया जाता है अथवा उसके बाह्य रूप की कोई कलापूर्ण नकल बना दी जाती है। इस प्रकार जो वास्तविक सत्य होता है वह जड़ रूप धारण करने लगता और वह सत्य नियम, व्यवस्था और परम्परा के कठोर समुदाय में विलीन हो जाता है। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में सदा बहिरंग आकृति का ही प्रभुत्व होता है जबकि आत्मा पीछे रहती है और क्षीण हो जाती है। धर्म के इतिहास में इस तथ्य को स्पष्टतया परिलक्षित किया जा सकता है। जहाँ सन्तों अथवा धार्मिक सुधारकों की प्रेरणा कितनी ही प्रबल तथा शक्तिशाली क्यों न रही हो, कालान्तर में उनके यत्नों का वास्तविक प्रभाव बिखरने और कम होने लगता है और शनै:-शनै: खोखला हो जाता है। धर्मों का साम्प्रदायिक स्वरूप इसका स्पष्ट उदाहरण है। ऐसी स्थिति में एक ऐसा समय आता है जब सत्य तथा परम्परा के बीच की खाई असह्य हो जाती है और बौद्धिक शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों का उदय होता है।

जब परम्पराएँ दूषित एवं असफल हो जाती हैं, अपने वास्तविक अर्थ और भाव से शून्य हो जाती हैं, सम्पूर्ण क्रियात्मक सार्थकता खोकर केवल रूढ़ विचार और रीति-रिवाज के बल पर केवल यान्त्रिक सत्ता ही रखती हैं, तब जड़ीभूत परिपाटियों के शासन के विरोधस्वरूप मानव समाज के व्यक्तिप्रधान युग का उदय होता है। इस युग में बौद्धिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति तर्कणा शक्ति के आश्रय से परम्पराओं को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करते हैं तथा बुद्धि और हार्दिक भावनाओं के सहयोग से उस सत्य की खोज करते हैं जिसे समाज खो चुका होता है। इसे हम सुधारवादी युग का अथवा तर्कयुग का, विद्रोह के युग का, प्रगति तथा स्वतन्त्रता के युग का सूत्रपात कह सकते हैं। व्यक्तिवाद विश्वास और व्यवहार की परम्पराओं के पीछे वास्तविक सत्य की किसी दृढ़ आधारशिला को खोज निकालने का एक प्रयत्न होता है। इसमें व्यक्ति की भूमिका आविष्कारक की हो जाती है जो अपनी बुद्धि, अन्तर्ज्ञान, आदर्शवाद, आकांक्षा तथा अपने अन्दर के किसी भी अन्य प्रकाश की सहायता से जगत् तथा स्वयं अपनी सत्ता का सच्चा विधान खोज निकालना चाहता है। इस प्रकार वह धर्म, समाज, नीति, राजनैतिक संस्थाओं आदि को परम्परा की जकड़ से पृथक् जीवन्त रूप में ढालने का प्रयास करता है।

इस व्यक्तिप्रधान युग का जन्म यूरोप में हुआ और वहीं इसका पूर्ण साम्राज्य भी स्थापित हुआ। यूरोप ने व्यक्तिप्रधान युग में जिन सत्यों की उपलब्धि की वे जीवन के केवल आरम्भिक, सतही, भौतिक तथा बहिरंग विषयों से सम्बन्धित हैं। यूरोप में व्यक्तिप्रधान युग का प्रारम्भ बुद्धि के विद्रोह से हुआ और परिणति भौतिक विज्ञान की विजयपूर्ण प्रगति में।

पूर्व ने अपने जागृति काल में यह अनुभव किया कि वह ऐसे देव के सामने खड़ा है जो अपनी सारी शक्ति और सामर्थ्य खो चुका है, व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जिस धर्म को उस पर लादा जा रहा है वह किसी आध्यात्मिक सत्य के जीवन्त भाव पर आधृत नहीं है अपितु उसका आधार किसी प्राचीन पुस्तक का लेख, किसी धर्मगुरु का उपदेश, धर्मसम्प्रदाय की परम्परा, धर्मोपदेशकों की परिषदें, मठ, मन्दिरों के महन्त एवं सब प्रकार के विशेषाधिकारी हैं, जो खोज, परीक्षण, अनुसन्धान की आवश्यकता, शंका आदि से परे केवल निर्णय और व्यवस्था देते हैं। इस युग में व्यक्ति अधिकार के प्रत्येक दावे पर कठोर अन्वेषण की दृष्टि डालता है। इस प्रकार वह तत्कालीन, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था के मूल पर ही प्रहार करता है, क्योंकि यह सब व्यवस्था किसी ऐसे सजीव सत्य के आधार पर स्थापित नहीं होती जो उसके घोषित सत्य का सफलतापूर्वक सामना कर सके।

किन्तु सत्य के किसी सार्वभौम स्रोत के बिना व्यक्तिगत प्रकाश (Individual Illumination) या मान्यता (Judgment) के अनियन्त्रित उपयोग से समाज की विचारधारा में उतार-चढ़ाव तथा अव्यवस्था की सम्भावना रहती है। व्यक्तिगत अधिकारों, स्वार्थों तथा कामनाओं की पूर्ति के कठोर आग्रह के परिणामस्वरूप समाज में तीव्र विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। इसलिए मानव जाति के व्यक्तिप्रधान युग के लिए दो परम आवश्यक बातों की खोज अनिवार्य है। उसे सत्य का एक ऐसा व्यापक आदर्श ढूँढ़ निकालना चाहिए जिसे सबकी व्यक्तिगत बुद्धि बिना किसी दबाव के-आन्तरिक प्रेरणावश स्वीकार कर ले। साथ ही सामाजिक व्यवस्था के किसी ऐसे सिद्धान्त पर पहुँचना होगा जिसकी स्थापना पदार्थों के ऐसे सत्य के आधार पर हो जो सर्वमान्य हो सके, जो व्यक्तिगत स्वार्थ और कामनाओं को नियन्त्रित कर सके। और इसका स्वाभाविक परिणाम होता है, समाज की एक नवीन व्यवस्था। वस्तुत: "वह एक कठोर आर्थिक अथवा शासनात्मक समाजवाद के द्वारा समाज की एक नवीन व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति को उसके अपने हित में तथा मनवता के हित में उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से पुनरपि वंचित कर दिया जायेगा और जन्म से लेकर वृद्धत्वपर्यन्त हर पद पर तथा हर बात में उसका समस्त जीवन तथा कर्म उसके लिए राज्य के सुव्यवस्थित यन्त्र के द्वारा निर्धारित हुआ

करेगा।"[1] इस अवस्था में समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगा। ब्राह्मण शास्त्रकार का स्थान विज्ञानवेत्ता तथा आर्थिक विशेषज्ञ ले लेगा। राजा के स्थान पर नियम द्वारा परिचालित शक्ति प्राप्त समुदायवादी राज्य स्थापित होगा। शक्ति, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से सम्पन्न वर्गों (Class) की व्यवस्था के स्थान पर शिक्षा तथा अवसर की आधारभूत समानता स्थापित होगी। सबके लिए कर्त्तव्य विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित किये जायेंगे। विवाह, सन्तानोत्पत्ति तथा बच्चे की शिक्षा जो अब तक शास्त्र द्वारा निर्धारित होते थे, वे अब वैज्ञानिक राज्य के द्वारा निर्धारित होंगे। सामूहिक शासन के अधिकारियों के तत्त्वावधान में राज्य के लिए कार्य करना होगा और अन्त में मुक्ति का समय आयेगा जो विश्राम के लिए, आनन्द के लिए तथा व्यक्तिगत उन्नति के लिए होगा जो आर्यों के वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम का काम देगा।

परन्तु श्री अरविन्द यह संकेत करते हैं कि तर्कप्रधान भौतिक विज्ञान अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर चुका है और शीघ्र ही आन्तरात्मिक ज्ञान इसे अभिभूत कर लेगा। यह ज्ञान मानव सत्ता के विषय में एक नवीन दृष्टिकोण तथा नूतन क्षितिज का उद्घाटन करेगा। श्री अरविन्द के अनुसार यूरोप के व्यक्तिप्रधान युग ने भविष्य की दो विचारधाराओं को स्थायी बना दिया है। इनमें से पहला है- समाज के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों के अधिकार की जनतन्त्रात्मक धारणा जिसके अनुसार अब यह निश्चित रूप से स्वीकार किया जाता है कि सामाजिक विकास तथा समृद्धि समाज के सभी व्यक्तियों से सम्बद्ध हैं न कि ये कुछ वर्गों तक ही सीमित हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा गम्भीर सत्य जिसे व्यक्तिवाद ने उद्घाटित किया है कि-व्यक्ति एक सामाजिक इकाई ही नहीं है, अपितु वह अपने-आप में भी कुछ है जिसे अपना व्यक्तिगत सत्य संसिद्ध करना है।

इस प्रकार श्री अरविन्द की यह स्थापना है कि बाह्य भौतिक जगत् का ज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। मनुष्य भौतिक एवं प्राणमय सत्ता के साथ ही साथ मनोमय सत्ता भी है अपितु इनकी अपेक्षा वह मनोमय अधिक है। यद्यपि मनुष्य की चेतन सत्ता उसकी भौतिक सत्ता और बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होती है परन्तु अन्तरंगतया उनके द्वारा निर्धारित नहीं होती अपितु इनके प्रति सतत् प्रतिक्रिया करती रहती है और गुह्य रूप से उनकी क्रियाओं को निर्धारित करती है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि, "इसलिए उसे पदार्थों के सत्य को और उस सत्य के सम्बन्ध से अपनी सत्ता के विधान को खोज निकालने के लिए अधिक गहरे जाना होगा और अपने तथा पदार्थों के आभ्यन्तरिक रहस्य एवं उनके बाह्य रूपों और परिस्थितियों की थाह लेनी होगी।"[3]

कुछ समय तक मनुष्य इस कार्य को आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक तर्क के आधार पर करने का प्रयत्न करता है। परन्तु अपने तथा जगत् के अध्ययन की प्रक्रिया में वह अपनी आत्मा एवं जगत् की आत्मा के सम्पर्क में आये बिना रह नहीं सकता और उसे यह अनुभव होता है कि वह सत्ता इतनी गहन एवं गुह्य रहस्यों से युक्त है कि उसके सम्मुख उसका आलोचनात्मक तर्क अत्यन्त अपर्याप्त तथा स्खलनशील जिज्ञासु है जो वस्तुओं के बाह्य रूपों का ही विश्लेषण करता है। और इस प्रकार वह गम्भीर ज्ञान की आवश्यकता को अनुभव करता है जो उसे अपने अन्दर की नवीन शक्तियों की खोज में प्रवृत्त कर देती है। इस अवस्था में वह आत्म-चेतना से सम्पन्न हो जाता है। वह समझने लगता है कि आत्म-आलोचक बनकर नहीं अपितु आत्म-सचेतन होकर, अपनी आत्मा में निवास करते हुए उसके साथ सचेतन समस्वरता स्थापित करके ही वह अपने आपको पूर्णत: समझ सकता है। इस प्रक्रिया में तार्किक बुद्धि अन्त:अनुभूतिजन्य ज्ञान एवं गम्भीर आत्मबोध के आदर्श का अनुगमन करने लगता है। फलत: उपयोगितावादी आदर्श का स्थान आत्मचेतना एवं आत्मानुभूति ले लेती है। इस प्रकार व्यक्तिवाद की युक्तिवादी और उपयोगितावादी अवस्था से समाज के अनुभववादी युग की ओर संक्रमण होता है।

व्यक्ति तथा संसार के सन्दर्भ में सत्य के विधान को खोज निकालते का प्रयास व्यक्ति प्रधान युग

का मानव जाति के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान है। किन्तु अब व्यक्ति से विश्व की ओर आना होगा और अपनी सत्ता के विधान तथा सत्य के अप्रतिहत अन्वेषण के लिए सार्वभौम सिद्धान्त को खोज निकालना होगा जिसके साथ व्यक्तिगत एवं वैश्वीय सत्ता का सामंजस्य (उस परमतत्त्व की समस्वरता में) संसिद्ध किया जा सके। वस्तुत: श्री अरविन्द व्यक्ति तथा विश्व को परमसत् की एक विशेष अवस्था मानते हैं। उनके अनुसार विश्वसत्ता सदा व्यक्तिगत सत्ता को अपने अन्तर्गत रखती है और विश्व के जीवन-विधान के द्वारा ही मनुष्य के जीवन-विधान का नियन्त्रण होता है विश्व और व्यक्ति सर्वदा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं एवं अपने व्यावहारिक सम्बन्धों में एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। परन्तु व्यक्ति भी अन्तत: अर्थात् विज्ञानमयी चेतना से सम्पन्न होने पर विश्व को अपनी चेतना के अन्तर्गत करता है। और व्यक्ति जो कि विश्व को अपनी चेतना के अन्तर्गत करता है, ऐसा उसकी पूर्ण और विशाल आत्म-चेतना की प्राप्ति के द्वारा सम्भव होता है। एतदर्थ हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्ति सदा ही विश्व को अपने अन्तर्गत करता था। केवल उसकी उत्तलीय चेतना ही अज्ञानवश एवं अहंकार में आत्मसीमित होने के कारण उस अन्तर्गतता को ग्रहण करने मे असमर्थ है। परन्तु जब हम विश्व और व्यक्ति की पारस्परिक अन्तर्गतता की चर्चा करते हैं अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि विश्व मेरे भीतर है एवं मैं विश्व में हूँ, तो वस्तुत: मुक्तावस्था में भी यही आत्मानुभूति होती है- एवं ऐसी स्थिति में हम स्पष्टत: सामान्य बुद्धि से परे पहुँच जाते हैं। इस प्रकार यह पारस्परिक अन्तर्गतत्व आध्यात्मिक है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि "विश्व और व्यक्ति उस विश्वातीत परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ है जो कि अविभक्त हैं, यद्यपि विभक्त या वितरित जैसा प्रतीत होता है; परन्तु यथार्थ में वह विभक्त या वितरित नहीं है अपितु अविभक्त रूप से ही सर्वत्र विद्यमान है। इसलिए सर्व प्रत्येक में है और प्रत्येक सर्व में है और ईश्वर सर्व में है और सर्व ईश्वर में है। जिस समय मुक्त आत्मा इस विश्वातीत परमात्मा के साथ युक्त होता है तो उसे अपने और विश्व के विषय में यही आत्मानुभव होता है।"[४] इस प्रकार व्यक्ति एवं विश्व परमतत्त्व की ही अवस्थायें हैं । और यह विश्व निरर्थक एवं निरुद्देश्य भ्रम नहीं है अपितु इसका कुछ न कुछ अर्थ और लक्ष्य अवश्य है। श्री अरविन्द के अनुसार वह अर्थ विश्वातीत, ज्योतिर्मय, परमार्थतत्त्व को क्रमश: अधिकाधिक प्रकाशित करना है। उनका वक्तव्य है कि "व्यक्ति (जीव) और वैश्व (विश्व) का विश्वातीत सच्चिदानन्द के उस दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द को अपने में उन्मीलित करना जो कि उनसे ऊपर सदा अभिव्यक्त हैं, उनके प्रतीयमान रूपों के पीछे सदा गुप्त रूप से विद्यमान है, यही दिव्य क्रीड़ा का, लीला का गूढ़ अभिप्राय है,चरम सार्थक्य है।........जीव (व्यक्ति) के भीतर ब्रह्म के उन्मीलन की सम्भावना इस ज्ञान-अज्ञानमय विश्व की पहेली का गुप्त रहस्य है; ब्रह्म की जीव और जगत् के भीतर उपस्थिति और वहाँ अपने-आपको उन्मीलित करने का उसका यह अभिप्राय इस विश्व पहेली की कुञ्जी है।"[५] तात्पर्य यह है कि व्यक्ति एवं विश्व दोनों ही विश्वातीत परमार्थतत्त्व की ही अवस्थायें हैं एवं इनका लक्ष्य विश्वातीत सच्चिदानन्द को अपने में उन्मीलित करना है। वस्तुत: जगत् सम्बन्धी इस नवीन दृष्टि तथा ज्ञान से ही व्यक्ति को अपनी सत्ता, शक्ति, सामर्थ्य और अपनी वैयक्तिक एवं सामाजिक भवितव्यता के पथ तथा उसके लक्ष्य के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि यदि "मानव जाति के अनुभव प्रधान युग को सर्वोत्तम् फल उत्पन्न करने हैं तो यह आवश्यक है कि राष्ट्र न केवल अपनी आत्मा के विषय में सचेतन हो, अपितु एक-दूसरे की आत्मा के विषय में भी सचेतन हो; उन्हें न केवल आर्थिक एवं बौद्धिक रूप में ही, अपितु अनुभवात्मक तथा आध्यात्मिक रूप में भी एक दूसरे का सम्मान करना, परस्पर सहायता करना एवं लाभ उठाना सीखना चाहिए।"[६] सच तो यह है कि "प्राणमय एवं भौतिक मानसिकता के परदे के पीछे आन्तरात्मिक सत्ता के साथ घनिष्ठतर सम्पर्क स्थापित करने के इस यत्न से और आत्मा की शक्यताओं पर बढ़ती हुई

निर्भरता से हम इस अन्तिम आविष्कार पर पहुँच जायेंगे कि मनुष्य आन्तरिक रूप में एक आत्मा है एवं भगवान की एक सचेतन शक्ति है, और यदि आत्मा अपनी सत्ता के गुप्त सत्य एवं गम्भीरतम विधान को उपलब्ध करना तथा उसके अनुसार जीवन चलाना चाहती है तो अन्दर के इस वास्तविक मानव का बाहर की ओर आह्वान शिक्षा का तथा वस्तुत: समस्त मानव जीवन का सच्चा उद्देश्य होना चाहिए। यही वह ज्ञान था जिसे पुराने लोगों ने धार्मिक तथा सामाजिक प्रतीकवाद के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया था और उस विस्मृत ज्ञान की ओर लौटने का मार्ग है अनुभववाद।"[७]

अनुभववाद प्रत्येक वस्तु को एक विकासशील आत्मचेतना की दृष्टि से देखता है। उसके अनुसार परमसत्ता सबके अन्दर एक ही है और वही व्यष्टि और समष्टि में अभिव्यक्त हो रही है। दूसरों के साथ अपनी एकता को स्वीकार तथा अनुभव करके ही हम अपनी सच्ची आत्मसत्ता की पूर्ण रूप से परिपूर्ति कर सकते हैं। इस प्रकार अनुभववाद का आधार उस आत्मतत्त्व में है जो विभिन्नताओं में भी एक है और जो संघर्ष और प्रभुत्व को आधार न मानकर समानता के आधार पर प्रत्येक की भलाई का समन्वय शेष संसार की भलाई के साथ करता है। "अनुभववाद की समस्त प्रेरणा आत्म तक पहुँचने की, आत्मा में रहने की, आत्मा द्वारा देखने की, आन्तर और बाह्य रूप में, पर सदा आन्तरिक प्रेरणा तथा केन्द्र से, आत्मा के सत्य को जीवन में क्रियान्वित करने की होती है।"[८] इस अवस्था में वस्तुत: "मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति को गम्भीर बनाकर और सम्भवत: मानव जाति में अन्तदृष्टि एवं आत्मज्ञान की अभूतपूर्व परिणाम में पुन: स्थापना करके अन्त में उसकी सामाजिक एवं सामूहिक आत्माभिव्यक्ति में क्रान्ति उत्पन्न करना ही इसकी परिणति होगी।"[९]

वस्तुत: यदि हम श्री अरविन्द की सामाजिक विकास एवं परिवर्तन की अवधारणा को उनके विकासवादी सिद्धान्त के आलोक में देखें तो समाज के अनुभववादी अवस्था की अभिव्यक्ति एक अनिवार्य तार्किक परिणति होगी। अतिमानसिक चेतना एवं विज्ञानमय प्राणियों के समाज का आविर्भाव तात्त्विक रूप से श्री अरविन्द के अन्तर्लयन (Involution) एवं विकास की अवधारणाओं पर आधृत है। परमसत् तथा उसका अन्तर्लयन एवं पुन: विकास की प्रक्रिया में उसकी चेतना की अधिकाधिक अभिव्यक्ति-ये अवधारणायें श्री अरविन्द-दर्शन की पूर्वमान्यतायें (Postulates) हैं एवं इन मान्यताओं की स्वीकृति का तात्पर्य होगा सबमें अपने को एवं अपने में सबको देखने वाली विज्ञानमयी अन्तर्दृष्टि के आविर्भाव की तार्किक अपरिहार्यता-जहाँ व्यक्ति, विश्व और विश्वतीत उसके सामंजस्य की समस्वरता में आबद्ध होंगे।

***

संदर्भ-सूची

१. श्री अरविन्द, मानव चक्र (अनूदित-लीला इन्द्रसेन), पृ. १०.

२. वही, पृ. २०-२१.

३ वही, पृ. २९.

४. दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. ९३.
(केशवदेव आचार्य द्वारा अनूदित)

५. वही, पृ. ११४.

६. मानव-चक्र, पृ. ४२.

७. वही पृ.३४.

८. वही पृ. ६४.

९. वही पृ. ३४.

परिच्छेद : पन्द्रह

रजनीश कुमार शुक्ल

15.1 तत्त्वबिन्दु में शब्दार्थ-मीमांसा की संवाद परंपरा

15.2 सौन्दर्यानुभूति की ज्ञानमीमांसा

रजनीश कुमार शुक्ल

भगवान बुद्ध की महापरिनिर्वाण भूमि 'कुशीनगर' में जन्मे डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल की आरम्भिक शिक्षा कुशीनगर एवं विधिवत प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में सम्पन्न हुई। महात्मागाँधी काशीविद्यापीठ, वाराणसी से स्नातक (१९८६) एवं स्नातकोत्तर (१९८८) स्तर तक की शिक्षा को पूर्ण कर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से यू.जी.सी. वरिष्ट अध्येता के रूप में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त किया। सम्प्रति डॉ. रजनीश तुलनात्मक दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय-वाराणसी में उपाचार्य पद पर आसीन रहते हुए अपने अकादमिक जीवन को उत्तरोत्तर समृद्धि प्रदान कर रहे हैं। अब तक इनकी दो पुस्तकें-काण्ट का सौन्दर्य शास्त्र एवं वाचस्पति मिश्र विरचित तत्त्वबिन्दु-प्रकाश में आई हैं। सौन्दर्य, संस्कृति एवं दर्शन नामक इनकी तीसरी कृति शीघ्र ही प्रकाश्य है। डॉ. रजनीश अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के संयुक्त सचिव भी रह चुके हैं। वर्तमान में दार्शनिक त्रैमासिक के कार्यकारी सम्पादक का दायित्व संभाले हुए हैं। ऐसे भविष्णु व्यक्ति से भारत के दर्शन जगत् को बड़ी अपेक्षायें हैं।

※

तत्त्वबिन्दु में शब्दार्थ-मीमांसा की संवाद परंपरा

भारत की चिंतन परंपरा में भाषा और शब्द के दार्शनिक पक्ष पर बहुत गंभीर चिंतन हुआ है। पतञ्जलि के महाभाष्य में भी अनेक स्थानों पर एतद्विषयक दार्शनिक विवेचन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि व्याडिकृत एक लक्ष श्लोकों वाले संग्रह नामक ग्रन्थ की चर्चा करते हैं। महाभाष्य के टीकाकार कैयट एवं नागेश भी इसका अपने ग्रंथों में उल्लेख करते हैं। इस प्रकार भाषा के दार्शनिक पक्ष पर विचार की एक प्राचीन परंपरा परिलक्षित होती है। किन्तु शब्दार्थ के संबंध में सर्वाधिक पुष्ट एवं परिनिष्ठित दार्शनिक चिंतन भर्तृहरि के वाक्यपदीयम् में प्राप्त होता है। भर्तृहरि शब्दब्रह्मवाद या शब्दाद्वैतवाद के संस्थापक हैं। स्वयं भर्तृहरि अपने काल में प्रचलित मतों की चर्चा करते हुए आठ प्रकार के मतों को गिनाते हैं।

आख्यातशब्द संघातो जाति: संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयव: शब्द: क्रमो बुद्धयनुसंहृति ॥
पदमाद्य पृथक्सर्वं पद सकाङ्क्षमित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ॥

(वा.पदीयं वाक्य कांड, १.२)

पुण्यराज ने इसको अपनी टीका में स्पष्ट करते हुए दो प्रमुख भेद स्वीकार किये हैं। प्रथम तो वे विचारक जो वाक्य को अखंड मानते हैं, द्वितीय वे जो इसे अवयवयुक्त मानते हैं। उनके अनुसार प्रथम कोटि में तीन प्रकार के मत हैं और द्वितीय कोटि में पाँच प्रकार के। स्वयं वाक्यपदीयकार स्फोटवादी हैं तथा वे द्विविध स्फोट को स्वीकार करते हैं। बाह्य तथा आंतर वाह्य सत्ता में व्यक्ति तथा जाति दो प्रकार के भेद संभव हैं। अर्थात् स्फोटवाद का विकासचित्र इस प्रकार होगा।

स्फोट
- बाह्य स्फोट
  - जाति रूप
  - व्यक्ति रूप
- आंतर स्फोट

इस धारा को वाक्य की अखंडता में विश्वास रखने के कारण वाक्यवादी भी कहा जाता है। इसी प्रकार पुण्यराज के विभाजन के आधार पद एवं वाक्य की खंडरूपता को स्वीकार करने वाले भाषा-दार्शनिक निकायों को पदवादी कहा जा सकता है। पदवादी-चिंतन के अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद अर्थ की एक अलग इकाई को प्रस्तुत करता है। इनका परस्पर अन्वय करने से एक अन्य अर्थ की प्राप्ति होती है। इस विचारधारा को पाँच निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. **क्रियापदवादी**- इस मत के विचारक यह मानते हैं कि क्रिया पद ही वाक्य है। क्योंकि यह अकेले ही अर्थ का बोध करा देता है। जैसे "दहति" क्रिया पद है, किंतु इसे वाक्य माना जायेगा क्योंकि यह वाक्य जहाँ अग्नि का बोध कराता है वहीं दह्य पदार्थ का भी।

२. **प्रथम पदवादी**- इस सिद्धांत के अनुसार किन्हीं दो वाक्यों में परस्पर समान दिखने वाले भी वस्तुत: भिन्न होते हैं। 'देवदत्त'! गामानय' तथा ' देवदत्त ! गां बधान इन दोनों ही वाक्यों में प्रथम पद समान दिखाई देता है किंतु दोनों में भिन्नता दूसरे पक्षों को लेकर है। इसमें किसी एक को विविक्त रूप में नहीं समझा जा सकता है।

३. **प्रत्येक पदवादी** - इनके अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद वाक्य है। यह मत प्रथम पदवादी चिंतन से बहुत भिन्न सिद्धांत नहीं, अपितु जिस प्रकार प्रथम पद संसृष्टि हाने के कारण वाक्य है उसी प्रकार अन्य पद भी वाक्य हो सकते हैं, क्योंकि एक वाक्य का पद अन्य वाक्य के पद के सदृश्य होते हुए भी पद के अर्थ से सादृश्य नहीं रखता है। इसी प्रकार यह भी स्वीकारा जा सकता है कि किसी वाक्य के दोनों पद संरचना में समान होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। अत: किसी एक पद को निश्चय ही वाक्य माना जा सकता है।

४. **क्रमवादी** - यह धारा मानती है कि क्रम ही वाक्य है, क्योंकि पद एक विशिष्ट क्रम में होने कारण ही अर्थ देते हैं। अर्थात् वाक्य पदों के समाहार मात्र से नहीं बनता अपितु इसकी उत्पत्ति क्रम के कारण होती है।

५. **संघातवादी**- यह मत पद-संघात को वाक्य मानता है। इन विचारकों के अनुसार पद अकेले ही अर्थ बोध कराने में सक्षम नहीं अपितु वाक्यार्थ में पद के अर्थ के साथ-साथ अर्थों के संसर्ग का भी समावेश होता है।

सामान्यत: भारतीय भाषा दर्शन में अर्थ के प्रति दो ही दृष्टिकोण सामने आते हैं जिन्हें व्याकरण के अखंडपक्ष और खंडपक्ष के रूप में अथवा संघात या सहचारी सिद्धांत के रूप में समझा जा सकता है। व्याकरणशास्त्र में इसे वाक्यवाद तथा पदवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहाँ तक खंड-पक्ष का प्रश्न है यह विश्लेषणात्मक प्रविधि का अनुसरण करता है और पद को विचार तथा ज्ञान की स्वतंत्र इकाई के रूप में स्वीकार करता है। इस धारा के अनुसार भाषा का अध्ययन पदों के आधार पर ही संभव है। वाक्य तो पदों की श्रृंखलाबद्धता है। अर्थात् भाषा का प्रांरभिक दार्शनिक अध्ययन पदों तथा उसके निरपेक्ष अर्थ पर केंद्रित है। प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रत्येक संप्रदाय लगभग इस बिंदु पर सहमति प्रकट करते हैं कि प्रत्येक पद का एक विशिष्ट अर्थ होता है। इसीलिये किसी वस्तु को अभिहित करने के लिये पदार्थ शब्द का प्रयोग सभी मतवादों ने किया है। किंतु पद और वाक्य को लेकर मीमांसा दर्शन तथा व्याकरण दर्शन के बीच व्यापक शास्त्रार्थ परंपरा प्राप्त होती है। वैयाकरणों की दृष्टि से जहाँ मीमांसक पदवादी हैं वहीं स्वयं को वे वाक्यवादी बताते हैं।

व्याकरण का दार्शनिक पक्ष अपनी पूरी प्रखरता से वाक्यपदीयम् में दिखाई देता है। वाक्यपदीयकार स्फोटवादी हैं और इस सिद्धांत पर मीमांसकों की ओर से कुमारिल ने अनेक आपत्तियाँ उठाई है। उन आपत्तियों का निराकरण मण्डनमिश्र ने अपनी पुस्तक 'स्फोट-सिद्धि' में दिया है तथा तत्त्वबिंदु में स्फोटसिद्धि के द्वारा मीमांसा मत में जो दोष दिखाये गये हैं, उनका परिहार कर अभिहितान्वयवाद की पुष्टि की गयी है। अत: तत्त्वबिंदु के विवेच्य विषय को ठीक से समझने के लिये आवश्यक है कि स्फोटवाद तथा भाट्ट मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद को ठीक से समझ लिया जाय। स्फोटवादी मानते हैं कि प्रत्येक अर्थवान् शब्द में ध्वनि तथा स्फोट दो तत्त्व पाये जाते हैं। जैसा कि वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने स्वयं उल्लेख किया है :

द्वावुपादानशब्देषु शब्दो शब्दविदो विदु:।
एको निमित्तं शब्दानापरोऽर्थे प्रयुज्यते॥ (वाक्य पदीयं ब्र.कांड,४४)

यह स्फोट पूर्ववर्ती वर्णों के उच्चारण के संस्कार के साथ अंतिम वर्ण के उच्चारण से अर्थ की अभिव्यक्ति है :

पूर्व-पूर्व- अनुभवाहितसंस्कारसहितेन ।
अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यंज्यते स्फोट: ॥

इस प्रक्रिया में बुद्धि में एक नित्य शब्द समस्त वर्णों के समुदाय रूप में अभिव्यक्त होता है। वैयाकरण शब्द को दो प्रकार का मानते हैं- प्रकृत एवं विकृत। स्फोट प्रकृत रूप है तथा उच्चरित शब्द विकृत रूप है। प्रकृत शब्द नित्य तथा विकृत शब्द अनित्य होता है। घटप्रदीयन्याय के आधार पर स्फोट सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए वैयाकरण यह मानते हैं कि शब्दों का जो अर्थ प्रकट होता है वह न तो वर्णों से प्रकट होता है न ही वर्णों से बने शब्दों के द्वारा अपितु इन वर्णों से बने हुए शब्दों में सन्निहित शक्ति के कारण अभिव्यक्त होता है। शक्ति का आश्रय तो स्फोट है लेकिन वह शब्द में सन्निहित हो जाती है। स्फोटवाद की तत्त्वमीमांसीय परिणति अंखडवाक्यवाद में होती है। पदवादी मीमांसा द्वारा इस अंखडवादी सिद्धांत की आलोचना की गयी है। कुमारिल स्फोटवाद के प्रखर आलोचक हैं। अपने खंडन की प्रतिस्थापना करते हुए कुमारिल ने सर्वप्रथम पतञ्जलि के शब्द स्वरूप की आलोचना की है। पतञ्जलि उसे ही मानते हैं जो किसी अर्थ से युक्त है। इसके विरूद्ध कुमारिल ने तीन महत्त्वपूर्ण तर्क दिये हैं :

१. जो कुछ अर्थ प्रत्यायक हैं, वे सभी शब्द नहीं हैं जैसे - धूम अग्नि का प्रत्यायक है। किन्तु इसे शब्द नहीं कहा जा सकता।
२. श्रोतग्राह्यता भी शब्द का अभिवाचक नहीं है, अन्यथा समस्त वर्ण शब्द हो जायेंगे।
३. अर्थवान् शब्द भी अर्थ ज्ञान के पूर्व शब्द नहीं कहा जा सकता।

अत: शब्दार्थ संबंध की इस अवधारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके उत्तर में मण्डनमिश्र ने कहा है कि वर्णों को ही अर्थवान् शब्द मानना अनुभव का अपलाप है तथा शब्द की एकात्मकता को वर्णविन्यास मात्र कहना उचित नहीं है। शब्दों के अलग-अलग वर्ण अर्थवान् नहीं होते। वर्णसमूह तो संभव ही नहीं है। क्योंकि उत्तरवर्ती वर्ण के श्रवण होने तक पूर्ववर्ती वर्ण नहीं रहता है। समूह सहवर्ती सत्ता के बीच ही संभव है। जहाँ तक अर्थ के पूर्व शब्द की स्थिति का प्रश्न है, अज्ञ को अर्थबोध नहीं करा सकने के कारण शब्द का खंडन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द में अर्थ को बोधित करा सकने का सामर्थ्य है। कुमारिल का एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि शब्द तभी अर्थवान् है, जब उसे विशेष क्रम में व्यवस्थित एवं संयोजित किया जाय। यह संयोजन वर्णों को अर्थ प्रत्यायन का एक विशेष सामर्थ्य प्रदान करता है।

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णा: प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधका: ॥

(श्लोक-वार्त्तिक, शब्दाधिकरण,६९)

मण्डन मिश्र के अनुसार यह वास्तविक समस्या को प्रस्तुत नहीं करता है क्योंकि वर्ण संयोजन के लिये संघात आवश्यक है तथा यह संघात भौतिक रूप में संभव नहीं है। पुन: एक वर्ण के उच्चारित होते ही पूर्ववर्ती वर्ण अस्तित्त्ववान नहीं रहता है। अत: संयोजन की कल्पना मात्र एक वंचना है।

न हि वृत्तां वर्णविशेषोपलब्धि विसर्जनीयं भेत्तुमर्हति,
असत्वात् न ह्ययजतान्वयप्रध्वस्योरतिशय: कस्यचित्। (स्फोटसिद्धि पृष्ठ १२)

इसके विपरीत पुन: कुमारिल तर्क देते हैं कि वर्ण अपने पीछे स्थायी संस्कार छोड़ जाते हैं जो अंतिम वर्ण के साथ मिलकर अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ होता है। इसलिये संयोजन की असंभाव्यता

का यह तर्क उचित नहीं है कि स्मृतिसंस्कार उसी वस्तु का स्मरण करा सकता है जो इसे उत्पन्न कराने का विषय हो। यथा घट का प्रत्यक्ष स्मृति द्वारा घट का ही स्मरण करा सकता है, पट का नहीं वैसे ही वर्णों के स्मृतिसंस्कार वर्ण की ही स्मृति उत्पन्न करा सकते हैं। संक्षेपत: मण्डन मिश्र की स्फोटसिद्धि कुमारिल की आपत्तियों को परिकल्पना मानते हुए उन्हें इस आधार पर निरस्त कर देती है कि स्फोट या निरवयव शब्द परिकल्पना मात्र नहीं, अपितु प्रत्यक्ष तथ्य है।

तत्त्वबिंदु में वाचस्पतिमिश्र का पक्ष

कुमारिल और मण्डन मिश्र के बीच खंडन-मंडनपरक इस शास्त्रीय संवाद का समाहार वाचस्पति मिश्र अपने ग्रंथ तत्त्वबिंदु में नीर-क्षीर विवेकिनी शैली में करते हैं। इस ग्रंथ के उपोद्घात में ही ग्रंथ का प्रयोजन उदिष्ट करते हुए वे पदवाद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। ग्रंथ की मूलभूत समस्या वे निम्न शब्दों में प्रतिष्ठापित करते हैं।

इह खलु पदकम्बश्रवणसमनन्तरमविवादं विदितपदतदर्थसङ्तीनां
अनधिगतार्थविषया धीरूदयमासादयति पुंसाम्॥ (तत्त्वबिंदु, १)

इस वाक्य से यह स्वत: अभिव्यक्त होता है कि वाचस्पतिमिश्र पदवाद के समर्थक हैं। जहाँ यह ग्रंथ स्फोटवाद का (विशेषतया मण्डनमिश्र कृत स्फोटसिद्धि का) उत्कृष्ट प्रत्युत्तर है वहीं भाषादर्शन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान प्रबंध भी है। तत्त्वबिंदु में वाचस्पति मिश्र ने शाब्दबोध का साधकतम् कारण क्या है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ भारतीय परपंरा में प्रचलित विविध मतों में से पाँच प्रमुख सिद्धांतों का उल्लेख करके इनकी विस्तार से विवेचना एवं समीक्षा की है। यह समीक्षा वाचस्पति की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है, इसको इस बात से समझा जा सकता है कि भामती में शाब्दबोध की विवेचना करते हुए वे स्वयं लिखते हैं कि यहाँ पर मात्र संकेत ही किया गया है, विस्तार से चर्चा के लिये तत्त्वबिंदु देखना चाहिए। दिङ्मात्रमिह दर्शित विस्तरस्तु तत्त्वबिन्दाववगन्तव्य: (भामती १/३/२८)

तत्त्वबिंदु में व्याकरण, न्याय, प्राचीन मीमांसा तथा प्राभाकर एवं भाट्ट मत को विचारार्थ लिया किया गया है। इस पुस्तक में भाट्ट मीमांसा के मत को सिद्धांत के रूप में ग्रहण किया गया है। जैसा कि वाचस्पति लिखते हैं कि आचार्यों का मत है कि पद के अभिहित अर्थ आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के द्वारा अन्वित होकर वाक्यार्थ को प्रस्तुत करते हैं। अभिहित अर्थ का अन्वित होना ही वाक्यार्थ का हेतु हैं।

पदैरेव समभिव्याहारवद्भिरभिहिता: स्वार्था आकाङ्क्षा-
योग्यताऽऽसत्तिसध्रीचीना वाक्यार्थधीहेतव: इत्याचार्या:। (तत्त्वबिंदु पृष्ठ ३)

इस ग्रंथ में सिद्धांत मत की प्रतिस्थापना के लिये प्रतिपक्षी मतों की विस्तृत विवेचना की गई है और विविध मतवादों के बीच हुई खंडन-मंडन की परपंरा को प्रस्तुत किया गया है। वाचस्पतिमिश्र ने स्फोटवाद को प्रधान मल्ल के रूप में स्वीकार किया है तथा भर्तृहरि, कुमारिल एवं मंडन मिश्र द्वारा अपने अपने मतों के पोषण तथा परमत दूषण से प्राप्त विविध तर्कों तथा प्रत्युत्तरों को अत्यंत मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

स्फोटवाद के अनुसार वाक्यस्फोट अंखडवस्तु है तथा वाक्यार्थबोध का साधकतम कारण है। वाक्य का पदों एवं वर्णों में जो विभाजन दिखाई देता है वह वास्तविक न होकर अनादि अविद्याजन्य है। स्फोटवाद की विवेचना के क्रम में वाचस्पतिमिश्र ने प्रथमत: दो विकल्प प्रस्तुत किये हैं। तथा इन दोनों ही विकल्पों की पूरी परंपरा के आलोक में विस्तृत विवेचना की गयी है और किसी भी विकल्प की तार्किक रूप से प्रतिफलन की असंभव्यता के आधार पर स्फोटवाद को वाक्यार्थबोध के वैध कारण के रूप में अस्वीकार किया गया है। यदि यहाँ प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय कि वर्ण और पद की

वाक्य में अनुभूयमान सत्ता है तो यह विकल्प उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि अवयवी सर्वदा अपने अवयवों से बड़ा होता है। किन्तु जैसा कि वैयाकरण स्वयं स्वीकार करते हैं कि वर्ण विभु है और विभु वर्णों से बड़ा अवयवी वाक्य हो ऐसा संभव नहीं है। नैयायिक भी यह स्वीकार करते हैं कि शब्द आकाश का गुण है तथा केवल द्रव्य ही समवायि कारण होता है। (क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यम्) कुछ लोग यह मानते हैं कि वायु परमाणु से वर्णों की उत्पत्ति होती है, जैसा कि वायवीयावयवारब्धवादियों के मत को प्रस्तुत करते हुए वाक्यपदीयकार भी कहते हैं कि यदि इसे स्वीकार किया जाय तो साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि वर्ण तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। अत: इनके बीच संबंध ही नहीं बन सकता। फलत: ये वर्ण किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। यदि यह माना जाय कि अवयव एक ही है और वही अवयवी को उत्पन्न करता है तो यह कोई स्वीकार नहीं करेगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में कार्य द्रव्य को उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। इसके लिए दो या दो से अधिक अवयवों द्वारा कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर एक कठिनाई यह है कि द्रव्य के अविनाशी न होने के कारण कृतक के नित्यत्त्व का विरोध प्रसंग उपस्थित हो जायेगा और इसे कोई भी नहीं स्वीकार करेगा। यह भी स्वीकार करना कठिन है कि एक दूसरे से सहभावित वर्ण वाक्य के उपादान कारण हैं। क्योंकि वर्णों के संज्ञान का वर्णों के बीच आशुतर विनाशत्त्व के कारण सहभाव नहीं है। इस प्रकार से प्रथम विकल्प खंडित हो जाता है।

इसके अनंतर द्वितीय पक्ष को प्रस्तुत करते हुए वाचस्पतिमिश्र "स्यादेतत् अन्वयमेव वाक्यं वाक्यार्थस्य वाचकम्" को व्याकरण सम्मत पक्ष के रूप में उपस्थापित करते हैं। इसकी विवेचना के लिए वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र की स्फोटसिद्धि को पूर्व पक्ष के रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि स्फोटसिद्धि में कहा गया है कि नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम्। अर्थात् स्फोटवादियों के अनुसार वाक्य अनेक अवयवों वाला नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार वाक्य ही अर्थ प्रत्यायन करते हैं, पद तथा वर्ण नहीं, क्योंकि ये अनवयव नहीं है। वर्ण एवं पद वास्तविक रूप से अस्तित्त्वान् भी नहीं हैं। अपितु वह वाक्य ही है जो सत् रूप से अस्तित्त्ववान् है। वाक्य नित्य तथा नित्य अभिव्यक्त है। अत: जिस प्रकार पद पदार्थ के वाचक हैं उसी प्रकार वाक्य वाक्यार्थ का वाचक है। पद या वर्ण को वाक्यार्थ का वाचक मानना उचित नहीं है। पद एवं पदार्थ और वाक्य एवं वाक्यार्थ में स्पष्ट भेद है। पद-पदार्थ में अशाब्दत्त्व होने के कारण भी वाक्यार्थ का वाचक वाक्य को ही स्वीकार करना होगा। यह वाक्यार्थ ज्ञान वर्णज्ञान तथा पद ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। मीमांसासूत्र के भाष्यकार तथा वार्त्तिककार दोनों के द्वारा इसका खंडन किया गया है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि न च प्रत्यक्षेभ्यो गकारादिभ्योऽन्यो गो शब्द: भेददर्शनाभावाद्भेद दर्शनाच्च, इसको स्पष्ट करते हुए वार्तिककार कहते हैं कि :

वैलक्षण्यं तु तस्येष्टमेकैकज्ञानत: स्फुटम्।
वर्णरूपावबोधात् तु न तदर्थान्तरं भवेत्॥
यदि चार्थान्तरत्वं स्यादेकैकस्मात्रयस्य तत्।
वर्णत्रयपरित्यागे बुद्धिर्नान्यत्र जायते॥

(श्लोक वार्त्तिक, वाक्याधिकरण ११८, १९)

अर्थात् वैयाकरणों का यह मत कि गकार, औकार तथा विसर्जनीय इन तीनों से विलक्षण गौकार प्रत्यक्ष है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि चित्राकार बुद्धि पूर्व में उत्पन्न एक-एक वर्ण विषयक ज्ञानों से स्पष्टत: भिन्न है। किन्तु इससे चित्राकार बुद्धि में भाषित होने वाले किसी गौ: इस आकार के शब्द स्वरूप पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है। यदि यह माना जाय कि गौ शब्द विषयक प्रत्यक्ष का गकारादि कोई अन्य शब्द विषय है, तो प्रत्येक वर्ण से भिन्न गकार, औकार और विसर्ग इन तीनों वर्णों

का समुदाय ही वह भिन्न वस्तु है, क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष में भाषित होने वाले वर्णों से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। अत: उक्त समुदाय से भिन्न कोई दूसरा अर्थ वहाँ अनुपलब्धि से ही बाधित है। इस मत की प्रस्ताविकी में वाचस्पति मिश्र श्लोकवार्तिककार कुमारिल के आक्षेपों तथा स्फोटसिद्धिकार मण्डनमिश्र द्वारा प्रस्तुत प्रत्युत्तर को सामने रखते हुए विचार प्रारंभ करते हैं।

न च वर्णा एवानुभूयन्ते न तु तदतिरिच्यमानशरीरमपि वस्त्वति वाच्यम्।

पदमिति वाक्यमिति वानुसंहारबुद्धावभिन्नस्य वस्तुनि उपारोहात्। (तत्त्वबिंदु पृष्ठ ४)

जैसा कि वैयाकरण स्वीकार करते हैं, ध्वनि उच्चारण स्थान-भेद तथा मात्रा-भेद से व्यक्ति संज्ञान को उत्पन्न करता है। जो कि वर्ण एवं पदादि अवयवों वाला अनुभूयमान होता है। यह अनुभूति उसी प्रकार की है, जिस प्रकार से विविध प्रकार के दर्पणों में व्यक्ति अपनी ही छाया को विविध रूपों में देखता है। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि पद या वाक्य में प्रथम ध्वन्यातिरिक्त अन्य ध्वनियाँ निरर्थक हैं, क्योंकि प्रथम ही स्फोट को अभिव्यंजित करने के लिए पर्याप्त है, जबकि विभिन्न ध्वनियों के आनंतर्यक्रम के सामप्त होने पर ही स्फोट अभिव्यंजित होता है। यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि अंतिम ध्वनि स्फोट की अभिव्यंजना का हेतु है, क्योंकि अंतिम ध्वनि में भी स्वयं में स्फोटाभिव्यंजन का सामर्थ्य नहीं है। अपितु यह पूर्व-पूर्व में उत्पन्न ध्वनियों के संस्कार से ही सामर्थ्यवान् होता है। इसको सोदाहरण समझाते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि जिस प्रकार से जौहरी किसी रत्न की परीक्षा के क्रम में किसी एक परीक्षण मात्र से ही संतुष्ट नहीं होता अपितु क्रम से अनेक परीक्षणों के बाद ही रत्न की वास्तविकता को प्रकट करता है, उसी प्रकार यहाँ भी स्फोट अनेक ध्वनिसंस्कारों के आधार पर अंतिम ध्वनि के साथ अभिव्यंजित होता है। किन्तु इस पर आक्षेप करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि ध्वनि-संज्ञान स्फोट की अभिव्यंजना का हेतु है, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि अवैध ज्ञान से वैध ज्ञान की प्राप्ति होती है। क्योंकि ध्वनिबोध मिथ्याप्रत्यय है। किन्तु स्फोटवादी अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा भी होता है, जैसे हरित प्रवाह (हरी घास की पंक्ति) को देखकर वृक्षों का बोध। किन्तु व्यवहार में अविसंवादकत्व के कारण इस प्रकार के बोध को भ्रांतप्रत्यय नहीं कहा जा सकता है। मण्डनमिश्र ने स्फोट सिद्धि में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि -

जैसे मणि, कृपाण तथा दर्पण तीनों ही वस्तुओं में भिन्नता है किन्तु इस भिन्नता के होते हुए भी इनमें प्रतिबिबिंत मुख के प्रतिबिंब में भेद नहीं है और वह समस्त भेदों में एक ही दिखाई देता है। क्योंकि मुख तथा मुख-प्रतिबिंब के बीच तादात्म्य है। उसी प्रकार शब्द का तादात्म्य जो उसके संज्ञान के साथ ही बोधित होता है, इस अविसंवादत्व का कारण है।

भेदेनान्वीयमानमपि मणिकृपाणदर्पणादिषु तत्त्वस्य भेदविरोधात्तत्त्वप्रत्ययेन समुत्सारितत्त्व-निखिलभेदं मुखमवसीयते। तथा दीर्घादिभेदानुगमेऽपि वर्णात्मा प्रत्यभिज्ञाबलेन विधूतभेद एकोऽवगम्यते, तथा पदमपि स्वप्रत्यावगम्यमानैकस्वभावं किञ्चिद्भेदपरामर्शेऽप्यभिन्नं निश्चीयते। (स्फोटसिद्धि का, २२)

स्फोटवादी अपने इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए अखंड शब्द की स्वीकृति पर बल देते हैं। क्योंकि एक पद तथा एक वाक्य के अनुभव को तब तक संतोषजनक ढंग से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता जब तक स्फोटरूप एक अखंड शब्द को न स्वीकार किया जाय। यहाँ पर वाचस्पति मिश्र प्रश्न उठाते हैं कि क्या प्रत्येक वर्ण अलग-अलग अखंड शब्द को उत्पन्न करते हैं अथवा संयुक्त होकर ? जहाँ तक प्रथम विकल्प का प्रश्न है, यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यह हमारे सामान्य अनुभव के विरुद्ध है और प्रथम वर्ण अन्य वर्णों को व्यर्थ कर देता है। जहाँ तक द्वितीय विकल्प का प्रश्न है, यहाँ पुन:दो विकल्प संभव हैं। प्रथम यह है कि क्या वर्ण वास्तविक रूप में परस्पर संयुक्त होते हैं ? द्वितीय यह कि इनका एक

साथ बोध वास्तविक संयोग है या नहीं ? अत: वर्ण नित्य तथा विभु हैं। इसलिए इनका परस्पर संयोग तो हो नहीं सकता है तथा इसका अवबोध भी एक काल क्रम से होता है। अत: यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इनका संयोग एक साथ बोधित होने के कारण है। पुन: वर्णवाद के पक्ष से स्फोटवाद पर आपत्ति उठाते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि पूर्व वर्ण के अनुभव से जनित संस्कार सहित अंत्य वर्ण अर्थ का प्रत्यायक है। अत: स्फोट को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु इस मत के विरुद्ध प्रश्न उठाते हुए स्फोटवादी कहते हैं कि यहाँ संस्कार का क्या अर्थ है ? क्या यह स्मृति को उत्पन्न करने वाला है ? अथवा यह उस प्रकार का है जो अनाज को फटकने (प्रोक्षण) से प्राप्त होता है, जैसा कि श्रुति कहती हैं- इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि द्वितीय कोटिक तो हो नहीं सकता क्योंकि इसे स्वीकार करने पर यह मानना होगा कि वर्ण अत्यन्त व्यतिरिक्त रूप में है जबकि वर्णव्यतिषङ्ग के बिना वर्णों से एक संस्कार की उत्पत्ति संभव नहीं है। यह भी मानना उचित नहीं होगा कि समस्त वर्ण अलग-अलग संस्कारों को उत्पन्न करते हैं और अंत्य वर्ण के साथ मिलकर अर्थ प्रतीति को उत्पन्न करते हैं। इसमें दोष यह है कि संस्कार अपने जनक वर्णों को ही उत्पन्न करेंगे, क्योंकि जो जनक में है वही जन्य में होगा। यह आपत्ति कुमारिल ने भी उठाई है और इसका परिहार करते हुए मण्डनमिश्र कहते हैं कि प्रस्तुत संस्कार स्मृति संस्कार नहीं है। अपितु भिन्न सामर्थ्य से उत्पन्न एक भिन्न सत्ता है जो किसी धार्मिक कृत्य, जैसे यागों के विभिन्न व्यापारों से उत्पन्न अदृष्ट फल के समान है। जो उनके फल की उत्पत्ति तक बना रहता है। उसी प्रकार नियत कर्त्ता द्वारा उच्चारित वर्णों का नियतक्रम स्मृति संस्कार से सर्वथा भिन्न एक असाधारण फल का कारण है। अत: पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कार द्वारा पुष्ट अंतिम वर्ण ही अर्थ को व्यक्त करता है।

अस्तु तर्हि पूर्वपूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णो वाचक इत्येव, मा भूदेष ज्ञानप्रसव: संस्मरणनिमित्तं संस्कार: अपितु यागादिकर्मभेदोपपादित इव स्वर्गादिनिमित्तम-पूर्वाभिधानोऽन्य एव नियतकर्मकर्तृभेदप्रयुक्तवर्णविज्ञानो-पाहितोऽर्थाधिगमफल: यथा चापूर्वाभिधानभावनोपजनने कर्तृक्रमनियमोपयोमावगम: शास्त्र सामर्थ्यात् - (स्फोटसिद्धि पृष्ठ २९)

इस समस्या को एक नये रूप में उपस्थापित करते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि संस्कार जो वासना नाम से भी जाने जाते हैं यदि उन्हें स्मृति का कारण माना जाय तो यह पद के अंतिम वर्ण की मात्र स्मृति में ही सहायता नहीं देता अपितु अंतिम वर्ण के द्वारा पदार्थ बोध में भी उपकारी है। क्योंकि इसमें अतिरिक्त द्रष्टता की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। किन्तु यह मत भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि संस्कार को चाहे जिस रूप में व्याख्यायित किया जाय यह एक अन्य द्रष्टा की अपेक्षा करता है। संस्कार आत्मा में उत्पन्न होता है और आत्मा में ही स्मृति को उत्पन्न करता है। वासना, संस्कार या भावना आत्मा में पूर्वानुभूत पदार्थों के स्मरण की शक्ति मात्र है। अपने मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए वर्णवादी स्फोटवाद पर पुन: आपत्ति करते हैं कि सभी वर्ण, पद या वाक्य में स्मारित होकर अर्थ को प्रकट करते हैं। अत: स्फोट जैसी गौरव कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। (तावत्स्मृतिसमारोहिणो वर्णा वाचका: ततो न गौरवमिति चेत्) किन्तु स्फोटवादी इसको संतोषजनक नहीं मानता है, क्योंकि क्रम, अक्रम और विपरीत क्रम में वर्णों के स्मरणपूर्वक उन्हीं वर्णों से विविध अर्थों की प्राप्ति हो सकती है। इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि वर्ण विभु द्रव्य है और विभुत्व के कारण कोई क्रम धारण नहीं करते हैं। जो क्रम हमारे अनुभव में आता है वह क्रम में बोधित होने के कारण है और यदि बोध एक ही है तो उस एक बोध के आधार पर कोई भी वर्णों में क्रम का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। इसका समाहार करते हुए स्फोटवादी कहते हैं कि शब्द अर्थ का प्रत्यायन करते है। इस लौकिक अनुभव की व्याख्या के लिए आवश्यक है कि अखंडशब्दत्व वाले स्फोटसिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाय। क्योंकि शब्द वर्ण

नहीं है और स्फोट प्रत्यक्ष सिद्ध है। अत: कोई कारण नहीं है कि प्रतीति के लिए स्फोट के स्थान पर वर्ण को कारण स्वीकार किया जाय।

इसका वर्णवाद के पक्ष से उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आँखे खोल कर सावधानी पूर्वक विचार किया जाय तो दो पक्ष सामने आते हैं। पहले एक एक वर्ण की गोचर बुद्धि होती है तथा बाद में विशद् पद-वाक्य को ग्रहण करने वाली बुद्धि होती है। यह क्या है ? वर्णों का बोध केवल वर्णों का ही संज्ञान प्रस्तुत करता है। वास्तव में इन वर्णों के अतिरिक्त किसी स्फोट का बोध नहीं होता जो वर्णों से भिन्न कोई तत्त्व हो तथा जिसे ध्वनि तत्त्व का विवर्त कहा जा सके। यदि द्वितीय को मानें तो वर्णों से अतिरिक्त ध्वनि तत्त्व को स्वीकार करना होगा, जो शब्द के रूप में ज्ञात होता है तथा अर्थ का प्रत्यायक है। अब पुन: यह प्रश्न उठता है कि क्या यह शब्दतत्त्व है जिसे अर्थ प्रत्यायक समझा जाय ? यदि ऐसा है तो शब्दत्व समस्त शब्दों में सामान्य रूप से अनुस्यूत है। अत: श्रोता को प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध होना चाहिये। ऐसा होने पर कारण-कार्य नियम में आकस्मिकता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। वर्णवाद की ओर से स्फोटवाद के विरुद्ध एक अन्य आपत्ति को प्रस्तुत करते हुए आगे कहा गया है कि स्फोट को स्वीकार करने पर अर्थ प्रत्यायन के लिए अनिवार्यत: अंतिम वर्ण से जनित अनुसंहार बुद्धि पर आश्रित होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि पूर्वानुभूत वर्णों में शब्दत्व रूप नित्य जाति होती है। अत: प्रथम ध्वनि को सुनकर ही अर्थ बोध हो जाता है। इससे यह कठिन समस्या उत्पन्न होती है कि ऐसा मानने पर श्रोत्रग्रहणोपाधि के बिना भी शब्दत्व संभव है। जबकि शब्द के संबंध में यह सामान्य मान्यता है कि श्रोत्र ग्रहण के कारण लोक में शब्द को शब्द कहा जाता है।

श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे लोके शब्द-शब्द: प्रसिद्ध: (शाबरभाष्य १.१.५)

किन्तु स्फोटवाद के मत में यहाँ एक तर्क उभरता है कि श्रोत्र तो अनुमान से ज्ञात होता है और श्रोत्र से ज्ञेय पदार्थ भी अनुमेय है। श्रोत्र और उससे गृहीत शब्द रूप ज्ञान भी ऐंद्रिय ज्ञान के विषय न होकर अनुमेय हैं तो स्फोट को स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि स्फोट में प्रत्यक्षवेद्यता है।

किन्तु स्फोटवाद पर गंभीर आपत्ति यह है कि एकत्व अनवयवत्व रूप अखंड स्फोट की सिद्धि के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता जैसा कि स्फोटवादियों के द्वारा बार-बार कहा गया है। क्योंकि अवयवी की अवयवातिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। हाथी, घोड़े, रथ, पैदल तथा चंपक, अशोक, किंशुक अलग-अलग हैं लेकिन सेना और बन इत्यादि एक शब्द के द्वारा एकीकृतसंज्ञान के विषय बनते हैं, किन्तु इस अनुभव के आधार पर अवयवों से भिन्न किसी अवयवी की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। वस्तुत: पदों के एकत्व का सिद्धांत उनके द्वारा प्रत्यायित प्रत्यय पर आधारित है। इस प्रकार वर्णवाद के द्वारा स्फोट के विरूद्ध की गयी आलोचनाएँ अत्यंत पुष्ट दोषों का उद्भावन करती है। उदाहरणार्थ स्फोटवाद की यह मान्यता कि प्रथम ध्वनि स्फोट को उतनी स्पष्टता से नहीं अभिव्यंजित करती है जितनी स्पष्टता से उत्तरवर्त्ती ध्वनि करती है। यह कहीं से सुष्ठु तर्क नहीं है। क्योंकि स्फोट अवयवहीन है। अत: उनके संबंध में अंशत: तथा पूर्णत: अभिव्यञ्जित होने के विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। (अपि चानंशस्यं वैशद्यावैशद्ये न युज्येते) इस प्रकार इस मान्यता की भी बहुत दूर तक रक्षा करना संभव नहीं है कि स्फोटाभिव्यंजना अविद्या पर आधारित है। क्योंकि तब तक अविद्या की व्याख्या नहीं की जा सकती है, जब तक किसी आधारभूत तत्त्व का, जिस पर अविद्या की अपाधि हो, पूर्व ज्ञान न हो। यदि यह कहा जाय कि स्फोटनिरवयव रूप से ही पूर्व ज्ञात है, क्योंकि वर्ण ध्वनि सहकार के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का पूर्वानुभव प्रमाणित नहीं है। जहाँ तक इस लौकिक सिद्धांत का प्रश्न है कि शब्दार्थ: प्रतिपद्यामहे तो यह स्फोटवाद के पक्ष में कतई कोई विशिष्ट दृष्टि नहीं देता क्योंकि यह परिस्थिति भेद के साथ स्वीकार्य तथा अस्वीकार्य है। यदि ऐसी कोई बाध्यता है कि लौकिक अनुभव को स्वीकार करना

ही है, तो उसे इस रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है कि शब्द में अनुभूयमान जो एकत्व एवं अखंडत्व है, वह वर्ण समूह से उत्पन्न होता है। क्योंकि वर्ण-समूह एक अर्थ को प्रस्तुत करते हैं।

अब हम वाचस्पतिमिश्र द्वारा प्रारंभ में, प्रस्तावित दो विकल्पों में से द्वितीय विकल्प 'अर्थधी भेदाद्वा अन्यथा अनुपपद्यमानात्' की समीक्षा प्रारम्भ करते हैं। स्फोटवाद की विवेचना के प्रसंग में ग्रंथकार ने एक कारिका प्रस्तुत की है।

मीयमानपरित्यागो बाधके नास्ति स्फुटे।
दृष्टात्कार्योपपत्तौ च नादृष्टापरिकल्पना॥ (तत्त्वबिंदु पृष्ठ ३)

इसमें प्रथमांश का व्याख्यान तो प्रथम विकल्प की चर्चा में हो गया है। इसमें आगे कहा गया है कि स्फोटवाद को स्वीकार करना इसलिए आवश्यक है कि अर्थ-भेद बुद्धि को किसी अन्य रूप में व्याख्यायित करना संभव नहीं है। इस विकल्प पर कठोर आपत्ति करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि न चाप्रत्यक्षर्थधीकार्येण शक्यानुमानम् अन्योन्याश्रयात्। अर्थात् स्फोट का प्रत्यक्ष संभव नहीं है, इसलिए अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमान नहीं है। कार्य जो स्वयं अनुमेय है, उसके आधार पर स्फोट का अनुमान करना अन्योन्याश्रयत्व का उद्‌भावन करेगा। अर्थ ज्ञान वर्णों के बोध के साथ एकस्तरीय प्रत्यक्ष से ही सरलता से संभव है, क्योंकि वर्ण क्रम, अक्रम तथा विपरीत क्रम इत्यादि विभिन्न रूपों में अनुभव के विषय होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें ह्रस्वत्व इत्यादि गुण भी हैं जो इनके स्पष्ट बोध में सहायक हैं। इस संबंध में वाचस्पतिमिश्र ने वार्त्तिककार कुमारिल भट्ट को उद्धरित करते हुये कहा है कि पदों में १. क्रम भेद २. न्यूनत्व ३. अतिरिक्तत्व ४. स्वर ५. स्मृति ६. श्रुति ऐसे सात धर्म हैं, जिनसें विभिन्नताओं का ग्रहण हो सकता है। अत: इसके लिए भी स्फोट को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी विवेचना के क्रम में वाचस्पतिमिश्र ने द्वितीय मत के रूप में न्याय के सिद्धांत को प्रस्तुत किया है और उसके पक्ष को प्रस्तुत करते हुये वे कहते हैं कि- पारमार्थिक-पूर्ववर्णपदपदार्थानुभवजनितसंस्कार-सहितान्त्यवर्णविज्ञानमित्येके। यह मत उस बिंदु पर बल देता है कि वर्ण पद ही अर्थ प्रतीति के कारण है। (पूर्वपूर्ववर्ण प्रत्यक्षजन्मानां संस्काराणां समूह: सहकारी यस्य तादृशेन श्रौत्रेण जनित: पूर्ववर्णांशे स्मरणरूपतया विषये चानुभवरूपतया प्राप्तरूपद्वय: सतोऽन्त्य च पूर्ववर्णानां प्रकाशको य: प्रत्ययस्तद्विषय:) (तत्त्वबिंदु, पृष्ठ १८)

नैयायिकों के इस सिद्धांत को खंडित करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि यदि इस पक्ष को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि अंतिम वर्ण वाक्यार्थ की उत्पत्ति चरम पद की संबंध स्मृति के पश्चात् करता है अथवा इसके बिना। (स चरमपदतदर्थसम्बन्धस्मृतिमाधाय वाक्यार्थाधीमादधीत, अनाधाय वा।) प्रथम विकल्प को मूल से ही दूषित करते हुए मिश्र महोदय कहते हैं कि यदि चरम पद उसके अर्थ संबंध की स्मृति को ग्रहण करके वाक्यार्थ का ग्रहण करता है, तो उस स्मृति के लिए जिस भावना और संस्कार के उद्‌बोध की आवश्यकता है, वह पूर्व में अनुपपन्न है। अत: वह किसी अन्य कारण से उत्पन्न होता है ऐसा स्वीकार करना होगा। अंतिम वर्ण का संज्ञान पद-पदार्थ संबंध की स्मृति के बिना ही होता है। अत: पद-पदार्थ संबंध की कोई आवश्यकता नहीं है और यह पूर्व-पूर्वजनितवर्णसंस्कार में कोई योगदान नहीं करता है। नैयायिकों के पक्ष में यह भी तर्क नहीं दिया जा सकता है कि वाक्यार्थप्रतीति पद-पदार्थसंबंधग्रहण के पूर्व अंतिम वर्ण के संज्ञान मात्र से उत्पन्न होती है। क्योंकि ऐसी स्थिति में पद-पदार्थ संबंध के अनुभव का कोई उपयोग नहीं होगा और यह व्यर्थ कल्पना मात्र होगी।

इसी प्रंसग में वाचस्पतिमिश्र ने उपवर्ष इत्यादि प्राचीन मीमांसकों के मत को उपस्थापित करते हुए कहा है कि कुछ लोगों के अनुसार स्मृति दर्पण पर आरूढ़ वर्णमाला ही वाक्यार्थ बोध का हेतु है।

अत: अखंड वाक्य अथवा अन्त्य वर्ण वाक्यार्थ बोध का वाचक हो न हो अन्य विधियाँ भी है। अस्तु तर्हि स्मृतिदर्पणारूढा वर्णमालैव वाक्यार्थ धीहेतु: "अर्थात् स्मृति रूप वर्णमाला या वर्ण समूह अर्थ प्रतीति का हेतु है, क्योंकि शब्दार्थ संबंध की अवधारणा वृद्धप्रयोगाधीन है। वृद्धों के व्यवहार में पद मात्र का प्रयोग नहीं होता है, अपितु वे संपूर्ण वाक्य का प्रयोग करते हैं और यह स्फोट नहीं है अपितु वर्ण समूह है।" वृद्ध प्रयोगधीनावधारणो हि शब्दार्थसम्बन्ध:। न च पदमात्रं व्यवहाराङ्गप्रयुञ्जन्ते वृद्धा: किन्तु वाक्यमेव"।

पदज्ञान से उत्पन्न होने वाली पदार्थस्मृति एवं पदवाक्य में वर्णमाला वाक्यार्थ प्रतीति को उत्पन्न करने वाला एक अतिरिक्त अवयव मात्र है। इस वर्णवाद को वाचस्पति मिश्र ने अनेक आधारों पर खंडित किया है। इस दिशा में वे सर्वप्रथम गौरव दोष दिखाते हैं कि यदि वर्णमाला वाक्यार्थ प्रतीति का कारण माना जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक वर्णसमूह वाक्य है तो प्रत्येक वाक्य के लिए अलग-अलग शक्ति की कल्पना करनी होगी। अत: १. अर्भक ! गामानय २. अर्भक ! गां बधान ३. शिशो ! गामानय ४.शिशो ! गां बधान ५. बाल ! गामानय ६. बाल ! गां बधान ७. डिम्भ ! गामानय ८. डिम्भ ! गां बधान। इन आठ वाक्यों के लिए आठ प्रकार की शक्तियों की कल्पना करनी होगी। क्योंकि प्रत्येक में कम से कम एक वर्णसमूह (शब्द) भिन्न है। इस सिद्धांत को स्वीकार करने पर अनेक शक्तियों की कल्पना को स्वीकार करना होगा। इसलिए इसमें गौरव कल्पना दोष है। इसके विपरीत पदवादी प्रत्येक पद के लिए एक शक्ति को स्वीकार करते हैं। अत: प्रत्येक भिन्न वाक्य के लिए भिन्न शक्ति की कल्पना को नहीं स्वीकार करना पडेगा। अत: पदवाद में वर्णवाद के समान अनवस्था दोष की उत्पत्ति नहीं होती है। फलत: इस कल्पना में लाघव है। इस मत में एक अन्य महान दोष के रूप में विषयाभाव को उद्‌भावित करते हुए आचार्य मिश्र कहते हैं "ससृज्यमानपदार्थ-विषयाधीनज्ञानो हि संसर्ग:"। अत: जिस प्रकार संसृज्यमान पदार्थ के अतिरिक्त किसी तरह से संसर्ग का निरूपण नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार जैसे-जैसे पद का श्रवण होता है वैसे-वैसे पदार्थ की प्रतीति होती है। अत: पदार्थ प्रतीति के लिए पद अपरिहार्य है। फलत: पदार्थ ज्ञान में पद के समान ही वाक्यार्थ ज्ञान के लिए पदार्थ ज्ञान आवश्यक सिद्ध होते हैं। अत: वर्णवादी मत में कोई विशेष बल नहीं सिद्ध होता है।

वर्णवाद की समीक्षा के अनंतर प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद की परीक्षा प्रारंभ करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि

पदन्याकांक्षितासन्नयोग्यार्थान्तरसङ्गतान्।
स्वार्थानभिधन्तीह वाक्यं वाक्यार्थगोचरम्॥ तत्त्वबिंदु पृष्ठ.२१

अर्थात् पद आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से अन्वित होकर स्वार्थ का अभिधान करते हैं। पद के स्वार्थ का नहीं। अर्थात् पद द्वारा प्रस्तुत पदार्थ वाक्यार्थ में नहीं प्रस्तुत होता है। इस पक्ष को प्रस्तुत करते हुए तत्त्वबिंदु में वाक्यार्थ को विशिष्ट कहा गया है जो पदों द्वारा प्रस्तुत अनेक अनुषङ्गी अर्थों से युक्त है। इस आधार पर स्पष्टतया कहा जा सकता है कि पद जब पदार्थ को प्रस्तुत है तो वे आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर उनके संबंध को ही प्रस्तुत करते हैं न कि पद द्वारा स्वार्थ की प्रस्तुति होती है। अर्थात् टीकाकार सम्मत अन्विताभिधानवाद में सभी पद इतर पद से अन्वित हो कर स्वार्थ का अभिधान करते हैं शुद्ध अर्थ का नहीं। प्रभाकर एवं उनके अनुयायी इस बात का सर्वथा निषेध करते हैं कि पद वाक्य संदर्भ को छोड़कर स्वार्थ का अभिधान करते हैं। यद्यपि पद वाक्य के तात्त्विक एवं वास्तविक संघटक हैं और प्रत्येक पद अपना अलग अर्थ रखता है किन्तु यह भी अवधेय है कि पद का उद्देश्य वाक्य के संघटक के रूप में ही करना है। इससे अधिक कुछ भी नहीं।

अभिहितान्वयवाद ने अन्विताभिधानवाद की उपर्युक्त मान्यता के विरूद्ध कुछ कठोर आपत्तियाँ की है। सर्वप्रथम अभिहितान्वयवादियों के द्वारा यह आपत्ति प्रस्तुत की गयी है कि यदि किसी वाक्य में

प्रथम पद अपने अर्थ संबंध को अन्य अर्थ संबंध के साथ प्रस्तुत करता है तो अन्य पद अपने अर्थ प्रत्यय को वाक्य में प्रस्तुत करते हैं अथवा नहीं। यदि अन्य प्रत्यय अर्थ प्रत्यायन नहीं करते हैं तो यह स्वीकार करना होगा कि वाक्य में पदों के द्वारा जिस अर्थ का अभिधान होता है वह अर्थ प्रथम पद ही प्रस्तुत करता है। यदि ऐसा है तो प्रथम पद के अतिरिक्त अन्य पदों की व्यर्थता प्रतिपादित होती है।

स्यादनभिहितेनैवार्थान्तरेणान्वितस्वार्थाभिधाने

पदादेकस्मादेवोच्चारिताद्विवक्षितार्थप्रतीते: वैयर्थ्यमितरेषाम्। (तत्त्वबिंदु पृष्ठ २१)

यदि यह तर्क किया जाय कि अन्य पद भी अपने अर्थ को अन्वित करते हैं तो उख्यायाम् पचेत् इस वाक्य में जब तक 'पचेत्' पद अपने अन्वित अर्थ पाचन क्रिया का अभिधान 'उख' से नहीं कर लेता तब तक 'उख' पाचन क्रिया का अधिकरण नहीं होता है। इसी प्रकार 'उख' तब अपने अर्थ को पच् क्रिया से अनिवत नहीं कर लेता तब तक अर्थ का अभिधान संभव नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इस सिद्धांत में अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है।

(अभिहितान्विताभिधाने तु यावत्पचेदित्यनेनान्वितस्वार्थे नाभिधानीयस्तावत्तूखाया-मित्यनेनाधिकरणमुखात्तूनाभिधीयते। एवमुखायामित्येननापि यावत्स्वार्थो नाभिधानीय: तावत्पचेदित्यनेन स्वार्थो नाभिधीयते इति परस्पराश्रयप्रसङ्ग।) तत्त्वबिंदु पृष्ठ २१

इसके उत्तर में प्राभाकर मतानुयायियों के द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि पद सर्वप्रथम अपने पदार्थ स्वरूप का अभिधान करता है। तत्पश्चात् वे पदार्थ अन्वितार्थ का अभिधान करते हैं। अत: यहाँ पर परस्पराश्रयदोष का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है। ('पदार्थस्वरूपाभिधानपूर्वके तु तद्वदन्वितार्थाभिधाने') किन्तु इस बचाव का खंडन करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि यह तर्क न तो विधिमान्य है और न वैध ही, ('द्विरभिधानमप्रामाणिकमनुपपद्यमानमापद्येत'।) इस संबंध में यह भी तर्क नहीं प्रस्तुत किया जा सकता कि पद मात्र अन्वित अर्थ का अभिधान करते हैं। अपितु यह मात्र साहचर्य है। अत: यहाँ दो प्रकार की शब्द शक्ति कथमपि स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी प्रकार पदों के अर्थ स्मृति के संबंध में भी कहा गया है कि:

पूर्वानुभवयोनित्त्वात्स्मृतिस्तदनुसारिणी।
सा चान्वितस्वरूपेण ततोऽपेक्ष्यानपेक्षणा॥ (तत्त्वबिंदु पृष्ठ २२)

गामानय इस वाक्य में गो शब्द आनय क्रिया से सहचरित होकर श्रोता में आनय क्रिया से अन्वित गो पदार्थ के अर्थ की स्मृति का जनक होता है। (गामानयेत्यत्रानयनन्वितस्वार्थों गो शब्द:।) किन्तु इस व्याख्या से एक कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि वही गो शब्द 'गां पश्य' इस वाक्य में दर्शनान्वित गो पदार्थ का अभिधान नहीं करेगा। क्योंकि यहाँ मूल रूप में उसका साहचर्य आनय क्रिया के साथ हो गया है। इसे दूसरे अन्य उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'प्रसादं पश्य' इस वाक्य में यही पश्य क्रिया प्रसाद पदार्थ के साथ अन्वित होकर अर्थाभिधान कर रही है और यह अर्थ बिल्कुल वैसा ही नहीं है, जैसा कि गो पदार्थ से अन्वित क्रिया का अर्थ है। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में क्रियान्वित सभी पदार्थों एवं प्रत्ययों की संभावना नहीं बन पाती है। (सर्वपदार्थप्रत्ययो सर्वत्र वाक्यार्थेन त्वं दत्तजलाञ्जलि प्रसज्येत) इसके उत्तर में अन्विताभिधानवाद के पक्ष से यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि अव्यभिचार के कारण श्रोता को अर्थ की स्मृति होती है। क्योंकि गो शब्द श्रवण से मात्र गो का ही स्मरण होता है किसी अन्य पदार्थ का नहीं। किन्तु वाचस्पति मिश्र इस तर्क का भी खंडन करते हुए कहते हैं कि अव्यभिचार स्मृति का करण नहीं, अपितु पूर्व अनुभवाभ्यास से आहित भावना स्मृति को प्रबोधित करती है। (पद्वभ्यासादरप्रत्ययाहिता हि भावना प्रबोधवती स्मृतिहेतु: सङ्गीयते। तत्त्वबिंदु पृष्ठ २२)

अन्विताभिधानवादियों ने उन सभी आपत्तियों का उत्तर दिया है जो अभिहितान्वयवादियों के

द्वारा प्रस्तुत की गयी है। सर्वप्रथम वे परस्पराश्रयतत्त्व का खंडन करते हैं। यद्यपि पद की अभिधान शक्ति के द्वारा पदार्थ और उसकी अन्विति होती है, किन्तु अभ्यासजन्य होने के कारण अन्य शब्दों की अर्थस्मृति अव्यभिचरित रूप से उस सीमा तक नहीं होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है की पद स्वार्थ का अभिधान करते हैं न कि पदार्थांतर का। इस पक्ष की पुष्टि हेतु अन्विताभिधानवादियों द्वारा यह प्रश्न उपस्थापित किया जाता है कि वह बोध क्या है जिसकी उत्पत्ति पदों से होती हैं ? यह मात्र चार प्रकार से ही संभव है- प्रमाण, संशय, विपर्यय एवं स्मृति (प्रमाणसंशयविपर्ययस्मृतिषु कतमेय पदात्पदार्थप्रतिपत्तिरिति) इसमें भी प्रमाण तो हो नहीं सकता है, क्योंकि पद से बोधित पदार्थ में अनधिगतता नहीं होती है जबकि अनधिगत बोध को ही प्रमाण ज्ञान कहा जा सकता है। (तत्र न तावत्प्रमाण-मनधिगतार्थबोधनं तदुपेयते।) जहाँ संशय और विपर्यय का प्रश्न है, वे पद के विषय में विचारणीय ही नही हैं। अन्य किसी पाँचवीं कोटि का सर्वथा अभाव होने से स्मृति ही शेष बचती है। ('न च पञ्चमीविधा समस्तीति स्मृतिः परिशिष्यते') यह पदार्थ स्मृति पद एवं पदार्थ संबंध दोनों को प्रस्तुत करती है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्विताभिधानवाद से अभिहितान्वयवाद का वाक्‌युद्ध मात्र यह है कि पद के अभिधान शक्ति द्वारा स्मारित वाक्यार्थ में अन्वय मात्र साहचर्य से ही नहीं होता है। अतः यह भी कुछ विशेष बल वाला नहीं है। ('अभिधानतः स्मारितं वाक्यार्थान्वयि न साहचर्यमात्रदिति') किन्तु इस तर्क से भी विषय की कठिनाई बनी ही रहती है। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इस वाक्य में तट गंगा का मुख्यार्थ नहीं होकर वाच्यार्थ है जिसका कि प्रतिवसति के मुख्यार्थ के साथ साहचर्य होता है। किन्तु इसको तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'तन्निराकाङ्क्ष न वा सम्बध्यते इति सर्वपदार्थप्रत्ययोदत्तजलाञ्जलिः प्रसज्यते' वाक्य के द्वारा प्रस्तुत संकट पुनः खड़ा हो जाता है। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद का पक्ष पुष्ट नहीं हो पाता है।

इन समस्त शंकाओं के उत्तर में प्राभाकरों का कहना है कि वाक्यार्थ बोध को ग्रहण करने वाले साधनों में वृद्ध व्यवहार सर्वोत्तम है। इस वृद्ध व्यवहार द्वारा ही 'गो' आदि का शक्तिग्रह होता है। पृथक्-पृथक् पदों का वृद्ध व्यवहार में प्रयोग न होने के कारण 'गो' आदि पृथक् पदों का अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता है। 'गामानय' वाक्य में आनय क्रिया से अन्वित गौ को देखकर ही अर्थ का अभिधान होता है। अर्थात् विधि शाब्दीभावना न होकर के नियोग है। किन्तु यहाँ यह भी प्रश्न उठता है कि लौकिक वाक्यों में तो कार्यांश प्राप्त होता है। किन्तु वेद वाक्य में कार्यांश न होने के कारण उसके अर्थाभिधान के लिए लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। इसप्रकार संपूर्ण सिद्धांत गौरव कल्पना से ग्रस्त है। अतः भाट्टों का सिद्ध शब्दों में व्युत्पत्ति वाला अभिहितान्वयवाद ही सर्वथा स्वीकार्य सिद्धांत है।

सिद्धांत पक्ष

वाचस्पति मिश्र तत्त्वबिंदु में सिद्धांतपक्ष अभिहितान्वयवाद की विवेचना और उस पर अन्य पक्ष की आपत्तियों के निराकरण की उद्‌भावना निम्नोक्त कारिका के साथ करते हैं :

सहकारिणि कार्ये च प्रत्यासन्नं हि कारणम्।
सति तद्भावभावित्वे तथा चार्थस्मृतिः पदात्॥ (तत्त्वबिंदु पृष्ठ २६)

अर्थात् यह औत्सर्गिक न्याय है किसी बलवद् बाधक के अभाव में कार्य के अत्यन्त सन्निकटवर्ती रहने वाला करण होता है। अतः पदार्थ स्मृति जो कि वाक्यार्थ ज्ञान का सन्निकटतम पूर्ववर्ती है उसे ही कारण कहा जा सकता है। कोई भी पुरुष पद-पदार्थ स्मृति के बिना वाक्यार्थ ज्ञान नहीं कर सकता है। वाक्यार्थ के लिए आवश्यक है कि पदकदम्बक जनित पदार्थ की स्मृति हो। इस प्रारंभिक टिप्पणी के साथ वाचस्पति मिश्र अभिहितान्वयवाद के दृष्टिकोण को सामने रखते हैं कि आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के सहकार से पदार्थ स्मृतिपूर्वक वाक्यार्थ ज्ञान होता है। अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञान में पद का

अभिहित अर्थ ही अन्वित होता है। पुन: अन्विताभिधानवाद के पक्ष से यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि पदों के स्वार्थ स्वरूप की स्मृति वस्तुत: अन्य अर्थ के साथ संगत होकर ही प्राप्य है न कि पदार्थ स्वरूप में प्राप्यकारी है। इसके उत्तर में वाचस्पतिमिश्र भाट्ट पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह सत्य है कि संस्कार में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह पूर्व में अनुभूत-अननुभूत पदार्थों के संसर्ग का वैध स्मरण करा दें। किन्तु यह सामर्थ्य अवश्य है कि वह पद समूह से पदार्थ स्मृति को उत्पन्न कर सके। इस पदार्थ स्मृति में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के सहकार सहित जो पदार्थ स्मृति है वह वाक्यार्थ बोध का कारण है।

इस तर्क से यह स्पष्ट है कि अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ की उत्पत्ति में पदों की भूमिका गौण है। क्योंकि लंबे वाक्यों में मानस पटल पर पद साक्षात् उपस्थित नहीं होते हैं, विरक्त हो जाते हैं। अत: वाक्यार्थ ज्ञान पदों के अन्वय से न होकर अभिहित अर्थ के अन्वय से होता है। अत: वाक्यार्थ पदार्थ ज्ञान का फल है। ऐसा स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है। किन्तु प्राभाकर मीमांसकों के पक्ष से आपत्तियों का क्रम यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। वे अभिहितान्वयवाद में गौरव दोष दिखाते हुए कहते हैं कि इस मत में अनेक शक्तियों की कल्पना करनी होगी। कम से कम तीन शक्ति की कल्पना तो आवश्यक होगी। १. अर्थरूपाभिधान शक्ति २. अर्थ के अन्योन्यान्वय की शक्ति तथा ३. आधान शक्ति। इसमें प्रथम शक्ति के द्वारा पदों के अनन्वित अर्थ का अभिधान होता है। द्वितीय शक्ति के द्वारा अर्थों का पारस्परिक अन्वय होता है। तृतीय शक्ति के द्वारा अर्थों का आधान होता है। (पदाना हि तावदर्थरूपाभिघातरूपा शक्ति: तदर्थरूपाणामन्योन्यान्वय-प्रत्यायनशक्ति: तदाधानशक्तिश्चापरा) इसके विपरीत हमारे मत में तो पदों के अन्वय के लिए एक ही शक्ति आवश्यक होगी। अत: कल्पना लाघव होने के कारण हमारा अन्विताभिधानवादी मत ही ग्राह्य है। इसके उत्तर का प्रारंभ वाचस्पति मिश्र ने अत्यन्त रोचक ढंग से किया है, वे कहते हैं।

कल्पना लाघव यत्र तं पक्षं रोचयामहे।
तदेव कतस्त्रेति निपुण सम्प्रधार्यताम्॥ (तत्त्वबिंदु पृष्ठ २८)

इसके पश्चात् इस पक्ष की विवेचना करते हुए वे कहते हैं कि अन्विताभिधानवादियों के द्वारा एक ''पदशक्ति'' को स्वीकार करना उन्हें एक बड़ी कठिनाई में डाल देता है। क्योंकि यह शक्ति मात्र अन्वय विषयक नहीं है। यदि ऐसा ही है तो सभी अन्वित संबंधों में पर्यायता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

प्रतिपक्ष के द्वारा पुन: यह तर्क दिया जा सकता है कि जातिवाचक पद जिस प्रकार से व्यक्ति वाचक नहीं है उसी प्रकार व्यतिषक्त पद व्यतिसङ्ग के वाचक नहीं है, किन्तु जाति के ज्ञान से जिस प्रकार व्यक्ति का ज्ञान हो जाता है तथैव व्यतिषक्त के ज्ञान होते ही व्यतिसङ्ग का ज्ञान हो जाता है। व्यतिसङ्गों में स्वरूपत: भेद होने के कारण पर्यायता का प्रसंग उपस्थित ही नहीं होती है। ('जात्यभिधायकमिव व्यक्ते: व्यतिषक्तोऽवगतेर्व्यतिषङ्गस्य, व्यतिषक्तानां च स्वरूपतो भेदात् नैकार्थ्य पदानामिति साम्प्रतम्') इसको एक अन्य प्रश्न द्वारा प्रस्तुत किया गया है कि क्या व्यतिषक्त को उपलक्षित करने से पदार्थ के व्यतिषक्त स्वरूपमात्र को प्रस्तुत किया जा रहा है अथवा व्यतिषङ्ग को भी कहा जा रहा है ? क्योंकि जिस प्रकार जातिवाचक पद अभिधान शक्ति के द्वारा मात्र जाति को ही प्रस्तुत करते हैं, व्यक्ति को नहीं, उसी प्रकार व्यतिषक्त जो अभिधान शक्ति के द्वारा पदार्थ स्वरूप का प्रत्यायन करते हैं, व्यतिषङ्ग का प्रत्यायन नहीं कर सकते हैं। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आकारी के बिना आकार का (द्रव्य के बिना गुण) निरूपण करना संभव नहीं है, अर्थात् आकार आकारी के अस्तित्त्व को संकेतित करता है वैसे ही क्या यही बात पदार्थ पर लागू नहीं होती है ? अर्थात् पद अपने आश्रय पदार्थ का ही

प्रत्यायन करेगा। अत: यह स्पष्ट है कि पदार्थ का ज्ञान बिना अन्वय के ही हो जाता है। यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो यह कठिनाई और अधिक बढ़ जायेगी, क्योंकि तब यह भी मानना होगा कि पक्ष में लिङ्ग का ज्ञान लिङ्गी के बिना नहीं हो सकता है तथा लिङ्ग के निरूपणाधीन होने के कारण उसका भी ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार अनुमान प्रमाण ही संकट ग्रस्त हो जायेगा। अत: यह स्वीकार करना होगा कि अन्वित के ज्ञात होते ही पदार्थ स्वरूप तथा उसके अन्वय का भी ज्ञान हो जाता है। ('तत्किंलिङ्गमपि न लिङ्गिनं विनेति तदापि तन्निरूपणाधीननिरूपणमस्तु तथा न लिङ्गत्वमपीति अनुमानमुत्पन्नसंकटं आपद्येत। तस्मादन्वितम्। शब्दसामर्थ्यागोचर इत्यभ्युपगच्छता अर्थस्वरूपं च तदन्वयश्च तद्विषयतया अभ्युपगते भवत:। तत्त्वबिंदु पृष्ठ २९')

अब अभिहितान्वयवाद की ओर से यह तर्क उपस्थित होता है कि पद शक्ति के सामर्थ्य से केवल पदार्थ को ही प्रस्तुत करते हैं न कि अन्वय को। पदार्थ स्वरूप और उसके अन्वय के बिना सहस्र प्रयास करने पर भी वाक्यार्थ बोध संभव नहीं है। अत: यहाँ दो विकल्प उपस्थित होते हैं :

१. प्रथम तो यह कि पद अपनी शक्ति के द्वारा पदार्थ को प्रस्तुत करते हैं और पदार्थ के द्वारा जिस किसी तरह से वाक्यार्थ बोध होता है।

२. द्वितीय यह कि पद अपनी शक्ति के द्वारा पदार्थ तथा अन्वय दोनों को प्रस्तुत करते हैं।

अन्विताभिधानवाद इसमें से किस विकल्प को स्वीकार करेगा ? इस प्रकार के अनेकश: तर्कों के द्वारा अभिहितान्वयवादके विपक्ष में उठायी गयी आपत्तियों का वाचस्पति मिश्र ने अत्यन्त मौलिक ढंग से उत्तर देकर अभिहितान्वयवाद की स्थापना का प्रयास किया है।

अभिहितान्वयवाद

शाबर भाष्य में अभिहितान्वयवाद की प्ररोचना दिखाई देती है। भगवान भाष्यकार कहते हैं कि- पदानि हि स्वयं स्वार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अर्थदानीं पदार्था अवगता: सन्तो वाक्यार्थ गमयन्ति। (शाबर भाष्य-१.१.२५)

अर्थात् वाक्य में पद स्वयं अपने अर्थ को प्रस्तुत कर निवृत्त हो जाते हैं। उसके बाद पदार्थ ही वाक्यार्थ का गमक होता है। इसको तंत्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने अत्यंत विशदता पूर्वक विवेचित किया है। अखंड वाक्यवाद के स्थान पर पदों को वाक्यार्थ का कारण मानने वाले प्रत्येक विचार में अनिवार्यत: पदों में सन्निधि होना संभव नहीं है। अब पदवाद के समर्थकों के बीच जो विवाद है वह यह है कि अनन्वित पदार्थ पद द्वारा अभिहित है अथवा पदों द्वारा स्मारित है। अत: यह तो स्पष्ट है कि वाक्यार्थ ज्ञान के पूर्व पदार्थ ज्ञान आवश्यक है। इस संबंध में कुमारिल स्पष्ट रूप से कहते हैं कि पद स्मृति के कारणीभूत एक संबंधी ज्ञानादि पूर्वानुभव के द्वारा ज्ञात विषयों से अधिक विषयों के ग्राहक नहीं है। अर्थात् पद अर्थ के स्मारक मात्र हैं। 'पदमप्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते' (श्लोकवार्तिक) इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि पद और अर्थ के बीच का संबंध स्मारक और स्मार्य का अथवा वाचक और वाच्य का है ? ('वाच्यवाचकत्वं च प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वं तत्त्व विचार्यमाणं स्मार्यस्मारकत्वमेव।') पद अर्थ बोध को साक्षात् एवं स्वतंत्र रूप से नहीं उत्पन्न करते हैं अपितु पूर्व ज्ञात पदार्थ के संस्कार उद्बोधन से पद के अर्थ का ज्ञान होता है।

वाचस्पतिमिश्र के इस विवेचन के द्वारा अभिहितान्वयवाद की जिस पृष्ठभूमि की प्रस्तुति हुई है वह पृष्ठभूमि भाषा शिक्षण के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। इस विधि का क्रम अत्यन्त स्पष्ट है कि श्रोता एक वाक्य को सुनने के बाद एक पद के अर्थ को समझता है इसके पश्चात् ये अर्थ आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के आधार पर परस्पर अन्वित होते हैं। इस अन्वय के परिणाम स्वरूप वाक्यार्थ बोध सम्पन्न होता है। अभिहितान्वयवादी यह मानते हैं कि वाक्यार्थ बोध शब्द के लक्ष्यार्थ से

होता है। इसकी पुष्टि के लिए वाचस्पतिमिश्र श्लोकवार्तिककार कुमारिल भट्ट को उद्धरित करते हुए कहते हैं कि 'वाक्यार्थौ लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति न स्थितिः लक्षणा' को स्वीकार करने का लाभ यह है कि इसमें एक समग्र वाक्यार्थ के पूर्वज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। लक्ष्यार्थ का ज्ञान तो मुख्यार्थ के ज्ञान के साथ ही होता है। इसको स्पष्ट करते हुए भाट्ट मीमांसक यह प्रतिपादित करते हैं कि पद का मुख्यार्थ जाति है और व्यक्ति का प्रत्यायन लक्षणा द्वारा हो जाता है। लक्षणा के लिए यहाँ मुख्य रूप से दो कारण परिलक्षित होते हैं। एक पदों का स्वार्थभिधान में असामर्थ्य तथा दूसरा पदों में मुख्यार्थ एवं अभिहितार्थ के अन्वय की आवश्यकता। किसी भी वाक्य में व्यतिरिक्त पद जातिवातक हैं और बिना किसी विशेष को अभिलक्षित किए ही जाति को प्रस्तुत करने के कारण अबोध्य होते हैं। यह वाक्य के मूल प्रयोजन के ही विरूद्ध है। क्योंकि वाक्य तो एक निश्चित अर्थ का प्रत्यायन करता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि पदों का जातिवादी अर्थ अपनी लक्षणाशक्ति के द्वारा विशेष अर्थ को निश्चित क्रम में अन्वित करके प्रस्तुत करता है। किन्तु इसका तात्पर्य कथमपि यह नहीं है कि वाक्यार्थ बोध पदों से नहीं उत्पन्न होता है। इसको स्पष्ट करने के लिए वाचस्पति मिश्र तत्त्वबिंदु में कुमारिल भट्ट को उद्धरित करते हुए कहते हैं कि :

साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैततस्मिन्पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥ (श्लोक वार्त्तिक वाक्याधिकरण ३४२-४३)

अर्थात् वर्ण साक्षात् पदार्थों के प्रतिपादक हैं। किन्तु पदार्थों का प्रतिपादन उनका उद्देश्य नहीं है। क्योंकि पदार्थ अन्य प्रमाणों से ही सिद्ध है। अतः सिद्धार्थ बोधक उद्देश्य है। ज्वलन क्रिया के बिना पाक का निष्पादन नहीं हो सकता है। इसीलिए काष्ठ से ज्वलन-क्रिया उत्पन्न की जाती है। उसी प्रकार वाक्यार्थ बोध ही पद प्रयोग का प्रधान उद्देश्य है। किन्तु यह बोध पदार्थोपस्थिति के बिना नहीं हो सकता है। अतः पहले पदों से पदार्थों की उपस्थिति होती है। और उपस्थित पदार्थों से वाक्यार्थ बोध होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करने के कुछ विशिष्ट कारण है।

१. यदि वाक्य में प्रयुक्त पदों का कोई स्वार्थ नहीं है, तो पदों का संज्ञा, क्रिया विशेषण, सर्वनाम इत्यादि में जो विभाजन किया जाता है वह विभाजन निरर्थक हो जायेगा।

२. यदि पदों से प्रथमतः पदार्थबोध के ग्रहण को स्वीकार करेंगे तो प्रत्येक वाक्य के अर्थबोध के लिए वाक्यावयवों के अर्थ के ग्रहण को मानना ही होगा। अतः पदों के पूर्वावबोध के बिना किसी भी स्थिति में वाक्यार्थ ज्ञान संभव नहीं होगा।

३. यदि वाक्यों का अर्थ उसके अवयव पदों से सर्वथा स्वतंत्र माना जायेगा तो किसी भी वाक्य से किसी भी अर्थ के ग्रहण की संभावना का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

४. सामान्यतः जब हम किसी नवीन वाक्य का जो वाक्य हमारे संज्ञान में पूर्व में कभी न आया हो उसका अर्थ ग्रहण करते हैं, तो सर्वप्रथम वाक्य में प्रयुक्त पदों से पदार्थ का ग्रहण करते हैं और पदार्थ के अन्वय से अर्थ बोध होता है। हमारा सामान्य अनुभव भी इस तथ्य का समर्थन करता है कि पद-पदार्थ के ज्ञान द्वारा पूर्व में अज्ञात वाक्य का भी अर्थबोध होता है। अतः अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है।

***

सौन्दर्यानुभूति की ज्ञानमीमांसा

सौन्दर्यनुभूति ज्ञानात्मक है या नहीं, यह प्रश्न ही अपने आपमें अत्यन्त विवादास्पद है। स्वयं सौन्दर्यशास्त्री ही इस प्रश्न पर मत वैभिन्न्य रखते हैं। यह विवाद दर्शन के इतिहास में प्लेटो के साथ प्रारंभ होता है। प्लेटों ने कला और कलात्मक अनुभव को सत्य से नितान्त दूर मान कर उसे ज्ञान के सर्वथा अयोग्य ठहराया। यद्यपि विश्लेषणवाद और तार्किक भाववाद के पूर्व तक कला की आनन्दमूलकता पर बल तो दिया जा था, किन्तु उसे सर्वथा ज्ञान शून्य नहीं माना जाता था। तार्किक भाववादी तथा विश्लेषणवादी दार्शनिकों ने कला सम्बन्धी अनुभव को सर्वथा ज्ञानशून्य सिद्ध किया, उनके अनुसार कलात्मक अनुभूति सम्बन्धी वाक्य मात्र भावनाओं की अभिव्यक्ति है। यह न तो सत्य है, न तो मिथ्या। परिणामत: यह ज्ञानमूलक नहीं है।[1]

बॉमगार्टे ने एस्थेटिक्स शब्द का प्रयोग इन्द्रियसंवेद अस्फुटज्ञान के संदर्भ में किया है। बाद में काण्ट ने क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन में ट्रान्सेन्डेन्टल एस्थेटिक्स को संवेदना के प्रथम स्फुरण तथा व्यवस्थापन के प्रथम स्तर के रूप में किया है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में देकार्त, लाइबनिट्ज तथा काण्ट तक सौन्दर्यानुभूति को काफी हद तक ज्ञानात्मक माना जाता रहा है। हेगल तक भी कला में बौद्धिकत्व और कलात्मक अनुभूति में बौद्धिकता के लिये कहीं न कहीं अवकाश बना रहा। किन्तु बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों ने कलात्मक अनुभूति को मात्र ज्ञानात्मक दृष्टि से शून्य ही नहीं कहा, इसे आवेगात्मक स्थिति से अधिक कुछ भी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है।

यदि ज्ञान सत्य का अन्वेषण है और सत्य मात्र तार्किक ही है, तो कला सत्यानुसंधान का साधन नहीं हो सकती है, तब किसी भी प्रकार से ज्ञानमीमांसीय विवेचना संभव नहीं है। इसके विपरीत यदि यदि स्वीकार्य हो, कि सत्य को जानने के अनेक साधन हैं और सत्य सम्पूर्णत: तार्किक नहीं है, तो इस दिशा में विचार आगे बढ़ाया जा सकता है। मैनें अपनी स्थापना में इसी को आधार बनाया है।

ध्यातव्य है कि सौन्दर्यनुभूति को ज्ञानमूलक मानने में सबसे बड़ी बाधा या उसकी असंभाव्यता को चुनौती तार्किक-भाववादी और विश्लेषणवादी दार्शनिकों ने दी है। अत: आवश्यक है कि ज्ञान के लिए उनके अनुसार आवश्यक शर्तों के संदर्भ में सौन्दर्यानुभूति का संपरीक्षण कर लिया जाय और उसके आधार पर इस निर्धारण की दिशा में एक सार्थक कदम उठाया जाय कि सौन्दर्यानुभूति ज्ञानात्मक है या नहीं। इन लोगों के अनुसार ज्ञान होना और अनुभव होना, दोनों ही अलग-अलग बातें हैं। केवल अनुभव से ही ज्ञान नहीं हो जाता है। ज्ञान होने के लिए अनुभव में कुछ और भी होना आवश्यक है। ज्ञान का विषय अनिवार्यत: अनगिनत लोगों के ज्ञान का विषय होता है, वह सार्वजनीन् होता है, क्रमबद्ध होता है, स्थिर होता है। यहाँ स्थिरता का तात्पर्य एक संरचनात्मक संस्थान में अभिव्यक्त होना है।[2] ज्ञान के इस रूप में होने की कुछ शर्तें हैं।

१- इसका प्रमाण होना चाहिए।

२- प्रमाणों को सत्य होना चाहिए।

३- प्रमाण का निष्कर्ष के साथ सम्बन्ध होना चाहिए।

ज्ञान निर्णयात्मक या प्रतिज्ञप्त्यात्मक होता है अर्थात् ज्ञान को निर्णयों या प्रतिज्ञप्तियों में व्यक्त किया जाता है, यह सत्यापनीय होता है अर्थात् इसे सत्य या असत्य सिद्ध किया जा सकता है। जबकि सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में सत्यता, असत्यता का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता है। क्योंकि यह उस प्रकार का ज्ञान नहीं है जिस प्रकार का किसी वस्तु के गुण के सम्बन्ध में हुआ ज्ञान होता है, चाहे वह संश्लेषणात्मक हो या विश्लेषणात्मक। इस दृष्टि से सुन्दरता, असुन्दरता के सम्बन्ध में किया गया अभिकथन निरर्थक अभिकथन है। ये वाक्य या तो भावों की अभिव्यक्ति हैं या किसी अन्य में भाव उत्पन्न करने का साधन। अतएव ऐसे वाक्यों अथवा अनुभवों की ज्ञानमीमांसीय प्रस्थिति का ठीक ढंग से आकलन करने के लिए ज्ञान के साधनों एवं प्रक्रिया के सन्दर्भ में इस पर विचार करना उचित हो सकता है।

ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का विषय के साथ सद्यः अव्यवहित सायुज्य होता है।[8] यद्यपि इस प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में भी ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में विवाद है किन्तु मैंने इस पर विशेष विचार यहाँ नहीं किया है। यहाँ प्रत्यक्ष की इस कामचलाऊ परिभाषा को आधार मानकर, सौन्दर्यानुभूति के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष के ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोणों को सामने रखकर सौन्दर्यानुभूति तथा प्रत्यक्ष की संपरीक्षा कर तार्किक-भाववादियों के द्वारा किए गए दावों की जाँच करूँगा।

सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया में स्पष्टतः दो चीजें सामने आती हैं। प्रथम, सौन्दर्यानुभूति का विषय, अर्थात् सुन्दर वस्तु, द्वितीय उनका अनुभूतिकर्त्ता विषयी। सौन्दर्यानुभूति, किसी वस्तु का इन्द्रिय संवेदना के परिणामस्वरूप हाने वाला खास बोध है। इसे इन्द्रिय अनुकूल वेदना भी कहा जाता है। इस अनुकूल वेदना के परिणामस्वरूप ही सौन्दर्यानुभूति सुखात्मक होती है।[9]

अब प्रश्न यह है कि, क्या इस इन्द्रियानुकूल वेदना को ज्ञानात्मक कहा जा सकता है अर्थात् उस ढंग का ज्ञान कहा जा सकता है जिस तरह से प्रत्यक्ष की गई किसी वस्तु को ज्ञान कहा जाता है। क्योंकि वह विषय ही है, जो कि मन को सुन्दर लगता, प्रिय लगता है, आकर्षित करता है। यह चेतना में विशेषता अर्पित करने वाले विषय की ही विशेषता है, उसका गुण है, किन्तु सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति में इस बात की कोई सूचना नहीं मिलती है। पर इतना तो स्पष्ट है कि इस अनुभूति में भी विषय और विषयी ठीक उसी प्रकार आमने-सामने होते हैं, जैसा कि प्रत्यक्ष में और उसी प्रकार अनुभूति में अपना-अपना अवदान करते हैं जिस प्रकार प्रत्यक्षानुभव में।

यहाँ पर ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से यह प्रश्न पुनः उठाया जा सकता है कि प्रत्यक्ष में विषय का जो अवबोध होता है वह विषयानुकूल होता है किन्तु इस अनुकूलता को कोई संवादकता तो कोई उपयोगितामूलक मानता है। फिर भी इन सभी सिद्धांतों में एक बात सामान्य है, वह यह कि विषय का मूलधर्म अर्थात् उसका विषयत्व उसकी परात्परता है। अर्थात वह एक स्वतंत्र सत् है, अपने अस्तित्त्व के लिए जाने जाने की अपेक्षा नहीं रखता है, पर हमारे ज्ञान में आविर्भूत होने का सामर्थ्य रखता है।

अब पुनः यह विचारणीय है कि क्या सभी परिस्थितियों में यह बाध्यता प्रतीत होती है। वस्तुतः यह बाध्यता शरीर और वस्तु के बीच अवस्थान सम्बन्ध है। जो शरीर की वस्त्वाभिमुखता से उत्पन्न है, किन्तु यह वस्त्वाभिमुखता एक ही तरह की नहीं हैं। हम उन्हें सर्वदा तथ्यों के रूप में ही जानते हैं। अर्थात् हमारा वस्तुओं का ज्ञान सर्वदा तथ्यों का ज्ञान होता है। अर्थात् हम वस्तुओं को निश्चित क्रम में या निश्चित प्रयोजन में देखते हैं, अथवा किसी निश्चित परिस्थिति में देखते हैं। इस दृष्टि से एक कलाकृति मात्र आवेगपरक मूल्य न हो करके तथ्य भी है, क्योंकि उनके भावन में भी उपरोक्त क्रमों का परिहार नहीं होता है। अतः इसको ज्ञानात्मक क्यों नहीं कहा जा सकता है। जबकि ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इसे विषय ही स्वीकार नहीं किया जाता। इसकी अस्वीकृति को निम्नोक्त उदाहरण से समझा जा

सकता है कि कोई पेंटिग गोचर है, एक वस्तु है लेकिन पेंटिग जब एक कलाकृति है, तो उस तरह का विषय नहीं है, जैसे कि मेज पर एक पेपरवेट, अर्थात् किसी कलाकृति में वस्तुत्व जैसा कुछ गुण है तो उतना ही, जितना कि किसी भौंड़ी चीज में एक वस्तु होने कारण होता है। कलाकृति होने के कारण यह अपने वस्तुत्व में कुछ भी संयोजन नहीं करती है।

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हम वस्तुओं का भावन निश्चित प्रयोजन, स्थिति और क्रम में करते हैं, या तथ्यों के रूप में करते हैं, परन्तु सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में ईमानदारीपूर्वक इन घटकों प्रयोग नहीं किया गया है। इनको हम सौन्दर्यानुभूतिपरक निर्णयों और ज्ञानपरक निर्णयों में अन्तर करके स्पष्ट सकते हैं। जब यह कहा जाता है कि कलाकृति सुन्दर है, तो यह निर्णय इस किस्म के निर्णय से सर्वथा भिन्न होता है कि मेज चौकोर होता है। इस निर्णय में मेज को चौकोर गुण से संयुक्त किया गया है, जो कि अनुभवमूलक या प्रत्यक्षमूलक अभिकथन है और जबकि दूसरे तर्कवाक्य अर्थात् शरीर विस्तृत होता है, में शरीर के अनिवार्य गुण को बताया गया है और यह एक तर्कमूलक अभिकथन है। इन दोनों ही निर्णयों में विषय की प्रधानता है। ज्ञाता या विषयी, विषय से प्राप्त संवेदनों को व्यवस्थित कर उसे प्रकट करता है। इसके विपरीत कलाकृति सुन्दर है, इस निर्णय में कलाकृति से प्राप्त संवेदनों का ज्ञाता ने व्यवस्थापन तो किया ही, उस व्यवस्थापन के पश्चात् विषय से प्राप्त हुई वेदना की प्रतिक्रिया को भी अभिव्यक्त किया है।

क्या इन मूल्यात्मक अभिकथनों को कला रूप विषय का गुण नहीं माना जा सकता है ? तो क्या यह मात्र चेतना का अवदान है, क्या इस प्रकार के अभिकथन में विषय तथा विषयी चेतना के बीच किसी किस्म का कोई सम्बन्ध नहीं होता हैं। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें पुन: प्रत्यक्ष की प्रक्रिया की तरफ ही मुड़ना होगा। क्या जब हम यह कहते हैं कि विषय के प्रति किया गया ज्ञानात्मक अभिकथन हमें विषय के सम्बन्ध में कुछ बताता है, तो क्या विषय को उसके रूप में जानते हुए हम विषयीगत हस्तक्षेप से मुक्त रहते हैं ? यदि हम विषय को सहज ऐन्द्रिक बोध के प्रथम स्फुरण में ही जान पाते तो सम्भव था कि विषय को उसके रूप में जाना जा सकता था, किन्तु यह सहज ऐन्द्रिक बोध ज्ञान ही नहीं है, यदि यह कुछ है, तो इसकी अनुभूति मात्र, कि "कुछ है।" "कुछ" की, बुद्धि के द्वारा की गई व्याख्या ही ज्ञान हैं। अत: प्रत्यक्ष ज्ञान सही अर्थों में वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में किया गया अभिकथन नहीं है, वस्तु की हमारी व्याख्या भी है।[6] इसमें विषय का महत्त्व मात्र इतना है कि वह ज्ञान के प्रारम्भ का हेतु, एक उद्दीपक आधार का कार्य करती है। अत: सौन्दर्यानुभूति के बारे में यह कहना कि इसके सम्बन्ध में किया गया कोई अभिकथन ज्ञानात्मक अभिकथन नहीं है, किस आधार पर सत्य सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि सौन्दर्यानुभूति के लिए भी विषयापेक्षा होती है। वस्तु के हमारे ऐन्द्रिक संवेदन में आने के बाद ही सौन्दर्यानुभूति होती है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष में विषयी, विषय का ज्ञान, वस्तु के रूप में न करके तथ्यों के रूप में करता है और तथ्यों का निर्माण गुणांकनों में माध्यम से करता है तो क्या भावोत्पादक शक्ति को विषय का गुण नहीं स्वीकार किया जा सकता ?

सौन्दर्यानुभूति में भी वैसे ही विषयापेक्षा होती है, जैसा कि प्रत्यक्ष ज्ञान में। मेज को चौकोर कहना, तो मेज का गुण निरूपण है, अर्थात् मेज को चौकोर गुण से संयुक्त करना है। उसी प्रकार किसी कविता या किसी कलाकृति को सुन्दर कहना भी एक प्रकार का निरूपण ही है। यह बात अलग है कि दोनों प्रकार के निरूपण में उपयोगितापरक और प्रयोजनमूलकता का भेद होता है। इन्हें दो भिन्न दृष्टियों से दिये गये निर्णय भी कह सकते हैं। मनुष्य की बुद्धि उपयोग के उद्योग में लगी बुद्धि है। उपयोग साधनात्मक है, उपभोग साध्यात्मक। सुन्दरता उपयोगपरक न होकर निरूपयोगी है। परिणातम: यह बुद्धि का विषय नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि यह उन निर्णयों में अभिव्यक्त नहीं हो सकता जिनमें

विधेय पद उद्देश्य पद के सम्बन्ध में कोई सम्बन्धात्मक अभिकथन प्रस्तुत करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में विषय का पूर्ण अवबोध ही नहीं होता है। यद्यपि ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष तथा सौन्दर्यानुभूति दोनों का उदय विषय, विषयी चेतना के लिये किसी उपयोग के साधन के रूप में प्रकट होता है, किन्तु ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष में ज्ञान का विषय तथा विषयी परस्पर व्यतिरिक्त और असंबद्ध होते है।[७] यही कारण है कि यह विषयी चेतना के लिये किसी अन्य उपयोग के साधन के रूप में प्रकट होता है। परिणामत: ज्ञाता उसमें परात्परता देखता है। यह परात्परता एक विश्वास से अधिक कुछ भी नहीं कि ज्ञात हो रहा विषय हमारे ज्ञान से परे वस्तुगत रूप में अवस्थित है। इस प्रकार के ज्ञान के पीछे विषय का उपभोगात्मक न होना ही है, अर्थात् सम्पूर्ति का विषय न होना है। परिणामत: हमारी चेतना उसका निर्धारण करती है और भविष्य में उपयोग के साधन के रूप में उसकी प्रत्यभिज्ञा करती है। और प्रत्यभिज्ञा हेतु ही तद्विषयक ज्ञान के सम्बन्ध में प्रमाणिकता, सत्यता इत्यादि की अपेक्षा है।

इसके ठीक विपरीत सौन्दर्यानुभूति में विषय का पूर्ण अवगाहन होता और परिणामस्वरूप सौन्दर्यानुभूति अपनी प्रकृति में अभिलाप्य सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। इस अवस्था में विषय अपनी पूर्णता में भासित होता है और विषय का यह बोध तथ्य का बोध नहीं है। यही कारण है, यह भाषा में अभिलाप्य नहीं है। क्योंकि भाषा तथ्यों का ही अभिलाप कर सकती है, विषय का वस्तुत्व तो अछूता ही रहता है। यही आभोग है, वाचस्पति मिश्र इसे वस्तु स्वरूपसाक्षात्कारिणी प्रज्ञा कहते हैं।[८]

यदि सामान्य रूप से स्थापित इस मान्यता को, कि सौन्दर्यानुभूति ज्ञानात्मक रूप से शून्य है, सत्य स्वीकार कर लिया जाय, और ज्ञान के लिये दी जाने वाली तमाम परिभाषाओं को भी हू-बहु स्वीकार कर लिया जाय, तो किसी किस्म के ज्ञान के लिये कोई अवकाश नहीं है। सभी कथन उत्प्रेरक अभिकथन ही होंगे, क्योंकि सम्पूर्ण प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में विषय और विषयी का सम्बन्ध किस प्रकार का है और विषयी और विषय में कितना हस्तक्षेप करता है कभी भी नहीं बताया जा सकता। परिणामत: वह वस्तु के स्वरूप के बारे में कुछ जानता भी नहीं, अत: सौन्दर्यानुभूति और प्रत्यक्ष में यदि कोई गुणात्मक अन्तर है, तो भाषा में अभिलाप का, परन्तु भाषा की सीमाएँ है। समस्त अनुभवों का भाषा में अभिलाप नहीं किया जा सकता है। अत: सौन्दर्यानुभूति को ज्ञानात्मक कहा जा सकता है।

किन्तु क्या सौन्दर्यानुभूति का अन्य ऐसे विषयों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, जो स्वयं भी अनुभूत किया जाय, क्योंकि एक अनुभूत विषय का यदि दूसरे अनुभूत विषय के साथ कोई सम्बन्ध न हो, तो ज्ञान जैसी कोई चीज नहीं हो सकती है। किसी अनुभूति के ज्ञानात्मक होने का अर्थ यह है कि वह किसी अन्य अनुभूति से अपना सम्बन्ध भी बताती है।[१०]

यदि इस प्रतिज्ञा को स्वीकार किया जाय तो दो संभाव्य स्थितियाँ सामने आती हैं। प्रथम यह कि, सारा संसार एक तारतम्य में बँधा है और किसी एक के ज्ञान के साथ सभी विषयों का ज्ञान हो जाएगा। दूसरा यह कि जब तक सभी वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो जाता, हमें किसी का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। किन्तु यहाँ सम्बन्ध का तात्पर्य यह नहीं है। अपितु इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान की भविष्योन्मुखता और कर्म से उसका आवश्यक सम्बन्ध होता है। कर्म से सम्बन्ध उस ज्ञान की सत्यता और असत्यता निर्धारित करता है। इसको इस उदाहरण के साथ समझा जा सकता है कि गुरूत्वाकर्षण का नियम यदि कोई ज्ञान है, तो उसकी सत्यता का निर्धारण तभी होगा, जब कोई वस्तु ऊँचाई से छोड़ने पर नीचे गिरे। यदि ऐसा होता है, तो ज्ञान सत्य है, यदि ऐसा नहीं होता तो असत्य। हाँ, यदि कोई ज्ञान बिना कर्म के सत्य होता है, तो या तो वह परिभाषा है, या तार्किक आकार का ज्ञान।

इस प्रश्न के स्पष्टीकरण में जो कुछ भी कहा गया है, वह सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार लागू नहीं हो सकता है, क्योंकि सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में अनुभूति मात्र ही अपने आप में चरम

मूल्य रखती है। अत: अपनी परिपूर्णता के कारण यह किसी कर्म को जन्म नहीं देती हैं। इसके अतिरिक्त कर्म को सत्यापन का आधार मानने पर ज्ञान का सत्यापन अन्ततः अनवस्था को प्राप्त हो जाएगा। क्योंकि प्रत्येक कर्म, ज्ञान देगा और उसके पुन:, सत्यापन हेतु, कर्म की अपेक्षा बनी रहेगी और इस तरह कर्मों की अनन्त शृंखला के बाद भी ज्ञान का सत्यापन नहीं हो सकेगा। अत: मात्र वही ज्ञान सत्यापनीय है, अर्थात् उसी ज्ञान की सत्यता, असत्यता के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है, जो नितांत तार्किक है और उसमें किसी किस्म की नवीनता नहीं होती है।

किन्तु सौन्दर्यानुभूति के सत्यापन के लिये न तो किसी कर्म की अपेक्षा है, न तो वह नितान्त तार्किक या आकारिक ही है। वस्तुत: अनुभूति के क्षण में ही उसमें नवीनता होती है और विशुद्ध आन्तरिक सम्पूर्ति का विषय होने के कारण उसमें संतुष्टिपरक प्रमाणिकता भी होती है। परिणामत: यह वाच्य है, वाक् नहीं।

***

संदर्भ-सूची

१. *एअर-लैंग्वेज ट्रूथ एण्ड लॉजिक, पृष्ठ ०३*
२. *दयाकृष्ण, ज्ञानमीमांसा, पृष्ठ २४*
३. *वुजले ए.डी. थ्योरी ऑफ नॉलेज, पृष्ठ ८४*
४. *शल्य यशदेव-ज्ञान और सत्, पृष्ठ ३४*
५. *वाचस्पति-सांख्यतत्त्व कौमुदी।*
६. *डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा-सामान्य अनुभव की तर्कबुद्धिपरक संपरीक्षा से आत्माद्वैत प्रतिष्ठा-आन्वीक्षिकी-जनवरी १९९०-अंक ३-१*
७. *पाण्डेय गोविन्दचन्द्र-मूल्यमीमांसा, पृष्ठ २५५*
८. *तत्त्व वैशारदी।*
९. *रजनीश कुमार शुक्ल, शांकर वेदान्त : सत् मूल्य तादात्म्य, दार्शनिक- त्रैमासिक १९८९*
१०. *दयाकृष्ण, ज्ञानमीमांसा, पृष्ठ ३९*

परिच्छेद : सोलह

आनन्द मिश्र

आनन्द मिश्र

डॉ. आनन्द मिश्र का जन्माङ्क वर्ष १९६६ ई. एवं जन्म स्थान वाराणसी है। इनकी विधिवत प्रारम्भिक शिक्षा क्वींस कॉलेज, वाराणसी में सम्पन्न हुई। इन्होंने बी.ए. (प्रतिष्ठा) (१९८६) तथा एम. ए. (१९८८) और पी-एच.डी. (१९९३, यू.जी.सी. एस. आर एफ. के रूप में) की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के "जेनरल फैलो" के रूप में इन्होंने पोस्ट डॉक्टोरल रिसर्च भी दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो कर पूरा किया है। डॉ. आनन्द उत्तर प्रदेश लोकसेवा आयोग से प्रशासनिक सेवा के लिए भी चयनित हुए थे लेकिन उन्होंने अध्येता और अध्यापक बनना ही स्वीकार किया। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत एम.एच. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद से करते हुए डॉ. आनन्द सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में रीडर पद पर आसीन हैं। अब तक इनकी दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ-शंकराचार्य एवं सार्त्र के दर्शन में मानव नियति (२००२) और 'संवित् प्रकाशवाद' (२००२) प्रकाश में आ चुकी हैं। एक दर्जन से अधिक शोध-पत्र इनके विभिन्न शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से इन्हें संवित् प्रकाशवाद पुस्तक के लिए पी.बी. विद्यार्थी पुरस्कार (२००२) से सम्मानित भी किया जा चुका है। अपनी दार्शनिक निष्ठा और तज्जन्य महत्त्वपूर्ण कृतियों के लिए ये भविष्य में भी पुरस्कृत होते रहेंगे, ऐसी आशा है। सम्प्रति डॉ. आनन्द दार्शनिक त्रैमासिक के कार्यकारी सम्पादक और दार्शनिकी (२००४ में आरम्भ) के सम्पादक भी हैं।

❋

अद्वैतवेदान्त में साक्षी की अवधारणा

अद्वैतवेदान्त में साक्षी की अवधारणा दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। साक्षी से तात्पर्य जीव का अन्तर्यामी वह अधिष्ठान तत्त्व है जो न केवल जीव की सत्ता का आधार है अपितु जिसके प्रकाश से प्रकाशित हो उसके समस्त व्यापार संपादित होते हैं। जीव का अधिष्ठानभूत तत्त्व होने के बावजूद साक्षी जीव से विलक्षण है। जहाँ जीव कर्ता, भोक्ता व प्रमाता है साक्षी न तो कर्ता है, न भोक्ता और न ही प्रमाता। वह शुद्ध द्रष्टा मात्र है। चेतन, असंग, निष्क्रिय और निर्गुण। जीव सांसारिक विषय-भोगों में संलिप्त रहता है, संसार के प्रपञ्चों के प्रति लगाव लिए होता है, साक्षी सर्वथा निर्लिप्त और निस्संग रहता है। वह शुद्ध द्रष्टा मात्र है - तटस्थ और उदासीन द्रष्टा। वास्तव में साक्षी का लक्षण ही किया जाता है - द्रष्टृत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्। अर्थात् जो द्रष्टा होते हुए भी उदासीन हो। साक्षी जीव के विपरीत जगत् और प्रपञ्च से सर्वथा असंपृक्त हो अनासक्त भाव से प्रतिमुहूर्त जीव के साथ रहता हुआ इस जगत् को, जागतिक व्यापारों को और स्वयं जीव के समस्त कृत्यों को देखता रहता है। यह साक्षी जीव से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। बल्कि यह उसका प्रत्यग्भूत अन्तरात्मा है। इसी के प्रकाश से उसके समस्त व्यापार सञ्चालित होते हैं। यह प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीनों का एक समान भाव से प्रकाशक है। पञ्चदशी में कहा गया है कि कर्ता (मैं-पन के अभिमानी जीव), क्रिया और समस्त दृश्यवर्ग को नित्य चैतन्य का जो एकरूप एकसाथ प्रकाशित करता है वही साक्षी है। नृत्यशालास्थित दीपक जैसे प्रेक्षक, सभा व नृत्यकारों को एक साथ प्रकाशित करता है और उनमें से किसी के न रहने पर स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है वैसे ही साक्षी कर्ता (अहमर्थ जीव), बुद्धि और विषयों को प्रकाशित करता है और उनके न रहने पर सुषुप्ति आदि में स्वयं पहले की भाँति प्रकाशित रहता है।[1] साक्षीरूप चेतना नित्यकूटस्थ है। इसका कभी अभाव नहीं होता। ज्ञाता की स्वरूपभूत ज्ञप्ति नित्य है। सुषुप्ति में जो आत्मा शब्दादि को नहीं जानता वह जानता हुआ ही नहीं जानता। अन्य ज्ञेय नहीं है - इसीलिए वह नहीं जानता, स्वरूपभूत ज्ञप्ति तो रहती ही है। साक्षी द्रष्टा की दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता, वह नित्य द्रष्टा है-यद् वै तन्न पश्यन् वै तन्न पश्यति हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।[2] इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में अव्यभिचरित रूप से अनुवर्तमान रहने वाले जीव का जो अधिष्ठानभूत चेतन तत्त्व है वही साक्षी है। इस साक्षिचैतन्य पर अध्यस्त हो ही जीव अपनी प्रमाण वृत्तियों से जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। साक्षी प्रमाता का भी प्रमाता और दृष्टि का भी द्रष्टा है। समस्त ज्ञानव्यापार और स्वयं ज्ञाता को भी साक्षात् देखने वाला जो है वही साक्षी है। स्वयं जीव भी साक्षी के प्रति साक्ष्य ही है। जीव ही क्यों इस संसार में सब कुछ भाव या अभाव कोई भी वस्तु, प्रमाता, प्रमाण, नामरूप में अभिव्यक्त होने वाला यह सकल जगत् वास्तव में इस साक्षी के साक्ष्य होते ही सिद्ध है। यदि सकल जगत् का अवभासक यह साक्षिरूप चैतन्य न हो तो इस संसार में कुछ भी प्रकाशित नहीं हो पाएगा और जगत् घोर अन्धकार में लीन हो जाएगा। यह साक्षीरूप आत्मा जीव का अन्तरङ्गभूत उसकी प्रत्यगात्मा है और इस कारण यह नितान्त अपरोक्ष है। व्यक्ति अपने साक्षीस्वरूप आत्मा का निषेध नहीं कर सकता, सारे निषेधों और संदेहों से परे यह स्वतः सिद्ध और स्वयंप्रकाश है।

अद्वैत चिन्तकों ने ज्ञान या चेतना के विश्लेषण द्वारा भली भाँति सिद्ध किया है कि हमारा समस्त चेतनव्यापार एक नित्यकूटस्थ साक्षीस्वरूप चैतन्यतत्त्व की सत्ता को आपादित करता है। बिना साक्षीस्वरूप नित्यकूटस्थ चैतन्य की सत्ता को स्वीकार किए हमारे ज्ञान या अनुभव की व्याख्या नहीं हो सकती है। सम्पूर्ण अनुभव एक स्वयंप्रकाश चेतनतत्त्व की पूर्वापेक्षा रखता है। प्रस्तुत निबन्ध में मेरा उद्देश्य मानवीय ज्ञान या चेतना के स्वरूपविश्लेषण द्वारा उन आधारों एवं तर्कों को स्पष्ट करना है जिनके कारण अद्वैतचिन्तक यह सिद्ध करते हैं कि बिना साक्षिचैतन्यरूप नित्यकूटस्थ सत्ता को स्वीकार किए मानवीय ज्ञान और अनुभव की व्याख्या असम्भव होगी। इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम हम चेतना या ज्ञान के स्वप्रकाश स्वरूप के सम्बन्ध में उठने वाली समस्या पर विचार से अपनी चर्चा आरम्भ करेंगे क्योंकि अद्वैतियों के लिए साक्षिचैतन्य की सत्ता की समस्या स्वयंप्रकाश चेतनतत्त्व की समस्या से जुड़ी हुई है। चेतना या ज्ञान की स्वप्रकाशता को लेकर विभिन्न भारतीय दर्शनों में युक्ति-प्रतियुक्तियों की लम्बी श्रृङ्खला देखी जा सकती है। न्यायवैशेषिक दार्शनिक ज्ञान या चेतना को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान पर-प्रकाशक होता है। ज्ञान स्वभावत: अर्थविषयक होता है[३] तथा उसका कार्य अपने से परे दूसरे पदार्थों का प्रकाशन है। जब हमें घट, पटादि किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो पहले सिर्फ 'अयं घट:' इस रूप में वस्तु का ज्ञान होता है और पश्चात् इस घटज्ञान, पटज्ञानरूप व्यवसायज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसायरूप मानसप्रत्यक्ष के द्वारा होता है जिसका रूप 'अहं घटं जानामि' इस ढंग का होता है। यह बाद में होने वाला ज्ञान जिसे अनुव्यवसाय कहा जाता है वह व्यवसाय विषयक होता है तथा वस्तुविषयक हमारा ज्ञान इसी से प्रकाशित होता है। इस तरह न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश न होकर परप्रकाश है तथा वह अनुव्यवसाय द्वारा गृहीत होता है। वस्तु का ज्ञान और स्वयं ज्ञान का ज्ञान वस्तुत: दो वस्तुएँ हैं। जब ज्ञाता का विषय से सम्पर्क होता है तो पहले सिर्फ वस्तु का ज्ञान होता है और उसके तुरन्त बाद इस ज्ञान का जिसे कि नैयायिक व्यवसाय कहते हैं ज्ञान दूसरे ज्ञान अनुव्यवसाय से होता है। यह अनुव्यवसाय व्यवसाय के तुरन्त बाद होता है अर्थात् वस्तु के ज्ञान के होते ही तुरन्त उस ज्ञान का भी ज्ञान हो जाता है। ये दोनों ज्ञान एक के बाद इतने झटित और स्वाभाविक रूप से होते हैं कि ऐसा लगता है कि, जैसा प्राभाकर समझ बैठते हैं, यह एक ही ज्ञान है। पर वस्तु का ज्ञान और उस ज्ञान का ज्ञान - व्यवसाय और अनुव्यवसाय अलग-अलग ज्ञान है। ये दोनों ज्ञान एक दूसरे से भिन्न हैं तथा उत्तरोत्तर क्रमभावी हैं। ये इतने झटित रूप से एक के बाद होते हैं कि लगता है कि ये दोनों एक ही ज्ञान हैं तथा ज्ञान न केवल विषय को अपितु स्वयं को भी प्रकाशित कर रहा है। पर वस्तुत: विषय को प्रकाशित करता है व्यवसाय और उसके ज्ञान को अनुव्यवसाय प्रकाशित करता है। सामान्यत: हर ज्ञान का अनुव्यवसाय द्वारा ग्रहण होता है, पर साथ ही यह अनिवार्य भी नहीं है कि हर ज्ञान का ज्ञान हो।[४] नैयायिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि कई एक स्थितियों में यह सम्भव हो सकता है कि कोई ज्ञान उत्पन्न हो पर प्रतिकूल प्रतिबन्धों के चलते उसका ग्रहण न हो पाए।

न्याय के उपर्युक्त अनुव्यवसायवाद की बौद्धों ने जमकर आलोचना की है। ज्ञान का ज्ञान स्वत: नहीं बल्कि अनुव्यवसायरूप दूसरे ज्ञान से माना जाए तो सहज ही यह आपत्ति उठती है कि अनुव्यवसाय स्वयं ज्ञान है अत: इसके ज्ञान के लिए भी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी। अर्थात् ज्ञान का ज्ञान यदि दूसरे ज्ञान से माना जाए तो उस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिए तीसरे और फिर उसके लिए चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था दोष आपतित होगा। पुन:, यदि ज्ञान के ज्ञान के लिए ज्ञानान्तर की कल्पना की जाए तो इसका अर्थ होगा कि ज्ञान अज्ञात है और अज्ञात ज्ञान वदतोव्याघात है। यदि ज्ञान को भी अन्य वस्तुओं के समान अप्रकाशरूप मान लिया जाए और वह भी ज्ञेय हो तो फिर ज्ञान और अन्य वस्तुओं में अन्तर ही क्या रह जाएगा ? और फिर, सकल ज्ञेय जगत् का भासक स्वयं ज्ञान

यदि जड़ वस्तुओं के समान अपने प्रकाश के लिए अन्य पर आश्रित होगा तो इस जगत् में कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा, जगत् घोर अन्धकार में लीन हो जाएगा, जगदान्ध्यप्रसङ्ग प्राप्त होगा। वस्तुत: नैयायिकों के मत में जो चीज सर्वाधिक विवादास्पद है वह यह कि वे इस बात की संभावना को स्वीकार करते हैं कि 'क' को कोई ज्ञान हो और स्वयं 'क' इस ज्ञान से अनजान रहे। अब यही व्याघाती स्थिति स्वप्रकाशवादियों के लिए सबसे बड़ा तर्क बनकर सामने आता है। बौद्ध आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि यदि ज्ञान स्वयंज्ञात नहीं हो तो भला वह अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है - अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि: प्रसिद्धयति।[5] अप्रत्यक्षभूत विज्ञान के द्वारा अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अनुभव स्वयं अप्रकाशित हो, अप्रकट हो, छिपा हो तो वह भला विषय का प्रकाशन कैसे कर पाएगा। किसी चीज के ज्ञान के लिए जरूरी है कि उस ज्ञान का भी ज्ञान हो। और बौद्धों का कहना है कि सही स्थिति तो यह है कि ज्ञान का स्वभाव ऐसा होता कि वह न केवल अर्थ को प्रकाशित करता है अपितु स्वयं अपने को भी। दिङ्नाग प्रमाणसमुच्चय में कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप में अर्थाभास और स्वाभास लिए होता है।[6] हर ज्ञान के दो पक्ष होते हैं - विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना। वास्तव में सारे के सारे अनुभवों में यह समानता होती है वे स्वयं अपना मानस प्रत्यक्ष होते हैं। चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष न हो। सभी चित्त और चैत्तों का आत्मसंवेदन होता है सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्।[7] हर संवेदन का स्वसंवेदन होता है। हमें जब भी किसी चीज का ज्ञान होता है, उस ज्ञान का भी ज्ञान होता है। जिस प्रकार दीपक प्रकाशरूप होने के कारण अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करता है तथा अपने प्रकाशन के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार विज्ञान स्वयं अपना संवेदन करता है तथा अपने को जानने के लिए विज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता।

ज्ञान को ज्ञानान्तर द्वारा गृहीत मानने वाले नैयायिकों के परप्रकाशवाद की बौद्धकृत उपर्युक्त आलोचना से अद्वैतचिन्तक सहमत हैं। ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से मानने पर अनवस्था अवश्यंभावी है। और फिर जो ज्ञान स्वयं अप्रकाशित हो वह भला अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है ? समस्त जगत् का भासन जिस ज्ञान-ज्योति से होता है यदि उसे भी अन्य वस्तुओं के समान अप्रकाशरूप माना जाए तो जगदान्ध्य-प्रसङ्ग प्रसक्त होगा। अब उपर्युक्त समस्याओं से बचने के लिए बौद्ध दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान प्रदीप की तरह स्वयंप्रकाश है। वह स्वयं अपना ग्रहण करता है। ज्ञान का स्वसंवेदन होता है। अद्वैतियों का कहना है कि बौद्ध दार्शनिक यहीं गलती कर बैठते हैं। ज्ञान का ग्रहण ज्ञानान्तर से मानने पर दोष ही दोष है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अनवस्था, जगदान्ध्यप्रसङ्ग अथवा अस्वप्रकाश (अप्रत्यक्षभूत) ज्ञान की अनभीप्सित सम्भावना से बचने के लिए यह मान लिया जाए कि ज्ञान का ग्रहण उसी ज्ञान से होता है। संवेदन भला स्वयं अपने को कैसे जान सकता है। जिस प्रकार अंगुली स्वयं अपने पोर को नहीं छू सकती, कुशल नर्तक भी अपने सिर पर नहीं नाच सकता उसी प्रकार ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता। अनवस्था प्रभृति दोषों से तो बौद्ध बच निकलते हैं पर कर्तृ-कर्म विरोध के तर्कजाल में फँस जाते हैं। वस्तुत: जैसे नैयायिक ज्ञान के स्वरूप को गलत समझते हैं वैसे ही बौद्ध। बौद्धों का स्वसंवित्वाद दोषों का पिटारा है। अद्वैतियों का कहना है कि स्वसंवेदन का अर्थ यदि पूर्व और उत्तरकाल के विज्ञानों में ग्राह्य-ग्राहक भाव है तो यह स्वयं बौद्धमत की प्रतिज्ञाओं को हानि पहुँचाता है और यदि कहा जाए कि विज्ञान स्वयं ही अपने अनुभव का विषय होता है तो इससे क्रिया-कर्म विरोध प्राप्त होगा। वस्तुत: अनित्य, क्षणिक विज्ञानों से न तो वस्तु के ज्ञान की व्याख्या हो पाएगी और न स्वयं आत्म-चेतना की व्याख्या हो पाएगी। घट, पट आदि के विज्ञानों का ग्रहण न तो उन्हीं विज्ञानों से सम्भव है और न विज्ञानान्तर द्वारा। हमें अनित्य विज्ञानों को प्रकाशित करने वाले तत्त्व के रूप में एक नित्यकूटस्थ विज्ञानरूप साक्षिचैतन्य को मानना होगा जो न केवल वस्तुओं को प्रकाशित करता है

अपितु उनके विज्ञानों को भी।[८] जब हमें घट, पट आदि वस्तुओं का ज्ञान होता है तो हमें एक पल के लिए भी यह घट, पटादि का ज्ञान अज्ञात रहता। इसका कारण यह है कि ये विज्ञान सीधे साक्षिचैतन्य द्वारा भासित होते हैं। साक्षिचैतन्य द्वारा नियत-अपरोक्ष होने के कारण हमें अपने ज्ञान की अपरोक्षता की स्पष्ट अनुभूति होती है तथा हम उसके बारे में संदेह, विपर्यय आदि से युक्त नहीं होते हैं। इसी साक्षिचैतन्य के प्रकाश से न केवल घट, पटादि के विभिन्न विज्ञान जो कि वस्तुत: अन्त:करण की वृत्तिविशेष हैं, प्रकाशित होते हैं अपितु इसी के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण वृत्तिज्ञान अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करने में सक्षम होते हैं, अन्यथा घट, पटादि की वृत्तियाँ तो स्वयं में जड़ हैं।

क्षणिक विज्ञान न तो वस्तु को जान सकते हैं और न स्वयं अपने आप को। विज्ञानों को गृहीत होने के लिए साक्षीरूप नित्यकूटस्थ चेतना की अपेक्षा होती है। सही स्थिति तो यह है कि बिखरे हुए विछिन्न क्षणिक विज्ञानों को एक सूत्र में बाँधकर क्रमबद्ध करने वाला यही साक्षी तत्त्व है। यह साक्षी ही क्षणिक विज्ञानों का ग्रहीता और वास्तविक ज्ञाता है। बौद्धों का विज्ञान वस्तुत: बुद्धिवृत्तियाँ ही हैं जो नित्यकूटस्थ चैतन्यरूप साक्षी आत्मा के प्रकाश द्वारा प्रकाशित होती हैं। घट, पट आदि के विज्ञान भी घट, पट आदि वस्तुओं के समान ही साक्षीरूप वास्तविक ज्ञाता के लिए ज्ञेय हैं। विज्ञानों का भी विज्ञाता साक्षीरूप आत्मा स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश है। इसे अपने प्रकाश के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। बौद्ध क्षणिक विज्ञानों से पृथक् कोई विज्ञाता नहीं मानते। उनका कहना है कि जैसे प्रदीप प्रदीपान्तर से निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है वैसे ही विज्ञान भी विज्ञानान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है। अब इसका यह अर्थ निकलता है कि विज्ञान प्रमाणागम्य है, उसका कोई अवगन्ता नहीं है, उसका कोई जानने वाला नहीं है। इस पर अद्वैतियों का कहना है कि अलग-अलग, अनेक, उत्पत्तिविनाशधर्मा क्षणिक विज्ञान अपनी सिद्धि एवं प्रकाश के लिए स्वयं से पृथक् नित्य विज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। इस विज्ञाता द्वारा प्रकाशित और ज्ञात होने पर ही इनका कोई उपयोग और सार्थकता है। यदि इनको प्रकाशित करने वाला कोई साक्षीरूप विज्ञाता न हो तो फिर बिना प्रकाशित हुए उनकी स्थिति वैसी ही होगी जैसी शिलाघनमध्यस्थ सहस्र दीपप्रकाशों की।[९] अलग-अलग, अनेक विच्छिन्न संवेदनों के द्रष्टा के रूप में नित्यसाक्षी चेतना को स्वीकार कर अद्वैती न केवल स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, प्रतिसन्धान की समुचित व्याख्या कर लेते हैं अपितु इससे लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों के लिए अपेक्षित निखिल भोग्य एवं प्रमेय विश्व तथा भोक्ता एवं प्रमाता जीव के सम्बन्ध में होने वाले स्थायीपन की भी व्याख्या हो जाती है। क्षणिक विज्ञानों से उपर्युक्त स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि की व्याख्या नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए स्मृति का तथ्य, जैसा कि स्वयं बौद्ध स्वीकार करते हैं, यह सिद्ध करता है कि अनुभूत का ही स्मरण होता है। अब इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कोई एक नित्य स्थायी द्रष्टा हो जिसे पूर्वानुभूत का स्मरण हो। 'सोऽहम्' यह प्रत्यभिज्ञा भी स्थायी आत्मा के बिना नहीं बन सकती। यहाँ बौद्धों का कहना है कि सादृश्य के कारण एकता की भ्रान्ति होती है। नदी प्रवाह और दीपशिखा में जैसे सादृश्य के कारण एकत्व बुद्धि होती है उसी तरह प्रत्यभिज्ञा के स्थलों में भी होता है। पर पूछा जा सकता है कि स्वयं सादृश्य का ग्रहण कैसे होता है ? वास्तव में अनेक कालवर्ती पूर्वोत्तर प्रत्ययों के दर्शी एक स्थायी चेतना को मानना आवश्यक हो जाता है। बिना इसके भिन्न-भिन्न अनुभवों, घटनाओं, वस्तुओं में सादृश्य भी नहीं देखा जा सकता।[१०] स्वयं बौद्धों का क्षणभंगवाद अपनी सिद्धि के लिए एक स्थायी तत्त्व को पूर्वकल्पित करता है। भेद का ग्रहण अभेद से ही सम्भव है। क्षण का बोध स्थायी को ही हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानवीय ज्ञान एवं व्यवहार की व्याख्या के लिए एक नित्य कूटस्थ चैतन्यरूप साक्षी तत्त्व को स्वीकार करना होगा। यहाँ यह धातव्य है कि न्याय-वैशेषिक, मीमांसा प्रभृति दूसरे दर्शन भी बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना करते हुए नित्य स्थायी

आत्मा की सत्ता को आवश्यक बताते हैं। पर यदि ज्ञान आत्मा का स्वरूप न होकर उसका गुण या धर्म है, जैसा कि वे मानते हैं, तो फिर 'आत्मा' उनके दर्शन में अनावश्यक कोटि विस्तार हो जाता है। और सही स्थिति तो यह है कि न्यायवैशेषिक-मीमांसा दर्शनों के और बौद्ध दर्शन के 'ज्ञान' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जहाँ बौद्ध ज्ञान को एक क्षण रहनेवाला मानते हैं वहाँ न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा उसे त्रि या चतुर्क्षण स्थायी मानते हैं। ज्ञान का स्वरूप दोनों में अनित्य और क्षणस्थायी ही रहता है। अब यहीं अद्वैतियों का इनसे वैमत्व है। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान-व्यवहार नित्य चेतना की अपेक्षा रखता है। चेतना अनित्य न होकर नित्य है। अलग-अलग अनेक क्षणिक पारमाण्विक संवेदनों के द्वारा मानवीय ज्ञान और व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती, इसके लिए उसके आधार में नित्य कूटस्थ चेतना को मानना होगा। ज्ञानाधिकरणरूप नित्य और स्थायी आत्मा यह प्रयोजन पूरा नहीं कर सकता है। ज्ञान (चेतना) और आत्मा को गुण-गुणी निदर्श पर नहीं समझा जा सकता। ऐसा मानने पर अन्ततः चेतना गौण और आत्मा अचेतन होकर सामने आता है। वास्तव में चेतना स्वयं मौलिक है। पारिभाषिक अर्थों में भले ही वह द्रव्य न हो पर उसे गुण या धर्म के रूप में समझना अतर्कसम्मत होगा। वास्तव में अद्वैतियों के सामने समस्या दोहरी है। एक तरफ जहाँ उन्हें बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन करना है वहीं न्यायवैशेषिक-मीमांसा परम्परा में पोषित हो रहे इस मत का कि ज्ञान या चेतना मौलिक न होकर गौण है। ज्ञान या चेतना अपने आश्रय रूप में अपने से पृथक् किसी स्थायी आत्मा की अपेक्षा नहीं रखता। अद्वैतियों का कहना है कि सही स्थिति तो यह है कि स्वयं चेतना ही आत्मा है। आत्मा, चेतना, ज्ञान, संवित्, अनुभव ये सबके सब एक दूसरे के पर्याय हैं। चेतना या ज्ञान आत्मा का गुण न होकर उसका स्वरूप है। ज्ञान या चेतना से पृथक् उसके आश्रय के रूप में नित्य स्थायी आत्मा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। (इस दृष्टि से अद्वैती बौद्धों से एकमत हैं कि चेतना स्वयं में मौलिक है, उसे अपने पृथक् अपने आश्रय के रूप में किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि चेतना जहाँ बौद्धों में क्षणिक, संवेदनरूप और असंख्य है अद्वैतियों के अनुसार यह नित्य, एक, कूटस्थ स्वरूप है। ज्ञान से पृथक् किसी ज्ञाता आत्मा को मानने की जरूरत नहीं है। ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य है। जो द्रष्टा है वह दृष्टि-स्वरूप ही है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। वह नित्य, कूटस्थ, चेतन है। जिस तरह सूर्य और उसके प्रकाश में कोई अन्तर नहीं होने पर भी सूर्य को प्रकाशक कहा जाता है और 'सूर्य का प्रकाश' ऐसा भाषिक व्यवहार होता है उसी प्रकार आत्मा ज्ञान या अनुभवस्वरूप होकर भी अनुभविता या ज्ञाता कहलाता है। वस्तुतः आत्मा और ज्ञान या संवित् में अभेद है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

यह ज्ञान या चेतना अद्वैतियों के अनुसार नित्य, अखण्ड और स्वयंप्रकाश है। विभिन्न घटज्ञान, पटज्ञान, रूप-स्पर्श-शब्द ज्ञानादि में ज्ञान या संवित् एक ही है, घट, पट, रूप, स्पर्शादि ज्ञान के विषय हैं, ज्ञान नहीं। इसी तरह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में भिन्नता होने पर भी इनमें रहने वाली संवित् अभिन्न है। काल से संविद् का भेद नहीं सिद्ध होता बल्कि स्वयं कालभेद संविद् से ही सिद्ध होता है। कल के सूर्यप्रकाश में और आज के सूर्यप्रकाश में जैसे अन्तर नहीं होता वैसे ही कल की चेतना और आज की चेतना वस्तुतः एक है। दिन, पक्ष, वर्ष, मास, आज, कल, अतीत, अनागत आदि काल का भेद भले ही हो पर उनके बोधों में कोई भेद नहीं हैं। इसी तरह सम्यग्ज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान इत्यादि भी ज्ञान के भेद नहीं हैं, ये भेद वस्तुतः बुद्धिगत हैं। चिद्रूप संवित् तो सम्यग्ज्ञान, संशय, मिथ्या आदि सभी ज्ञानों में समान है। एक अनन्त आकाश के समान संवित् या चेतना भी अनन्त एवं एक है। जैसे एक अनन्त आकाश में घटादि उपाधि के भेद से भेद प्रतीत होता है वैसे ही घट, पटादि, शब्द-स्पर्शादि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्तियों के भेद से ही संवित् में भेद है, वास्तव में उनमें कोई भेद नहीं है। न केवल संवित् या चेतना अखण्ड और एक है अपितु वह अनादि और नित्य भी है। यदि संवित् अनित्य और जायमान

होती तो इसका प्रागभाव होता। पर हमें संवित् के प्रागभाव का बोध नहीं होता है। यदि यह बोध हो तब तो उससे संवित् का भाव ही सिद्ध होता है अभाव नहीं। चूँकि संवित् में भेद नहीं है अत: एक संवित् का अभाव दूसरे से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह संवित् या चेतना साक्षात् अपरोक्ष है। नित्य प्रकाशस्वरूप होने के कारण इसकी सत्ता में कभी संदेह नहीं होता। इस संसार में जो कुछ भी है इसी के प्रकाश से वह प्रकाशित होता है। समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाला यह संवित् भी यदि घट, पटादि वस्तुओं के समान अपने प्रकाश के लिए अन्य पर निर्भर हो तो जगत् में कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा और जगदान्ध्यप्रसङ्ग प्रसक्त होगा। इस प्रकार अद्वैतियों के अनुसार ज्ञान नित्य, अखण्ड, एक, स्वयंप्रकाश रूप चैतन्य तत्त्व है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान अपने मौलिक स्वरूप में ऐसा है तो घट, पट आदि अलग-अलग विषयों वाले उत्पत्ति विनाश से युक्त विच्छिन्न क्रमिक और खण्डरूप में ज्ञान की दैनिक जीवन में जो प्रतीति होती है उसकी व्याख्या कैसे होगी ? इस पर अद्वैतियों का कहना है कि जैसे एक अखण्ड आकाश में घट-पटादि के उपाधि भेद से भेद प्रतीत होता है वैसे ही आकाशवत् अनन्त, अखण्ड नित्य ज्ञान में घट, पट आदि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्ति आदि उपाधि से भेद प्रतीत होता है। ज्ञान में दिखने वाला सादित्व, सान्तत्व और अनेकत्व बुद्धिवृत्तियों की उपाधि के कारण होता है जो वस्तुत: औपधिक ही है। स्वभावत: तो चेतना जन्मादि विकार से रहित स्वप्रकाश, नित्य और अखण्ड है। यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती ज्ञान शब्द के द्विविध अर्थों में भेद करते हैं।[11] ज्ञान शब्द का मुख्य अर्थ चैतन्य मात्र है जो वस्तुत: आत्मा का स्वरूप है। यह नित्य, अजन्य, अखण्ड और स्वयंप्रकाश है। अपने मुख्य अर्थ में ऐसा प्रयुक्त होने पर भी ज्ञान व्यवहार में घट, पट आदि पृथक्-पृथक् विषयों के खण्ड और अनित्यज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। घट, पटादि के जायमान अनित्य ज्ञान को वृत्ति ज्ञान भी कहा जाता है। अद्वैतियों के अनुसार अन्त:करण जो कि तैजस द्रव्य है वह इन्द्रियादि द्वारों से बाहर निकलकर घट, पट आदि विषयों के पास जाकर तद् तद् आकार में परिणत हो जाता है। अन्त:करण की यह विषयाकार परिणति ही वृत्ति है। घट, पटादि के अनित्य जायमान ज्ञान का अर्थ है इन घट, पटादि के आकार में आकारित अन्त:करण वृत्ति में ज्ञान का प्रतिबिम्बित होना। अब चूँकि बुद्धिवृत्तियाँ उत्पन्न, नष्ट होती रहती हैं और उनके विषय बदलते रहते हैं अत: ज्ञान में सादित्व, सान्तत्व और वैभिन्न होता है। गौण या उपचरित अर्थ में ही ज्ञान कहे जाने वाले इस अनित्य, खण्ड या वृत्तिज्ञान का एक विषय होता है और एक आश्रय होता है। उत्पत्ति-विनाशशील और अन्त:करण का परिणाम होने से विक्रियारूप इस ज्ञान का आश्रय न तो चैतन्यरूप आत्मा हो सकता है, जो कि निर्गुण निष्क्रिय और अविकारी है, न अन्त:करण जो कि जड़ है। चैतन्य आत्मा और अन्त:करण के तादात्म्याध्यास से आकलित चिदचिद्-ग्रन्थि रूप अहमर्थ जीव ही क्रियाविशेषपरक ज्ञान का आश्रय है। सारा ज्ञान इसी जीव को होता है। अन्त:करण से अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता या जीव है। विषय के आकार में आकारित अन्त:करण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान या प्रमाण है। अब यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं वही साक्षिचैतन्य है। यह अन्त:करण, उसकी वृत्तियों और विषयों को एक साथ भासित करता है। यह प्रमाता का भी प्रमाता और ज्ञान का भी ग्रहीता है।

प्रमाता जीव जिसके ज्योति से यावत् प्रमेय-जगत् को प्रकाशित करता है वह उसका मूलभूत तत्त्व उसका प्रत्यगात्मरूप साक्षिचैतन्यतत्त्व है। अपने अधिष्ठानभूत इसी स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य पर अध्यस्त हो प्रमाता अपनी प्रमाणवृत्तियों से प्रमेयरूप जागतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् न तो प्रमाता में और न प्रमाण में स्वयं की ज्योति होती है। वस्तुत: ज्ञाता और ज्ञान, बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ, प्रत्ययी और प्रत्यय, ये सबके सब चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ स्वयं में जड़ हैं, चिदाभासहीन बुद्धि से घटादि में ज्ञातता नहीं उत्पन्न हो सकती। चैतन्य के

परस्पराध्यास से ही बुद्धि में ज्ञातृत्व आता है और बुद्धिवृत्तियाँ उसके प्रतिबिम्ब से युक्त हो घट आदि में ज्ञातता उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है। न्याय वैशेषिक-मीमांसा-बौद्ध आदि के विपरीत अद्वैत चिन्तकों ने चेतना के सम्बन्ध में इस महत्वपूर्ण तथ्य का उद्‌घाटन किया है कि चेतना बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्त्व है और बुद्धि में अपना प्रकाशत्व नहीं है। चैतन्याभास से युक्त होकर बुद्धिवृत्तियाँ विषय प्रकाशन में समर्थ होती हैं। अर्थात् जहाँ अद्वैत (सांख्य भी) इतर परम्परा में बुद्धि, ज्ञान, संवित्, चेतना ये समानार्थक हैं वहीं अद्वैत चिन्तकों ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्‌घाटन किया कि चेतना और बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं। वास्तविक अर्थों में ज्ञान बुद्धि से अलग है। बुद्धि का भी ग्राहक और प्रकाशक जो तत्त्व है और जिसके प्रकाश से बुद्धि तदवत् (चेतन) प्रतीत होती है वह चैतन्य तत्त्व भिन्न है। वास्तविक ज्ञान शुद्धचैतन्य है। चिदाभासयुक्त बुद्धि में ज्ञान शब्द का प्रयोग उपचारत: ही होता है। जैसे जल में सूर्य का बिम्ब एवं उष्णता प्रतीत होने पर भी वह जल का धर्म नहीं है वैसे ही बुद्धि में बोध या स्फुरण प्रतीत होने पर भी वस्तुत: वह आत्मा का ही स्वरूप है।

प्रमाता का स्वयंसिद्ध अस्तित्त्व भी इस साक्षी की सत्ता को सिद्ध करता है। प्रमाता स्वयं अपने अस्तित्त्व के बारे में कभी भी संदेह, विपर्यय आदि से युक्त नहीं होता। हम कभी भी स्वयं अपने अस्तित्त्व के बारे में संदेह से युक्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि अहंकारात्मक वृत्ति साक्षिचैतन्य के प्रकाश से निरन्तर प्रकाशित होती रहती है। प्रमाता को साक्षिचेतना द्वारा भासित मानने से और साक्षिचेतना को स्वयंप्रकाश मानकर अद्वैती बौद्धमत में प्रसक्त होने वाले अनवस्था और जगदान्ध्यप्रसङ्ग के दोष से बच निकलते हैं। प्रमाता को अवभासित करने वाली साक्षी का ज्ञान कैसे होता है, यह प्रश्न नहीं किया जा सकता क्योंकि साक्षी स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश, स्वयंज्योतिरूप है। जिसके प्रकाश से सभी कुछ प्रकाशित होता है उसे भला कैसे प्रकाशित किया जा सकता है। जो दृष्टि का भी द्रष्टा, श्रुति का भी श्रोता और मति का भी मन्ता है उसे भला कैसे देखा, सुना जा सकता है।[१२] अद्वैती चेतना के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि यह शुद्ध द्रष्टा या विषयीरूप है। चेतना स्वयं को विषयतया नहीं जान सकती। यदि वह ऐसा प्रयास करती है तो भी विषयितया यह अवशिष्ट ही रहती है। चेतना यद्यपि विषयतया वेद्य नहीं होती है पर देखा जाए तो इस तरह जानने की आवश्यकता भी नहीं हैं क्योंकि अवेद्य होने के बावजूद वह नितान्त अपरोक्ष है। वह अपनी सत्ता में कभी भी प्रकाश से विरहित नहीं होती। वह शाश्वत अपरोक्ष है और इसीलिए स्वयंप्रकाश है।

न केवल प्रमाता के प्रकाशन के लिए अपितु प्रमाता के अवस्थाभूत ज्ञान, सुख दु:ख, इच्छा, द्वेष आदि में होने वाली नित्य अपरोक्षता की व्याख्या के लिए भी प्रमाता के अन्तर्भूत एक स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य तत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। पीछे हम लोगों ने विस्तार से ज्ञान के ग्रहण की समस्या को उठाकर यह भलीभाँति देखा कि ज्ञान में होने वाली अपरोक्षता की व्याख्या के लिए एक साक्षीरूप स्वयंप्रकाश चेतनतत्त्व को मानना अनिवार्य हो जाता है। न केवल ज्ञान अपितु सुख दु:ख, इच्छा आदि के ज्ञान की व्याख्या के लिए भी साक्षी को मानना होगा। नैयायिक सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष आदि को आत्मा का गुण मानते हैं। ज्ञान भी उनके अनुसार आत्मा का गुण है। अब आत्मगत ज्ञान से भला आत्मगत सुख-दु:ख, इच्छा आदि कैसे विदित हो सकते हैं ? सुख एवं ज्ञान दोनों आत्मा में एक काल में समवेत नहीं हो सकते क्योंकि आत्ममन:संयोग दोनों का ही हेतु है। एक असमवायिकारण आत्ममन:संयोग से ही एक ही कार्य उत्पन्न हो सकता है। सुख के असमवायिकारण आत्ममन:संयोग के नाश से सुख का नाश होगा। संयोगान्तर से जन्य ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण कथमपि बन नहीं सकेगा। एक आत्ममन:संयोग से युगपत् अनेक कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती, अत: ज्ञान और सुख दोनों युगपत्

हो नहीं सकते। वस्तुत: एक आश्रय वालों का विषय-विषयीभाव नहीं बन सकता है। अत: आत्माश्रित सुख का आत्माश्रित ज्ञान से ग्रहण नहीं हो सकता।

वास्तव में प्रमाता और उसकी अवस्थाभूत सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष आदि का ग्रहण स्वयं प्रमाता द्वारा नहीं हो सकता। प्रमाता और उसकी अवस्थाओं को अवभासित करने वाला कोई और तत्त्व ही होना चाहिए। यही साक्षी है। यहाँ यह धातव्य है कि अद्वैतियों के अनुसार ज्ञान, सुख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के धर्म न होकर अन्त:करण के धर्म हैं। काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, धी, ये सभी अन्त:करण के ही रूप कहे गये हैं - काम: संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येत्सर्वं मन एव। जब भी हमें किसी घट, पट आदि का ज्ञान होता है, या कोई इच्छा उत्पन्न होती है तो इस ज्ञान, सुख, इच्छा के ग्रहण के लिए किसी अन्य बुद्धिवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। इनके ग्रहण के लिए किसी अन्य इन्द्रिय, लिङ्ग ज्ञान आदि प्रमाण व्यापारों की अपेक्षा नहीं होती, बिना इनकी अपेक्षा के ही ये सीधे साक्षी द्वारा भासित होते हैं। इस प्रकार अन्त:करण और उसके परिणाम सीधे साक्षी द्वारा प्रकाशित होते हैं। साक्षिचेतना द्वारा प्रकाशित होने से ही उनके प्रति अपरोक्षता का भाव रहता है। न तो सुख, दु:ख आदि और न ही (घट, पटादि का) ज्ञान स्वयंप्रकाश है, जैसा कि बौद्ध समझते हैं। ये चूँकि साक्षिचेतना द्वारा निरन्तर भासित होते रहते हैं इसीलिए ये नियत प्रत्यक्ष होते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि घट, पट आदि बाह्य विषयों के विपरीत ज्ञान, सुख आदि मानसिक हैं और मन एवं मानसिक अवस्थाओं की यह विशेषता होती है कि वे नियत प्रत्यक्ष होते हैं। ज्ञान कभी भी अज्ञात नहीं रहता। सुख कभी भी अननुभूत नहीं होता। हमें दर्द हो और उसकी अनुभूति न हो यह असम्भव है। ये नित्य अपरोक्ष हैं और ऐसा इसलिए है क्योंकि अन्त:करण सात्त्विक और तैजस स्वभाव का होता है। सात्त्विक और तैजस होने से वह इतना स्वच्छ होता है कि साक्षिचैतन्य के प्रतिबिम्ब से नियत युक्त ही रहता है। साक्षिचेतना असंग होने के बावजूद अन्त:करण से सम्बन्धित रहती है। अत: साक्षिचेतना के प्रकाश से विरहित न होने के कारण अन्त:करण और उसकी वृत्तियाँ सर्वदा भासित रहते हैं।

प्रमाता जीव का अन्तर्भूत उसके समस्त व्यापारों को प्रतिपल प्रकाशित करने वाले साक्षी की सत्ता एक अन्य दृष्टि से भी सिद्ध होती है। प्रमाता को हमेशा किसी न किसी विषय का ज्ञान होता रहता है। एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा, चौथा-इस तरह उसे विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान होता रहता है। पर कई एक स्थिति में पाते हैं कि आवश्यक नहीं कि किसी विषय का ज्ञान ज्ञाता को हो ही। अब ऐसी स्थिति में क्या ज्ञाता ज्ञानशून्य हो जाता है ? ज्ञान को आत्मा का गुण मानने वाले न्यायवैशेषिक, पूर्व मीमांसा प्रभृति दर्शनों के लिए यह समस्या इतनी गम्भीर होकर आती है जिसका समाधान देने में वे अन्तत: असफल ही रहते हैं। इस सम्बन्ध में अद्वैतियों का कहना है कि ऐसे समय भी प्रमाता अचेतन नहीं रहता। साक्षी चैतन्य उसे प्रकाशित करता रहता है। जब हमें घट, पट आदि विशेषों का ज्ञान नहीं होता, बुद्धि वृत्तियाँ नहीं होती, ऐसे समय भी अर्थात् बुद्धिवृत्तियों के अन्तराल में भी स्वयंप्रकाश बोधरूप सामान्य चैतन्य अपने नित्य प्रकाश के साथ जैविक संस्थान को प्रकाशित करता हुआ रहता है। यह न केवल बुद्धिवृत्तियों का अपितु उनकी संधियों और अन्तरालों को भी भासित करता है। यही बुद्धिवृत्तियों की उत्पत्ति और विनाश को भी प्रकाशित करता है। बुद्धिवृत्तियाँ तो उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। हम देखते हैं कि कभी हमें घट का ज्ञान होता है तो कभी पटज्ञान। कभी किसी विषय का ज्ञान होता है तो कभी किसी विषय का। घट, पटादि वृत्ति ज्ञानों के उत्पन्न नष्ट होने का तथ्य स्पष्टत: अनुभूत होता है। अब यह तथ्य सिद्ध करता है कि कोई स्वयंप्रकाश बोधरूप नित्य चैतन्य साक्षी है जो

हमारे ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होते देखता है। वृत्तिज्ञान के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को कोई नित्य साक्षीस्वरूप चैतन्यतत्त्व ही प्रकाशित कर सकता है।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि जाग्रत काल में बुद्धिवृत्तियों में अन्तराल भले ही हो पर बुद्धिवृत्तियों का सर्वथा अभाव नहीं होता। लेकिन सुषुप्ति में तो बुद्धिवृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है। अब बुद्धिवृत्तियों के इस अभाव को प्रकाशित करने वाला कोई स्वयंप्रकाश सामान्य बोधरूप चैतन्य होना चाहिए। जो इन बुद्धिवृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करे। बुद्धिवृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करने वाला साक्षिचैतन्य है। इस साक्षिचैतन्य के सामान्यानुभव का कभी अभाव नहीं होता। यदि सुषुप्ति में साक्षिचैतन्य रूप सामान्य बोध का भी अभाव हो तो सुप्तोत्थित को मैंने कुछ नहीं जाना इस तरह का विमर्श ही नहीं हो पाएगा। सुषुप्ति में घट, पटादि के विशेष अनुभव का ही अभाव होता है। साक्षिरूप सामान्यानुभव का अभाव नहीं होता। विशेषानुभव के अभाव को भासित करने वाला तत्त्व साक्षिचेतना है। यह चेतना नित्यकूटस्थ है। इसका कभी अभाव नहीं होता। ज्ञाता की स्वरूपभूता ज्ञप्ति नित्य है। जैसे नृत्यशालास्थित दीपक प्रमुख प्रेक्षक, सभा व नृत्यकारों को एक साथ प्रकाशित करता है और उनके अभाव में स्वयं प्रकाशित होता है उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, बुद्धि एवं सभी विषयों को प्रकाशित करता है और उनके न रहने पर उनके अभाव को प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है। अद्वैतियों के अनुसार सुषुप्ति अनुभवों का अभाव नहीं है अपितु स्वयं एक अनुभव है। सुषुप्ति का तथ्य एक नित्य साक्षीचेतना के अस्तित्त्व को सिद्ध करता है। सोकर जागने के पश्चात् सुप्तोत्थित प्राणी को सुषुप्ति-अवस्था के सुख और अज्ञान का स्मरण होता है तभी वह 'सुखमहमस्वाप्सम्, नाहं किंचिदवेदिषम्' इस तरह का कथन करता है। अब चूँकि स्मृति अनुभवपूर्वक ही होती है अत: सुषुप्ति काल में सुख एवं अज्ञान का अनुभव मानना उचित ही होगा। अब प्रश्न है सुषुप्तिकालीन सुख तथा अज्ञान का भासक कौन है ? यह प्रमाता तो हो नहीं सकता क्योंकि वह तो सोया हुआ रहता है। साक्षी अविद्यावृत्ति से सुषुप्ति में इन दोनों का ग्रहण करता है। सुषुप्ति में अहम् का बोध नहीं होता, पर इसका अर्थ नहीं है कि वहाँ चेतना नहीं रहती। अहम् प्रतीति के न रहने का कारण यह है कि चेतना का उपाधिभूत अन्त:करण अपने कारणभूत अज्ञान में लय हो जाता है। उपाधिभूत अज्ञान अब भी साक्ष्य रूप में बना रहता है। इसी कारण सुषुप्तिकालीन चेतना निरुपाधिक नहीं होती। अन्त:करण के कारणभूत भावरूप अज्ञान को भासित करते हुए साक्षिचेतना सुषुप्ति में अपने स्वरूप में स्थित रहती है।

साक्षी जैसे वस्तुओं के ज्ञान का भासक है वैसे ही अज्ञान भी साक्षी द्वारा भासित होता है। मैंने कुछ भी नहीं जाना इस तरह का विमर्श अज्ञान के ज्ञान का सूचक है। अब अज्ञान का ज्ञान प्रमाता जीव को सम्भव नहीं है क्योंकि प्रमाता तो वृत्तियों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता है और समस्या यह है कि वृत्ति एवं अज्ञान दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते क्योंकि वृत्ति तो अज्ञानावरण नष्ट करती है। इसीलिए अज्ञान को सीधे साक्षी द्वारा भासित मानना पड़ता है। यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि साक्षीरूप चेतना तो विज्ञानस्वरूप है वह भला अज्ञान का भासक कैसे हो सकती है ? अज्ञान और ज्ञान जो कि तम: प्रकाशवत् एक दूसरे के विरोधी हैं वे भला एक साथ कैसे हो सकते हैं ? भावरूप अज्ञान ज्ञानस्वरूप आत्मचेतना पर आश्रित हुई कैसे रह सकती है ? इस पर अद्वैतियों का कहना है कि अज्ञान का विरोध विशुद्धज्ञान से न होकर वृत्तिज्ञान से ही है। अज्ञान का शुद्ध चेतना से कोई विरोध नहीं है। वास्तव में चेतना जब अज्ञान को भासित करती हुयी अपनी ज्योति में प्रकाशित होती है तो यही चेतना साक्षिचेतना कहलाती है। अज्ञान के संदर्भ में देखी जाती हुयी चेतना ही साक्षिचेतना है। इस सन्दर्भ से परे तो वह विशुद्ध आत्मा या ब्रह्म है। इसलिए साक्षी को अद्वैती अज्ञानोपहित चेतना कहते हैं।

चूँकि साक्षी अज्ञान का भासक है अत: अज्ञानावृत यावत् वस्तुएँ साक्षी द्वारा भासित होती

हैं। अर्थात् अज्ञात वस्तुएँ भी साक्षी द्वारा प्रकाशित होती हैं। जब कोई वस्तु चिदाभासयुक्त बुद्धिवृत्ति से व्याप्त होती है तो वह ज्ञात कहलाती है। ज्ञात होने से पहले वस्तुओं पर अज्ञानावरण पड़ा होता है और वे अज्ञात होती हैं। साक्षी अज्ञात रूप में भी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इसलिए कहा जाता है साक्षिचेतना द्वारा ज्ञात-अज्ञात सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं - सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव।[१४] चूँकि साक्षिचेतना रूप सामान्यानुभव द्वारा वस्तुएँ अज्ञातावस्था में भी प्रकाशित होती रहती हैं इसलिए जब उनके प्रमाता को ज्ञान होता है तब उसे ऐसा नहीं लगता कि वह उनको उत्पन्न कर रहा है। वास्तव में हमारा समस्त व्यवहार चाहे वह ज्ञानपरक हो या अन्य, एक तरह के वस्तुवादी विश्वास को लेकर चलता है। हम जब किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो हमें इस बात का स्पष्ट भान होता है कि हम उसको उत्पन्न नहीं कर रहे हैं और कि हमारे ज्ञान से पूर्व भी वस्तु अज्ञात रूप में विद्यमान थी। किसी वस्तु के ज्ञात होने का तात्पर्य पहले से ही विद्यमान वस्तु का अज्ञात से ज्ञात होना है। इस तरह ज्ञान कोई नई सृष्टि नहीं है, वह सिद्धवस्तुविषयक होता है। अब ज्ञान का यह स्वरूप यह सिद्ध करता है कि वस्तुएँ ज्ञात रहने से पूर्व अज्ञात रूप में विद्यमान रहती हैं। वस्तुओं के इसी अज्ञातता को प्रकाशित करने वाला चैतन्य साक्षी है जो न केवल वस्तुओं की ज्ञातता को अपितु उनकी अज्ञातता को भी प्रकाशित करता है। प्रमाता द्वारा अज्ञात वस्तुएँ भी चूँकि साक्षी से प्रकाशित होती रहती हैं, इसीलिए जब प्रमाता को उनका ज्ञान होता है तो उसे ऐसा नहीं लगता कि वह वस्तुओं को उत्पन्न कर रहा है। अद्वैतियों का तर्क बहुत स्पष्ट है। हमारा समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार चाहे वह लौकिक हो या वैदिक एक तरह की वस्तुवादी मान्यता को लेकर चलता है। वस्तुवाद की यह मूल मान्यता है कि वस्तुओं की ज्ञातावस्था से अतिरिक्त उसकी अज्ञातावस्था भी होती है। अब इस अज्ञातावस्था का प्रमाता को ज्ञान नहीं होता, जिसके आधार पर विज्ञानवादी सोचते हैं कि वस्तुओं की कोई अज्ञातावस्था है ही नहीं। सही स्थिति यह है कि एक स्वयंसिद्ध चैतन्यरूप साक्षी तत्त्व है जो वस्तुओं की अज्ञातावस्था को भी प्रकाशित करता रहता है।

इस स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता हुआ ही अनेक कर्ता, भोक्ता से युक्त विभिन्न वस्तुओं, वनस्पतियों और प्राणियों वाला यह सकल संसार सिद्ध होता है। सभी कुछ ज्ञात-अज्ञात, भाव-अभाव यावत् वस्तुएँ, प्रमाता, प्रमेय, नामरूप में अभिव्यक्त होने वाला यह सकल जगत् साक्षी का साक्ष्य होते हुए ही सिद्ध है। सभी कुछ को साक्ष्य प्रदान करता हुआ यह साक्षी स्वयं अपनी सिद्धि के लिए अन्य पर आश्रित नहीं होता। यह स्वत: सिद्ध एवं स्वयंप्रकाश है। यदि यह स्वत: सिद्ध और स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप साक्षी न हो तो इस जगत् में किसी चीज की सिद्धि नहीं हो पाएगी और जगत् घोर अन्धकार में विलीन हो जाएगा।

अन्त में यहाँ एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर चर्चा अपेक्षित होगी। समस्या इस रूप में सामने आती है कि यदि सामान्य बोधरूप नित्यकूटस्थ साक्षिचैतन्य से यावत् वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं तो फिर वृत्तिज्ञानरूप खण्ड या अनित्यज्ञान द्वारा वस्तुओं के प्रकाशन का क्या अर्थ है ? यदि स्वयं सूर्य के प्रकाश से वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं तो फिर दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्यप्रकाश से उसको प्रकाशित करने का क्या अर्थ है ? इसके उत्तर में अद्वैतियों का कहना है कि यद्यपि अखण्ड बोधरूप सामान्यानुभव से चिदाभास, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण ये सबके सब प्रकाशित होते हैं फिर भी यह घट है, यह पट है इस प्रकार के विशेष ज्ञान के लिए सामान्यानुभव के अतिरिक्त विशेषानुभव की अपेक्षा होती है क्योंकि सामान्यानुभव से वस्तुएँ अज्ञात रूप में भी भासित होती रहती हैं। अब, वस्तुओं का विशेष ज्ञान बिना तदाकारित अन्त:करणवृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिम्बित हुए संभव नहीं है। यहाँ विदित हो कि अन्त:करण तैजस द्रव्य होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ है अत: स्वभावत: चैतन्य को अभिव्यक्त करने में सक्षम है,

किन्तु घट, पटादि अस्वच्छ होने के कारण चैतन्य के प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर पाते। जब घटाकार वृत्ति द्वारा घट का अन्त:करण से सम्बन्ध होता है तो (१) वृत्ति घट की जड़ता को दूर कर देती है और (२) अन्त:करण अपने समान अपने से संयुक्त घट में भी चैतन्य को अभिव्यक्त करने की योग्यता ला देता है। इस प्रकार घट, पट आदि के विशेष ज्ञान के लिए उनका साक्षिचैतन्य से सम्बद्ध होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि इस चेतना और वस्तु के व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्धरूप विशेष सम्बन्ध का होना भी आवश्यक होता है। घट, पट आदि के ज्ञान में हम कह सकते हैं कि द्विगुण ज्ञान प्रकाश होता है। सामान्य नित्यबोध रूपी साक्षी से वे प्रमाण-प्रवृत्ति से पूर्व ही भासित होते रहते हैं, जब वे चित्प्रतिबिम्बियुक्त वृत्ति से व्याप्त होते हैं तो ज्ञात कहलाते हैं।

***

टिप्पणियाँ

१. *कर्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृतविषयानपि।*
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः॥
नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते॥
अहङ्कारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत।
अहङ्काराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्॥ - *विद्यारण्य स्वामी, पञ्चदशी, १०/९, ११, १२*

२. *बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/३/२३*

३. *अर्थप्रकाशत्वमैव खलूपलम्भः। जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, (तृतीय भाग), संपा. गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८४, पृ. ५१*

४. *वित्तेरवश्यवेद्यत्वाभावेनानवस्थाविगमात्।-गंगेश, तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्ड, अनुव्यवसायवाद, दिल्ली, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, १९९०, पृ. ७९८।*

५. *धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की यह पंक्ति बौद्ध और बौद्धेतर परम्पराओं में बहुशः उद्धरित होती है। द्रष्टव्य, न्यायभूषण, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८, पृ. १३३*

६. *एम. हट्टोरी, दिङ्नाग ऑन परसेप्शन, कैम्ब्रिज, : हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९६८, पृ. २९-३०*

७. *धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, १/१०*

८. *देखें, शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २/२/२८ और शङ्कराचार्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य, ४/३/७*

९. *प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथम इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थ प्रदीपसहस्रप्रथनवत्। शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २/२/२८*

१०. *ततः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तेनेदं सदृशमिति अनेकदर्शिन एकस्याभावात्।*

११. *दृष्टिरिति द्विविधा भवति-लौकिकी पारमार्थिकी चेति ; तत्र लौकिकी चक्षुसंयुक्ता अन्तःकरणावृत्तिः, सा क्रियत इति जायते विनश्यति च, या त्वात्मनो दृष्टिःअग्न्युष्णप्रकाशादिवत्, सा च द्रष्टुः स्वरूपान्न जायते न विनश्यति च। शङ्कराचार्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य, ४/३/७*

१२. *न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। बृहदारण्यक उपनिषद्, ३/४/२*

१३. *बृहदारण्यक उपनिषद्, १/५/३*

१४. *प्रकाशात्मन्, पञ्चपादिकाविवरणम्, मद्रास गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, १९६८, पृ. ८३-८४*

वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था पर एक टिप्पणी

वैशेषिक दर्शन का मुख्य उद्देश्य उन तत्त्वों की खोज व विवेचना है जो इस जगत् के मूल में हैं। इन तत्त्वों को वैशेषिक आचार्य कुछ निश्चित कोटियों में वर्गीकृत करते हैं जिन्हें वे 'पदार्थ' कहते हैं। ये पदार्थ वैशेषिक सूत्रकार के अनुसार छह हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। पश्चात्कालीन आचार्य इस पदार्थव्यवस्था में सातवें पदार्थ के रूप में अभाव की गणना करते हैं। इन पदार्थों का निरूपण या पदार्थ-धर्म-मीमांसा वैशेषिक दर्शन का प्रमुख कार्य रहा है। वस्तुत: वैशेषिक दर्शन मूल रूप में पदार्थशास्त्र ही है। पदार्थों की सिद्धि और उसके स्वरूप का विश्लेषण ही वैशेषिक दर्शन के दो हजार वर्षों से अधिक के इतिहास में आचार्यों का प्रधान उद्देश्य रहा है।

यहाँ यह सहज ही प्रश्न उठाया जा सकता है कि वैशेषिकों का 'पदार्थ' से तात्पर्य किस तरह की कोटियों से है - बौद्धिक विचार की कोटियों से अथवा वस्तु की कोटि से। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि नैयायिकों का पदार्थ जहाँ विचार की कोटियाँ हैं वहीं वैशेषिक के अनुसार ये वस्तु की कोटियाँ हैं। इसी तरह कुछ लोग नैयायिकों की कोटियों को प्रमाणमीमांसीय कोटि कहते हैं जबकि वैशेषिक की कोटियों को प्रमेयपरक कोटि। अब कुछ हद तक उपयुक्त जान पड़ने के बावजूद उपर्युक्त मतों को पूरी तरह से सही नहीं कहा जा सकता है। वस्तुत: इस सम्बन्ध में वैशेषिक आचार्यों की स्थिति पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। जब आचार्य 'समवाय' और यहाँ तक कि 'सामान्य' के सन्दर्भ में एकत्व का प्रयोग करते हैं तो वस्तुत: उनका तात्पर्य उनको वैचारिक या तार्किक कोटि के रूप में लेने से ही होता है। दूसरी ओर जब वे इन पदार्थों के संख्यात्मक प्रकार भेद की चर्चा करने लगते हैं तो जाहिर है वे पदार्थ को वस्तुओं की कोटि के रूप में ले रहे होते हैं। अब तात्त्विक और तार्किक कोटि के बीच सूक्ष्म भेद की स्पष्ट चेतना न होने के कारण ही आचार्यगण जहाँ एक ओर घटत्व, पटत्व, द्रव्यत्व, गुणत्व जैसे स्पष्टत: अनेक संख्यक सामान्य को एक कह डालते हैं, वहीं दूसरी ओर समवाय के नानात्व को लेकर रघुनाथ शिरोमणि जैसे प्रखर आचार्य नए-नए तर्क गढ़ने लगते हैं। पर देखा जाए तो इन विवादों के बीच कहीं न कहीं कोटियों को लेकर होने वाला उपर्युक्त किस्म का एक कोटि-भ्रम ही है।

यहाँ यह कहना होगा कि पदार्थ तात्त्विक हैं या तार्किक, कोटियों के बीच इस तरह के विवेक की चेतना भले ही परवर्ती वैशेषिकों में परिलक्षित नहीं होती है पर जहाँ तक स्वयं कणाद का प्रश्न है तो उनमें जरूर कहीं न कहीं इस विषय की स्पष्ट चेतना थी। इसीलिये वे द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता जाति को मानते हैं[1] तथा उन्हें 'अर्थ' की संज्ञा देते हैं[2] अब जाहिर है यदि द्रव्य, गुण तथा कर्म 'अर्थ' हैं तो वे स्वरूपत: तात्त्विक हो जाते हैं तथा वे जिस तरह की 'सत्ता' रखते हैं, सामान्य, विशेष, समवाय या अभाव वैसी 'सत्ता' नहीं रखते और इसी कारण से यह कहा जा सकता है कि वे 'वैचारिक' हैं। यहाँ इस रोचक तथ्य की चर्चा करना अनपेक्षित नहीं होगा कि प्रशस्तपाद ने पदार्थ के लक्षण में अस्तित्त्व शब्द का समावेश किया है - षण्णामपि पदार्थानामस्तित्त्वाभिधेयत्व- ज्ञेयत्वानि।[3] अर्थात् पदार्थ अस्तित्त्ववान होते हैं, जबकि वहीं सूत्रकार या स्वयं प्रशस्तपाद के अनुसार केवल द्रव्य, गुण और कर्म 'सत्ता' से युक्त हैं। ऐसी

स्थिति में सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहाँ द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही पदार्थ सत्तावान हैं, वहीं छहों पदार्थ अस्तित्त्ववान हैं; अर्थात् वैशेषिक परम्परा में सत्ता और अस्तित्त्व भिन्न अर्थ रखते हैं।

पदार्थ के लक्षण में 'अस्तित्त्व' के समावेश से और भी कठिनाई उत्पन्न होती है। एक समस्या तो यही उठती है कि परंपरा में सर्वस्वीकृत पदार्थ 'अभाव' का तो अस्तित्त्व होता नहीं है, फिर उसे पदार्थ भला कैसे कहा जा सकता है। कदाचित् इन्हीं कारणों से कणाद या प्रशस्तपाद पदार्थ-गणना में 'अभाव' को छोड़ जाते हैं। पर 'अभाव' वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का अपरिहार्य अंग है। अत: अन्य विकल्प जो बचता है वह है लक्षण में बदलाव। शिवादित्य जब 'प्रमितिविषया: पदार्था:' पदार्थ को इस प्रकार परिभाषित करते हैं और बाद के आचार्य अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व को ही पदार्थ का लक्षण बतलाते हैं, तो उनका उद्देश्य वस्तुत: उपर्युक्त कठिनाई से बचना ही था।

कोटि-भेद की ऊपर जो चर्चा की गयी है उसी से मिलते-जुलते एक अन्य भेद की भी स्पष्ट चेतना वैशेषिक आचार्यों में थी, हालाँकि इसको लेकर परम्परा के आचार्यों में कभी भी कोई भ्रम नहीं रहा जैसा कि प्रथम भेद को लेकर उनमें रहा है। यह भेद है तर्कत: भिन्न वस्तु की और तत्त्वत: भिन्न वस्तु की। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि तर्कत: भिन्न हैं, इसीलिए उनमें सम्बन्ध की व्याख्या के लिए समवाय की अपेक्षा होती है जबकि तत्त्वत: (देशत:) भिन्न वस्तुओं के लिए संयोग अपेक्षित होता है। न्यायमञ्जरीकार कहते हैं कि अवयव-अवयवी आदि में निश्चय ही भेद है, पर यह भेद प्रतीति भेद से है - देश भेद से नहीं। अब देशभेद न होने से ही इन अवयव-अवयवी आदि में सम्बन्ध की व्याख्या के लिए 'समवाय' की कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि 'संयोग' से इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।[४]

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि उसके द्वारा निर्दिष्ट सात पदार्थों में जगत् के सभी ज्ञेय तथा अभिधेय तत्त्वों का सन्तोषजनक वर्गीकरण हो जाता है। अर्थात् जगत् के स्वरूप-विश्लेषण में आने वाले सभी तत्त्व वैशेषिक कृत पदार्थ वर्गीकरण में आ जाते हैं। यहाँ यह सहज प्रश्न उठता है कि पदार्थ आखिर सात ही क्यों, क्यों नहीं उससे कम हैं अथवा अधिक। इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि वैशेषिक दर्शन के दो हजार वर्षों के इतिहास में सात पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति, सादृश्य, संख्या, क्षण, वैशिष्ट्य या विषयता जैसे अन्य दूसरे पदार्थों को मानने का विभिन्न वैशेषिक आचार्य सुझाव देते हैं। इसी तरह बहुत से विद्वान ऐसा मानते हैं कि 'अभाव' नामक पदार्थ बाद के आचार्यों ने वैशेषिक पदार्थ-सरणी में शामिल किया। कणाद और प्रशस्तपाद को अभिमत तो केवल छह ही पदार्थ थे। इन छह में भी कुछ विद्वानों का कहना है कि कणाद को अभिमत पदार्थ तो केवल द्रव्य, गुण और कर्म या, इन्हीं तीन पदार्थों को वे 'अर्थ' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। वैशेषिक सूत्र १/१/४ में अवश्य स्पष्टत: छह पदार्थों का निर्देश प्राप्त होता है।[५] पर वह सूत्र वस्तुत: प्रक्षिप्त है। इस धारणा को इस बात से बल मिलता है कि वैशेषिक सूत्र की कुछ व्याख्याओं में यथा 'चन्द्रानन्द वृत्ति' तथा 'अज्ञातकर्तृक व्याख्या' में उक्त सूत्र की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है। उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि वैशेषिक का सप्तपदार्थवाद का सिद्धान्त आरंभ से ही विद्वानों के बीच विवाद का प्रधान विषय रहा है। इन्हीं कारणों से फ्राउवाल्नर समेत बहुत से आचार्य वैशेषिक सप्तपदार्थवाद को एक लम्बे काल प्रवाह में हुए वैचारिक चिन्तन के क्रमिक विकास का परिणाम मानते है।[६] इस मत के अनुसार आरम्भ में केवल तीन ही पदार्थ द्रव्य, गुण एवं कर्म स्वीकार किये गये होंगे। यह तथ्य इससे भी प्रमाणित होता है कि वैशेषिक सूत्रों के प्रथम अध्याय में प्रथम आह्नीक के अन्तर्गत केवल इन्हीं तीन पदार्थों का वर्णन है जबकि सामान्य एवं विशेष का उनसे पृथक् द्वितीय आह्नीक में निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्हीं तीन पदार्थों को सूत्रकार ने 'अर्थ' संज्ञा से अभिहित किया है। वैशेषिक पदार्थ-सिद्धान्त के विकास की द्वितीय अवस्था

में सामान्य, विशेष एवं समवाय इन तीन पदार्थों का जन्म हुआ।[७] इन तीनों में भी पहले 'सामान्य' फिर 'विशेष' और अन्ततः 'समवाय' की कल्पना की गयी होगी। अन्ततः दसवीं शताब्दी में 'अभाव' को सप्तम पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया। अब उपर्युक्त मत के साथ समस्या यह है कि यह वैशेषिक पदार्थव्यवस्था के बहुतलीय स्वरूप को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करती है। यह सही है कि वैशेषिक पदार्थव्यवस्स्था को बहुतलीय व्यवस्था के रूप में लेना चाहिए जिसके प्रथम तल में द्रव्य, गुण और कर्म हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से कभी ऐसा रहा होगा कि कभी ये तीन पदार्थ ही माने जाते होंगे। वैचारिक आद्यता कालिक आद्यता नहीं होती, अतः उसे उस रूप में नहीं देखना चाहिए। वस्तुतः वैशेषिक पदार्थव्यवस्था विभिन्न पदार्थों का ऐसा सुगठित तन्त्र है जिसमें एक भी पदार्थ अनावश्यक या व्यर्थ नहीं है। विभिन्न पदार्थ आपस में मिलकर एक ऐसे संकुल का निर्माण करते हैं जिसमें हर पदार्थ अन्य दूसरे पदार्थ स्तम्भों को थामे हुए है। पदार्थों की इस परस्पर आश्रयता को ध्यान में रखने के कारण ही तथा वैशेषिक सप्तपदार्थवाद को एक सम्पूर्ण तन्त्र मानने के कारण वैशेषिक दर्शन के व्योमशिवाचार्य, श्रीधराचार्य, उदयनाचार्य, वल्लभ, पद्मनाभ मिश्र, शंकर मिश्र प्रभृति परम्परागत आचार्य यह मानने को तैयार ही नहीं होते हैं कि सप्तपदार्थवाद का सिद्धान्त सूत्रकार अथवा भाष्यकार को अभिमत नहीं था और कि 'अभाव' जैसे पदार्थ बाद के आचार्यों द्वारा पदार्थव्यवस्था में शामिल किये गये थे।

वस्तुतः वैशेषिक पदार्थव्यवस्था की उपयुक्त समझ उसके ऐतिहासिक विवेचन के बदले वैचारिक विश्लेषण से ही हो सकती है। जो चीज जरूरी है वह है वैशेषिक पदार्थव्यवस्था के आन्तरिक तर्कशास्त्र को उद्घाटित करना। देखा जाए तो वैशेषिक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत पदार्थों की सरणी वस्तुवादी पदार्थव्यवस्था का आदर्श नमूना है। वैशेषिक आचार्य बौद्धों के विपरीत प्रथमतः वस्तुवादी हैं। अब इस वस्तुवाद का एक प्रमुख आनुषंगी सिद्धान्त है अवयव-अवयवी में, धर्म-धर्मी में भेद। इस धर्म-धर्मि भेद की आधारभूत मान्यता पर आधृत वैशेषिक वस्तुवाद के लिए गुण और कर्म से पृथक् उसके आश्रयरूप द्रव्य की सिद्धि में कोई परेशानी नहीं होती है। गुण या कर्म निराधार नहीं रह सकते। उनका कोई न कोई आश्रय अवश्य होगा, वह आश्रय ही द्रव्य है। कणाद जब 'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्' कहते हैं तो वस्तुतः वे यही कहना चाहते हैं।[८] इससे पूर्व बौद्धों का कहना था कि गुणों से पृथक् द्रव्य की सत्ता को, धर्म से पृथक् धर्मी को, अवयवों के संघात से अतिरिक्त अवयवी पदार्थ को मानने की कोई जरूरत नहीं है। इस पर वैशेषिक आचार्यों का कहना है कि धर्मी धर्म से, अवयवी अवयव से भिन्न होता है। अतः गुण और क्रिया से भिन्न तदाश्रयरूप द्रव्य की सत्ता निर्विवाद है। देखा जाए तो गुणों या क्रियाओं के आश्रयरूप में गुणी या क्रियावान की पृथक् सत्ता को मानने वाले वे ही हो सकते हैं जो 'सामान्य' को किसी न किसी रूप में मानते हों। बौद्धों के लिए विशिष्ट अनुभूतियाँ ही सत्य हैं, इन अनुभूतियों के संघात से भिन्न कोई 'वस्तु' नहीं है। अब जब घट, पटादि वस्तु ही संघात है तो फिर घटत्व, पटत्व तो निरे विकल्प ही ठहरते। लेकिन यह सहज रूप से देखा जा सकता है कि जब तक हम 'घटत्व', 'पटत्व' जैसे सामान्यों को नहीं मानेंगे और बौद्ध इस तरह के अनेकानुगत सामान्य को नहीं मानते तब तक घट, पट की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती। अस्तु, वैशेषिक पदार्थव्यवस्था में 'सामान्य' एक स्वतन्त्र पदार्थ तो है ही, जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि इसका स्वतन्त्र पदार्थत्व ही 'द्रव्य' की सिद्धि का प्रधानकारणभूत बनता है। पुनश्च यदि द्रव्य अनेक हैं जैसा कि बहुत्ववादी वैशेषिक मानते हैं तो फिर जहाँ एक तरफ एक ही तरह के विभिन्न द्रव्यों की निजता को व्याख्यायित करने के लिए 'विशेष' नामक पदार्थ को मानना जरूरी हो जाता है वहीं नानात्व और भेद की सिद्धि के लिए 'अभाव' को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में मानना अनिवार्य हो जाता है। यही नहीं, देखा जाए

तो 'सामान्य' की भी सत्ता 'अभाव' की पूर्वापेक्षा रखती है। विभिन्न घटों में रहने वाला 'घटत्व', पटों में रहने वाले 'पटत्व' से भिन्न है। इसी तरह 'पटत्व' का घट में सर्वथा अभाव है। अब ये सब बातें 'अभाव' की पूर्वापेक्षा रखती हैं। एवंप्रकारेण हम देख सकते हैं कि वैशेषिक पदार्थव्यवस्था के विभिन्न पदार्थ किस प्रकार परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और उनका अस्तित्त्व अन्यों पर निर्भर करता है। जहाँ तक 'समवाय' का प्रश्न है तो डी.एन. शास्त्री ठीक ही कहते हैं कि वैशेषिक पदार्थव्यवस्था के ढाँचे में यदि विभिन्न पदार्थ ईंटों का काम करते हैं तो समवाय गारे का।[९] समवाय गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष को द्रव्य के साथ जोड़ता है, इसके अतिरिक्त यह सामान्य को गुणों तथा कर्मों से भी सम्बद्ध करता है एवं अवयवी को अवयव से भी।[१०]

यहाँ धर्मधर्मिभेद पर किंचित् विस्तार से चर्चा अपेक्षित होगी जिसे प्रो. डी.एन. शास्त्री,[११] प्रो. विश्वम्भर पाहि[१२] जैसे आचार्य वैशेषिक तत्त्वमीमांसा की आधारभूत मान्यता के रूप में स्वीकार करते हैं। इन आचार्यों के मत से तो सम्पूर्ण वैशेषिक पदार्थव्यवस्था उसके धर्मधर्मिभेदमूलक आधारभूत मान्यता से निगमित होती है। विभिन्न दार्शनिक तन्त्रों की परस्पर व्यावर्तक विशेषता क्या है-उनका कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त, आत्मा के सम्बन्ध में उनके विचार अथवा वस्तु जगत् के सम्बन्ध में उनके विचार ? प्रो. डी.एन. शास्त्री का कहना है कि यह विशेषता धर्म-धर्मि के बीच के सम्बन्ध विषयक उनके विचार द्वारा अधिशासित होती है। न्यायवैशेषिक दर्शन धर्मधर्मिभेद को स्वीकार करता है।[१३] इसके विपरीत सांख्य का सिद्धान्त धर्मधर्मि- तादात्म्य का है, वहीं बौद्ध धर्ममात्रसद्भाव के सिद्धान्त को मानते हैं जबकि वेदान्ती धर्मिमात्रसद्भाव के सिद्धान्त को। न केवल सम्पूर्ण न्यायवैशेषिक पदार्थव्यवस्था अपितु उसके कारणतादि अन्य दूसरे सिद्धान्तों का आधार यह आधारभूत धर्मधर्मिभेद सिद्धान्त है। धर्मधर्मिभेद सिद्धान्त से तात्पर्य है कि धर्म से पृथक्-धर्मी की, गुण से पृथक् द्रव्य की या अवयवों से अतिरिक्त अवयवी की पृथक् सत्ता है तथा अवयव और अवयवी भिन्न-भिन्न हैं। जब हम किसी वस्तु यथा घट, पट आदि को देखते हैं और उसके अन्दर रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई आदि अनेक गुणों को या हिलने-डुलने आदि की क्रिया देखते हैं तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या वे वस्तु जिसमें गुण, क्रिया आदि अनेक प्रकार के धर्म दिखते हैं वे उन धर्मों से भिन्न हैं। अर्थात् क्या पट और पट का रूप ये दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं अथवा दोनों एक ही वस्तुएँ हैं अथवा कोई अन्य स्थिति है ? नैयायिकों का उपर्युक्त समस्या के समाधान में कहना है कि 'पट' और 'पटरूप' तत्त्वत: दो भिन्न वस्तुएँ हैं यद्यपि वे एक साथ पायी जाती हैं। वे दोनों इतनी भिन्न-भिन्न हैं कि इनके कारण भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस प्रकार 'पट' 'पटरूप' से भिन्न है, उसी प्रकार पट में रहने वाली गति या क्रिया भी पट से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार पट में रहने वाला पटत्व (सामान्य) भी पट से भिन्न है। इन 'रूप' आदि धर्मों से भिन्न सर्वथा पृथक् 'पट' किस प्रकार की वस्तु है, इस पर न्याय कहता है कि रूप आदि धर्मों से भिन्न धर्मी का अनुभव मनुष्य की सामान्य बुद्धि को साक्षात् रूप से होता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार धर्मधर्मिभेद न्यायवैशेषिक समुदाय का आधारभूत सिद्धान्त है। यहाँ बौद्ध, वेदान्ती कह सकते हैं कि यदि 'पट' और 'पटरूप' सर्वथा भिन्न होते तो कभी तो गौ-अश्व के समान अलग-अलग पाये जाते। इस पर न्यायवैशेषिक कहता है कि पट और पटरूप, द्रव्य और गुण, धर्मी और धर्म यद्यपि सर्वथा भिन्न वस्तु हैं, परन्तु इनका यह भी स्वभाव है कि उनमें एक वस्तु ऐसी है जो दूसरी के बिना नहीं पायी जाती। अर्थात् 'पटरूप' पट के बिना कभी नहीं पाया जाता। ऐसी वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। एवंप्रकारेण हम देखते हैं कि न्यायवैशेषिक आचार्य पहले तो दार्शनिक विश्लेषण के द्वारा एक साथ प्रतीत होने वाले द्रव्य और गुण या कर्म को अलग-अलग कर देते हैं, फिर उनको जोड़ने के लिए समवाय नामक एक नए पदार्थ की कल्पना करते हैं। बहरहाल, हम देख सकते है

कि 'समवाय' का सिद्धान्त धर्मधर्मिभेद सिद्धान्त का आनुषंगी सिद्धान्त है। इसी तरह देखा जाए तो इस सिद्धान्त के आधार पर ही द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और समवाय पदार्थों की अवाप्ति होती है। यहाँ सहज ही यह प्रश्न उठता है कि न्यायवैशेषिक दार्शनिक आखिर क्यों द्रव्य और गुण, पट और पटरूप जो वस्तुत: अलग-अलग नहीं प्रतीत होते उनको अलग-अलग कहते हुए उन्हें तत्त्वत: भिन्न बतलाता है और द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय जैसे पदार्थों को अपनी पदार्थव्यवस्था में स्थान देता है। जाहिर है बाह्य जगत् के अस्तित्त्व को मानने के लिए नैयायिकों को यह आवश्यक हो जाता है कि वे धर्मधर्मिभेद स्वीकार करें। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि बाह्यार्थवाद या कहिए कि वस्तुवाद और धर्मधर्मिभेद में कौन सिद्धान्त मौलिक व आधारभूत है ? प्रो. डी.एन. शास्त्री और विश्वम्भर पाहि के अनुसार यह धर्मधर्मिभेद होगा। धर्मधर्मिभेद के आधार पर ही द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय जैसे पदार्थों की प्राप्ति होती है और असत्कार्यवाद जैसे कारणता के सिद्धान्तों का निगमन होता है। पर देखा जाए तो यदि हम आधारभूत सिद्धान्त वस्तुवाद मानें तो जहाँ उससे हमें धर्मधर्मिभेद की प्राप्ति हो जाती है और फलत: द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय जैसे पदार्थों की स्वीकृति के पीछे का तर्क मिल जाता है, वहीं सामान्य और अभाव जैसे पदार्थों की स्वीकृति के पीछे का आधार भी स्पष्ट हो जाता है और सविकल्पक प्रत्यक्षवाद, प्रतिसन्धानवाद आदि की भी सम्यक् व्याख्या हो जाती है।

***

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. *सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता।*
कणाद, वैशेषिक सूत्र - १/२/७

२. *अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु।*
देखें, वहीं, ८/२/३

३. *प्रशस्तपाद, प्रशस्तपादभाष्य, सं. एवं अनु. पं. दुर्गाधर झा, सं. सं. वि.वि., वाराणसी, १९७७, पृ. ४१*

४. *'प्रतीतिभेदाद् भेदोऽस्ति देशभेदस्तु नेष्यते।*
तेनात्र कल्प्यते वृत्ति: समवाय: स उच्यते॥'
जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी, भाग-१, सं. सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९७१, पृ. २८५

५. *धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम्।*
कणाद, वैशेषिक सूत्र, १/१/४

६. *फ्राउवाल्नर, हिस्टरी ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग-२, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७३*

७. *डॉ. शशिप्रभा कुमार, वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरूपण, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९९२, पृ. २४*

८. *कणाद, वैशेषिक सूत्र, १/१/१५*

९. *डी.एन. शास्त्री, क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज्म, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९७४, पृ. ३७५*

१०. *डॉ. शशिप्रभा कुमार, वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरूपण, पृ. ५१४*

११. *देखें, डी.एन. शास्त्री की पुस्तक क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज्म*

१२. *देखें, विश्वम्भर पाहिकृत वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, २०००*

१३. *धर्मश्च धर्मिणो वस्तुतो भिद्यते।*
वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, ३/२/१४
धर्मश्च धर्मिणो भिन्नो न तु धर्मिस्वभाव:।
देखें, वहीं, ३/१/५

परिच्छेद : सत्रह

अम्बिकादत्त शर्मा

अम्बिकादत्त शर्मा

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का जन्म (१९६०) झारखण्ड के चतरा अंचल में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रामीण परिवेश में तथा स्नातक स्तर की शिक्षा राँची विश्वविद्यालय से सम्पन्न हुई। एम.ए. (१९८५), पी-एच.डी. (१९८८) की उपाधि इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त किया है। लगभग १० वर्षों तक शोधोत्तर अध्ययन में संलग्न रहने के पश्चात् डॉ. शर्मा ने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत १९९६ में विनोवा भावे विश्वविद्यालय सेवा से लेक्चरर के रूप में किया और सम्प्रति दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय में रीडर पद पर १९९८ से आसीन हैं। इनकी गणना इस समय देश के उदीयमान अध्येताओं में की जाती है। भारतीय प्रमाण दर्शन, तर्कशास्त्र एवं भाषा दर्शन से सम्बन्धित अपने कुछ महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्धों के द्वारा इन्होंने भारतीय दार्शनिक चिन्तन की युक्त्यनुसारी परम्परा को फिर से दार्शनिक विमर्श का विषय बना दिया है। डॉ. शर्मा की रूचि का विषय बौद्ध दर्शन और उसमें भी विशेषकर उसकी न्यायवादी परम्परा है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति से लेकर रत्नकीर्ति और ज्ञानश्री मित्र तक के न्यायवादी बौद्ध आचार्यों के अति दुरूह दार्शनिक चिन्तन पर लगातार कुछ चर्चित निबन्धों को लिखकर डॉ.शर्मा ने दर्शन की इस धारा को समकालीन दर्शनविदों के समक्ष फिर से जीवन्त कर दिया है। यहाँ ध्यातव्य है कि डॉ. शर्मा दर्शन की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परम्परा द्वारा दीक्षित दर्शनशास्त्री हैं। दर्शन की इस परम्परा को बीसवीं सदी में शास्त्रीय भारतीय दर्शन को अकादमिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय दिया जाता है। पारम्परिक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का कोई भी विवेचन तब तक अधूरा माना जाता है जब तक दर्शन की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परम्परा की चर्चा न की जाय। इस परम्परा के दार्शनिकों में प्रो.टी.आर.वी. मूर्ति (माध्यमिक दर्शन), प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय (भाषा दर्शन), प्रो. ए.के. चटर्जी (योगाचार), प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. (गुरूवर) रेवती रमण पाण्डेय (अद्वैतवेदान्त), प्रो. कमलाकर मिश्र एवं प्रो. एल.एन. शर्मा (काश्मीर शैव), प्रो. के. एन. मिश्र (वाल्लभ वेदान्त), प्रो. आर.आर. द्राविड एवं प्रो. हर्षनारायण (न्याय-वैशेषिक) ने परम्परागत भारतीय दर्शनों की मौलिक एवं विश्लेषणात्मक व्याख्या के द्वारा इन्हें बीसवीं सदी की प्रवाहमान दार्शनिक चिन्तन धारा के रूप में पुर्नप्रतिष्ठित किया है। इसी परम्परा की कड़ी को आगे बढ़ाते हुए डॉ.शर्मा न्यायवादी बौद्ध परम्परा के गहरे मन्थन में संलग्न होकर अपनी दर्शन-साधना को अग्रसारित करते हुए दार्शनिक त्रैमासिक के कार्यकारी सम्पादक, उन्मीलन के प्रबन्ध सम्पादक और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के मंत्री के रूप में दर्शन के संस्थागत और संगठनात्मक दायित्वों का भी सफलतापूर्वक निर्वहन कर रहे हैं।

*

अनुभव की तर्कबुद्धिपरक संपरीक्षा और आत्माद्वैत प्रतिष्ठा

शांकर वेदान्त की मौलिक प्रस्थापना 'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या' है। ब्रह्म सबके द्वारा अन्तर्ज्ञात सत्ता का अनुभवातीत स्वरूप और जगत् अनुभवपूर्व अविद्या द्वारा ब्रह्म-विवर्तन का विश्व इतिहास है। ब्रह्म विवर्तन का अविद्यात्मक विश्व इतिहास कोई ब्रह्म का स्वत: दूषण नहीं, वरन् यह मिथ्यात्व की भी मिथ्यता है।[1] इसलिए वेदान्त का सत् त्रिकालाबाधित है। वह वैसा ही था जैसा वह है, और वैसा ही रहेगा जैसा वह था। देश, काल और वस्तु से अनन्त इस सत् में सभी प्रकार के सम्भाव्य परिवर्तनों का पूर्ण अभाव "अव्ययीभाव" उसका तात्त्विक स्वरूप है। वेदान्त की ऐसी तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापना कदाचित् गहन रहस्यवाद प्रतीत हो सकती है; लेकिन वेदान्त के प्रति ऐसी द्रृष्टि शंकर की दार्शनिक चेतना के साथ न्याय नहीं कर सकती। यह स्वात्म बोध रहित कोई वैचारिक प्रलाप मात्र नहीं है। वेदान्त का अद्वैतवाद एक ओर तो अनुभूति का विषय है तो दूसरी ओर तर्कबुद्धि द्वारा सत्य की अन्वीक्षा की चरम परिणति है। इसलिए प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि विषय और विषयी के द्वैत में चैतन्य का वैविध्यपूर्ण यह स्थूल और सूक्ष्म जगत् मिथ्या है। इसे केवल प्रत्यक्षात्मक मूल्य की सीमा में ही यथार्थ स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु यही अन्तिम नहीं है। प्रत्यक्षात्मक अनुभव की तर्कबुद्धिपरक संपरीक्षा को उस सीमा तक पहुँचाया जा सकता है जहाँ अद्वैतसत् समस्त द्वैत अनुभव की अन्तर्वस्तु के रूप में प्राप्त होता है या नेति-नेति की अन्तिम परिणति में अनुपलब्धि प्रमाण से सर्वातीत रूप में इंगित होता है।

I

शांकर वेदान्त के अनुसार अनुभव के विभिन्न प्रकार हैं और उसकी विभिन्न अवस्थायें होती हैं। अनुभव की अवस्थाओं में सुषुप्ति, स्वप्न, जागृत और तुरीयावस्था प्रसिद्ध है। यहाँ आचार्य शंकर की एक विशेषता परिलक्षित होती है - वे केवल इन्द्रियानुभव को ही संज्ञानात्मक स्वीकार नहीं करते बल्कि अनुभव की सभी अवस्थाओं तक ज्ञानमीमांसीय समीक्षा को विस्तारित करते हैं। तर्कबुद्धि द्वारा अनुभव की सम्यक् संपरीक्षा के लिए अनुभव की संज्ञानात्मकता का ऐसा विस्तार तर्कबुद्धिपरक ज्ञानमीमांसा की सैद्धान्तिक आवश्यकता है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि एक प्रकार का अनुभव दूसरे प्रकार के अनुभव की निवृत्ति कर देता है। घट बुद्धि से पट बुद्धि निवृत्त हो जाती है। उसी प्रकार अनुभव की एक अवस्था अनुभव की दूसरी अवस्था का बाध कर देती है। सुषुप्ति, स्वप्नावस्था से बाधित हो जाती है, और स्वप्नावस्था का बाध जागृतावस्था में हो जाता है और प्रतिलोभ में देखें तो जागृतावस्था का बाध स्वप्नावस्था में और स्वप्न का बाध सुषुप्ति में हो जाता है। तुरीय एक अतिक्रामी अवस्था है। इस प्रकार अनुभव के बाधित होने से उस आनुभविक स्तर पर गृहीत सत्ता का भी बाध होता है जो उनकी अयथार्थता का द्योतक है। अत: अनुभव की एक विशेष अवस्था में प्रतीत होने वाला सत् अन्तिम नहीं कहा जा सकता। बाध की इस प्रक्रिया में अन्तत: अद्वैत-सत् की प्राप्ति हो सकती है जो

कुछ नहीं आत्मा ही है। आत्मा ही स्वयं प्रकाशमान है। इसलिए वही अपने यथार्थ स्वरूप में प्रत्यक्षयोग्य[२] एक मात्र त्रिकालबाधित सत् है। क्योंकि चैतन्य स्वरूप आत्मा अनुभव की किसी भी अवस्था में व्यभिचरित नहीं होती। यह तो सभी प्रकार के अनुभवों का पूर्वाधार है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने सुषुप्तिकाल में ज्ञेय के अभाव से ज्ञान के अभाव की कल्पना करते हुए चैतन्य का व्यभिचार बताया है। वह युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि ज्ञान का अभाव और चैतन्य का अभाव दोनों अलग-अलग बातें हैं। ज्ञेय विषय के अभाव में ज्ञानाभाव ज्ञापित होने के लिए भी एक ज्ञान की आवश्यकता है। इसलिए अधिष्ठान चैतन्य का व्यभिचार तो वदतोव्याघात है।[३]

अब यहाँ विचारणीय है कि जिस प्रकार सुषुप्ति (अविभेदित प्रपंच गर्भित) काल का अनुभव और स्वप्नावस्था के अनुभव (जिसमें विषय और विषयी नितान्त काल्पनिक भूमिका में होते हैं) क्रमश: जागृतावस्था के अनुभव से बाधित हो जाते हैं, उसी प्रकार क्या जागृतावस्था (सामान्य और सार्वजनिक) के अनुभव का बाध दिखाया जा सकता है ? क्या जागृतावस्था से भी आधारभूत एवं अन्तर्वैक्तिक अनुभव का कोई संज्ञानात्मक स्तर सर्वसामान्यतया सुलभ है, जिसके आधार पर जागृतावस्था का बाध बोधित होता हो ? निश्चय ही जागृतावस्था का बाधक कोई वैसा स्फुटतर संज्ञानात्मक अनुभव प्राप्त नहीं है। तुरीयावस्था या ब्रह्मज्ञान की अवस्था को भी इसके लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस स्थिति में जागृतावस्था के बाध का स्मृतिबोध भी सम्भव नहीं। तुरीयावस्था या ब्रह्मज्ञान की अवस्थिति ही ऐसी है। तब क्या सुषुप्ति और स्वप्नावस्था के बाध के आधार पर उपमानात्मक सादृश्य के हेतु से "जागृतावस्था का बाध होना चाहिए" इसे तार्किक अनिवार्यता प्रदान की जा सकती है ? इसके लिए स्वप्नावस्था और जागृतावस्था में समान "दृश्यता" और "परिछिन्नता" के हेतु से जागृतावस्था के बाध और वैतथ्य को अनुमानात्मक अनिवार्यता प्रदान किया जाय तो भी यह ठीक नहीं, क्योंकि इस हेतु का व्यतिरेक विनियोग स्वप्नावस्था को भी सत्य सिद्ध कर सकता है। यदि उक्त हेतु का व्यतिरेक विनियोग दोषपूर्ण है तो उसका अन्वय विनियोग भी उतना ही दोषपूर्ण होगा। यदि जागृतावस्था के सामान्य अनुभव का बाध दिखाने के लिए हम सामान्य अनुभव की व्याख्या में भ्रम की स्थिति को सम्मिलित करें और कहें कि सामान्य अनुभव में भ्रम होता है, तब भी सामान्य अनुभव का समग्रता में प्रतिषेध सम्भव नहीं, क्योंकि भ्रम के बाध से हम सामान्य अनुभव का अतिक्रमण नहीं कर जाते हैं, बल्कि सामान्य अनुभव की सीमा में ही होते हैं। सामान्य अनुभव की व्याख्या में "भ्रम" का महत्त्व मात्र इतना ही है कि वह सामान्य अनुभव की चरम सत्यता पर प्रश्न चिन्ह तो लगा ही देता है। परन्तु यदि सामान्य अनुभव समग्र रूप से भ्रमपूर्ण है तो कोई इसकी भ्रान्ति को जान ही कैसे सकता है। वस्तुत: सामान्य अनुभव की व्याख्या में तर्कबुद्धि के प्रयोग के लिए यहीं अवकाश है। सामान्य अनुभव की तर्कबुद्धिपरक संपरीक्षा के द्वारा ही इसकी सत्यता और वैतथ्य ज्ञापित हो सकता है। इस स्थिति में सत् और असत् के स्वरूप निर्धारण में बुद्धि ही प्रमाण है।[४] दूसरी और यदि सामान्य अनुभव ही चरम सत्य है तो उसकी व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं होती। यह तो सर्वसुलभ और सहज है जहाँ दूसरों से असहमत होने के लिए अवकाश ही नहीं। सामान्य अनुभव को चरम सत्य मानकर दर्शन की बात करना मिथ्याभिमान ही होगा। सामान्य अनुभव के दार्शनिक निरूपण की आवश्यकता तो तब होती है जब हम सामान्य अनुभव के विश्वासों पर मनन करते हैं और उसमें व्याप्त अन्तर्विरोधों को देखने में समर्थ होते हैं। सामान्य अनुभव में व्याप्त अन्तर्विरोधों की तर्कबुद्धिपरक अन्तर्दृष्टि के साथ ही वास्तव में दार्शनिक चेतना का उदय होता है और सर्वाङ्ग-संगत सत् के निज रूप के अन्वेषण में ही इसका पर्यवसान होता है। सामान्य अनुभव में व्याप्त अन्तर्विरोधों को जानकर तर्कबुद्धि उसके शमन के लिए सामान्य अनुभव के कुछ विश्वासों का निषेध कर देती है। यह निषेध की

प्रक्रिया जहाँ अपनी तार्किक सीमा को प्राप्त होती है, वहाँ सामान्य अनुभव का सत् अपनी सम्पूर्णता में रूपान्तरित हो जाता है। इसलिए वेदान्त पर यह दोषारोपण कि वह सामान्य अनुभव का अपलाप करता है, उचित नहीं। हाँ, वैसे विचारक इसे सामान्य अनुभव का प्रतिकूल बता सकते हैं जिनमें सामान्य अनुभव के नेपथ्य में देखने की अन्तर्दृष्टि का अभाव हो। अद्वैतवेदान्त तो सामान्य अनुभव की तर्कबुद्धिपरक संपरीक्षा का परिणाम है, जहाँ सामान्य अनुभव में गृहीत भौतिक सत् वैतथ्य को प्राप्त होता है। इस वैतथ्य को जानकर व समझकर भी हम इसका अतिक्रमण नहीं कर पाते हैं, वरन् इसी वैतथ्य में व्यवहार की सम्पूर्ण भूमिका निभायी जाती है। यही हमारे जीवन से बंधा हुआ अज्ञान का तत्त्वमीमांसीय लंगर है। ऐसी स्थिति में तर्कबुद्धि का कार्य मात्र इतना ही है कि वह आनुभविक जगत् की यथार्थता में हमारे विश्वास को उसकी संरचनागत असंगतियों को उजागर करते हुए इस प्रकार उपस्थापित करे कि आनुभविक जगत् को यापित और ज्ञापित करते हुए भी कोई उसकी सत्यता पर विश्वास न कर सके। यथा, हम अलातचक्र को देखते हुए भी अलातचक्र की यथार्थता पर विश्वास न कर अलातमात्र को यथार्थ समझते हैं।

II

इस प्रकार सामान्य अनुभव की समीक्षा के लिए हमें आनुभविक जगत् की यथार्थता पर संदेह करना होगा। शंकराचार्य द्वारा भ्रान्ति की दार्शनिक व्याख्या आनुभविक जगत् की यथार्थता पर संदेह का ही उपोद्घात है। संदेह करते हुए हम कह सकते हैं कि जब हम आनुभविक जगत् के किसी अंश को जानने का कार्य करते हैं तो वस्तुत: सत् को न जानकर उसे आच्छादित या विकृत कर रहे होते हैं। हमारे सभी अवबोध भ्रान्त संबोध हैं। इसके विपरीत आनुभविक जगत् की यथार्थता को प्रत्यक्ष ज्ञान का सम्बल प्रदान किया जाता है। प्रत्यक्षात्मक रूप से हम जो कुछ भी जानते हैं उसे किसी न किसी अर्थ में यथार्थ स्वीकार किया जाता है। लेकिन, प्रत्यक्ष की तर्कबुद्धिपरक संपरीक्षा में कोई भी प्रत्यक्ष प्रत्यक्षीकृत वस्तु के सर्वथा यथार्थ होने की प्रमाणता प्राप्त नहीं कर सकता है। आखिर प्रत्यक्ष द्वारा हम क्या जानते हैं ? हम जो जानते हैं, वह बाह्यवस्तुओं का विज्ञान हो सकता है। परन्तु यह विज्ञान वस्तु का सच्चा प्रतिरूप है, इसे किस प्रकार तार्किक अनिवार्यता प्रदान की जा सकती है ? निश्चय ही, विज्ञान और वस्तु की तुलना के लिए हमारे पास कोई प्रामाणिक मानदण्ड नहीं है। जिस प्रकार की तुलना हम दो भौतिक वस्तुओं में करते हैं, उसी प्रकार की तुलना भौतिक वस्तु और उसके विज्ञान में सम्भव नहीं है। हम जो जानते हैं, वह प्रत्यय न होकर स्वयं सत् ही हो सकता है। परन्तु, इसका प्रमाण क्या है ? इसे क्या हम अपने ही विश्वास की हामी भरना नहीं कह सकते हैं ? पुन: इसका प्रमाण क्या है कि हमारा ज्ञान सत् में हस्तक्षेप नहीं करता ? त्रुटि और भ्रम को हम नकार नहीं सकते हैं। यदि वस्तुयें सत् हैं तो इस त्रुटि का कारण स्वयं वस्तुसत् नहीं हो सकता। वस्तुसत् को क्या पड़ा है कि वह ज्ञाता को छले ! यदि उस त्रुटि का कारण विषयीपरक हस्तक्षेप है तो स्वयं विषयी के अन्दर ही इसे दूर करने का संदेहरहित मानदण्ड होना चाहिए, नहीं तो सत्य और मिथ्या के बीच का भेद ही सदा-सर्वदा के लिए विलुप्त हो जायेगा। यदि मानदण्ड प्राप्त हो, या हो जाय, तो हम त्रुटि करेंगे ही क्यों ? अत: वस्तुसत् की सत्यता स्वयं-सिद्ध नहीं है। हम जो जानते हैं, वह सत् न होकर उसका आभास हो सकता है। तब तो आभास को जानने के साथ-साथ हमें यह भी जानना होगा कि इससे परे इसका मूल सत् भी कुछ है। यह एक ऐसी अवधारणा होगी जिसमें सत् का संकेत तो है लेकिन उसका ज्ञान नहीं है। के.सी. भट्टाचार्य ने इसी अर्थ में परमार्थ सत् को ज्ञेय नहीं चिन्तनीय कहा है। परन्तु सर्वातीत सत् का यह संकेत उसके यथार्थज्ञान के बिना हो ही कैसे सकता है ? सत्-विषयक ऐसी विसंगत धारणा से तर्कबुद्धि कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती और न ही इस मौलिक अभाव की पूर्ति ही कर सकती है। यहाँ हम कह सकते हैं कि तर्कबुद्धि सत् का निर्माता

तो हो ही सकती है - परन्तु तर्कबुद्धि को सत् का निर्माता नहीं होना चाहिए। यह उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर की बात है। समीक्षा ही उसकी पवित्र सीमा है। अपनी पवित्र सीमा में तर्कबुद्धि इस अवधारणा की वकालत करते हुए मात्र इतना ही कह सकती है कि सत् वह नहीं जो सम्भाव्य समस्त ज्ञान से परे हो, और कोरी कल्पना भी सत् नहीं, वरन् आभास में सत् समिश्रित होता है। सभी ज्ञान न्यूनाधिक रूप में सत्य ही हैं। लेकिन, ऐसी स्थिति में सत्य और मिथ्या के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं होगी। तब तो सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत् समझने की सम्भावना बराबर बनी रहेगी। यदि हम इसके निर्धारण के लिए अविरोध, संसक्तता और स्वतोव्याघात से मुक्त तथा व्यवहार के लिए मूल्यवान आदि मानदण्ड अपनायें, तब भी यह मानदण्ड ज्ञान के अन्तर्गत ही होगा और ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तुसत् का प्रतिपादन नहीं हो पायेगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष की कैसी भी अवधारणा ज्ञान से स्वतन्त्र भौतिक जगत् में वस्तुसत् की अस्तिता की सम्यक् प्रमाणता का स्वांग नहीं भर सकती है। ऐसी स्थिति में या तो प्रत्यक्ष प्रत्यक्षेण असम्प्रत्यक्ष होगा या प्रत्यक्ष का पर्यवसान अज्ञेयवाद में होगा। प्रत्यक्ष प्रत्यक्षेण असम्प्रत्यक्ष हो सकता है परन्तु प्रत्यक्ष का अज्ञेयवाद में पर्यवसान स्वतोव्याघात है। जहाँ विधि-निषेध के लिए कोई अवकाश नहीं वहाँ केवल आत्मवाद स्वीकार करने में ही लाघव है। इस स्थिति में सभी प्रमाणों की अनुपलब्धि होने पर स्वयं सर्वदा उपलब्ध आत्मसत् ही अनुपलब्धि प्रमाण और प्रमेय हो जाता है।

III

यदि हम स्वीकार कर लें कि प्रत्यक्ष वस्तुसत् की प्रमाणता का हामी नहीं भर सकता तब ऐसा स्वीकार कर लेने मात्र से क्या सामान्य अनुभव में गृहीत वस्तुसत् का उच्छेद हो जाता है ? सभी को ज्ञात है कि प्रत्यक्ष आवश्यक रूप से वैषयिक होता है। स्वभावत: हमें प्रदत्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। इसमें विषयीगत स्वतन्त्रता का अभाव होता है। वेदान्त भी अपनी ज्ञानमीमांसा में 'ज्ञानं वस्तुतन्त्रम्' को स्वीकार करता है। हम किसी वस्तु का मनचाहा प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। यदि इन्द्रियाँ जाग्रत हों तो दृश्य क्षेत्र की सीमा में हम प्रत्यक्ष के लिए बाध्य होते हैं। स्वयं विषय ही यह बाध्यता प्रदान करते हुए प्रतीत होते हैं। यह बाध्यता सांकल्पिक नहीं वरन्, तथ्यात्मक है। लेकिन इस तथ्यात्मक बाध्यता का कारक केवल विषय ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में विषय और विषयी दोनों परस्पर होते हैं। विषयी को अन्त:करण से युक्त भी होना पड़ता है। यदि अन्त:करण को न माना जाय तो 'नित्योपलब्धि-अनुपलब्धि' का विरोध प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। विषय और विषयी के परस्पर योगदान से ही प्रत्यक्ष बनता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित कर पाना कठिन है कि प्रत्यक्ष में कितना भाग विषयीपरक है और कितना अंश विषयपरक आदान-प्रदान है। अनिश्चय की इस दशा में वैषयिक बाध्यता को हम क्या अर्थ देगें ? प्रत्यक्ष में आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का विग्रह किये बिना हम स्पष्ट तौर पर नहीं कह सकते हैं कि जिस वस्तु को हम जैसा मानते हैं, विषय ने हमें वैसा ही जानने के लिए बाध्य किया है अथवा नहीं और किया भी है तो किस सीमा तक। अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष उस वस्तु के सन्दर्भ में पूर्णतया सत्य ही होता है। फिर, भ्रान्ति और संशय के उदाहरण इस बात पर निषेधाधिकार का प्रयोग करते हुए वैषयिक बाध्यता की संभावना को निरस्त कर देते हैं कि विषय वस्तुत: वैसा ही है जैसा हम इसके होने का प्रत्यक्ष करते हैं। लेकिन यदि यही स्वीकार किया जाय कि प्रत्यक्ष में वैषयिक बाध्यता का अभाव होता है तब तो प्रत्यक्ष विषयक हमारी स्वतन्त्रता अप्रतिबन्धित होनी चाहिए। यदि सचमुच प्रत्यक्ष अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता का प्रसंग है तो हमें वस्तुसत् को जानने की भी भ्रांति नहीं होनी चाहिए। लेकिन हम वस्तुसत् को जानते हैं। अत: विषय का ज्ञान पर बाध्यकारी प्रभाव अवश्य है। इस बाध्यकारिता के लिए विषय को ज्ञान से पृथक् एवं स्वतन्त्र

अवश्य होना पड़ेगा। यह तभी हो सकता है जब हम विषय की ज्ञात और अज्ञात स्थिति में तादात्म्य माने। ऐसे तादात्म्य को स्वीकार करना, बिना जाने हुए जानने का विश्वास नहीं तो और क्या है ? इसलिए ज्ञान में प्रतीत होने वाली वैषयिक बाध्यता स्वयं ज्ञान के अन्दर है ज्ञान से बाहर नहीं। ज्ञान से बाहर वस्तुसत् अलीक है और वस्तुनिष्ठ रूप में हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुनिष्ठ रूप से हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष तो करते हैं लेकिन स्वयं वस्तुनिष्ठता का प्रत्यक्ष नहीं होता। अत: ज्ञान में आचरित वस्तुनिष्ठता प्रागनुभविक है, जो काण्ट की भाषा में सम्पूर्ण आनुभविक जगत् का निर्माण करने वाली बुद्धि की वर्गणायें हैं और शंकर की भाषा में जो अनादि अविद्या है। प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति ने ठीक ही कहा है कि शंकर का अज्ञान विषयक अन्वेषण अनुभव की प्रागनुभविक अवस्थिति का सर्वेक्षण है।[5] अतएव नील-पीत वस्तुओं का नील-पीतरूपेण प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि वस्तुयें नील-पीत होती हैं, बल्कि नील-पीत वस्तुयें हमारे प्रत्यक्ष के कारण नील-पीत होती हैं। शंकर भी प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में यही दिखाते हैं कि एक ही चैतन्य मात्र है जो प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय में विभक्त होता है। शुद्ध चैतन्य ही अन्त:करण पर आरूढ़ होकर इन्द्रियों के माध्यम से विषयाकार होता है। यहाँ चैतन्य किसी वस्तु की सृष्टि नहीं करता, न ही किसी वस्तुसत् से युक्त हो उसके आकार में परिणत होता है, बल्कि चैतन्य ही अज्ञान के कारण वस्तु के रूप में प्रतीत होता है। सामान्य अनुभव की वस्तुओं की दत्तता और वहि:स्थता संवेदन का कार्य है। यह बात नहीं कि वस्तुयें पहले से वर्तमान और दत्त होती हैं और बाद में उनकी संवेदना होती है। वस्तुओं की बहि:स्थता और दत्तता संवेदन से स्वतन्त्र नहीं हैं। बहिस्थता संवेदन का भ्रम है, जिसके आधार पर विचारणा बाह्य यथार्थता के रूप में उसकी व्याख्या करती है। यदि वस्तुयें सचमुच किसी बाह्य देश में बाह्यतया प्रदत्त होतीं तो हम उन्हीं वस्तुओं को कभी स्वप्न में नहीं देख पाते। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् हमारे ऐन्द्रिय-मन की सृष्टि हैं। हमारा यह विश्वास मात्र है कि जगत् हमसे बाह्य और यथार्थ है। यह विश्वास कोई आनुभविक विश्वास नहीं वरन् इसका उत्स अनुभवपूर्व अनादि अज्ञान है, अविद्या है।

IV

यहाँ तक हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि विषय जगत् यथार्थ नहीं है। यह विषयीनिष्ठ है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सत् का स्वरूप आत्मनिष्ठ है ? नहीं। विषय और विषयी दोनों परस्पर सापेक्षिक हैं। एक का निषेध दूसरे के निषेध को भी आवश्यक रूप से आमंत्रित करता है। अत: सत् को विषय और विषयी दोनों से परे होना चाहिए। यह परकोटिक सत् विषयातीत है - शुद्ध, बुद्ध, मुक्त विषयी है। इसे तर्कबुद्धि ज्ञान के विश्लेषण से सहज ही प्राप्त कर लेती है। क्योंकि ज्ञान में यदि विषय का संकेत होता है तो यह विषयी को भी सांकेतित करता है। इसकी व्याख्या के लिए हमें ज्ञान में एक स्वयंप्रकाश तत्त्व को स्वीकार करना होगा। स्वयंप्रकाश तत्व को माने बिना विषय बोध के लिए आवश्यक स्वयंबोध की व्याख्या नहीं हो सकती। सभी बोध में स्वयंबोध के प्रतिबोध बिना ज्ञाता ही निश्चित नहीं हो पायगा तो ज्ञेय किस प्रकार निश्चित होगा ? अत: ज्ञान में आचरित विषय-बोध प्रतिबोध विदित और स्वयंबोध के लिए दोनों का साक्षी, स्वयंप्रकाश, स्वयंसिद्ध-आत्मसत् को स्वीकार करना ही होगा। यही स्वयंप्रकाश, स्वयंसिद्ध, आत्मतत्व सबके द्वारा अन्त:प्रज्ञात्मक रूप से ज्ञात सत् का अनुभवातीत स्व-स्वरूप है। अद्वैतवेदान्त में आत्मस्वरूप साक्षी चैतन्य अपने मूल स्वरूप में इच्छात्मक अथवा क्रियात्मक चैतन्य नहीं बल्कि ज्ञानात्मक चैतन्य है। नित्य कूटस्थ चैतन्य से ही सब कुछ ज्ञाततया-अज्ञाततया भासित होते हैं परन्तु जो भासित होता है उसका बाध भी होता है, अबाधित तो केवल वह है जो सबका साक्षी होते हुए सबका अतिक्रामी है।

***

संदर्भ सूची

१. मधुसूदन सरस्वती, अद्वैत, सिद्धि-मिथ्याया: मिथ्यात्व।
२. चित्सुखाचार्य, चित्सुखी-अवेद्यत्वेसति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्।
३. शंकराचार्य, प्रश्नोप. ६९ माण्डूक्योप. -६/२-तदभावस्था ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्ते:।
४. शंकराचार्य, ब्र. सू. भा. २/१/११-एतदपि हि तर्काणां प्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते, और कठ.उ.भा.-बुद्धिनि न: प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे।
५. प्रो. टी.आर. वी. मूर्ति-अज्ञान-पृ. १२२
६. शंकराचार्य-केनोप.भा.-२/४ सर्वे प्रत्यया: विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबोध्यते सर्वप्रत्यदर्शी.......... अत: प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा तदा तन्मतं तत्सम्यग्दर्शन मित्यर्थ:।

साक्षित्वंद्वितीयासङ्गतेर्भवेत्

हमारा जीवन और जगत् तमस से आच्छादित सर्वथा कोई अन्ध अवस्था नहीं, बल्कि ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित है। इस ज्ञानमय प्रकाश के मूल स्रोत की जिज्ञासा में आर्ष प्रज्ञा एक ज्योतिर्मय तत्त्व की प्रतिष्ठा में उपशान्त होती है। श्रुतियों का उद्घोष है-"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।" यही ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश तत्त्व अपनी लोक भूमिका में सम्पूर्ण जगत् का साक्षी होता है। सम्पूर्ण लोकप्रदर्शन का मूल सन्दर्भ होना ही स्वयंप्रकाश तत्त्व का साक्षित्व है। साक्षी शब्द का साधारण अर्थ "साक्षात् द्रष्टा" होता है (साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्)। सीमित सन्दर्भों में हम सभी साक्षात् द्रष्टा कहे जा सकते हैं, परन्तु साक्षात् द्रष्टा के रूप में साक्षी की संकल्पना का कुछ विशेष अर्थ है। इसकी विशिष्टता इस भाव में निहित है कि यह सम्पूर्ण जगत् को अद्यतन एवं अद्यावधि अपना साक्षित्व प्रदान करते हुए स्वयं नितान्त असंग एवं अतिक्रामी बना रहता है। अतएव इसका लक्षण "द्रष्टत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्" किया गया है। यह सीमित सन्दर्भों में घटित होने वाले और साथ ही अघटित द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की आवश्यक पूर्वमान्यता है। ऐसी पूर्वमान्यता जिसका स्वरूप मात्र तार्किक आकार का न होकर तात्त्विक भी है। उपनिषदों में एतद्विषयक अनेक सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। परवर्ती दार्शनिक साहित्य में विभिन्न तत्त्वशास्त्रीय एवं ज्ञानमीमांसीय प्रवृत्तियों के अनुरूप साक्षी की संकल्पना का विकास हुआ है। कतिपय विरोध एवं समानान्तर सिद्धान्त भी प्रतिपादित किये गये हैं। अन्तत: इस अवधारणा का चूड़ान्त विकास अद्वैत वेदान्त की परम्परा में देखने को मिलता है। वास्तव में साक्षी की संकल्पना का सर्वाधिक महत्त्व भी इसी परम्परा के लिए है। अद्वैती तत्त्वमीमांसा की आन्तरिक आवश्यकता के रूप में इसके अनेक आयाम सामने आये, जो अपने साथ कुछ सम्प्रदायगत एवं बाह्य विवादों को भी साथ लाये हैं।

I

उपनिषदों में ब्रह्म, कूटस्थ, ईश्वर, अन्तरात्मा, अन्तर्यामी, स्वयंज्योति, आत्मज्योति, प्राज्ञ, द्रष्टा और विज्ञाता जैसे अनेक पद साक्षी के समानार्थी एवं समानान्तर प्रयुक्त हुए हैं। बृहदारण्यक (३/४/१) के "यत् साक्षात् अपरोक्षाद् ब्रह्म" नामक श्रुति को साक्षी की अवधारणा का गुह्य सूत्र कहा जा सकता है। यहाँ ब्रह्म सभी भूतों में व्याप्त सर्वान्तरात्मा के रूप में निरूपित हुआ है। यह श्रुति पारिभाषिक रूप में साक्षी की अवधारणा को सद्य: व्यक्त करने के बजाय अभेदवाद को प्रमुखतया प्रस्तावित करती है। परन्तु सर्वान्तरात्मा पद साक्षी और ब्रह्म दोनों के लिए समान रूप से प्रयुक्त हो सकता है। साक्षी पद का सर्वप्रथम प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/११) में देखने को मिलता है। वहाँ साक्षी की संकल्पना समस्त प्राणियों में स्थित एक देव के रूप में की गई है, जो सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरामा, कर्मों का अधिष्ठाता, सर्वभूताधिवासी, सबका साक्षी और अपने स्वरूप में चेता, केवल और निर्गुण है। इस श्रुति में साक्षी पद के साथ चेता:, केवल: एवं निर्गुण: जैसे ब्रह्मबोधक शब्द कहे गये हैं। साथ ही साथ उसे कर्मों का अधिष्ठाता भी बताया गया है। अत: यहाँ साक्षी की संकल्पना ब्रह्मबोधक एवं

ईश्वर वाचक दोनों हैं। इसी उपनिषद् में अन्यत्र दो पक्षियों के दृष्टान्त द्वारा (४/६, ४/७) भोक्ता जीव और द्रष्टा ईश्वर में भेद करते हुए ईश्वर को ही जीवमात्र के भोक्तृत्व का साक्षी कहा गया है। माण्डूक्योपनिषद् (१/३/५) में ब्रह्म के त्रिविध पादों के रूप में वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ नामक आत्मा की तीन अवस्थाएँ वर्णित हैं। तीनों अवस्थाओं में प्राज्ञ को साक्षी कहा जा सकता है, लेकिन पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से यहाँ भी साक्षित्व ईश्वर में ही घटित होता है। कठोपनिषद् में संसारी आत्मा एवं शुद्ध-बुद्ध आत्मा में भेद करते हुए आत्मा अर्थात् ब्रह्म को ही सर्वसाक्षी या सर्वदृक् (३/४) कहा गया है। यहाँ ब्रह्म का साक्षित्व इस अर्थ में है कि जब देखने के लिए कुछ भी नहीं होता तब भी ब्रह्म अपने स्वरूप में द्रष्टामात्र बना ही रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् (८/११/१) में अनुभव की सभी अवस्थाओं से आत्मा की अनन्यता बताते हुए अमृतात्मा के रूप में साक्षी की अवधारणा की गई है। अमृतात्मा ही जागृतावस्था में चक्षु के द्वारा देखती है और वही बिना चक्षु के स्वप्न देखती है। सुषुप्तावस्था में वही आत्मा स्वप्न भी नहीं देखती, फिर भी उसका अभाव नहीं होता है। तैत्तिरीय (२/१) एवं प्रश्नोपनिषद् (६/२) में भी कतिपय ऐसे उद्धरण प्राप्त होते हैं, जहाँ परिवर्तनशील अनुभवों को संश्लेषित करने वाले पूर्वाधार के रूप में आत्मा को निरूपित किया गया है। इन उद्धरणों में आत्मा के लिए साक्षी शब्द प्रयुक्त नहीं भी हुआ है, फिर भी ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से आत्मा की साक्षीपरक भूमिका के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। आत्मा के साक्षित्व की तात्त्विक स्थिति एवं ज्ञानमीमांसीय भूमिका का सर्वाधिक गम्भीर विवेचन बृहदारण्यक (४/३/६, ४/३/९) उपनिषद् में हुआ है। वहाँ आत्मा की अभिव्यंजना, आत्मज्योति और स्वयंज्योति के रूप में की गई है। आत्मा स्वयं अज्ञात् होते हुए सबका ज्ञाता है। जो सबका ज्ञाता है, उसे किस प्रकार जाना जा सकता है। ऐसे ही परवर्ती उपनिषदों में भी इन्द्रिय, मन, प्राण बुद्धि और तमस् इत्यादि का साक्षी ब्रह्म अर्थात् आत्मा को ही कहा गया है। सर्वसारोपनिषद् (९) के अनुसार ज्ञान तथा ज्ञेय के आविर्भाव और तिरोभाव का साक्षी स्वयं आविर्भाव एवं तिरोभाव से रहित स्वयंप्रकाश विशुद्ध आत्मा ही है।

II

इस प्रकार हम देखते हैं कि औपनिषदक साहित्य में साक्षी की अवधारणा को व्यापक रूप से और बहु-आयामिक रूप में प्रस्तावित किया गया है। प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त श्रुतियों में साक्षी के लिए प्रयुक्त पदावलियों को एकार्थवाची रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्या ? अथवा इन सभी पदों को एक अन्तर-अवधारणात्मक योजना में क्या समायोजित नहीं किया जा सकता है ? यदि इनके वास्तविक तात्पर्य एवं पारस्परिक सम्बन्ध को तत्त्वमीमांसा की उस पृष्ठभूमि में निर्धारित करने का प्रयास किया जाय, जिसका विकास उपनिषदों से लेकर अद्वैतवेदान्त तक हुआ है, तो भी किसी एक बिन्दु पर स्थिर होना कठिन ही प्रतीत होता है। स्वयं अद्वैतवेदान्त के शांकरपूर्व एवं शांकरोत्तर व्याख्याकारों ने एक ही चैतन्य तत्त्व की विभिन्न स्थितियों को साक्षी के रूप में निरूपित किया है। प्रकृत प्रसंग में एक और अनेक साक्षी का विवाद भी समस्या को कम दुरूह नहीं बनाता है। प्रथम दृष्टया अद्वितीय ब्रह्म में साक्षित्व असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि साक्षी को द्वितीय संगति की नियत अपेक्षा रहती है। ब्रह्म के अतिरिक्त जब कुछ है ही नहीं तो वह किसका साक्षी होगा ? जहाँ देखने के लिए इतर किसी भाव पदार्थ का अवकाश ही नहीं वहाँ देखना और नहीं देखना दोनों एकमेव हो जाते हैं। ब्रह्म तो सर्वथा तुरीय है। तुरीय होने से वह सम्बन्धातीत है। सम्बन्धातीत स्थिति में तो अज्ञान का प्रकाशन भी सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ वस्तुत: अज्ञान है ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि अज्ञान से उपहित कूटस्थ आत्मा साक्षी है, क्योंकि उपहित से तात्पर्य साक्षी में अज्ञानमूलक ज्ञाता-ज्ञेय भाव होते हुए भी उसका चिन्मात्र स्वरूप ही रहना है,तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि कूटस्थ आत्मा द्वारा अज्ञान का प्रकाश या अज्ञान के प्रति कूटस्थ का साक्षित्व मानने पर अज्ञान में पारमार्थिकत्व की आपत्ति होगी। इस प्रकार या अन्य

प्रकार से कोई भी द्वैतापत्ति अद्वैत ब्रह्म के लिए सर्वथा असह्य है। दूसरी और अद्वैतवाद में कूटस्थ ब्रह्म तो अधिष्ठान तत्त्व है। सब कुछ उसके बाद ही है, उससे पहले कुछ भी नहीं (धाता यथा पूर्वमकल्पयत्)। ऐसा अपूर्व पूर्व धाता ही सभी परवर्तियों का साक्षी अथवा प्रकाशक हो सकता है। चेतना की कोई भी अवस्था जो धाता का पश्चात्वर्ती हो, सर्वसाक्षी नहीं हो सकता है। साक्षी को सर्वसाक्षी के रूप में स्वीकार किये बिना साक्षी की अवधारणा और उसका महत्त्व ही गौण हो जाता है। अत: यह एक जटिल स्थिति है कि अद्वैत ब्रह्म में साक्षित्व द्वितीय के अभाव के कारण असंगत है और सर्वसाक्षी केवल ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि वही सर्वाधिष्ठान होने से अपूर्व पूर्व धाता है।

यदि अद्वैतवेदान्त के परिप्रेक्ष्य में इस समस्या पर विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही चैतन्य तत्त्व के सन्दर्भ में सम्पूर्ण वैविध्य की सुसंगत व्याख्या करना ही अद्वैतवेदान्त की मूलभूत समस्या रही है। इस आलोक में साक्षी विषयक अधिकांश आकर स्थलों एवं मतवैभिन्न्य को एक अन्तर-अवधारणात्मक योजना में समयोजित किया जा सकता है, क्योंकि अधिकांश आकर स्थल चैतन्य वैविध्य को ही दर्शाते हुए एकत्व को प्रस्तावित करते प्रतीत होते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण वैविध्य को एक ही चैतन्य तत्त्व के स्तरीकरण एवं श्रेणीबद्ध विन्यास में दिखाया जाय। अद्वैतवेदान्त में अविद्या एवं अविद्यामूलक उपाधि की अवधारणा इसी प्रयोजन को पूरा करती है। अवधेय है कि एक ही चैतन्यतत्त्व के अविद्योपहित स्तरीकरण एवं श्रेणीबद्ध विन्यास में उसकी प्रस्थिति एवं भूमिका अलग-अलग हो सकती है, लेकिन सभी स्थितियों में, कम से कम, उसका स्वयंप्रकाशत्व अक्षुण्ण रहना चाहिए। अत: स्वयंप्रकाशत्व को चैतन्य वैविध्य में व्याप्त एक अन्तर-अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यही साक्षी की संकल्पना का मूलाधार भी है, क्योंकि चैतन्य वैविध्य का विन्यास ही पर्याप्त नहीं, उसे प्रकाशित भी होना चाहिए। इस तरह साक्षी की अन्यान्य स्थितियों की कल्पना की जा सकती है। वह व्यष्टि एवं समष्टि साक्षी दोनों हो सकता है, लेकिन सब कुछ होते हुए भी उसका स्वयंप्रकाशत्व अपरिहार्य है। अद्वैतवेदान्त की तत्त्वमीमांसीय योजना में चैतन्य की विभिन्न स्थितियाँ तो उपाधिमात्र है, जबकि स्वयंप्रकाशत्व तो उसका स्वरूप ही है। उपाधियों के द्वारा किसी वस्तु का स्वरूप उस अर्थ में परिच्छिन्न नहीं होता जिस अर्थ में विशेषण किसी वस्तु को सीमित कर देते हैं। यही कारण है कि चैतन्य (ब्रह्म) उपाधिमूलक वैविध्य में प्रदर्शित होते हुए उसे प्रकाशित भी करता है। इस प्रकार चैतन्य तत्त्व "ब्रह्म" की अविद्योपहित उपाधि भेद के सन्दर्भ में सम्पूर्ण प्रपंचात्मक वैविध्य को व्याख्यायित करने पर "कूटस्थत्वं न साक्षित्वं द्वितीयासङ्गतेर्भवेत्" का विरोध प्रसंग वास्तव में उपस्थित नहीं होता है।

III

वस्तुत: उपनिषदों से लेकर अद्वैतवेदान्त पर्यन्त जिस तत्त्वमीमांसा का विकास हुआ है, उसकी मूलभूत मान्यता यह रही है कि परिवर्तनशील समस्त अनुभवों का अधिष्ठान एक कूटस्थ स्वयंप्रकाश तत्त्व को स्वीकार किये बिना अनुभव प्रकाश की व्याख्या नहीं हो सकती है। साक्षी की अवधारणा का निहितार्थ भी समस्त अनुभवों के प्रकाशन में ही निहित है। यही अद्वैतवेदान्त में जानने की प्रक्रिया का मौलिक अधिष्ठान भी है। इस रूप में साक्षी की अवधारणा को वस्तुनिष्ठता के व्यापक सिद्धान्त के रूप में भी समझा जा सकता है। आनुभविक स्तर पर किसी वस्तु का ज्ञान होना देश-काल और परिस्थिति विशेष में उस वस्तु को ज्ञात और अज्ञात नामक द्विविध स्थितियों को प्रस्तावित करना है। इस सन्दर्भ में बहुत-सी दार्शनिक समस्याएँ उपस्थापित होती हैं। क्या कोई वस्तु ज्ञान से प्रकाशित होने के पूर्व सत्तावान् नहीं रहती है ? क्या कोई वस्तु ज्ञात होने के साथ ही सत्तालाभ करती है ? यदि नहीं, तो अज्ञात स्थिति में भी वस्तु-सत्ता का साक्षी होना चाहिए। वास्तव में वस्तु-सत्ता को उसके अज्ञात स्थिति में सिद्ध करना कोई आसान कार्य नहीं है। अज्ञात स्थिति में वस्तुओं की सत्ता के विरोध में न केवल प्रश्न, बल्कि युक्तियों के एक तंत्र का निर्माण भी किया जा सकता है। इतिविषयक इतना तो कहा

ही जा सकता है कि अज्ञात स्थिति में वस्तु-सत्ता का निषेध और विधान दोनों में ही समान रूप से तार्किक कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं। इस कठिनाई से बाहर निकलकर वस्तु-सत्ता का विधान करने के लिए ज्ञान की वस्तुतंत्रता का प्रस्ताव ही पर्याप्त नहीं है। सम्पूर्ण जगत् की वस्तुनिष्ठ स्वीकृति के लिए उसके ज्ञात और अज्ञात स्थिति का प्रकाशन आवश्यक है। ऐसा प्रकाशन किसी आनुभविक ज्ञाता के द्वारा नहीं हो सकता, जो ज्ञान की प्रक्रिया में संलग्न रहते हुए स्वयं एक पक्ष होता है। अनेक ज्ञाता और ज्ञान परम्परा तथा ज्ञान की अज्ञात अवस्था की स्वीकृति (नैयायिकों का व्यवसायात्मक ज्ञान जो ज्ञात होते हुए असंवित् रहता है) से भी इस समस्या का अन्तिम समाधान सम्भव नहीं है। इसके लिए एक उच्चस्तरीय ज्ञाता की आवश्यकता है। ऐसा ज्ञाता, जिसे साधारण अर्थों में ज्ञाता कहना भी उचित नहीं। उसे नित्य द्रष्टा या साक्षी ही कहा जा सकता है। प्रमाता किसी वस्तु को ज्ञात रूप में ही जानता है, जबकि साक्षी के द्वारा उस वस्तु के ज्ञात और अज्ञात दोनों ही पक्ष भासित होते हैं। अतएव प्रमाता के ज्ञान में द्विगुण प्रकाश माना जाता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्मत साक्षी की अवधारणा वस्तुनिष्ठता के एक व्यापक सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। इसे वस्तुनिष्ठता के ज्ञाता सापेक्ष सिद्धान्त के रूप में नहीं समझना चाहिए। वस्तु-सत्ता साक्षी सापेक्ष नहीं, वह तो वस्तुओं का उदासीन द्रष्टा मात्र है। वस्तु-सत्ता की सापेक्षता अथवा मिथ्यात्व तो उनके बाधित होने से फलित होता है। हमारे समस्त अनुभव जिसके प्रकाश में प्रकाशित होते हैं वही अनुभाव्य की व्यावहारिक वस्तुनिष्ठता का व्यापक आधार और साक्षी हो सकता है।

IV

अद्वैतवेदान्त में साक्षी की अवधारणा का सर्वाधिक महत्त्व अनुभव प्रकाश की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त के रूप में है। अनुभविता और अनुभाव्य के ढाँचे में जिस अनुभव के द्वारा जागतिक वस्तुएँ प्रकाशित होती है, उस अनुभव को भी अभिज्ञात होना चाहिए। किसी वस्तु का अनुभव करते हुए इस बात से बिलकुल अनभिज्ञ रहना कि मुझे अनुभव हो रहा है, कुछ भी अनुभव नहीं करने के बराबर है। अतएव अनुभव को अवश्य ही अभिज्ञात होना चाहिए। इसे एक सीमा तक सभी दार्शनिक सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं। परन्तु यह कैसे ज्ञात होता है, इस प्रश्न को लेकर दार्शनिकों के मध्य गम्भीर मतभेद हैं। यह बात अनुभव सिद्ध है कि हम अपने आप को किसी वस्तु को जानने के प्रारूप में नहीं जानते हैं। अतएव विषय का ज्ञान सदैव पर रूप में होता है। अब यदि ज्ञान को भी अभिज्ञात होना चाहिए, तो क्या ज्ञान का ज्ञान भी पर रूप में होना आवश्यक है ? इस प्रसंग में केवल विज्ञानवादी बौद्ध ही स्पष्ट रूप से ज्ञान का स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं। (स्वरूपवेदनाया: अन्यद् वेदकं न व्यपेक्षते) उनके अनुसार प्रत्येक चेतना का स्वचेतना होना एक अनिवार्य स्थिति है। इसे नहीं स्वीकार करने पर जगदान्ध प्रसंग और साथ ही साथ विषयान्तर संचार की अप्रसक्ति अवश्यम्भावी है (प्रत्यक्षोपलम्भस्यनार्थद्रष्टि प्रसिध्यति)। वस्तुत: बौद्धों के साकार विज्ञानवाद में चित्त की उपलब्धि सदैव स्वसंवित्त रूप में ही होती है। निराकार विज्ञान मानो चित्त की अनुपलब्ध अवस्था है, जहाँ चित्त अचित्त सा हो जाता है (अचित्तो अनुपलब्धोऽसौ)। नैयायिक और भाट्ट मीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि जहाँ तक ज्ञेयता का प्रश्न है, चाहे वह वस्तु हो अथवा ज्ञान, उसे पररूपेण ही वेद्य होना चाहिए। नैयायिकों के लिए ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होने वाला आगन्तुक गुण है। अतएव उसका ग्रहण अनुव्यवसाय रूप मानस् प्रत्यक्ष से हो जाता है। यह मानस् प्रत्यक्ष द्वितीय स्तरीय प्रत्यक्ष है। भाट्ट मीमांसक ज्ञातता नामक धर्म की उपपत्ति विषय में स्वीकार करते हैं। एतावता ज्ञान का ग्रहण परोक्षत: होता है। त्रिपुटी प्रत्यक्षवादी प्राभाकर ज्ञान का ग्रहण संवेद्यतया नहीं, बल्कि संवित्तया स्वीकार करते हैं। इनके मत में संवेद्य और संवित् शब्द के अर्थ में सूक्ष्म भेद द्रष्टव्य है। अद्वैतवेदान्ती इन सभी अभ्युपगमों के पृथक् एवं परे ज्ञान को साक्षीवेद्य बताते हैं।

स्वयंप्रकाश साक्षी से इतर अनुभव प्रकाश की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों की समीक्षा की जाय तो वैसे सभी सिद्धान्त ज्ञान में वेद्यता का प्रतिपादन करते हुए अवश्य प्रतीत होते हैं। यह बात अलग है कि कोई ज्ञान को स्वसंवेद्य तो कोई ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। यदि ज्ञान को ज्ञानान्तर से वेद्य माना जाय तो अनवस्था की दुर्निवार प्रसक्ति आवश्यक है। नैयायिक इस अनवस्था को व्यवहारोच्छेक नहीं मानते हैं, जबकि यह मूलोच्छेक तो है ही। उनकी दृष्टि में ज्ञान के कारणभूत विषयों की उपलब्धि से ही व्यवहार सम्पादन हो जाता है। ज्ञान का ज्ञात होना नितान्त अपेक्षित नहीं है। वस्तुत: ऐसी स्वीकृति नैयायिकों का अज्ञात ज्ञान के प्रति अनावश्यक मोह ही कहा जा सकता है। व्यवहार संचार को एक यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में देखना जीवन के वैचारिक पक्ष की अवहेलना है। व्यवहार केवल क्रिया नहीं, बल्कि विचारों का आदान-प्रदान भी उसमें सम्मिलित है। यह सब कुछ ज्ञात ज्ञान की अवस्था में ही सम्भव है। अनुभूति की स्वरूप सत्ता जो अज्ञात होने के कारण निष्प्राण और निष्प्रमाण है, उससे व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि नैयायिकों की अनवस्था से बचने के लिए बौद्धों का पक्ष स्वीकार किया जाय तो वह भी कोई अच्छा विकल्प नहीं है। पर वेदन के बदले स्वात्मवेदन को स्वीकार करने पर कर्तृ-कर्म विरोध की तार्किक कठिनाई उत्पन्न होती है। बौद्धों के पक्ष पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो इस दोष का परिहार किया जा सकता है, तथापि इनके विरोध में कर्तृ-कर्म विरोध का खूब प्रचार किया गया है। वास्तव में इसका कारण यह था कि स्वसंवेदन को स्वीकार कर लेने पर सहोपलम्भ नियम के चलते ज्ञान से पृथक् एवं परे वस्तु-सत्ता का प्रतिपादन कठिन हो जाता है। अतएव प्रतिपक्षियों का इसके खण्डन के प्रति अवान्तर उद्देश्य से मुखर होना स्वाभाविक ही था। अवधेय है कि स्वसंवेदनवाद में वेदन पद की व्याख्या "अपरोक्ष व्यवहार योग्यता" के रूप में की जा सकती है और परवर्ती बौद्ध नैयायिकों ने ऐसा किया भी है (स्वरूप वेदनाया: अन्यद्वेदकं न व्यपेक्षते। न च अविदितं अस्ति इत्यर्थोऽयं स्वसंविद:), तथापि इसे एक समर्थ सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। बौद्धसम्मत स्वसंवेदनवाद की वास्तविक कठिनाई क्षणिक विज्ञानवाद के सन्दर्भ में विचारणीय है। क्षणिक विज्ञान स्वरूपत: अपरोक्ष होते हुए भी स्वयं की उत्पत्ति एवं विनाश का साक्षी नहीं हो सकता, तो वह सर्वसाक्षी क्या होगा। ज्ञान कोई विविक्त संवेदनों का पुंजमात्र नहीं, एक सार्थक संश्लेषण है। अत: परिवर्तनशील अनुभवों के प्रकाशन के लिए मूल में कूटस्थ, शाश्वत् एवं स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व को स्वीकार करने में ही लाघव है। यही हमारे ज्ञान में आचरित विषय बोध और प्रतिबोध विदित "स्वयं बोध" का साक्षी होता है। समस्त प्रतीतियाँ इसी का विषय और इसी के प्रकाश में प्रकाशित होती हैं।

V

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साक्षी चैतन्य की संकल्पना अद्वैतवेदान्त की तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी व्याप्ति उपाधिमूलक चैतन्य वैविध्य से लेकर घट-पट के अनुभवों के प्रकाशन तक है। ज्ञात-अज्ञात सभी वस्तुओं को साक्षीभास मनाने का लाघव यह है कि जहाँ नैयायिक वस्तु की अज्ञात अवस्था को स्वीकार करते हैं और उसके ज्ञात होने के लिए अनुव्यवसाय रूप ज्ञानान्तर की कल्पना करने के कारण दुर्निवार अनवस्था के भागी होते हैं, वहीं बौद्ध, वस्तु की कोई अज्ञात अवस्था स्वीकार नहीं करते, और तब उनके लिए ज्ञान से पृथक् वस्तुसत्ता की अस्वीकृति "सहोपलम्भ" के कारण आसान हो जाती है। अद्वैतवेदान्त में वस्तु की ज्ञात-अज्ञात दोनों ही स्थितियों का प्रकाशन साक्षी के द्वारा सम्भव होने के कारण (सर्ववस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्य विषय एव) उन्हें न तो नैयायिकों की तरह दुर्निवार अनवस्था का भागी होना पड़ता है और न ही बौद्धों की तरह ज्ञान की वस्तुतंत्रता को तिलाञ्जली देनी पड़ती है।

***

परिशिष्ट : एक

आचार्य श्यामनोहर गोस्वामी

आचार्य श्याममनोहर गोस्वामी

आत्म परिचय

***पूर्वज सन्दर्भ** : आन्ध्रदेशीय कृष्णयजुर्वेदान्तर्गततैत्तिरीयशाखाध्यायी भारद्वाजगोत्रीय शुद्धाद्वैतब्रह्मवाद - पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य (विक्रमसंवत् : १५३५-१५८७) की वंश परम्परा में सोलहवीं पीढ़ी पर। **जन्मतिथि** : २६/६/१९४०। **जन्म स्थल** : मुंबई- महाराष्ट्र। **माता-पिता** : श्रीमती जानकी तथा गोस्वामी श्रीदीक्षित 'विठ्ठलनाथ'। **परिवार** : पितामह : गोस्वामी श्री गोकुलनाथजी महाराज, श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्राविड़ और काशी के पण्डितों द्वारा स्थापित 'वर्णाश्रमस्वराज्यसंघ' की अध्यक्षता की। व्याकरण वेदान्त संगीत चित्रकला आदि अनेक विषयों में पारंगत, अतीव प्रभावशाली धर्माचार्य। इनके प्रथमात्मज गो. श्री कृष्णजीवन जी न्यायशास्त्राध्येता स्वातन्त्र्यसंग्राम में हिन्दुमहासभा के साथ जुड़े। द्वितीयात्मज गो. श्री दीक्षित 'विठ्ठलनाथ' जी शांकररामानुजमाध्ववेदान्तों का अध्ययन दक्षिण में रहकर श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री जी (शांकरवेदान्त) श्रीनावल्पाकं नृसिंहाचार्य जी तथा कपिस्थलं देशिकाचार्य जी (रामानुजवेदान्त) श्रीसत्यध्यानतीर्थ स्वामीजी तथा श्री यज्ञविठ्ठलाचार्य जी (माध्ववेदान्त) के पास अध्ययन किया। श्रीराहुल सांकृत्यायन (बौद्धधर्मदर्शन) तथा हकीम मिर्जा हैदरबेग (कुर्आन तथा फारसी सूफीमत) के पास भी अध्ययन किया। स्वातन्त्र्यपूर्व किशनगढ़ रियासत के राज्यगुरु कोटा स्थित गो. श्री जीवनलाल जी के दिवंगत होने पर उनकी पत्नी श्रीमती प्रभावती द्वारा उत्तराधिकारी बनाये जाने पर राज्य गुरु माने गये। भारत स्वातन्त्र्यसंग्राम में श्री शरच्चन्द्र बोस, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री राममनोहर लोहिया आदि समाजवादिओं के साथ जुड़े। तृतीयात्मज गो. श्री गोपीनाथ जी भारतीय चित्रकला में प्रवीण तथा गायत्रीमन्त्रोपदेष्टा मेरे दीक्षागुरु। चतुर्थात्मज गो. श्री मुकुन्दराय जी प्रसिद्ध वीणावादक, मेरे संगीतगुरु। शेष तीन और पितृव्य सातों भाई, अब दिवंगत। **मेरा अध्ययन** : नौवें दसवें वर्ष की अवधि में माथुर श्री चन्द्रशेखर शास्त्री चतुर्वेदी जी के पास गणित ज्योतिष सीखा तथा नरसिंहगढ़ के एक हस्तरेखाविद के पास सामुद्रिक ज्योतिष भी सीखा। ग्यारह और बारह वर्ष की अवधि में : पञ्चतन्त्र - लघुकौमुदी श्रीकमलापति त्रिपाठी जी के पास नाशिक में रह कर अध्ययन किया। पुन: मुबई लौटने पर चौदहवें वर्ष में उपनयन के बाद अट्ठारह वर्ष पर्यन्त आन्ध्रप्रदेशीय श्री बालकृष्ण पण्डितजी के पास वेदाध्ययन। पितृचरण गो. श्रीदीक्षित जी के पास वल्लभसम्प्रदाय के धर्मदर्शनग्रन्थों का पांक्तालापनविधिपूर्वक अध्ययन तथा सभामतिक-सविवरण ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के अध्यासभाष्य अंशका दो वर्ष पर्यन्त अध्ययन। इसी दरमियान श्रीकृष्णमाधव झा पण्डितजी के पास तर्कसंग्रह, सिद्धान्तकौमुदी (पूर्वार्ध), रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय मुद्राराक्षस, उत्तररामचरित्र, काव्यप्रकाश आदि सभी के दो-दो तीन-तीन सर्गों एवं अंकों का अध्ययन। बीस से छब्बीस वर्ष पर्यन्त करांची से मुंबई आकर बसनेवाले श्रीधर्मदेव जेटली जी के पास सांख्यतत्त्वकौमुदी, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, आपोदेवी वेदान्तपरिभाषा, सिद्धान्तबिन्दु, सिद्धान्तलेशसंग्रह विवरणप्रमेयसंग्रह, खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, आदि ग्रन्थों का पांक्तालापनविधि से अध्ययन। कलकत्ता की प्रथमा परीक्षा में निजी परीक्षार्थी बन कर दी, परीक्षा उत्तीर्ण होने पर सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष में वाराणसी में हरिश्चन्द्र कॉलेज में प्रवेशपूर्वक इंटर आर्टस् परीक्षा में उत्तीर्ण, तथा इसी दरमियान मीमांसारत्न श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री जी (हि.वि.वि.) के पास भाट्टदीपिका का निजी अध्ययन। उनत्तीस-तीस वर्षों में मुम्बई-विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में बी.ए. अध्ययन कर परीक्षा में उत्तीर्ण। इकत्तीस-बत्तीस वर्षों में ग्रीकदर्शन, बर्ट्रेंड रसेल्, सिम्बॉलिक लॉजिक तथा मनोविज्ञान विषय लेकर मुंबई वि.वि. की एम.ए. कक्षा में अध्ययन किया परन्तु परीक्षा नहीं दे पाया। **उपलब्धि** : तैंतीस-चौंतीसवें वर्षों में अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् की मुखपत्रिका "श्रीवल्लभविज्ञान" का सम्पादन। श्रीवल्लभ पञ्जशतीमहोत्सव-सन् अठहत्तर से आरंभ कर सन् दो हजार चार पर्यन्त अद्यावधि वल्लभसम्प्रदाय में पच्चीस-छब्बीस पुष्टिभक्तिमार्गीय धर्मग्रन्थों तथा शुद्धाद्वैतब्रह्मवादी वेदान्तग्रंथों का सम्पादन-प्रकाशन। अध्ययनार्थी छात्रों का अध्यापन तथा सम्प्रदायानुगामी जनसाधारण के बीच सार्वजनिक सुविचारित प्रवचनोपदेश। **विफलता** : वल्लभ सम्प्रदाय के नवयुवक गोस्वामिओं द्वारा सन् १९९२ जनवरी दि. १०-१३ में आयोजित त्रिदिवसीय अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक चर्चासभा में "पुष्टिभक्तिमार्गीय आराधनाप्रणाली पुष्टिमार्गीय धर्माचार्यों की भक्ति साधना होती है न कि आजीविका के उपार्जन का साधन" इस विवादास्पद मुद्दे के हेतु सैद्धान्तिक आचार्य वचनावली विचार्य विषयवाक्यतया प्रस्तुत कर प्रमुख चर्चाकार बना। किन्तु चर्चा को, अनिर्णीत घोषित कर समाप्त करवा देने की कूटनीति के कारण महाप्रभु के सिद्धान्त को सर्वमान्य घोषित नहीं करवा पाया। तबसे अधिकांश कुलबन्धुओं के कोप या निन्दा का भाजन बनना पड़ा। **सहधर्मचारिणी** : झालावाड़निवासी 'कविकिंकरो' पनाम श्रीगिरिधारी भट्ट की आत्मजा श्रीमती लक्ष्मी। **रुचि** : तुलनात्मक धर्म-दर्शन-विज्ञान, व्रजभाषा-हिन्दी-गुजराती-उर्दू-फारसी आदि भाषा के काव्य, इतिहास, भारतीय शास्त्रीय संगीत, विश्वचित्रकला तथा बोनसाई। **सन्तती** : तीन पुत्रियाँ १. उदयपुरवास्तव्या श्रीमती दिवा दर्शनशास्त्र में एम.ए. २. राजकोटवास्तव्या श्रीमती हर्षदा बी.काम. ३. अमरीकावास्तव्या सुश्री लिप्सा, मास्टर इन कम्प्यूटर साईंस, प्रोग्रामर-मेनेजर। **मनोवृत्ति** : बेनियाजाना हरेक राहसे गुजरा भी करो, शौके-नज्जारा जो ठहराये तो ठहरा भी करो। इतने शाइस्ताए आदाबे-मुहब्बत न बनो, शौके-दीदार अगर है तो तकाजा भी करो। सीन-ए-इश्क तमन्नाओं का मदफन तो नहीं, शिकवा उठता है अगर दिल में तो शिकवा भी करो। **वर्तमान निवास** : (१) ६३, स्वस्तिक सोसायटी, ४ था रस्ता, जुहुस्कीम, पारले, मुंबई ४०० ०५६. (२) अडेल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यमार्ग, नया शहर, किशनगढ़, अजमेर ३०५ ८०२।*

⁂

भारतीय दर्शन के विकास में योजनाबद्धता के शास्त्रीय प्रारूप

उपक्रम

विभिन्न विचारधाराओं की विकास रेखा को मापने का मानदण्ड केवल कालिक पौर्वापर्य ही नहीं होता। इसी तरह सभी प्रकार की विचारधाराओं के द्वारा प्रस्तावित प्रत्ययों की विकास रेखा को हेगेलियन वादी वाद, विसंवाद और संवाद की क्रमिकताओं में भी माप सकना सर्वदा सम्भव नहीं हो पाता। तत्तद् विचारों के आध्यात्मिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक आदि परिवेशों के प्रभावों और आवश्यकताओं की अनेक विधता विभिन्न दार्शनिक प्रत्ययों की विकास रेखा को पर्याप्त जटिल बना देते हैं। पूर्वकालीन प्रत्ययों के कारणीभूत, कार्यीभूत, अंगीभूत, अंगभूत, निराश्यभूत अथवा निरासकीयभूत अपरकालीन प्रत्ययों के विचारार्थ ये प्रभाव और आवश्यकता तत्तद् विचारकों को उकसाते हुए पाये जाते हैं।

इन दार्शनिक प्रत्ययों के परस्पर जन्यजनकादिभाव भी सर्वत्र पदार्थशास्त्रीय या ज्ञानशास्त्रीय क्रमिकता का अनुसरण करते ही हों ऐसा अनिवार्य नहीं होता। ज्ञानमीमांसकीय प्रत्ययों को पदार्थ-मीमांसीय प्रत्ययों के बोधक हेतुतया स्वीकारना आवश्यक होना चाहिए था, दर्शन का इतिहास, परन्तु, इसकी गवाही सार्वदिक तथ्य के रूप में नहीं देता। उदाहरणतया जगत्कर्ता ईश्वर का प्रत्यय भारतीय दर्शनों में पहले से विद्यमान या स्वीकृत रहा ही होगा, परन्तु ऐसे ईश्वर के शब्दैकगम्य होने की अथवा अनुमितिगम्य भी होने की धारणा, चार्वाक, बौद्ध या जैन सदृश अनीश्वरवादी दर्शनों के द्वारा की गई आलोचनाओं के प्रत्याख्यानार्थ प्रकट हुई होगी, यह सहज सम्भव लगता है। अत: सिद्ध होता है कि जगत्कर्ता ईश्वर का पदार्थमीमांसकीय प्रत्यय पूर्व सिद्ध हो सकता है और ऐसे प्रत्यय का शब्दैकसिद्ध या अनुमितिसिद्ध होना "मेयार्थैव मानसिद्धि:" होकर उत्तरकालिक प्रत्यय भी हो सकता है। यों "मानाधीना मेयसिद्धि:" के मानदण्डों की ऐतिहासिक अवहेलना द्वारा ही यह सम्भव हुआ होना चाहिए।

तत्तन्मतों में स्वीकृत प्रमाकरणों के प्रामाण्य का प्रत्यय एक अंगी रूप प्रत्यय होता है, और प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत: होता है या परत:, यह तो प्रामाण्य का अंगभूत प्रत्यय होता है। पुन: दर्शन का इतिहास ही इसकी सच्ची गवाही दे पायेगा कि अंगीभूत तत्तत् प्रमाणों के प्रामाण्य का प्रत्यय क्या पूर्वकालिक नहीं था ? क्या प्रामाण्य के घटक तदंगभूत स्वतस्त्व या परतस्त्व के प्रत्यय उत्तरकालिक विकास नहीं थे ? अर्थात् अंगीभूत प्रामाण्य प्रत्यय पहले से ही सिद्धवत्तया स्वीकृत था और उसके घटक अंगभूत प्रत्यय बाद में विचारी गई उपपत्ति थी ! स्पष्ट है कि घटक अंगों के पूर्ववर्ती होने के नियम की अवहेलना द्वारा ही यह संभव हो पाया।

अत: मानवीय चिन्तन प्रणाली में रहे इस लचीलेपन को कि यहाँ तार्किक क्रमों का अनुसरण, राजाज्ञा अथवा किन्हीं अकाट्य तर्कों के नियमों के बन्धन में बंध कर नहीं किया जाता है, ऐसा एक बार स्वीकार लेनेपर अनुभवत:, तर्कत: या कालत: व्यौत्क्रमिक विकास भी सम्भव हो ही सकता है ; यह

तथ्य प्रकट हो जाता है। इस संदर्भ में सर्वथा अविस्मरणीय तथ्य यही है कि भारतीय दर्शन का विकास चाहे योजनाबद्ध रीति से हुआ हो या न हुआ हो परन्तु उसके विकास की प्रक्रिया में अनेकविध योजनाबद्धता कथंचित् प्रकट तो हुई ही हैं, इस तथ्य को भुलाया भी नहीं जाना चाहिए, संक्षेप में बस इतना ही हमारे इस आलेख का प्रतिपाद्यसार है।

इस संक्षिप्त प्राथमिक स्पष्टीकरण के साथ पूर्वकाल में भी जो भारतप्रभव विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं को योजनाबद्ध करने के प्रयास हुए, उन पर भी थोड़ा बहुत ध्यानाकर्षण भारतीय दर्शन के अवान्तर और भावी विकास के लिए उपयोगी हो सकता है।

प्रथमदृष्टि :

विक्रम पांचवें शतक के अन्त में षड्दर्शनसमुच्चयकार श्रीहरिभद्रसूरी की "दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभि: । बौद्धं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा जैमिनीयञ्च नामानि दर्शनानाम् अमूनि अहो"[१] जैसी उक्ति के वशात् एक अनालोचित केवल परिगणनैकमूल अन्यथा निर्मूल धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि भारतीय दर्शनों के छह प्रकार होते हैं! इन मतभेदों की परिगणना में चार्वाक तथा वेदान्त दर्शनों के जैसी महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं का अन्तर्भाव किसमें स्वीकार किया जाय, यह ज्ञात न हो पाने के कारण न जाने कब से एक दूसरी धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि इस देश में छह आस्तिक, अर्थात् वेदप्रामाण्यवादी दर्शन हुए हैं, और छह ही नास्तिक, अर्थात् वेदाप्रामाण्यवादी दर्शन हुए हैं।[२] ऐसी धारणा, परन्तु न तो सुस्पष्ट लगती है और न उपपन्न ही। क्योंकि बौद्धागमीय ब्रह्मजालसुत्तान्तर्गत मिच्छादिट्ठिट्ठानानि प्रकरण में जिन बासठ तथाकथित मिथ्यादृष्टियों का निरूपण किया गया है[३], उनका इन बारह तरह की दार्शनिक विचारधाराओं में अन्तर्भाव या समावेश कहाँ-कैसे शक्य हो सकता है, इस बारे में यह वर्गीकरण मौन है। अत: न तो यह योजना सर्वग्राहिणी लगती है और न सुस्पष्ट ही।

द्वितीयदृष्टि :

इसके बजाय तो उक्त ब्रह्मजालसुत्त में वर्णित धारणाओं में से केवल मतपरिगणनार्थ प्रयुक्त संख्याओं की उपेक्षा भी कर दें तो भी कुछ स्थूल वर्गीकृत धारणाओं के वर्ग इस तरह सोचे जा सकते हैं:

१. शाश्वतवाद/अशाश्वतवाद/अंशत: शाश्वतवाद

२. अनन्तवाद/अन्तवाद/अन्तानन्तवाद या अंशतो अनन्तवाद

३. उत्तरानर्हप्रश्न (अमराविक्षेप)वाद/उत्तरार्हप्रश्नवाद/अंशतो उत्तरानर्हप्रश्नवाद

४. निर्हेतुकोत्पत्ति (स्वभावोत्पत्ति)वाद/सहेतुकोत्पत्तिवाद/अंशतो निर्हेतुकोत्पत्तिवाद

५. मरणोत्तरसञ्ज्ञीवाद/मरणोत्तरासञ्ज्ञीवाद/मरणोत्तर नैव-सञ्ज्ञी-नासञ्ज्ञीवाद

६. दैहिकात्मोच्छेदवाद/विदेहमुक्तिवाद/जीवन्मुक्तिवाद[४]

इस तरह वर्गीकृत धारणाओं के अवलोकन करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व भी, भगवान बुद्ध के अनुसार उनके काल में जो मिथ्यादृष्टियाँ थीं, उनकी परिगणना में भगवान ने किसी तरह की योजनाबद्धता को खोजने का एक नितान्त मननीय प्रयास किया था।

तृतीयदृष्टि :

इसके अलावा स्वयं बौद्धों के जो दार्शनिक प्रस्थान भेद विभिन्न संगीतियों के कारण भगवान बुद्ध के पाँचसौ-छहसौ वर्ष में प्रकट हुए, यथा -

१. सर्वास्तित्ववाद

२. बाहयार्थानुमेयवाद

३. बाहयार्थशून्यवाद अर्थात् विज्ञप्तिमात्रास्तित्ववाद

४. बाह्याभ्यन्तरशून्यवाद

ये अवान्तर प्रभेद भी स्वयं दर्शनशास्त्रीय दृष्टियों को योजनाबद्धतया एक चिन्तनप्रणाली के रूप में विकसित करने की एक अनजानी पर गहरी सूझबूझ लगती है। इसमें पुन: हीनयानी चिन्तन को विनेयाधिकारक उपदेश और महायानी चिन्तन को विनीताधिकारक उपदेश मानने की कल्पना भी किसी योजनाबद्धता का ही सुस्पष्ट संकेत करती हुई लगती है।

इन्हें यथाव्याख्यात रूपों में न लेकर एक सामान्य योजना के रूप में निहारने पर इन प्रभेदों में बौद्धेतर वैचारिक दृष्टियों का भी समावेश या अन्तर्भाव सहज सम्भव बन जाता है। यथा सर्वास्तित्त्ववाद के अंतर्गत जैन, न्याय-वैशेशिक, सांख्य, योग, जैमिनिदर्शन के अलावा बादरायणीय प्रस्थानों के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा शांकर वेदान्त का अन्तर्भाव सहज ही समझ में आ सके ऐसा तथ्यत: लगता है। शून्यवाद वैसे बौद्धों का ही अपना चिन्तन माना जाता है, परन्तु शून्यवाद के निरूपण में स्वमतनिरूपण तथा परमतनिराकरण में प्रकट होते शैलीभेद पर लक्ष्य करने से कुछ और भी चित्र उभरता है। क्योंकि स्वतनिरूपण में शून्यवादियों के "अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चै: अप्रपंचितं निर्विकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्"-"न सन्नासन्न सदसन्नचाप्यनुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका: विदु:"[५] उग्दारों के अनुसार शून्य का जो स्वरूप सामने आता है तदनुरूप ही केवलाद्वैतवादियों का स्वयंप्रकाश अवाच्य निर्गुण-निर्धर्मक-निर्विशेष द्वैतविवर्जित ब्रह्म को भी सुखेन सोचा जा सकता है, क्योंकि -

अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति-नास्तीति वा पुन:।
चलस्थिरोभयाभावैर् आवृणोत्येव बालिश: ॥
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृत:।
भगवानाभिर्अस्पृष्टो येन दृष्ट: स सर्वदृक् ॥

स भगवान् आभि: 'अस्ति' - 'नास्ती' त्यादिकोटिभि: चतसृभिरपि अस्पृष्टो 'अस्ती' त्यादिकल्पनाविवर्जित: इत्येद् येन दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेषु औपनिषद: पुरुष: स सर्वदृक् परमार्थपण्डित: इति अर्थ: ।[६]

इस तरह शून्य तथा निर्विशेष ब्रह्म के बीच बौद्धागमगम्य अथवा वेदैकगम्य होने के अलावा और कोई स्पष्ट अन्तर सामने नहीं आ पाता। अत: चतुर्थ दृष्टि में केवलाद्वैतवाद का अन्तर्भाव सोचा जा सकता है।

जहाँ तक परमत के निराकरण का प्रश्न है दोनों ही शून्यवादी तथा केवलाद्वैतवादी व्यावहारिक प्रत्ययों की अनिर्वचनीयता पर तो भार देते ही हैं। केवलाद्वैतवादी वेदान्त में खण्डनखण्डखाद्य और तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी ने केवल "सत्वासत्वाभ्याम् अनिवर्चनीयता" के संयम को निभाने के बजाय प्राचीन न्यायाभिमत पोड़श पदार्थों के बारे में "स्वरूपतो लक्षणानिर्वचनीयता" पर्यन्त तो पार्ष्णिग्रहिता[७] प्रकट की है, वह प्रासंगिकों का ही अनुसरण है। क्योंकि इन और ऐसे अन्य ग्रन्थों में भी व्यवहार को अनिरुक्त ही रखकर निभाने का आग्रह "अस्तीति वदतो ब्रूमो नास्ति सर्व विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूम: सर्वमस्त्यविचारतो, यथा-यथा समारोपा: जायन्ते तत्त्वयोगिन: तथा-तथा समारोपा हन्यन्ते तत्त्वयोगिना"[८] कहने वाले माध्यमिकों का अनुसरण ही लगता है। इस संदर्भ में चन्द्रकीर्ति के "अतो वयमपि आरोपतो व्यवहारसत्ये स्थित्वा व्यवहारार्थ विनेयजनानुरोधेन 'शून्यम्' इत्यपि ब्रूमो 'अशून्यम्' इत्यपि, "नैव शून्यं नाशून्यं इत्यपि ब्रूम:"[९] उद्गार को भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य के न शून्यं न च अशून्यम् अद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धिं ब्रवीमि"[१०] वचनों से तुलना करने पर यह बात उभर कर सामने आ ही जाती है, अत: केवलाद्वैतवेदान्त का अन्तर्भाव शून्यवाद में सोचने पर कोई आपत्तिजनक बात प्रतीत नहीं होती। निष्कर्षत: केवल बाह्यार्थानुमेयवाद ही ऐसी धारणा मानी जा सकती है जिससे

केवल बौद्धों की अपनी ही सिद्ध हो पाती है। क्योंकि प्रत्यक्ष के अन्तर्गत निर्विकल्प और सविकल्प के प्रभेद के बावजूद विकल्पों का भ्रम या प्रमा रूपी प्रत्यक्ष से गम्य ही अन्यों ने स्वीकारा है। एतावता यह सिद्ध होता है कि परवर्ती बौद्ध दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों के विकास को लक्ष्यगत करने पर बौद्धेतर दर्शनों के भी विकास की योजना प्रारूपतया प्रस्तावित हो रही थी।

चतुर्थदृष्टि :

स्वयं जैन दार्शनिकों ने नय-प्रमाण-भेदभिन्न को जब सप्तभंगिमाओं के साथ मंडित किया तब शून्यवादनिरसनीय इन चतुष्कोटियों को अर्थनयरूपा अग्रिम चार : [1]नैगमनय [2]संग्रहनय [3]व्यवहारनय और [4]ऋजुसूत्रनय कोटियों में अन्तर्भावित या समायोजित कर लिया। यहाँ नैयानिक-वैशेषिकों का अन्तर्भाव प्रथम नैगमनय में स्वीकारा गया है। वेदान्ताभिमत अद्वैतवाद के सारे प्रकारों का अन्तर्भाव संग्रहनय के भीतर सोचा गया है। चार्वाकों को व्यवहारनयानुगामी माना गया है। और बौद्धों को ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धि माना गया है"[11]। शब्दनय की अवशिष्ट तीन : [5]शब्दनय [6]समभिरूढनय और [7]एवंभूतनय कोटियाँ और इनके साथ जोड़ दी गई हैं। स्याद्वादमञ्जरीकार श्रीमल्लिषेणसूरी कहते हैं "कोई भी चिन्तक अपना अभिप्राय या तो वाच्यभूत अर्थद्वारा या वाचक शब्द द्वारा प्रकट करता है। अत: प्रमाताओं के अभिप्रायवश अर्थनिरूपण में परायण अर्थनयान्तर्भूत चिन्तक होते हैं। शब्द विचार में प्रवृत्त होने वाले चिन्तक शब्दादि तीन नयों में अन्तर्भूत होते हैं"[12]। सुस्पष्ट है कि यह भी भारतीय दर्शन को किसी एक योजनाबद्धतया देखने की वैचारिक रीति नहीं थी तो और क्या थी ? यहाँ उल्लेखनीय केवल यही है कि नैयायिकों का अन्तर्भाव जो नैगमनय के अन्तर्गत और अद्वयवादियों का अन्तर्भाव जो संग्रहनय के अन्तर्गत किया गया उसके औचित्य से सभी का सहमत होना आवश्यक नहीं लगता। इसके अलावा शून्य पद के वाच्यार्थतया किसी तरह की पञ्चमकोटी का पदार्थ तो स्वयं माध्यमिकों ही अभिप्रेत न होने से अर्थनय के अन्तर्गत तो नहीं परन्तु शब्दनय के अन्तर्गत पाँचवीं कोटि में शून्यता का भी कोई स्थान होना चाहिए था। वह अवशिष्ट तीन कोटियों में भी संग्रहीत नहीं हो पाया है तथा स्वयं आर्हतों के अलावा अवशिष्ट तीन कोटियों में से कम से कम दो धारणाओं को स्वीकारने वाले कोई चिन्तक हुए हों ऐसा ख्याल में आता है। अत: अवशिष्ट तीन धारणाओं में कम से कम दो तो रिक्त वर्ग अर्थात् केवल गणनांकीय सम्भावनाओं पर ही आश्रित प्रतीत होती हैं। यथा -

१. स्यादस्ति = अस्तिदर्शन
२. स्यान्नास्ति = नास्तिदर्शन
३. स्यादस्ति च नास्ति = अस्तिनास्ति दर्शन
४. स्यादवक्तव्यं = उभयतोऽनिर्वचनीयदर्शन
५. स्यादस्ति चावक्तव्यं च = ज्ञेयवस्तु - अनिवर्चनीयदर्शन
६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च = (........)
७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च = (........)

यहाँ यह उल्लेखनीय हो जाता है कि इन सप्त भंगिमाओं को "अस्ति/नास्ति/अस्ति-नास्ति/नास्ति-ननास्ति" के ही केवल विकल्पों में सीमित न रखा जाये और एक वैचारिक मॉडल के रूप में निहारा जाये और विभिन्न दार्शनिक धारणाओं के बीच प्रचलित अन्याय विवादों में इन्हें लागू किया जाये तो सहज ही इस योजना की व्यापकता का पक्ष उभरकर सामने आ जाता है। उदाहरणतया : देहातिरिक्त आत्मास्तित्त्व, रूपादिगुणधर्मानुभूत्यतिरिक्त चेतनास्तित्त्व, कृतकर्मनाशोत्तर, पुण्यपापास्तित्त्व, गुणसंघातिरिक्त द्रव्यास्तित्त्व, द्रव्यातिरिक्त सामान्यास्तित्त्व, उपादानकारणातिरिक्त कार्यास्तित्त्व, अवयवातिरिक्त अवयवस्तित्त्व, निर्विकल्पज्ञानातिरिक्त विकल्पावगाहिप्रमास्तित्त्व,

वाचकव्यापारातिरिक्त वाच्यवस्त्वस्तित्त्व आदि अनेकानेक विवादास्पद विषयों के बारे में चारों या सातों प्रकार के नयों के सापेक्ष स्वीकार की अनेकान्तदृष्टि का अनुमोदन करने पर इस योजना की व्यापकता सहज ही प्रकट हो ही जाती है। यह इदमित्थतया स्वयं आर्हतों को मान्य ही हो ऐसे अभिप्रायवश किया गया विधान नहीं। परन्तु एक सम्भावित योजना की रूपरेखा का केवल निदर्शमात्र है।

पञ्चमदृष्टि :

इसके बाद सर्वदर्शनसंग्रहकार ने जिस तरह से अपने ग्रन्थ में भारतप्रभव अन्यान्य दार्शनिक मान्यताओं को समायोजित किया है, उसमें स्पष्टतया केवलाद्वैत वेदान्त की दृष्टि से उन्हें योजनाबद्ध करने की एक विलक्षण रूपरेखा खोजी जा सकती है। इसका सर्वदर्शनसंग्रह की अपनी भूमिका में श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, सुविशदतया निरूपण किया है। यह प्रतिपादन भी सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थ के प्रत्येक अध्येता के लिये अवश्य अध्येतव्य लगता है। उसका सारांश देना ही अत: इस प्रसंग में उपकारक हो पायेगा। उन्होंने दो तरह से इस क्रम का प्रतिपादन करना चाहा है। यथा -

१. भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं के सर्वप्रथम नास्तिक, आस्तिक दो मूलभेद होते हैं -

नास्तिक :

तदन्तर्गत नास्तिक विचारधारा के आध्यक्षिक और तार्किक ऐसे दो प्रभेद होते हैं। इनमें चार्वाक दर्शन आध्यक्षिक दर्शन है,[१] तार्किक-नास्तिकों के पुन: दो और प्रकार होते है : क्षणिकवादी[२] बौद्ध और स्याद्वादी जैन[३]।

आस्तिक :

आस्तिक विचारधारा के भी मूल में दो प्रभेद होते हैं यथा : सगुणात्मवादी और निर्गुणात्मवादी। इनमें सगुणात्मवादियों के पुन: तार्किक और श्रौत दो उपभेद होते हैं।

इनमें तार्किकों के पुन: दो अवान्तर प्रभेद प्रच्छन्नतार्किक और स्पष्टतार्किक होते हैं। प्रच्छान्नतार्किकों के दो उपभेद प्रच्छन्नद्वैतवादी और स्पष्टद्वैतवादी होते हैं।

इनमें रामानुजदर्शन[४] सगुणात्मवादी $\supset$ प्रच्छन्नतार्किक $\supset$ प्रच्छन्नद्वैतवादी है। माध्व दर्शन[५] सगुणात्मवादी $\supset$ प्रच्छन्नतार्किक $\supset$ स्पष्टद्वैतवादी है।

स्पष्टतार्किकों केअवान्तर प्रभेद भोगसाधनादृष्टवादी और उत्पत्तिसाधनादृष्टवादी होते हैं। इन भोगसाधनादृष्टवादियों के भी दो अवान्तर भेद विदेहमुक्तिवादी और जीवन्मुक्तिवादी रूपी होते हैं। इनमें विदेहमुक्तिवादियों के पुन: आत्मभेदवादी और आत्म्यैक्यवादी दो उपभेद होते हैं। आत्मभेदवादियों में भी पुन: कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी और कर्मसापेक्ष-ईश्वरवादी ऐसे दो उपभेद होते हैं।

स्पष्टतार्किकों में भोगसाधनादृष्टवादी $\supset$ विदेहमुक्तिवादी $\supset$ आत्मभेदवादी $\supset$ कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी नकुलीशपाशुपत[६] होते हैं। जबकि स्पष्टतार्किकों में भोगसाधनादृष्टवादी $\supset$ विदेहमुक्तिवादी $\supset$ आत्मभेदवादी $\supset$ कर्मसापेक्षवादी शैव[७] होते हैं। भोगसाधनादृष्टवादी $\supset$ विदेहमुक्तिवादी $\supset$ आत्म्यैक्यवादी प्रत्यभिज्ञावादी[८] होते हैं। भोगसाधनादृष्टवादी $\supset$ जीवन्मुक्तिवादी रसेश्वरवादी[९] होते हैं।

सगुणात्मवादी $\supset$ तार्किक $\supset$ स्पष्टतार्किक $\supset$ उत्पत्तिसाधनादृष्टवादियों के पुन: दो उपभेद होते हैं : शब्द को प्रामाणान्तरतया अस्वीकार करने वाले वैशेषिक[१०] तथा उसे प्रमाणान्तरतया स्वीकारने वाले नैयायिक।[११]

आस्तिक $\supset$ सगुणतावादी $\supset$ श्रौतों के दो उपभेद वाक्यार्थवेदी मीमांसक[१२] होते हैं और पदार्थवेदी[१३] वैयाकरण होते हैं।

इसी तरह आस्तिक $\supset$ निगुणात्मवादियों में भी तार्किक और श्रौत ऐसे दो उपभेदों के

अन्तर्गत तार्किकों में पुन: निरीश्वरवादी सांख्य[१४] होते हैं. जबकि सेश्वरवादी पातञ्जल[१५] होते हैं। आस्तिक ⊃ श्रौत ⊃ निर्गुणात्मकवादी शांकर[१६] होते हैं। इस तरह कुल सोलह मतों की योजनाबद्धता प्रकट होती है[१३]।

२. भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं को एक दूसरे प्रकार से भी वर्गीकृत किया जा सकता है-

इस विकासरेखा का आरम्भबिन्दु चार्वाक दर्शन है और चरम विकास केवलाद्वैतवाद पर्यन्त सोचा जा सकता है। इस चरमविकास के सोपान पर भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य क्षेत्रज्ञात्मा का स्परूप देह से भिन्न अक्षणिककूटस्थनित्य निर्विकार विभु प्रत्यक्ष बोधरूप अजड़ शब्दातीत ईश्वरादिपदवाच्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित असंग निर्विशेष स्वीकारा है। अत: देहात्मवादी चार्वाक दर्शन की तुलना में बौद्ध दर्शन देहातिरिक्त अनित्य क्षणिक आत्मवाद की स्वीकृति के वश करीब पड़ता है। आर्हत दर्शन आत्मा को परिणामीनित्य मानने के कारण बौद्धों की तुलना में और करीब आता है। रामानुज दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने के कारण और करीब पड़ता है। फिर भी रामानुजों के मत में आत्मा को शरीर द्वारा विकारी भी माना गया है जबकि माध्व वैसा नहीं मानते होने के कारण कुछ और करीब आते हैं। माध्व मत में आत्मा को अणुपरिमाण माना गया है अत: उनकी तुलना में माहेश्वर मत, जो उसे विभु मानते हैं निकटतर माने गये हैं। ये माहेश्वरवादी आत्मा को दृग्रूप एवं क्रियारूप मानते हैं अत: इनकी तुलना में केवल दृग्रूपतया आत्मा को स्वीकारने वाले वैशेषिक कुछ और करीब पड़ते हैं। परन्तु वैशेषिक आत्मा को अनुमित्येकगम्य मानते हैं अत: इनकी तुलना में नैयायिक इतरप्रमाणगम्य भी मानते होने के कारण निकटतर होते हैं। नैयायिक आत्मा को स्वरूपेण जड़ मान कर चैतन्य को आत्मा के गुणरूपतया स्वीकारना चाहते होने के कारण आत्मा को बोधरूपतया स्वीकारने वाले मीमांसकों की तुलना में कुछ दूर पड़ते हैं। अंशभेदवशात् किन्तु आत्मा को जड़तया स्वीकारने के कारण इन मीमांसकों की तुलना में पाणिनियों का मत आत्मा को समग्रतया शब्दात्मक-चैतन्यात्मक स्वीकारता होने के कारण केवलाद्वैतवाद के समीपतर होता है। इनकी भी तुलना में सांख्यों का मत आत्मा को केवल ज्ञानस्वरूपतया स्वीकारने के कारण और भी अधिक निकट माना जाता है। सांख्य परन्तु ईश्वर को नहीं स्वीकारते अत: सांख्यों की तुलना में ईश्वरास्तित्त्व स्वीकारने वाले पातञ्जल केवलाद्वैतवाद के निकटतर हैं।[१४]

इस तरह हम देख सकते हैं कि सर्वदर्शन संग्रह में विशिष्ट अनुपूर्वी से ग्रन्थकार ने विभिन्न मतों को संकलित-योजित किया है। उसमें ग्रन्थसम्पादक-भूमिकाकार श्रीवासुदेव शास्त्री जी ने एक योजनाबद्धता देखनी चाही है। उल्लेखनीय इसमें यह अवश्य है कि रामानुज माध्वों को श्रौत दर्शन न मान कर प्रच्छन्नतार्किक मत के रूप में प्रस्तुत करना केवल केवलाद्वैतवादी दृष्टिकोण ही लगता है। क्योंकि श्रुतिवचनों में तर्क विरोधवश लाक्षणिक/गौण अर्थों की कल्पना करने के कारण यदि प्रच्छन्नतार्किकता आती है तो "यश्चोभयो: समो दोष: परिहारश्च ययो: समो न तत्रैकोऽनुयोज्य: स्याद् तादृगर्थविचारणे"-न्याय अनुसन्धेय होता है। इसके अलावा सगुणात्मवादियों के अन्तर्गत भी श्रौतवर्ग जो "सगुणात्मवादिनो द्विविधा: तार्किका: श्रौता: च" विधान द्वारा स्वयं भूमिकाकार द्वारा उद्भावित है उसमें रामानुज-माध्वों का अपरिगणन विस्मयजनक लगता है। इसके अलावा स्वयं मूलकार द्वारा ही उपेक्षित होने के कारण भर्तृप्रपञ्च या भास्कराचार्य सदृश अन्यान्य शंकरपूर्व या समकालिक वेदान्तों का स्थान इनमें से किस वर्ग में अन्तर्हित माना जाय यह पता न चलने के कारण उपेक्षा का आरोप तो प्रासंगिक ही होगा।

षष्ठदृष्टि :

श्रीमधुसूदन सरस्वती ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश और वेदान्तकल्पलतिका ग्रन्थों में अन्यान्य मतों को प्रत्याख्यानार्थ ही केवल संकलित करके प्रस्तुत किया है। इन दोनों ग्रन्थों में यद्यपि किसी प्रकार का

वर्गीकरण तो शब्दश: निरूपणार्थ अभिप्रेत नहीं हैं तथापि क्रमश: शांकरवेदान्ताभिमत ईश्वरास्तित्त्व और शांकरवेदान्ताभिमत मोक्ष के बारे में साम्प्रदायिक जो दृष्टिकोण हो सकता है, ऐसे मतविभाग या योजना को कुछ इस तरह प्रकट किया गया है :

ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश में : वेदोपनिषदों का प्रमाणतया अस्वीकार करने वाले और स्वीकारने वाले यों नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन के रूप में दो प्रभेद दिखलाये हैं। इनमें नास्तिक दर्शनों में चार्वाक को अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी माना गया है। बौद्ध दर्शन में क्षणिक सर्वज्ञविज्ञानसन्तानरूप आत्मा या ईश्वर माने ही गये हैं, ऐसा दिखलाया गया। दिगम्बरों के मत में देहादिव्यतिरिक्त देहमात्रपरिणाम अविनाशी आत्मारूप अर्हत को ही परमेश्वरतया स्वीकारा जाना निरुपित हुआ है। जबकि आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत तो सभी चिन्तन वेदों को प्रमाणतया स्वीकारते हैं और देहातिरिक्त आत्मा को नित्य-विभु (सभी वैष्णव और कई शैव वेदान्ती जीवात्मा को अणुपरिणाम स्वीकारते हैं इस तथ्य की उपेक्षा विस्मयजनक प्रतीत होती है !) परन्तु, परमेश्वर को कुछ आस्तिक स्वीकारते हैं और कुछ नहीं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इन आस्तिक दर्शनों में पातञ्जलों को आत्मवादी तथा ईश्वरवादी माना गया है। इसी तरह नैयायिक वैशेषिकों को भी। ईश्वरवादियों में पाशुपत पाञ्चरात्र एवं हैरण्यगर्भ क्रमश: शिव विष्णु और हिरण्यगर्भ को परमेश्वरतया स्वीकारते हैं, ऐसा निरूपित किया गया है। सांख्यों को आत्मवादी अनीश्वरवादी स्वीकारा गया है। (पूर्वमीमांसाओं को उल्लेख करना क्यों भूल गये यह पता नहीं चलता)। ब्रह्मवादी अर्थात् वेदान्तियों के मत में उपनिषद्वेद्य सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान अभिन्ननिमित्तोपादानरूप परमेश्वर के साकार/निराकारतया दो भेद दिखलाकर इनमें साकार के चार अवान्तर भेद पुरुष ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर प्रतिपादित किये हैं। शैव तंत्र के अनुसार ईश्वर के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को साकार और सदाशिव को निराकार स्वीकारा गया है, ऐसा प्रतिपादन किया है। विधान्तरतया नृसिंहतापनीय के अनुसार ओत, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्परूपी ईश्वरभेदों में क्रमश: पञ्चीकृतमहाभूताभिमानी विराट का अन्तर्यामी परमात्मा 'ओत' या 'अनिरूद्ध' कहलाता है। अपञ्चीकृतभूताभिमानी जीव हिरण्यगर्भ और उसका अन्तर्यामी अनुज्ञाता कहलाता है। इसे ही प्रद्युम्न नाम्ना भी जाना जाता है। इसी तरह सत्वादि गुणत्रयी की मायारूप उपाधि से उपहित सर्वबीजरूप को संकर्षण कहा जाता है। इसी संकर्षण की त्रिगुणात्मिका माया के एक-एक गुणों से अवच्छिन्न ब्रह्मा, विष्णु और शिव होते हैं। अन्त में सर्वोपाधिविनिर्मुक्तअविकल्प वासुदेव परमात्मा मोक्ष का अवलम्बन होता है और इसी की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें होती हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है।[१५]

वेदान्तकल्पलतिका में : मोक्ष के प्रकारभेदों की विवेचना में चार्वाक, विज्ञानवादी, माध्यमिक, आर्हत, काणाद, नैयायिक, प्राभाकर, भाट्ट, सांख्य, पातञ्जल, त्रिदण्डी के चित् नामा (भास्कराचार्य तथा भर्तृप्रपञ्च) पाशुपत, वैष्णव तथा हैरण्यगर्भ यों इन मतों का अनौपनिषद मतों के रूप में एक वर्ग दिखलाया गया है; और स्वयं केवलाद्वैतवादी वेदान्त सम्प्रदाय को औपनिषद दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१६]

स्पष्ट है कि यह विभाजन अतीव स्थूल और केवल स्वसम्प्रदायोत्कर्ष प्रतिपादनार्थ ही है। क्योंकि उपनिषत्तात्पर्यविवेचन, भगवद्गीतातात्पर्यविवेचन और ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवेचन के बावजूद, स्वसम्प्रदायाभिप्रेतार्थ से विपरीत होने के कारण ही केवल वैष्णव और शैव वेदान्त अनौपनिषदिक मत हो जाते हों तो, केवलाद्वैत वेदान्त भी शैव- वैष्णव वेदान्त विपरीत होने के कारण अनौपनिषद् मत बन जायेगा। इनके अलावा भास्करवेदान्त और वैष्णववेदान्त के बारे में मौन धारण प्रस्तुत योजना की असर्वग्राहिता का ही प्रकट प्रमाण है। अस्तु।

सप्तमदृष्टि :

जयपुरस्थ विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन शर्मा ने अपने सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानम् नामक ग्रन्थ में [क]सदवाद [ख]असदवाद् और [ग]सदसद्वाद जो मौलिक रूपों में कृष्णयजुर्वेद, सामवेद तथा शुक्लयजुर्वेद के विभिन्न वचनों में ही उपलब्ध हो जाते हैं, ऐसा दिखलाकर[१] प्रत्यय [२]प्रकृति [३]तादात्म्य [४]अभिकार्य [५]गुण [६]सामञ्जस्य और [७]अक्षर यों सात मूल वर्ग और इन सातों ही वर्गों के पुन: उल्लिखित सद्-असद्-सदसद् रूपी त्रिविध अवान्तर विकल्पोंद्वारा कुल इक्कीस प्रभेदों वाली एक योजना समझायी गयी है।[१७]

इनके अन्तर्गत अवान्तर प्रभेद इस तरह प्रस्तुत किये गये है : [१/क] नित्यविज्ञानाद्वैतवादी ब्राह्मणमत् [१/ख]अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी श्रमणमत[१/ग]आनन्दविज्ञानाद्वैतवादी मध्यस्थमत[२/क] ब्रह्माद्वैतवादी अविनाशीमत[२/ख] कर्माद्वैतवादी वैनाशिकमत[२/ग] द्वैताद्वैतवादी वैनाशिकवदविनाशिमत,[३/क] धर्मिप्राधान्यवादी ब्राह्मणमत[३/ख] धर्मप्राधान्यवादी श्रमणमत[३/ग] धर्मधर्म्यभेदवादी मध्यस्थमत,[४/क] सत्कार्यवादी सांख्यमत[४/ख] असत्कार्यवादी वैशेषिक[४/ग] मिथ्याकार्यवादी केवलाद्वैतवेदान्ती,[५/क] सन्मूलसृष्टिवादी सामवेदीया दृष्टि[५/ख] असन्मूलसृष्टिवादी कृष्णयजुर्वेदीया दृष्टि[५/ग] सदसनमूलसृष्टिवादी शुक्लयजुर्वेदीया दृष्टि,[६/क] उत्पत्तिनाशशीलप्रकृतिकारणतावादी सांख्य[६/ख] प्रागभावकारणतावादी नैयायिक[६/ग] विद्याविद्याप्रकृतिवादी वेदान्ती,[७/क]गुणत्रयाव्यक्तबीजत्ववादी सांख्यमत[७/ख] बलै (कर्मै) काव्यक्तबीजत्ववादी वैनाशिकमत[७/ग] अक्षरैकाव्यक्तबीजवादी बादरायणमत (इन्हें यथानिर्दिष्ट क्रम के अनुसार देने के बजाय प्रस्तुत लेखक ने सरल क्रमिकता के अनुसार यहाँ उद्धत किया है)।

वैसे योजना यह काफी रोचक प्रतीत होती है परन्तु इनमें प्रथम और द्वितीय [१-२/क-ख-ग] विभागों में क्योंकि ज्ञानसन्तती या कर्मसन्तती के प्रवाह में प्रवाहान्त:पाती कर्म या विज्ञान व्यक्तियों का श्रमणमत में तो अद्वैत माना ही नहीं गया है। अत: विचारणीय वर्गीकरण बन जाता है। क्योंकि बौद्धों के सभी सम्प्रदायों में व्यक्तियों में निष्ठ सामान्य धर्म का अद्वैत तो भ्रांतिविषय ही माना जाता है। इसी तरह प्रवाह की द्रव्यता अनभिमत होने से प्रवाह के स्वरूप का अद्वैत भी वास्तविक सिद्ध नहीं हो पाता। योगाचार तथा माध्यमिक बौद्धों के मतों में अवश्य ही विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत की चर्चा है किन्तु वह तत्तदतिरिक्त द्वैत के निरसनार्थ ही है न कि विज्ञानैकत्व या शून्यैकत्व के प्रतिपादनार्थ। अत: श्रमणों या वैनाशिकों को अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी या कर्माद्वैतवादी मानना कहाँ तक उपपन्न हो सकता है, यह विचारणीय लगता है। रही बात ४/क-ख-ग विभाग में कैवलाद्वैतवादियों की तो, वे तो कार्य को सदसद्विलक्षण मानते हैं। अत: ऐसी स्थिति में उन्हें सदसद्वादी कहाँ तक उचित माना जा सकता है ? इसके अलावा इस योजना में नास्तिकमतों में चार्वाक-जैनों के मतों का अनुल्लेख, ईश्वरवादी मतों में अन्यान्य शैव, वैष्णव दर्शनों का अनुल्लेख तथा वेदान्त में केवल कैवलाद्वैतवेदान्त का ही परिग्रह इस योजना की असर्वग्राहिता को प्रकट करता है, अत: इस योजना के विस्तृत विमर्शार्थ अग्रसर हुए बिना इसे यहीं उपसंहृत कर देना उपयुक्त होगा।

अष्टमदृष्टि :

भारतीय दर्शन की विकास रेखा में झलकती योजनाबद्धता को खोजने के जितने भी प्रयास हुए उनमें १९२५ साल में प्रकाशित श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य प्रणीत प्रमेय-प्रमाण-प्रयोजनरूप काण्डत्रयात्मक मानमेयरहस्यश्लोकवार्त्तिक, मेरी जानकारी में इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वशाली प्रतीत होता है। ग्रन्थ के प्रमेयकाण्डान्तर्गत प्रथम परिच्छेद के चतुर्थ सिद्धांतविचार नामक प्रकरण में ग्रन्थकार ने इस विषय पर अपने विचार प्रदर्शित किये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं -

प्रामाणिकतया ज्ञात अर्थ को सिद्धांत कहा जाता है, यदि कोई कहे कि सभी सिद्धांत परस्पर विरोधी तथा तत्तद्व्यक्तियों के हठाग्रह के अनुरूप प्रस्तुत या प्रस्तावित होते हैं, अत: प्रामाणिकतया

ज्ञात किसी पदार्थ का स्वीकार ही शक्य नहीं लगता, तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं इस विधान से सिद्ध की जाती धारणा को प्रमाणिकतया ज्ञात या प्रमाणिकतया अज्ञात मानना ? दोनों ही स्थिति में कुछ धारणाओं का सिद्धांत होना सिद्ध हो जाता है। ऐसे सिद्धांतों के विविध प्रकारों में सर्वप्रथम संख्यैकान्तवाद और संख्यानेकान्तवाद के भेदवश दो प्रकार सामने आते हैं। इनमें एक से लेकर छत्तीस या अधिक भी संख्यैकान्तवाद दिखलायी देते हैं।

उदाहरणतया : १. सब कुछ शून्य है ऐसा शून्याद्वैतवाद, सब कुछ विज्ञानमात्र है ऐसा विज्ञानाद्वैतवाद, सब कुछ सत् है ऐसा सदद्वैतवाद, सब कुछ केवल शब्दरूप होता है, ऐसा शब्दाद्वैतवाद इत्यादि एकत्वसंख्यैकान्तवाद के उदाहरण माने जा सकते हैं। २. इसी तरह द्वित्वसंख्यैकान्तवाद के उदाहरण- सब कुछ नित्य/अनित्य या जड़/चेतन रूप होता है, ऐसी धारणा बनती है। ३. सब कुछ ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयान्यमतमात्मना त्रिविध होता है, ऐसे मानना त्रित्वसंख्यैकान्तवाद है। ४. मातृ-मान-मिति-मेयात्मना चतु:संख्यैकान्तवादी भी हो सकते हैं। ५. बौद्ध पञ्चस्कन्धैकान्तवादी होते हैं। ६. जैन भी षड्द्रव्यैकान्तवादी होते हैं। ७. वैशेषिक-नैयायिक सप्त या षोडश पदार्थैकान्तवादी होते हैं। इत्यादि-इत्यादि।

इसी तरह स्वस्वाभिमत तत्त्वों की कोई निश्चित संख्या स्वीकारने के बावजूद कोई चिन्तक सिद्धांततया संख्यानेकान्तवादी भी हो सकता है, जिसे अनुभूतिगोचर जगत् को किसी निश्चित संख्या में इदमित्थतया बांधना स्वयं अनुभूतिविरूद्ध कथा लगती है।

केवल संख्या को मानदण्डतया स्वीकारने के बजाय अन्य भी मानदण्डों के आधार पर दर्शनों की समीक्षा करने पर लौकायतिक जैसे बाह्यार्थमात्रसत्तावादी होते हैं, ऐसे ही योगाचार-बौद्ध आन्तरमात्रसत्तावादी होते हैं, कापिल बाह्याभ्यान्तर उभयसत्तावादी होते हैं।

कुछ चिंतक शरीरान्त: स्थित पुरुषों में अन्यतम पुरुष ईश्वर को शरीरान्त: स्थित पुरुषों से पृथक् पदार्थ मानने वाले होते हैं, तो दूसरे उसे पृथक्तया स्वीकार नहीं करते (अर्थात् कुछ उसे कथंचित् पृथक् तो कथञ्चित् अपृथक् भी स्वीकारते ही हैं)*

कुछ चिन्तक द्रव्यपदार्थवादी होते हैं तो कुछ चिन्तक महासामान्यरूप सदेकपदार्थता भी मानते हैं।

कुछ वस्तुमात्र को गुणसंघाततया मानने वाले केवल गुणैकपदार्थवादी होते हैं, तो अन्य कुछ गुण और द्रव्यों के भेद को स्वीकार कर गुण-द्रव्यरूप पदार्थद्वैतवादी होते हैं और तीसरे कुछ द्रव्य-गुण-कर्मरूप पदार्थत्रयवादी भी होते हैं।

इसी तरह कुछ विशेषवादी तो कुछ सामान्यवादी, कुछ इन दोनों के बीच भेद स्वीकारने वाले तो कुछ इनके बीच ऐक्य स्वीकारने वाले होते हैं और तीसरे इन दोनों के बीच तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद (तो अन्य भेदाभेदवैलक्षण्य ! भी)* स्वीकारने वाले होते हैं।

इसी तरह कुछ चिन्तक अनात्मवादी होते हैं, तो अन्य कुछ आत्मवादी, इनमें भी कुछ द्वैतवादी तो कुछ अद्वैतवादी होते हैं।

कुछ जीवैक्यवादी होते हैं तो कुछ ब्रह्मैक्यवादी होते हैं। कुछ ब्रह्म-जीव के बीच भेदवादी होते हैं तो अन्य कुछ अभेदवादी तो अन्य कुछ तादात्म्यवादी भी होते हैं।

इसी तरह भावाभाव कार्यकारण नित्यानित्य मानमेय द्रव्याद्रव्य के बीच भेद/अभेद/भेदाभेद/ उभयवैलक्षण्य के आधार पर अनेक प्रकार दर्शनों के बनते हैं।

---

* कोष्ठान्तर्गत अंश प्रस्तुत लेखकीय संसूचन है।

इसी तरह तत्तत् पदार्थों के बारे में सद्, असद्, सदसद्, सदसद्वैलक्षण्य में से कोई एक स्वरूप उत्पन्न होता है या नहीं इस विकल्प के कारण सदेकान्त, असदेकान्त, सदसदेकान्त और उभयवैलक्षण्य के चतुर्था विकल्प बनते हैं। इनमें नय-प्रमाण के तारतम्यस्वीकार के साथ सभी विकल्पों को पक्षपातरहित हो कर एक साथ स्वीकारने वाले अनेकान्तवादी तारतम्यवादी जैन होते हैं। सभी पक्षों में से किसी भी पक्ष को न स्वीकारने वाले गौडपाद जैसे वेदान्ती के अलावा उन सभी विकल्पों का प्रत्याख्यान करने वाले माध्यमिक बौद्ध भी होते हैं।[18]

मेरे हिसाब से मानमेयरहस्यश्लोकवार्त्तिककार ने उक्तानुक्तदुरुक्त के चिन्तनरूप अपने उत्तरदायित्व का भलीभांति निर्वाह करते हुए अतीव व्यापक तथा प्रामाणिक अनेकविध योजनाओं की खोज इस तरह करने का एक व्यवस्थित प्रयास किया है। यह और बात है कि इतने सारे प्रकारों को प्रस्तावित करना "कृतमप्यकृतमिव भवति" जैसी बात लगती है, इसे परन्तु स्थितस्य गतिः चिन्तनीया की मनोवृत्ति रखकर निहारने पर उतनी असमञ्जस बात नहीं लगेगी जितनी कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विकास को सर्वथा अयोजनाबद्ध ही मान बैठना। उदाहरणतया 'अच्' प्रत्याहार में 'एच्' प्रत्याहार के अन्तर्भूत होने के बावजूद गुणसन्धि और वृद्धिसन्धि के सूत्र पाणिनि को पृथक्-पृथक् बनाने पड़े ! वह बोलने की प्रक्रिया में संस्कृत भाषा में प्रकट होती अनेकरूपता के वश करना ही पड़ा, ऐसी ही कुछ बात यहाँ भी स्वीकार लेनी चाहिए।

नवमदृष्टि :

इन सभी पूर्व प्रयासों को दृष्टिगत करने पर तथा पाश्चात्य दर्शनों के कुछ वैचारिक उपादानों को लक्ष्यगत रखने पर भारतीय दर्शनों के विकास की रेखा के कुछ तुलनात्मक पहलु जो सामने आते हैं, उनकी पूर्वभूमिका मैं कुछ इस तरह बांधना चाहता हूँ।

भारतीय दर्शन में जिसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष, सविकल्पक प्रत्यक्ष/विकल्पाध्यवसाय और परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक प्रत्यय/विकल्पन कहा जाता है, इनके अनुरूप त्रिविध प्रमाण लक्षणों के मतभेद भी प्रकट हुए हैं। लक्षणशः १. "यथार्थानुभवः प्रमाणम्", २. "अविसंवादिफलप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमाणम्", ३. "अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमाणम्"। इन्ही मतभेदों के समानान्तर पाश्चात्य दर्शन में भी Sensation, perception और conception यों ज्ञान के त्रिविध प्रकार स्वीकारे गये हैं। एतदनुरूप ही sensedata, percept और concept यों ज्ञान के विषयों के भी तीन प्रकार बनते हैं। साथ ही साथ प्रामाण्यमीमांसा में प्रामाण्य के बारे में भी त्रिविध लक्षणों के अनुरूप जो तीन सिद्धांत या वाद प्रवृत्त हुए हैं, वे नामशः यों थे. 1. Theory of Correspondence 2. Theory of Utility और 3. Theory of Coherence, स्पष्ट है कि ये भी क्रमशः भारतीय त्रिविध प्रमाण लक्षणों के अनुरूप या समानान्तर ही हैं।

इस संदर्भ में यह नितांत अवधारणीय है कि ज्ञान के इन तीनों स्तरों को वस्तु प्रमाण, वस्तु व्यवहार और वस्तु लक्षणबोध के हेतु अपरिहार्यतया स्वीकारना ही चाहिए, अन्यथा ज्ञानमीमांसा अधुरी रह जाती है। साथ ही साथ इस दृष्टि से इन तीनों को निहारने पर :

Sensedata को (Being) सत् न मानने पर वह सचेतन व्यक्तियों में Sensation जननरूपा अर्थक्रियाओं के कारकहेतुतया भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। ऐसी स्थिति में Sensation को Sensedata का ज्ञापकहेतु भी मानना सम्भव नहीं रह जायेगा। और स्पष्ट है कि यह तो वदतोव्याघात और/अथवा व्यवहारतोव्याघात के बिना शक्य ही नहीं !

जहाँ तक सविकल्पक प्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय का प्रश्न है तो वहाँ पूर्वोक्त सत् के रूपतया अथवा विकल्पतया कुछ गृहीत तो होता ही है। परन्तु ज्ञान के इसी दूसरे स्तर के अनेकविध अवान्तर

प्रकार भेद, नामशः, विकल्पाध्यवसाय, विकल्पानध्यवसाय, विकल्पसंशय, विकल्पभ्रांति आदि होते हैं। अतएव वे रूप या विकल्प (Percept) गृह्यमाण देश -काल में बाह्यार्थतया विद्यमान (Existing) होते हैं या नहीं, यह विभिन्न दर्शनों के बीच भीषण विवादभूमि बन गयी है। लोकव्यवहार, परन्तु सर्वथा एतन्मूलक ही होता है और उसे प्रामाणिक मानना या नहीं यह तो विभिन्न दर्शनों के अपने-अपने सिद्धांतों की कथा है. अर्थात् क्या बाह्यार्थ सत् के जो विकल्प गृहीत होते हैं वे विकल्पाध्यवसाय स्वगृह्यमाण विकल्पों का ज्ञापकहेतु न होकर केवल विकल्पकल्पना मात्र हैं ?

इसी तरह ज्ञान के तीसरे स्तर परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक प्रत्यय, नाम या विकल्पन अर्थात् conception और concept आते हैं। इसे अन्यान्यविध उपलक्षण, उपाधि, आगन्तुक या स्वाभाविक विशेषण रूप अन्य साधारण धर्मों के साथ-साथ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवदोषों से रहित लक्षण रूप धर्मों के भी ग्रहण अथवा निरूपण के रूप में स्वीकारना चाहिए। ये अनितरसाधारण धर्म लोकव्यवहार में अतीव उपयोगी नहीं होते। क्योंकि, उदाहरणतया, लोकव्यवहार में 'पक्षी' पद का अर्थ पक्षवान् प्राणी के रूप में ही सोचा-विचारा जायेगा। ये पक्ष, परन्तु ऐसे प्राणियों के अव्याप्यतिव्याप्त्यसम्भव दोषों से रहित धर्म नहीं हो पाते, मशक-मक्षिका आदि में अतिव्याप्त होने के कारण। जबकि चञ्चुमत्ता ऐसा धर्म हो सकता है परन्तु इस पर लोकव्यवहार सहसा निर्भर नहीं हो पाता है। अतः प्रश्न यहाँ भी अपना सुरसासदृश विकराल मुंह बाये सामने खड़ा ही रहता है, कि क्या इन conception और concept के बीच परस्पर ज्ञापक हेतु और कारक हेतु होने का सम्बन्ध रहता है या नहीं ? क्या इस तरह के प्रत्यय वस्तुतः कहीं वस्तुतादात्म्येन अथवा वस्तुसमवेततया समाश्रित (Subsisting) होते हैं या नहीं ? अथवा वस्तुद्रष्टा की ये कल्पनामात्र होते हैं ?

इन प्रश्नों के उत्तर मतभेदवशात् भिन्न-भिन्न ही मिलेंगे। हर स्थिति में बाह्यार्थ वस्तुजनित निर्विकल्प प्रत्यक्ष और चेतनाद्वारा उसे किस प्रत्यय के रूप में अनूदित, वर्गीकृत, संग्रहीत तथा व्याख्यायित किया जाता है, यों इन उभयविध ज्ञान के स्तरों के पारस्परिक सहयोग के बिना सविकल्पप्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय रूप ज्ञान का द्वितीय स्तर प्रकट हो नहीं सकता, इतना तो निश्चयेन कहा जा सकता है।

इनमें निर्विकल्पप्रत्यक्ष और तद्विषयीभूत अर्थ के बीच प्रामाण्य के अवधारणार्थ याथार्थ्य; अर्थात् अनुभूति का अर्थानतिवर्तित्व होना अर्थात् Theory of Correspondence को अपरिहार्य मानना चाहिए। क्योंकि बाह्यार्थ निर्विकल्प का कारक हेतु (ratio ascendie) होता है और निर्विकल्प प्रत्यक्ष बाह्यार्थ का ज्ञापकहेतु (ratio cogniscendie) होता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में प्रामाण्य का निष्कर्ष याथार्थ्य=अर्थानतिवर्तित्व ही हो सकता है।

जहाँ तक सविकल्पकप्रत्यक्ष और विकल्पाध्यवसाय का प्रश्न उठता है तो ऐसे प्रत्यक्ष में यदि फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकता अर्थात् Theory of Utility मान्य न हो तो ऐसे सविकल्पप्रत्यक्ष को प्रामाणिक मानने के लिए सहसा कोई उद्यत नहीं हो पायेगा।

इसी तरह ज्ञान के तीसरे स्तर पर अर्थात् परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक ज्ञान या वस्तुप्रत्यय के बारे में "अनधिगत-अबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमाणम्" लक्षण को कारगर मानना चाहिए। अर्थात् तदनुरूप पाश्चात्य दर्शन Theory Coherence यहाँ कारगर सिद्ध हो पायेगी। क्योंकि ऐसी स्थिति में दो प्रत्ययों के बीच परस्पर अबाधितता/अबाध्यता और प्रत्ययार्थ वस्तु की अन्यथा अनधिगतता ही प्रत्यय को प्रमाणपदवीपर आरूढ होने का अधिकारी बनाती है।

इस प्राथमिक स्पष्टीकरण के बाद अब सुखेन समझा जा सकता है कि ज्ञान के इन तीनों स्तरों के

बारे में अनेकविध वैकल्पिक दृष्टियाँ चिन्तकों ने अपनायी हैं। उनके पाश्चात्य तर्कशास्त्रीय A E I O और U Propositins की तरह पाँच प्रकार हो सकते हैं. यथा :-

A = सभी दृष्टियाँ प्रामाणिक हैं।

E = कोई भी दृष्टि प्रामाणिक नहीं होती।

I = कुछ दृष्टियाँ प्रामाणिक होती हैं।

O = कुछ दृष्टियाँ प्रामाणिक नहीं होती।

U = कोई एक ही दृष्टि प्रामाणिक होती है।

इनमें A विधा में सर्वदृष्टियों पर अनुग्रह प्रकट होता है। E विधा में सर्वदृष्टिप्रहाण है। I / O विधा में कतिपय दृष्टि पर अनुग्रह या कतिपय दृष्टियों का प्रहाण है। अन्तिम U विधा में किसी एक दृष्टि पर अनुग्रह अथवा किसी एक दृष्टि का प्रहाण प्रकट हो सकता है।

सर्वप्रथम U विधा के मूल में जो अनुग्रह प्रहाण रूप दो भेद होते हैं, उनमें प्रहाण के पुन: दो अवान्तर भेद यों सोचे जा सकते हैं कि प्रहाण केवल स्वार्थ या परार्थ भी हो सकता है। उदारणतया गीतोपदिष्ट स्वपरधर्मद्वैतवाद के अंगीकार में परधर्म का स्वार्थ प्रहाण अभिप्रेत होने पर भी परार्थ प्रहाण अभिप्रेत नहीं होता। केवल अपने धर्म को सच्चा मानने वालों के मत में जबकि परधर्म का परार्थ भी प्रहाण अभिप्रेत होता है। जैसे कि किसी एक किताब के अलावा अन्य किसी भी किताब का अनुसरण किसी को काफिर बना देता होने से परार्थ का भी प्रहाण अभिप्रेत माना जा सकता है। यहाँ यह अवधेय है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्राभिमत विकल्प के जैसे मृदु और कठोर दो प्रभेद स्वीकारे गये हैं, इन प्रभेदों के बीच कठोरविकल्पतया (स्वदृष्टि/स्वीयेतरदृष्टि) रूप स्वीयेतरदृष्टि प्रहाण अभिप्रेत होता है। यहाँ स्वदृष्टि और स्वीयेतरदृष्टि यों दोनों दृष्टियाँ एक साथ नहीं हो सकती। इसके विपरीत स्वेयतर दृष्टि पर अनुग्रह के भी इस तरह दो उपभेद हो सकते हैं। उदाहरणतया प्राय: एकदेशिमत को अस्वमत मान कर भी वैकल्पिकतया अनिरसनीय मान लिया है। अथवा कभी ऐसा भी होता है कि अन्यमत का अपने मत में अन्तर्भाव दिखला दिया जाता है। इस तरह के इन दो उपभेदों को यों समझा सकता है : वैकल्पिकता के अंगीकारवश अनुग्रह (स्वदृष्टि v स्वीयेतरदृष्टि)। यहाँ द्वितीय मृदुविकल्पतया स्वदृष्टि और स्वीयेतरदृष्टि दोनों ही स्वार्थ-परार्थभेदवश सत्य हो सकती हैं। उदाहरणतया शिवोपासकार्थ शिव का परदेवत्ववाद विष्णुपासकार्थ विष्णु का परदेवत्ववाद यों दोनों ही प्रामाणिक माने जा सकते हैं। एकदेशिता के अंगीकारवश अनुग्रह (स्वदृष्टि A ⊃ I = स्वीयेतरदृष्टि)। यहाँ स्वमत में परमत का अन्तर्भाव जैसे सप्तपदार्थवादियों ने षोडशपदार्थवादि के पदार्थों का सप्त पदार्थों में अन्तर्भाव प्रतिपादित कर दिया। यह लगभग वैसी ही स्थिति है जो गौतमसूत्र (१।१।२६) में प्रतिपादित तन्त्र सिद्धान्त और अधिकरण सिद्धान्त के बीच स्वीकारी गयी है।

I और O propositions तो इतरेतरनिषेध मुखतया इतरेतर-अर्थापत्ति में पर्यवसित होते होने से, एक ही बात केवल विधिमुख या निषेधमुख कहने के विधागत भेद ही हैं। अत: इस प्रकार की विवेचना के विस्तार में जाना बहुत आवश्यक नहीं लगता।

A और E विधाओं में क्रमश: सर्वदृष्ट्यनुग्रह और सर्वदृष्टि प्रहाण निरूपित होता है। इनमें सर्वदृष्टि प्रहाण के जैसे तीन अवान्तर प्रभेद होते हैं वैसे ही तीन ही अवान्तर प्रभेद सर्वदृष्ट्यनुग्रह के भी होते हैं। यों कुल छह भेद होते हैं : [१]तत्त्वाज्ञेयतांगी- कृतिमूलक प्रहाण [२]तत्त्वाज्ञाततांगीकृतिमूलक प्रहाण [३]तत्त्वसन्दिग्धतांगीकृतिमूलक प्रहाण [४]परमार्थापरमार्थभेदांगीकृतिमूलक अनुग्रह [५]प्रमाण-नयभेदांगीकृतिमूलक अनुग्रह [६]सर्वात्मतांगीकृतिमूलक अनुग्रह।

अब इन्हें सविवरण इस तरह समझा जा सकता है :

[1]वैसे तो माध्यमिकों के भी अनेक भेदोपभेद हैं परन्तु शून्यता या तथता चतुष्कोट्यतीत पञ्चमी कोटी है या केवल चतुष्कोटिविनिर्मुक्त अर्थात् चारों कोटियों का केवल अपोहन या निरसन ? इस विषय में भगवान् बुद्ध के अभिप्रायों का अनुसरण करना हो तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि शून्यता पाँचवीं कोई पदार्थ कोटि न हो कर केवल चार कोटियों का शाब्दिक निषेधमात्र है, अर्थात् वह सर्वविध वाच्यों का अपोहन केवल है, जैनों ने जैसे पाँचवीं, छट्ठी और सातवीं कोटियाँ भी इस विवाद में प्रस्तावित की उनमें से कोई एक कोटी आग्रह पूर्वक भगवान बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत की जाये तो उसका भी निरसन ही भगवान बुद्ध को अभिप्रेत होगा। इसे परवर्ती योगाचार तथा माध्यमिक दोनों के पूर्वोद्धृत तथा अन्य भी कुछ शून्यता सम्बन्धी उद्‌गारों के अवलोकन करने पर सरलतया समझा जा सकता है "अस्तीति वदतो ब्रूमो नास्ति सर्वं विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूम: सर्वम् अस्त्यविचारत:। यथा-यथा समारोपा: जायन्ते तत्त्वयोगिन: तथा-तथा समारोपा: हन्यन्ते तत्त्वयोगिना।"(१९) "व्यावृत्ति: सर्वदृष्टीनां कल्प्यकल्पनवर्जिता"(२०) "यद्यशून्यं भवेत् किंचित् स्याच्छून्यमिति किञ्चन, न किंचिदस्त्यशून्यं च कुत: शून्यं भविष्यति ? शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता नि:सरणं जिनै: येषान्तु शून्यतादृष्टि: असाध्यान् तान् बभाषिरे।"(२१) एतावता यह सिद्ध होता है कि निर्बीज असम्प्रज्ञातसमाधि जैसी ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण विवर्जित चित्त की सभी विकल्पों से शून्यावस्था ही विज्ञानवादी तथा माध्यमिकों के मत में भी शून्यतया अभिप्रेत है न कि चित्तेतर किसी तत्त्व की किसी भी प्रकार के विकल्प के साथ ज्ञेयता। फिर भी दोनों के बीच जो मतभेद है वह केवल इतने से अंश में है कि विज्ञानवादी विज्ञान को परमार्थ सत्य मानते हैं जबकि माध्यमिक उसके बारे में शून्यता की ही दृष्टि का उपदेश देते हैं। अत: यूरोप में इमान्युएल काण्टने Thing as it is unknowable और Thing as it appeares is knowable का जैसा तारतम्य प्रतिपादित किया था, वैसा ही कुछ यहाँ भी मान कर चलना चाहिए। अतएव (क) "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना लोके संवृतिसत्यं च सत्यञ्च परमार्थत:" (ख) "संवृति: परमार्थं च सत्यद्वयमिदं स्थितं बुद्धे: अगोचर: तत्त्वं बुद्धि: संवृतिरुच्यते" (ग) "प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं 'संवृति:' उच्यते, तदेव 'लोकसंवृतिसत्यम्' इति अभिधीयते, लोकस्यैय संवृत्या तत् सत्यमिति कृत्वा... सर्वस्व हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य नि:स्वभावता पारमार्थिकं रूपम्"(२२) इत्यादि उद्‌गारों के आधार पर परमार्थत: अज्ञेयता और व्यवहारत: रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञारूप पञ्चस्कन्धों में प्रतीत होती प्रतीत्यसमुत्पादता रूपी ज्ञेयता के रूप में 'तत्त्वाज्ञेयतांगी- कृतिमूलक सर्वदृष्टि प्रहाण' इसे कहा जा सकता है।

[2]इससे भिन्नतया किसी बाह्य या आभ्यन्तर तत्त्व को ज्ञेयतया स्वीकारने के बावजूद इदमित्थतया वाणी के बिना कुछ भी निरूपित नहीं हो पाता है और वाणी से तो वही निरूपित होता है कि बोलने की क्रीड़ा के हेतु हमने जैसे/जिन वाङ्‌नियमों को गड़ा होता है। यों ज्ञेयतया कुछ स्वीकार लेने के बावजूद वस्तुतत्त्व को अवाच्य-अपरिभाष्य अर्थात् लक्षणानर्ह स्वीकारनेवाली विट्गॅन्स्टीन जैसी दृष्टि अर्थात् लक्षणार्हत्वेन तत्त्वाज्ञाततांगीकृतिमूलक भी एक सर्वदृष्टि प्रहाण हो सकता है। इसे विज्ञानवादी योगाचारमत के सद्धर्मलंकावतारसूत्र के "बुद्‌या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते तस्मादभिलप्यास्ते नि:स्वभावाश्च देशिता:"।(२३) इस प्रसिद्ध वचन के आधार पर भलीभांति समझा जा सकता है। ऐसी दृष्टि तत्त्वोपप्लव, वाक्यपदीय, खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होती निरुक्तिविरहता के प्रतिपादन से सुसंगत लगती है। इसे जैनों के "स्याद् अस्ति च अवक्तव्यं च" शब्दनयान्तर्गत पाँचवीं कोटी के समान स्वीकारा जा सकता है।

[3]सर्वदृष्टि प्रहाणार्थ यूरोपीय चिन्तर में ह्यूम जैसों के सन्देहवादी विचारधारा का विकास जैसा-जितना हुवा वैसी विचारधारा परन्तु यहाँ भारत में कोई प्रकट हुयी हो ऐसा कम से कम मुझे तो ज्ञात नहीं है। अत: इसे रिक्तवर्गतया ही प्रस्तावित करना पड़ता है।

[४]चतुर्थ सर्वदृष्टि प्रहाण को निषेधमुखशैली में बोलने के बजाय विधिमुखशैली में बोलकर सर्वदृष्ट्यनुग्रह भी शक्त हो पाता है। अर्थात् परमार्थत: कुछ भी प्रामाणिक नहीं होने पर भी व्यवहार में सभी कुछ सम्भव होता है। अत: केवल परमार्थदृष्टया सर्वदृष्टियों को निराकरणीय मानने पर भी व्यवहारदृष्ट्या उन्हें मान्य रखने की चिन्तन प्रणाली भी केवलाद्वैतवादियों की भी दिखलायी देती है। उदाहरणतया विविध देवताओं के परतत्त्वता के विवाद में अथवा स्वयं केवलाद्वैतियों के अनेकविध भामती विवरण या वार्त्तिक आदि प्रस्थानों में व्यावहारिक स्तर पर परस्पर विरुद्ध मतभेदों में सभी को मान्य रखना, इस प्रतिपादनशैली की विशेषता है। परवर्ती केवलाद्वैती ग्रन्थकारों की ऐसी विचारशैली दिखलायी देती है। गौड़पादकारिका के ये उद्गार ''स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढं परस्परं विरुद्ध्यन्ते तैरयं न विरुद्धयते''(२४) में सभी दृष्टियों के परमार्थदृष्टया निराकरण के साथ-साथ वाचनिक सर्वदृष्ट्यनुग्रह भी प्रकट किया गया है ऐसा स्वीकारा जा सकता है।

[५]जैसा कि पहले ही इसका निरूपण कर चुके तदनुसार जैनों ने दुर्नय दृष्टि, नयदृष्टि और प्रमाणदृष्टि के तारतम्य द्वारा अन्यान्य मतों को, स्वमतीय अनेकान्तवाद बाह्यदृष्टितया मिथ्यादृष्टि होने के कारण अमान्य रखने के बावजूद उन्हीं मिथ्यादृष्टियों को पुन: स्यात् निपातोपन्यासपूर्वक अनेकान्तवादांगतया प्रामाणिकतया भी मान्य रखा है। अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकार श्रीहेमचन्द्र कहते हैं ''सदेव सत् स्यात्सद् इति त्रिधार्थों मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणै:''[२५] अत: (अनेकान्तवाद =A⊃I= सप्तविधनय) ऐसी भी एक शैली सर्वदृष्ट्यनुग्रह की हो ही सकती है।

[६]इस ऐसे अनेकान्तवाद की तुलना में उपनिषदों में उपलब्ध होती ब्राह्मिकी सर्वात्मतादृष्टि या सर्वरूपतादृष्टि के अन्तर का वैलक्षण्य भलीभांति समझ लेना अत्यावश्यक है।

(क) पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यं ......सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीर: नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते।

(ख) यत् च किञ्चद् जगत सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽवि वा अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायण: स्थित:।

(ग) यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते, यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानत: तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वम् अनुपश्यत:।

(घ) एषहि देव: प्रदिशोऽनुसर्वा:, पूर्वोहि जात: सउ गर्भे अन्त:, स विजायमान: स जनिष्यमाण: प्रत्यङ्मुखा: तिष्ठति विश्वतोमुख: यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं ..... तदेव अग्नि: तद् वायु: तत् सूर्य: तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रम् अमृतं तद् आप: स प्रजापति:।

(ङ) ब्रह्मवा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानेव अवेद अहं ब्रह्मास्मि इति तस्मात् सर्वम् अभवत्। इदं सर्व-यद्-अयम्-आत्मा।

(च) एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

(छ) स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि।

(ज) पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।[२६]

इन औपनिषद् वचनों के आधार पर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं कि मूलत: औपनिषद् ब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित एकमेवाद्वितीय होने के कारण अज्ञेय अवाच्य होने पर भी सर्व रूपों में ज्ञेयात्मना एवं वाच्यात्मना स्वत: ही प्रकट हुआ है[२७]। अत: पूर्ण से पूर्ण का प्राकट्य अपनी पूर्णता को अखण्डतया निभानेवाला होता होने के कारण ब्रह्म सर्वविध वादों से अतीत भी है और सर्वविध वादों के अनुरूप भी होता है[२८]। ब्रह्म के स्वरूप को नानावादानुरोधी दिखलाते हुए महाप्रभु का कहना है कि वैदिकदृष्टि से जो मान्य सिद्धांत हो अथवा वैदिकदृष्टि से जो सिद्धान्ताभास हों अथवा वैदिकदृष्टि से जो मान्यता पाषण्डितापूर्ण हों उन वैसी सभी धारणाओं के अनुसार भगवान्

रूप धारण कर सकते हैं तथा करते होते हैं। अत: जो उसका जैसे निरूपण करना चाहता है उसके प्रति भगवान् का वैसा ही स्वरूप वस्तुत: प्रकट हो जाता है। क्योंकि भगवान् में सर्वधिक वाच्यरूपों और वाचकशब्दों के रूपों में प्रकट होने कीसहज शक्ति/सामर्थ्य होती है।[२९] इस "सर्ववादानवसरत्वे सति नानावादानुरोधिता"[३०] की व्याख्या करते हुए महाप्रभु ने यह भी कहा है कि, सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-नाश के अनेकविध निरूपणों द्वारा शास्त्र भी यही समझाना चाहते हैं कि मूलतत्त्व एकमेवाद्वितीय अव्यक्त भी है और अनन्तरूप भी। वह विश्वरूप भी है और विश्वातीत भी। उसके ऐसे स्वरूप की उपपत्ति दो तरह से सोची जा सकती है। एक तो उसके सर्वभवनसामर्थ्य का विचार करके दूसरे उसके विरूद्धधर्माश्रय होने का विचार करके। क्योंकि अनेकविध वादों को प्रस्तावित करनेवाले विविध चिन्तक ब्रह्म के ऐसे इन दो पहलुओं को आधारभूत मानकर अपनी-अपनी बात नहीं कहते और वे अपनी ही आंशिक धारणा के अनुसार मूलरूप को परिच्छिन्न बनाना चाहते हैं। अत: वादियों की ऐसी धारणा के संदर्भ में ब्रह्म को सर्ववादानवसर कहा जाता है नकि उनके वादों के सन्दर्भ में। ब्रह्म के किसी एक असफल विशेष पहलु का निरूपण सफलता के दावे के साथ किया जाय तो बात बिगड़ जाती है। अन्यथा वाणी में दोषान्वेषण अनावश्यक होता है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि जैनमत में तो अनेकांतवादांगभूत स्यात् निपातार्थवती प्रमाणदृष्टि से रहित अस्तीत्यादि एकान्तदृष्टियाँ दुर्नयदृष्टितया परार्थ भी हापनीय बन जाती हैं। जबकि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार सर्ववादानवसर ब्रह्म ही सर्ववादानुरोधी बन जाता है और बन सकता होने से (जैनों की परिभाषा के अनुसार विकलादेश भी) केवल स्वार्थ ही प्रहापनीय होता है अर्थात् परार्थ वह प्रहापनीय नहीं होता। जैनों के अनुसार स्याद्द्वादरूपा प्रमाणदृष्टि सकलादेशरूपा होने से स्वपरोभयार्थ अनुग्राह्य होती है, जबकि उससे बहिर्भूत दुर्नयदृष्टि स्वपरोभयार्थ प्रहापनीय होती है। वाल्लभ मत में परन्तु अब्राह्मिकी दृष्टि स्वार्थ प्रहापनीय होने पर भी परार्थ प्रहापनीया नहीं होती। अतएव जैनों की तरह महाप्रभु के मत में भी ब्रह्मवाद सकलादेश है और अन्य सारे वाद विकलादेश, स्वयं उन्हीं के शब्दों में कहना हो तो "एकैको वादो ब्रह्मण: एकैकधर्मप्रतिपादकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वनिव अनुसरति।"[३१] अर्थात् विकलादेश का भी ब्रह्मदृष्टया प्रामाण्य सम्भव है-ब्रह्म की प्रतिपादिका श्रुतिओं के व्याख्यानतया चाहे न भी सम्भव हो!

उदाहरणतया "असंख्यता का अर्थ - संख्याओं की इयत्ता का अनिर्धारण है" इस विधान के अनुसार परन्तु कितनी संख्या के बाद संख्या की इयत्ता की अनिर्धारितता वक्ता-श्रोता की बुद्धि में आरूढ होती है ? इसे कह पाना मुश्किल बात है। भारत में गणना की अवधि पर या परार्ध पर्यन्त हुई है। अब trillion संख्या उससे भी दसगुनी अधिक हो तो परार्ध के प्रत्यय से अतीतता और ट्रिलियन के प्रत्यय से अतीतता दोनों ही असंख्यता के प्रत्यय के उपलक्षण बनेंगे। उपलक्षणों के भिन्न-भिन्न होने पर उपलक्षित असंख्यता के दोनों ही प्रत्यय सकल-प्रत्यय कहे जायेंगे। अत: बात दोनों की प्रमाणिक ही माननी पड़ेगी। फिर भी परार्धातीत -संख्याऽनिर्धारवादी, परन्तु ट्रिलिअनातीतसंख्याऽनिर्धारणवादी को अप्रामाणिक मानना हो तो ऐसी धारणा के सन्दर्भ में वह प्रत्यय सत्य नहीं रह जायेगा। फिर भी वाक्यार्थ सन्दर्भ में उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता। इसी तरह सभी वाद, धारणाओं के सन्दर्भों में परिच्छिन्न या विकल होते हों या न होते हों, वाक्यार्थ सन्दर्भ में तो प्रामाणिक हो सकते हैं। इस अर्थ में ब्रह्म को नानावादानुरोधी भी माना गया है। महाप्रभु के अनुसार एक-एक वाद ब्रह्म के एक-एक धर्म का प्रतिपादक हो सकता है। अत: ब्रह्मविचारवश सभी वाद प्रमाणिक हो सकते हैं क्योंकि ब्रह्म के सर्वसंभवनसमर्थ और विरूद्धधर्माश्रय होने के सन्दर्भ में सभी वाक्य प्रमाणरूप हो सकते हैं : "तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं यत: सा सरस्वती सर्वतोमुखा"[३२] महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म की इस स्वाभावि-की सर्वभवनसामर्थ्य को प्रमाणविचार, प्रमेय विचार, साधनविचार और फलविचार के

पहलुओं से देखने पर इसका स्वरूप सर्वथा सुस्पष्ट हो जाता है। अत: तदर्थ उसकी चर्चा के बिना इस निरूपण का उपसंहार अनुचित होगा।

प्रमाणविचारवश सर्ववाच्य-सर्ववाचकरूपा शक्तियाँ जब भगवान् में सहज-स्वाभाविकी हों तो, वाचक शब्द से अननुविद्ध ज्ञान तो प्रमाण हो नहीं सकता, अत: सर्वविध ज्ञानों में अनुगत शब्दानुवेध सर्वविध ज्ञानों को ब्राह्मिक सन्दर्भ में प्रामाण्यवाहक बना देता है।

प्रमेयविचारवश भी "स सर्वं भवति"[३३] "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यम्"[३४] "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविध ब्रह्ममेतत्"[३५] आदि उपनिषदवचनों के आधार पर जब सब कुछ वही बना है तो किसी भी दर्शनाभिमत प्रमेय को सर्वथा बाधितार्थ माना नहीं जा सकता. क्योंकि भागवत में आता है कि "भगवान् सर्वभूतेषु लक्षित: स्वात्मना हरि: दृश्यै: बुद्ध्यादिभि: द्रष्टा लक्षणै: अनुमापकै:"[३६]। इसकी व्याख्या करते हुए महाप्रभु कहते हैं कि नैयायिकों ने कर्ता के रूप में, मीमांसकों ने क्रिया के रूप में, वेदान्तिओं ने आत्मा के रूप में, सांख्यों ने करण होने के रूप में, अन्यों ने ज्ञान होने के रूप में, किसी ने ज्ञाता के रूप में, यों सभी ने भगवान् के एकैकदेश को अपने-अपने अनुभव और युक्तिओं के आधार पर सिद्ध करना चाहा है। ये सभी रूप भगवान् के लक्षण हो सकते हैं और इनसे अंशतो भगवज्ज्ञान पाया ही जा सकता है।[३७]

इसी तरह साधन और फल के विचार के सन्दर्भ में महाप्रभु का प्रस्तुत वचन अनुसन्धेय है : "स वै नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते, स द्वितीयम् ऐच्छत्, स एतावान् आस" इन श्रुतियों के आधार पर एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति.....' इस श्रुति के भी आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान उन उन साधनों को करा कर उन-उन फलों को देते हैं और यह सब कुछ भगवान् निज क्रीड़ार्थ ही जगत् के रूप में आविर्भूत हो कर केवल क्रीड़ा ही कर रहे हैं, ऐसा वैदिकों का निर्णय है। यही बात वेद के दोनों काण्डों में प्रतिपादित हुई है। अन्यथा जीवात्मा के साधन फलों का निरूपण करने वाली श्रुतियों को ब्रह्म परक मानने के बजाय जीव परक स्वीकारना पड़ेगा। तब तो श्रुतिप्रतिपाद्य कर्म और ब्रह्म को भी जीवशेषतया स्वीकारना ही पड़ेगा।"[३८]

इससे यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तवादी विधा और इस विधा में कुछ मौलिक अन्तर है। वहाँ अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टि के अन्तर्गत एकान्तिक नयदृष्टियों को अनुग्राह्य माना गया जबकि अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टि से बहिर्भूत ऐकान्तिक दुर्नयदृष्टियों को प्रहापनीय मिथ्या दृष्टि माना गया है। इस विद्या में जबकि ब्रह्मादिक दृष्टि न होने के अपराधवश किसी भी दृष्टि के अनुसार किया जाता तत्त्व निरूपण अप्रामाणिक नहीं हो सकता है, अर्थात् वह स्वयं दुर्नय नहीं बन जाता। एतावता सिद्ध होता है कि स्वीयेतर निरूपण को प्रमाणतया न स्वीकारना ही केवल मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि वह ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्य और विरूद्धधर्माश्रयता का अनंगीकार है। यही सर्वात्मरूप ब्रह्म के पूर्णता को स्वीकारने वाली पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि है। अतएव वाल्लभ वेदान्त में परपक्षनिराकरण केवल वेदतात्पर्यक या तद्विषयीभूत पदार्थ मीमांसा के रूप में अनुष्ठेय होता है। यह महाप्रभु के वेदा: श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्, उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरूद्धन्तु यत्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन, अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदत: विरूद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि"[३९] उद्‌गारों का प्रमुख रहस्य है। अर्थात्‌वेदैकवेद्य ब्रह्म की सर्वात्मकता/सर्वरूपतया ही ब्रह्म की तरह वाल्लभ चिन्तन को भी विरूद्धधर्माश्रयी बनाती हैं कि कई सारी दृष्टियाँ वेदाभिप्रायतया मिथ्या होने पर भी वेदैकवेद्य ब्रह्मस्वरूप के सन्दर्भ में प्रामाणिक हो सकती हैं।

***

उद्धरण संकेत

१. षड्दर्शन समुच्चय : २-३.
२. द्रष्टव्य : उक्त षड्दर्शनसमुच्चय की भूमिका में श्रीदामोदरलाल गोस्वामी.
३. सुत्तपिटकान्तर्गत दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में तृतीय प्रकरण.
४. तत्रैव.
५. मध्मकशास्त्र : १८/९-अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ १९.
६. माण्डूक्यकारिकाशांकरभाष्य :४/८३-८४.
७. द्रष्टव्य खण्डनखण्डखाद्य १/८ : सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा विनिवृत्ताद्वयाम्नायै : पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते.
८. श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ ६२.
९. प्रसन्नपदा : २२/११.
१०. दशश्लोकी : १०/११.
११. स्याद्वादमञ्जरी : २८.
१२. तत्रैव.
१३. सर्वदर्शनसंग्रहोपोद्घातपृष्ठ : ८४/८५.
१४. सर्वदर्शन संग्रहोपोद्घात पृष्ठ : ९०/९१.
१५. ईश्वरप्रतिपत्ति प्रकाश पृष्ठ : १-१०.
१६. वेदान्तकल्पलतिका पृष्ठ : १-६.
१७. सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञान : ०-३.
१८. द्रष्टव्य : मानमेयरहस्यश्लोकवार्त्तिक के प्रमेयकाण्ड में प्रथमपरिच्छेदान्तर्गत चतुर्थप्रकरण.
१९. श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्र संग्रह : पृष्ठ ६२.
२०. सद्धर्मलङ्कावतारसूत्रं : १०/४८३-८४.
२१. मध्यमकशास्त्रं : १३/७-८.
२२. [क] मध्यमकशास्त्रं : २४/८ [ख] बोधिचर्यावतार: ९/२. [ग] तत्रत्यैव पञ्जिका.
२३. सद्धर्मलंकावतारसूत्र : २/१७५.
२४. माण्डूक्योपनिषत्कारिका : ३/१७.
२५. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका : २८.
२६. (क)पुरुषसूक्त : १,७ (ख)नारायणसूक्त : १ (ग) ईशावास्योपनिषद् : ६-७ (घ)महानारायणोपानिषद् : १/१/५-७ (ङ)बृहदारण्यकोपनिद् : १/४/१०,४/५/७. (च) कठोनिषद् : २/२/९. (छ) छान्दोग्योपनिद् : ६/८/७. (ज) बृहदारण्यकोपनिषद् : शान्तिपाठ.
२७. पत्रावलनम्बन :कारि १.
२८. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १/७०.
२९. सुबोधिनी : १०/१३/४३.
३०. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १/७०.
३१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश : १/७०.
३२. तत्रैव : २/१७३
३३. बृहदारण्यकोपनिषद् : २/४/६
३४. छान्दोग्योपनिषद् : ६/८/५
३५. श्वेताश्वतरोपनिषद् : १/१२.
३६. भागवतपुराण : २/२/३५.
३७. सुबोधिनी : २/२/३५.
३८. ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : १/१/११.
३९. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १/८-९.

परिशिष्ट : दो

दयाकृष्ण

1.1 विगत दो सहस्त्राब्दी में विकसित
भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रणीत
ग्रन्थों का शताब्दीश : संख्यात्मक रचनाक्रम

दयाकृष्ण

विचारित और अविचारित के मध्य विचार के असाधारण शिल्पकार प्रो. दयाकृष्ण का जन्म १९२४ में हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम.ए. एवं पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर वे कुछ दिनों तक हिन्दू कालेज-दिल्ली, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी-अमलनेर तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से शोध सहायक रूप में सम्बद्ध रहे। तदुपरान्त वे सागर विश्वविद्यालय (मध्यप्रदेश) में नियुक्त हुए जहाँ उन्होंने १९५६ से १९६० तक अध्यापन कार्य किया। १९६०-६१ में वे रॉकफेलर अध्येता के रूप में उच्च अध्ययन के लिए विदेश गये। वहाँ से लौटकर उनकी पदस्थापना राजस्थान विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष के रूप में हुई। १९६६ से१९८४ तक राजस्थान विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए न केवल उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रतिभा को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात् किया बल्कि उस विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग को एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में स्थापित भी किया। प्रो. दयाकृष्ण डायोजिनीज़ नामक अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका के सम्पादक मण्डल में भी रहे और उनके अनेकों लघु शोध-प्रबन्ध "माइण्ड" एवं "ईस्ट एण्ड वेस्ट" जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। उनमें से कुछ तो इतने विचारोत्तेजक स्थापनाओं के साथ प्रस्तुत हुए थे कि उन स्थापनाओं को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक संवाद का प्रारम्भ देखा जा सकता है। वास्तव में प्रो. दयाकृष्ण के लिए विचार की कला ही पुरुषार्थ है, न्यस्त स्वार्थों से प्रेरित लाभ के पदों की लालसा उनमें कभी देखी नहीं गई। एक बार उन्होंने ऐसे ही एक बड़े पुरस्कार को लेने से इन्कार कर दिया था। प्रो. दयाकृष्ण सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् एवं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के नेशनल फैलो भी रहे और सम्प्रति भारतीय विज्ञान, दर्शन और संस्कृति का इतिहास नामक राष्ट्रीय प्रोजेक्ट के सम्पादकीय मण्डल के सदस्य एवं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की पत्रिका जे.आई. सी.पी.आर. के सम्पादक हैं। प्रो. दयाकृष्ण के चिन्तन एवं विचार इतने बहुआयामी रहे हैं कि उनके दर्शनशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, राजनीतिशास्त्रीय एवं इतिहासशास्त्रीय शताधिक दार्शनिक निबन्धों को सूचीबद्ध करना यहाँ सम्भव नहीं फिर भी कुछ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है- नेचर ऑफ फिलॉसफी, सोशल फिलॉसफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर, द आर्ट ऑफ कॉन्सेप्चुअल, डेवेलपमेंट डिबेट : फ्रीड डब्लू रीग्स एण्ड दयाकृष्ण, इण्डियन फिलॉसफी: ए न्यू पर्सपेक्टिव, इण्डियन फिलॉसफी : ए काउण्टर पर्सपेक्टिव, इण्डियाज इन्टेलेक्चुअल ट्रेडिशन (सम्पा.), संवाद : ए डायलॉग बिटविन टू फिलॉसफिकल ट्रेडिशन्स, ज्ञानमीमांसा, पाश्चात्य दर्शन (सम्पा.), भारतीय दर्शन-एक नई दृष्टि, प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्ट्रीयोग्राफी ऑफ कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन डिबेट एण्ड डिस्कशन्स इन इण्डियन फिलॉसफी (सम्पा.) इत्यादि। प्रो. दयाकृष्ण की अधिकांश कृतियों को स्थापित विचार परम्परा की आत्ममुग्धता का भाजन करने वाला और विचार को भविष्योन्मुख गति प्रदान करने वाला कहा जा सकता है। पश्चिमी दार्शनिक परम्पराओं का मंथन कर चुकने के बाद भारतीय दर्शन में उनका प्रवेश तो एक "प्रश्न देवता" की तरह ठीक वैसे ही है जैसे "कौत्स" फिर लौट आया हो।

विगत दो सहस्त्राब्दी में विकसित भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रणीत ग्रन्थों का शताब्दीश : संख्यात्मक रचनाक्रम

(सम्पादकीय प्रस्तावना)

प्रो. दयाकृष्ण जी द्वारा भारतीय दार्शनिक चिन्तन के इतिहास को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के रचनानुक्रम में रेखांकित करने के उद्देश्य से निर्मित इस तालिका एवं रेखा-चित्र जिसे मैंने उपर्युक्त शीर्षक से यहाँ प्रस्तुत किया है उसे देखने पर प्रथमद्रष्टया तरह-तरह के विचार मन में कौंधते हैं। इस पर विचार करते हुए न केवल भिन्न-भिन्न प्रकार के निष्कर्ष बल्कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा इस पर अलग-अलग तरह से सोचा भी जा सकता है। अतएव प्रस्तुत तालिका एवं रेखा-चित्र तथा उसकी निष्पत्तियों पर विचार करने से पूर्व भारतीय शास्त्र परम्परा के वाचिक और लिखित 'वाङ्मय - विग्रह' के सम्बन्ध में कुछ बातों को ध्यान में रखना आवश्यक प्रतीत होता है।

भारत में निगमागमिक शास्त्र परम्परा अपने मूल स्वरूप में पौरुषापौरुषेय जो भी रहा हो लेकिन इतना तो निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह दीर्घ काल तक ऋषियों एवं मुनियों की प्रातिभ अन्तर्दृष्टि से निष्कृष्ट हो कर वाचिक परम्परा में पोषित और पल्लवित होती रही है। भारतीय परम्परा में शास्त्रों का 'वाङ्मय विग्रह' रूप में लिखित स्वरूप प्रदान किया जाना एक परवर्ती घटना है और उसका भी इतिहास यहाँ बड़ा ही समृद्ध और चमत्कारी रहा है। भारतीय परम्परा में शास्त्रों के 'वाग् विग्रह' अर्थात् ग्रन्थों के जितने प्रकार प्राप्त होते हैं वह किसी भी दूसरी परम्परा के लिए दुर्लभ जैसी चीज ही है। पाराशरोपपुराण के अट्ठरहवें अध्याय में 'वाग् विग्रह' रूप से शास्त्रों के लोकावतरण एवं विस्तरण को बड़े ही रोचक ढंग से निरूपित किया गया है जो इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि प्रारम्भ में ऋषियों की प्रातिभ अनुभूतियों को 'वाग् विग्रह' रूप प्रदान करने के लिए ग्रन्थ-रचना जैसे कार्यों को बहुत पुरस्कृत्य नहीं समझा जाता था। इसीलिए यास्क ने वैसे ऋषियों को अवर कोटि का माना है जिन्होंने स्वयं सत्य (धर्म) का साक्षात्कार नहीं किया बल्कि उसका ग्रहण उपदिष्ट रूप से किया है (साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूव: । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मस्य उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादु: - निरुक्त, अ. १ खण्ड २०)। पुन: यास्क ने अवर ऋषियों पर एक टिप्पणी करते हुए कहा है कि जिन्होंने स्वयं सत्य (धर्म) का साक्षात्कार नहीं किया वही प्राचीन ऋषियों के उपदेशों-मंत्रों को लेकर ग्रन्थ रचना किया करते थे (उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च - निरुक्त, अ. १ खण्ड २)। आश्चर्य है कि परम्परा में ग्रन्थ लेखन के सन्दर्भ में यास्क से ही मिलती जुलती बातें बुद्ध ने भी कहीं हैं। बुद्ध का कथन है कि ''वे (ब्राह्मण) जंगलों में पर्णकुटी बनाकर वहीं ध्यान आदि कर्म किया करते थे।.... उनमें से कितने ध्यान को सिद्ध न कर सकने के कारण ग्राम अथवा निगम के पास आकर ग्रन्थ-रचना करते हुए नागर जीवन व्यतीत करने लगे।.... उस समय वह नीच कर्म समझा जाता था परन्तु आज श्रेष्ठ समझा जाता है'' (दीघ निकाय, अग्गञ्जयसुत्त)।

इस प्रकार उपयुक्त सन्दर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा (ब्राह्मण एवं श्रमण) में एक समय तक ग्रन्थ-प्रणयन का कार्य श्रेष्ठ कर्म के रूप में गणनीय नहीं था। वास्तव में ग्रन्थों के रचना कर्म की ऐसी निन्दा और कुछ नहीं बल्कि शास्त्र परम्परा और उसके अन्तर्गत की विभिन्न बौद्धिक परम्पराओं के अलिखित रूप वाचिक परम्परा का ही घोर समर्थन है। ऐसा लगता है जैसे ऋषियों की प्रातिभ अनुभूतियों को लिखित ''वाग्विग्रह'' रूप में प्रस्तुत करना उन्हें दुषित कर देना है। शास्त्रों को अपौरुषेय मानने वाले दुषण मानते ही है। पाणिनीय शिक्षा में भी लिखित पाठ के पठन को अधम-पठन कहा गया है (षडेते पाठकाधमा) ऐसी स्थिति में वाचिक परम्परा के प्रति आग्रहवान होना स्वाभाविक ही लगता है। वस्तुतः शास्त्र परम्पराओं के वाचिक रूप में प्रवहमान होने की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उस रूप में बौद्धिक परम्परायें जीवनानुभव से जुड़कर नैष्ठिक रूप धारण कर लेती हैं। परन्तु इसकी सबसे बड़ी खामी यह होती है बौद्धिक परम्परायें सम्प्रदाय केन्द्रित नैष्ठिकता और गोपन के चलते अपने में ही रूढ़ और आन्तर-साम्प्रदायिक स्वस्थ संवाद के अभाव में आत्ममुग्धता का शिकार हो जाती हैं। भारत प्रभव निगमागमिक शास्त्र परम्पराओं के वैचारिक विकास में इस प्रकार के प्रभाव को बहुत दूर तक देखा जा सकता है।

इसके विपरीत दूसरी तरफ हम देखते हैं कि भारतीय परम्परा में ही शास्त्रों को 'वाङ्विग्रह' रूप देने के प्रयासों को अतीव महत्त्व भी प्रदान किया गया है। यहाँ तक कि ब्राह्मण परम्परा में 'सूत्रकार' जिसे शास्त्रों का ''आद्य वाग्विग्रहकर्त्ता'' कहा जा सकता है, उसे भगवान पद से महिमा-मण्डित किया जाता है। इस सन्दर्भ में कुछ अन्यों को 'ओहब्रह्म' की संज्ञा दी गई। वैसे ही श्रमण (बौद्ध) परम्परा में विभिन्न संगीतियों द्वारा बुद्ध वचनों के सांगायन के लिए युद्ध स्तर पर किये गये प्रयासों का महत्त्व सर्वविदित ही है। वाचिक रूप से शास्त्रों की प्रवहमान धारा को प्रथमतया 'वाग्विग्रह' रूप में प्रस्तुत करने वाले सूत्रकार को इतना अधिक महत्त्व देने का निहितार्थ यह है कि वह एक ऐसा व्यक्ति होता है जो ऋषियों की प्रातिम अनुभूतियों में जीवन पाने वाले उस शास्त्र के वाचिक रूप से सर्वथा ओत-प्रोत 'आप्तपुरुष' हुआ करता है। वास्तव में सूत्रों का महत्त्व भी यही है कि वह किसी शास्त्र परम्परा का बीज रूप वाग्मय विग्रह होता है। इसका निर्माण, यदि यास्क के तर्ज पर कहें तो, कोई अवर ऋषि अर्थात् श्रुतर्षि 'भावना प्रकर्ष पर्यन्त' ज्ञानस्थिति में ही कर सकता है। इसीलिए सूत्रों को बाद में भाष्यादि व्याख्या - कर्म के द्वारा खोलने की आवश्यकता होती है। अतएव हम कह सकते हैं कि भारतीय परम्परा में ''सूत्र'' ही किसी शास्त्र परम्परा के लिखित रूप का ''आद्य-वाग्विग्रह'' होता है और उसी को आधारभूत एवं पूंजीभूत मानकर शास्त्रों की लिखित परम्परा का विकास तथा उनकी वंशावली का निर्माण परवर्ती काल में भाष्य, वार्त्तिक इत्यादि अन्यान्य प्रकार के टीका ग्रन्थों के माध्यम से होता है।

यहाँ अवधेय है कि किसी शास्त्र परम्परा या उसके अन्तर्गत की बौद्धिक परम्परा जैसे-जैसे अपने वाचिक रूप से लिखित रूप वाग्विग्रह में रूपान्तरित होती जाती है वैसे-वैसे उसकी व्याप्ति और ज्ञान की गतिशीलता में खुलापन आता जाता है तथा आत्ममुग्धता से मुक्त उसका विकास स्वस्थ एवं आलोचनात्मक रूप से सम्भव हो पाता है। वास्तव में किसी बौद्धिक परम्परा को 'वाग्विग्रह' रूप प्रदान करना उसे खुले में खड़े पेड़ की तरह खड़ा करना है जो अपनी जड़ों से एवं वातावरण के अच्छे-बुरे प्रभावों के बीच विकसित होता रहे। यह बात अलग है कि किसी बौद्धिक परम्परा के विकास में इस बात को निर्धारित करना एक कठिन कार्य है कि उसका कितना अंश लिखित रूप में रूपान्तरित हो चुका है और कितना अंश अभी वाचिक परम्परा के ही अंगभूत बना हुआ है। कभी-कभी कुछ ऐतिहासिक

कारणों से जब कोई बौद्धिक परम्परा दबा दी जाती है अथवा उसे मिटाने के कुत्सित प्रयास किये जाते हैं तो उसे पुनर्रचित करना या फिर अवान्तर वाग्विग्रह तैयार करना एक कठिन कार्य होता है। भारत में तो वाचिक और लिखित दोनों ही रूपों में बौद्धिक परम्पराओं को सायास नष्ट किये जाने के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसके परिणाम स्वरूप वैसी बौद्धिक परम्पराओं का भावी विकास एक खण्डित विग्रह की तरह या फिर उनकी वंशावली के इतिहास सूत्र परस्पर समंजस रूप में उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

अब यदि भारतीय प्रभव शास्त्र परम्परा के वाचिक और लिखित रूप पर उपर्युक्त अमूर्त टिप्पणी के परिप्रेक्ष्य में दयाजी द्वारा बनायी गयी इस तालिका और रेखा-चित्र पर विचार किया जाय तो दो बातें स्पष्ट रूप से विदित होती हैं। प्रथमत: तालिका यह बताती है कि विगत दो सहस्त्राब्दियों में भारत प्रभव दर्शनशास्त्र के पच्चीस सम्प्रदायों की लिखित परम्परा 'वाग्विग्रह' रूप ग्रन्थों के द्वारा किस रूप में अस्तित्त्व में आयी है और शताब्दी क्रम से तत्तद वाग्विग्रहों की संख्या कितनी रही है। द्वितीयत: रेखा-चित्र सम्प्रदाय क्रम से 'वाग्विग्रह' रूप ग्रन्थों की कुल संख्या को तुलनात्मक रूप से प्रदर्शित करते हुए तत्तद काल में उनकी दार्शनिक गतिशीलता को भी संकेतित करता है। इस रूप में प्रस्तुत तालिका और रेखा-चित्र को अत्यन्त वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण कहा जा सकता है। परन्तु इसके आधार पर यदि दया जी अथवा कोई अन्य कुछ और अवान्तर निष्कर्ष निकालना चाहें तो उसकी वस्तुनिष्ठता पर संदेह किया जा सकता है। इसमें कोई दो राय नहीं कि इसके आधार पर पच्चीस दार्शनिक सम्प्रदायों के लिखित इतिहास और उनके पूर्वापर क्रम तथा काल विशेष में उनकी गतिशीलता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और भारतीय दर्शनों का इतिहास लिखने में इन तथ्यों की अनदेखी भी की गई है परन्तु इसके आधार पर भारतीय परम्परा में तत्तद् दार्शनिक सम्प्रदायों की व्याप्ति एवं स्वीकृति का निर्धारण नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि यह सम्भव है कि, जिस काल विशेष में किसी दार्शनिक सम्प्रदाय में वाग्विग्रह रूप ग्रन्थों का प्रणयन नहीं हुआ है या कम हुआ है उस काल में भी वाचिक परम्परा के माध्यम से उस दार्शनिक सम्प्रदाय की व्याप्ति और स्वीकृति, अपेक्षाकृत अधिक हो सकती है। किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के कुल या काल विशेष में अपेक्षाकृत अधिक संख्या में ग्रन्थों का प्रणीत होना इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता कि उस काल में उस दर्शन की व्याप्ति और स्वीकृति अधिक रही होगी। हाँ, इससे दार्शनिक सक्रियता का अन्दाजा लगाया जा सकता है लेकिन उस सक्रियता की मान्यता या प्रतिष्ठ होने का आंकलन नहीं किया जा सकता। किसी दार्शनिक विचारधारा की व्याप्ति, स्वीकृति और गतिशीलता देश-काल, सामाजिक परिस्थिति और सांस्कृतिक परिवेश पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भर करती है। सबसे अधिक इस बात पर कि कोई दर्शन अपनी सांस्कृतिक विश्वदृष्टि में मनुष्य के होने की सार्थकता और गन्तव्य की अभीप्सा तथा लोकमंगल की भावना से कितना समंजस होता है। किसी शास्त्र के वाग्विग्रहों का विस्तृत और बड़ा होने का अर्थ ताड़ और खजूर के पेड़ की तरह बड़ा होना नहीं है।

इस प्रकार यदि प्रस्तुत तालिका और रेखा-चित्र के द्वारा अनावश्यक निष्कर्षों को निकालने का प्रयास न किया जाय और इसके वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक रूप का ही उपयोग किया जाय तो यह भारतीय दर्शन की कहानी ही नहीं, उसके दार्शनिक इतिहास को लिखने की एक ठोस तथा अभिनव दृष्टि प्रदान करता है। ऐसी इतिहास भेदी दृष्टि को उन्मीलित करने वाली इस तालिका एवं रेखाचित्र को निर्मित करने तथा यहाँ परिशिष्ट रूप से प्रकाशनार्थ उपलब्ध कराने के लिए दया जी कोटिश: धन्यवादार्ह हैं।

तालिका

दर्शन क्रम ▶ / काल क्रम ▼	बौद्ध 1	मीमांसा 2	वेदान्त 3	सांख्य 4	वैशेषिक 5	न्याय 6	जैन 7	योग 8	व्याकरण दर्शन 9	चार्वाक 10	शैव सिद्धांत 11	काश्मीर शैव 12	अद्वैत वेदांत 13	विशिष्टाद्वैत 14	वीर शैव 15	न्याय वैशेषिक 16	निम्बार्क वेदांत 17	मध्व वेदांत 18	विशिष्टशैवाद्वैत 19	हठ योग 20	भक्ति दर्शन 21	वल्लभ वेदांत 22	द्वैताद्वैत 23	योग वासिष्ठ 24	अचिंत्य भेद 25	कुल योग
250-150 B.C.	13																									13
150-50 B. C.	4																									4
50 B.C.-50 A.D.	11	1	1																							13
50-150 A.D.	10	2		2	1	1																				16
150-250 A.D.	13						1																			14
250-350 A.D.	6	2	1	2	2			1																		14
350-450 A.D.	8			2			2		1																	13
450-550 A.D.	13		4	2	2		2	1																		24
550-650 A.D.	9		1			2	4			1																17
650-750 A.D.	8	5	6	2		3	5		1																	30
750-850 A.D.	11	1	2		2		2		1	1	1	2														23
850-950 A.D.	7	1	3	1	1	5	12		1		1	3														35
950-1050 A.D.	13	1	3	1	2	6	15	1	1			6	1	1												51
1050-1150 A.D.	9	3		2	2	6	28	3	1		4	1	4	1												64
1150-1250 A.D.	7	8				5	21	1			2	1	3	4	1	1	1									55
1250-1350 A.D.		3				6	14				4		27	6			1	7								69
1350-1450 A.D.		5		2	1	9	23	3	1		1		11	5	4			6	1	1						74
1450-1550 A.D.		2			4	24	11					1	16	5	3	4	1	2		2	3	2				81
1550-1650 A.D.		26		3	5	36	15	2			2		50	15	1		1	23				15	3			194
1650-1750 A.D.		20		5	6	54	13	2	5			1	37	5	2		1	19			1	9				180
1750-1850 A.D.		4		7	1	38	7	1	1			1	33	11				9			1	4	2	1	3	124
1850-1976 A.D.	3	16	10	22	12	84	16	9	4			1	64	20	3		2	9		1	2	17	1			296
TOTAL	145	100	31	53	41	279	191	24	17	2	15	17	246	73	14	5	7	75	1	4	7	47	6	1	3	1404

रेखाचित्र



300
250
200
150
100
50
0
1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23 24 25
145
100
31
53
41
279
191
24
17
2
15
17
246
73
14
5
7
75
1
4
7
47
6
1
3

प्रधान-सम्पादक का परिचय

सागर विश्वविद्यालय की दर्शन-परम्परा प्रो. एस.एस.राय द्वारा संस्थापित, प्रो. रासबिहारी दास, प्रो. श्रीकृष्ण सक्सेना, प्रो, दयाकृष्ण एवं प्रो. शिवजीवन भट्टाचार्य द्वारा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठापित और प्रो. अर्जुन मिश्र, डॉ. चन्द्रशेखर अवस्थी, डॉ. प्रताप चन्द्र तथा डॉ. हृदयनारायण मिश्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परिचालित होती रही है। इसी परम्परा के वर्तमान उत्तराधिकारी प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी का जन्म (१९४६) मध्यप्रदेश के सिवनी अंचल (छपारा) में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा जबलपुर में हुई और उन्हीं दिनों ओशो रजनीश के सम्पर्क में आकर इन्होने दर्शन की मनोवृजम्भित दीक्षा ग्रहण कर लिया। सागर विश्वविद्यालय से स्नातक (१९६५), स्नातकोत्तर (१९६७) एवं पी-एच.डी. की उपाधि (१९७३) प्राप्त कर अपनी दर्शन-दीक्षा को अकादमिक स्वरूप प्रदान करते हुए इन्होंने एस.एन. कॉलेज-खण्डवा (१९७४-१९७६) से अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत किया। प्रो. नेगी १९७६-७७ में पुन: तदर्थ व्याख्यता होकर सागर विश्वविद्यालय की सेवा में लौटे और तब से लेकर अद्यतन अपने आल्मामेटर की दर्शन-परम्परा को क्रमशः व्याख्याता, उपाचार्य, आचार्य, विभागाध्यक्ष, संकायाध्याक्ष, एवं कार्यकारिणी सदस्य के रूप में आगे बढ़ा रहे हैं। डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग को अब तक का सबसे बड़ा "भारतीय दर्शन वृहद् कोश" निर्मित करने का श्रेय प्राप्त है। इस कार्य में प्रो. नेगी, प्रो. अर्जुन मिश्र एवं महामहोपाध्याय बच्चूलाल अवस्थी के अनन्य सहयोगी रहे। इनकी कई एक कृत्तियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं जिनमें-महाभारत का संस्कृति एवं समाज दर्शन, दर्शनशास्त्र का परिचय, भारतीय दर्शन (सम्पा.), नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता (सम्पा.), मॉरल वैल्यू एण्ड ह्यूमन डेस्टिनी (सम्पा.), भारतीय चिन्तन के विविध आयाम (सम्पा.) इत्यादि प्रमुख हैं सम्प्रति प्रो. नेगी अकादमिक महत्त्व के कई एक उच्च समितियों के सदस्य एवं मध्यप्रदेश दर्शन परिषद् के महामंत्री हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से इन्हें 2002 में प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार से सम्मानित भी किया जा चुका है।

*

ISBN. 81-88289-08-6